मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक—14

आचार्य गुणभद्र कृत

उत्तरपुराण

[हिन्दी अनुवाद तथा परिशिष्ट आदि सहित]

सम्पादन-अनुवाद

डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य

भारतीय ज्ञानपीठ

दसवाँ संस्करण : 2004 □ मूल्य : 275 रुपये

प्रास्ताविक प्रथम संस्करण से

आचार्य गुणभद्र कृत उत्तरपुराणके प्रकाशनके साथ जिनसेन और गुणभद्रकृत 'त्रिषष्टि-लक्षण-महापुराण-संग्रह' अपरनाम 'महापुराण' तीन भागोंमें पूर्णरूपसे प्रकाशित हो गया। इस सुप्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थको ऐसे सुन्दर रूपमें विद्वत्संसारके सन्मुख उपस्थित करनेका श्रेय 'भारतीय ज्ञानपीठ, काशी' को है। इससे पूर्व आंशिक अथवा पूर्णरूपमें हिन्दी, मराठी व कन्नड अनुवादों सहित इस ग्रन्थके तीन चार संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। किन्तु उनकी अपेक्षा प्रस्तुत संस्करण अपनी कुछ विशेषताओंके कारण अधिक उपयोगी है। यहाँ संस्कृत पाठ अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंके मिलानके पश्चात् समालोचनात्मक रीतिसे निश्चित किया गया है, और उपयोगी पाठान्तर अङ्कित किये गये हैं। प्रत्येक पृष्ठपर संस्कृत मूल पाठके साथ-साथ धारावाही हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। हिन्दीकी सुविस्तृत प्रस्तावनामें ग्रन्थकारोंके सम्बन्धकी समस्त ज्ञात बातोंका संग्रह कर दिया है, तथा ग्रन्थके कुछ महत्त्वपूर्ण विषयोंका भी परिचय कराया गया है। अन्तमें पद्योंकी वर्णानुक्रमसे सूची भी दे दी गई है। इस प्रकार यह संस्करण धर्मानुरागियोंके स्वाध्यायके लिए और आलोचनशील विद्वानोंके लिए समान रूपसे उपयोगी सिद्ध होगा।

महापुराण अपने नामानुसार प्राचीन कालका एक महान् आख्यान है। इसमें जैनधर्मकी मान्यतानुसार चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण और नौ प्रतिनारायण, इन त्रेसठशलाका पुरुषोंका मुख्यतः जीवन-चरित्र वर्णन किया गया है। यहाँ उक्त महापुरुषोंके केवल एक ही जीवनकालका वर्णन नहीं है, किन्तु उनके अनेक पूर्वजन्मोंका भी विवरण दिया गया है, जिससे उनकी धार्मिक व आध्यात्मिक उन्नतिका मार्ग भी स्पष्ट दिखाई देता है। यथार्थतः इन चरित्रों द्वारा धर्मानुरागियोंके समक्ष अनेक आत्माओंके आध्यात्मिक विकासके नाना दृश्य उपस्थित होते हैं जिनसे पाठकोंके हृदयमें धार्मिक श्रद्धा एवं आध्यात्मिक आदर्श उपस्थित हो जाते हैं।

महापुराणका समस्त आख्यान महाराज श्रेणिकके प्रश्नोंके उत्तरमें भगवान् गौतम गणधरके मुखसे प्रसूत हुआ है। गौतम गणधर और श्रेणिक ये दोनों ही विख्यात ऐतिहासिक पुरुष हैं। चरित्रोंके चित्रणमें ग्रन्थकारोंको अनेक परम्परागत रूढ विषयोंके वर्णनका अवसर मिला है, और उन्होंने अपनी रचनामें नाना पौराणिक, धार्मिक, सैद्धान्तिक, सांस्कारिक तथा कर्मकाण्ड सम्बन्धी विवरण उपस्थित किये हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ प्रायः जैनधर्मका विश्वकोश बन गया है। यहाँ हमें मानव समाजके कालानुसार विकासका सजीव चित्रण तथा आदिकालीन महापुरुषोंके लोक-कल्याणकारी कार्योंका परिचय मिलता है। जीवोंके जन्मान्तर वर्णनोंमें हमें समस्त लोक और तत्सम्बन्धी मान्यताओंकी स्पष्ट झाँकियां दिखाई देती हैं। काव्यात्मक वर्णनों, धार्मिक प्रवचनों, नैतिक उपदेशों, रूढिगत स्वप्नों, नगर-योजनाओं, राजनीति इत्यादि, तथा सिद्धान्त और सदाचार एवं मत-मतान्तरोंके खण्डन-मण्डन व कलात्मक बातोंके वर्णन करनेका कहीं कोई अवसर कुशल कवियोंने अपने हाथसे नहीं जाने दिया। इसका परिणाम यह हुआ है कि आख्यानोंमें सुन्दर वैचित्र्य आ गया है जिससे ग्रन्थकारोंकी विशाल विद्वत्ता एवं परम्परागत प्रकाण्ड पाण्डित्यका पता चलता है।

महापुराण श्रमण संस्कृतिके महापुरुषोंका श्रेष्ठ परम्परागत इतिहास है। यहाँ नाभि आदिक कुलकरों, वृषभादि तीर्थंकरों, भरतादि चक्रवर्तियों आदिके सुविस्तृत वर्णन बड़े रोचक ढङ्गसे प्रस्तुत किये गये हैं। यहाँ हमें राम और रावण, कृष्ण और पाण्डव, तथा बाहुबली, ब्रह्मदत्त, जीवन्धर, वसु, नारद आदि अनेक महत्त्वशाली व्यक्तियोंके कथानक प्राप्त होते हैं जो कथाओंके तुलनात्मक अध्ययनके लिए अत्यन्त उपयोगी हैं।

कविने भरतकी विजय-यात्राके प्रसङ्गमें बहुत-सी महत्त्वपूर्ण भौगोलिक सूचनाएँ दी हैं, जो अनेक बातोंमें रूढिगत होनेपर भी उपयोगी हैं। कल्पवृक्ष, गणना, त्रैलोक्य, नाना पर्वत, दर्शन, ज्ञानभेद, वैराग्य, कर्मकाण्ड, संस्कार, तप, ध्यान, समवसरण आदिके वर्णनों द्वारा यह रचना धार्मिक व सांस्कृतिक महत्त्वकी विविध बातोंसे खूब परिपुष्ट हुई है। इनमेंके अनेक सामाजिक व सांस्कृतिक विषय ध्यानसे अध्ययन करने और समझने योग्य हैं। ग्रन्थमें सर्वत्र व्याप्त श्रावकधर्म व मुनिधर्मके अतिरिक्त हमें यहाँ प्रभावशाली रीतिसे अभिव्यक्त बहुतसी राजनीति और लोक-व्यवहार-बातें भी मिलती हैं।

महापुराणकी रचनामें आचार्य जिनसेन और गुणभद्रने आगमिक परम्परा तथा यतिवृषभकृत तिलोय-पण्णत्ति व कवि परमेष्ठि कृत 'वागर्थ संग्रह' जैसी आगमोत्तर रचनाओंका भी बहुत कुछ आधार लिया है। किन्तु उनकी यह कृति इतनी प्रामाणिक, सर्वांगपूर्ण और श्रेष्ठ सिद्ध हुई कि उसकी तत्तद्विषयक पूर्वकालीन रचनाएँ प्रायः अन्धकारमें पड़ गईं। अतः यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि कवि परमेष्ठी जैसे ग्रंथकारोंकी रचनाएं उपेक्षित हो गईं और क्रमसे कालके गालमें समा गईं।

यह महापुराण अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त, संस्कृत कवि हेमचन्द्र और आशाधर, कन्नड कवि चामुण्डराय एवं श्रीपुराणकार तामिल कवि आदिकी रचनाओंके लिए यदि साक्षात् और एकमात्र आधार नहीं तो आदर्श अवश्य रहा है। इसके अतिरिक्त जिन जैन लेखकोंने किसी एक तीर्थंकर, चक्रवर्ती अथवा बाहुबली, प्रद्युम्न, जीवंधर आदि प्राचीन महापुरुषका चरित्र लिखा है, वे भी अपनी रचनाओंके पोषक वर्णन और विस्तारके लिए इन्हीं ग्रंथोंके ऋणी हैं।

महापुराण दो भागोंमें विभक्त है। प्रथमभाग आदिपुराण कहलाता है और उसमें सैंतालीस पर्व हैं। द्वितीयभाग उत्तरपुराणके अन्तर्गत उनतीस पर्व हैं। इस प्रकार पूरा महापुराण छिहत्तर पर्वोंमें समाप्त हुआ है जिनका समस्त ग्रंथाग्र लगभग बीस हजार श्लोक-प्रमाण है। आदिपुराणके ब्यालीस पर्व और तेतालीसवें पर्वके तीन पद्य, जिनका श्लोक प्रमाण लगभग बारह हजार होता है, आचार्य जिनसेन कृत हैं और ग्रंथका शेषभाग उनके शिष्य आचार्य गुणभद्रकी रचना है। आदिपुराणमें प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती इन दो का ही चरित्र वर्णित हो पाया है। शेष इकसठ शलाका पुरुषोंका जीवन चरित्र उत्तरपुराण में ग्रथित हुआ है। इससे स्पष्ट है कि उत्तरपुराणके कोई आठहजार श्लोक प्रमाणमें वर्णन-विस्तारकी अपेक्षा नाम-धामोल्लेख ही अधिक है।

जैनधर्मके विविध अंगोंके सुयोग्य व्याख्याता तथा संस्कृत भाषाके सफल कलाकारके नाते जिनसेन अपनी रचनाके प्रमाण और गुण इन दोनों दृष्टियोंसे भारतीय साहित्यमें एक अद्वितीय स्थान रखते हैं। उनके वैयक्तिक जीवनके सम्बन्धमें हमारी जानकारी बहुत कम है, तथापि अपनी जयधवला टीकाके अन्तमें उन्होंने जो कुछ पद्य-रचना की है उससे उनके व्यक्तित्वकी कुछ झलकें मिल जाती हैं। जान पड़ता है, उन्होंने अपने बाल्यकालमें ही जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली थी, और तभीसे वे निरन्तर कठोर ब्रह्मचर्यके पालन एवं धार्मिक व साहित्यिक प्रवृत्तियोंमें ही पूर्णतः संलग्न रहे। यद्यपि वे शरीरसे कृश थे और देखनेमें सुन्दर भी नहीं थे, तथापि वे तपस्यामें सुदृढ और बुद्धि, धैर्य एवं विनयादि गुणोंमें प्रतिभावान् थे। वे ज्ञान और अध्यात्मके मूर्तिमान् अवतार ही कहे जा सकते हैं।

मुनिधर्मकी दृष्टिसे जिनसेन एक व्यक्तिमात्र नहीं किन्तु एक संस्थाके समान थे। वे वीरसेन जैसे महान् गुरुके महान् शिष्य थे। उन्होंने अपने गुरुकी जयधवला टीकाको शक संवत् ७५९ (सन् ८३७ ई०) में समाप्त किया। उसी प्रकार उनके शिष्य गुणभद्रने उनकी मृत्युके पश्चात् उनके महापुराणको शक सं० ८१९ (सन् ८९७ ईस्वी) से कुछ पूर्व पूर्ण किया। वे पंचस्तूपान्वय नामक मुनि सम्प्रदायके सदस्य थे। इसी सम्प्रदायमें गुहनन्दी, वृषभनन्दी, चन्द्रसेन, आर्यनन्दी और वीरसेन भी हुए थे। इस पंचस्तूपान्वयका मुख्य केन्द्र किसी समय उत्तर-पूर्व भारतमें था। अनुमानतः इसी अन्वयके मुनि जैन कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी ज्ञानके सबसे बड़े संरक्षक थे। वे राजपूताना और गुजरात होते हुए दक्षिण भारतमें श्रवणबेल्गुल तक पहुँचे। वे जहाँ गये वहाँ अपने परम्परागत कर्मसिद्धान्तके ज्ञानको लेते गये, और कठोर तपस्याके धार्मिक मार्गका भी अनुसरण करते रहे। वीरसेन और जिनसेनने ऐसी प्रतिष्ठा प्राप्त की कि उनके पश्चात् उनका मुनिसम्प्रदाय पंचस्तूपान्वयके स्थानपर सेनान्वय अथवा सेनगणके नामसे ही अधिक प्रसिद्ध हो गया।

जिनसेनका काल राजनैतिक स्थैर्य और समृद्धि एवं शास्त्रीय समुन्नतिका युग था। उनके समकालीन नरेश राष्ट्रकूटवंशी जगत्तुंग और नृपतुङ्ग अपरनाम अमोघवर्ष (सन् ८१५—८७७) थे। इनकी राजधानी मान्यखेट थी जहाँ विद्वानोंका अच्छा समागम हुआ करता था। अमोघवर्ष केवल एक प्रबल सम्राट् ही नहीं थे, किन्तु वे साहित्यके आश्रयदाता भी थे। स्वयं भी वे शास्त्रीय चर्चामें रुचि और साहित्यिक योग्यता रखते थे। अलंकार-विषयक एक कन्नडग्रंथ 'कविराजमार्ग' उनकी कृति

कही जाती है। वे जिनसेनके बड़े भक्त थे और जिनसेनके संयम और साहित्यिक गुणोंसे खूब प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं। वे शीघ्र ही जैनधर्मके पक्के अनुयायी हो गये। उनके संस्कृतकाव्य 'प्रश्नोत्तररत्नमाला' तथा उनके समकालीन महावीराचार्य कृत 'गणितसार संग्रह'के सुस्पष्ट उल्लेखोंके अनुसार उन्होंने राज्य त्यागकर धार्मिक जीवन स्वीकार किया था। (देखिये प्रो० हीरालाल जैन : 'राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्षकी जैनदीक्षा' जै० सि० भास्कर भा० ५ कि० १; तथा अनेकान्त, वर्ष ५, पृ० १८३–१८७) उनका राज्यकाल खूब विजयी और समृद्धिशाली रहा, तथा वे दीर्घकाल तक जीवित रहे।

जिनसेनने वीरसेन और जयसेन जैसे गुरुओंसे व्याकरण, अलङ्कार, न्याय आदि परम्परागत नाना विद्याओंको सीखकर अपनी साहित्यिक सृष्टि अनुमानतः शक सं० ७०५ (सन् ७८३) से कुछ पूर्व संस्कृत काव्य पार्श्वाभ्युदयकी रचनासे की। यह काव्य संस्कृत साहित्यमें अनूठा माना जाता है। इस कवितामें कविने अपने प्रत्येक पद्यमें अनुक्रमसे कालिदास कृत मेघदूत नामक खण्ड-काव्यकी एक या दो पंक्तियाँ अनुबद्ध की हैं और शेष पंक्तियाँ स्वयं बनाई हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने काव्यमें समस्या-पूर्तिके काव्य कौशल द्वारा समस्त मेघदूतको ग्रथित कर लिया है। यद्यपि दोनों काव्योंका कथाभाग परस्पर सर्वथा भिन्न है, तथापि मेघदूतकी पंक्तियाँ पार्श्वाभ्युदयमें बड़े ही सुन्दर और स्वाभाविक ढङ्गसे बैठ गई हैं। समस्यापूर्तिकी कला कविपर अनेक नियन्त्रण लगा देती है। तथापि जिनसेनने अपनी रचनाको ऐसी कुशलता और चतुराईसे सम्हाला है कि पार्श्वाभ्युदयके पाठकको कहीं भी यह सन्देह नहीं हो पाता कि उसमें अन्यविषयक व भिन्न प्रसंगात्मक एक पृथक् काव्यका भी समावेश है। इस प्रकार पार्श्वाभ्युदय जिनसेनके संस्कृत भाषापर अधिकार तथा काव्यकौशलका एक सुन्दर प्रमाण है। उन्होंने जो कालिदासके काव्यकी प्रशंसा की है उससे तो उनका व्यक्तित्व और भी ऊँचा उठ जाता है। महान् कवि ही अपनी कवितामें दूसरे कविकी प्रशंसा कर सकता है। इस काव्यके सम्बन्धमें प्रोफेसर के० बी० पाठकका मत है कि "पार्श्वाभ्युदय संस्कृत साहित्यकी एक अद्भुत रचना है। वह अपने युगकी साहित्यिक रुचिकी उपज और आदर्श है। भारतीय कवियोंमें सर्वोच्चस्थान सर्वसम्मतिसे कालिदासको मिला है। तथापि मेघदूतके कर्ताकी अपेक्षा जिनसेन अधिक प्रतिभाशाली कवि माने जानेके योग्य हैं।" (जर्नल, बाम्बे ब्रांच, रायल एशियाटिक सोसायटी, संख्या ४९, व्हा० १८ (१८९२) तथा पाठक द्वारा सम्पादित 'मेघदूत' द्वि० संस्करण, पूना १९१६, भूमिका पृ० २३ आदि)

अपनी षट्खंडागम-टीकाको बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण ग्रंथाग्रमें समाप्त करनेके पश्चात् वीरसेन स्वामीने कषाय-प्राभृतपर जयधवलाटीका लिखना प्रारम्भ किया। इसकी बीस हजार श्लोकप्रमाण ही रचना हो पाई थी कि उनका स्वर्गवास हो गया। अतः उस टीकाको पूरा करनेका कार्य उनके सुयोग्य शिष्य जिनसेन पर पड़ा। इन्होंने इस महान् और पवित्र ग्रंथको अपनी चालीस हजार श्लोकप्रमाण रचना द्वारा सन् ८३८ ईस्वीमें समाप्त किया। ये विशाल टीकाएँ उनके कर्ताओंके गम्भीर ज्ञानों तथा जैनधर्मके समस्त अंगों और विशेषतः कर्मसिद्धान्तके महान् पाण्डित्यकी परिचायक हैं। इन रचनाओंमें तद्विषयक समस्त ज्ञातव्य बातोंका एवं प्रायः पूर्वकालीन संस्कृत प्राकृत टीकाओंका समावेश कर लिया गया है। जिनसेनाचार्यका काव्यकौशल उनके स्मरणीय काव्य पार्श्वाभ्युदयसे एवं उनकी विशाल विद्वत्ता उनकी अमर टीका जयधवलासे सुस्पष्ट है। महापुराणमें उनकी यही द्विमुखी प्रतिभा और भी खूब विकसित रूपमें दृष्टि-गोचर हो रही है।

जैन पुराण और सिद्धान्तकी दृष्टिसे तो महापुराणका विशेषज्ञों द्वारा पर्याप्त आदर किया जाता है; किन्तु इस रचनाके साहित्यिक गुणोंकी ओर संस्कृतज्ञोंका जितना चाहिये उतना ध्यान नहीं गया। महापुराणके अनेक खंड संस्कृत काव्यके अति सुन्दर उदाहरण हैं। इस क्षेत्रमें जिनसेनने अपने पूर्वकालीन कवियोंकी कृतियोंसे सुपरिचय प्रकट किया है। उन्होंने संस्कृत भाषाका प्रयोग बड़े सरल और स्वाभाविक ढंगसे करके भी उसे एक उत्कर्ष प्रदान किया है। उनका सहस्रनाम स्तोत्र बतला रहा है कि उन्होंने संस्कृत भाषा, व्याकरण और शब्दभण्डारके सामर्थ्य और दौर्बल्य, दोनोंसे कितना अधिक लाभ उठाया है। वे पद्यरचनाके परिपक्व विद्वान् हैं और जहाँ तहाँ उन्होंने चित्रकाव्यको भी अपनाया है। उनके वर्णन अति समृद्ध तथा शब्द और अर्थात्मक अलंकारोंसे भरे हुए हैं। उनके महापुराणमें जो कल्पनाका उत्कर्ष,

चित्रणका प्राचुर्य तथा पद्यरचनाकी धारावाहिकता आदि गुण दृष्टिगोचर होते हैं उनसे प्रोफेसर पाठक बहुत आकर्षित हुए। संस्कृत साहित्यके इतिहासकी यह भी एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना है कि जिनसेन अपनी इस रचनाको अपूर्ण छोड़कर परलोक सिधार गये। उनके शिष्य गुणभद्रने बड़े संकोचके साथ, कुछ काल ठहर कर, अपने गुरुके प्रति पुण्य कर्तव्य समझकर, इस ग्रन्थको सन् ८९७ ईस्वीमें पूर्ण किया और गुणभद्रके शिष्य लोकसेनने उसकी प्रतिष्ठा कराई। यह एक बड़ी स्मरणीय घटना है कि वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र इन तीनोंका अविच्छिन्न और सुसंघटित एक ही साहित्यिक व्यक्तित्व पाया जाता है। इस असाधारण त्रिमूर्तिका अवतार धवला, जयधवला और महापुराण इन तीन भारतीय साहित्यकी निधियोंको उत्पन्न करनेके लिए हुआ जान पड़ता है, क्योंकि उक्त ग्रंथ एक व्यक्ति द्वारा एक जीवनकालमें सम्पन्न करना असंभव था।

अपने गुरुकी कृति महापुराणकी पूर्तिके अतिरिक्त गुणभद्रने दो और संस्कृत ग्रन्थोंकी रचना की—एक 'आत्मानुशासन' जिसमें धार्मिक व नैतिक २७२ पद्योंका समावेश है; और दूसरी 'जिनदत्तचरित' जो नौ सर्गोंका प्रबन्ध काव्य है।

संस्कृत साहित्यके और विशेषतः जैन साहित्यके अनुरागी श्रीमान् सेठ शान्तिप्रसादजी तथा उनकी विदुषी धर्मपत्नी श्रीमती रमारानीजीके बहुत कृतज्ञ हैं, क्योंकि उन्होंने भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना करके बड़े महत्त्वपूर्ण संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थोंका प्रकाशन किया है और कर रहे हैं। इस प्रकाशनमें व्ययकी कोई चिन्ता न करके उन्होंने केवल यह आदर्शनीय ध्येय रखा है कि प्राचीन भारतीय साहित्यके सुन्दर रत्न अन्धकारमें पड़े न रह जावें। इस सम्बन्धमें उनके निस्वार्थ त्याग और साहित्य-प्रेमकी पूर्णतः सराहना करना शब्दसामर्थ्यसे बाहरकी बात है। जहाँ 'ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रंथमाला' जन-साधारणमें ज्ञानप्रसारका कार्य कर रही है, वहाँ 'ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रंथमाला' भारतकी प्राचीन साहित्यिक निधि, और विशेषतः उसके उपेक्षित अङ्गोंका विनीत भावसे सत्कार और उत्कर्ष कर रही है। इस प्रकार ज्ञानपीठ एक श्रेष्ठ राष्ट्रीय ध्येय व महान् सांस्कृतिक प्रयोजनकी पूर्तिमें संलग्न है। उसके समस्त प्रकाशन राष्ट्रभाषा हिन्दीकी समुन्नतिमें भी सहायक हो रहे हैं।

मार्गदर्शक

भारतीय ज्ञानपीठके मंत्री श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीय ज्ञानपीठके कार्यको गतिशील बनाये रखनेमें बड़ी तत्परता और लगनसे प्रयत्नशील हैं।

महापुराणके इस संस्करणको हिन्दी अनुवाद सहित सुसज्जित करनेके लिए पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य हमारे धन्यवादके पात्र हैं।

हमें पूर्ण आशा और भरोसा है कि यह संस्करण महापुराणके नाना दृष्टियोंसे अध्ययन-अन्वेषण कार्यमें नव-स्फूर्तिदायक सिद्ध होगा।

हीरालाल जैन
आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

प्रस्तावना

१. सम्पादनसामग्री

उत्तरपुराणका सम्पादन निम्नलिखित सात प्रतियोंके आधारपर हुआ है।

'क' प्रति

यह प्रति भांडारकर रिसर्च इंस्टीटयूट पूनासे प्राप्त हुई है। पत्रसंख्या ३१८, लम्बाई-चौड़ाई १२×५ इंच। प्रति पत्रमें ११ पंक्तियाँ और प्रति पंक्तिमें ३४ से ३६ तक अक्षर हैं। प्रारम्भसे २८१ पत्र तक प्रति अत्यन्त जीर्ण हो चुकी है। कागज जर्जर है, हाथ लगाते ही टूटता है, रंग भी परिवर्तित हो चुका है। दशा देखनेसे अत्यन्त प्राचीन मालूम होती है। २८२ से अन्ततक पुनः पत्र लिखाकर जोड़े गये हैं। अन्तमें लेखन-काल नहीं दिया गया है। इस प्रतिके चारों ओर संस्कृतमें सूक्ष्म अक्षरों द्वारा टिप्पण भी दिये गये है। किन्हीं-किन्हीं श्लोकोंमें अन्वयके क्रमाङ्क भी दिये गये हैं। लेखन प्रायः शुद्ध और सुवाच्य है। काली स्याहीसे लिखी गई है और श्लोकाङ्क लाल स्याहीसे दिये गये हैं। इसका सांकेतिक नाम 'क' है। इसमें १६६ वाँ पृष्ठ नहीं है और १८५ से २५० तक पत्र नहीं हैं।

'ख' प्रति

यह प्रति जैन सिद्धान्त भवन आरासे पं० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्यके सौहार्दसे प्राप्त हुई है। इसकी कुल पत्र संख्या ३०९ है। पत्रोंका परिमाण १२×६ इञ्च है। प्रति पत्रमें १२–१३ पंक्तियाँ और प्रति पंक्तिमें ३५ से ३८ तक अक्षर हैं। अन्तमें लेखन-काल १८१५ संवत् दिया हुआ है। मार्गशीर्ष कृष्ण दशमीको इसकी प्रतिलिपि पूर्ण हुई है। दशा अच्छी है, लिपि सुवाच्य है, शुद्ध भी है, इसका सांकेतिक नाम 'ख' है। इसमें ग्रन्थकर्ताकी प्रशस्ति नहीं है।

'ग' प्रति

यह प्रति भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीटयूट पूनासे प्राप्त है। कुल पृष्ठसंख्या ४१३ है, पत्रोंका परिमाण १०×५ इञ्च है। प्रति पत्रमें ९ पंक्तियाँ और प्रति पंक्तिमें ३० से ३३ तक अक्षर हैं। लिपि शुद्ध तथा सुवाच्य है, अन्तमें लेखन-काल १५५७ वर्ष आषाढ़ कृष्ण ८ शुक्रवार दिया हुआ है। काली स्याहीसे लिखित है, कागज जीर्ण हो चुका है, रङ्ग भी मटमैला हो गया है, बीच-बीचमें कितने ही स्थलों पर टिप्पण भी दिये गये हैं। दशा जर्जर होनेपर भी अच्छी है। इसका सांकेतिक नाम 'ग' है।

'घ' प्रति

यह प्रति भी भांडारकर रिसर्च इंस्टीटयूट पूनासे प्राप्त है। इसमें कुल पत्रसंख्या ३१३ है, पत्रोंका परिमाण १३×७ इञ्च है, प्रति पत्रमें ११ पंक्तियाँ हैं, और प्रति पंक्तिमें ४५ से ४७ तक अक्षर हैं। अन्तमें लेखन-काल नहीं दिया गया है। कागजकी दशा और रङ्गसे अधिक प्राचीन नहीं मालूम होती। लिपि शुद्ध तथा सुवाच्य है। इसका सांकेतिक नाम 'घ' है।

'ल' प्रति

यह प्रति श्रीमान् पण्डित लालारामजी शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा अनूदित है। ऊपर सूक्ष्म अक्षरोंमें मूल श्लोक तथा नीचे कुछ स्थूलाक्षरोंमें हिन्दी अनुवाद दिया गया है। इसका प्रकाशन स्वयं उक्त शास्त्रीजी द्वारा हुआ है। इसमें मूलपाठ कितनी ही जगह परम्परासे अशुद्ध हो गया है, अब यह अप्राप्य है। इसका सांकेतिक नाम 'ल' है।

'म' प्रति

यह प्रति श्रीमान् पंडित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ जयपुरके सौजन्य वश श्री अतिशयक्षेत्र महावीरजीके सरस्वती-भवनसे प्राप्त हुई है। इसमें २७९ पत्र हैं, पत्रोंका परिमाण १२×६ इञ्च है, प्रतिपत्रमें

१२ पंक्तियाँ हैं और प्रति पंक्तिमें ३८ से ४० तक अक्षर हैं। अक्षर सुवाच्य हैं, बीच-बीचमें कठिन पदोंके टिप्पण भी आजू-बाजूमें दिये गये हैं। पुस्तककी दशा अच्छी है, प्रायः शुद्ध है, लेखन-काल १८०५ है, जेठबदी पञ्चमी गुरुवारको सवाई जयपुरमें विमलसागर यतिके द्वारा लिखी गई है। इसका सांकेतिक नाम 'म' है।

एक प्रति और

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उत्तर पुराण संस्कृतकी पाण्डुलिपि भारतीय ज्ञानपीठ बनारसमें हुई है। प्रारम्भसे लेकर नमिनाथ-पुराण तक तो यह पं० लालारामजी शास्त्रीकृत अनुवाद सहित मुद्रित प्रतिसे हुई है और उसके बाद किसी हस्तलिखित प्रतिसे हुई है। यह प्रति कहाँसे आई, कैसे आई इसका परिचय ज्ञानपीठके व्यवस्थापक महाशयके स्थानान्तरित हो जानेके कारण नहीं जान सका। एक पत्र मैंने पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य भूतपूर्व व्यवस्थापकको उस प्रतिका परिचय प्राप्त करनेकी इच्छासे लिखा भी था पर कुछ उत्तर प्राप्त नहीं हुआ। प्रत्यक्ष भी चर्चा की थी पर उन्होंने कहा कि समय अधिक हो जानेसे स्मरण नहीं है। वर्तमान व्यवस्थापकजीको इस विषयकी जानकारी नहीं है। अस्तु, यह प्रति शुद्ध मालूम होती है और जहाँ कहीं अन्य प्रतियोंसे विभिन्न पाठान्तर लिये हुए हैं। इस प्रतिके पाठोंका उल्लेख मैंने 'इत्यपि क्वचित्' इन शब्दों द्वारा किया है।

२. उत्तरपुराण

उत्तरपुराण, महापुराणका पूरकभाग है। इसमें अजितनाथको आदि लेकर २३ तीर्थंकर, सगरको आदि लेकर ११ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण तथा उनके कालमें होनेवाले विशिष्ट पुरुषोंके कथानक दिये गये हैं। विशिष्ट कथानकोंमें कितने ही कथानक इतने रोचक ढङ्गसे लिखे गये हैं कि उन्हें प्रारम्भकर पूरा किये बिना बीचमें छोड़नेको जी नहीं चाहता। यद्यपि आठवें, सोलहवें, बाईसवें तेईसवें और चौबीसवें तीर्थंकरको छोड़कर अन्य तीर्थंकरोंके चरित्र अत्यन्त संक्षेपसे लिखे गये हैं परन्तु वर्णन शैलीकी मधुरतासे वह संक्षेप भी रुचिकर ही प्रतीत होता है। इस ग्रन्थमें न केवल पौराणिक कथानक ही है किन्तु कुछ ऐसे स्थल भी हैं जिनमें सिद्धान्तकी दृष्टिसे सम्यग्दर्शनादिका और दार्शनिक दृष्टिसे सृष्टिकर्तृत्व आदि विषयोंका भी अच्छा विवेचन हुआ है।

रचयिता गुणभद्राचार्यका ऐतिहासिक विवेचन महापुराण प्रथम भागकी भूमिकामें विस्तारसे दे चुका हूँ अतः यहाँ फिरसे देना अनावश्यक है।

३. उत्तरपुराणका रचना-स्थल—बङ्कापुर

उत्तर पुराणकी रचना बंकापुरमें हुई है इसका परिचय प्राप्त करनेकी मेरी बड़ी इच्छा थी परन्तु साधनके अभावमें उसके सफल होनेकी आशा नहीं थी। एक दिन विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री मूडबिद्रीने अपने एक पत्रमें संकेत किया कि 'यदि उत्तरपुराणकी भूमिकामें उसके रचना-स्थल बंकापुर का परिचय देना चाहें तो भेज दूं'। मैंने शास्त्रीजीकी इस कृपाको अनभ्रवृष्टि जैसा समझ भूमिकामें बंकापुरका परिचय देना स्वीकृत कर लिया। फलस्वरूप शास्त्रीजीने बंकापुरका जो परिचय भेजा है वह उन्हींके शब्दोंमें दे रहा हूँ—

"बंकापुर, पूना-बेंगलूर रेलवे लाइनमें हरिहरस्टेशनके समीपवर्ती हावेरि रेलवेस्टेशन से १५ मील पर धारवाड जिलेमें है। यह वह पवित्र स्थान है, जहाँ पर प्रातःस्मरणीय आचार्य गुणभद्रजीने शक संवत् ८१९ में अपने गुरु भगवज्जिनसेनके विश्रुत महापुराणान्तर्गत उत्तरपुराणको समाप्त किया था। आचार्य जिनसेन और गुणभद्र जैन संसारके ख्यातिप्राप्त महाकवियोंमें से हैं इस बातको साहित्य संसार अच्छी तरह जानता है। संस्कृत साहित्यमें महापुराण वस्तुतः एक अनूठा रत्न है। उत्तरपुराण के समाप्ति-कालमें बंकापुरमें जैन वीर बंकियका सुयोग्य पुत्र लोकादित्य, विजयनगरके यशस्वी एवं शासक अकालवर्ष वा कृष्णराज (द्वितीय) के सामन्तके रूपमें राज्य करता था। लोकादित्य महाशूर वीर, तेजस्वी और शत्रु-विजयी था। इसकी ध्वजामें चिल या चीलका चिह्न अंकित था और वह चेल्लचीलजका अनुज तथा चेल्लकेत

(बंकेय) का पुत्र था। उस समय समूचा वनवास (वनवासि) प्रदेश लोकादित्यके ही वशमें रहा। उपर्युक्त बंकापुर, श्रद्धेय पिता वीर बंकेयके नामसे लोकादित्यके द्वारा स्थापित किया गया था और उस जमानेमें उसे एक समृद्धिशाली जैन राजधानी होनेका सौभाग्य प्राप्त था। बंकेय भी सामान्य व्यक्ति नहीं था। राष्ट्रकूट नरेश नृपतुंगके लिए राज्यकार्योंमें जैन वीर बंकेय ही पथप्रदर्शक था। मुकुलका पुत्र एरकोरि, एरकोरिका पुत्र घोर और घोरका पुत्र बंकेय था। बंकेयका प्रपितामह मुकुल शुभतुंग कृष्णराज का, पितामह एरकोरि शुभतुंगके पुत्र ध्रुवदेव का, एवं पिता घोर चक्री गोविंद राज का राजकार्य-सारथि था। इससे सिद्ध होता है कि लोकादित्य और बंकेय ही नहीं, इनके पितामहादि भी राजकार्य पटु तथा महाशूर थे।

नृपतुङ्गकी बंकेय पर अटूट श्रद्धा थी। वही कारण है कि एक लेखमें नृपतुंगने बंकेयके सम्बन्ध में 'विततज्योतिर्निशितासिरिवापरः' कहा है। पहले बंकेय नृपतुंगके आप्त सेनानायकके रूपमें अनेक युद्धोंमें विजय प्राप्त कर नरेशके पूर्ण कृपापात्र बननेके फलस्वरूप विशाल वनवास (वनवासि) प्रान्तका सामन्त बना दिया गया था। सामंत बंकेयने ही गङ्गराज राजमल्लको एक युद्धमें हरा कर बंदी बना लिया था। बल्कि इस विजयोपलक्ष्यमें भरी सभामें वीर बंकेयको नृपतुंगके द्वारा जब कोई अभीष्ट वर माँगनेकी आज्ञा हुई तब जिनभक्त बंकेयने सगद्गद महाराज नृपतुङ्गसे यह प्रार्थना की कि 'महाराज ! अब मेरी कोई लौकिक कामना बाकी नहीं रही। अगर आपको कुछ देना ही अभीष्ट हो तो कोलनूरमें मेरे द्वारा निर्मापित पवित्र जिनमन्दिरके लिए कुछ भू-दान प्रदान कर सकते हैं,। बस, ऐसा ही किया गया। यह उल्लेख एक विशाल प्रस्तरखण्डमें शासन के रूपमें आज भी उपलब्ध होता है। बंकेयके असीम धर्मप्रेमके लिए यह एक उदाहरण ही पर्याप्त है। इस प्रसंगमें यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि वीर बंकेयकी धर्मपत्नी विजया बड़ी विदुषी रही। इसने संस्कृतमें एक काव्य रचा है। इस काव्यका एक पद्य श्रीमान् वेंकटेश भीम राव आलूर बी०ए०-एल० एल०बी० ने 'कर्णाटकगतवैभव' नामक अपनी सुन्दर रचनामें उदाहरणके रूपमें उद्धृत किया है[1]। बंकेयके सुयोग्य पुत्र लोकादित्यमें भी पूज्य पिताके समान धर्म प्रेमका होना स्वाभाविक ही है, साथ ही साथ लोकादित्य पर 'उत्तरपुराणके रचयिता श्री गुणभद्राचार्यका प्रभाव भी पर्याप्त था। इसमें सन्देह नहीं कि धर्मधुरीण लोकादित्यके कारण बंकापुर उस समय जैन धर्मका प्रमुख केन्द्र बन गया था। यद्यपि लोकादित्य राष्ट्रकूट-नरेशोंका सामन्त था फिर भी राष्ट्रकूट शासकोंके शासन-कालमें यह एक वैशिष्ट्य था कि उनके सभी सामन्त स्वतन्त्र रहे। आचार्य गुणभद्रके शब्दोंमें लोकादित्य शत्रु रूपी अन्धकारको मिटानेवाला एक ख्यातिप्राप्त प्रतापी शासक ही नहीं था, साथ ही साथ श्रीमान् भी था। उस जमानेमें बंकापुरमें कई जिन-मन्दिर थे। इन मन्दिरोंको चालुक्यादि शासकोंसे दान भी मिला था। बंकापुर एक प्रमुख केन्द्र होनेसे वहां पर जैनाचार्योंका वास अधिक रहता था। यही कारण है कि इसकी गणना एक पवित्र क्षेत्रके रूपमें होती थी। इसीलिए ही गङ्गनरेश नारसिंह जैसे प्रतापी शासकने वहीं आकर प्रातःस्मरणीय जैन गुरुओंके पादमूलमें सल्लेखना व्रत सम्पन्न किया था। दंडाधिप हुल्लने वहाँपर कैलास जैसा उत्तुङ्ग एक जिनमन्दिर निर्माण कराया था। इतना ही नहीं, प्राचीनकालमें वहाँ पर एक दो नहीं, पाँच महाविद्यालय मौजूद थे।[2] ये सब बीती हुई बातें हुईं'। वर्तमान कालमें बंकापुरकी स्थिति कैसी है इसे भी विज्ञ पाठक अवश्य सुन लें। सरकारी रास्तेके बगलमें उन्नत एवं विशाल मैदानमें एक ध्वंसावशिष्ट पुराना किला है। इस किलाके अन्दर १२ एकड़ जमीन है। यह किला बम्बई सरकारके वशमें है। वहाँ पर इस समय सरकारने एक डेरीफार्म खोल रखा है। जहाँ-तहाँ खेती भी होती है। राजमहलका स्थान ऊँचा है और इसके चारों ओर विशाल मैदान है। वह मैदान इन दिनों खेतोंके रूपमें दृष्टिगोचर होता है। इन विशाल खेतोंमें आजकल ज्वार, बाजरा, गेहूँ, चावल, उड़द, मूँग, चना, तुवर, कपास और मूँगफली आदि पैदा होते हैं। स्थान बड़ा सुन्दर है, अपनी समृद्धिके जमानेमें यह स्थान

१ "सरस्वती व कर्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ। या वैदर्भीगिरां वासः कालिदासादनन्तरम्॥" २. बम्बई प्रान्तके जैन स्मारक देखें।

वस्तुतः देखने लायक ही होगा, मुझे तो बड़ी देर तक वहाँसे हटनेकी इच्छा ही नहीं हुई। किलेके अन्दर इस समय एक सुन्दर जिनालय अवशिष्ट है वहाँ वाले इसे 'आवत्त मूस कंब गलवस्ति' कहते हैं। इसका हिन्दी अर्थ ६३ खम्भोंका जैन मन्दिर होता है। मेरा अनुमान है कि वह मन्दिर जैनोंका प्रसिद्ध शान्ति-मन्दिर और इसके ६३ खम्भ जैनोंके त्रिषष्टिशलाकापुरुषोंका स्मृतिचिह्न होना चाहिये। मन्दिर बड़ा पुष्ट है और वस्तुतः सर्वोच्च कलाका एक प्रतीक है। खम्भोंका पालिश इतना सुन्दर है कि इतने दिनोंके बाद, आज भी उनमें आसानीसे मुख देख सकते हैं। मन्दिर चार खण्डोंमें विभक्त है। गर्भगृह विशेष बड़ा नहीं है। इसके सामनेका खण्ड गर्भगृहसे बड़ा है, तीसरा खण्ड इससे बड़ा है, अन्तिमका चतुर्थ खण्ड सबसे बड़ा है। इतना बड़ा है कि उसमें कई सौ आदमी आरामसे बैठ सकते हैं। छत और दीवालों परकी सुन्दर कलापूर्ण मूर्तियाँ निर्दय विध्वंसकोंके द्वारा नष्ट की गई हैं। इस मन्दिरको देखकर उस समय की कला, आर्थिक स्थिति और धार्मिक श्रद्धा आदिको आज भी विवेकी परख सकता है। खेद है कि बंकापुर आदि स्थानोंके इन प्राचीन महत्त्वपूर्ण जैन स्थानोंका उद्धार तो दूर रहा, जैन समाज इन स्थानों को जानती भी नहीं है।

४. रामकथाकी विभिन्न धाराएँ

पद्मपुराण और उत्तर पुराणकी राम-कथामें पर्याप्त मतभेद है। यह क्यों और कब हुआ इसका विश्वस्त रूपसे कह सकना संभव नहीं दिखता। जब लोगोंको मालूम हुआ कि उत्तरपुराणका सम्पादन और अनुवाद मेरे द्वारा हो रहा है तब कई विद्वानोंने इस आशयके पत्र लिखे कि आप राम-कथाके मत-भेदकी गुत्थी अवश्य ही सुलझाइये। मेरी दृष्टि भी इस ओर बहुत समयसे थी। परन्तु अध्ययन करनेके बाद भी मैं इस परिणाम पर नहीं पहुंच सका कि आखिर यह मतभेद क्यों और कबसे चला। रामकथा की विभिन्न धाराओं पर प्रकाश डालते हुए श्रद्धेय श्रीमान् नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास, नामक ग्रन्थमें प्रकाशित 'पद्मचरित और पउम चरिउ, नामक लेखमें 'राम कथा की विभिन्न धाराएँ' शीर्षक एक प्रकरण लिखा है जो कि इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। पाठकोंकी जानकारी के लिए मैं उसे यहाँ लेखकके ही शब्दोंमें उद्धृत कर देना उचित समझता हूँ—

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

"रामकथा भारतवर्षकी सबसे अधिक लोकप्रिय कथा है और इस पर विपुल साहित्य निर्माण किया गया है। हिन्दू, बौद्ध और जैन इन तीनों ही प्राचीन सम्प्रदायोंमें यह कथा अपने-अपने ढंगसे लिखी गई है और तीनों ही सम्प्रदायवाले रामको अपना अपना महापुरुष मानते हैं।

अभी तक अधिकांश विद्वानोंका मत यह है कि इस कथाको सबसे पहले वाल्मीकि मुनिने लिखा और संस्कृतका सबसे पहला महाकाव्य (आदिकाव्य) वाल्मीकि रामायण है। उसके बाद यह कथा महाभारत, ब्रह्मपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण आदि सभी पुराणोंमें थोड़े-थोड़े हेरफेरके साथ संक्षेपमें लिपि बद्ध की गई है। इसके सिवाय अध्यात्मरामायण, आनन्दरामायण, अद्भुत रामायण नामसे भी कई रामायण ग्रन्थ लिखे गये। बृहत्तर भारतके जावा, सुमात्रा आदि देशोंके साहित्यमें भी इसका अनेक रूपान्तरोंके साथ विस्तार हुआ।

अद्भुत रामायणमें सीताकी उत्पत्तिकी कथा सबसे निराली है। उसमें लिखा है कि दण्डकारण्यमें गृत्समद नामके एक ऋषि थे। उनकी स्त्रीने प्रार्थना की कि मेरे गर्भसे साक्षात् लक्ष्मी उत्पन्न हो। इस पर उसके लिए वे प्रतिदिन एक घड़ेमें दूधको अभिमन्त्रित करके रखने लगे कि इतनेमें एक दिन वहाँ रावण आया और उसने ऋषि पर विजय प्राप्त करनेके लिए अपने बाणोंकी नोकें चुभा-चुभाकर उनके शरीरका बूँद-बूँद खून निकाला और उसे घड़े में भर दिया। फिर वह घड़ा उसने मन्दोदरीको जाकर दिया और चेता दिया कि यह रक्त विषसे भी तीव्र है। परन्तु मन्दोदरी यह सोचकर उस रक्तको पी गई कि पति का मुझपर सच्चा प्रेम नहीं है और वह नित्य ही परस्त्रियोंमें रमण किया करता है, इसलिए अब मेरा मर जाना ही ठीक है। परन्तु उसके योगसे वह मरी तो नहीं, गर्भवती हो गई। पतिकी अनुपस्थितिमें गर्भ धारण हो जानेसे अब उसे छुपानेका प्रयत्न करने लगी और आखिर एक दिन विमानमें बैठकर कुरुक्षेत्र गई और उस गर्भको जमीनमें गाड़कर वापिस चली आई। उसके बाद हल जोतते समय वह गर्भजात कन्या जनकजीको मिली और उन्होंने उसे पाल लिया वही सीता है।

विष्णुपुराण (४—५) में भी लिखा है कि जिस समय जनकवंशीय राजा सीरध्वज पुत्रलाभ के लिए यज्ञभूमि जोत रहे थे, उसी समय लाङ्गलके अग्रभागसे सीता नामक दुहिता उत्पन्न हुई।

बौद्धोंके जातक ग्रन्थ बहुत प्राचीन हैं जिनमें बुद्धदेवके पूर्वजन्मकी कथाएँ लिखी गई हैं। दशरथ जातकके अनुसार काशीनरेशकी सोलह हजार रानियाँ थीं। उनमेंसे मुख्य रानीसे राम-लक्ष्मण ये दो पुत्र और सीता नामकी एक कन्या हुई। फिर मुख्य रानीके मरने पर दूसरी जो पट्टरानी हुई उससे भरत नामका पुत्र हुआ। यह रानी बड़े पुत्रोंका हक मारकर अपने पुत्रको राज्य देना चाहती थी। तब इस भय से कि कहीं यह बड़े पुत्रोंको मार न डाले, राजाने उन्हें बारह वर्षतक अरण्यवास करनेकी आज्ञा दे दी और वे अपनी बहिनके साथ हिमालय चले गये और वहां एक आश्रम बनाकर रहने लगे। नौ वर्षके बाद दशरथकी मृत्यु हो गई और तब मन्त्रियोंके कहनेसे भरतादि उन्हें लेने गये परन्तु वे अवधिके भीतर किसी तरह लौटनेके लिए राजी नहीं हुए। इसलिए भरत, रामकी पादुकाओंको ही सिंहासन पर रखकर उनकी ओरसे राज्य चलाने लगे। आखिर बारह वर्ष पूरे होने पर वे लौटे, उनका राज्याभिषेक हुआ और फिर सीताके साथ विवाह करके उन्होंने सोलह हजार वर्ष तक राज्य किया। पूर्व जन्ममें राजा शुद्धोदन राजा दसरथ, उनकी रानी महामाया रामकी माता, राहुलमाता सीता, बुद्धदेव रामचन्द्र, उनके प्रधान शिष्य आनन्द भरत और सारिपुत्र लक्ष्मण थे। इस कथामें सबसे अधिक खटकने वाली बात रामका अपनी बहिन सीताके साथ विवाह करना है परन्तु इतिहास बतलाता है कि उस कालमें शाक्योंके राज्य-घरानोंमें राजवंशकी शुद्धता सुरक्षित रखनेके लिए भाईके साथ भी बहिनका विवाह कर दिया जाता था। वह एक रिवाज था। इस तरह हम हिन्दू और बौद्ध साहित्यमें रामके कथाके तीन रूप देखते हैं एक वाल्मीकि रामायण का, दूसरा अद्भुत रामायण का और तीसरा बौद्ध जातकका।

५. जैन रामायणके दो रूप

इसी तरह जैन साहित्यमें भी राम-कथा के दो रूप मिलते हैं एक तो पउमचरिय और पद्मचरित का तथा दूसरा गुणभद्राचार्यके उत्तरपुराण का। पउमचरिय या पद्मपुराणकी कथा तो प्रायः सभी जानते हैं, क्योंकि जैन रामायणके रूपमें उसीकी सबसे अधिक प्रसिद्धि है, परन्तु उत्तर पुराणकी कथाका उतना प्रचार नहीं है जो उसके ६८ वें पर्वमें वर्णित है। उसका बहुत संक्षिप्त सार यह है—

राजा दशरथ काशी देशमें वाराणसीके राजा थे। रामकी माताका नाम सुबाला और लक्ष्मणकी माताका नाम कैकेयी था। भरत शत्रुघ्न किसके गर्भमें आये थे, वह स्पष्ट नहीं लिखा। केवल 'कस्यां चित् देव्याम्' लिख दिया। सीता मन्दोदरीके गर्भसे उत्पन्न हुई थी, परन्तु भविष्यद्वक्ताओंके यह कहनेसे कि वह नाशकारिणी है, रावणने उसे मंजूषामें रखवाकर मरीचिके द्वारा मिथिला भेजकर जमीनमें गड़वा दिया। दैवयोगसे हलकी नोकमें उलझ जानेसे वह राजा जनकको मिल गई और उन्होंने उसे अपनी पुत्री के रूपमें पाल ली। इसके बाद जब वह विवाहके योग्य हुई, तब जनकको चिन्ता हुई। उन्होंने एक वैदिक यज्ञ किया और उसकी रक्षाके लिए राम-लक्ष्मणको आग्रह पूर्वक बुलवाया। फिर रामके साथ सीता को विवाह दिया। यज्ञके समय रावणको आमंत्रण नहीं भेजा गया, इससे वह अत्यन्त क्रुद्ध हो गया और इसके बाद जब नारदके द्वारा उसने सीताके रूपकी अतिशय प्रशंसा सुनी तब वह उसको हर लानेकी सोचने लगा।

कैकेयीके हठ करने, रामको वनवास देने आदिका इस कथामें कोई जिक्र नहीं है। पंचवटी, दण्डक-वन, जटायु, शूर्पणखा, खरदूषण आदिके प्रसंगोंका भी अभाव है। बनारसके पासके ही चित्रकूट नामक वनसे रावण सीताको हर ले जाता है और फिर उसके उद्धारके लिए लंकामें राम-रावण युद्ध होता है। रावणको मारकर राम दिग्विजय करते हुए लौटते हैं और फिर दोनों भाई बनारसमें राज्य करने लगते हैं। सीताके अपवादकी और उसके कारण उसे निर्वासित करनेकी भी चर्चा इसमें नहीं है। लक्ष्मण एक असाध्यरोगमें ग्रसित होकर मर जाते हैं और इससे रामको उद्वेग होता है। वे लक्ष्मणके पुत्र पृथ्वीसुन्दर को राजपद पर और सीताके पुत्र अजितंजयको युवराजपद पर अभिषेक करके अनेक राजाओं और अपनी सीता आदि रानियोंके साथ जिन-दीक्षा ले लेते हैं।

इसमें सीताके आठ पुत्र बतलाये, पर उनमें लव-कुशका नाम नहीं है। दशानन विनमि विद्याधर के वंशके पुलस्त्यका पुत्र था। शत्रुओंको सताता था इस कारण वह रावण कहलाया। आदि।

जहाँ तक मैं जानता हूँ, यह उत्तरपुराणकी रामकथा श्वेताम्बर सम्प्रदायमें प्रचलित नहीं है। आचार्य हेमचन्द्रके त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरितमें जो रामकथा है, उसे मैंने पढ़ा। वह बिलकुल 'पउमचरिय' की कथाके अनुरूप है। ऐसा मालूम होता है कि 'पउमचरिय और पद्मचरित' दोनों ही हेमचन्द्राचार्यके सामने मौजूद थे। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है दिगम्बर सम्प्रदायमें भी इसी कथाका अधिक प्रचार है और पीछेके कवियोंने तो इसी कथाको संक्षिप्त या पल्लवित करके अपने अपने ग्रंथ लिखे हैं। फिर भी उत्तरपुराणकी कथा बिलकुल उपेक्षित नहीं हुई। अनेक कवियोंने उसको भी आदर्श मानकर काव्य रचना की है। उदाहरणके लिए महाकवि पुष्पदन्तको ही ले लीजिये। उन्होंने अपने उत्तरपुराणके अन्तर्गत जो रामायण लिखी है, वह गुणभद्रकी कथाकी ही अनुकृति है। चामुण्डरायपुराणमें भी वही कथा है।[1]

योगदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पउमचरिय और पद्मचरितकी कथाका अधिकांश वाल्मीकि रामायणके ढंगका है और उत्तरपुराण की कथाका जानकी-जन्म अद्भुत रामायणके ढंगका। दशरथ बनारसके राजा थे यह बात बौद्ध जातकसे मिलती जुलती है। उत्तर पुराणके समान उसमें भी सीता निर्वासन, लव-कुश जन्म आदि नहीं है।

अर्थात् भारतवर्षमें रामकथाकी जो दो तीन परम्पराएँ हैं, वे जैन सम्प्रदायमें भी प्राचीन कालसे चली आ रही हैं। पउमचरिउके कर्ताने कहा है कि उस पद्मचरितको मैं कहता हूँ जो आचार्योंकी परम्परासे चला आ रहा था और नामावली[2] निबद्ध था। इसका अर्थ मैं यह समझता हूं कि रामचन्द्रका चरित्र उस समय तक केवल नामावलीके रूपमें था, अर्थात् उसमें कथाके प्रधान प्रधान पात्रोंके, उनके माता-पिताओं, स्थानों और भवान्तरों आदिके नाम ही होंगे, वह पल्लवित कथाके रूपमें नहीं होगा और उसीकी विमल सूरिने विस्तृत रचनाके रूपमें रचना की होगी। श्री धर्मसेन गणीने वसुदेवहिंडिके दूसरे खण्डमें जो कुछ कहा है उससे भी यही मालूम होता है कि उनका वसुदेवचरित भी गणितानुयोगके क्रमसे निर्दिष्ट था। उसमें कुछ श्रुतिनिबद्ध था और कुछ आचार्य परम्परागत था।

जब विमलसूरि पूर्वोक्त नामावलीके अनुसार अपने ग्रन्थकी रचनामें प्रवृत्त हुए होंगे तब ऐसा मालूम होता है कि उनके सामने अवश्य ही कोई लोकप्रचलित रामायण ऐसी रही होगी जिसमें रावणादि को राक्षस, वसा-रक्त-मांसका खाने पीनेवाला और कुम्भकर्णको छह छह महीने तक इस तरह सोनेवाला कहा है कि पर्वत तुल्य हाथियोंके द्वारा अंग कुचले जाने, कानोंमें घड़ों तेल डाले जाने और नगाड़े बजाये जाने पर भी वह नहीं उठता था और जब उठता था तो हाथी भैंसे आदि जो कुछ सामने पाता था, सब निगल जाता था।[3] उनकी यह भूमिका इस बातका संकेत करती है कि उस समय वाल्मीकि रामायण या उसी जैसी राम कथा प्रचलित थी और उसमें अनेक अलीक, उपपत्तिविरुद्ध तथा अविश्वसनीय बातें थीं, जिन्हें सत्य, सोपपत्तिक और विश्वास योग्य बनानेका विमलसूरिने प्रयत्न किया है। जैनधर्मका नामावली निबद्ध ढांचा उनके समक्ष था ही और श्रुति परम्परा या आचार्य परम्परासे आया हुआ कथासूत्र भी था। उसीके आधार पर उन्होंने पउमचरियकी रचना की होगी।

उत्तरपुराणके कर्ता उनसे और रविषेणसे भी बहुत पीछे हुए हैं। फिर उन्होंने इस कथानकका अनुसरण क्यों नहीं किया, यह एक प्रश्न है। यह तो बहुत कम संभव है कि इन दोनों ग्रन्थोंका उन्हें पता न हो और इसकी भी संभावना कम है कि उन्होंने स्वयं ही विमलसूरिके समान किसी लोक-प्रचलित कथाको ही स्वतन्त्ररूपसे जैनधर्मके सांचेमें ढाला हो क्योंकि उनका समय वि० सं० ९५५ है जो बहुत

---

१ पंपकविकी कनड़ी रामायण और स्वयंभू कविकी अपभ्रंश रामायण पद्मपुराणके आधार पर लिखी गई है। २ "णामावलियणिबद्धं आयरियपरंपरागयं सव्वं। वोच्छामि पउमचरियं अहाणुपुव्विं समासेण ॥ ८ ॥" ३ देखो पउमचरिय गाथा १०७ से ११६ तक।

प्राचीन नहीं है। हमारा अनुमान है कि गुणभद्रसे बहुत पहले विमलसूरिके ही समान किसी अन्य आचार्य ने भी जैनधर्मके अनुकूल सोपपत्तिक और विश्वसनीय स्वतन्त्र रूपसे रामकथा लिखी होगी और वह गुणभद्राचार्यको गुरुपरम्परा द्वारा मिली होगी। गुणभद्रके गुरु जिनसेन स्वामीने अपना आदिपुराण कवि परमेश्वरकी गद्य-कथाके आधारसे लिखा था—'कविपरमेश्वरनिगदितगद्यकथामातृकं पुरोश्चरितम्।' और उसके पिछले कुछ अंशकी पूर्ति स्वयं गुणभद्रने भी की है। जिनसेन स्वामीने कवि-परमेश्वर या कवि परमेष्ठीको 'वागर्थसंग्रह' नामक समग्र पुराणका कर्ता बतलाया है। अतएव मुनिसुव्रत तीर्थंकरका चरित्र श्री गुणभद्रने उसीके आधारसे लिखा होगा जिसके अन्तर्गत रामकथा भी है। चामुण्डरायने कवि परमेश्वरका स्मरण किया है।

गरज यह कि पउमचरिय और उत्तर पुराणकी रामकथाकी दो धाराएँ अलग-अलग स्वतन्त्र रूपसे निर्मित हुईं और वे ही आगे प्रवाहित होती हुईं हम तक आई हैं। इन दो धाराओंमें गुरु-परम्परा भेद भी हो सकता है। एक परम्पराने एक धाराको अपनाया और दूसरीने दूसरीको। ऐसी दशामें गुणभद्र स्वामीने पउमचरियकी धारासे परिचित होने पर भी इस ख्यालसे उसका अनुसरण न किया होगा कि वह हमारी गुरु-परम्पराकी नहीं है। यह भी सम्भव हो सकता है कि उन्हें पउमचरियके कथानककी अपेक्षा यह कथानक ज्यादा अच्छा मालूम हुआ हो।

पउमचरिककी रचना वि० सं० ६ में हुई और यदि जैन धर्म दिगम्बर श्वेताम्बर भेदोंमें वि० सं० १३६ के लगभग ही विभक्त हुआ है जैसा कि दोनों सम्प्रदायवाले मानते हैं, तो फिर कहना होगा कि यह उस समयका है जब जैन धर्म अविभक्त था। हमें इस ग्रन्थमें कोई ऐसी बात भी नहीं मिली जिस पर दोमें से किसी एक सम्प्रदायकी गहरी छाप लगी हो और उससे हम यह निर्णय कर सकें कि विमल सूरि अमुक सम्प्रदायके ही थे। बल्कि कुछ बातें ऐसी हैं जो श्वेताम्बर-परम्पराके विरुद्ध जाती हैं और कुछ दिगम्बर परम्पराके विरुद्ध। इससे ऐसा मालूम होता है कि यह एक तीसरी ही, दोनोंके बीचकी, विचारधारा है।

६. अन्य कथाओंमें भी विविधता

इकहत्तरवें पर्वमें बलराम, श्रीकृष्ण, उनकी आठ रानियाँ तथा प्रद्युम्न आदिके भवान्तर बतलाये गये हैं इसमें जिनसेन [द्वितीय] के हरिवंशपुराणसे कहीं-कहीं नाम तथा कथानक आदिमें भेद पाया जाता है। इसी प्रकार पचहत्तरवें पर्वमें जीवन्धर स्वामीका चरित लिखा गया है परन्तु उसमें और आचार्य वादीभसिंहके द्वारा लिखित गद्यचिन्तामणि या क्षत्रचूड़ामणिके कथानकमें काफी विविधता है। नाम आदिकमें विविधता तो है ही पर उनके चरित्र-चित्रणमें भी विविधता है। इसका कारण यह हो सकता है कि वादीभसिंहने पौराणिक कथानकको काव्यके ढाँचेमें डालनेके लिए परिष्कृत किया हो। भवान्तर आदिके प्रकरणोंको छोड़ दिया हो। पर पात्रोंके नाम आदिमें भेद कैसे हो गया यह समझमें नहीं आता।

७. महापुराणका परिमाण

इस महापुराण ग्रन्थका अनुष्टुप् श्लोकोंकी संख्यामें कितना परिमाण है? इसके विषयमें दो उल्लेख मिलते हैं—एक तो गुणभद्राचार्यने ही ग्रन्थके अन्तमें २० हजार श्लोक प्रमाण बतलाया है और दूसरा उसी श्लोकके पाठान्तरमें २४ हजार श्लोक प्रमाण बतलाया गया है। इन दो उल्लेखोंको देखकर विचार आया कि इसका एक बार निर्णय कर लेना ही उचित होगा। फलस्वरूप महापुराण प्रथम-द्वितीय भाग तथा उत्तर पुराणके श्लोकोंका निर्णय निम्न यन्त्रसे किया जाता है—

८. आदिपुराण प्रथम एवं द्वितीय भागका परिमाण

क्रमांक	छन्द नाम	श्लोक संख्या	अक्षर
१.	अनुष्टुप	१०४१२ × ३२	३३३१८४
२.	हरिणी	१६ × ६८	१०८८
३.	मालिनी	१०६ × ६०	६३६०

क्रमांक	छन्द नाम	श्लोक संख्या	अक्षर
४.	स्रग्धरा	९ × ८४	७५६
५.	शार्दूलविक्रीडित	८१ × ७६	६१५६
६.	उपजाति	१९ × ४४	८३६
७.	इन्द्रवज्रा	४ × ४४	१७६
८.	वसन्ततिलका	८१ × ५६	४५३६
९.	दोधक	८ × ४४	३५२
१०.	द्रुतविलम्बित	३३ × ४८	१५८४
११.	उपेन्द्रवज्रा	५ × ४४	२२०
१२.	वंशस्थ	४ × ४८	१९२
१३.	रुचिरा	१० × ५२	५२०
१४.	पुष्पिताग्रा	१२ × ५०	६००
१५.	अपरवक्त्र	२ × ४६	९२
१६.	चम्पकमाला	२ × ४०	८०
१७.	शालिनी	४ × ४४	१७६
१८.	मौक्तिकमाला	२ × ४४	८८
१९.	पृथिवी	१३ × ६८	८८४
२०.	चामर	१ × ६०	६०
२१.	अज्ञात नाम	४ × ५६	२२४
२२.	प्रहर्षिणी	१३ × ५२	६७६
२३.	भुजंगप्रयात	३१ × ४८	१४८८
२४.	जलधरमाला	१ × ४८	४८
२५.	स्वागता	५ × ४४	२२०
२६.	मन्दाक्रान्ता	७ × ६८	४७६
२७.	मत्तमयूर	७ × ५२	३६४
२८.	विद्युन्माला	२ × ३२	६४
२९.	समानिका	२ × ३२	६४
३०.	चित्रपदा	३ × ३२	९६
३१.	भुजगशिशिभृता	२ × ३६	७२
३२.	रुक्मवती	१ × ४०	४०
३३.	पगव	१ × ४०	४०
३४.	उपस्थिता	१ × ४०	४०
३५.	मयूर सारिणी	१ × ४०	४०
३६.	अज्ञात नाम	२ × ४०	८०
३७.	तोटक	१० × ४८	४८०
३८.	वार्तोमि	१ × ४४	४४
३९.	भ्रमरविलसित	१ × ४४	४४
४०.	रथोद्धता	२ × ४४	८८
४१.	वृत्तावृत्त	१ × ४४	४४
४२.	सैनिकावृत्त	१ × ४४	४४
४३.	अज्ञात नाम	१ × ४४	४४

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

क्रमांक	छन्द	श्लोक संख्या	अक्षर
४४.	इन्द्रवंशा	१ × ४८	४८
४५.	पुटवृत्त	१ × ४८	४८
४६.	पार्श्वव्यक्षोद्धतागति	१ × ४८	१ २
४७.	प्रमिताक्षरा	४ × ४८	१९२
४८.	तामरस	५ × ४८	२४०
४९.	नवमालिनी	५ × ४८	४२०
५०.	प्रमुदितवदना	१ × ४८	४८
५१.	जलधरमाला	६ × ४८	२८८
५२.	मञ्जुभाषिणी	१ × ५२	५२
५३.	अज्ञात नाम	२ × ५२	१०४
५४.	असम्बाधा	१ × ५६	५६
५५.	अपराजिता	१ × ५६	५६
५६.	प्रहरणकलिका	१ × ५६	५६
५७.	इन्दुवदना	१ × ५६	५६
५८.	शशिकला	५ × ६०	३००
५९.	रूपभगजविलसित	२ × ६४	१२८
६०.	वाणिनी	१ × ६४	६४
६१.	शिखरिणी	४ × ६८	२७२
६२.	वंशपत्रपतित	१ × ६८	६८
६३.	कुसुमितलतावेल्लित	९ × ७२	७२
६४.	अज्ञात छन्द	१ × ७६	७६
६५.	सुवदना	१ × ८०	८०
६६.	अज्ञात छन्द	१ × ८४	८४
६७.	वियोगिनी	४ × ४२	१६८
		१०९७९	३६५७४८ ÷ ३२
		समस्त श्लोक	११४२९अनुष्टुप् श्लोक
			शेष बचे २०

९. उत्तरपुराणका परिमाण

क्रमाङ्क	छन्द	श्लोक-संख्या	अक्षर
१.	अनुष्टुप्	७३६० × ३२	२३५१२०
२.	मालिनी	३६ × ६०	२१६०
३.	शार्दूलविक्रीडित	६५ × ७६	४५४०
४.	द्रुतविलम्बित	३ × ४८	१४४
५.	वसन्ततिलका	७० × ५६	३९२०
६.	स्रग्धरा	५ × ८४	४१०
७.	रथोद्धता	२ × ४४	८८
८.	उपजाति	२ × ४४	८८
९.	वंशस्थ	४ × ४८	१९२
१०.	पृथिवी	९ × ६८	७०२

पार्श्वनाथ विद्यापीठ आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

क्रमांक	छन्द	श्लोक-संख्या	अक्षर
११	वियोगिनी	१ × ४२	४२
१२	हरिणी	१ × ६८	६८
१३	स्वागता	१ × ४४	४४
१४	प्रहर्षिणी	१ × ५२	५२
१५	शिखरिणी	१ × ६८	६८
		७५६१	२४८४४८ ÷ ३२
			७७६४ अनुष्टुप्
१६	मात्रिक छन्द, आर्या	१४	१४
		७५७५	७७७८

आदिपुराण—११४२९ अनुष्टुप्

उत्तरपुराण—७७७८ अनुष्टुप्

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

१९२०७

इस प्रकार विचार करने पर महापुराणके तीनों भागोंकी अनुष्टुप् श्लोक-संख्याका प्रमाण उन्नीस हजार दो सौ सात है और यह भदन्त गुणभद्रद्वारा प्रतिपादित आनुमानिक प्रमाणसे मिलता-जुलता है। पाठान्तरमें दिया हुआ चौबीस हजारका प्रमाण ठीक नहीं है।

अनुवाद और आभार-प्रदर्शन

उत्तरपुराणके पाठ-भेद लेनेमें श्री पं० कपूरचन्द्रजी आयुर्वेदाचार्य, श्री लक्ष्मणप्रसादजी 'प्रशान्त' साहित्यशास्त्री, मास्टर परमेष्ठीदासजी विद्यार्थी, गोकुलचन्द्रजी तथा विद्यार्थी राजेन्द्रकुमारजी आदिका पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इसलिए इन सबका आभारी हूं। हस्तलिखित प्रतियोंके वाचनमें श्रीमान् वयोवृद्ध पं० लालारामजी शास्त्री द्वारा अनूदित एवं प्रकाशित उत्तरपुराणसे पर्याप्त साहाय्य प्राप्त हुआ है। मैं उनका आभार मानता हूँ। प्रस्तावना लेखमें श्रीमान् नाथूरामजी प्रेमी एवं पं० के० भुजबली शास्त्री मूडबिद्रीके क्रमशः 'रामकथाकी विभिन्न धाराएँ' और 'बंकापुरका परिचय' शीर्षक प्रकरण दिये गये हैं अतः मैं इनका भी आभारी हूँ। इस ग्रन्थके सम्पादन एवं अनुवादमें दो वर्षका लम्बा समय लग गया है। दूरवर्ती रहनेके कारण मैं इसका प्रूफ स्वयं नहीं देख सका हूँ अतः पं० महादेवजी चतुर्वेदी व्याकरणाचार्य बनारसने देखा है, मेरा ध्यान है कि उन्होंने इस विषयमें काफी सावधानी रखी है। इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ बनारसकी ओरसे हुआ है अतः मैं उसके संचालक और व्यवस्थापक महानुभावों का अत्यन्त आभारी हूँ।

महापुराण, पद्मपुराण और हरिवंशपुराण ये तीन पुराण,दिगम्बर जैन प्रथमानुयोग साहित्यके अनूठे रत्न हैं। मैंने इनका स्वाध्याय कई बार किया है। मनमें इच्छा होती थी कि इनका आधुनिक रूपसे सम्पादन तथा अनुवाद हो जाय तो आम जनताका बहुत उपकार हो। इन तीन ग्रन्थोंमें से महापुराणका सम्पादन और अनुवाद कर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है। पद्मपुराण और हरिवंशपुराणके सम्पादन तथा अनुवादकी आवश्यकता अवशिष्ट है। देखूं उसकी पूर्ति कब होती है।

ग्रन्थ महान् है और मेरी बुद्धि अत्यन्त अल्प है उतने पर भी गृहस्थीके भारसे दबा रहनेके कारण अनेक कार्योंमें व्यस्त रहना पड़ता है इसलिए जहाँ कहीं अनुवादमें त्रुटि होना संभव है अतः विद्वज्जनोंसे क्षमाप्रार्थी हूँ।

सागर
चैत्रशुक्ल पूर्णिमा
२४८० वी० नि० सं०

विनीत
पन्नालाल साहित्याचार्य

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर

विषय-सूची

अष्टचत्वारिंशत्तम पर्व

अजितनाथचरित 1
सगर चक्रवर्ती 6

एकोनपञ्चाशत्तम पर्व

सम्भवनाथ चरित 14

पञ्चाशत्तम पर्व

अभिनंदननाथ चरित 19

एकपञ्चाशत्तम पर्व

सुमतिनाथचरित २५

द्विपञ्चाशत्तम पर्व

पद्मप्रभ चरित ३३

त्रिपञ्चाशत्तम पर्व

सुपार्श्वनाथ चरित ३८

चतुःपञ्चाशत्तम पर्व

चन्द्रप्रभ चरित ४४

पञ्चपञ्चाशत्तम पर्व

पुष्पदन्त चरित ६१

षट्पञ्चाशत्तम पर्व

शीतलनाथ चरित ७१

सप्तपञ्चाशत्तम पर्व

श्रेयान्सनाथ चरित ७९
विजय बलभद्र, त्रिपृष्ठ नारायण और अश्वग्रीव प्रतिनारायणका चरित ८४

अष्टपञ्चाशत्तम पर्व

वासुपूज्य चरित ८७
त्रिपृष्ठनारायण, अचल बलभद्र और तारक प्रतिनारायणका चरित ९१

एकोनषष्टितम पर्व

विमलनाथ चरित ९७
धर्म बलभद्र, स्वयंभू नारायण और मधु प्रतिनारायणका चरित १०२
संजयन्त, मेरु और मन्दर गणधरका चरित १०५

षष्टितम पर्व

अनन्तनाथ चरित १२१
सुप्रभ बलभद्र, पुरुषोत्तम नारायण और मधुसूदन प्रतिनारायणका चरित १२४

एकषष्टितम पर्व

धर्मनाथ चरित १३८
मघवा चक्रवर्तीका चरित १३७
सनत्कुमार चक्रवर्तीका चरित १३५

द्विषष्टितम पर्व

अपराजित बलभद्र तथा अनन्तवीर्य नारायणके अभ्युदयका वर्णन १३८

त्रिषष्टितम पर्व

शांतिनाथ तीर्थंकर और चक्रवर्तीका चरित १७५

चतुःषष्टितम पर्व

कुन्थुनाथ तीर्थंकर और चक्रवर्तीका चरित २१३

पञ्चषष्टितम पर्व

अरहनाथ चरित २१८
सुभौम चक्रवर्तीका चरित २२४
नन्दिषेण बलभद्र, पुण्डरीक नारायण और निशुम्भ प्रतिनारायणका चरित २३०

षट्षष्टितम पर्व

मल्लिनाथ चरित २३३
पद्म चक्रवर्तीका चरित २३८
नन्दिमित्र बलभद्र, दत्त नारायण और बलीन्द्र प्रतिनारायणका चरित २४१

सप्तषष्टितम पर्व

मुनिसुव्रत चरित २२४
हरिषेण चक्रवर्तीका चरित २४८
राम बलभद्र, लक्ष्मण नारायण और रावण प्रतिनारायणका चरित, तदन्तर्गत राजा सगर, सुलसा, मधुपिङ्गल, राजा वसु, क्षीरकदम्बक, पर्वत, नारद आदिका वर्णन २५०

अष्टषष्ट पर्व

राम, लक्ष्मण, रावण और अणुमान् (हनुमान्) का चरित २७८

एकोनसप्ततितम पर्व

नमिनाथ चरित ३३१
जयसेन चक्रवर्ती ३३७

सप्ततितम पर्व

नेमिनाथ चरित, तदन्तर्गत श्रीकृष्णकी विजय का वर्णन ३३९

एकसप्ततितम पर्व

श्रीकृष्ण, बलदेव, श्रीकृष्णकी पट्टरानियाँ आदिके भवान्तरों का वर्णन ३७५

द्विसप्ततितम पर्व

नेमिनाथ तीर्थंकर, प्रद्युम्नकुमार, पद्म बलभद्र, कृष्ण, जरासन्ध और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का चरित ४०७

त्रिसप्ततितम पर्व

पार्श्वनाथ चरित ४२९

चतुःसप्ततितम पर्व

वर्धमान स्वामीका चरित ४४३

सती चन्दनाका चरित ४६६

राजा श्रेणिक और अभयकुमारका वर्णन ४६९

पञ्चसप्ततितम पर्व

राजा चेटक, चेलना आदिका वर्णन ४८२

जीवन्धर चरित ४९४

षट्सप्ततितम पर्व

राजा श्वेतवाहनके मुनिपदका वर्णन ५३०

अन्तिम केवली जम्बू स्वामीका वर्णन ५३१

प्रीतिंकर मुनिका वर्णन ५४३

उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालका विशिष्ट वर्णन करते हुए कल्कियोंका वर्णन ५५५

कल्किके पुत्र अजितंजयका वर्णन ५५७

प्रलय कालका वर्णन ५५९

आगामी तीर्थंकर आदि शलाकापुरुषोंका वर्णन ५६१

महावीर भगवान्‌की शिष्य परम्परा ५६३

ग्रन्थका समारोप ५६६

प्रशस्ति ५७२

टीकाकारकी प्रशस्ति ५७९

मार्गदर्शक आचार्यरत्न श्री विद्यासागर जी महाराज

महापुराणम्

तदन्तर्गतं श्रीमद्-गुणभद्रविरचितम्

उत्तरपुराणम्

अष्टचत्वारिंशत्तमं पर्व

श्रीमान् जिनोऽजितो जीयाद् यद्वचांस्यमलान्यलम् । क्षालयन्ति जलानीव विनेयानां मनोमलम् ॥ १ ॥
पुराणं तस्य वक्ष्येऽहं मोक्षलक्ष्मीसमागमः । श्रुतेन येन भव्यानामव्याहतमहोदयः ॥ २ ॥
इह जम्बूमति द्वीपे विदेहे प्राचि विश्रुते । सीतासरिदपाग्भागे वत्साख्यो विषयो महान् ॥ ३ ॥
सुसीमानगरं तस्मिन् विभूत्या विस्मयावहम् । नाम्नास्यनृपतिः प्राभूत् प्रभुर्विमलवाहनः ॥ ४ ॥
गुणा गुणार्थिभिः प्रार्थ्या न्यायोऽयं चित्रमत्र तत् । गुणाः प्रणयिनः सर्वे स्वयं तं [1]वृण्वते स्म यत् ॥ ५ ॥
शक्तिसिद्धित्रयोपेतो यथान्यायमतन्द्रितः । प्रजाः स पालयामास विधाय स्वप्रजासमाः ॥ ६ ॥
धर्मादय[2]स्ततोऽर्थोऽर्थात् कामो[3]ऽयै[4]ऽनिष्टिते,[5]न तौ । इति स्मरन् बभूवासौ जैनधर्मेण धार्मिकः ॥७॥
स कदाचित् समुत्पन्नसंज्वलनोदयो [illegible] रहस्येवमचिन्तयत् ॥ ८ ॥

अनन्तचतुष्टय रूप अन्तरङ्ग लक्ष्मी और अष्टप्रातिहार्य रूप बहिरङ्ग लक्ष्मीसे युक्त वे अजितनाथ स्वामी सदा जयवन्त रहें जिनके कि निर्दोष—पूर्वापरविरोध आदि दोषोंसे रहित वचन, जलकी तरह भव्य जीवोंके मनमें स्थित रागद्वेषादिरूप मलको धो डालते हैं ॥ १ ॥ मैं उन अजितनाथ स्वामीके उस पुराणको कहूँगा जिसके कि सुननेसे भव्य जीवोंको बाधाहीन महाभ्युदयसे युक्त मोक्षरूपी लक्ष्मीका समागम प्राप्त हो जाता है ॥ २ ॥ इस जम्बूद्वीपके अतिशय प्रसिद्ध पूर्वविदेह क्षेत्रमें सीता नदीके दक्षिण तटपर वत्स नामका विशाल देश है ॥ ३ ॥ उसमें अपने वैभवसे आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला सुसीमा नामका नगर है। किसी समय इस सुसीमा नगरका राजा विमलवाहन था जो बड़ा ही प्रभावशाली था ॥ ४ ॥ संसारमें यह न्याय प्रसिद्ध है कि गुणोंकी चाह रखनेवाले मनुष्य गुणोंकी खोज करते हैं परन्तु इस राजामें यह आश्चर्यकी बात थी कि स्नेहसे भरे हुये सभी गुण अपने आप ही आकर रहने लगे थे ॥ ५ ॥ वह राजा उत्साह शक्ति, मन्त्रशक्ति और फलशक्ति इन तीन शक्तियोंसे तथा उत्साहसिद्धि, मन्त्रसिद्धि और फलसिद्धि इन तीन सिद्धियोंसे सहित था, आलस्यरहित था और अपनी सन्तानके समान न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करता था ॥ ६ ॥ 'धर्मसे पुण्य होता है, पुण्यसे अर्थकी प्राप्ति होती है और अर्थसे काम—अभिलषित भोगोंकी प्राप्ति होती है, पुण्यके बिना अर्थ और काम नहीं मिलते हैं' यही सोचकर वह राजा जैनधर्मके द्वारा सच्चा धर्मात्मा हो गया था ॥ ७ ॥ किसी समय उस राजाके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय दूर होकर सिर्फ संज्वलन कषायका उदय रह गया उसी समय उसे आत्मज्ञान अथवा रत्नत्रयकी प्राप्ति हुई और वह संसारसे विरक्त हो मन ही मन एकान्तमें इस प्रकार विचार करने लगा ॥ ८ ॥

---

१ वणते क०, ख०, ग०, घ० । २ पुण्यम् । ३ पुण्ये । ४ अपूर्णे । ५ अर्थकामौ न भवतः । ६ स्वागतं ग० ।

आयुषो वसतिः काये कायस्थस्य [1]ममाप्यलम् । आयुर्जलं [2]गलत्याशु मितकालघटीधृतम् ॥ ९ ॥
ततो गलति निःशेषं न यावत्तावदेव हि । यतिष्ये मुक्तिसन्मार्गे जैने स्वर्गापवर्गयोः ॥ १० ॥
इत्याशापाशमाच्छिद्य बहुभिः सह निस्पृहः । राजलक्ष्म्या स्वतन्त्रोऽपि दीक्षालक्ष्म्या वशीकृतः ॥ ११ ॥
तपस्यन् सुचिरं तीव्रं विस्पष्टैकादशाङ्गकः । [3]नाम्नोऽन्त्यमेष पुण्यात्मा स्वकार्पीद्भावनापरः ॥ १२ ॥
आयुषोऽन्ते समाधानं विधाय परमेष्ठिषु । त्रयस्त्रिंशत्समुद्रायुरयात् स [4]विजयं जयी ॥ १३ ॥
तत्रादायाद्यसंस्थानं [5]शुक्ललेश्याद्वयान्वितः । हस्तोच्छ्रायं शुभं देहं सुवर्णादिचतुष्टयम् ॥ १४ ॥
मासैः षोडशभिः पञ्चदशभिश्चोच्छ्वसन् दिनैः । त्रयस्त्रिंशत्सहस्राब्दै[6]र्मानसाहारमाहरन् ॥ १५ ॥
निजतेजोऽवधिव्याप्तलोकनालिर्निजावधिः[7] । क्षेत्रोत्थापिबलस्तत्पूरककायजविक्रियः ॥ १६ ॥
सातपञ्चशुभैः सौख्यमप्रवीचारमन्वभूत् । सप्रवीचारसत्सौख्यात्तदनन्तगुणाधिकम् ॥ १७ ॥
तस्मान्महीं [8]महाभागे स्वर्गाद्घोरागमिष्यति । प्रागेव भावनोपात्ततीर्थकृन्नामपुण्यतः ॥ १८ ॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते वर्षे साकेतनगराधिपः । इक्ष्वाकुर्जितशत्र्वाख्यः ख्यातो गोत्रेण काश्यपः ॥ १९ ॥
तस्य शक्राज्ञया गेहे षण्मासान् प्रत्यहं मुहुः । रत्नान्यैलबिल[9]स्तिस्रः कोटीः सार्धं न्यपीपतत् ॥ २० ॥
ज्येष्ठे मासि कलाशेषशशिरोहिण्युपागमे । मुहूर्ताद् ब्रह्मणः पूर्वं [10]दरनिद्राविलेक्षणाम् ॥ २१ ॥

'इस जीवका शरीरमें जो निवास हो रहा है वह आयुकर्मसे ही होता है, मैं यद्यपि शरीरमें स्थित हूँ तो भी कालकी परिमित घड़ियोंमें धारण किया हुआ मेरा आयुरूपी जल शीघ्र ही गलता जाता है—उत्तरोत्तर कम होता जाता है इसलिए मेरा वह आयुरूपी जल जब तक समाप्त नहीं होता तब तक मैं स्वर्ग और मोक्षके मार्गभूत जैनधर्ममें उत्साहके साथ प्रवृत्ति करूँगा' ॥ ९–१० ॥

इस प्रकार आशारूपी पाशको छेदकर वह राजा राज्यलक्ष्मीसे निस्पृह हो गया तथा स्वाधीन होनेपर भी अनेक राजाओंके साथ दीक्षारूपी लक्ष्मीके द्वारा अपने आधीन कर लिया गया अर्थात् अनेक राजाओंके साथ उसने जिन-दीक्षा धारण कर ली ॥ ११ ॥ जिसने बहुत समय तक तीव्र तपस्या की है, जिसे ग्यारह अङ्गोंका स्पष्ट ज्ञान हो गया है, जिसकी आत्मा पुण्यके प्रकाशसे जगमगा रही है और जो दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओंके चिन्तनमें निरन्तर तत्पर रहता है ऐसे इस विमलवाहनने तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध किया ॥ १२ ॥ इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करने-वाला वह विमलवाहन आयुके अन्त समय पञ्चपरमेष्ठियोंमें चित्त स्थिरकर—समाधिमरण कर तैंतीस सागरकी आयुका धारक हो विजय नामक अनुत्तरविमानमें पहुँचा ॥ १३ ॥ वहाँ वह द्रव्य और भाव दोनों ही शुक्ललेश्याओंसे सहित था तथा समचतुरस्रसंस्थानसे युक्त एक हाथ ऊँचे एवं प्रशस्त रूप, रस, गन्ध, स्पर्शसे सम्पन्न शुभ शरीरको लेकर उत्पन्न हुआ था, सोलह महीने और पन्द्रह दिन बाद उच्छ्वास लेता था, तैंतीस हजारवर्ष बाद मानसिक आहार ग्रहण करता था, उसने अपने अवधिज्ञानके द्वारा लोकनाड़ीको व्याप्त कर रखा था अर्थात् लोकनाड़ी पर्यन्तके रूपी पदार्थोंको वह अपने अवधिज्ञानसे देखता था, उसमें लोकनाड़ीको उखाड़कर दूसरी जगह रख देनेकी शक्ति थी, वह उतने ही क्षेत्रमें अपने शरीरकी विक्रिया भी कर सकता था और सुखस्वरूप पंचेन्द्रियोंके द्वारा प्रवीचारजन्य सुखसे अनन्तगुणा अधिक अप्रवीचार सुखका उपभोग करता था ॥ १४–१७ ॥ उस महाभागके स्वर्गसे पृथिवीपर अवतार लेनेके छह माह पूर्वसे ही प्रतिदिन तीर्थंकर नामक पुण्यप्रकृतिके प्रभावसे जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रके अधिपति इक्ष्वाकुवंशीय काश्यपगोत्री राजा जितशत्रुके घरमें इन्द्रकी आज्ञासे कुबेरने साढ़े तीन करोड़ रत्नोंकी वृष्टि की ॥ १८–२० ॥ तदनन्तर जेठ महीनेकी अमावसके दिन जब कि रोहिणी नक्षत्रका कला मात्रसे अवशिष्ट चन्द्रमाके साथ संयोग था तब

---

१ ममाप्यरं ख० । ममारम् ग०, क०, घ० । २ गलत्यश्रु क०, ख०, ग०, घ० । ३ नाम्नोऽन्त्यं शेष क०, ख०, ग०, घ० । ४ विजयनामानुत्तरविमानम् । ५ द्रव्यतो भावतश्च शुक्ललेश्यासहितः । ६–र्मानसाहार-क० ख०, ग०, घ० । ७ निजावधि-क्षेत्रो क०, ग०, घ० । ८ महाभागस्याग्राद्घोरागमिष्यतः क०, ख०, ग० । ९ कुबेरः । १० ईषन्निद्राकलुषितलोचनाम् ।

देवीं विजयसेनाख्यां षोडशस्वप्नपूर्वकम् । प्रविशन्तं विलोक्यात्मवक्त्राब्जं [1]गन्धसिन्धुरम् ॥ २२ ॥
प्रातः पृष्टवतीं स्वप्नान् देशावधिविलोचनः । जितशत्रुर्महाराजः फलान्येषामबूबुधत् ॥ २३ ॥
विजयादागतं देवं तद्गर्भं स्फटिकामलम् । विमलानुगसज्ज्ञान[2]नेत्रत्रितयभास्वरम्[3] ॥ २४ ॥
दशम्यां माघमासस्य शुक्लपक्षे प्रजेश्वरम् । प्रजेशयोगे नीतिर्वो महोदयमसूत सा ॥ २५ ॥
सागरोपमकोटीनां लक्षाः पञ्चाशदुत्तरे । मुक्तिमाद्ये जिने याते तदभ्यन्तरजीविनः ॥ २६ ॥
तदा विधाय देवेन्द्रा मन्दरे सुन्दराकृतेः । जन्माभिषेककल्याणमजिताख्यामकुर्वत ॥ २७ ॥
द्वासप्ततिगुणा लक्षाः पूर्वाणामस्य जीवितम् । चतुःशतानि पञ्चाशदुत्सेधो धनुषां मतः ॥ २८ ॥
भर्तुः सुवर्णवर्णस्य पादे[4] स्वस्यायुषो गते । अजितस्य जिताशेषबाह्याभ्यन्तरविद्विषः ॥ २९ ॥
पूर्वाणां लक्षया हीनं भागत्रितयमायुषः । पूर्वाङ्गमपि नार्पत्यं[5] निर्जितादित्यतेजसः ॥ ३० ॥
त्वया सम्भोगसौख्यस्य पर्यन्तोऽयं ममेति वा । राज्यलक्ष्म्या परिष्वक्तः श्लाघ्यान् भोगानभुङ्क्त सः ॥३१॥
स कदाचित्सुखासीनः सौधपृष्ठे विशां पतिः । उल्कामलोकतानल्पां [6]जल्पन्तीवाभ्रुवां श्रियम् ॥ ३२॥
विषयेषु तदैवासौ विदां निर्विविदे वरः । लक्ष्मीमभ्यर्णमोक्षाणां क्षेतुं किं वा न कारणम् ॥ ३३ ॥
ब्रह्मलोकात्तदाभ्येत्य [7]सुराः सारस्वतादयः । मुनीश्वराः प्रशस्योच्चैस्तत्तदेवान्ववादिषुः ॥ ३४ ॥

ब्राह्ममुहूर्तके पहले महारानी विजयसेनाने सोलह स्वप्न देखे। उस समय उसके नेत्र बाकी बची हुई अल्प निद्रासे कलुषित हो रहे थे। सोलह स्वप्न देखनेके बाद उसने देखा कि हमारे मुखकमलमें एक मदोन्मत्त हाथी प्रवेश कर रहा है। जब प्रातःकाल हुआ तो महारानीने जितशत्रु महाराजसे स्वप्नोंका फल पूछा और देशावधिज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले महाराज जितशत्रुने उनका फल बतलाया कि तुम्हारे स्फटिकके समान निर्मल गर्भमें विजयविमानसे तीर्थंकर पुत्र अवतीर्ण हुआ है। वह पुत्र, निर्मल तथा पूर्वभवसे साथ आनेवाले मति-श्रुत-अवधिज्ञानरूपी तीन नेत्रोंसे देदीप्यमान है ॥ २१–२४ ॥ जिस प्रकार नीति, महान् अभ्युदयको जन्म देती है उसी प्रकार महारानी विजयसेनाने माघमासके शुक्लपक्षकी दशमी तिथिके दिन प्रजेशयोगमें प्रजापति तीर्थंकर भगवान्को जन्म दिया ॥ २५ ॥ भगवान् आदिनाथके मोक्ष चले जानेके बाद जब पचास लाख करोड़ सागर वर्ष बीत चुके तब द्वितीय तीर्थंकरका जन्म हुआ था। इनकी आयु भी इसी अन्तरालमें सम्मिलित थी। जन्म होते ही, सुन्दर शरीरके धारक तीर्थंकर भगवान्का देवोंने मेरुपर्वतपर जन्माभिषेक कल्याणक किया और अजितनाथ नाम रक्खा ॥ २६–२७ ॥ इन अजितनाथकी बहत्तर लाख पूर्वकी आयु थी और चार सौ पचास धनुष शरीरकी ऊँचाई थी। अजितनाथ स्वामीके शरीरका रङ्ग सुवर्णके समान पीला था। उन्होंने बाह्य और आभ्यन्तरके समस्त शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली थी। जब उनकी आयुका चतुर्थांश बीत चुका तब उन्हें राज्य प्राप्त हुआ। उस समय उन्होंने अपने तेजसे सूर्यका तेज जीत लिया था। एक लाख पूर्व कम अपनी आयुके तीनभाग तथा एक पूर्वाङ्ग तक उन्होंने राज्य किया। 'देखूँ, आपके साथ सम्भोगसुखका अन्त आता है या मेरा ही अन्त होता है' इस विचारसे राज्यलक्ष्मीके द्वारा आलिंगित हुए भगवान् अजितनाथने प्रशंसनीय भोगोंका अनुभव किया॥२८–३१॥

किसी समय अजितनाथ स्वामी महलकी छतपर सुखसे विराजमान थे कि उन्होंने लक्ष्मीको अस्थिर बतलानेवाली बड़ी भारी उल्का देखी ॥३२॥ ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ अजितनाथ स्वामी उसी समय विषयोंसे विरक्त हो गये सो ठीक ही है क्योंकि जिन्हें शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त होनेवाला है उन्हें लक्ष्मीको छोड़नेके लिए कौन-सा कारण नहीं मिल जाता ? ॥ ३३ ॥ उसी समय सारस्वत आदि देवर्षियों अर्थात् लौकान्तिक देवोंने ब्रह्मस्वर्गसे आकर उनके विचारोंकी बहुत भारी प्रशंसा तथा पुष्टि की ॥३४॥

---

१ मत्तहस्तिनम् । २ मतिश्रुतावधिज्ञानानि एव नेत्रत्रितयम् । ३ भास्करम् ग० । ४ चतुर्थभागे । ५ नृपतेः कार्यं नार्पत्यं राज्यम् । ६ 'जल्पन्तीमभ्रुवां श्रियम्' इति पाठः शुद्धो भाति । ७ सौराः क०, ख०, ग०, घ० ।

तेषां तदुदितं तस्य लोकस्येवांशुमालिनः । स चक्षुषो यथार्थावलोकेऽगात्सहकारिताम् ॥ ३५ ॥
सुतायाजितसेनाय राज्याभिषेकपूर्वकम् । दत्त्वा विवेकिनां त्याज्यं राज्यं [1]भोज्यमिवोज्झितम् ॥ ३६ ॥
लब्धनिष्क्रान्तिकल्याणमहाभिषवसम्मदः । सुप्रभाशिबिकारूढो व्यूढो नरखगामरैः ॥ ३७ ॥
माघे मासि सिते पक्षे रोहिण्यां नवमीदिने । सहेतुके वने सप्तपर्णद्रुमसमीपगः ॥ ३८ ॥
अपराह्णे सहस्रेण राज्ञामाज्ञाविधायिनाम् । सार्धं [2]षष्ठोपवासेन [3]समास्थित स संयमम् ॥ ३९ ॥
[4]चतुर्थज्ञानसम्पन्नो द्वितीयेऽह्नि प्रविष्टवान् । साकेतं दानिनां तोषमपूर्वमुपपादयन् ॥ ४० ॥
तत्र [5]ब्रह्मा महीपालस्तस्मै दानं [6]यथाक्रमात् । दत्त्वा सातादिभिः पुण्यैः [7]सहापाश्चर्यपञ्चकम् ॥ ४१ ॥
छाद्मस्थ्येन नयन्नब्दान्पौषे द्वादशशुद्धधीः । शुक्लैकादश्यहःप्रान्ते[8] रोहिण्यामाप्ततामगात् ॥ ४२ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज
सिंहसेनादयस्तस्य नवतिः स्युर्गणाधिपाः । खपञ्चसप्तवह्न्युक्तप्रमाणाः पूर्वधारिणः ॥ ४३ ॥
शिक्षकाः खद्वयर्त्वेकद्विप्रमागणनाः क्रमात् । शून्यद्वयचतुरन्ध्रमिताख्यिज्ञानलोचनाः ॥ ४४ ॥
केवलागवमास्तत्र ते सहस्राणि विंशतिः । चतुःशतैः सहस्राणां विंशतिर्विक्रृतर्द्धयः ॥ ४५ ॥
शून्यपञ्चचतुर्द्वयेकमनःपर्ययवीक्षणाः । शून्यद्वयचतुर्द्वयेकैस्तस्यानुत्तरवादिनः ॥ ४६ ॥
सर्वे ते पिण्डिताः सन्तो लक्षमेकं तपोधनाः । प्रकुब्जाद्यार्यिकाः शून्यचतुष्कद्वयग्निसम्मिताः ॥ ४७ ॥
श्रावकास्त्रीणि लक्षाणि श्राविकाः [9]पञ्चलक्षिकाः । देवा देव्यस्त्वसङ्ख्याताः सङ्ख्यातो द्वादश गणः ॥४८॥
एवं द्वादशभिर्देवो गणैरेभिः परिष्कृतः । संसारमोक्षतद्धेतुफलभेदान् प्रपञ्चयन् ॥ ४९ ॥

जिस प्रकार लोग देखते तो अपने नेत्रोंसे हैं परन्तु सूर्य उसमें सहायक हो जाता है उसी प्रकार भगवान् यद्यपि स्वयं बुद्ध थे तो भी लौकान्तिक देवोंका कहना उनके यथार्थ अवलोकनमें सहायक हो गया ॥ ३५ ॥ उन्होंने जूँठनके समान विवेकी मनुष्योंके द्वारा छोड़नेयोग्य राज्य, राज्याभिषेकपूर्वक अजितसेन नामक पुत्रके लिए दे दिया ॥ ३६ ॥ देवोंने उनका दीक्षाकल्याणकसम्बन्धी महाभिषेक किया। अनन्तर वे सुप्रभा नामकी पालकीपर आरूढ़ होकर सहेतुक वनकी ओर चले। उनकी पालकीको सर्वप्रथम मनुष्योंने, फिर विद्याधरोंने और फिर देवोंने उठाया था। माघमासके शुक्लपक्षकी नवमीके दिन रोहिणी नक्षत्रका उदय रहते हुए उन्होंने सहेतुक वनमें सप्तपर्ण वृक्षके समीप जाकर सायंकालके समय एक हजार आज्ञाकारी राजाओंके साथ बेलाका नियम लेकर संयम धारण कर लिया—दीक्षा ले ली ॥ ३७-३९॥ दीक्षा लेते ही वे मनःपर्यय ज्ञानसे सम्पन्न हो गये और दूसरे दिन दानियोंको अपूर्व आनन्द उपजाते हुए साकेतनगरीमें प्रविष्ट हुए ॥ ४० ॥ वहाँ ब्रह्मा नामक राजाने उन्हें यथाक्रमसे दान दिया और सातावेदनीय आदि पुण्यप्रकृतियोंका बन्धकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ ४१ ॥ शुद्धज्ञानके धारक भगवान्ने बारहवर्ष छद्मस्थ अवस्थामें बिताये। तदनन्तर पौषशुक्ल एकादशीके दिन शामके समय रोहिणी नक्षत्रमें आप्तपना प्राप्त किया अर्थात् लोकालोकावभासी केवलज्ञानको प्राप्तकर सर्वज्ञ हो गये ॥४२॥ उनके सिंहसेन आदि नब्बे गणधर थे। तीन हजार सात सौ पचास पूर्वधारी, इक्कीस हजार छह सौ शिक्षक, नौ हजार चार सौ अवधिज्ञानी, बीस हजार केवलज्ञानी, बीस हजार चार सौ विक्रियाऋद्धिवाले, बारह हजार चार सौ पचास मनःपर्ययज्ञानी और बारह हजार चार सौ अनुत्तरवादी थे। इस प्रकार सब मिलाकर एक लाख तपस्वी थे, प्रकुब्जा आदि तीन लाख बीस हजार आर्यिकाएँ थीं, तीन लाख श्रावक थे, पाँच लाख श्राविकाएँ थीं, और असंख्यात देव देवियाँ थीं। इस तरह उनकी बारह सभाओंकी संख्या थी ॥ ४३-४८ ॥ इस प्रकार बारह सभाओंसे वेष्टित भगवान् अजितनाथ संसार, मोक्ष, उनके कारण तथा फलके भेदोंका विस्तारसे कथन करते

---

१ उच्छिष्ट-भोजनमिव । २ दिनद्वयोपवासेन । ३ अङ्गीचकार । ४ मनःपर्ययज्ञानसहितः । ५ ब्रह्ममहीपाल क०, ग०, घ० । ६ यथाक्रमम् क०, ख०, ग० । ७ सह सार्धम्, आप लेभे, आश्चर्यपञ्चकम् पञ्चाश्चर्यान् इतिच्छेदः । ८ प्रान्त ग० । ९ पञ्चलक्षकाः क०, ख०, ग०, घ० ।

मालिनी

समवसरणलक्ष्म्या वीक्ष्यमाणः कटाक्षैः
सुकृतविकृतचिह्नैरष्टभिः प्रातिहार्यैः ।
अविहतविहतारिः प्राज्यवैराग्यभावः
स्वपरगुरुकृतार्थप्रार्थ्यसम्यक्प्रसिद्धः[1] ॥ ५० ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

पापैः क्वापि न जीयतेऽयमिति वा दुर्वादिभिश्चाखिलै-
र्नामान्वर्थमवाप्तवानिति विदां स्तोत्रस्य पात्रं भवन् ।
आर्यक्षेत्रमशेषमेष विहरन् सम्प्राप्य सम्मेदकं
स्थित्वा [2]दिव्यनिनादयोगरहितस्तत्रैव पक्षद्वयम् ॥ ५१ ॥
कुर्वाणः समयं प्रति प्रकृतिषु [3]स्रावं गुणासङ्ख्यया[4]
स्थित्यादिं च विधातयन् स्वमितिकं दण्डादिकं वर्तयन् ।
सूक्ष्मध्याननिरुद्धयोगविभवो विश्लिष्टदेहत्रय-
स्तुर्यध्यानसमाश्रयात्समुपयंश्चाष्टौ गुणान् शुद्धिभाक् ॥ ५२ ॥

आर्या

चैत्रज्योत्स्नापक्षे पञ्चम्यां रोहिणीगते चन्द्रे ।
प्रतिमायोगं बिभृत्पूर्वाह्णेऽवाप मुक्तिपदम् ॥ ५३ ॥

द्रुतविलम्बितम्

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विमलवाहनमाहवदुर्जयं दुरितदूरतपश्चरणोद्यतम् ।
सुखनिधिं विजये सुरसत्तमं नमत भक्तिभराद्जितं जिनम् ॥ ५४ ॥

थे ॥ ४९ ॥ उन अजितनाथ स्वामीको समवसरण लक्ष्मी कटाक्षोंसे देख रही थी, वे पुण्योत्पादित चिह्नस्वरूप आठ प्रातिहार्योंसे युक्त थे, उन्होंने कर्मरूपी शत्रुओंमेंसे घातिया कर्मरूप शत्रुओंको नष्ट कर दिया था और अघातिया कर्मरूप शत्रुओंको अभी नष्ट नहीं कर पाया था, उनकी वैराग्यपरिणति अत्यन्त बढ़ी हुई थी, वे निज और परके गुरु थे, कृतकृत्य मनुष्यकि प्रार्थनीय थे और अतिशयप्रसिद्ध अथवा समृद्ध थे ॥ ५० ॥ 'यह न तो कहीं पापोंसे जीते जाते हैं और न समस्त वादी ही इन्हें जीत सकते हैं इसलिए 'अजित' इस सार्थक नामको प्राप्त हुए हैं' इस प्रकार विद्वानोंकी स्तुतिके पात्र होते हुए भगवान् अजितनाथने समस्त आर्यक्षेत्रमें विहार किया और अन्तमें सम्मेदाचलपर पहुँचकर दिव्यध्वनिसे रहित हो एक मासतक वहींपर स्थिर निवास किया ॥ ५१ ॥ उस समय उन्होंने प्रतिसमय कर्म-प्रकृतियोंकी असंख्यातगुणी निर्जरा की, उनकी स्थिति आदिका विधान किया, दण्डप्रतर आदि लोकपूरणसमुद्घात किया, सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती ध्यानके द्वारा योगोंका वैभव नष्ट किया, औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरोंके सम्बन्धको पृथक् किया, और सातिशय विशुद्धताको प्राप्त हो व्युपरतक्रियानिवर्ती नामक चतुर्थ शुक्लध्यानके आश्रयसे अनन्तज्ञानादि आठ गुणोंको प्राप्त किया ॥५२॥ इस प्रकार चैत्रशुक्ल पञ्चमीके दिन जब कि चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्रपर था, प्रातःकालके समय प्रतिमायोग धारण करनेवाले भगवान् अजितनाथने मुक्तिपद प्राप्त किया ॥ ५३ ॥

जो पहले विमलवाहन भवमें युद्धके समय दुर्जेय रहे, फिर पापनाशक तपश्चरणमें उद्यत रहे, तदनन्तर विजयविमानमें सुखके भण्डार स्वरूप श्रेष्ठ देव हुए उन अजित जिनेन्द्रको हे भव्यजीवो !

---

१ समृद्धः ख०, ग० । २ दिव्यध्वनिरहितः । ३ निर्जराम् । ४ गुणसंज्ञया क०, घ० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्थं षोडशभावनाहितमहापुण्योदयापादकः
सद्ध्यानात्खलकर्मजालमखिलं निर्मूलयन्निर्मलः ।
धर्मः शर्मपरम्परां प्रविदधद्धत्ते शिवे शाश्वते
तस्माद्धर्ममुपाद्ध्वमुज्झितमदाः शुद्धाप्तबुद्धं बुधाः ॥ ५५ ॥

तीर्थकृत्सु द्वितीयोऽपि [1]योऽद्वितीयपथस्तुतः । स विधेयात् पुराणोरुमार्गनिर्वहणं कवेः ॥ ५६ ॥
तत्तीर्थे सगराभिख्यो द्वितीयश्चक्रवर्तिनाम् । अभूत् पुराणमेतस्य शृणु श्रेणिक धीधन ॥ ५७ ॥
द्वीपेऽत्र प्राग्विदेहस्य सीतापाग्भागभूषणे । विषये वत्सकावत्यां पृथिवीनगराधिपः ॥ ५८ ॥
जयसेनो जनैः सेव्यो जनसेनास्य वल्लभा । रतिषेणस्तयोः सूनुर्धृतिषेणश्च तावुभौ ॥ ५९ ॥
सूर्याचन्द्रमसौ जित्वा सदा भातः कृतोदयौ । पितरौ च (न) [2]मरुन्मार्गपृथिव्यौ वा ततः पृथक् ॥६०॥
कदाचिद्रतिषेणोऽभूत् कृतान्तमुखगह्वरे । केनापि हेतुना किं वा न मृत्योर्हेतुतां व्रजेत् ॥ ६१ ॥
[3]सजानिं जयसेनाख्यं [4]सलतं चामरद्रुमम् । [5]शोकाशनिरवाधिष्ट तन्मृत्युघननिर्गतः ॥ ६२ ॥
[6]प्रलयः प्राप्तकालस्तावालिलिङ्ग यमाग्रगः । लब्धरन्ध्रा न तिष्ठेयुरकृत्वापकृतिं द्विषः ॥ ६३ ॥
भिषक्प्रायोर्जितोपायैः शनैः संलब्धचेतनौ । गुरुणा गुरुणैवैष तेन दुःखेन बोधितः ॥ ६४ ॥
विग्रहं तद्गृहं मत्वा निगृहीतुं कृताग्रहः । हन्तुं यमं समुद्युक्तस्तद्धि युक्तं मनस्विनाम् ॥ ६५ ॥

नमस्कार करो ॥ ५४ ॥ चूँकि धर्म सोलह भावनाओं से महापुण्य तीर्थंकर प्रकृतिको उत्पन्न करता है, श्रेष्ठ ध्यानके प्रभावसे समस्त दुष्ट कर्मोंके समूहका नाश कर देता है, स्वयं निर्मल है, सुखकी परम्परा को करनेवाला है और नित्य मोक्षसुखको देता है इसलिए शुद्ध तथा आप्तोपज्ञ धर्मकी हे विद्वज्जनो ! मदरहित होकर उपासना करो ॥ ५५ ॥ जो तीर्थंकरोंमें द्वितीय होनेपर भी श्रुतके मार्गमें अद्वितीय हैं—अनुपम हैं वे अजितनाथ भगवान्, कविको पुराणका विशाल मार्ग पूरा करनेमें सहायता प्रदान करें ॥ ५६ ॥

सगर चक्रवर्तीका वर्णन

द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथके तीर्थमें सगर नामका दूसरा चक्रवर्ती हुआ । हे बुद्धिमान् श्रेणिक ! तू अब उसका चरित्र सुन ॥ ५७ ॥ इसी जम्बूद्वीपके पूर्व विदेहमें सीता नदीके दक्षिण तटपर वत्सकावती नामका देश है । उसमें पृथिवी नगरका अधिपति, मनुष्योंके द्वारा सेवनीय जयसेन नामका राजा था । उसकी स्त्रीका नाम जयसेना था । उन दोनोंके रतिषेण और धृतिषेण नामके दो पुत्र थे ॥ ५८-५९ ॥ वे भाग्यशाली दोनों पुत्र अपने तेजसे सदा सूर्य और चन्द्रमाको जीतते हुए शोभित होते थे । उनके माता-पिता आकाश और पृथिवीके समान उनसे कभी पृथक् नहीं रहते थे अर्थात् स्नेहके कारण सदा अपने पास रखते थे ॥६०॥ एक दिन किसी कारणवश रतिषेण की मृत्यु हो गई सो ठीक ही है क्योंकि मृत्युका कारण क्या नहीं होता ? अर्थात् जब मरणका समय आता है तब सभी मृत्युके कारण हो जाते हैं ॥ ६१ ॥ रतिषेणकी मृत्युरूपी मेघसे निकले हुए शोक-रूपी वज्रने लतासहित कल्पवृक्षके समान भार्यासहित राजा जयसेनको बाधित किया—दुखी किया ॥ ६२ ॥ उस समय अवसर पाकर यमराजके आगे-आगे चलनेवाली मूर्च्छाने उन दोनोंका आलिंगन किया अर्थात् वे दोनों मूर्च्छित हो गये सो ठीक ही है क्योंकि छिद्र प्राप्त करनेवाले शत्रु अपकार किये बिना नहीं रहते ॥ ६३ ॥ जब वैद्यजनोंके श्रेष्ठ उपायोंके द्वारा धीरे-धीरे वे चैतन्यको प्राप्त हुए तो बृहस्पतिके समान श्रेष्ठ गुरुने राजा जयसेनको बड़ी कठिनाईसे समझाया ॥ ६४ ॥ तदनन्तर वह इस शरीरको दुःखका घर मानकर उसका निग्रह करनेके लिए आग्रह करने लगा । और यमराजको मारने

---

१ योऽद्वितीयः पथि श्रुते क०,ग० । पथि स्तुते ख०,घ० । २ आकाशपृथिव्यौ । ३ सभार्यम् । ४ लतोपेतं कल्पवृक्षमिव । ५ शोकवज्रम् । ६ मूर्च्छा ।

जीर्णपर्णवदागण्य प्राणप्रान्तान् परिग्रहान् । राज्यभोज्ये नियुज्यार्यं धृतिषेणं [1]धृतायतिम् ॥ ६६ ॥
[1]शोधरगुरुदिष्टं शुद्धमध्वानमाप सः । नृपैर्महारुताख्येन बहुभिर्मैथुनेन च ॥ ६७ ॥
कालान्ते कृतसंन्यासविधिः कल्पेऽन्तिमेऽच्युते । देवो महाबलो नाम जयसेनोऽजनिष्ट सः ॥ ६८ ॥
महारुतोऽपि तत्रैव मणिकेतुः सुरोऽजनि । आवयोर्योऽवतीर्णः प्राक् तस्यान्यो बोधको भवेत् ॥ ६९ ॥
इति तत्र तयोरासीदन्योन्यं सम्प्रधारणम् । तत्र द्वाविंशतिसागरोपमाण्यामरं सुखम् ॥ ७० ॥
अनुभूयात्र साकेतनगरे [2]कौशले नृपः । समुद्रविजयस्तस्य सुबाला रमणी तयोः ॥ ७१ ॥
महाबलोऽभवत्सूनुरिक्ष्वाकुः सगराह्वयः । पूर्वाणां सप्ततिर्लक्षाः तस्यायुःपरमावधिः ॥ ७२ ॥
चतुःशतानि पञ्चाशदुत्सेधेन धनूंषि सः । सर्वलक्षणसम्पूर्णः श्रीमांश्चामीकरच्छविः ॥ ७३ ॥
कुमारत्वे दशाष्टौ च लक्षाः पूर्वाण्ययुस्ततः । महामाण्डलिकत्वं च तस्य तावत्प्रमामितम् ॥ ७४ ॥
तदोदपादि षट्खण्डभूचक्राक्रमणक्षमम् । चक्रं कीर्तिश्च [3]दिक्चक्रमाक्रमन्त्यात्तविक्रमा ॥ ७५ ॥
आद्यचक्रिवदेषोऽपि कृत्वा दिग्विजयं चिरम् । गृह्णन् तत्सारवस्तूनि सर्वान् स्वाज्ञामजिग्रहत् ॥ ७६ ॥
ततो निवृत्य साकेतं साम्राज्यश्रीनिकेतनम् । भोगान् दशाङ्गान् निर्भङ्गं निर्विशन्नावसन् सुखम् ॥ ७७ ॥
तस्य षष्टिसहस्राणि पुत्राणां कृतिनोऽभवन् । तदाकारेण वा तस्य वेधसा व्यञ्जिता गुणाः ॥ ७८ ॥
तस्मिन् सिद्धिवने श्रीमान्श्चतुर्मुखयोगिनः । अन्यदाखिलभास्यासीत् केवलाधिगमस्तदा ॥ ७९ ॥
तत्कल्याणस्य देवेन्द्रैर्मणिकेतुः सहागतः । महाबलोऽजनि क्वेति सोपयोगोऽवधित्विषा ॥ ८० ॥

के लिए उद्यत हुआ सो ठीक ही है क्योंकि मनस्वी मनुष्योंको यही योग्य है ॥ ६५ ॥ वह प्राणोंका अन्त करनेवाले अथवा इन्द्रियादि प्राण हैं अन्तमें जिनके ऐसे परिग्रहोंको पुराने पत्तोंके समान समझने लगा तथा राज्यके उपभोगमें भाग्यशाली आर्य धृतिषेण नामक पुत्रको नियुक्त कर अनेक राजाओं और महारुत नामक सालेके साथ यशोधर गुरुके द्वारा बतलाये हुए शुद्ध मोक्षमार्गको प्राप्त हुआ—दीक्षित हो गया ॥ ६६-६७ ॥ जयसेन मुनिने आयुके अन्तमें संन्यासमरण किया जिससे अन्तिम अच्युत स्वर्गमें महाबल नामके देव हुए ॥ ६८ ॥ जयसेनका साला महारुत भी उसी स्वर्गमें मणिकेतु नामका देव हुआ। वहाँ उन दोनोंमें परस्पर प्रतिज्ञा हुई कि हमलोगोंके बीच जो पहले पृथिवीलोकपर अवतीर्ण होगा—जन्म धारण करेगा, दूसरा देव उसे समझानेवाला होगा—संसारका स्वरूप समझाकर दीक्षा लेनेकी प्रेरणा करेगा। महाबल देव, अच्युत स्वर्गमें बाईस सागर पर्यन्त देवोंके सुख भोगकर कौशल देशकी अयोध्या नगरीमें इक्ष्वाकुवंशी राजा समुद्रविजय और रानी सुबालाके सगर नामका पुत्र हुआ। उसकी आयु सत्तरलाख पूर्वकी थी। वह चार सौ पचास धनुष ऊँचा था, सब लक्षणोंसे परिपूर्ण था, लक्ष्मीमान् था तथा सुवर्णके समान कान्तिसे युक्त था ॥ ६९-७३ ॥ उसके अठारह लाख पूर्व कुमार अवस्थामें व्यतीत हुए। तदनन्तर महामण्डलेश्वर पद प्राप्त हुआ। उसके बाद इतना ही काल बीत जानेपर छह खण्डोंकी पृथिवीके समूहपर आक्रमण करनेमें समर्थ चक्ररत्न प्रकट हुआ और दिशाओंके समूहपर आक्रमण करती हुई प्रतापपूर्ण कीर्ति प्रकट हुई ॥ ७४-७५ ॥ प्रथम चक्रवर्ती भरतके समान इसने भी चिर कालतक दिग्विजय किया, वहाँकी सारपूर्ण वस्तुओंके ग्रहण किया और सबलोगोंको अपनी आज्ञा ग्रहण कराई ॥ ७६ ॥ दिग्विजयसे लौटकर वह साम्राज्य-लक्ष्मीके गृहस्वरूप अयोध्या नगरीमें वापिस आया और निर्विघ्नरूपसे दश प्रकारके भोगोंका उपभोग करता हुआ सुखसे रहने लगा ॥ ७७ ॥ उस पुण्यवान्के साठहजार पुत्र थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो विधाताने पुत्रोंके आकारमें उसके गुण ही प्रकट किये हों ॥७८॥ किसी समय सिद्धिवनमें श्रीचतुर्मुख नामके मुनिराज पधारे थे और उसी समय उन्हें समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था ॥ ७९ ॥ उनके कल्याणोत्सवमें अन्य देवों तथा इन्द्रोंके साथ मणिकेतु देव भी आया था। वहाँ आकर उसने जानना चाहा कि हमारा

---

१ सुष्ठुभविष्यत्कालसहितम् । २ कोशले क०, ख०, ग०, घ० । ३ काष्ठासमूहं व्याप्नुवन्ती ।

सगरश्चक्रवर्त्येष शेषैः पुण्यैरभूदसौ । इति बुद्ध्वा विशां नाथमुपगम्येदमब्रवीत् ॥ ८१ ॥
स्मरस्यावां वदिष्यावस्तत्त्वं कल्पेऽच्युताह्वये । प्राग्महीगतमत्रस्थो [1]बोधयत्वावयोरिति ॥ ८२ ॥
मनुष्यजन्मनः सारं साम्राज्यं चिरमन्वभूत् । किं भोगैर्भोगिभोगाभैर्भो[2]भव्यैभिर्भयावहैः ॥ ८३ ॥
उत्तिष्ठ स्वविभो मुक्तावित्यस्य विमुखोऽभवत् । चक्रवर्ती स सिद्धयध्वा काललब्ध्या विना कुतः ॥ ८४ ॥
ज्ञात्वा तत्तस्य वैमुख्यमन्यालापैर्न्यवर्तयत् । हितेनापि न कुर्वन्ति विप्रियं क्रमवेदिनः ॥ ८५ ॥
धिग्भोगानीदृशान्स्वोक्तेरेवं च्यावयतोऽधदान् । दुस्त्यजानिति निर्विण्णो मणिकेतुरगाद् दिवम् ॥ ८६ ॥
उपायमेकमालोच्य ततो ग्राहयितुं पुनः । मणिकेतुर्महीपालमवतीर्य महीतलम् ॥ ८७ ॥
आलम्ब्य लक्षणैर्लक्ष्यं कान्त्येन्दुं भानुमाभया । वामेन वपुषा कामं निर्जित्य विजितेन्द्रियः ॥ ८८ ॥
चारणत्वं समासाद्य भावयन् संयमं परम् । तस्थौ जिनेन्द्रान् वन्दित्वा सगरस्य जिनालये ॥ ८९ ॥
दृष्ट्वा तं विस्मयापन्नो [3]वयस्यस्मिन्निदं कुतः । तपस्तवेति पप्रच्छ नृपः [4]सोऽप्यन्यथाब्रवीत् ॥ ९० ॥
यौवनं जरसा ग्रास्यं गलत्यायुः प्रतिक्षणम् । हेयः कायोऽशुचिः पापी दुर्धरो दुःखभाजनम् ॥ ९१ ॥
सर्वदानिष्टसंयोगो वियोगश्चेष्टवस्तुभिः । गतोऽनादिर्भवावर्तः पुनश्चानन्त एव सः ॥ ९२ ॥
कर्मारिभिरिदं सर्वं दग्ध्वा तानि तपोऽग्निना । यास्याम्यनश्वरीं शुद्धिं यथाहं कनकोपलः ॥ ९३ ॥

मित्र महाबल कहाँ उत्पन्न हुआ है ? इच्छा होते ही उसने अवधिज्ञानके प्रकाशसे जान लिया कि मार्गदर्शिका ज्ञानपीठ प्रकाशन सुविधा केन्द्र जीवाजी विश्वविद्यालय शेष बाकी बचे हुए पुण्यसे सगर चक्रवर्ती हुआ है। ऐसा जानकर वह सगर चक्रवर्तीके पास पहुँचा और कहने लगा ॥ ८०-८१ ॥ कि 'क्यों स्मरण है ? हम दोनों अच्युत स्वर्गमें कहा करते थे कि हमलोगोंके बीच जो पहले पृथिवीपर अवतीर्ण होगा उसे यहाँ रहनेवाला साथी समझावेगा ॥ ८२ ॥ हे भव्य ! मनुष्यजन्मके सारभूत साम्राज्यका तू चिरकाल तक उपभोग कर चुका है। अब सर्पके फणाके समान भय उत्पन्न करनेवाले इन भोगोंसे क्या लाभ है ? हे राजन् ! अब मुक्तिके लिए उद्योग कर' । मणिकेतुके इतना कहनेपर भी वह चक्रवर्ती इससे विमुख रहा सो ठीक ही है क्योंकि मुक्तिका मार्ग काललब्धिके बिना कहाँसे मिल सकता है ? ॥ ८३-८४ ॥ सगर चक्रवर्तीकी विमुखता जान मणिकेतु अन्य वार्तालाप कर वापिस लौट गया सो उचित ही है क्योंकि अनुक्रमको जाननेवाले पुरुष अहितकी बात जाने दो, हितके द्वारा भी किसीकी इच्छाके विरुद्ध काम नहीं करते ॥८५॥ इन भोगोंको धिक्कार है जो कि मनुष्योंको इस प्रकार अपने कहे हुए वचनोंसे च्युत करा देते हैं, पाप उत्पन्न करनेवाले हैं और बड़ी कठिनाईसे छोड़े जाते हैं' इस तरह निर्वेदको प्राप्त होता हुआ मणिकेतु देव स्वर्ग चला गया ॥ ८६ ॥ फिर कुछ समय बाद मणिकेतुदेव राजाको तप ग्रहण करानेका एक दूसरा उपाय सोचकर पृथिवीपर आया ॥ ८७ ॥ उसने चारण ऋद्धिधारी मुनिका रूप बनाया। वह मुनि अनेक लक्षणोंसे युक्त था, कान्तिसे चन्द्रमाको, प्रभासे सूर्यको और सुन्दर शरीरसे कामदेवको जीत रहा था। इस प्रकार जितेन्द्रिय हो उत्कृष्ट संयमकी भावना करता हुआ वह मुनि जिनेन्द्र भगवान्की वन्दनाकर सगर चक्रवर्तीके चैत्यालयमें जा ठहरा ॥ ८८-८९ ॥ उस चारण मुनिको देख चक्रवर्तीको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा कि आपने इस अवस्थामें यह तप क्यों धारण किया है ? चारण मुनिने भी झूठमूठ कहा कि यह यौवन बुढ़ापाके द्वारा ग्रास्य है—ग्रसनेके योग्य है, आयु प्रतिक्षण कम हो रही है, यह शरीर चूँकि अपवित्र है, पापी है, दुर्धर है, और दुःखोंका पात्र है अतः छोड़नेके योग्य है। सदा अनिष्ट वस्तुओंका संयोग और इष्ट वस्तुओंका वियोग होता रहता है। यह संसार रूपी भँवर, अनादि काल से बीत रही है फिर भी अनन्त ही बनी हुई है। जीवकी यह सब दशा कर्मरूप शत्रुओंके द्वारा की जा रही है अतः मैं तपरूपी अग्निके द्वारा उन कर्म-शत्रुओंको जलाकर सुवर्ण पाषाणके समान अविनाशी शुद्धिको प्राप्त होऊँगा-मोक्ष प्राप्त करूँगा ॥ ९०—९३ ॥

---

१ बोधयित्वा ख० । २ हे ग० । ३ अरयां दशायाम् । ४ सोऽपीत्यथाब्रवीत् क०, ख०, ग०, घ० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इत्युक्तः संसृतेर्भूपो वेपमानोऽपि नापतत् । पन्थानं निर्वृतेर्बद्धः पुत्रशृङ्खलया दृढम् ॥ ९४ ॥
गातिर्ह्रस्वोऽस्य संसार इत्ययात्स विषादवान् । उपायो निष्फलः कस्य न विषादाय धीमतः ॥ ९५ ॥
वशीकृतेन साम्राज्यतुच्छलक्ष्म्या निधीशिना । [1]विस्मृताऽच्युतलक्ष्मीश्च कामिनां कान्तरज्ञता ॥ ९६ ॥
[2]लाभो लाभेषु पुत्राणां लाभः स्वर्गापवर्गयोः । लक्ष्म्योर्नासाविति स्मृत्वा मन्येऽस्यां सोऽनुषक्तवान् ॥९७॥
कदाचित्ते सुता दृप्ताः सिंहपोता इवोद्धताः । इति विज्ञापयामासुः सभास्थं चक्रवर्तिनम् ॥ ९८ ॥
यदि क्षत्रियपुत्राणां [3]शौर्यसाहसशालिनाम् । यौवनं न पितुः [4]प्रैषे दुःसाध्ये साधितेप्सितम् ॥ ९९ ॥
किं तेन जन्मना तेन जन्मिनो जीवितेन वा । ननु तत्सर्वसामान्यं जन्मजीवितयोर्द्वयम् ॥ १०० ॥
तदादिश विशामीश प्रैषं नः साहसावहम् । "पात्रेसमिततादैन्यं येनैनो[6] वा निरस्यते ॥ १०१ ॥
तदाकर्ण्य मुदा पुत्राः सर्वं चक्रेण साधितम् । भो किं यन्न मे सिद्धं मध्ये हिमसमुद्रयोः ॥ १०२ ॥
एष एव मम प्रैषो राज्यलक्ष्मीमिमां मम । सम्भूय भूयसीं यूयमनुभूध्वं यथोचितम् ॥ १०३ ॥
इति भूयो [7]नरेन्द्रेण तेन ते सुनिवारिताः । जोपमास्थुर्विधेया[8] हि पितॄणां शुद्धवंशजाः ॥ १०४ ॥
तेऽन्येद्युः पुनरासाद्य नृपं व्यज्ञापयन्निदम् । न भुञ्महे न चेत्प्रैष इत्यभ्यर्णात्मशुद्धयः ॥ १०५ ॥
तच्छ्रुत्वैष स कः प्रैष[9] इति चिन्तयता मनाक् । नन्वस्ति कार्यशेषोऽयं धर्म इत्याप्तहृष्टिना ॥ १०६ ॥

मणिकेतुके इस प्रकार कहने पर वह चक्रवर्ती संसारसे भयभीत तो हुआ परन्तु मोक्षमार्गको प्राप्त नहीं कर सका क्योंकि पुत्ररूपी साँकलोंसे मजबूत बँधा हुआ था ॥ ९४ ॥ 'अभी इसका संसार बहुत बड़ा है' इस प्रकार विषाद करता हुआ मणिकेतु चला गया सो ठीक ही है क्योंकि निष्फल उपाय किस बुद्धिमान्को विषाद नहीं करता ? ॥ ९५ ॥ वह देव सोचने लगा कि देखो साम्राज्यकी तुच्छ लक्ष्मीसे वशीभूत हुए चक्रवर्तीने अच्युत स्वर्गकी लक्ष्मी भुला दी सो ठीक ही है क्योंकि कामी मनुष्योंको अच्छे-बुरे पदार्थोंके अन्तरका ज्ञान कहाँ होता है ? ॥ ९६ ॥ मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यह चक्रवर्ती सब लाभोंमें पुत्र-लाभको ही लाभ मानता है, स्वर्ग और मोक्षलक्ष्मीका लाभ इसके लिए लाभ नहीं है, ऐसा समझकर ही यह पुत्रोंमें अत्यन्त लीन हो रहा है ॥ ९७ ॥

किसी समय सिंहके बच्चोंके समान उद्धत और अहङ्कारसे भरे हुए वे राजपुत्र सभामें विराजमान चक्रवर्तीसे इस प्रकार निवेदन करने लगे कि शूरवीरता और साहससे सुशोभित क्षत्रिय-पुत्रोंका यौवन यदि दुःसाध्य कार्यमें पिताका मनोरथ सिद्ध नहीं करता तो वह यौवन नहीं है। ऐसे प्राणीके जन्म लेने अथवा जीवन धारण करनेसे क्या लाभ है ? जन्म लेना और जीवन धारण करना ये दोनों ही सर्वसाधारण हैं अर्थात् सब जीवोंके होते हैं। इसलिए हे राजन् ! हम लोगोंको साहससे भरा हुआ कोई ऐसा कार्य बतलाइये कि जिससे हमारी केवल भोजनमें सम्मिलित होनेसे उत्पन्न होनेवाली दीनता अथवा अधर्म दूर हो सके ॥ ९८-१०१ ॥

यह सुन चक्रवर्तीने हर्षित होकर कहा कि 'हे पुत्रो ! चक्रसे सब कुछ सिद्ध हो चुका है, हिमवान् पर्वत और समुद्रके बीच ऐसी कौनसी वस्तु है जो मुझे सिद्ध नहीं हुई है ? तुम्हारे लिए मेरा यही काम है कि तुम लोग मिलकर मेरी इस विशाल राज्यलक्ष्मीका यथायोग्य रीतिसे उपभोग करो' ॥१०२-१०३॥ इस प्रकार राजाने जब उन्हें बहुत निवारण किया तब वे चुप हो रहे सो ठीक ही है क्योंकि शुद्ध वंशमें उत्पन्न हुए पुत्र पिताके आज्ञाकारी ही होते हैं ॥ १०४ ॥ आत्मशुद्धिसे भरे वे राजपुत्र किसी एक दिन फिर राजाके पास जाकर कहने लगे कि यदि आप हम लोगोंको कोई कार्य नहीं देते हैं तो हम भोजन भी नहीं करते हैं ॥ १०५ ॥ पुत्रोंका निवेदन सुनकर राजा कुछ चिन्तामें पड़ गये। वे सोचने लगे कि इन्हें कौनसा कार्य दिया जावे। अकस्मात् उन्हें याद आ गई

---

१ विस्मृताच्युतलक्ष्मीश्च क०, ख०, ग०, घ० । विस्मृतोऽच्युत ल० । २ लाभालाभेषु क०, घ० । ३ सूर्य क०, घ०, । ४ प्रैष्यदुःसाध्ये ग० । ५ मात्रभोजनसंमेलनजन्यदैन्यम् । ६ पापमिव । ७ नृपेन्द्रेण क०, ख०, ग०, घ० । ८ आधीनाः आज्ञाकारिण इति यावत् । ९ प्रैष्य ग० ।

राज्ञाप्याज्ञापिता यूयं कैलासे भरतेशिना । गृहाः कृता महारत्नैश्चतुर्विंशतिरर्हताम् ॥ १०७ ॥
तेषां गङ्गां प्रकुर्वीध्वं[1] परिखां परितो गिरिम् । इति तेऽपि तथा कुर्वन् दण्डरत्नेन सत्वरम् ॥ १०८ ॥
मणिकेतुः पुनश्चास्य स्नेहसौजन्यचोदितः । सचिवैर्बोधनोपायं स सहैवं व्यचिन्तयत् ॥ १०९ ॥
किञ्चिद्धितं प्रियं चोक्तं किञ्चिच्च हितमप्रियम् । किञ्चिदप्रियं सदहितं परं चाहितमप्रियम् ॥ ११० ॥
अन्त्यद्वयं परित्यज्य शेषाभ्यां भाषता हितम् । इति निश्चित्य कैलासं तदैवागम्य दर्पिणः ॥ १११ ॥
कुमारान् भस्मराशिं तं स्वयं कृत्वाऽहिनिर्गतः । कुर्वन्ति शुद्धदोऽगत्या हितं चेदप्रियं च तत् ॥ ११२ ॥
ज्ञात्वापि तन्मृतिं भूपमाकर्णयितुमक्षमाः । तत्स्नेहं तेषु जानानः संवृत्य सचिवाः स्थिताः ॥ ११३ ॥
तदा ब्राह्मणरूपेण मणिकेतुरुपेत्य तम् । महाशोकसमाक्रान्तो [2]वावेदयदिदं वचः ॥ ११४ ॥
देव देवे धराचक्रं रक्षति क्षेममत्र नः । किन्त्वन्तकेन मत्पुत्रोऽहार्यारा[3]जीवितावधेः ॥ ११५ ॥
प्रेयान् ममैक [4]एवासौ नायुषा तेन जीवितम् । नानीतश्चेत्त्वया सोऽद्य तेन मामपि पश्यतः ॥ ११६ ॥
तव विद्वत्प्रतो नीतं किं कुर्वन्ति न गर्विताः । [5]शलाटुभक्षणे [6]लोलः किं पक्वं तत्त्यजेदिति ॥ ११७ ॥
तदाकर्ण्याह [7]सन् राजा द्विज किं वेत्सि नान्तकः[8] । सिद्धैरेव स वार्योऽन्यैर्नेत्यागोपालविश्रुतम् ॥११८॥
अपवर्त्यायुषः केचिद्बद्धायुर्जीविनः परे[9] । तान् सर्वान् संहरत्येष यमो मृत्योरगोचरः ॥ ११९ ॥

कि अभी धर्मका एक कार्य बाकी है। उन्होंने हर्षित होकर आज्ञा दी कि भरत चक्रवर्तीने कैलास पर्वत पर महारत्नोंसे अरहन्तदेवके चौबीस मन्दिर बनवाये हैं, तुम लोग उस पर्वतके चारों ओर गङ्गा नदीको उन मन्दिरोंकी परिखा बना दो।' उन राजपुत्रोंने भी पिताकी आज्ञानुसार दण्डरत्नसे वह काम शीघ्र ही कर दिया ॥ १०६–१०८ ॥

प्रेम और सज्जनतासे प्रेरित हुआ मणिकेतु देव फिर भी अपने मन्त्रियोंके साथ राजा सगरको समझानेके लिए योग्य उपायका इस प्रकार विचार करने लगा ॥ १०९ ॥ कि वचन चार प्रकारके होते हैं-कुछ वचन तो हित और प्रिय दोनों ही होते हैं, कुछ हित और अप्रिय होते हैं, कुछ प्रिय होकर अहित होते हैं और कुछ अहित तथा अप्रिय होते हैं। इन चार प्रकारके वचनोंमें अन्तके दो वचनोंको छोड़कर शेष दो प्रकारके वचनोंसे हितका उपदेश दिया जा सकता है। ऐसा निश्चय कर वह मणिकेतु एक दुष्ट नागका रूप धरकर कैलास पर्वत पर आया और उन अहङ्कारी राजकुमारोंको भस्मकी राशिके समान कर चला गया सो ठीक ही है क्योंकि मंत्रीगण जब कुछ उपाय नहीं देखते हैं तब हित होनेपर भी अप्रिय वचनोंका प्रयोग करते ही हैं ॥ ११०–११२ ॥ मंत्री यह जानते थे कि राजाका पुत्रों पर कितना स्नेह है अतः पुत्रोंका मरण जानकर भी वे राजाको यह समाचार सुनानेके लिए समर्थ नहीं हो सके। समाचारका सुनाना तो दूर रहा किन्तु उसे छिपा कर ही बैठ रहे ॥११३॥

तदनन्तर मणिकेतु ब्राह्मणका रूप रख कर चक्रवर्ती सगरके पास पहुँचा और बहुत भारी शोकसे आक्रान्त होकर निम्नाङ्कित वचन कहने लगा ॥ ११४ ॥ 'हे देव ! जब आप पृथिवीमण्डलका पालन कर रहे हैं तब हम लोगोंकी यहाँ सब प्रकार कुशल है किन्तु आयुकी अवधि दूर रहने पर भी यमराजने मेरा पुत्र हरण कर लिया है। वह मेरा एक ही पुत्र था। यदि आप उसे आयुसे युक्त अर्थात् जीवित नहीं करते हैं तो आज मुझे भी आपके देखते-देखते उस यमराजके द्वारा ले जाया हुआ समझें। क्योंकि अहङ्कारी लोग क्या नहीं करते हैं। जो कच्चे फल खानेमें सतृष्ण है वह भला पके फल क्यों छोड़ेगा ॥ ११५–११७ ॥

ब्राह्मणके वचन सुनकर राजाने कहा कि हे द्विजराज ! क्या आप नहीं जानते कि यमराज सिद्ध भगवानके द्वारा ही निवारण किया जाता है; अन्य जीवोंके द्वारा नहीं, यह बात तो आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है। ॥ ११८ ॥ इस संसारमें कितने ही प्राणी ऐसे हैं कि जिनकी आयु बीचमें ही

---

१ प्रकुर्वीत क०, ख०, ग०, घ० । २ न्यवेदयदिदं ग० । ३ हार्याराज्जीवितावधिः घ० । ह्रहार्यो ल० । ४ ममैव ल० । ५ आम्रफलभक्षणे । ६ सतृष्णः । ७ स राजा क०, घ० । सद्राजा ल० । ८ नान्तकम् क० घ० । ९ चरे ल० ।

तस्मिन् वहसि चेद्वैरं जीर्णो मा भूर्गृहे वृथा । मोक्षदीक्षां गृहाणाशु शोकं हित्वेत्युवाच तम् ॥ १२० ॥
इत्युक्ते देव किं सत्यमेतद्यन्नान्तकात्परः । बलीति तत्र भेतव्यं मया किञ्चिद्वदिष्यता ॥ १२१ ॥
तेनान्तकेन ते नीताः सर्वेऽपि स्वान्तिकं सुताः । तस्मात्तदुक्तमार्गेण बहुवैरं खलेऽन्तके ॥ १२२ ॥
इत्याह सोऽपि तद्वाक्यवज्रनिर्भिन्नमानसः । गतासुरिव निःस्पन्दो बभूव नृपतिः क्षणम् ॥ १२३ ॥
चन्दनोशीरसम्मिश्रसलिलैः सुहृदुक्तिभिः । उत्क्षेपैश्च मृदूत्क्षेपैः पुनरागत्य चेतनाम् ॥ १२४ ॥
[1]मा माया मा [2]वृथायासा भीमः कामो यमोऽधमः । भङ्गुरः सङ्गमः प्रेम्णः कायोऽश्रेयोऽशुचिः क्षयी ॥ १२५ ॥
[3]दार्मुकार्मुकनिर्भासि यौवनं तथयौ वनम् । जानन् जिनोऽहमद्यापि मूढोऽत्रैवेति चिन्तयन् ॥ १२६ ॥
भव्ये भगलिदेशेशसिंहविक्रमराड्भुवः । विदर्भायाः सुते राज्यं नियोज्यासौ भगीरथे ॥ १२७ ॥
राजते स्म तपोराज्ये दृढधर्मजिनान्तिके । तावदेव गृहे सन्तो न हेतुर्यावदीक्ष्यते ॥ १२८ ॥
[4]सोऽपि गत्वा भवद्वार्तां महीपतिमबूबुधत् । अनाकर्ण्यामसौ श्रुत्वा गाढं शोकाग्निदीपितः ॥ १२९ ॥
कृत्वा भगीरथे राज्यं तपोऽयादहमप्यतः । इहान्वेष्टुं समायातः शोकाद्युष्मत्कुलद्विजः ॥ १३० ॥
इति देवः समभ्येत्य मायाभस्मावगुण्ठितान् । कुमारान् बोधयामास मायापि सुहृदां हिता ॥ १३१ ॥

छिद जाती है और कितने ही ऐसे हैं कि जो जितनी आयुका बंध करते हैं उतना जीवित रहते हैं—बीचमें उनका मरण नहीं होता। यह यमराज उन सब जीवोंका संहार करता है पर स्वयं संहारसे रहित है ॥ ११९ ॥ यदि तुम उस यमराज पर द्वेष रखते हो तो घरके भीतर व्यर्थ ही जीर्ण-शीर्ण मत होओ। मोक्ष प्राप्त करनेके लिए शीघ्र ही दीक्षा धारण करो; शोक छोड़ो' ॥ १२० ॥

जब राजा सगर यह कह चुके तो ब्राह्मण-वेषधारी मणिकेतु बोला—'हे देव! यदि यह सच है कि यमराजसे बढ़कर और कोई बलवान नहीं है तो मैं जो कुछ कहूँगा उससे आपको भयभीत नहीं होना चाहिये। ॥ १२१ ॥ आपके जो पुत्र कैलास पर्वत पर खाई खोदनेके लिए गये थे वे सब उस यमराजके द्वारा अपने पास बुला लिये गये हैं इसलिए आपको अपने कहे हुए मार्गके अनुसार दुष्ट यमराज पर बहुत वैर धारण करना चाहिये अर्थात् दीक्षा लेकर यमराजको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ १२२ ॥

ब्राह्मणके उक्त वचन रूपी वज्रसे जिसका हृदय विदीर्ण हो गया है ऐसा राजा सगर क्षण भरमें मरे हुएके समान निश्चेष्ट हो गया ॥ १२३ ॥ चन्दन और खससे मिले हुए जलसे, मित्रोंके वचनोंसे तथा पंखोंकी कोमल वायुसे जब वह सचेत हुआ तो इस प्रकार विचार करने लगा कि व्यर्थ ही खेदको बढ़ानेवाली यह लक्ष्मीरूपी माया मुझे प्राप्त न हो—मुझे इसकी आवश्यकता नहीं। यह काम भयंकर है, यमराज नीच है, प्रेमका समागम नश्वर है, शरीर अपवित्र है, क्षय हो जानेवाला है और इसीलिए सेवन करने योग्य नहीं है अथवा अकल्याणकारी है, यह यौवन इन्द्रधनुषके समान नश्वर है''''ऐसा जानते हुए तीर्थंकर भगवान् वनमें चले जाते हैं। परन्तु मैं मूर्ख अब भी इन्हींमें मूढ़ हो रहा हूँ''''ऐसा विचार कर सगर चक्रवर्तीने भगलि देशके राजा सिंहविक्रमकी पुत्री विदर्भाके पुत्र भव्य भगीरथके लिए राज्य सौंप दिया और आप दृढ़धर्मा केवलीके समीप दीक्षा धारण कर तप-श्चरण रूपी राज्यमें सुशोभित होने लगा सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुष घरमें तभी तक रहते हैं जबतक कि विरक्त होनेका कोई कारण नहीं दिखाई देता ॥ १२४–१२८ ॥ इधर चक्रवर्तीने दीक्षा ली उधर वह मणिकेतु देव उन पुत्रोंके पास पहुँचा और कहने लगा कि किसीने आपके मरणका यह अश्रवणीय समाचार राजासे कह दिया जिसे सुनकर वे शोकाग्निसे बहुत ही अधिक उद्दीपित हुए और भगीरथके लिए राज्य देकर तप करने लगे हैं। मैं आपकी कुल-परम्परासे चला आया ब्राह्मण हूँ अतः शोकसे यहाँ आप लोगोंको खोजनेके लिए आया हूँ ॥ १२९–१३० ॥ ऐसा कहकर उस देवने

---

१ मा लक्ष्मीः माया मायास्वरूपा मा भूत् । २ व्यर्थदैर्घ्या । ३ दार्मुकं मेघस्तस्य कार्मुकं धनुरिव निर्भासते शोभते इत्येवंशीलं नश्वरमिति यावत् । ४ कोऽपि ग०, घ० ।

तेऽपि तद्वचनात्प्रापन् तपस्तज्जिनसंश्रयात् । चरमाङ्गधरा युक्तं तदेवौचित्यवेदिनाम् ॥ १३२ ॥
भगीरथोऽपि तान् गत्वा कृत्वा भक्त्या नमस्क्रियाम् । धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रमादत्त श्रावकव्रतम् ॥ १३३ ॥
प्रकटीकृततन्मायो मणिकेतुश्च तान् मुनीन् । क्षन्तव्यमित्युवाचैतान् सगरादीन् सुहृद्वरः ॥ १३४ ॥
कोऽपराधस्तवेदं नस्त्वया प्रियमनुष्ठितम् । हितं चेति प्रसन्नोक्त्या ते तदा [1]तमसान्त्वयन् ॥ १३५ ॥
सोऽपि सन्तुष्य सिद्धार्थो देवो दिवमुपागमत् । परार्थसाधनं प्रायो ज्यायसां परितुष्टये ॥ १३६ ॥
सर्वेऽते सुचिरं कृत्वा सत्तपो विधिवद् बुधाः । शुक्लध्यानेन सम्मेदे सम्प्रापन् परमं पदम् ॥ १३७ ॥
निर्वाणगमनं श्रुत्वा तेषां निर्विण्णमानसः । वरदत्ताय दत्वात्मराज्यलक्ष्मीं भगीरथः ॥ १३८ ॥
कैलासपर्वते दीक्षां शिवगुप्तमहामुनेः । आदाय प्रतिमायोगधार्यभूत्स्वर्धुनीतटे[2] ॥ १३९ ॥
सुरेन्द्रेणास्य दुग्धाब्धिपयोभिरभिषेचनात् । क्रमयोस्तत्प्रवाहस्य गङ्गायाः सङ्गमे सति ॥ १४० ॥
तदाप्रभृति तीर्थत्वं गङ्गाप्यस्मिन्नुपागता । कृत्वोत्कृष्टं तपो गङ्गातटेऽसौ निर्वृतिं गतः ॥ १४१ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

अत्रामुत्र च मित्रवन्न हितकृत् कोऽप्यस्ति बन्धुः परो
गुह्याद् गुह्यतरं गुरोरपि न तद्वाच्यं यदस्योच्यते ।
दुःसाध्यान्यपि साधयत्यगणयन्प्राणांश्च तत्र स्फुटो
दृष्टान्तो मणिकेतुरेव कुरुतां तन्मित्रमीदृग्विधम् ॥१४२॥

मायामयी भस्मसे अवगुण्ठित राजकुमारोंको सचेत कर दिया सो ठीक ही है क्योंकि मित्रोंकी माया भी हित करनेवाली होती है ॥ १३१ ॥ मणिकेतुके वचन सुन उन चरमशरीरी राजकुमारोंने भी जिनेन्द्र भगवान्का आश्रय लेकर तप धारण कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि जो उचित बातको जानते हैं उन्हें ऐसा करना ही योग्य है ॥ १३२ ॥ जब भगीरथने यह समाचार सुना तब वह भी उन मुनियोंके पास गया और वहाँ उसने उन सबको भक्तिसे नमस्कार कर जिनेंद्रोक्त धर्मका स्वरूप सुना तथा श्रावकके व्रत ग्रहण किये ॥ १३३ ॥ अन्तमें मित्रवर मणिकेतुने उन सगर आदि मुनियोंके समक्ष अपनी समस्त माया प्रकट कर दी और कहा कि आप लोग क्षमा कीजिये ॥ १३४ ॥ 'इसमें आपका अपराध ही क्या है ? यह तो आपने हमारा हित तथा प्रिय कार्य किया है' इस प्रकारके प्रसन्नतासे भरे हुए शब्दों द्वारा उन सब मुनियोंने मणिकेतु देवको सान्त्वना दी ॥ १३५ ॥ जिसका कार्य सिद्ध हो गया है ऐसा देव भी सन्तुष्ट होकर स्वर्ग चला गया सो ठीक ही है क्योंकि अन्य पुरुषोंके कार्य सिद्ध करनेसे ही प्रायः महापुरुषोंको संतोष होता है ॥ १३६ ॥ वे सभी विद्वान् मुनिराज चिरकाल तक यथाविधि तपश्चरण कर सम्मेद शैल पर पहुँचे और शुक्लध्यानके द्वारा परम पदको प्राप्त हुए ॥ १३७ ॥ उन सबका मोक्ष जाना सुनकर भगीरथका मन निर्वेदसे भर गया अतः उसने वरदत्तके लिए अपनी राज्यश्री सौंपकर कैलास पर्वत पर शिवगुप्त नामक महामुनिसे दीक्षा ले ली तथा गङ्गा नदीके तट पर प्रतिमा योग धारण कर लिया ॥ १३८-१३९ ॥ इन्द्रने क्षीरसागरके जलसे महामुनि भगीरथके चरणोंका अभिषेक किया जिसका प्रवाह गङ्गामें जाकर मिल गया । उसी समयसे गङ्गा नदी भी इस लोकमें तीर्थरूपताको प्राप्त हुई अर्थात् तीर्थ मानी जाने लगी । भगीरथ गङ्गा नदीके तट पर उत्कृष्ट तप कर वहींसे निर्वाणको प्राप्त हुआ ॥ १४०-१४१ ॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक ! इस लोक तथा परलोकमें मित्रके समान हित करनेवाला दूसरा नहीं है । न मित्रसे बढ़कर कोई भाई है । जो बात गुरु अथवा माता-पितासे भी नहीं कही जाती ऐसी गुप्तसे गुप्त बात मित्रसे कही जाती है, मित्र अपने प्राणोंकी भी परवाह नहीं करता हुआ कठिनसे कठिन कार्य सिद्ध कर देता है । मणिकेतु ही इस विषयका स्पष्ट दृष्टान्त है इसलिए सबको

---

१ तम् देवम् असान्त्वयन् शान्तं चक्रुरिति यावत् । २ गङ्गातीरे ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मालिनी

स जयति जयसेनो यो जितारातिसेनः
श्रुत इति महदादिर्यो बलः प्रान्तकल्पे ।
सगरसकलचक्री योजितो यश्च यश्च
प्रहतचरमदेहो देहमात्रात्मदेहः ॥ १४३ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे अजिततीर्थकरसगरचक्रधर-पुराणपरिसमाप्तमित्यष्टचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥ ४८ ॥

ऐसा ही मित्र बनाना चाहिये ॥ १४२ ॥ जो पहले शत्रुओंकी सेनाको जीतनेवाले जयसेन हुए, फिर अच्युत स्वर्गमें महाबल देव हुए, वहाँसे आकर शत्रुओं द्वारा अजेय सगर चक्रवर्ती हुए और अन्तमें अपना चरम शरीर—अन्तिम देह नष्ट कर शरीर प्रमाण आत्माके धारक रह गये ऐसे महाराज सगर सदा जयवन्त रहें ॥ १४३ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद् गुणभद्राचार्य द्वारा प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें अजितनाथ तीर्थंकर तथा सगर चक्रवर्तीका वर्णन करनेवाला अड़तालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमं पर्व

श्रियं क्रियात्स मे निघ्नन् सम्भवो दम्भजृम्भणम् । सम्मुखीनायते[1] यस्य सद्बोधः [2]सम्मुखेऽखिले ॥ १ ॥
द्वीपेऽस्मिन्नादिमे पूर्वविदेहे नद्युदक्तटे । कच्छाख्ये विषये क्षेमपुरे विमलवाहनः ॥ २ ॥
नाम्ना नरपतिस्तस्य सद्यः केनापि हेतुना । सति [3]त्रिभेदे निर्वेदे स समासन्ननिर्वृतिः ॥ ३ ॥
जन्तुरन्तकदन्तस्थो हन्त जीवितमीहते । मोहात्तन्निर्गमोपायं न चिन्तयति धिक् तमः ॥ ४ ॥
आयुः परमसङ्ख्याताः क्षणास्ते शरणीकृताः । प्राणिभिर्हानये चेमानपर्यन्त्यन्तकप्रभोः ॥ ५ ॥
अभिलाषातपातप्तश्छायां भोग्यस्य संश्रितः । जीर्णकूलस्य वासोऽमून्न हि क्षेमेण [4]पालयेत् ॥ ६ ॥
इत्यादि चिन्तयन् राज्यं दत्त्वा विमलकीर्तये । स्वयम्प्रभजिनस्यान्तेवासित्वं प्रतिपन्नवान् ॥ ७ ॥
एकादशाङ्गभृत्त्वं च [5]तैर्भावनाभिर्निर्वृत्यान्त्यनामतीर्थंकराह्वयम् ॥ ८ ॥
संन्यासविधिना त्यक्तदेहो ग्रैवेयकादिमे । [6]सुदर्शने विमानेऽभूदहमिन्द्रो महर्द्धिकः ॥ ९ ॥
त्रयोविंशतिवार्ध्यायुः स षष्ट्यङ्गुलमानभाक् । [7]शरीरो लेश्यया शुक्लः श्वसन् पक्षोनवत्सरे ॥ १० ॥
खत्रयाग्निद्विवर्षान्ते भोजनं मनसा स्मरन् । निःप्रवीचारभोगोऽन्त्यनरकान्तगतावधिः ॥ ११ ॥
स्वावधिक्षेत्रसञ्चारसमर्थस्तत्प्रमप्रभः । प्राग्देहोत्थतनुज्याप्त्या स्वावधिक्षेत्रपूरकः ॥ १२ ॥

जिनका ज्ञान सामने रखे हुए समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेके लिए दर्पणके समान है तथा जो सब प्रकारके पाखण्डोंके विस्तारको नष्ट करनेवाले हैं ऐसे सम्भवनाथ तीर्थंकर मेरा कल्याण करें ॥ १ ॥ इसी पहले जम्बूद्वीपके पूर्व विदेहक्षेत्रमें सीता नदीके उत्तर तटपर एक कच्छ नामका देश है। उसके क्षेमपुर नगरमें राजा विमलवाहन राज्य करता था ॥ २ ॥ जिसे निकट भविष्यमें मोक्ष प्राप्त होनेवाला है ऐसा वह राजा किसी कारणसे शीघ्र ही विरक्त हो गया। वह विचार करने लगा कि इस संसारमें वैराग्यके तीन कारण उपस्थित हैं ॥ ३ ॥ प्रथम तो यह कि यह जीव यमराजके दाँतोंके बीचमें रहकर भी जीवित रहनेकी इच्छा करता है और मोहकर्मके उदयसे उससे निकलनेका उपाय नहीं सोचता इसलिए इस अज्ञानान्धकारको धिक्कार हो ॥ ४ ॥ वैराग्यका दूसरा कारण यह है कि इस जीवकी आयु असंख्यात समयकी ही है उन्हें ही यह शरण माने हुए है परन्तु आश्चर्य है कि ये आयुके क्षण ही इन जीवोंको नष्ट होनेके लिए यमराजके समीप पहुँचा देते हैं ॥ ५ ॥ तीसरा कारण यह है कि ये जीव अभिलाषारूपी धूपसे संतप्त होकर विषयभोगरूपी किसी नदीके जीर्णशीर्ण तटकी छायाका आश्रय ले रहे हैं सो उनका यह आश्रय कुशलतापूर्वक उनकी रक्षा नहीं कर सका ॥ ६ ॥ इत्यादि विचार करते हुए विमलवाहन राजाने अपना राज्य विमलकीर्ति नामके पुत्रके लिए देकर स्वयंप्रभ जिनेन्द्रकी शिष्यता स्वीकार कर ली अर्थात् उनके पास दीक्षा धारण कर ली ॥ ७ ॥ ग्यारह अङ्गोंका जानकार होकर उसने सोलह कारण भावनाओंके द्वारा तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला तीर्थंकर नामक नामकर्मका बन्ध किया ॥ ८ ॥ अन्तमें संन्यासकी विधिसे शरीर छोड़कर प्रथम ग्रैवेयकके सुदर्शन विमानमें बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाला अहमिन्द्र हुआ ॥ ९ ॥ तेईस सागरकी उसकी आयु थी, साठ अङ्गुल ऊँचा उसका शरीर था, शुक्ल लेश्या थी, साढ़े ग्यारह माहमें एकबार श्वास लेता था, तेईस हजार वर्ष बाद मनसे आहारका स्मरण करता था, उसके भोग प्रवीचारसे रहित थे, सातवें नरकके अन्त तक उसका अवधिज्ञान था, अवधिज्ञानके क्षेत्रमें गमन करनेकी शक्ति थी, उतनी ही उसके शरीरकी प्रभा थी और उतनी ही दूर तक उसका

१–जायते ख०, ग० । सम्मुखे पुरस्ताद् भवतीति सम्मुखीनो दर्पणस्तद्वदाचरतीति सम्मुखीनायते । २ सन्मुखोऽखिले ख० । ३ त्रिभेद क०, ख०, ग०, घ०, म० । ४ पापयेत् ख०, ग० । ५ सुदर्शनविमाने क०, ख०, ग०, घ०, म० । ६ अर्धर्चादित्वात्पुंस्त्वम् ।

अणिमादिगुणोपेतं पञ्चपुण्योदयार्पितम् । अहमिन्द्रसुखं श्रीमानन्वभूदमरोत्तमः ॥ १३ ॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते वर्षे श्रावस्तिनगरेशिनः । राज्ञः काश्यपगोत्रस्य दृढराजस्य सद्युतेः ॥ १४ ॥
वल्लभेक्ष्वाकुवंशस्य सुषेणा तत्सुरागमे । षण्मासान् वसुधाराधि[1]माहात्म्यपदवीं गता ॥ १५ ॥
शुक्लफाल्गुनजाष्टम्यां स्वप्नान् षोडश पश्चमे । प्रभातसमयेऽपश्यन्नक्षत्रे सुकृतोदयात् ॥ १६ ॥
ततोऽनु वदनं [2]तस्याः स्वप्ने प्राविशदग्रिमः[3] । गिरीन्द्रशिखराकारो वारणश्चारुलक्षणः ॥ १७ ॥
सा तेषां फलमाकर्ण्य स्वपतेर्मुदमागता । नवमे मासि नक्षत्रे पञ्चमे सौम्ययोगगे ॥ १८ ॥
पौर्णमास्यामपापार्च्यमहमिन्द्रं [4]त्रिबुधुतम् । सु जन्मोत्सवकल्याणप्रान्ते सम्भव इत्यभूत् ॥ १९ ॥
सम्भवे तव लोकानां शं भवत्यद्य शम्भव । विनापि परिपाकेन तीर्थकृन्नामकर्मणः ॥ २० ॥
[5]तवाङ्गचूते प्रीणन्ति लक्षणव्यञ्जनोद्गमे । प्रलम्बबाहुविटपे सुरदृग्भृंगराश्चिरम् ॥ २१ ॥
परतेजांसि ते तेजो भाति देव तिरोदधत् । मतानि कपिलादीनां स्याद्वादस्येव निर्मलम् ॥ २२ ॥
समस्ताह्लादकेनासीदामोदेनेव चन्दनः । बोधेन सहजातेन त्रिविधेन जगद्धितः ॥ २३ ॥
त्वां लोकः स्नेहसंबृद्धो निर्हेतुहितकारणम् । प्रदीपवन्नमत्येष निधानमिव भास्वरम् ॥ २४ ॥
इति स्तुत्वादिकल्पेशो विहितानन्दनाटकः । पित्रोस्तमर्पयित्वामा स्वर्लोकमगमत्सुरैः ॥ २५ ॥

वैक्रियिक शरीर आ जा सकता था ॥ १०–१२ ॥ इस प्रकार वह श्रीमान् उत्तम अहमिन्द्र अणिमा महिमा आदि गुणोंसे सहित तथा पाँच प्रकारके पुण्योदयसे प्राप्त होनेवाले अहमिन्द्रके सुखोंका अनुभव करता था ॥ १३ ॥

अथानन्तर इसी जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें श्रावस्ती नगरीका राजा दृढ़राज्य था। वह इक्ष्वाकुवंशी तथा काश्यपगोत्री था। उसके शरीरकी कान्ति बहुत ही उत्तम थी। सुषेणा उसकी स्त्रीका नाम था। जब पूर्वोक्त देवके अवतार लेनेमें छहमास बाकी रह गये तब सुषेणा रत्नवृष्टि आदि माहात्म्यको प्राप्त हुई। फाल्गुन शुक्ल अष्टमीके दिन प्रातःकालके समय मृगशिरा नक्षत्रमें पुण्योदयसे रानी सुषेणा ने सोलह स्वप्न देखे ॥ १४–१६ ॥ तदनन्तर स्वप्नमें ही उसने देखा कि सुमेरु पर्वतके शिखरके समान आकारवाला तथा सुन्दर लक्षणोंसे युक्त एक श्रेष्ठ हाथी उसके मुखमें प्रवेश कर रहा है ॥१७॥ अपने पतिसे उन स्वप्नोंका फल सुनकर वह आनन्दको प्राप्त हुई। उसी दिन वह अहमिन्द्र उसके गर्भमें आया। तदनन्तर नवमें महीनेमें कार्तिक शुक्ला पौर्णमासीके दिन मृगशिरा नक्षत्र और सौम्य योगमें उसने तीन ज्ञानोंसे युक्त उस पूज्य अहमिन्द्र पुत्रको प्राप्त किया। जन्मकल्याणकसम्बन्धी उत्सव हो जानेके बाद उसका 'संभव' यह नाम प्रसिद्ध हुआ ॥ १८–१९ ॥ इन्द्रोंने उस समय भगवान् संभवनाथकी इस प्रकार स्तुति की—हे संभवनाथ! तीर्थंकर नामकर्मके उदयके बिना ही केवल आपके जन्मसे ही आज जीवोंको सुख मिल रहा है। इसलिए आपका संभवनाथ नाम सार्थक है ॥ २० ॥ हे भगवन्! जिसमें अनेक लक्षण और व्यञ्जनारूपी फूल लग रहे हैं तथा जो लम्बी-लम्बी भुजाओंरूपी शाखाओंसे सुशोभित है ऐसे आपके शरीररूपी आम्रवृक्षपर देवोंके नेत्ररूपी भ्रमर चिरकाल तक तृप्त रहते हैं ॥ २१ ॥ हे देव! जिस प्रकार स्याद्वादका निर्मल तेज कपिल आदिके मतोंका तिरस्कार करता हुआ सुशोभित होता है उसी प्रकार आपका निर्मल तेज भी अन्य लोगोंके तेजको तिरस्कृत करता हुआ सुशोभित हो रहा है ॥ २२ ॥ जिस प्रकार सब जीवोंको आह्लादित करनेवाली सुगन्धिसे चन्दन जगत्का हित करता है उसी प्रकार आप भी साथ उत्पन्न हुए तीन प्रकारके ज्ञानसे जगत्का हित कर रहे हैं ॥ २३ ॥ हे नाथ! आपके स्नेहसे बढ़ा हुआ यह लोक, दीपकके समान कारणके बिना ही हित करनेवाले तथा खजानेके समान देदीप्यमान आपको नमस्कार कर रहा है ॥ २४ ॥ इस प्रकार स्तुतिकर जिसने आनन्द नामका नाटक किया है ऐसा प्रथम स्वर्गका अधिपति सौधर्मेन्द्र माता-पिताके लिए भगवान्को सौंपकर देवोंके साथ स्वर्ग चला गया ॥ २५ ॥

---

१ वसुधारादिमाहात्म्य-क०, ख०, ग०, घ० । २ वदनस्यान्तः ल० । ३–दग्रिमे ल० । ४ त्रिदिवश्च्युतम् ख०, ग० । ज्ञानत्रयसहितम् । ५ तव शरीराम्रवृक्षे टि० । तवाङ्गभूजे ल० । ६ मास्वरः ल० ।

द्वितीयतीर्थसन्ताने समये सागरोपमैः । त्रिंशच्छतसहस्रोक्तकोटिभिः प्रान्तमीयुषि ॥ २६ ॥
शम्भवाख्योऽभवत्स्वामी तदभ्यन्तरजीवितः । स पूर्वषष्टिलक्षायुः चतुःशतधनुःप्रमः ॥ २७ ॥
आयुषीते[1] चतुर्भागे प्राप्तराज्यमहोदयः । सुखान्यन्वभवद्देवैरुपनीतान्यनुक्षणम् ॥ २८ ॥
चत्वारिंशच्चतुर्लक्षाः पूर्वाणां सन्निधौ[2] च चतुःपूर्वाङ्गयुक्तायामथ विभ्रमदर्शनात् ॥ २९ ॥
लब्धबोधिः समुत्पन्नवैराग्यो जीवितादिकम् । स्वगतं स्मरति स्मेति शम्भवः स भवान्तकः ॥ ३० ॥
आयुरेवान्तकोऽन्तस्थं भ्रान्त्योक्तोऽन्योऽन्तकः परैः । जन्तवस्तदजानन्तो म्रियन्तेऽनन्तशोऽन्तकात् ॥३१॥
अध्यास्य कायमेवायमन्तकेनाभिभूयते । भूयो जन्तुरिदं जाड्यमत्रैव वसतीति यत् ॥ ३२ ॥
विरसान् सरसान् मत्वा विषयान् विषसन्निभान् । भुङ्क्ते रागरसाविद्धो धिग् धियोऽनादिविप्लवम्॥३३॥
आत्मेन्द्रियायुरिष्टार्थसन्निधेः[3] संसृतौ सुखम् । स्वसन्निधिरिह[4] स्थेयान् किं न वेत्ति न तर्क्यते ॥३४॥
विद्युद्द्युतिवल्लक्ष्मीर्नेयं स्थेमानमृच्छति । [5]व्युच्छिन्नेच्छः श्रियं स्थातुं स्वच्छतद्बोधदीधितिम् ॥ ३५ ॥
इत्यात्ततत्त्वसारं तं स्तुत्वा लौकान्तिका गताः । दत्त्वा राज्यं स्वपुत्राय प्राप्तनिष्क्रमणोत्सवः ॥ ३६ ॥
सिद्धार्थशिबिकामूढां देवैरारुह्य निर्गतः । सहेतुकवने राज्ञां सहस्रेणाप संयमम् ॥ ३७ ॥
मनःपर्ययसज्ज्ञानः श्रावस्तिनगरं [6]प्रति । भिक्षाहेतोर्द्वितीयेऽह्नि प्राविशत् कनकप्रभः ॥ ३८ ॥
नृपः सुरेन्द्रदत्ताख्यः सुवर्णाभः प्रतीक्ष्य तम् । दत्त्वा दानं स्फुरद्रत्नमापदाश्चर्यपञ्चकम् ॥ ३९ ॥

द्वितीय तीर्थंकरकी तीर्थ-परम्परामें जब तीस लाख करोड़ सागर बीत चुके थे तब संभवनाथ स्वामी उत्पन्न हुए थे। उनकी आयु भी इसी अन्तरालमें सम्मिलित थी । उनकी साठ लाख पूर्वकी आयु थी, चार सौ धनुष ऊँचा शरीर था, जब उनकी आयुका एक चौथाई भाग बीत चुका तब उन्हें राज्यका महान् वैभव प्राप्त हुआ था। वे सदा देवोपनीत सुखोंका अनुभव किया करते थे ॥ २६–२८ ॥ इस प्रकार सुखोपभोग करते हुए जब चवालीस लाख पूर्व और चार पूर्वाङ्ग व्यतीत हो चुके तब किसी दिन मेघोंका विभ्रम देखनेसे उन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया, वे उसी समय विरक्त हो गये और संसारका अन्त करनेवाले श्रीसंभवनाथ स्वामी अपने मनमें आयु आदिका इस प्रकार विचार करने लगे ॥ २९–३० ॥ कि प्राणीके भीतर रहनेवाला आयुकर्म ही यमराज है, अन्य वालोंने भूलसे किसी दूसरेको यमराज बतलाया है, संसारके प्राणी इस रहस्यको नहीं जानते अतः अनन्तवार यमराजके द्वारा मारे जाते हैं ॥ ३१ ॥ यमराज इसी शरीरमें रहकर इस शरीरको नष्ट करता है फिर भी इस जीवकी मूर्खता देखो कि यह इसी शरीरमें वास करता है ॥ ३२ ॥ रागरूपी रसमें लीन हुआ यह जीव विषके समान नीरस विषयोंको भी सरस मानकर सेवन करता है इसलिए अनादि कालसे चले आये इसकी बुद्धिके विभ्रमको धिक्कार है ॥३३॥ आत्मा, इन्द्रिय, आयु और इष्ट पदार्थके संनिधानसे संसारमें सुख होता है सो आत्माका सन्निधान तो इस जीवके सदा विद्यमान रहता है फिर भी यह जीव क्यों नहीं जानता और क्यों नहीं इसका विचार करता। यह लक्ष्मी बिजलीकी चमकके समान कभी भी स्थिरताको प्राप्त नहीं होती। जो जीव इसकी इच्छाको छोड़ देता है वही निर्मल सम्यग्ज्ञान की किरणोंसे प्रकाशमान मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त हो सकता है ॥ ३४–३५ ॥ इस प्रकार पदार्थके सारको ग्रहण करनेवाले संभवनाथ स्वामीकी स्तुति कर लौकान्तिक देव चले गये। तथा भगवान् भी अपने पुत्रके लिए राज्य देकर दीक्षा कल्याणकका उत्सव प्राप्त करते हुए देवों द्वारा उठाई हुई सिद्धार्थ नामकी पालकीमें सवार हो नगरसे बाहर निकले और सहेतुक वनमें एक हजार राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया ॥ ३६–३७ ॥ दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्राप्त हो गया। सुवर्णके समान प्रभाको धारण करनेवाले भगवान्ने दूसरे दिन भिक्षाके हेतु श्रावस्ती नगरीमें प्रवेश किया ॥ ३८ ॥ वहाँ काञ्चन जैसी कान्तिके धारक सुरेन्द्रदत्त नामक राजाने उन्हें पगाहकर आहार दान दिया और जिनमें

---

१ आयुषि इते गते सतीत्यर्थः । २ सम्मतिक्रमे ल० । ३ सन्निधिः ल० । ४ स्वसन्निधेरिह स्थेयं ख०, घ० । स सन्निधिरिह स्थेयां ग०, क० । ५ विच्छिन्नेच्छः क०, घ० । व्युच्छिन्नेच्छः श्रयेत् स्थातुम् क०, ख०, ग०, घ० । ६ मुनिः क०, ख०, ग०, घ० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज

अथ मौनव्रतेनायं छद्मस्थोऽब्देषु शुद्धधीः । द्विसप्तसु गते दीक्षावने शालतरोरधः ॥ ४० ॥
जन्मर्क्षे कार्तिके कृष्णचतुर्थ्यांमपराह्णगः । षष्ठोपवासी हत्वाघान् पापानन्तचतुष्टयम् ॥ ४१ ॥
कल्पामरैः समं सर्वैस्त्रिविधैर्ज्योतिषादिभिः । व्यधात् कैवल्यकल्याणं तदैवैत्यामराधिपाः ॥ ४२ ॥
पञ्चोत्तरशतोद्दिष्टैर्गणेशैः परिवारितः । चारुषेणादिभिः सोऽभाद् गिरीन्द्रो गिरिभिर्यथा ॥ ४३ ॥
शून्यपञ्चैकपक्षोक्तचारुपूर्वधरावृतः । [1]शून्यद्वयत्रिरन्ध्रद्वयैकोक्तशिक्षकलक्षितः ॥ ४४ ॥
शून्यद्वितयषड्रन्ध्रमितावधिविलोचनः । शून्यत्रयेन्द्रियैकोक्तकेवलावगमान्वितः ॥ ४५ ॥
शून्यद्वयाष्टरन्ध्रैकज्ञातवैक्रियकानुगः । शून्यपञ्चैकपक्षैकज्ञानतुर्यांवबोधकः ॥ ४६ ॥
शून्यत्रितयपक्षैकसङ्ख्यावादिविभूषितः । पिण्डिताशेषदिग्वासो लक्षद्वयपरिष्कृतः ॥ ४७ ॥
खचतुष्कद्विवह्न्युक्तधर्मार्यार्यिकागणः । त्रिलक्षोपासकोपेतश्राविकापञ्चलक्षगः ॥ ४८ ॥
असङ्ख्यदेवदेवीड्यस्तिर्यक्सङ्ख्यातसंस्तुतः । एवं द्वादशभेदोक्तधर्मभृद्गणनायकः ॥ ४९ ॥
चतुस्त्रिंशदतीशेषप्रातिहार्याष्टकप्रभुः । दिव्यवाग्ज्योत्स्नया कृत्स्नमाह्लाद्यानमितांशुमान् ॥ ५० ॥
शुद्ध एव चरन् पक्षे मोक्षलक्ष्म्या सहोद्गतः । निष्कलङ्को निरातङ्को निर्द्वंतारिः कुपक्षहृत् ॥ ५१ ॥
मुनितारागणाकीर्णः कामद्वेषी महोष्मधृत् । सद्वृत्तः सर्वदा पूर्णः सदाभ्यर्णध्रुवोदयः ॥ ५२ ॥

अनेक रत्न चमक रहे हैं ऐसे पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ ३९ ॥ इस प्रकार शुद्ध बुद्धिके धारक भगवान् संभवनाथ चौदह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्थामें मौनसे रहे। तदनन्तर दीक्षावनमें पहुँचकर शाल्मली वृक्षके नीचे कार्तिक कृष्ण चतुर्थीके दिन जन्मकालीन मृगशिर नक्षत्रमें शामके समय वेलाका नियम लेकर ध्यानारूढ़ हुए और चार घातिया कर्मरूपी पाप-प्रकृतियोंको नष्ट कर अनन्तचतुष्टयको प्राप्त हुए ॥ ४०-४१ ॥ उसी समय इन्होंने कल्पवासियों तथा ज्यौतिष्क आदि तीन प्रकारके देवोंके साथ कैवल्य महोत्सव किया—ज्ञानकल्याणक उत्सव किया ॥ ४२ ॥ जिस प्रकार छोटे-छोटे अन्य अनेक पर्वतोंसे घिरा हुआ सुमेरु पर्वत शोभित होता है उसी प्रकार चारुषेण आदि एक सौ पाँच गणधरोंसे घिरे हुए भगवान् संभवनाथ सुशोभित हो रहे थे ॥ ४३ ॥ वे दो हजार एक सौ पचास पूर्वधारियोंसे परिवृत थे, एक लाख उन्तीस हजार तीन सौ शिक्षकोंसे युक्त थे ॥ ४४ ॥ नौ हजार छह सौ अवधि-ज्ञानियोंसे सहित थे, पन्द्रह हजार केवलज्ञानियोंसे युक्त थे ॥ ४५ ॥ उन्नीस हजार आठ सौ विक्रिया ऋद्धिके धारक उनके साथ थे, बारह हजार एक सौ पचास मनःपर्ययज्ञानी उनकी सभामें थे ॥ ४६ ॥ तथा बारह हजार वादियोंसे सुशोभित थे, इस प्रकार वे सब मिलाकर दो लाख मुनियोंसे अत्यन्त शोभा पा रहे थे ॥ ४७ ॥ धर्मार्याको आदि लेकर तीन लाख बीस हजार आर्यिकाएँ थी, तीन लाख श्रावक थे, पाँच लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यञ्च उनकी स्तुति करते थे। इस प्रकार वे भगवान्, धर्मको धारण करनेवाली बारह सभाओंके स्वामी थे ॥ ४८-४९ ॥ वे चौंतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्योंके प्रभु थे, दिव्यध्वनिरूपी चाँदनीके द्वारा सबको आह्लादित करते थे तथा नमस्कार करनेवालोंको सूर्यके समान प्रकाशित करते थे ॥ ५० ॥ भगवान् संभवनाथने चन्द्रमाको तिरस्कृत कर दिया था क्योंकि चन्द्रमा सुदी और वदी दोनों पक्षोंमें संचार करता है परन्तु भगवान् शुद्ध अर्थात् निर्दोष पक्षमें ही संचार करते थे, चन्द्रमा दिनमें लक्ष्मीहीन हो जाता है परन्तु भगवान् मोक्षलक्ष्मीसे सहित थे, चन्द्रमा कलङ्क सहित है परन्तु भगवान् निष्कलङ्क—निष्पाप थे, चन्द्रमा सातङ्क—राहु आदिके आक्रमणके भयसे युक्त अथवा क्षय रोगसे सहित है परन्तु भगवान् निरातङ्क—निर्भय और नीरोग थे, चन्द्रमाके राहु तथा मेघ आदिके आवरणरूप अनेक शत्रु हैं परन्तु भगवान् शत्रुरहित थे, चन्द्रमा कुपक्ष—कृष्ण पक्षको करनेवाला है परन्तु भगवान् कुपक्ष—मलिन सिद्धान्तको नष्ट करनेवाले थे, चन्द्रमा दिनमें ताराओंसे रहित दिखता है परन्तु भगवान् सदा मुनि रूपी तारागणोंसे युक्त रहते थे, चन्द्रमा कामको बढ़ानेवाला है परन्तु भगवान् कामके शत्रु थे, चन्द्रमा तेजरहित है परन्तु भगवान् महान् तेजके धारक थे, चन्द्रमा पूर्णिमाके सिवाय अन्य तिथियोंमें वृत्ताकार न रहकर भिन्न-भिन्न आकारका धारक होता है परन्तु भगवान्

---

१ अन्यद्वय-ल० ।

सदा त्रिभुवनासेव्यो भव्यपद्मावबोधनः । नित्यध्वस्तोभयध्वान्तो [1]लोकालोके प्रकाशकः ॥ ५३ ॥
विधुं सोऽधो विधायैवं विहरद् धर्मवृष्टये । पर्जन्यवत्सतां चेष्टा विश्वलोकसुखप्रदा ॥ ५४ ॥
सम्मेदं पर्वतं प्राप्य त्यक्तमासविहारकः । सहस्रमुनिभिः सार्द्धं प्रतिमायोगमागतः ॥ ५५ ॥
[2]चैत्रे मासि सिते पक्षे षष्ठ्यामर्केऽस्तसम्मुखे । स्वकीयजन्मनक्षत्रे मोक्षलक्ष्मीं समागमत् ॥ ५६ ॥
पञ्चमावगमेशं तं पञ्चमीं गतिमास्थितम् । पञ्चमेऽभ्यर्च्य कल्याणे सञ्चिताया[3] ययुः सुराः ॥ ५७ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

अष्टौ शिष्टतमानि संयमगुणस्थानान्यतीत्य क्रमा-
दष्टौ दुष्टतमानुपायनिपुणो निर्मथ्य कर्मद्विषः ।
अष्टाविष्टतमान् गुणानविकलान् कृत्वा तनुं शाश्वती-
मष्टम्यामवनौ स्म [4]सम्भवविभुः शुम्भत्सुखः शोभते ॥ ५८ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर महाराज

मालिनी

विपुलविमललक्ष्मीर्वीक्षितानङ्गलक्ष्मीरिह भुवि विमलादिर्वाहनो देहदीप्त्या ।
हतरविरहमिन्द्रो रुन्द्रकल्याणलक्ष्मीप्रकटितपरिरम्भः सम्भवः शं क्रियाद्वः ॥ ५९ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे सम्भवतीर्थंकरपुराणं परिसमाप्तमेकोनपञ्चाशत्तमं पर्व ॥ ४९ ॥

सदा सद्वृत्त—सदाचारके धारक रहते थे, चन्द्रमा केवल पूर्णिमाको ही पूर्ण रहता है अन्य तिथियोंमें अपूर्ण रहता है परन्तु भगवान् सदा ज्ञानादि गुणोंसे पूर्ण रहते थे, चन्द्रमाके निकट ध्रुव ताराका उदय नहीं रहता परन्तु भगवान् सदा अभ्यर्ण ध्रुवोदय थे—उनका अभ्युदय ध्रुव अर्थात् स्थायी था, चन्द्रमा केवल मध्यम लोकके द्वारा सेवनीय है परन्तु भगवान् तीनों लोकोंके द्वारा सेवनीय थे, चन्द्रमा कमलोंको मुकुलित कर देता है परन्तु भगवान् सदा भव्य जीवरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करते थे अथवा भव्यजीवोंकी पद्मा अर्थात् लक्ष्मीको बढ़ाते थे, चन्द्रमा केवल बाह्य अन्धकारको ही नष्ट करता है परन्तु भगवान्ने बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारके अन्धकारको नष्ट कर दिया था, तथा चन्द्रमा केवल लोकको प्रकाशित करता है परन्तु भगवान्ने लोक-अलोक दोनोंको प्रकाशित कर दिया था। इस प्रकार चन्द्रमाको तिरस्कृत कर धर्मकी वर्षा करनेके लिए भगवान्ने आर्य देशोंमें विहार किया था सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुषोंकी चेष्टा मेघके समान सब लोगोंको सुख देनेवाली होती है ॥ ५१-५४ ॥ अन्तमें जब आयुका एक माह अवशिष्ट रह गया तब उन्होंने सम्मेदाचल प्राप्त कर विहार बन्द कर दिया और एक हजार राजाओंके साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया ॥ ५५ ॥ तथा चैत्र मासके शुक्ल पक्षकी षष्ठीके दिन जब कि सूर्य अस्त होना चाहता था तब अपने जन्म-नक्षत्रमें मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त किया ॥ ५६ ॥ जो पञ्चम ज्ञान—केवलज्ञानके स्वामी हैं और पञ्चम-गति—मोक्षावस्थाको प्राप्त हुए हैं ऐसे भगवान् संभवनाथकी पञ्चमकल्याणक—निर्वाणकल्याणकमें पूजा कर पुण्यका संचय करने वाले देव यथास्थान चले गये ॥ ५७ ॥ उपायोंके जाननेमें निपुण भगवान् संभवनाथने छठवेंसे लेकर चौदहवें तक संयमके उत्तम गुणस्थानोंका उल्लंघन किया, अत्यन्त दुष्ट आठ कर्मरूपी शत्रुओंका विनाश किया, अत्यन्त इष्ट सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंको अपना अविनश्वर शरीर बनाया और अष्टम भूमिमें अनन्त सुखसे युक्त हो सुशोभित होने लगे ॥ ५८ ॥ जिन्होंने अनन्तचतुष्टयरूप विशाल तथा निर्मल लक्ष्मी प्राप्त की है, जिन्होंने शरीररहित मोक्षलक्ष्मीका साक्षात्कार किया है, जिन्होंने अपने शरीरकी प्रभासे सूर्यको पराजित कर दिया है, जो पहले इस पृथिवी पर विमलवाहन राजा हुए थे, फिर अहमिन्द्र हुए और तदनन्तर जिन्होंने पञ्च-कल्याणक लक्ष्मीका आलिंगन प्राप्त किया ऐसे श्री संभवनाथ स्वामी तुम सबका कल्याण करें ॥५९॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्यके द्वारा प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमें संभवनाथ तीर्थंकरका पुराण वर्णन करनेवाला उनचासवां पर्व पूर्ण हुआ ।

---

१ लोकालोकौ प्रकाशयन् ल० । २ चैत्रमासि ग० । ३ संचिताये ल० । सञ्चितपुण्याः । ४ संभवविधुः ल० ।

पञ्चाशत्तमं पर्व

अर्थे सत्ये वचः सत्यं सद्वक्तुर्वक्ति सत्यताम् । यस्यासौ पातु वन्दारूनन्दयन्नभिनन्दनः ॥ १ ॥
जम्बूपलक्षिते द्वीपे विदेहे प्राचि दक्षिणे । सीताया विषयो भागे व्यभासीन्मङ्गलावती ॥ २ ॥
राजा महाबलस्तत्र नगरे रत्नसञ्चये । स्वामिसम्पत्समेतोऽभूच्चतुर्वर्णाश्रमाश्रयः ॥ ३ ॥
पाति तस्मिन् महीं नासीद् ध्वनिरन्याय इत्ययम् । [1]प्रावर्तना प्रजाः स्वेषु स्वेषु मार्गेष्वनर्गलाः ॥ ४ ॥
षाड्गुण्यं तत्र नैर्गुण्यमगाद्विगतविद्विषि । निर्गुणोऽपि गुणैस्त्यागसत्यादिभिरसौ गुणी ॥ ५ ॥
निःसपत्नः श्रियः सोऽभूत्पतिस्तस्याः सरस्वती । कीर्तिर्वीरश्रियोऽभूवन् सपत्न्यः प्रीतचेतसः ॥ ६ ॥
[2]अन्यवाक्श्रोत्रयोः कीर्तिस्तस्य वाचि सरस्वती । वीरलक्ष्मीरसौ वक्षस्यहमित्यतुषद्रमा ॥ ७ ॥
कान्ताकल्पलतारम्यो निजकायामरद्रुमः । फलति स्म [3]सुखं तस्य यद्यत्तेनाभिवाञ्छितम् ॥ ८ ॥
रम्यरामामुखाम्भोजसेवालोलाक्षिषट्पदः । सुखेन सोऽनयद्दीर्घं कालं काल्कलामिव ॥ ९ ॥
कदाचिज्जातवैराग्यः कामभोगे[4]ऽप्यतर्पणात् । सूनवे धनपालाय दत्वा राज्यं महामनाः ॥ १० ॥
[5]आदात् संयममासाद्य गुरुं विमलवाहनम् । एकादशाङ्गधार्येष भावितद्वयष्टकारणः ॥ ११ ॥
तीर्थकृन्नाम सम्प्रापत् [6]फलं कल्याणपञ्चकम् । येन तीर्थकरोऽयं स्यात् किं नाप्स्यन्ति मनस्विनः ॥ १२ ॥
आयुषोऽन्ते स संन्यस्य विजयेऽनुत्तरादिमे । त्रयस्त्रिंशत्समुद्रायुरहमिन्द्रत्वमाययौ ॥ १३ ॥

पदार्थके सत्य होनेसे जिनके वचनोंकी सत्यता सिद्ध है और ऐसे सत्य वचन ही जिन यथार्थ वक्ताकी सत्यताको प्रकट करते हैं ऐसे अभिनन्दन स्वामी वन्दना करनेवाले लोगोंको आनन्दित करते हुए हम सबकी रक्षा करें ॥ १ ॥ जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें सीता नदीके दक्षिण तट पर एक मङ्गलावती नामका देश सुशोभित है ॥ २ ॥ उसके रत्नसंचय नगरमें महाबल नामका राजा था । वह बहुत भारी राजसम्पत्तिसे सहित तथा चारों वर्णों और आश्रमोंका आश्रय था–रक्षा करनेवाला था ॥ ३ ॥ उसके पृथिवीकी रक्षा करते समय 'अन्याय' यह शब्द ही नहीं सुनाई पड़ता था और समस्त प्रजा किसी प्रतिबन्धके बिना ही अपने-अपने मार्गमें प्रवृत्ति करती थी ॥ ४ ॥ शत्रुओंको नष्ट करनेवाले उस राजामें सन्धि-विग्रह आदि छह गुणोंका समूह भी निर्गुणताको प्राप्त हो गया था और इस तरह निर्गुण होनेपर भी वह राजा त्याग तथा सत्य आदि गुणोंसे गुणवान् था ॥ ५ ॥ वह राजा लक्ष्मीका एक ही पति था । यद्यपि सरस्वती कीर्ति और वीरलक्ष्मी उसकी सौतें थीं तो भी राजा सब पर प्रसन्नचित्त रहता था । उसकी कीर्ति अन्य मनुष्योंके वचनों तथा कानोंमें रहती है, सरस्वती उसके वचनोंमें रहती है, वीरलक्ष्मी वक्षःस्थल पर रहती है और मैं सर्वाङ्गमें रहती हूं यह विचार कर ही लक्ष्मी अत्यन्त सन्तुष्ट रहती थी ॥ ६–७ ॥ स्त्रीरूपी कल्पलतासे रमणीय उसका शरीररूपी कल्पवृक्ष, वह जिस जिसकी इच्छा करता था वही वही सुख प्रदान करता था ॥ ८ ॥ जिसके नेत्ररूपी भ्रमर सुन्दर स्त्रियोंके मुखरूपी कमलोंकी सेवा करनेमें सदा सतृष्ण रहते हैं ऐसे उस राजा महाबलने बहुत लम्बा समय सुखसे कालकी एक कलाके समान व्यतीत कर दिया ॥ ९ ॥ किसी समय इच्छानुसार मिलनेवाले भोगोपभोगोंमें अतृप्ति होनेसे उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया जिससे उस उदारचेताने धनपाल नामक पुत्रके लिए राज्य देकर विमलवाहन गुरुके पास पहुँच संयम धारण कर लिया । वह ग्यारह अङ्ग का पाठी हुआ और सोलह कारण भावनाओंका उसने चिन्तवन किया ॥ १०–११ ॥ सोलह कारण भावनाओंका चिन्तवन करनेसे उससे पञ्चकल्याणकरूपी फलको देनेवाले तीर्थंकर नामकर्म-बन्ध किया जिससे यह तीर्थंकर होगा । सो ठीक ही है क्योंकि मनस्वी मनुष्योंको क्या नहीं प्राप्त होता ? ॥ १२ ॥ आयुके अन्तमें समाधिमरण कर वह विजय नामके पहले

---

१ प्रवर्तने ल० । २ अनिन्दाश्रोत्रयोः ख० । ३ सुखे ल० । ४ कामभोगेष्वतर्पणात् क०, ख०, ग०, घ० । ५ अधात् ल० । ६ फलकल्याण–ल० ।

तत्रोक्तदेहलेश्याविद्[1] गुण्योच्छ्वासादिसंयुतः । पञ्चशातसुखास्वादी भवान्ते शान्तमानसः ॥ १४ ॥
ध्यायन् वैराग्यसम्पत्त्या तत्रास्थाद्भक्तितोऽर्हतः । कृत्स्नकर्मक्षयं कर्तुं[2] तस्मिन्नत्रागमिष्यति ॥ १५ ॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते वर्षे साकेतनगराधिपः । इक्ष्वाकुः काश्यपोऽनेकगोत्रोऽभ्युदयवैभवः ॥ १६ ॥
राजा स्वयंवरो नाम्ना सिद्धार्थाऽस्याग्रवल्लभा । षड्मासान् वसुधारादि-पूजामाप्नुवती सती ॥ १७ ॥
वैशाखस्य सिते पक्षे षष्ठ्यां मे सप्तमे शुभे । स्वप्नेक्षानन्तरं वक्त्रं विशन्तं वीक्ष्य सा गजम् ॥ १८ ॥
नृपात्स्वप्नफलैस्तुष्टा दिष्ट्यासूत तमुत्तमम् । [2]माघे मास्यदितौ योगे धवलद्वादशीदिने ॥ १९ ॥
तत्प्रभावविशेषेण प्रकम्पितनिजासनः । त्रैलोक्येशसमुद्भूतिमवबुद्ध्यावधेः सुधीः ॥ २० ॥
तं [3]तदावाप्य देवेन्द्रः स्वदेव्या दिव्यमानवम् । देवावृतो द्रुतद्रावी देवाद्रौ दिव्यविष्टरे ॥ २१ ॥
बालार्कसन्निभं बालं जलैः क्षीरापगापतेः । [4]स्नापयित्वा विभूष्याख्यां प्रख्याप्यास्याभिनन्दनम् ॥ २२ ॥
बहुबाहुः सहस्राक्षो बहुभावरसान्वितः । विचित्रकरणा[5]रब्धैरङ्गहारैर्नभोङ्गणे ॥ २३ ॥
उद्यताभिनयप्रायं भक्त्यानृत्यत्सताण्डवम् । गतो रागः परां कोटिं धीरोदात्तांश्च [6]नाटयन् ॥ २४ ॥
निवृत्यागत्य साकेतं [7]निष्कृष्य कृतकार्भकम् । पित्रोः पुरो विधायैनं [8]सुरेडारामरं पदम् ॥ २५ ॥
सम्भवस्यान्तरे जाते दशलक्षाब्धिकोटिभिः । तदभ्यन्तरवर्त्यायुराबभासे विदां त्रिभिः ॥ २६ ॥

अनुत्तरमें तैंतीस सागरकी आयुवाला अहमिन्द्र हुआ ॥ १३ ॥ विजय विमानमें जो शरीरकी ऊंचाई, लेश्या, अवधिज्ञानका क्षेत्र तथा श्वासोच्छ्वासादिका प्रमाण बतलाया है वह उन सबसे सहित था, पांचो इन्द्रियोंके सुखका अनुभव करता था, चित्त शान्त था, वैराग्यरूपी सम्पत्तिसे उपलक्षित हो भक्ति-पूर्वक अर्हन्त भगवान्का ध्यान करता हुआ वहां रहता था और आयुके अन्तमें समस्त कर्मोंका क्षय करनेके लिए इस पृथिवीतल पर अवतार लेगा ॥ १४–१५ ॥ जब अवतार लेनेका समय हुआ तब इस जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें अयोध्या नगरीका स्वामी इक्ष्वाकु वंशी काश्यपगोत्री तथा आश्चर्यकारी वैभवको धारण करनेवाला एक स्वयंवर नामका राजा था। सिद्धार्था उसकी पटरानी का नाम था। अहमिन्द्रके अवतार लेनेके छह माह पूर्वसे सिद्धार्थाने रत्नवृष्टि आदि पूजाको प्राप्त किया और वैशाख मासके शुक्लपक्षकी षष्ठी तिथिके दिन सातवें शुभ नक्षत्र (पुनर्वसु) में सोलह स्वप्न देखनेके बाद अपने मुखमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। उसी समय वह अहमिन्द्र उसके गर्भमें आया ॥ १६–१८ ॥ राजासे स्वप्नोंका फल सुनकर वह बहुत सन्तुष्ट हुई और माघ मासके शुक्ल पक्षकी द्वादशीके दिन अदिति योगमें उसने पुण्योदयसे उत्तम पुत्र उत्पन्न किया ॥ १९ ॥ उस पुत्रके प्रभावसे इन्द्रका आसन कम्पायमान हो गया जिससे उस बुद्धिमान्ने अवधिज्ञानके द्वारा त्रिलोकीनाथका जन्म जान लिया ॥ २० ॥ इन्द्रने अपनी शचीदेवी द्वारा उस दिव्य मानवको प्राप्त किया और उसे लेकर देवोंसे आवृत हो शीघ्रतासे सुमेरु पर्वत पर पहुँचा। वहां दिव्य सिंहासनपर विराजमानकर बाल सूर्यके समान प्रभावाले बालकका क्षीरसागरके जलसे अभिषेक किया, आभूषण पहनाये और अभिनन्दन नाम रक्खा ॥ २१–२२ ॥ उस समय जिसने विक्रिया वश बहुत-सी भुजाएँ बना ली हैं, हजार नेत्र कर लिये हैं और जो अनेक भाव तथा रसोंसे सहित है ऐसे इन्द्रने आश्चर्यकारी करणोंसे प्रारम्भ किये हुए अङ्गहारों द्वारा आकाशरूपी आंगनमें भक्तिसे ताण्डव नृत्य किया और अनेक अभिनय दिखलाये। उस समय उसका राग परम सीमाको प्राप्त था, साथ ही वह अन्य अनेक धीरोदात्त नटोंको भी नृत्य करा रहा था ॥ २३–२४ ॥ जन्माभिषेकसे वापिस लौटकर इन्द्र अयोध्यानगरीमें आया तथा मायामयी बालकको दूर कर माता-पिताके सामने सचमुचके बालकको रख कर स्वर्ग चला गया ॥ २५ ॥ श्री संभवनाथ तीर्थंकरके बाद दश लाख करोड़ वर्षका अन्तराल बीत जानेपर अभिनन्दननाथ स्वामी अवतीर्ण हुए थे, उनकी आयु भी इसी अन्तरालमें सम्मिलित

---

१ लेश्यादिगुणोच्छ्वासादि ख०, ग० । २ माघमास्य-ख० । ३ तदादाय क०, घ० । ४ स्नपयित्वा इति भवितव्यम् । ५ करणारम्भैः क०, ख०, घ० । करणारम्भिरङ्गहारैः ग० । ६ नाटयेत् ख०, ग० । ७ निकृष्य ग० । ८ सुरेट् इन्द्रः, आर जगाम, आमरं देवसम्बन्धि ।

पञ्चाशल्लक्षपूर्वायुः सार्द्धत्रिंशतचापमः[1] । [2]बालेन्दुरिव सज्ज्योत्स्नः पुण्यौघो वा [3]स्फुरद्रसः ॥ २७ ॥
स श्रीबुद्धिं च सम्प्रापत् सर्वानाह्लादयन् गुणैः । चामीकरच्छविर्यातो कौमारे [4]कामसारथौ ॥ २८ ॥
पूर्वद्वादशलक्षेषु सार्द्धेषु प्राप्तवान् स तत् । राज्यं नियोज्य भुङ्क्ष्वेति पितर्यासे तपोवनम् ॥ २९ ॥
इन्दुः कामयते कान्तिं दीप्तिमिच्छ[5]त्यहर्पतिः । वाञ्छत्यैश्वर्यमस्येन्द्रः शममाशासते स्पृहाः ॥ ३० ॥
निजोत्कृष्टानुभागानामनन्तगुणवृद्धितः । तस्य पुण्याणवः सर्वे फलन्ति स्म प्रतिक्षणम् ॥ ३१ ॥
अभिभूयान्यतेजांसि सर्वप्रकृतिरञ्जनात् । तारेशमंशुमन्तं च स्वतेजोभिरतोषयत् ॥ ३२ ॥
नमिताखिलभूपालमौलिरित्यत्र का स्तुतिः । पुण्यात्मा जन्मतोऽयं चेदमरेन्द्रार्चितक्रमः ॥ ३३ ॥
नेया श्रीरागिणी [6]वास्याभूद्भक्ता कोऽत्र विस्मयः । मोक्षलक्ष्म्या च चेदेष कटाक्षैर्गोचरीकृतः ॥ ३४ ॥
शुद्धश्रद्धानमक्षय्यमयस्तीर्थकराह्वयः । आत्मसम्पदितः काम्या जगत्त्रयजयैषिणः[8] ॥ ३५ ॥
स धीरललितः पूर्वं राज्ये धीरोद्धतो यमी । [9]धीरः प्रशान्तः पर्यन्ते धीरोदात्तत्वमीयिवान् ॥ ३६ ॥
अफलन् शक्तयस्तिस्रः सिद्धिं धर्मानुबन्धिनीम् । ता एव शक्तयो या हि लोकद्वयहितावहाः ॥ ३७ ॥
कीर्तौ श्रुतिः स्तुतौ तस्य गीतिर्वर्णाक्षराङ्किता । प्रीतिर्दृष्टौ जनस्यासीत्स्मृतिश्च गुणगोचरा ॥ ३८ ॥
गुणैः प्रागेव सम्पूर्णः स सर्वैराभिगामिकैः । न चेल्किं सेवितुं गर्भे निलिम्पाः कम्पितासनाः ॥ ३९ ॥

थी वे मति श्रुत अवधि इन तीन ज्ञानोंसे सुशोभित थे, पचास लाख पूर्व उनकी आयु थी, साढ़े तीन सौ धनुष ऊँचा शरीर था, वे बाल चन्द्रमाके समान कान्तिसे युक्त थे, अथवा जिसका अनुभाग प्रकट हो रहा है ऐसे पुण्य कर्मके समूहके समान जान पड़ते थे ॥ २६–२७ ॥ गुणोंसे सबको आह्लादित करते हुए वे शोभा अथवा लक्ष्मीकी वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे । उनकी कान्ति सुवर्णके समान देदीप्यमान थी । कामदेवके सारथिके समान कुमार अवस्थाके जब साढ़े बारह लाख पूर्व बीत गये तब 'तुम राज्यका उपभोग करो' इस प्रकार राज्य देकर इनके पिता वनको चले गये । उसी समय इन्होंने राज्य प्राप्त किया ॥ २८–२९ ॥ उस समय चन्द्रमा इनकी कान्तिको चाहता था, सूर्य इनके तेजकी इच्छा करता था, इन्द्र इनका वैभव चाहता था और इच्छाएं इनको शान्ति चाहती थीं ॥३०॥ अपने उत्कृष्ट अनुभागबन्धकी अनन्तगुणी वृद्धि होनेसे उनके सभी पुण्य परमाणु प्रत्येक समय फल देते रहते थे ॥ ३१ ॥ उन्होंने अन्य सबके तेजको जीतकर तथा सब प्रजाको प्रसन्न कर चन्द्रमा और सूर्यको भी जीत लिया था इस तरह वे अपने ही तेजसे सुशोभित हो रहे थे ॥ ३१–३२ ॥ समस्त राजा लोग इन्हें अपने मुकुट झुकाते थे इसमें उनकी क्या स्तुति थी । क्योंकि ये जन्मसे ही ऐसे पुण्यात्मा थे कि इन्द्र भी इनके चरणोंकी पूजा करता था ॥ ३३ ॥ जब मोक्षलक्ष्मी भी इन्हें अपने कटाक्षोंका विषय बनाती थी तब राज्यलक्ष्मी इनमें अनुराग करने लगी इसमें आश्चर्यकी क्या बात है ॥ ३४ ॥ उनके कभी नष्ट नहीं होनेवाला शुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन था और तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति थी । सो ठीक ही है क्योंकि तीनों लोकों पर विजय प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यके इससे बढ़कर दूसरी कौनसी आत्मसम्पत्ति है ? ॥ ३५ ॥ वे भगवान् कुमार-अवस्थामें धीर और उद्धत थे, संयमी अवस्थामें धीर और प्रशान्त थे तथा अन्तिम अवस्थामें धीर और उदात्त अवस्थाको प्राप्त हुए थे ॥ ३६ ॥ उनकी उत्साह, मन्त्र और प्रभुत्व इन तीनों शक्तियोंने धर्मानुबन्धिनी सिद्धिको फलीभूत किया था सो ठीक ही है क्योंकि शक्तियां वही हैं जो कि दोनों लोकोंमें हित करनेवाली हैं ॥ ३७ ॥ उनकी कीर्तिमें शास्त्र भरे पड़े थे, स्तुतिमें वर्ण और अक्षरोंसे अङ्कित अनेक गीत थे, मनुष्योंकी दृष्टिमें उनकी प्रीति थी, और उनका स्मरण सदा गुणोंके विवेचनके समय होता था ॥ ३८ ॥ वे उत्पन्न होनेके पूर्व ही समस्त उत्तम गुणोंसे परिपूर्ण थे । यदि ऐसा न होता तो गर्भमें

---

१ चापगः ख० । चापसः ग० । २ तलेन्दुरिव घ० । ३ पुण्यौघो वा ससद्रसः ग० । पुण्योदावाससद्रसः ख० । पुण्यौघो वा स्फुटद्रविः ल० । ४ कामतां दधौ क०, ख०, ग० । कामसा दधौ घ० । ५–मीप्स्यत्यहर्पतिः क०, ख०, ग०, घ० । ६ स्वतेजसा क०, ख० । ७ रागिणी मास्या ग०, ख० । रागिणी सास्या ल० । ८ जयीच्छिणः ग० । जगत्त्रितयजयैषिणः ल० । अत्र पाठे छन्दोभङ्गः । ९ धीरप्रशान्तः घ०, क० ।

पुष्कलं प्राग्भवायातं बोधित्रितयमुत्तमम् । तस्य प्रज्ञागुणाः केऽन्ये वर्णनीयाः मनीषिभिः ॥ ४० ॥
न वाच्यः पृथगुत्साहो यद्ययं हन्तुमीहते । मोहशत्रुं सशेषाघं खलं त्रैलोक्यकण्टकम् ॥ ४१ ॥
[1]उद्गमेऽपि प्रतापोऽस्य माध्यन्दिनदिनाधिपम् । निःप्रतापं करोत्यद्य तमन्यः सहते नु कः ॥ ४२ ॥
लिलङ्घयिषवोऽन्योन्यं वर्द्धन्तेऽस्याखिला गुणाः । समानं वर्द्धमानानां स्पर्द्धां केन [2]निषिध्यते ॥ ४३ ॥
एवं संसारसारोरुविसरद्भोगभागिनः । [3]प्रान्तबोधदिनाधीशप्रोद्गमोदयभूभृतः ॥ ४४ ॥
खचतुष्केन्द्रियर्त्वग्निमितपूर्वेषु निष्ठिते । राज्यकाले जगद्भर्तुरष्टपूर्वाङ्गशेषतः ॥ ४५ ॥
प्रादुर्भूतक्षणप्रान्तविनश्यत्सौधविभ्रमे । गन्धर्वनगरे साक्षाद्याते सञ्जातबोधिकः ॥ ४६ ॥
अवश्यं भङ्गुरा भोगा भञ्जयन्त्यत्र मां स्थितम् । न पातयति किं स्वस्थं भङ्गुरो विटपः स्फुटम् ॥ ४७ ॥
तनुर्मयेप्सितैः सर्वैः स्वीकृतापि त्यजेद्ध्रुवम् । प्रायः पण्याङ्गनेवेति विरक्तः स तनावभूत् ॥ ४८ ॥
सत्यायुषि मृतिस्तस्मिन्नसत्यत्रास्ति सापि न । बिभेति चेन्मृतेस्तेन भेतव्यं पूर्वमायुषः ॥ ४९ ॥
गन्धर्वनगरेणैव संवादः सर्वसम्पदाम् । विधाय्यभ्रविलायित्वविधेरपधियामपि ॥ ५० ॥
इत्यपश्यत्तदैवैनमानर्चुरमरद्विजाः । सुरैः सम्प्राप्तनिष्क्रान्तिकल्याणः शमितेन्द्रियः ॥ ५१ ॥
हस्तचित्राख्ययानाधिरूढोऽग्रोद्यानमागतः । माघे सिते [4]स्वगर्भर्क्षे द्वादश्यामपराह्णगः ॥ ५२ ॥
दीक्षां षष्ठोपवासेन जैनीं जग्राह राजभिः । सहस्रसङ्ख्यैर्विख्यातैस्तदाख्यज्ञानतुर्यकः ॥ ५३ ॥

ही उनकी सेवा करनेके लिए देवोंके आसन कम्पायमान क्यों होते ? ॥ ३९ ॥ उनका उत्तम रत्नत्रय प्रचुर मात्रामें पूर्वभवसे साथ आया था तथा अन्य गुणोंकी क्या बात ? उनकी बुद्धिके गुण भी विद्वानोंके द्वारा वर्णनीय थे ॥ ४० ॥ उनके उत्साह गुणका वर्णन अलगसे तो करना ही नहीं चाहिये क्योंकि वे तीनों लोकोंके कण्टक स्वरूप मोह शत्रुको अन्य समस्त पापोंके साथ नष्ट करना ही चाहते थे ॥ ४१ ॥ जन्मके समय भी उनका प्रताप ऐसा था कि दोपहरके सूर्यको भी प्रतापरहित करता था फिर इस समय उसे दूसरा सह ही कौन सकता था ? ॥ ४२ ॥ इनके गुण इस प्रकार बढ़ रहे थे मानो परस्परमें एक दूसरेका उल्लंघन ही करना चाहते हों। सो ठीक है क्योंकि एक साथ बढ़नेवालोंकी ईर्ष्याको कौन रोक सकता है ? ॥ ४३ ॥ इस प्रकार संसारके श्रेष्ठतम विशाल भोगोंके समूहका उपभोग करनेवाले भगवान् अभिनन्दननाथ केवलज्ञान-रूपी सूर्यका उदय होनेके लिए उदयाचलके समान थे ॥ ४४ ॥ जब उनके राज्यकालके साढ़े छत्तीस लाख पूर्व बीत गये और आयुके आठ पूर्वाङ्ग शेष रहे तब वे एक दिन आकाशमें मेघोंकी शोभा देख रहे थे कि उन मेघोंमें प्रथम तो एक सुन्दर महलका आकार प्रकट हुआ परन्तु थोड़े ही देरमें वह नष्ट हो गया। इस घटनासे उन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया। वे सोचने लगे कि ये विनाशीक भोग इस संसारमें रहते हुए मुझे अवश्य ही नष्ट कर देंगे। क्या टूटकर गिरनेवाली शाखा अपने ऊपर स्थित मनुष्यको नीचे नहीं गिरा देती ? ॥ ४५ ॥ यद्यपि मैंने इस शरीरको सभी मनोरथों अथवा समस्त इष्ट पदार्थोंसे परिपुष्ट किया है तो भी यह निश्चित है कि वेश्याके समान यह मुझे छोड़ देगा। इस तरह विचार कर वे शरीरसे विरक्त हो गये ॥ ४६-४८ ॥ उन्होंने यह भी विचार किया कि आयुके रहते हुए मरण होता है, आयुके न रहने पर मरण नहीं होता। इसलिए जो मरणसे डरते हैं उन्हें सबसे पहिले आयुसे डरना चाहिये ॥ ४९ ॥ समस्त सम्पदाओंका हाल गन्धर्वनगरके ही समान है अर्थात् जिस प्रकार यह मेघोंका बना गन्धर्वनगर देखते-देखते नष्ट हो गया उसी प्रकार संसारकी समस्त सम्पदाएं भी नष्ट हो जाती हैं यह बात विद्वानोंकी कौन कहे मूर्ख भी जानते हैं ॥ ५० ॥ जिस समय भगवान् ऐसा विचार कर रहे थे उसी समय लौकान्तिक देवोंने आकर उनकी पूजा की। देवोंने भगवान्का निष्क्रमण-कल्याणक किया। तदनन्तर जितेन्द्रिय भगवान् हस्तचित्रा नामकी पालकी पर आरूढ़ होकर अग्र-उद्यानमें आये। वहाँ उन्होंने माघ शुक्ल द्वादशीके दिन शामके समय अपने जन्म नक्षत्रका उदय

---

१ जन्मकालेऽपि । २ निषेध्यते क०, ख०, घ० । सर्वं किम् निषेध्यते (१) ग० । ३ प्रान्ते बोध ल० । ४ स्वगर्भनक्षत्रे ।

द्वितीयेऽहनि साकेतं बुभुक्षुः प्राविशन् नृपः । तं प्रतीक्ष्येन्द्रदत्तोऽन्नं दत्त्वापाश्चर्यपञ्चकम् ॥ ५४ ॥
अथ मौनव्रतेनेते[1] छाद्मस्थेऽष्टादशाब्दके । दीक्षावनेऽसनक्ष्माजमूले षष्ठोपवासिनः ॥ ५५ ॥
सिते पौषे चतुर्दश्यां सायाह्ने भेऽस्य सप्तमे । केवलावगमो जज्ञे विश्वामरसमर्चितः ॥ ५६ ॥
त्रिखैकोक्तै र्गणाधीशैर्वज्रनाभ्यादिनामभिः । खद्वयेन्द्रियपक्षोक्तै स्यक्ताङ्गैः पूर्वधारिभिः ॥ ५७ ॥
खाक्षखद्वयवह्निद्विप्रमालक्षितशिक्षकैः । खद्वयाष्टनवज्ञेयैः प्राज्ञैस्त्रिज्ञानलोचनैः ॥ ५८ ॥
खत्रयर्त्वेकसङ्ख्यानैः केवलज्ञानमानिभिः । शून्यत्रितयरन्ध्रैकमितवैक्रियकर्द्धिभिः[2] ॥ ५९ ॥
शून्यपञ्चतु रुद्रोक्तमनःपर्ययबोधनैः । एकादशसहस्रोद्यद्वादिभिर्वन्दितक्रमः ॥ ६० ॥
लक्षत्रितयसम्पिण्डिताशेषयतिनायकः । खद्वयतु खवह्नयब्धिसङ्ख्याभिरभितो युतः ॥ ६१ ॥
मेरुषेणार्यिकाद्यार्यिकाभिर्जगदधीश्वरः । लक्षत्रयोदितोपासकाभ्यर्चितपदद्वयः ॥ ६२ ॥
लक्षपञ्चप्रमाप्रोक्तश्राविकालोक[3]संस्तुतः । असङ्ख्यदेवदेवीड्य[4]स्तिर्यक्सङ्ख्यातसेवितः ॥ ६३ ॥
इति द्वादशनिर्दिष्टशिष्टभव्यगणाग्रणीः । धर्मवृष्टिं किरन् दूरं विहृत्यार्यावनीतलम् ॥ ६४ ॥
यदृच्छयाप्य सम्मेदं स्थित्वा मासं विनाध्वनेः, तत्कालक्रियायुक्तो व्युत्सृष्टद्वयमयोऽमलः ॥ ६५ ॥
मुनिभिर्बहुभिः प्राह्णे प्रतिमायोगवानगात् । भे सिते सप्तमे षष्ठ्यां वैशाखेऽयं[5] परं पदम् ॥ ६६ ॥
तदा भक्त्या नताष्टाङ्गाः सुरेन्द्राः कृतपूजनाः । नुत्वा तमगमन्नाकं त्रैलोक्येशं यथाक्रमम् ॥ ६७ ॥

रहते वेलाका नियम लेकर एक हजार प्रसिद्ध राजाओंके साथ जिन-दीक्षा धारण कर ली। उसी समय उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया ॥ ५१–५३ ॥ दूसरे दिन भोजन करनेकी इच्छासे उन्होंने साकेत (अयोध्या) नगरमें प्रवेश किया। वहां इन्द्रदत्त राजाने पडगाह कर उन्हें आहार दिया तथा पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ ५४ ॥

तदनन्तर छद्मस्थ अवस्थाके अठारह वर्ष मौनसे बीत जाने पर वे एक दिन दीक्षावनमें असन वृक्षके नीचे वेलाका नियम लेकर ध्यानारूढ हुए ॥ ५५ ॥ पौष शुक्ल चतुर्दशीके दिन शामके समय सातवें पुनर्वसु नक्षत्रमें उन्हें केवलज्ञान हुआ, समस्त देवोंने उनकी पूजा की ॥५६॥ वज्रनाभि आदि एक सौ तीन गणधर, शरीरसे ममत्व छोड़नेवाले दो हजार पाँच सौ पूर्वधारी, दो लाख तीस हजार पचास शिक्षक, नौ हजार आठ सौ अवधिज्ञानी, सोलह हजार केवलज्ञानी, उन्नीस हजार विक्रिया ऋद्धिके धारक, ग्यारह हजार छह सौ पचास मनःपर्ययज्ञानी और ग्यारह हजार प्रचण्ड वादी उनके चरणोंकी निरन्तर वन्दना करते थे ॥ ५७–६० ॥ इस तरह वे सब मिलाकर तीन लाख मुनियोंके स्वामी थे, मेरुषेणा आदि तीन लाख तीस हजार छह सौ आर्यिकाओंसे सहित थे, तीन लाख श्रावक उनके चरण युगलकी पूजा करते थे, पाँच लाख श्राविकाएँ उनकी स्तुति करती थीं, असंख्यात देव-देवियोंके द्वारा वे स्तुत्य थे, और संख्यात तिर्यञ्च उनकी सेवा करते थे ॥ ६१–६३ ॥ इस प्रकार शिष्ट और भव्य जीवोंकी बारह सभाओंके नायक भगवान् अभिनन्दननाथने धर्मवृष्टि करते हुए इस आर्यखण्डकी वसुधा पर दूर-दूर तक विहार किया ॥ ६४ ॥ इच्छाके विना ही विहार करते हुए वे सम्मेद गिरि पर जा पहुँचे। वहाँ एक मास तक दिव्य ध्वनिसे रहित होकर ध्यानारूढ रहे, उस समय वे ध्यान कालमें होनेवाली योगनिरोध आदि क्रियाओंसे युक्त थे, समुच्छिन्न क्रिया-प्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ती नामक दो ध्यानोंसे रहित थे, अत्यन्त निर्मल थे, और प्रतिमा-योगको धारण किये हुए थे। वहींसे उन्होंने वैशाख शुक्ल षष्ठीके दिन प्रातःकालके समय पुनर्वसु नामक सप्तम नक्षत्रमें अनेक मुनियोंके साथ परमपद—मोक्ष प्राप्त किया ॥ ६५–६६ ॥ उसी समय भक्तिसे जिनके आठों अङ्ग झुक रहे हैं ऐसे इन्द्रने आकर उन त्रिलोकीनाथ की पूजा की, स्तुति की और तदनन्तर यथाक्रमसे स्वर्गकी ओर प्रस्थान किया ॥ ६७ ॥

---

१ मौनव्रतेन इते गते । २ वैक्रियिकर्द्धिभिः क०, ख०, ग०, घ० । वैकियिकर्षिभिः ल० । ३ संयुतः ल० । ४ देवदेवीभिः क०, घ० । ५ वैशाखेऽयात् परं पदम् ल० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शार्दूलविक्रीडितम्

येनाप्तानिमिषेश्वरैरयमयी[1] श्रीः पञ्चकल्याणजा
यस्यानन्तचतुष्टयोज्ज्वलतरा श्रीरक्षया क्षायिकी ।
यो रूपेण विनापि निर्मलगुणः सिद्धिश्रियालिङ्गितः
स त्रिश्रीरभिनन्दनो निजपतिर्जीयादनस्तोदयः ॥६८॥

वसन्ततिलका

यो रत्नसञ्चयपुरेशमहाबलाख्यो
योऽनुत्तरेषु विजयी विजयेऽहमिन्द्रः ।
यश्चाभिनन्दननृपो वृषभेशवंशे
साकेतपत्तनपतिः स जिनोऽवताद्वः ॥ ६९ ॥

हरिणीच्छन्दः

उभनयभेदाभ्यां विश्वं विभज्य विभावयन्
स्वभवविभवभ्रप्त्यै भक्त्या द्युभूभिरभिष्टुतः ।
त्रिभुवनविभुर्भूयो भव्या भवाऋवतां भवद्
भयमभिभवन् भूत्यै भूयादभीरभिनन्दनः ॥७०॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे पुराणमिदं समाप्तमभिनन्दन-स्वामिनः पञ्चाशत्तमं पर्व ॥५०॥

जिन्होंने इन्द्रोंके द्वारा पञ्च कल्याणकोंमें उत्पन्न होनेवाली पुण्यमयी लक्ष्मी प्राप्त की, जिन्होंने कर्म क्षयसे होनेवाली तथा अनन्तचतुष्टयसे देदीप्यमान अविनाशी अन्तरङ्ग लक्ष्मी प्राप्त की जो रूपसे रहित होनेपर भी निर्मल गुणोंके धारक रहे, मोक्षलक्ष्मीने जिनका आलिङ्गन किया, जिनका उदय कभी नष्ट नहीं हो सकता और जो पूर्वोक्त लक्ष्मियोंसे युक्त रहे ऐसे श्री अभिनन्दन जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥ ६८ ॥ जो पहले रत्नसंचय नगरके राजा महाबल हुए, तदनन्तर विजय नामक अनुत्तर विमानमें विजयी अहमिन्द्र हुए, फिर ऋषभनाथ तीर्थंकरके वंशमें अयोध्या नगरीके अधिपति अभिनन्दन राजा हुए वे अभिनन्दन स्वामी तुम सबकी रक्षा करें ॥ ६९ ॥ जिन्होंने निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयोंसे विभाग कर समस्त पदार्थोंका विचार किया है, अपने भवकी विभूति को नष्ट करनेके लिए देवोंने भक्तिसे जिनकी स्तुति की है, जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं, निर्भय हैं और संसारके प्राणियोंका भय दूर करनेवाले हैं ऐसे अभिनन्दन जिनेन्द्र, हे भव्य जीवो ! तुम सबकी विभूतिको करनेवाले हों ॥ ७० ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टि लक्षण महापुराणके संग्रहमें श्री अभिनन्दनस्वामीका पुराण वर्णन करनेवाला पचासवाँ पर्व पूर्ण हुआ ।

---

१ पुण्यमयी ।

एकपञ्चाशत्तमं पर्व

लक्ष्मीरनश्वरी तेषां येषां [1]तस्य मते[2] मतिः । देयादादेयवाक्[3] सन्निः सोऽस्मभ्यं सुमतिर्मतिम् ॥ १ ॥
अखण्डे धातकीखण्डे मन्दरे प्राचि पूर्वगे । विदेहे नद्युदक्कूले सुराष्ट्रं पुष्कलावती ॥ २ ॥
पुरेऽस्मिन् पुण्डरीकिण्यां रतिषेणो महीपतिः । प्राग्जन्मोपार्जितोदीर्णपुण्यपण्यात्मसात्कृतम् ॥ ३ ॥
राज्यं विनिर्जिताराति निःकोपं नित्यवृद्धिकम् । स्वामिसम्पत्समेतः सन्नीत्या [4]निर्व्यसनोऽन्वभूत् ॥ ४ ॥
[5]या स्वस्यैवास्य सा विद्या चतुर्थी न प्रयोगिणी । यदेकस्यापि दण्डेषु वर्तन्ते न पथि प्रजाः ॥ ५ ॥
रक्तस्य मनसा तृप्तिः कामः करणगोचरे । स्वेष्टाशेषार्थसम्पत्तेः कामस्तस्य न दुर्लभः ॥ ६ ॥
अर्थे चतुष्टयी वृत्तिरर्जनादि यथागमम् । देवोऽर्हन्नर्थधर्मौ च तदनीपद्वभौ मतौ ॥ ७ ॥
गच्छत्येवं चिरं काले हेलया पालितक्षितेः । परस्परानुकूल्येन धर्मार्थत्रयवर्धिनः ॥ ८ ॥
जन्तोः किं कुशलं कस्मात्सुखमेषोऽधितिष्ठति । पर्यायावर्तदुर्जन्मदुर्मृत्यूरगदूरगः ॥ ९ ॥
न तावदर्थकामाभ्यां सुखं संसारवर्द्धनात् । नामुष्मादपि मे धर्मात्तस्मात्सावद्यसम्भवः ॥ १० ॥

अथानन्तर जो लोग सुमतिनाथकी बुद्धिको ही बुद्धि मानते हैं अथवा उनके द्वारा प्रतिपादित मतमें ही जिनकी बुद्धि प्रवृत्त रहती है उन्हें अविनाशी लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। इसके सिवाय जिनके वचन सज्जन पुरुषोंके द्वारा ग्राह्य हैं ऐसे सुमतिनाथ भगवान् हम सबके लिए सद्बुद्धि प्रदान करें ॥ १ ॥ अखण्ड धातकीखण्ड द्वीपमें पूर्व मेरुपर्वतसे पूर्वकी ओर स्थित विदेह क्षेत्रमें सीता नदीके उत्तर तट पर एक पुष्कलावती नामका उत्तम देश है ॥ २ ॥ उसकी पुण्डरीकिणी नगरीमें रतिषेण नामका राजा था। वह राजा राज-सम्पदाओंसे सहित था, उसे किसी प्रकारका व्यसन नहीं था और पूर्व भागमें उपार्जित विशाल पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुए राज्यका नीति-पूर्वक उपभोग करता था। उसका वह राज्य शत्रुओं से रहित था, क्रोधके कारणोंसे रहित था और निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होता रहता था ॥ ३-४ ॥ राजा रतिषेणकी जो राजविद्या थी वह उसी की थी वैसी राजविद्या अन्य राजाओंमें नहीं पाई जाती थी। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड इन चारों विद्याओंमें चौथी दण्डावद्याका वह कभी प्रयोग नहीं करता था क्योंकि उसकी प्रजा प्राणदण्ड आदि अनेक दण्डोंमेंसे किसी एक भी दण्डके मार्गमें नहीं जाती थी ॥ ५ ॥ इन्द्रियोंके विषयमें अनुराग रखनेवाले मनुष्यको जो मानसिक तृप्ति होती है उसे काम कहते हैं। वह काम, अपने इष्ट समस्त पदार्थोंकी संपत्ति रहनेसे राजा रतिषेणको कुछ भी दुर्लभ नहीं था ॥ ६ ॥ वह राजा अर्जन, रक्षण, वर्धन और व्यय इन चारों उपायोंसे धन संचय करता था और आगमके अनुसार अर्हन्त भगवान्को ही देव मानता था। इस प्रकार अर्थ और धर्मको वह कामकी अपेक्षा सुलभ नहीं मानता था अर्थात् कामकी अपेक्षा अर्थ तथा धर्म पुरुषार्थका अधिक सेवन करता था ॥ ७ ॥ इस प्रकार लीलापूर्वक पृथिवीका पालन करनेवाले और परस्परकी अनुकूलतासे धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्गकी वृद्धि करनेवाले राजा रतिषेणका जब बहुत-सा समय व्यतीत हो गया तब एक दिन उसके हृदयमें निम्नाङ्कित विचार उत्पन्न हुआ ॥ ८ ॥ वह विचार करने लगा कि इस संसारमें जीवका कल्याण करनेवाला क्या है? और पर्यायरूपी भँवरोंमें रहनेवाले दुर्जन्म तथा दुर्मरण रूपी सर्पोंसे दूर रहकर यह जीव सुखको किस प्रकार प्राप्त कर सकता है? अर्थ और कामसे तो सुख हो नहीं सकता क्योंकि उनसे संसारकी ही वृद्धि होती है। रहा धर्म, सो जिस धर्ममें पापकी संभावना है उस धर्मसे भी सुख नहीं हो

---

१ यस्य क०, ख०, ग०, घ० । २ मतिर्मतम् क०, ग० । ३ वाक्सिद्धिः ग० । ४ निर्व्यसनन्वभूत् ख० । ५ या स्वस्येष्टा च सा विद्या ग० ।

निःसावद्योऽस्ति धर्मोऽन्यस्ततः सुखमनुत्तमम्[1] । इत्युदर्को वितर्कोऽस्य विरक्तस्याभवत्ततः ॥ ११ ॥
राज्यस्य दुर्भरं भारं निवेश्यातिरथे [2]तुजि । [3]सुभरं तपसो भारं बभार स भवान्तकृत् ॥ १२ ॥
जिनार्हन्नन्दनाभ्यासे विदितैकादशाङ्गकः । उदासीनः स्वदेहेऽपि मोहारातिजयेच्छया ॥ १३ ॥
यतोऽभीष्टार्थसंसिद्धिस्तच्चरन्ति सुमेधसः । श्रद्धानविनयाद्युक्तकारणोपात्ततीर्थकृत् ॥ १४ ॥
प्रान्ते संन्यस्य बद्ध्वायुरुत्कृष्टमहमिन्द्रताम् । [4]वैजयन्तेऽत्र सम्प्रापदेकारत्निशरीरकः ॥ १५ ॥
मासैः षोडशभिः पञ्चदशभिश्च दिनैः श्वसन् । त्रयस्त्रिंशत्सहस्राब्दैरन्धो[5] मानसमाहरत् ॥ १६ ॥
शुक्ललेश्यः स्वतेजोऽवधीतविष्टपनालिकः । तत्क्षेत्रविक्रियद्धीशस्तदुद्धारिबलान्वितः ॥ १७ ॥
आहमिन्द्रं सुखं मुख्यमद्विनामाजवंजवे । निर्द्वन्द्वं निःप्रवीचारं चिरं नीरागमाप्तवत् ॥ १८ ॥
आयुरन्ते समाधानात्तस्मिन्नत्रागमिष्यति । द्वीपेऽस्मिन् भारते वर्षे साकेते वृषभान्वये ॥ १९ ॥
तद्भोगे क्षत्रियोऽस्तारिः श्लाघ्यो मेघरथोऽभवत् । मङ्गलाऽस्य महादेवी वसुधारादिपूजिता ॥ २० ॥
मघायां श्रावणे मासि दृष्ट्वा स्वप्नान् गजादिकान् । आस्यं सितद्वितीयायामैक्षिष्टागामुकं द्विपम् ॥ २१ ॥
तत्फलान्यवबुध्यात्मपतेः सम्प्राप्य सम्मदम् । नवमे मासि चित्रायां सज्ज्योत्स्नैकादशीदिने ॥ २२ ॥
त्रिज्ञानधारिणं दिव्यं पितृयोगे सतां पतिम् । जगत्त्रयस्य भर्तारमहमिन्द्रमलब्ध सा ॥ २३ ॥
देवेन्द्रास्तं सदा नीत्वा मेरौ [6]जन्मसवोत्सवम् । कृत्वा सुमतिसञ्ज्ञां च पुनस्तद्गेहमानयन् ॥ २४ ॥

सकता। हां, पापरहित एक मुनिधर्म है उसीसे इस जीवको उत्तम सुख प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार विरक्त राजाके हृदयमें उत्तम फल देनेवाला विचार उत्पन्न हुआ। [illegible] का अन्त करनेवाले राजा रतिषेणने राज्यका भारी भार अपने अतिरथ नामक पुत्रके लिए सौंप कर तपका हलका भार धारण कर लिया ॥ १२ ॥ उसने अर्हन्नन्दन जिनेन्द्रके समीप दीक्षा धारण की, ग्यारह अङ्गोंका अध्ययन किया और मोह-शत्रुको जीतनेकी इच्छासे अपने शरीरमें भी ममता छोड़ दी ॥ १३ ॥ उसने दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता आदि कारणोंसे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया सो ठीक ही है क्योंकि जिससे अभीष्ट पदार्थकी सिद्धि होती है बुद्धिमान् पुरुष वैसा ही आचरण करते हैं ॥ १४ ॥ उसने अन्त समयमें संन्यासमरण कर उत्कृष्ट आयुका बन्ध किया तथा वैजयन्त विमानमें अहमिन्द्र पद प्राप्त किया। वहां उसका एक हाथ ऊँचा शरीर था। वह सोलह माह तथा पन्द्रह दिनमें एक बार श्वास लेता था, तैंतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार ग्रहण करता था, शुक्ललेश्याका धारक था, अपने तेज तथा अवधिज्ञानसे लोकनाडीको व्याप्त करता था, उतनी ही दूर तक विक्रिया कर सकता था, और लोकनाडी उखाड़ कर फेंकनेकी शक्ति रखता था ॥ १५–१७ ॥ इस संसारमें अहमिन्द्रका सुख ही मुख्य सुख है, वही निर्द्वन्द है, प्रवीचारसे रहित है और रागसे शून्य है। अहमिन्द्रका सुख राजा रतिषेणके जीवको प्राप्त हुआ था ॥ १८ ॥ आयुके अन्तमें समाधिमरण कर जब वह अहमिन्द्र यहाँ अवतार लेनेको हुआ तब इस जम्बूद्वीप-सम्बन्धी भरत-क्षेत्रकी अयोध्यानगरीमें मेघरथ नामका राजा राज्य करता था। वह भगवान् वृषभदेवके वंश तथा गोत्रमें उत्पन्न हुआ था, क्षत्रिय था, शत्रुओंसे रहित था और अतिशय प्रशंसनीय था। मङ्गला उसकी पट्टरानी थी जो रत्नवृष्टि आदि अतिशयोंसे सन्मानको प्राप्त थी ॥ १९–२० ॥ उसने श्रावणशुक्ल द्वितीयाके दिन मघा नक्षत्रमें हाथी आदि सोलह स्वप्न देखकर अपने मुखमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। उसी समय वह अहमिन्द्र रानीके गर्भमें आया ॥ २१ ॥ अपने पतिसे स्वप्नोंका फल जानकर रानी बहुत ही हर्षित हुई। तदनन्तर नौवें चैत्र माहके शुक्लपक्षकी एकादशीके दिन चित्रा नक्षत्र तथा पितृ योगमें उसने तीन ज्ञानके धारक, सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ और त्रिभुवनके भर्ता उस अहमिन्द्रके जीवको उत्पन्न किया ॥ २२–२३ ॥ सदाकी भांति इन्द्र लोग जिन-बालकको सुमेरु पर्वत

१–मनुत्तरम् क०, घ०। २ पुत्रे 'तुक् तोकं चात्मजः प्रजा' इति कोशः। ३ सुचिरम् ख०, ग०। ४ वैजयन्ते तु ख०। ५ भोजनम्। ६ जन्मोत्सवोत्सवम् क०, घ०। जन्ममहोत्सवम् ख०।

नवलक्षाब्धिकोटीषु प्रयातेऽनन्तरेऽन्तरे[1] । तदभ्यन्तरवर्त्यायुरुदपाद्युतितोदयः[2] ॥ २५ ॥
शून्यषड्वार्धिपूर्वायुः शरासत्रिंशतोच्छ्रितिः[3] । सन्तप्ततपनीयाभः स्वभावसुभगाकृतिः ॥ २६ ॥
शैशवोचितसर्वार्थैर्देवानीतैः सदैधितुः[4] । अंशवो वा शिशोरिन्दोर्व्यक्त्यास्यावयवा बभुः ॥ २७ ॥
तनवः कुञ्चिताः स्निग्धाः मूर्धजाजाम्बवत्विषः । मुखपङ्कजमाशङ्क्य मिलिता वास्य षट्पदाः ॥ २८ ॥
मया त्रैलोक्यराज्यस्य स्नपनान्ते सुरोत्तमैः । पट्टोऽलम्भीति [5]वास्याधाल्ललाटतटमुन्नतिम् ॥ २९ ॥
कर्णौ लक्षणसम्पूर्णौ नास्य त्रिज्ञानधारिणः । पञ्चवर्षोर्ध्वशिष्यत्वपरिभूतिं प्रतेनतुः ॥ ३० ॥
सुभ्रुवो न भ्रुवोर्वाच्यो विभ्रमोऽस्य पृथग्विदाम् । भ्रूक्षेपमात्रदत्तार्थसार्थसन्तर्पितार्थिनः ॥ ३१ ॥
नेत्रे विलासिनी स्निग्धे त्रिवर्णे तस्य रेजतुः । इष्टाखिलार्थसम्प्रेक्षासुखपर्यन्तगामिनी ॥ ३२ ॥
मया विनाऽऽस्यशोभा[6] स्यान्नेत्यसौ नासिका, स्मयम् । उन्नता दधतीवाभाद्वक्त्राब्जामोदपायिनी ॥३३॥
लक्ष्म्यौ कपोललक्ष्म्या वक्षःस्थलसमाश्रितेः[7] । उत्तमाङ्गाश्रयाद् द्वित्वात् जित्वयौं वास्य रेजतुः ॥३४॥
जित्वास्य कुन्दसौन्दर्यं द्विजराजिर्व्यराजत । वक्त्राब्जवाससन्तुष्टा सहासेव सरस्वती ॥ ३५ ॥
नाधरस्याधराख्या[8] स्यात्सप्तमास्वादशालिनः । अधरीकृतविश्वामराधरस्याद्विशोभिनः ॥ ३६ ॥
नालप्यते लपस्यास्य शोभा वाग्वल्लभोज्ज्वला । यदि दिव्यो ध्वनिर्विश्ववाचकोऽस्माद्विनिःसृताः ॥ ३७ ॥

पर ले गये, वहां उन्होंने जन्माभिषेक-सम्बन्धी उत्सव किया, सुमति नाम रक्खा और फिर घर वापिस ले आये ॥ २४ ॥ अभिनन्दन स्वामीके बाद नौ लाख करोड़ सागर बीत जानेपर उत्कृष्ट पुण्यको धारण करनेवाले भगवान् सुमतिनाथ उत्पन्न हुए थे। उनकी आयु भी इसी समयमें शामिल थी ॥ २५ ॥ इनकी आयु चालीस लाख पूर्वकी थी, शरीरकी ऊंचाई तीन सौ धनुष थी, तपाये हुए सुवर्णके समान उनकी कान्ति थी, और आकार स्वभावसे ही सुन्दर था ॥ २६ ॥ वे देवोंके द्वारा लाये हुए बाल्यकालके योग्य समस्त पदार्थोंसे वृद्धिको प्राप्त होते थे। उनके शरीरके अवयव ऐसे जान पड़ते थे मानो चन्द्रमाकी किरणें ही हों ॥ २७ ॥ उनके पतले, टेढ़े, चिकने तथा जामुनके समान कान्ति वाले शिरके केश ऐसे जान पड़ते थे मानो मुखमें कमलकी आशंका कर भौंरे ही इकट्ठे हुए हों ॥ २८ ॥ मैंने देवोंके द्वारा अभिषेकके बाद तीन लोकके राज्यका पट्ट प्राप्त किया है। यह सोच कर ही मानो उनका ललाटतट ऊंचाईको प्राप्त हुआ था ॥ २९ ॥ तीन ज्ञानको धारण करनेवाले भगवान्के कान सब लक्षणोंसे युक्त थे और पांच वर्षके बाद भी उन्होंने किसीके शिष्य बननेका तिरस्कार नहीं प्राप्त किया था ॥ ३० ॥ उनकी भौंहें बड़ी ही सुन्दर थीं, भौंहोंके संकेत मात्रसे दिये हुए धन-समूहसे उन्होंने याचकोंको संतुष्ट कर दिया था अतः उनकी भौंहोंकी शोभा बड़े-बड़े विद्वानों के द्वारा भी नहीं कही जा सकती थी ॥ ३१ ॥ समस्त इष्ट पदार्थोंके देखनेसे उत्पन्न होनेवाले अपरिमित सुखको प्राप्त हुए उनके दोनों नेत्र विलास पूर्ण थे, स्नेहसे भरे थे, शुक्ल कृष्ण और लाल इस प्रकार तीन वर्ण के थे तथा अत्यन्त सुशोभित होते थे ॥ ३२ ॥ मुख-कमलकी सुगन्धिका पान करनेवाली उनकी नाक, 'मेरे बिना मुखकी शोभा नहीं हो सकती' इस बातका अहंकार धारण करती हुई ही मानो ऊंची उठ रही थी ॥ ३३ ॥ उनके दोनों कपोलोंकी लक्ष्मी उत्तमाङ्ग अर्थात् मस्तकका आश्रय होने तथा संख्यामें दो होनेके कारण वक्षःस्थल पर रहनेवाली लक्ष्मीको जीतती हुई-सी शोभित हो रही थी ॥३४॥ उनके दांतोंकी पंक्ति कुन्द पुष्पके सौन्दर्यको जीतकर ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो मुख कमलमें निवास करनेसे संतुष्ट हो हँसती हुई सरस्वती ही हो ॥३५॥ जिन्होंने समस्त देवोंको तिरस्कृत कर दिया है, सुमेरु पर्वतकी शोभा बढ़ाई है और छह रसोंके सिवाय सप्तम अलौकिक रसके आस्वादसे सुशोभित हैं ऐसे उनके अधरों (ओठों) की अधर (तुच्छ) संज्ञा नहीं थी ॥३६॥ जिससे समस्त पदार्थोंका उल्लेख करनेवाली दिव्यध्वनि प्रकट हुई है ऐसे उनके मुखकी शोभा तो कही ही

---

१ प्रयातेऽनन्तरान्तरे ग०, क० । २ द्युतितोदितः क०, ख०, ग० । द्युतितोदितम् घ० । ३ त्रिंशतोच्छ्रितः क०, घ० । ४ सदैव च ग० । ५ वास्यागाल्ललाट-ख०, ग० । ६ आस्यशोभा–मुखशोभा । ७–मश्रितः ल० । ८–धराख्यस्य क०, ख०, ग०, घ० ।

[1]हावो वक्त्राब्जस्यास्य किं पुनर्वर्ण्यतेतराम् । यदि लोलालितां जग्मुर्निलिम्पेशाः सवल्लभाः ॥ ३८ ॥
कण्ठस्य कः स्तवोऽस्य स्याद्यदि त्रैलोक्यकण्ठिका । बद्धामरेशैः स्याद्वादकुण्ठिताखिलवादिनः ॥ ३९ ॥
तद्बाहुशिखरे मन्ये शिरसोऽप्यतिलङ्घिनी । वक्षःस्थलनिवासिन्या लक्ष्म्याः क्रीडाचलायते ॥ ४० ॥
धरालक्ष्मीं समाहर्तुं [2]वीरलक्ष्मीप्रसारितौ । भ्राजेते जयिनस्तस्य भुजावाजानुलम्बिनौ ॥ ४१ ॥
पृथक् पृथक्त्वं नाख्येयं रम्यत्वं वास्य वक्षसः । मोक्षाभ्युदयलक्ष्म्यौ चेत्तदेवावसतः समम् ॥ ४२ ॥
कृशमप्यकृशं मध्यं लक्ष्मीद्वयसमाश्रितम् । ऊर्ध्वदेहं महाभारं वहदेतस्य हेलया ॥ ४३ ॥
नाभिः प्रदक्षिणावर्ता गम्भीरेति न कथ्यते । सा चेन्न तादृशी तस्मिन्न स्यादेवं सुलक्षणा ॥ ४४ ॥
रूपशोभां विना नेमः[3] [4]स्वाश्रयादिति वाणवः । सन्तः सर्वेऽपि तत्रासन् रम्यस्तत्र कटीतटः ॥ ४५ ॥
रम्भास्तम्भादयोऽन्येषामूर्वोर्यान्त्युपमानताम् । उपमेयास्तदूरुभ्यां ते वृत्तत्वादिभिर्गुणैः ॥ ४६ ॥
कुतो जानुक्रियेत्येतद् वेद्मि नान्येषु वेधसः । चेदस्मिन्नूरुजङ्घानां शोभास्पर्द्धानि[5]वृत्तये ॥ ४७ ॥
वज्रेण घटिते जङ्घे वेधसाऽस्यान्यथा कथम् । जगत्त्रयगुरोर्भारं बिभ्राते ते तनोस्तनू ॥ ४८ ॥
धरेयं सर्वभावेन लग्नाऽस्मत्तलयोरिति । तत्क्रमौ प्रमदेनेव कूर्मपृष्ठौ शुभच्छवी ॥ ४९ ॥
इयन्तोऽस्मिन् भविष्यन्ति धर्माः कर्मनिबर्हणाः । इत्याख्यातुमिवाभान्ति विधिनाङ्गुलयः कृताः ॥५०॥

नहीं जा सकती। उनके मुखकी शोभा वचनोंसे प्रिय तथा उज्ज्वल थी अथवा वचनरूपी वल्लभा—सरस्वतीसे देदीप्यमान थी ॥ ३७ ॥ जब कि अपनी-अपनी वल्लभाओंसे सहित देवेन्द्र भी उस पर सतृष्ण भ्रमर जैसी अवस्थाको प्राप्त हो गये थे तब उनके मुख-कमलके हावका क्या वर्णन किया जावे ? ॥ ३८ ॥ जिन्होंने स्याद्वाद सिद्धान्तसे समस्त वादियोंको कुण्ठित कर दिया है ऐसे भगवान् सुमतिनाथके कण्ठमें जब इन्द्रोंने तीन लोकके अधिपतित्वकी कण्ठी बाँध रक्खी थी तब उसकी क्या प्रशंसा की जावे ? ॥ ३९ ॥ शिरसे भी ऊँचे उठे हुए उनकी भुजाओंके शिखर ऐसे जान पड़ते थे मानो वक्षःस्थल पर रहने वाली लक्ष्मीके क्रीड़ा-पर्वत ही हों ॥ ४० ॥ घुटनों तक लटकने वाली विजयी सुमतिनाथकी भुजाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो पृथिवीकी लक्ष्मीको हरण करनेके लिए वीर-लक्ष्मीने ही अपनी भुजाएँ फैलाई हों ॥ ४१ ॥ उनके वक्षःस्थलकी शोभाका पृथक्-पृथक् वर्णन कैसे किया जा सकता है जब कि उस पर मोक्षलक्ष्मी और अभ्युदयलक्ष्मी साथ ही साथ निवास करती थीं ॥ ४२ ॥ उनका मध्यभाग कृश होने पर भी कृश नहीं था क्योंकि वह मोक्षलक्ष्मी और अभ्युदय-लक्ष्मीसे युक्त उनके भारी शरीरको लीलापूर्वक धारण कर रहा था ॥ ४३ ॥ उनकी आवर्तके समान गोल नाभि गहरी थी यह कहनेकी आवश्यकता नहीं क्योंकि यदि वह वैसी नहीं होती तो उनके शरीरमें अच्छी ही नहीं जान पड़ती ॥ ४४ ॥ समस्त अच्छे परमाणुओंने विचार किया—हम किसी अच्छे आश्रयके विना रूप तथा शोभाको प्राप्त नहीं हो सकते ऐसा विचार कर ही समस्त अच्छे परमाणु उनकी कमर पर आ कर स्थित हो गये थे और इसीलिए उनकी कमर अत्यन्त सुन्दर हो गई थी ॥ ४५ ॥ केलेके स्तम्भ आदि पदार्थ अन्य मनुष्योंकी जांघोंकी उपमानताको भले ही प्राप्त हो जावें परन्तु भगवान् सुमतिनाथके जांघोंके सामने वे गोलाई आदि गुणोंसे उपमेय ही बने रहते थे ॥ ४६ ॥ विधाताने उनके सुन्दर घुटने किसलिए बनाये थे यह बात मैं ही जानता हूँ अन्य लोग नहीं जानते और वह बात यह है कि इनकी ऊरुओं तथा जंघाओंमें शोभासम्बन्धी ईर्ष्या न हो इस विचार सेही बीचमें घुटने बनाये थे ॥ ४७ ॥ विधाताने उनकी जंघाएँ वज्रसे बनाई थीं, यदि ऐसा न होता तो वे कृश होने पर भी त्रिभुवनके गुरु अथवा त्रिभुवनमें सबसे भारी उनके शरीरके भारको कैसे धारण करतीं ॥ ४८ ॥ यह पृथिवी संपूर्ण रूपसे हमारे तलवोंके नीचे आकर लग गई है यह सोचकर ही मानो उनके दोनों पैर हर्षसे कछुवेकी पीठके समान शुभ कान्तिके धारक हो गये थे ॥ ४९ ॥ इन भगवान सुमतिनाथमें कर्मोंको नष्ट करनेवाले इतने धर्म प्रकट होंगे यह कहनेके लिए

---

१ मुखस्य । अयं श्लोकः घ० पुस्तके नास्ति । २ वीरलक्ष्म्या ख०, ग० । ३ नैमः ग० । रूपशोभा-वितानेन ख० । ४ सुष्ठु आश्रयः स्वाश्रयः तस्मात् । ५ निषिद्धये ल० ।

विधाय दशधाऽऽत्मानं विधुरद्धी निषेवते । कान्तिमाप्यां परं प्राप्तुमित्याशङ्कावहा नखाः ॥ ५१ ॥
एवं सर्वाङ्गशोभास्य लक्षणैर्व्यञ्जनैः शुभा । स्वीकरिष्यति मुक्त्यङ्गनां वेत्यत्र न संशयः ॥ ५२ ॥
कौमारमिति रूपेण सन्धरो रामणीयकम् । अनाप्तयौवनस्यास्य तद्विनापि मनोभवात् ॥ ५३ ॥
ततो यौवनमालम्ब्य कामोऽप्यस्मिन् कृतास्पदः । सम्प्राप्य साधवः स्थानं नाधितिष्ठन्ति के स्वयम् ॥५४॥
कुमारकाले पूर्वाणां दशलक्षेषु निष्ठिते । भुञ्जन् स्वर्लोकसाम्राज्यं नृराज्यं चाप स क्रमात् ॥ ५५ ॥
न हिंसा न मृषा तस्य स्तेयसंरक्षणे न च । स्वप्नेऽपि तद्गतानन्दः शुक्ललेश्यस्य केन सः ॥ ५६ ॥
तथा नानिष्टसंयोगो वियोगो नेष्टवस्तुनि । नासातं न निदानं च तत्सङ्क्लेशो न तद्गतः ॥ ५७ ॥
गुणानां वृद्धिमातन्वन् सञ्चयं पुण्यकर्मणाम् । विपाकं विश्वपुण्यानां गुणपुण्यसुखात्मकः ॥ ५८ ॥
सेव्यमानः सदा रक्तैः सुरखचरभूचरैः । निराकृतौहकारम्भः सम्भृतः सर्वसम्पदाम् ॥ ५९ ॥
निश्चितं कामभोगेषु नित्यं नृसुरभाविषु । न्याय्यार्थपथ्यधर्मेषु [1]शर्मसारं समाप सः ॥ ६० ॥
कान्ताभिः कमनीयाभिः सवयोभिः समीप्सुभिः । दिव्याङ्गरागवस्त्रस्रग्भूषाभी रमते स्म सः ॥ ६१ ॥
दिव्यश्रीर्मानुषी च श्रीः समप्रेमप्रतोषिते । सुखं विदधतुस्तस्य मध्यस्थः कस्य न प्रियः ॥ ६२ ॥
सुखं नाम तदेवात्र यदस्येन्द्रियगोचरम् । स्वर्वन्यसारभोग्यं चेत्सुरेशास्यैव रक्षितम् ॥ ६३ ॥
एवं सङ्गमयन् कालं दिव्यराज्यश्रियोर्द्वये । व्यरंसीत् संसृतेः सा हि प्रत्यासन्नविनेयता ॥ ६४ ॥

ही मानो विधाताने उनकी दश अंगुलियाँ बनाई थीं ॥ ५० ॥ उनके चरणोंके नख ऐसी शङ्का उत्पन्न करते थे कि मानो उनसे श्रेष्ठ कान्ति प्राप्त करनेके लिए ही चन्द्रमा दश रूप बनाकर उनके चरणोंकी सेवा करता था ॥ ५१ ॥ इस प्रकार लक्षणों तथा व्यञ्जनोंसे सुशोभित उनके सर्व शरीरकी शोभा मुक्तिरूपी स्त्रीको स्वीकृत करेगी इसमें कुछ भी संशय नहीं था ॥ ५२ ॥ इस प्रकार भगवान्की कुमार अवस्था स्वभावसे ही सुन्दरता धारण कर रही थी, यद्यपि उस समय उन्हें यौवन नहीं प्राप्त हुआ था तो भी वे कामदेवके बिना ही अधिक सुन्दर थे ॥ ५३ ॥ तदनन्तर यौवन प्राप्त कर कामदेवने भी उनमें अपना स्थान बना लिया सो ठीक ही है क्योंकि ऐसे कौन सत्पुरुष हैं जो स्थान पाकर स्वयं नहीं ठहर जाते ॥ ५४ ॥

इस प्रकार क्रम-क्रमसे जब उनके कुमार-कालके दश लाख पूर्व बीत चुके तब उन्हें स्वर्गलोकके साम्राज्यका तिरस्कार करनेवाला मनुष्योंका साम्राज्य प्राप्त हुआ ॥ ५५ ॥ शुक्ललेश्याको धारण करनेवाले भगवान् सुमतिनाथ न कभी हिंसा करते थे, न झूठ बोलते थे और न चोरी तथा परिग्रह सम्बन्धी आनन्द उन्हें स्वप्नमें भी कभी प्राप्त होता था। भावार्थ—वे हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द और परिग्रहानन्द इन चारों रौद्रध्यानसे रहित थे ॥ ५६ ॥ उन्हें न कभी अनिष्ट-संयोग होता था, न कभी इष्ट-वियोग होता था, न कभी वेदनाजन्य दुःख होता था और न वे कभी निदान ही करते थे। इस प्रकार वे चारों आर्तध्यानसम्बन्धी संक्लेशसे रहित थे ॥ ५७ ॥ गुण, पुण्य और सुखोंको धारण करनेवाले भगवान् अनेक गुणोंकी वृद्धि करते थे, नवीन पुण्य कर्मका संचय करते थे और पुरातन समस्त पुण्य कर्मोंके विपाकका अनुभव करते थे ॥ ५८ ॥ अनुरागसे भरे हुए देव, विद्याधर और भूमिगोचरी मानव सदा उनकी सेवा किया करते थे, उन्होंने इस लोकसम्बन्धी समस्त आरम्भ दूर कर दिये थे, और वे सर्व सम्पदाओंसे परिपूर्ण थे ॥ ५९ ॥ वे मनुष्य तथा देवोंमें होनेवाले काम-भोगोंमें, न्यायपूर्ण अर्थमें तथा हितकारी धर्ममें श्रेष्ठ सुखको प्राप्त हुए थे ॥ ६० ॥ वे दिव्य अङ्गराग, माला, वस्त्र और आभूषणोंसे सुशोभित, सुन्दर, समान अवस्थावाली तथा स्वेच्छासे प्राप्त हुई स्त्रियोंके साथ रमण करते थे ॥ ६१ ॥ समान प्रेमसे संतोषित दिव्य लक्ष्मी और मानुष्य लक्ष्मी दोनों ही उन्हें सुख पहुँचाती थीं सो ठीक ही है क्योंकि मध्यस्थ मनुष्य किसे प्यारा नहीं होता ? ॥ ६२ ॥ संसारमें सुख वही था जो इनके इन्द्रियगोचर था, क्योंकि स्वर्गमें भी जो सारभूत वस्तु थी उसे इन्द्र इन्हींके लिए सुरक्षित रखता था ॥ ६३ ॥ इस प्रकार दिव्य लक्ष्मी और राज्य-

---

१ धर्मसारं ग० ।

[1]सुधीः कथं सुखांशेप्सुविषयामिषगृद्धिमान् । न पापबडिशं पश्येन्न चेदनिमि[2]षायते ॥ ६५ ॥
मूढः प्राणी परां प्रौढिमप्राप्तोऽस्त्वहिताहितः[3] । अहितेनाहितोऽहं च कथं बोधत्रयाहितः ॥ ६६ ॥
निरङ्कुशं न वैराग्यं यादृग्ज्ञानं च तादृशम् । कुतः स्यादात्मनः स्वास्थ्यमस्वस्थस्य कुतः सुखम् ॥ ६७ ॥
खपञ्चकनवद्वयुक्तैः पूर्वैः राज्येऽवसाधिते । सह द्वादशपूर्वाङ्गैः स्वस्मिन्नेवेत्यचिन्तयत् ॥ ६८ ॥
स्तुतस्तदैव संस्तोत्रैः सर्वैः सारस्वतादिभिः । अभिषेकं सुरैराप्य देवोढाभययानकः ॥ ६९ ॥
दीक्षां षष्ठोपवासेन सहेतुकवनेऽगृहीत् । सिते राज्ञां सहस्रेण सुमतिर्नवमीदिने ॥ ७० ॥
मघाशशिनि वैशाखे पूर्वाह्णे संयमाश्रयात्[4] । तदैवादितदस्य मनःपर्ययसञ्ज्ञकम् ॥ ७१ ॥
पुरं सौमनसं नाम भिक्षायै पश्चिमे दिने । प्राप्तं[5] प्रतीक्ष्य पद्मोऽगात्पूजां द्युम्नद्युतिर्नृपः ॥ ७२ ॥
सामायिकं समादाय समौनः शान्तकल्मषः । तपस्तेपे समाधानात्सहिष्णुर्दुस्सहं, परैः ॥ ७३ ॥
विंशतिं वत्सरान्नीत्वा छद्मस्थः प्राक्तने वने । प्रियङ्गुभूरुहोऽधस्तादुपवासद्वयं श्रितः ॥ ७४ ॥
मघायां चैत्रमासस्य धवलैकादशीदिने । पश्चिमाभिमुखे भानौ कैवल्यमुदयादयत्[6] ॥ ७५ ॥
सुरैः सम्प्राप्ततत्पूजो गणेशैश्चामरादिभिः । स सप्तर्द्धिभिरभ्यर्च्यः सषोडशशतोन्मुखैः ॥ ७६ ॥
शून्यद्वयचतुःपक्षमितपूर्वधरानुगः । खपञ्चत्रिचतुःपञ्चपक्षोक्तैः[7] शिक्षकैर्युतः ॥ ७७ ॥

लक्ष्मी इन दोनोंमें समय व्यतीत करते हुए भगवान् सुमतिनाथ संसारसे विरक्त हो गये सो ठीक ही है क्योंकि निकट भव्यपना इसीको कहते हैं ॥ ६४ ॥ भगवान्ने विचार किया कि अल्प सुखकी इच्छा रखनेवाले बुद्धिमान् मानव, इस विषयरूपी मांसमें क्यों लम्पट हो रहे हैं। यदि ये संसार के प्राणी मछलीके समान आचरण न करें तो इन्हें पापरूपी बंसीका साक्षात्कार न करना पड़े ॥ ६५ ॥ जो परम चातुर्यको प्राप्त नहीं है ऐसा मूर्ख प्राणी भले ही अहितकारी कार्योंमें लीन रहे परन्तु मैं तो तीन ज्ञानोंसे सहित हूँ फिर भी अहितकारी कार्योंमें कैसे लीन हो गया ? ॥ ६६ ॥ जब तक यथेष्ट वैराग्य नहीं होता और यथेष्ट सम्यग्ज्ञान नहीं होता तब तक आत्माकी स्वस्वरूपमें स्थिरता कैसे हो सकती है ? और जिसके स्वस्वरूपमें स्थिरता नहीं है उसके सुख कैसे हो सकता है ? ॥ ६७ ॥ राज्य करते हुए जब उन्हें उन्तीस लाख पूर्व और बारह पूर्वाङ्ग बीत चुके तब अपनी आत्मामें उन्होंने पूर्वोक्त विचार किया ॥ ६८ ॥ उसी समय सारस्वत आदि समस्त लौकान्तिक देवोंने अच्छे-अच्छे स्तोत्रों द्वारा उनकी स्तुति की, देवोंने उनका अभिषेक किया और उन्होंने उनकी अभय नामक पालकी उठाई ॥ ६९ ॥ इस प्रकार भगवान् सुमतिनाथने वैशाख सुदी नवमीके दिन मघा नक्षत्रमें प्रातःकालके समय सहेतुक वनमें एक हजार राजाओंके साथ बेलाका नियम लेकर दीक्षा धारण कर ली। संयमके प्रभावसे उसी समय मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया ॥७०-७१॥ दूसरे दिन वे भिक्षाके लिए सौमनस नामक नगरमें गये। वहाँ सुवर्णके समान कान्तिके धारक पद्म-राजाने पड़गाह कर आहार दिया तथा स्वयं प्रतिष्ठा प्राप्त की ॥ ७२ ॥ उन्होंने सर्वपापकी निवृत्ति रूप सामायिक संयम धारण किया था, वे मौनसे रहते थे, उनके समस्त पाप शान्त हो चुके थे, वे अत्यन्त सहिष्णु—सहनशील थे और जिसे दूसरे लोग नहीं सह सकते ऐसे तपको बड़ी सावधानीके साथ तपते थे ॥ ७३ ॥ उन्होंने छद्मस्थ रहकर बीस वर्ष बिताये। तदनन्तर उसी सहेतुक वनमें प्रियङ्गु वृक्षके नीचे दो दिनका उपवास लेकर योग धारण किया ॥ ७४ ॥ और चैत्र शुक्ल एकादशीके दिन जब सूर्य पश्चिम दिशाकी ओर ढल रहा था तब केवलज्ञान उत्पन्न किया ॥ ७५ ॥ देवोंने उनके ज्ञान-कल्याणककी पूजा की। सप्त ऋद्धियोंके धारक अमर आदि एक सौ सोलह गणधर निरन्तर सम्मुख रह कर उनकी पूजा करते थे, दो हजार चार सौ पूर्वधारी निरन्तर उनके साथ

---

१ अयं श्लोकः ब० पुस्तके नास्ति। २ अनिमिषो मत्स्यस्तद्वदाचरतीति–अनिमिषायते 'पाठीनोऽनिमिष-स्तिमिः' इति धनञ्जयः। ३ परां प्रौढिं विज्ञतामप्राप्तो मूढः प्राणी अहिते–अहितकरे कार्ये आहित आसक्तः अस्तु भवतु किन्तु बोधत्रयेण युक्तोऽहं अहितेन कथ माहित इत्याश्चर्यम्। ४ संयमाश्रयात् ग०। ५ प्राप्ते ग०। ६ केवल्यमुपपादिवान् ल०। ७ पक्षोत्तरैः ल०।

एकादशसहस्रावधीद्धबोधविदीडितः । त्रयोदशसहस्रात्मसमानज्ञान[1]संस्तुतः ॥ ७८ ॥
शून्यद्वययुगाष्टैकमितवैक्रियकस्तुतः । शून्यद्वयचतुःखैकप्रमितोपान्तविद्वृ[2]तः ॥ ७९ ॥
शून्यपञ्चचतुःखैकमितवाद्यभिवन्दितः । पिण्डितैः खचतुष्कद्वित्रिमितैस्तैर्विभूषितः ॥ ८० ॥
खचतुष्कत्रिवह्न्युक्तानन्तार्याद्यार्यिकानुगः । त्रिलक्षश्रावकाभ्यर्चः श्राविकापञ्चलक्षवान् ॥ ८१ ॥
स [illegible] विहृत्यष्टदशक्षेत्रविशेषेष्वमराञ्चितः ॥ ८२ ॥
प्रशस्ताशस्तभाषासु भव्यानां दिव्यमक्षिपत् । ध्वनिं बीजविशेषं वा सुभूमिषु महाफलम् ॥८३॥
विमुक्त[3]विहृतिर्मासं सहस्रमुनिभिः सह । प्रतिमायोगमास्थाय सम्मेदे निर्वृतिं ययौ ॥ ८४ ॥
एकादश्यां सिते चैत्रे मघायामपराह्णगः । अमरैरन्यकल्याणमवाप सुमतीश्वरः ॥ ८५ ॥

मालिनी

रिपुनृपयमदण्डः पुण्डरीकिण्यधीशो
हरिरिव रतिषेणो वैजयन्तेऽहमिद्रः ।
सुमतिरमितलक्ष्मीस्तीर्थकृद्यः कृतार्थः
सकलगुणसमृद्धो वः स सिद्धिं विदध्यात् ॥ ८६ ॥

रहते थे, वे दो लाख चौअन हजार तीन सौ पचास शिक्षकोंसे सहित थे, ग्यारह हजार अवधिज्ञानी उनकी पूजा करते थे, तेरह हजार केवलज्ञानी उनकी स्तुति करते थे, आठ हजार चार सौ विक्रिया ऋद्धिके धारण करनेवाले उनका स्तवन करते थे, दश हजार चार सौ मनःपर्ययज्ञानी उन्हें घेरे रहते थे, और दश हजार चार सौ पचास वादी उनकी वंदना करते थे, इस प्रकार सब मिलाकर तीन लाख बीस हजार मुनियोंसे वे सुशोभित हो रहे थे ॥ ७६–८० ॥ अनन्तमती आदि तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएँ उनकी अनुगामिनी थीं, तीन लाख श्रावक उनकी पूजा करते थे, पाँच लाख श्राविकाएँ उनके साथ थीं ॥ ८१ ॥ असंख्यात देव-देवियों और संख्यात तिर्यञ्चोंसे वे सदा घिरे रहते थे। इस प्रकार देवोंके द्वारा पूजित हुए भगवान् सुमतिनाथने अठारह क्षेत्रोंमें विहार कर भव्य जीवोंके लिए उपदेश दिया था। जिस प्रकार अच्छी भूमिमें बीज बोया जाता है और उससे महान् फलकी प्राप्ति होती है उसी प्रकार भगवान्ने प्रशस्त अप्रशस्त सभी भाषाओंमें भव्य जीवोंके लिए दिव्य ध्वान रूपी बीज बोया था और उससे भव्य जीवोंको रत्नत्रयरूपी महान् फलकी प्राप्ति हुई थी ॥ ८२–८३ ॥

अन्तमें जब उसकी आयु एक मासकी रह गई तब उन्होंने विहार करना बन्द कर सम्मेद-गिरि पर एक हजार मुनियोंके साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया और वहींसे चैत्र शुक्ल एकादशी के दिन मघा नक्षत्रमें शामके समय निर्वाण प्राप्त किया। देवोंने उनका निर्वाणकल्याणक किया ॥ ८४–८५ ॥ जो पहले शत्रु राजाओंको नष्ट करनेके लिए यमराजके दण्डके समान अथवा इन्द्रके समान पुण्डरीकिणी नगरीके अधिपति राजा रतिषेण थे, फिर वैजयन्त विमानमें अहमिन्द्र हुए और फिर अनन्त लक्ष्मीके धारक, समस्त गुणोंसे सम्पन्न तथा कृतकृत्य सुमतिनाथ तीर्थंकर हुए वे तुम

---

१ शानिसंयुतः ग० । २-विद्वृतः क०, घ० ।-विद्वृतः ग० । ३ विमुक्तविकृतिर्मासं क०, ख०, ग०, घ० । विमुक्तविकृतिः ल० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

स्रग्धरा

सद्यो जातं जिनेन्द्रं स्वरवतरणसम्प्राप्तकल्याणकार्ये
वामं जन्माभिषेके [1]सुरपतिरचितैर्भूषणैरिद्धशोभम् ।
सन्निष्क्रान्तावघोरं सुमतिमतिमतिं केवलज्ञानसिद्धा-
वीशानं निर्वृतौ तत्पुरुषमपरुषं शान्तये संश्रयध्वम् ॥ ८७ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे सुमतितीर्थपुराणं नाम समाप्तमेकपञ्चाशत्तमं पर्व ॥ ५१ ॥

—:❀:—

सबको सिद्धि प्रदान करें ॥ ८६ ॥ जो भगवान् स्वर्गावतरणके समय गर्भकल्याणकके उत्सवमें 'सद्यो-जात' कहलाये, जन्माभिषेकके समय इन्द्रोंके व्रजसे विरचित आभूषणोंसे सुशोभित होकर 'वाम' कहलाये, दीक्षा-कल्याणकके समय 'अघोर' कहलाये, केवलज्ञानकी प्राप्ति होनेपर 'ईशान' कहलाये और निर्वाण होने पर 'तत्पुरुष' कहलाये ऐसे रागद्वेष रहित अतिशय पूज्य भगवान् सुमतिनाथका शान्तिके लिए हे भव्य जीवो ! आश्रय ग्रहण करो ॥ ८७ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें सुमतिनाथ तीर्थंकरका पुराण वर्णन करनेवाला इक्यावनवाँ पर्व पूर्ण हुआ ।

---

१ सुरपतिरचितै-ध०, क० ।

द्विपञ्चाशत्तमं पर्व

पद्मेऽस्थाद्युर्नं भातीव प्रभास्मिन्निति वाश्रिता । त्यक्त्वा तं यं स पद्मास्मान्पातु पद्मप्रभः प्रभुः ॥ १ ॥
द्वितीये धातकीखण्डे द्वीपे प्राग्भागपूर्वजे । विदेहे दक्षिणे कूले सीताया वत्सदेशजम् ॥ २ ॥
सुसीमानगरं तस्मिन् महाराजोऽपराजितः । न परैर्जायते जेता स बाह्याभ्यन्तरद्विषाम् ॥ ३ ॥
विक्रमेणैव वक्राणां जेतुर्बाह्यपरिच्छदः । सप्राङ्गपूरणं तस्य बलं दोर्बलशालिनः ॥ ४ ॥
तस्य सत्येन वर्षन्ति जीमूताः कर्षकेच्छया । आदिमध्यान्तवापाश्च धान्यभेदाः फलप्रदाः ॥ ५ ॥
त्यागेन तस्य दारिद्र्यशब्दः खकुसुमायते । भुवि प्राग्येषु दारिद्र्यं तैरद्य धनदायितम् ॥ ६ ॥
राज्ञां महागुणास्तस्मिन् सुक्षेत्रोप्तसुबीजवत् । त्रयोऽप्येते फलन्ति स्म सजातीयान् परान् गुणान् ॥ ७ ॥
परेषां वास्यरूपादिसम्पन्नोन्मार्गवृत्तये । तरूत्पाटी मरुन्मेरुं[1] क्षमः कम्पयितुं च किम् ॥ ८ ॥
स षट्प्रकृतिभिर्भूष्यस्ताश्च तेन ततोऽभवत् । तद्राज्यं न परैर्धृष्यं परेषां [2]धर्षकः स्वयम् ॥ ९ ॥
एवं भवान्तरावर्जितोर्जितायोदयार्पितम् । नार्पस्यं सुचिरं भुक्त्वा संविभक्तं सुहृद्वरैः ॥ १० ॥
क्षणिकाः सर्वपर्यायाः पर्यायैश्चानुभूयते । सुखं कारणविध्वंसे कार्ये कौतस्कुती स्थितिः ॥ ११ ॥
[3]इत्यृजुसूत्रभावेन स सर्वं भङ्गुरं स्मरन् । दत्त्वा राज्यं सुमित्राय सुताय विजितात्मने ॥ १२ ॥
गत्वा तपोगुरुं कृत्वा जिनेन्द्रं पिहितास्रवम् । एकादशाङ्गविद् बध्वा नाम तीर्थंकराह्वयम् ॥ १३ ॥

कमल दिनमें ही फूलता है, रातमें बन्द हो जाता है अतः उसमें स्थिर न रह सकनेके कारण जिस प्रकार प्रभाकी शोभा नहीं होती और इसीलिए उसने कमलको छोड़कर जिनका आश्रय ग्रहण किया था उसी प्रकार लक्ष्मीने भी कमलको छोड़कर जिनका आश्रय लिया था वे पद्मप्रभ स्वामी हम सबकी रक्षा करें ॥ १ ॥ दूसरे धातकीखण्डद्वीपके पूर्व विदेहक्षेत्रमें सीता नदीके दक्षिण तट पर वत्स देश है । उसके सुसीमा नगरमें महाराज अपराजित राज्य करते थे । महाराज अपराजित वास्तव में अपराजित थे क्योंकि उन्हें शत्रु कभी भी नहीं जीत सकते थे और उन्होंने अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग-के सभी शत्रुओंको जीत लिया था ॥ २-३ ॥ वह राजा कुटिल मनुष्योंको अपने पराक्रमसे ही जीत लेता था अतः बाहुबलसे सुशोभित उस राजाकी सप्राङ्ग सेना केवल बाह्य आडम्बर मात्र थी ॥ ४ ॥ उसके सत्यसे मेघ किसानोंकी इच्छानुसार बरसते थे और वर्षके आदि, मध्य तथा अन्तमें बोये जानेवाले सभी धान्य फल प्रदान करते थे ॥ ५ ॥ उसके दानके कारण दारिद्र्य शब्द आकाशके फूलके समान हो रहा था और पृथिवी पर पहले जिन मनुष्योंमें दरिद्रता थी वे अब कुबेरके समान आचरण करने लगे थे ॥ ६ ॥ जिस प्रकार उत्तम खेतमें बोये हुए बीज सजातीय अन्य बीजोंको उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार उस राजाके उक्त तीनों महान् गुण सजातीय अन्य गुणोंको उत्पन्न करते थे ॥७॥ इस राजाकी रूपादि सम्पत्ति अन्य मनुष्योंके समान इसे कुमार्गमें नहीं ले गई थी सो ठीक ही है क्योंकि वृक्षोंको उखाड़ने वाला क्या मेरु पर्वतको भी कम्पित करनेमें समर्थ है ?॥८॥ वह राजा राजाओं-के योग्य सन्धि विग्रहादि छह गुणोंसे सुशोभित था और छह गुण उससे सुशोभित थे । उसका राज्य दूसरोंके द्वारा धर्षणीय-तिरस्कार करनेके योग्य नहीं था पर वह स्वयं दूसरोंका धर्षक-तिरस्कार करने वाला था ॥ ९ ॥ इस प्रकार अनेक भवोंमें उपार्जित पुण्य कर्मके उदयसे प्राप्त तथा अनेक मित्रोंमें बटे हुए राज्यका उसने चिरकाल तक उपभोग किया ॥ १० ॥ तदनन्तर वह विचार करने लगा कि इस संसारमें समस्त पर्याय क्षणभंगुर हैं, सुख पर्यायोंके द्वारा भोगा जाता है और कारणका विनाश होनेपर कार्यकी स्थिति कैसे हो सकती है ? ॥ ११ ॥ इस प्रकार ऋजुसूत्र नयसे सब पदार्थोंको भंगुर स्मरण करते हुए उस राजाने अपने आत्माको वश करनेवाले सुमित्र पुत्रके लिए राज्य दे दिया,

---

१ मेरुच्चमं ल० । २ धर्षकं ल० । ३ इत्यन्तर्गतभावेन क०, घ० ।

संन्यस्यान्तपरित्यक्तदेहोऽयादहमिन्द्रताम् । ऊर्ध्वग्रैवेयके रम्ये प्रीतिङ्करविमानजः ॥ १४ ॥
एकत्रिंशत्समुद्रायुर्हस्तद्वयशरीरकः । शुक्ललेश्यो दिनैः पञ्चषट्चतुःसम्मितैः श्वसन् ॥ १५ ॥
एकत्रिंशत्सहस्राब्दैर्मानसाहारतर्पितः । तेजोबलावधिज्ञानव्याप्तासप्तमभूतलः ॥ १६ ॥
तत्क्षेत्रविक्रियर्द्धीशः [1]सुखमापाहमिन्द्रजम् । [2]स्वायुरन्ते ततस्तस्मिन्नवनीमागमिष्यति ॥ १७ ॥
[3]जम्बूद्वीपेऽत्र कौशाम्ब्यां पतिरिक्ष्वाकुवंशजः । गोत्रेण काश्यपो राजा धरणाख्यो महानभूत् ॥ १८ ॥
तस्य देवी सुसीमाख्या रत्नवृष्ट्यादिमाहिता । प्रभाते माघकृष्णायां षष्ठ्यां चित्रेन्दुसङ्गमे ॥ १९ ॥
गजादिषोडशस्वप्नवीक्षणानन्तरास्यगम् । निरीक्ष्य वारणं ज्ञातैस्तत्फलैः प्रमदान्विता[4] ॥ २० ॥
कृष्णपक्षे त्रयोदश्यां स्वष्टृयोगेऽपराजितम् । कार्तिके मास्यसूतैषा रक्ताम्भोजदलच्छविम् ॥ २१ ॥
अस्योत्पत्तौ समुत्पत्तिर्गुणानां दोषसन्ततेः । ध्वंसो जातः शमः शोकः प्रमोदात्सर्वदेहिनाम् ॥ २२ ॥
मोहशत्रुर्हतच्छायो नष्टोऽहं वेति कम्पते । स्वर्गापवर्गयोर्मार्गे वाहकेऽस्मिन् भविष्यति ॥ २३ ॥
मोहनिद्रां विहास्यन्ति बहवोऽस्मिन् प्रबोधके । जन्मिनां जाति[5]सम्बन्धविरोधश्च विनङ्क्ष्यति ॥ २४ ॥
लक्ष्मीर्विकाश[6]मस्यायात् प्रायात् कीर्तिर्जगत्त्रयम् । अभूदित्यादिसंलापो विदुषामितरेतरम् ॥ २५ ॥
तदानीमेव देवेन्द्रास्तं मेरौ क्षीरवारिभिः । स्नपयित्वा विधायानुमुदा पद्मप्रभाभिधाम् ॥ २६ ॥
अभिष्टुत्य पुनर्नीत्वा मातुरङ्के महाद्युतिम् । निधाय मुदिता नृत्यं विधाय [7]प्रययुर्दिवम् ॥ २७ ॥
समस्तैः शैशवं तस्य मुदेन्दोरिव वन्द्यते । कः स यः सर्वमाह्लाद्य वर्द्धमाने पराङ्मुखः ॥ २८ ॥

वनमें जाकर पिहितास्रव जिनेन्द्रको दीक्षा-गुरु बनाया, ग्यारह अंगोंका अध्ययन कर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया और आयुके अन्तमें समाधिमरणके द्वारा शरीर छोड़कर अत्यन्त रमणीय ऊर्ध्व-ग्रैवेयकके प्रीतिंकर विमानमें अहमिन्द्र पद प्राप्त किया ॥ १२–१४ ॥ इकतीस सागर उसकी आयु थी, दो हाथ ऊँचा शरीर था, शुक्ल लेश्या थी, चार सौ पैंसठ दिनमें श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता था, इकतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहारसे संतुष्ट होता था, अपने तेज, बल तथा अवधि-ज्ञानसे सप्तमी पृथिवीको व्याप्त करता था और वहीं तक उसकी विक्रियाऋद्धि थी। इस प्रकार अहमिन्द्र सम्बन्धी सुख उसे प्राप्त थे। आयुके अन्तमें जब वह वहां से चय कर पृथिवीपर अवतार लेनेके लिए उद्यत हुआ ॥ १५–१७ ॥ तब इसी जम्बूद्वीपकी कौशाम्बी नगरीमें इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री धरण नामका एक बड़ा राजा था। उसकी सुसीमा नामकी रानी थी जो रत्नवृष्टि आदि अतिशयोंसे सम्मानित थी। माघकृष्ण षष्ठीके दिन प्रातःकालके समय जब चित्रा नक्षत्र और चन्द्रमाका संयोग हो रहा था तब रानी सुसीमाने हाथी आदि सोलह स्वप्न देखनेके बाद मुखमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। पतिसे स्वप्नोंका फल जानकर वह बहुत ही हर्षित हुई ॥ १८–२० ॥ कार्तिक मासके कृष्णपक्षकी त्रयोदशीके दिन स्वष्टृ योगमें उसने लाल कमलकी कलिकाके समान कान्तिवाले अपराजित पुत्रको उत्पन्न किया ॥ २१ ॥ इस पुत्रकी उत्पत्ति होते ही गुणोंकी उत्पत्ति हुई, दोष-समूहका नाश हुआ और हर्षसे समस्त प्राणियोंका शोक शान्त हो गया ॥ २२ ॥ स्वर्ग और मोक्ष-का मार्ग चलानेवाले भगवान्के उत्पन्न होते ही मोहरूपी शत्रु कान्तिरहित हो गया तथा 'अब मैं नष्ट हुआ' यह सोचकर काँपने लगा ॥ २३ ॥ उस समय विद्वानोंमें निम्न प्रकारका वार्तालाप हो रहा था कि जब भगवान् सबको प्रबुद्ध करेंगे तब बहुतसे लोग मोह-निद्राको छोड़ देवेंगे, प्राणियोंका जन्मजात विरोध नष्ट हो जावेगा, लक्ष्मी विकासको प्राप्त होगी और कीर्ति तीनों जगत्में फैल जावेगी ॥ २४–२५ ॥ उसी समय इन्द्रोंने मेरु पर्वत पर, ले जाकर क्षीरसागरके जलसे उनका अभिषेक किया, हर्षसे पद्मप्रभ नाम रक्खा, स्तुति की, तदनन्तर महाकान्तिमान् जिन-बालकको वापिस लाकर माताकी गोदमें रक्खा, हर्षित होकर नृत्य किया और फिर स्वर्गकी ओर प्रस्थान किया ॥ २६–२७ ॥ चन्द्रमाके समान उनके बाल्यकालकी सब बड़े हर्षसे प्रशंसा करते थे सो ठीक ही है क्योंकि जो

---

१ सुखमापाहमिन्द्रजं ल० । २ आयुरन्ते क०, ख०, ग०, घ०, ल० । ३ जम्बूद्वीपे च कोशाम्ब्यां ल० । ४ प्रमदान्विताः ख० । ५ सम्बद्ध–ग०, ख० । ६–र्विकास क०, घ० । ७ प्राययुर्दिवम् क०, घ०, ग० ।

न कामनीयकं कामेऽविकायेऽन्यत्र चेद्दृशम् । तत्कामनीयकं तस्य न केनाप्युपमीयते ॥ २९ ॥
तथैव रूपमप्यस्य कथ्यते किं पृथक् पृथक् । यद्यत्तस्मिन्न तच्चान्यैरन्यस्थैरुपमीयते ॥ ३० ॥
कामयन्ते स्त्रियः पुंसः पुमांसस्ता इमं पुनः । ताश्च ते चास्य सौभाग्यं नाल्पभाग्यैरवाप्यते ॥ ३१ ॥
तत्तनावेव सर्वेषां दृष्टिस्तृप्तिं परामिता । सन्ततं चूतमञ्जर्यां मत्तालीनामिवावली ॥ ३२ ॥
सर्वेन्द्रियसमाह्लादस्तस्मिन् चेद्य भूशायते । परत्रापूर्णपुण्येषु न क्वापीति वयं स्थिताः ॥ ३३ ॥
खचतुष्केण कोटीनां नवभिश्चोक्तवार्द्धिभिः । मिते सुमतिसन्ताने पद्मप्रभजिनस्थितिः ॥ ३४ ॥
षट्शून्यवह्निपूर्वायुः शून्यपञ्चद्विचापभाक् । जीवितस्य चतुर्भागे[1] कुमारत्वेन निष्ठिते ॥ ३५ ॥
अलब्ध राज्यं प्राप्तामरेज्यो[2] द्वैराज्यवर्जितम् । क्रमायातं न हीच्छन्ति सन्तस्तच्चान्यथागतम् ॥ ३६ ॥
[3]पट्टबन्धेऽस्य सर्वस्य स्वस्य स्वस्यैव सम्मदः । महाभयानि तद्देशे नष्टान्यष्टौ निरन्वयम् ॥ ३७ ॥
दारिद्र्यं विद्रुतं दूरं स्वैरं स्वं संप्रवर्तते । सर्वाणि मङ्गलान्यासन् सङ्गमः सर्वसम्पदाम् ॥ ३८ ॥
कस्य कस्मिन्समीप्सेति वदान्येष्वभवद्वचः । कस्यचिन्नैव कस्मिंश्चिदर्थितेत्यवदज्जनः ॥ ३९ ॥
इत्यस्य राज्यसम्प्राप्तौ जगत्सुप्तमिवोत्थितम् । तदेव राज्यं राज्येषु प्रजानां यत्सुखावहम् ॥ ४० ॥
हीने षोडशपूर्वाङ्गैः[4] [5]पूर्वलक्षायुषि स्थिते । कदाचिद् द्वारिबन्धस्थगजप्रकृतिसंश्रुतेः ॥ ४१ ॥

सबको आह्लादित कर बृद्धिको प्राप्त होता है उससे कौन पराङ्मुख रहता है ? ॥ २८ ॥ भगवान् पद्मप्रभके शरीरकी जैसी सुन्दरता थी वैसी सुन्दरता न तो शरीर रहित कामदेवमें थी और न अन्य किसी मनुष्यमें भी। यथार्थमें उनकी सुन्दरताकी किसीसे उपमा नहीं दी जा सकती थी ॥ २९ ॥ इसी प्रकार उनके रूपका भी पृथक् पृथक् वर्णन नहीं करना चाहिये क्योंकि जो जो गुण उनमें विद्यमान थे विद्वान् लोग उन गुणोंकी अन्य मनुष्योंमें रहनेवाले गुणोंके साथ उपमा नहीं देते थे ॥ ३० ॥ स्त्रियाँ पुरुषोंकी इच्छा करती हैं और पुरुष स्त्रियोंकी इच्छा करते हैं परन्तु उन पद्मप्रभकी, स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही इच्छा करते थे सो ठीक ही है। क्योंकि जिनका भाग्य अल्प है वे इनके सौभाग्यको नहीं पा सकते हैं ॥ ३१ ॥ जिस प्रकार मत्त भौंरोंकी पंक्ति आममञ्जरीमें परम संतोषको प्राप्त होती है उसी प्रकार सब मनुष्योंकी दृष्टि उनके शरीरमें ही परम संतोष प्राप्त करती थी ॥ ३२ ॥ हम तो ऐसा समझते हैं कि समस्त इन्द्रियोंके सुख यदि उन पद्मप्रभ भगवान्में पूर्णताको प्राप्त नहीं थे तो फिर अल्प पुण्यके धारक दूसरे किन्हीं भी मनुष्योंमें पूर्णताको प्राप्त नहीं हो सकते थे ॥ ३३ ॥ जब सुमतिनाथ भगवान्की तीर्थ परम्पराके नब्बे हजार करोड़ सागर बीत गये तब भगवान् पद्मप्रभ उत्पन्न हुए थे ॥ ३४ ॥ तीस लाख पूर्व उनकी आयु थी, दो सौ पचास धनुष ऊँचा शरीर था और देव लोग उनकी पूजा करते थे। उनकी आयुका जब एक चौथाई भाग बीत चुका तब उन्होंने एकछत्र राज्य प्राप्त किया। उनका वह राज्य क्रमप्राप्त था—वंश-परम्परासे चला आ रहा था सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन मनुष्य उस राज्यकी इच्छा नहीं करते हैं जो अन्य रीतिसे प्राप्त होता है ॥ ३५-३६ ॥ जब भगवान् पद्मप्रभको राज्यपट्ट बाँधा गया तब सबको ऐसा हर्ष हुआ मानो मुझे ही राज्यपट्ट बाँधा गया हो। उनके देशमें आठों महाभय समूल नष्ट हो गये थे ॥ ३७ ॥ दरिद्रता दूर भाग गई, धन स्वच्छन्दतासे बढ़ने लगा, सब मङ्गल प्रकट हो गये और सब सम्पदाओंका समागम हो गया ॥ ३८ ॥ उस समय दाता लोग कहा करते थे कि किस मनुष्यको किस पदार्थकी इच्छा है और याचक लोग कहा करते थे कि किसीको किसी पदार्थकी इच्छा नहीं है ॥ ३९ ॥

इस प्रकार जब भगवान् पद्मप्रभको राज्य प्राप्त हुआ तब संसार मानो सोने से जाग पड़ा सो ठीक ही है क्योंकि राजाओंका राज्य वही है जो प्रजाको सुख देनेवाला हो ॥४०॥ जब उनकी आयु सोलह पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्वकी रह गई तब किसी समय दरवाजे पर बँधे हुए हाथीकी दशा सुननेसे उन्हें अपने पूर्व भवोंका ज्ञान हो गया और तत्त्वोंके स्वरूपको जाननेवाले वे संसारको इस

---

१ चतुर्भाग-ल० । २ प्राप्तामरेज्यो ख० । प्राप्तामरेष्टो ग० । ३ पट्टबन्धस्य ग० । ४ पूर्वाङ्गे ग०, क० । ५ पूर्व लक्षायुषि ख० ।

ज्ञातात्मान्यभवो धिक् धिक् संसारमिति तत्त्वविद् । विरक्तः कामभोगेषु पापदुःखप्रदायिषु ॥ ४२ ॥
अदृष्टं किं किमस्पृष्टमनाघ्रातं किमश्रुतम् । किं [1]किमस्वादितं येन पुनर्नवमिवेष्यते ॥ ४३ ॥
भुक्तमेव पुनर्भुक्तं जन्तुनानन्तशो भवे । [2]मध्यमप्यभिलाषाब्धेरितं वदत किं ततः ॥ ४४ ॥
नेन्द्रियैरात्मनस्तृप्तिर्मिथ्यात्वादिविदूषितैः । [3]वीतघात्युपयोगेऽस्य विश्वं यावन्न गोचरम् ॥ ४५ ॥
रोगोरगाणां तु ज्ञेयं शरीरं वामलूरकम् । दष्टान् दृष्ट्वापि तैरेव किमिष्टान्नष्टजीवितान् ॥ ४६ ॥
[4]आहितो [5]देहिनो देहे मोहोऽनेनाविनश्वरः[6] । [7]सहवासः कृतः क्वापि केनाप्यस्यायुषा किमु ॥ ४७ ॥
हिंसादिपञ्चकं धर्मः सुखं यस्येन्द्रियार्थजम् । संसृती रोचते तस्मै विपरीतार्थदर्शिने ॥ ४८ ॥
यत्कृतापोपलेपाभ्यां योगोऽयुक्तये । तदध्येयं तदनुष्ठेयं तदध्येयं सदा बुधैः ॥ ४९ ॥
इति त्रिविधनिर्वेदभूतबोधिः[8] सुरोत्तमैः । प्रोत्साहितः सुरैः प्राप्तनिष्क्रान्तिज्ञानसम्मदः ॥५०॥
निवृत्त्याख्यां समारुह्य शिबिकां स मनोहरे । वने षष्ठोपवासेन दीक्षां शिक्षामिवाग्रहीत् ॥ ५१ ॥
कार्तिके कालपक्षस्य त्रयोदश्यपराह्णगः । चित्रायां भूभुजां सार्द्धं सहस्रेणाहितादरः ॥ ५२ ॥
चतुर्थज्ञानसम्पन्नश्चर्यायै पश्चिमे दिने । नगरं वर्द्धमानाख्यं प्राविशद्विदुषां वरः ॥ ५३ ॥
सोमदत्तो नृपस्तस्मै दानादापार्जुनच्छविः । आश्चर्यपञ्चकं किं वा पात्रदानान्न जायते ॥ ५४ ॥
चिन्वन् शुभास्रवैः पुण्यं संवरं कर्मसंहतेः । कुर्वन्गुप्त्यादिषट्केन तपसा निर्जरां च सः ॥ ५५ ॥

प्रकार धिक्कार देने लगे । वे पाप तथा दुःखोंको देनेवाले काम-भोगोंमें विरक्त हो गये । वे विचारने लगे कि इस संसारमें ऐसा कौन-सा पदार्थ है जिसे मैंने देखा न हो, छुआ न हो, सूँघा न हो, सुना न हो, और खाया न हो जिससे वह नयेके समान जान पड़ता है ॥ ४१–४३ ॥ यह जीव अपने पूर्वभवोंमें जिन पदार्थोंका अनन्त बार उपभोग कर चुका है उन्हें ही बार-बार भोगता है अतः अभिलाषा रूप सागरके बीच पड़े हुए इस जीवसे क्या कहा जावे ? ॥ ४४ ॥ घातिया कर्मोंके नष्ट होने पर इसके केवलज्ञानरूपी उपयोगमें जब तक सारा संसार नहीं झलकने लगता तब तक मिथ्यात्व आदिसे दूषित इन्द्रियोंके विषयोंसे इसे तृप्ति नहीं हो सकती ॥ ४५ ॥ यह शरीर रोगरूपी साँपोंकी बामी है तथा यह जीव देख रहा है कि हमारे इष्टजन इन्हीं रोगरूपी साँपोंसे काटे जाकर नष्ट हो रहे हैं फिर भी यह शरीरमें अविनाशी मोह कर रहा है यह बड़ा आश्चर्य है । क्या आज तक कहीं किसी जीवने आयुके साथ सहवास किया है ? अर्थात् नहीं किया ॥ ४६–४७ ॥ जो हिंसादि पाँच पापोंको धर्म मानता है, और इन्द्रिय तथा पदार्थके सम्बन्धसे होनेवाले सुखको सुख समझता है उसी विपरीतदर्शी मनुष्यके लिए यह संसार रुचता है—अच्छा मालूम होता है ॥ ४८ ॥ जिस कार्यसे पाप और पुण्य दोनों उपलेपोंका नाश हो जाता है, विद्वानोंको सदा उसीका ध्यान करना चाहिये, उसीका आचरण करना चाहिये और उसीका अध्ययन करना चाहिये ॥ ४९ ॥ इस प्रकार संसार, शरीर और भोग इन तीनोंके वैराग्यसे जिन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ है, लौकान्तिक देवोंने जिनका उत्साह बढ़ाया है और चतुर्निकाय देवोंने जिनके दीक्षा-कल्याणकका अभिषेकोत्सव किया है ऐसे भगवान् पद्मप्रभ, निवृत्ति नामकी पालकी पर सवार होकर मनोहर नामके वनमें गये और वहाँ वेलाका नियम लेकर कार्तिक कृष्ण त्रयोदशीके दिन शामके समय चित्रा नक्षत्रमें एक हजार राजाओंके साथ आदर पूर्वक उन्होंने शिक्षाके समान दीक्षा धारण कर ली ॥ ५०–५२ ॥ जिन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया है ऐसे विद्वानोंमें श्रेष्ठ पद्मप्रभ स्वामी दूसरे दिन चर्याके लिए वर्धमान नामक नगरमें प्रविष्ट हुए ॥ ५३ ॥ शुक्ल कान्तिके धारक राजा सोमदत्तने उन्हें दान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये सो ठीक ही है क्योंकि पात्रदानसे क्या नहीं होता है ? ॥ ५४ ॥ शुभ आस्रवोंसे

---

१ किमनाघ्रातं येन । २ मध्यमेत्यभिलाषाब्धेरितं वदतु किं ततः क०, घ०, ख० । नवामप्यभि-ग० । ३ वीतघात्युपयोगस्य क०, ग०, ल० । ४ अहितो ल० । ५ देहिनां घ० । ६ विनश्वरम् क०, घ० । ७ सहवासः कृतं क०, घ०, ख०, सहवासकृतं ल० । ८ निर्वेदभूतो बोधिसुरोत्तमैः क०, घ० । निर्वेदभूतबोधेः ग० ।

षण्मासैर्मौनमास्थाय छाद्मस्थ्यमपनीतवान् । क्षपकश्रेणिमारुह्य नष्टघातिचतुष्टयः ॥ ५६ ॥
पौर्णमास्यां सिते चैत्रे मध्याह्नो[1] रवौ गते । चित्रायां केवलज्ञानं प्रतिपेदे परार्थकृत् ॥ ५७ ॥
[2]समर्चितो महादेवैः शतेनेतो गणेशिनाम् । स वज्रचामरादीनां दशभिश्च जगद्धितः ॥ ५८ ॥
शून्यद्वयाग्निपक्षोक्तसर्वपूर्वधरान्वितः । शून्यत्रिकनवर्तुद्विप्रोक्तशिक्षकलक्षितः ॥ ५९ ॥
[3]शून्यत्रिकशदज्ञेयविविधावधिवीक्षणः । खत्रयद्वादशालक्ष्यकेवलावगमाश्रितः ॥ ६० ॥
खद्वयाष्टपडेकाङ्कविक्रियर्द्धिसमृद्धिमान् । शून्यद्वयत्रिशून्यैकप्रोक्तस्तुर्यावबोधनः ॥ ६१ ॥
शून्यद्वयर्तुरन्ध्रोक्तख्यातानुत्तरवादिकः । खचतुष्कादिवह्न्युक्तसम्पिण्डितयतीश्वरः ॥ ६२ ॥
खचतुष्कद्विवाराशिप्रमिताभिरभिष्टुतः । [4]रात्रिषेणाख्यमुख्याभिरार्यिकाभिः समन्ततः ॥ ६३ ॥
त्रिलक्षश्रावकोपेतः श्राविकापञ्चलक्षवान् । सदेवदेव्यसङ्ख्यातस्तिर्यक्सङ्ख्यातसंयुतः ॥ ६४ ॥
कुर्वन् धर्मोपदेशेन मोक्षमार्गे तनूभृतः । भव्यान् पुण्योदयेनेव धर्मसत्त्वान् सुखोदये ॥ ६५ ॥
सम्मेदपर्वते मासं स्थित्वा [5]योगं निरुद्धवान् । सार्द्धं यतिसहस्रेण प्रतिमायोगमास्थितः[6] ॥ ६६ ॥
फाल्गुने कृष्णपक्षान्त्ये चित्रायां चतुर्थ्यामपराह्णतः । कृष्णाक्षे चतुर्थेन समुच्छिन्नक्रियात्मना ॥ ६७ ॥
शुक्लध्यानेन कर्माणि हत्वा निर्वाणमापिवान् । तदैत्य चक्रुः शक्राद्याः परिनिर्वाणपूजनम् ॥ ६८ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

किं सेव्यं क्रमयुग्ममब्जविजयामस्यैव लक्ष्म्यास्पदं
किं श्रव्यं सकलप्रतीतिजननादस्यैव सत्यं वचः ।

पुण्यका सञ्चय, गुप्ति, समिति; धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह-जय तथा चारित्र इन छह उपायोंसे कर्म समूहका संवर और तपके द्वारा निर्जरा करते हुए उन्होंने छद्मस्थ अवस्थाके छह माह मौनसे व्यतीत किये। तदनन्तर क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर उन्होंने चार घातिया कर्मोंका नाश किया तथा चैत्र शुक्ल पौर्णमासीके दिन जब कि सूर्य मध्याह्नसे कुछ नीचे ढल चुका था तब चित्रा नक्षत्रमें उन परकल्याणकारी भगवान्ने केवलज्ञान प्राप्त किया ॥ ५५–५७ ॥ उसी समय इन्द्रोंने आकर उनकी पूजा की। जगत्का हित करनेवाले भगवान्, वज्र चामर आदि एक सौ दश गणधरोंसे सहित थे, दो हजार तीन सौ पूर्वधारियोंसे युक्त थे, दो लाख उनहत्तर हजार शिक्षकोंसे उपलक्षित थे, दश हजार अवधिज्ञानी और बारह हजार केवलज्ञानी उनके साथ थे, सोलह हजार आठ सौ विक्रिया-ऋद्धिके धारकोंसे समृद्ध थे, दश हजार तीन सौ मनःपर्ययज्ञानी उनकी सेवा करते थे, और नौ हजार छह सौ श्रेष्ठ वादियोंसे युक्त थे, इस प्रकार सब मिलाकर तीन लाख तीस हजार मुनि सदा उनकी स्तुति करते थे। रात्रिषेणाको आदि लेकर चार लाख बीस हजार आर्यिकाएँ सब ओरसे उनकी स्तुति करती थीं। तीन लाख श्रावक, पाँच लाख श्राविकाएँ, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यञ्च उनके साथ थे ॥ ५८–६४ ॥ इस प्रकार धर्मोपदेशके द्वारा भव्य जीवोंको मोक्षमार्गमें लगाते और पुण्यकर्मके उदयसे धर्मात्मा जीवोंको सुख प्राप्त कराते हुए भगवान् पद्मप्रभ सम्मेद शिखर पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक माह तक ठहर कर योग-निरोध किया तथा एक हजार राजाओं के साथ प्रतिमायोग धारण किया ॥ ६५–६६ ॥

तदनन्तर फाल्गुन कृष्ण चतुर्थीके दिन शामके समय चित्रा नक्षत्रमें उन्होंने समुच्छिन्न-क्रिया-प्रतिपाती नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानके द्वारा कर्मोंका नाश कर निर्वाण प्राप्त किया। उसी समय इन्द्र आदि देवोंने आकर उनके निर्वाण-कल्याणककी पूजा की ॥ ६७–६८ ॥ सेवा करने योग्य क्या है ? कमलोंको जीत लेनेसे लक्ष्मीने भी जिन्हें अपना स्थान बनाया है ऐसे इन्हीं पद्मप्रभ भगवान्के चरण-

---

१ मध्यादह्ना ल० । २ समर्थितमहो देवैः क०, ख०, ग०,घ० । ३ शून्यत्रिदशज्ञेय ल० । ४ रतिषेणाख्य-ल० । ५ योगान्निरुद्ध ल० । ६ संस्थितः ल० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

किं ध्येयं गुणसन्ततिश्च्युतमलस्यास्यैव काष्ठाश्रया-
दित्युक्तस्तुतिगोचरः स भगवान् पद्मप्रभः पातु वः॥६९॥
राजा प्रागपराजितो जितरिपुः श्रीमान् सुसीमेश्वरः
पश्चादाप्य तपोऽन्त्यनामसहितो ग्रैवेयकेऽन्त्येऽमरः।
कौशाम्ब्यां कलितो गुणैरगणितैरिक्ष्वाकुवंशाग्रणीः
षष्ठस्तीर्थकरः परात्महितकृत् पद्मप्रभः शं क्रियात्॥७०॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे पद्मप्रभार्हत्पुराणवर्णनं नाम द्विपञ्चाशत्तमं पर्व ॥ ५२ ॥

युगल सेवन करने योग्य हैं। सुनने योग्य क्या है? सब लोगोंको विश्वास उत्पन्न करानेवाले इन्हीं पद्मप्रभ भगवान्के सत्य वचन सुननेके योग्य हैं, और ध्यान करने योग्य क्या है? अतिशय निर्मल इन्हीं पद्मप्रभ भगवान्के दिग्दिगन्त तक फैले हुए गुणोंके समूहका ध्यान करना चाहिये इस प्रकार उक्त स्तुतिके विषयभूत भगवान् पद्मप्रभ तुम सबकी रक्षा करें॥ ६९॥ जो पहले सुसीमा नगरीके अधिपति, शत्रुओंके जीतनेवाले, अपराजित नामके लक्ष्मी-सम्पन्न राजा हुए, फिर तप धारण कर तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध करते हुए अन्तिम ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए और तदनन्तर कौशाम्बी नगरीमें अनन्तगुणोंसे सहित, इक्ष्वाकुवंशके अग्रणी, निज-परका कल्याण करनेवाले छठवें तीर्थंकर हुए वे पद्मप्रभ स्वामी सब लोगोंका कल्याण करें॥ ७०॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद् गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टि लक्षण महापुराणके संग्रहमें पद्मप्रभ भगवान्के पुराणका वर्णन करनेवाला बावनवाँ पर्व पूर्ण हुआ।

त्रिपञ्चाशत्तमं पर्व

तत्त्वं सत्त्वादिना येन नैकेनाप्यवधारितम् । तद्वित्तथाप्यसावेव स सुपार्श्वोऽस्तु मे गुरुः ॥ १ ॥
विदेहे धातकीखण्डे प्राच्यां सीतोत्तरे तटे । सुकच्छविषये नन्दिषेणः क्षेमपुराधिपः ॥ २ ॥
प्रज्ञाविक्रमयुक्तस्य स्वानुरक्तानुजीविनः । तस्यानुगुणदैवस्य राज्यश्रीः सुखदायिनी ॥ ३ ॥
शरीरं न भिषग्रक्ष्यं न राज्यमपि मन्त्रिभिः । तथापि तद्द्वयं तस्य क्षेमवत्सुकृतोदयात् ॥ ४ ॥
पुरुषार्थत्रयं तस्मिन्नेकस्मिन्नेव सुस्थितम् । परस्परोपकारेण तस्मात्तस्योपकारिता ॥ ५ ॥
जितारिभूभुजस्यास्य विजिगीषैहलौकिकी । मा भून्नवस्ति सन्मार्गं रक्षतः पारलौकिकी ॥ ६ ॥
एवं राज्यसुखं श्रीमान् बन्धुमित्रानुजीविभिः । [1]सहसानुभवन्नातवैराग्यातिशयः सुधीः ॥ ७ ॥
[2]मोहोदयोभयाविद्धकायवाक्चित्तवृत्तिभिः । तदधा कर्माणि तैर्नीतो जातो गतिचतुष्टये ॥ ८ ॥
संसारे चक्रकभ्रान्त्या दुस्तरे दुःखदूषितः । क्वचादौ सुचिरं भ्राम्यन्नयं भव्यो यदृच्छया ॥ ९ ॥
लब्धकालादिरासीऽपि[3] मुक्तिमार्गं सुदुर्गमम् । [4]रेमे रामादिभिर्मुग्धो धिग्धिग्मां कामुकाग्रिमम् ॥ १० ॥
निर्मूल्याखिलकर्माणि निर्मलो लोकमूर्ध्वगः । किल नाप्नोमि निर्वाणं सार्वं सर्वज्ञभाषितम् ॥ ११ ॥
इत्याविष्कृतसच्चिन्तः सुस्वान्तः स्वस्य सन्ततौ । सुस्थाप्यात्मजमात्मीयं पतिं धनपतिं सताम् ॥ १२ ॥
नरेन्द्रैर्बहुभिः सार्धं [5]निर्धुनानो रजो मुदा । अर्हन्नन्दनपूज्यान्तेवासित्वं प्रत्यपद्यत ॥ १३ ॥

जिन्होंने जीवाजीवादि तत्त्वोंको सत्त्व असत्त्व आदि किसी एक रूपसे निश्चित नहीं किया है फिर भी उनके जानकार वही हैं ऐसे सुपार्श्वनाथ भगवान् मेरे गुरु हों ॥ १ ॥ धातकीखण्डके पूर्व विदेह क्षेत्रमें सीता नदीके उत्तर तट पर सुकच्छ नामका देश है । उसके क्षेमपुर नगरमें नन्दिषेण नामका राजा राज्य करता था ॥ २ ॥ वह राजा बुद्धि और पराक्रमसे युक्त था, उसके अनुचर सदा उसमें अनुराग रखते थे, यही नहीं दैव भी सदा उसके अनुकूल रहता था । इसलिए उसकी राज्य-लक्ष्मी सबको सुख देनेवाली थी ॥ ३ ॥ उसके शरीरकी न तो वैद्य लोग रक्षा करते थे और न राज्यकी मंत्री ही रक्षा करते थे फिर भी पुण्योदयसे उसके शरीर और राज्य दोनों ही कुशलयुक्त थे ॥ ४ ॥ धर्म, अर्थ और काम ये तीनों पुरुषार्थ परस्परका उपकार करते हुए उसी एक राजामें स्थित थे इसलिए यह उस राजाका उपकारीपना ही था ॥ ५ ॥ शत्रुओंको जीतनेवाले इस राजा नन्दिषेणको जीतनेकी इच्छा सिर्फ इस लोक सम्बन्धी ही नहीं थी किन्तु समीचीन मार्गकी रक्षा करते हुए इसके परलोकके जीतनेकी भी इच्छा थी ॥ ६ ॥ इस प्रकार वह श्रीमान् तथा बुद्धिमान् राजा बन्धुओं, मित्रों तथा सेवकोंके साथ राज्य-सुखका अनुभव करता हुआ शीघ्र ही विरक्त हो गया ॥ ७ ॥ वह विचार करने लगा कि यह जीव दर्शनमोह तथा चारित्रमोह इन दोनों मोहकर्मके उदयसे मिली हुई मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे कर्मोंको बाँधकर उन्हींके द्वारा प्रेरित हुआ चारों गतियोंमें उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥ अत्यन्त दुःखसे तरने योग्य इस अनादि संसारमें चक्रकी तरह चिरकालसे भ्रमण करता हुआ भव्य प्राणी दुःखसे दूषित हुआ कदाचित् कालादि लब्धियाँ पाकर अतिशय कठिन मोक्षमार्गको पाता है फिर भी मोहित हुआ स्त्रियों आदिके साथ क्रीडा करता है । मैं भी ऐसा ही हूँ अतः कामियोंमें मुख्य मुझको बार-बार धिक्कार है ॥ ९–१० ॥ मैं समस्त कर्मोंको नष्ट कर निर्मल हो ऊर्ध्व-गामी बनकर सबका हित करनेवाले सर्वज्ञ-निरूपित निर्वाणलोकको नहीं प्राप्त हो रहा हूँ यह दुःख की बात है ॥ ११ ॥ इस प्रकार विचार कर उत्तम हृदयको धारण करनेवाले राजा नन्दिषेणने अपने पद पर सज्जनोत्तम धनपति नामक अपने पुत्रको विराजमान किया और स्वयं अनेक राजाओंके

---

१ स शीघ्रमनुभवन् जातवैराग्यातिशयः क०, घ० । २ मोहोभयोदयाविद्ध ल० । ३ प्राप्तोऽपि ग० । ४ रमे ल० । ५ निर्धूतानो ल० ।

एकादशाङ्गधारी सन्नुक्तद्योग्यकारणैः । स्वीकृत्य तीर्थकृन्नाम संन्यस्यान्ते समाधिमान् ॥ १४ ॥
शुक्ललेश्यो द्विहस्ताङ्को ग्रैवेयकमध्यमे । अहमिन्द्रः सुभद्राख्ये विमाने मध्यमेऽजनि ॥ १५ ॥
चतुःशतेषु पञ्चोत्तरेष्वहःस्वेष निःश्वसन् । शून्यत्रितयसप्तद्विप्रमिताब्देषु विश्वणन् ॥ १६ ॥
विक्रियावधिवीर्यर्द्धित्विट्ख्यातिसप्तमभूमिकः । सप्तविंशतिवार्ध्यायुरथ भुक्त्वाखिलं सुखम् ॥ १७ ॥
आयुरन्ते ततस्तस्मिन्नागमिष्यति भूतलम् । द्वीपेऽस्मिन् भारते काशीविषये वृषभान्वये ॥ १८ ॥
सुप्रतिष्ठमहाराजो पाणस्या महीपतिः । तस्यासीत् पृथिवीषेणा देवी तस्या गृहाङ्गणे ॥ १९ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज
षण्मासान् साररत्नानि ववृषुः सुरवारिदाः । सितषष्ठ्यां विशाखायां मासि भाद्रपदे शुभान् ॥ २० ॥
स्वप्नान् षोडश संवीक्ष्य वारणं चाननागतम् । ज्ञात्वा पत्युः फलं तेषां परितुष्टाग्निमित्रके ॥ २१ ॥
शुभयोगे सितज्येष्ठद्वादश्यां तं सुरोत्तमम् । सोदपीपददुत्तुङ्गमैरावतमिवोर्जितम् ॥ २२ ॥
सुरेन्द्रैर्मन्दरस्यान्ते कृतजन्ममहोत्सवैः । तस्याकारि सुपार्श्वाख्या तत्पादानतमौलिभिः ॥ २३ ॥
कोटीनवसहस्रेषु पद्मप्रभजिनान्तरे । सागरोपमसङ्ख्येषु गते तद्भूतजीवितः ॥ २४ ॥
[1]शून्यषट्युगपक्षोक्तपूर्वजीवी धनुःशत-। द्वयोत्सेधो विधुं कान्त्या क्षेपयन्नाप यौवनम् ॥ २५ ॥
[2]लक्षपञ्च सुपूर्वाणां कौमार्ये गतवत्यतः । धनं त्यक्तुं वदान्यो वा साम्राज्यं स्वीचकार सः ॥ २६ ॥
शुश्रूषाद्यष्टधीधुर्यान् सर्वशास्त्रविशारदान् । नटान् सपेटकान् प्रेक्ष्यान्नर्तकान् नृत्यकोविदान् ॥ २७ ॥
सुकण्ठान् गायकान् श्रव्यानष्टार्धातोद्यवादकान् । सनर्मरुचिरानन्यान्नानाविद्याकलागुणान् ॥ २८ ॥

साथ पाप कर्मको नष्ट करता हुआ बड़े हर्षसे पूज्य अर्हन्नन्दन मुनिका शिष्य बन गया ॥ १२–१३ ॥ तदनन्तर ग्यारह अङ्गका धारी होकर उसने आगममें कही हुई दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओंके द्वारा तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध किया और आयुके अन्तमें संन्यास मरण कर मध्यम ग्रैवेयकके सुभद्र नामक मध्यम विमानमें अहमिन्द्रका जन्म धारण किया। वहाँ उसके शुक्ल लेश्या थी, और दो हाथ ऊँचा शरीर था ॥ १४–१५ ॥ चार सौ पाँच दिनमें श्वास लेता था और सत्ताईस हजार वर्ष बाद आहार ग्रहण करता था ॥ १६ ॥ उसकी विक्रिया ऋद्धि, अवधिज्ञान, बल और कान्ति सप्तमी पृथिवी तक थी तथा सत्ताईस सागर उसकी आयु थी। इस प्रकार समस्त सुख भोगकर आयुके अन्तमें जब वह पृथिवी तल पर अवतीर्ण होनेको हुआ तब इस जम्बूद्वीपके भारत-वर्ष सम्बन्धी काशी देशमें बनारस नामकी नगरी थी। उसमें सुप्रतिष्ठ महाराज राज्य करते थे। सुप्रतिष्ठका जन्म भगवान् वृषभदेवके इक्ष्वाकु-वंशमें हुआ था। उनकी रानीका नाम था पृथिवी-षेणा था। रानी पृथिवीषेणाके घरके आंगनमें देवरूपी मेघोंने छह माह तक उत्कृष्ट रत्नोंकी वर्षा की थी। उसने भाद्रपद शुक्ल षष्ठीके दिन विशाखा नक्षत्रमें सोलह शुभ स्वप्न देखकर मुखमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। उसी समय वह अहमिन्द्र रानीके गर्भमें आया। पतिके मुखसे स्वप्नों-का फल जानकर रानी पृथिवीषेणा बहुत ही हर्षित हुई। तदनन्तर ज्येष्ठशुक्ल द्वादशीके दिन अग्निमित्र नामक शुभयोगमें उसने ऐरावत हाथीके समान उन्नत और बलवान् अहमिन्द्रको पुत्र रूपसे उत्पन्न किया ॥ १८–२२ ॥ इन्द्रोंने सुमेरु पर्वतके मस्तक पर उसका जन्मकालीन महोत्सव किया, उसके चरणोंमें अपने मुकुट झुकाये और 'सुपार्श्व' ऐसा नाम रक्खा ॥ २३ ॥ पद्मप्रभ जिनेन्द्रके बाद नौ हजार करोड़ बीत जानेपर भगवान् सुपार्श्वनाथका जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसी अन्तरालमें सम्मिलित थी ॥ २४ ॥ उनकी आयु बीस लाख पूर्वकी थी, और शरीरकी ऊँचाई दो सौ धनुष थी, वे अपनी कान्तिसे चन्द्रमाको लज्जित करते थे। इस तरह उन्होंने यौवन-अवस्था प्राप्त की ॥ २५ ॥ जब उनके कुमार-कालके पाँच लाख पूर्व व्यतीत हो गये तब उन्होंने दानीकी भाँति धनका त्याग करनेके लिए साम्राज्य स्वीकार किया ॥ २६ ॥ उस समय इन्द्र शुश्रूषा आदि बुद्धिके आठ गुणोंसे श्रेष्ठ, सर्वशास्त्रोंमें निपुण झुण्डके झुण्ड नटोंको, देखने योग्य तथा नृत्य करनेमें निपुण नर्तकोंको, उत्तम कण्ठवाले गायकोंको, श्रवण करने योग्य साढ़ेसात प्रकारके वादित्र-वादकोंको, हास्य-विनोद

---

१ शून्यषट्द्वयपक्षोक्त क०, ग०, घ० षट्युत ल०। २ लक्षपञ्चः क०, ख०, ग० घ०। लक्षाः पञ्च ल०।

स्त्रीश्च तादृग्गुणोपेता गन्धर्वानीकसत्तमाः । आनीय तस्य देवेन्द्रो विनोदैरकरोत्सुखम् ॥ २९ ॥
शेषेन्द्रियत्रयार्थैश्च तत्रोत्कृष्टैर्निरन्तरम् । सुखं तदेव संसारे यदनेनानुभूयते ॥ ३० ॥
निःस्वेदत्वादिसन्नामसम्भूतातिशयाष्टकः । सर्वप्रियहितालापी निर्व्यापारोरुवीर्यकः ॥ ३१ ॥
[1]प्रसन्नोऽनपवर्त्यायुर्गुणपुण्यसुखात्मकः । कल्याणकायःत्रिज्ञानः प्रियङ्गुप्रसवच्छविः ॥ ३२ ॥
मन्दाशुभानुभागोऽयं शुभोत्कृष्टानुभावभाक् । निर्वाणाभ्युदयैश्वर्यकण्ठिकाकान्तकण्ठकः ॥ ३३ ॥
स्वपादनखसंक्रान्तनिखिलेन्द्रमुखाम्बुजः । एधते श्रीधरोऽगाधतृप्त्यम्भोधौ प्रबुद्धधान् ॥ ३४ ॥
स्वायुराद्यष्टवर्षेभ्यः सर्वेषां परतो भवेत् । उदिताष्टकषायाणां तीर्थेशां देशसंयमः ॥ ३५ ॥
ततोऽस्य भोगवस्तूनां साकल्येऽपि जितात्मनः । वृत्तिर्नियमितैकाभूदसङ्ख्यगुणनिर्जरा ॥ ३६ ॥
पूर्वाह्णविंशतिन्यूनलक्षपूर्वायुषि स्थिते । विलोक्यर्तुपरावर्तं सर्वं भावयतोऽध्रुवम् ॥ ३७ ॥
कदाचित्काललब्ध्यास्य विशुद्धोद्बोधदर्पणे । छायाक्रीडेव सा सर्वा साम्राज्यश्रीरभासत ॥ ३८ ॥
ईदृशी नश्वरी ज्ञाता नेयं मायामयी मया । धिग्धिगमां के न मुह्यन्ति भोगरागान्धचेतसः ॥ ३९ ॥
इत्युदाग्रो मनोऽम्भोधौ बोधिर्विधुरिवोद्गतः । देवर्षयस्तदैत्यैनं प्रस्तुतार्थैः समस्तुवन् ॥ ४० ॥
सुरैरूढां समारुह्य शिबिकां च मनोगतिम् । सहेतुकवने शुक्ले ज्येष्ठे षष्ठोपवासधृत् ॥ ४१ ॥

करनेमें चतुर, अनेक विद्याओं और कलाओंमें निपुण अन्य अनेक मनुष्योंको, ऐसे ही गुणोंसे सहित अनेक स्त्रियोंको तथा गन्धर्वोंकी श्रेष्ठ सेनाको बुलाकर अनेक प्रकारके विनोदोंसे भगवानको सुख पहुँचाता था ॥ २७–२९ ॥ इसी प्रकार चक्षु और कर्णके सिवाय शेष तीन इन्द्रियोंके उत्कृष्ट विषयोंसे भी इन्द्र, भगवान्‌को निरन्तर सुखी रखता था। यथार्थमें संसारमें सुख वही था जिसका कि भगवान् सुपार्श्वनाथ उपभोग करते थे ॥ ३० ॥ प्रशस्त नामकर्मके उदयसे उनके निःस्वेदत्व आदि आठ अतिशय प्रकट हुए थे, वे सर्वप्रिय तथा सर्वहितकारी वचन बोलते थे, उनका व्यापाररहित अतुल्य बल था, वे सदा प्रसन्न रहते थे, उनकी आयु अनपवर्त्य थी—असमयमें कटनेवाली नहीं थी, गुण, पुण्य और सुख रूप थे, उनका शरीर कल्याणकारी था, वे मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानोंसे सहित थे, प्रियङ्गुके पुष्पके समान उनकी कान्ति थी, उनके अशुभ कर्मका अनुभाग अत्यन्त मन्द था, शुभ कर्मका अनुभाग अत्यन्त उत्कृष्ट था, उनका कण्ठ मानो मोक्ष-स्वर्ग तथा मानयोचित ऐश्वर्यकी कण्ठीसे ही सुशोभित था। उनके चरणोंके नखोंमें समस्त इन्द्रोंके मुखकमल प्रतिबिम्बित हो रहे थे, इस प्रकार लक्ष्मीको धारण करनेवाले प्रकृष्टज्ञानी भगवान् सुपार्श्वनाथ अगाध संतोष-सागरमें वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे ॥ ३१–३४ ॥ जिनके प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठ कषायोंका ही केवल उदय रह जाता है ऐसे सभी तीर्थंकरोंके अपनी आयुके प्रारम्भिक आठ वर्षके बाद देश-संयम हो जाता है ॥ ३५ ॥ इसलिए यद्यपि उनके भोगोपभोगकी वस्तुओंकी प्रचुरता थी तो भी वे अपनी आत्माको अपने वश रखते थे, उनकी वृत्ति नियमित थी तथा असंख्यातगुणी निर्जराका कारण थी ॥ ३६ ॥

जब उनकी आयु बीस पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्वकी रह गई तब किसी समय ऋतुका परिवर्तन देखकर वे 'समस्त पदार्थ नश्वर हैं' ऐसा चिन्तवन करने लगे ॥ ३७ ॥ उनके निर्मल सम्यग्ज्ञान रूपी दर्पणमें काललब्धिके कारण समस्त राज्य-लक्ष्मी छायाकी क्रीडाके समान नश्वर जान पड़ने लगी ॥ ३८ ॥ मैं नहीं जान सका कि यह राज्यलक्ष्मी इसी प्रकार शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाली तथा मायासे भरी हुई है। मुझे धिक्कार हो, धिक्कार हो। सचमुच ही जिनके चित्त भोगोंके रागसे अन्धे हो रहे हैं ऐसे कौन मनुष्य हैं जो मोहित न होते हों ॥ ३९ ॥ इस प्रकार भगवान्‌के मनरूपी सागरमें चन्द्रमाके समान उत्कृष्ट आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ और उसी समय लौकान्तिक देवोंने आकर समयानुकूल पदार्थोंसे भगवान्‌की स्तुति की ॥ ४० ॥ तदनन्तर भगवान् सुपार्श्वनाथ, देवोंके द्वारा उठाई हुई मनोगति नामकी पालकी पर आरूढ़ होकर सहेतुक वनमें गये और वहाँ ज्येष्ठशुक्ल द्वादशी-

---

१ प्रसन्नानवर्त्यायु–क०, घ० ।

गर्भागमर्क्षे द्वादश्यां सायाह्ने संयमं श्रितः । नृपैः सह सहस्रेण तदापोपान्त्यबोधनम्[1] ॥ ४२ ॥
पश्चिमे दिवसे सोमखेटे तं कनकद्युतिः । नृपो महेन्द्रदत्ताख्यः [2]प्रतीक्ष्यापामरार्चनम् ॥ ४३ ॥
सुपार्श्वो मौनमास्थाय छाद्मस्थ्ये नववर्षकः । सहेतुकवने मूले शिरीषस्य द्व्युपोषितः ॥ ४४ ॥
गर्भावतारनक्षत्रे कृष्णषष्ठ्यपराह्णगः । समुत्पन्नान्तरज्ञानः सम्प्राप्तामरपूजनः ॥ ४५ ॥
बलाख्यमुख्यपञ्चान्तरन्ध्रोक्तगणभृद्वृतः । शून्यत्रिशून्यपक्षोक्तसर्वपूर्वधराधिपः ॥ ४६ ॥
शून्यद्विरन्ध्रवार्ध्यब्धिपक्षमानोक्तशिक्षकः । शून्यत्रयनवज्ञाततृतीयावगमश्रितः ॥ ४७ ॥
खत्रयैकैकनिर्दिष्टकेवलावगमान्वितः । शून्यद्वयत्रिपञ्चैकसङ्ख्यावैक्रियिकार्चितः ॥ ४८ ॥
शून्यपञ्चैकरन्ध्रोक्तमनःपर्ययबोधनः । षट्शताष्टसहस्रोक्तवादिवन्दितवाक्पतिः ॥ ४९ ॥
पिण्डीकृतत्रिलक्षोक्तमुनिवृन्दारकाधिपः । मीनार्याद्यार्यिकात्रिंशत्सहस्रान्तत्रिलक्षकः ॥ ५० ॥
त्रिलक्षश्रावकः पञ्चलक्षसत्श्राविकार्चितः । असङ्ख्यदेवदेवीड्यस्तिर्यक्सङ्ख्यातसंयतः[3] ॥ ५१ ॥
धर्मामृतमयीं वाणीं ग्राहयन् विहरन् महीम् । पश्चात्संहृत्य सम्मेदे विहारं मासमुद्वहन् ॥ ५२ ॥
प्रतिमायोगमापाद्य सहस्रमुनिभिः समम् । फाल्गुने कृष्णसप्तम्यां राधायां दिनपोदये ॥ ५३ ॥
कृतपद्मप्रकल्याणाः कल्पपुण्याः सुरोत्तमाः । निर्वाणक्षेत्रमत्रेति परिकल्प्यागमन् दिवम् ॥ ५४ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

दुर्वारं दुरितोरुशत्रुसमितिं निष्पन्नधीर्निष्क्रियन्[4]
तूष्णीं युद्धमधिष्ठितः कतिपयाः काष्ठाः प्रतिष्ठां गतः ।

के दिन सायंकालके समय, गर्भके विशाखा नक्षत्रमें वेलाका नियम लेकर एक हजार राजाओंके साथ संयमी हो गये—दीक्षित हो गये। उसी समय उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया ॥ ४१-४२ ॥ दूसरे दिन वे चर्याके लिए सोमखेट नामक नगरमें गये। वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले महेन्द्रदत्त नामके राजाने पडगाह कर देवोंसे पूजा प्राप्त की ॥ ४३ ॥ सुपार्श्वनाथ भगवान् छद्मस्थ अवस्थामें नौ वर्ष तक मौन रहे। तदनन्तर उसी सहेतुक वनमें दो दिनके उपवासका नियम लेकर वे शिरीष वृक्षके नीचे ध्यानारूढ़ हुए। वहीं फाल्गुन (?) कृष्ण षष्ठीके दिन सायंकालके समय गर्भावतारके विशाखा नक्षत्रमें उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ जिसमें देवोंने उनकी पूजा की ॥ ४४-४५ ॥ वे बलको आदि लेकर पंचानवे गुणधरोंसे सदा घिरे रहते थे, दो हजार तीस पूर्वधारियोंके अधिपति थे, दो लाख चवालीस हजार नौ सौ बीस शिक्षक उनके साथ रहते थे, नौ हजार अवधिज्ञानी उनकी सेवा करते थे, ग्यारह हजार केवलज्ञानी उनके सहगामी थे, पन्द्रह हजार तीन सौ विक्रियाऋद्धिके धारक उनकी पूजा करते थे, नौ हजार एक सौ पचास मनःपर्ययज्ञानी उनके साथ रहते थे, और आठ हजार छह सौ वादी उनकी वन्दना करते थे। इस प्रकार सब मिलाकर तीन लाख मुनियोंके स्वामी थे। मीनार्याको आदि लेकर तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएँ उनके साथ रहती थीं, तीन लाख श्रावक और पाँच लाख श्राविकाएँ उनकी पूजा करती थीं, असंख्यात देव-देवियाँ उनकी स्तुति करती थीं और संख्यात तिर्यञ्च उनकी वन्दना करते थे ॥ ४६-५१ ॥ इस प्रकार लोगोंको धर्मामृतरूपी वाणी ग्रहण कराते हुए वे पृथिवीपर विहार करते थे। अन्तमें जब आयुका एक माह रह गया तब विहार बन्द कर वे सम्मेदशिखर पर जा पहुँचे। वहाँ एक हजार मुनियोंके साथ उन्होंने प्रतिमा-योग धारण किया और फाल्गुन कृष्ण सप्तमीके दिन विशाखा नक्षत्रमें सूर्योदयके समय लोकका अग्रभाग प्राप्त किया—मोक्ष पधारे ॥ ५२-५३ ॥ तदनन्तर पुण्यवान् कल्पवासी उत्तम देवोंने निर्वाण-कल्याणक किया, तथा 'यहाँ निर्वाण-क्षेत्र है' इस प्रकार सम्मेदशिखरको निर्वाण-क्षेत्र ठहराकर स्वर्गकी ओर प्रयाण किया ॥ ५४ ॥

---

१ मनःपर्ययज्ञानम् । २ प्रतीक्ष्य प्रतिग्राह्य आप लेभे, अमरार्चनं देवकृतपूजाम् । ३ संमतः क०, ख०, ग०, घ०, । ४-निष्क्रियस् क०, ख०, ग०, घ० ।

निष्टां दुष्टतमां निनाय निपुणो निर्वाणकाष्ठामितः
प्रेष्ठो द्राक्कुरुताचिरं परिचितान् पार्श्वे सुपार्श्वः स नः ॥५५॥

वसन्ततिलका

क्षेमाख्यपत्तनपतिर्नुतनन्दिषेणः
कृत्वा तपो नवसुमध्यगतेऽहमिद्रः ।
वाराणसीपुरि सुपार्श्वनृपो जितारि-
रिक्ष्वाकुवंशतिलकोऽवतु तीर्थकृद् वः ॥ ५६ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे सुपार्श्वस्वामिनः पुराणं परिसमाप्तं त्रिपञ्चाशत्तमं पर्व ॥ ५३ ॥

अत्यन्त बुद्धिमान् और निपुण जिन्होंने सुपार्श्वनाथ भगवान्‌को दुःखसे निवारण करनेके योग्य पापरूपी बड़े भारी शत्रुओंके समूहको निष्क्रिय कर दिया, मौन रखकर उसके साथ युद्ध किया, कुछ काल तक समवसरणमें प्रतिष्ठा प्राप्त की, अत्यन्त दुष्ट दुर्वासनाको दूर किया और अन्तमें निर्वाण-की अवधिको प्राप्त किया, वे श्रेष्ठतम भगवान् सुपार्श्वनाथ हम सब परिचितोंको चिरकालके लिए शीघ्र ही अपने समीपस्थ करें ॥ ५५ ॥ जो पहले भवमें क्षेमपुर नगरके स्वामी तथा सबके द्वारा स्तुति करने योग्य नन्दिषेण राजा हुए, फिर तप कर नव ग्रैवेयकोंमेंसे मध्यके ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए, तदनन्तर बनारस नगरीमें शत्रुओंको जीतनेवाले और इक्ष्वाकु वंशके तिलक महाराज सुपार्श्व हुए वे सप्तम तीर्थंकर तुम सबकी रक्षा करें ॥ ५६ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्यसे प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें सुपार्श्वनाथ स्वामीका पुराण वर्णन करनेवाला त्रेपनवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चतुःपञ्चाशत्तमं पर्व

नीत्वैकवर्णतां [1]सर्वां सभां यः प्रभया स्वया । शुद्धितामनयच्छुद्धः शुद्धये चन्द्रप्रभोऽस्तु नः ॥ १॥
देहप्रभेव वाग्यस्याह्लादिन्यपि च बोधिनी । तन्नमामि नभोभागे सुरतारापरिष्कृतम् ॥ २ ॥
नामग्रहोऽपि यस्यार्घं निहन्त्यखिलमङ्गिनाम् । न हन्यात् किं नु तस्याऽऽर्यं चरितं श्रुतिगोचरम् ॥ ३ ॥
तत्पुराणं ततो वक्ष्ये भवादासप्तमादहम् । श्रोतव्यं भव्य ते श्रद्धां निधाय मगधाधिप ॥ ४ ॥
दानं पूजां तथान्यच्च मुक्त्यै ज्ञानेन संस्कृतम् । तत्पुराणश्रुतेः श्रव्यं तत्तदेव हितैषिभिः ॥ ५ ॥
अर्हद्भिर्भाषितं सूक्तमनुयोगैश्चतुष्टयम् । तेषु पूर्वं पुराणानि तस्मात्प्रोक्तः श्रुतिक्रमः ॥ ६ ॥
सा जिह्वा तौ मनःकर्णौ यैर्वक्तिश्रुतिचिन्तनाः । पूर्वादीनां पुराणानां पुरुषार्थोपदेशिनाम् ॥ ७ ॥
अस्त्यत्र पुष्करद्वीपः तन्मध्ये मानुषोत्तरः । [2]नृसंचारस्य सीमासौ सर्वतो वलयाकृतिः ॥ ८ ॥
तदभ्यन्तरभागे स्तो मन्दरौ पूर्वपश्चिमौ । पूर्वस्मिन् मन्दरे देशो विदेहे पश्चिमे महान् ॥ ९ ॥
सीतोदोदक्तटे दुर्गवनस्वन्याकरोचितैः । अकृष्टपच्यसस्याद्यैः सुगन्धिर्भूगुणैरभात् ॥ १० ॥
तस्मिन्देशे जनाः सर्वे वर्णत्रयविकल्पिताः । स्निग्धाः सूक्ष्मेक्षणाः प्रेक्ष्या विलोचनविशेषवत् ॥ ११ ॥
ऋजवो धार्मिका वीतदोषाः क्लेशसहिष्णवः । कर्षकाः सफलारम्भाः तपःस्थाँश्चातिशेरते ॥ १२ ॥

जो स्वयं शुद्ध हैं और जिन्होंने अपनी प्रभाके द्वारा समस्त सभाको एक वर्णकी बनाकर शुद्ध कर दी, वे चन्द्रप्रभ स्वामी हम सबकी शुद्धिके लिए हों ॥ १ ॥ शरीरकी प्रभाके समान जिनकी वाणी भी हर्षित करनेवाली तथा पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाली थी और जो आकाशमें देवरूपी ताराओंसे घिरे रहते थे उन चन्द्रप्रभ स्वामीको नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥ जिनका नाम लेना भी जीवोंके समस्त पापोंको नष्ट कर देता है फिर सुना हुआ उनका पवित्र चरित्र क्यों नहीं नष्ट कर देगा ? इसलिए मैं पहलेके सात भवोंसे लेकर उनका चरित्र कहूंगा । हे भव्य श्रेणिक ! तुझे उसे श्रद्धा रखकर सुनना चाहिये ॥ ३-४ ॥ दान, पूजा तथा अन्य कारण यदि सम्यग्ज्ञानसे सुशोभित होते हैं तो वे मुक्तिके कारण होते हैं और चूँकि वह सम्यग्ज्ञान इस पुराणके सुननेसे होता है अतः हितकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंके द्वारा अवश्य ही सुननेके योग्य है ॥ ५ ॥ अर्हन्त भगवान्‌ने अनुयोगोंके द्वारा जो चार प्रकारके सूक्त बतलाये हैं उनमें पुराण प्रथम सूक्त है ! भगवान्‌ने इन पुराणोंसे ही सुननेका क्रम बतलाया है ॥ ६ ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थका उपदेश देनेवाले भगवान् ऋषभदेव आदिके पुराणोंको जो जीभ कहती है, जो कान सुनते हैं और जो मन सोचता है वही जीभ है, वही कान है और वही मन है, अन्य नहीं ॥ ७ ॥

इस मध्यम लोकमें एक पुष्करद्वीप है । उसके बीचमें मानुषोत्तर पर्वत है । यह पर्वत चारों ओरसे वलयके आकार गोल है तथा मनुष्योंके आवागमनकी सीमा है ॥ ८ ॥ उसके भीतरी भागमें दो सुमेरु पर्वत हैं एक पूर्व मेरु और दूसरा पश्चिम मेरु । पूर्व मेरुके पश्चिमकी ओर विदेहक्षेत्रमें सीतोदा नदीके उत्तर तट पर एक सुगन्धि नामका बड़ा भारी देश है । जो कि योग्य किला, वन, खाई, खानें और बिना बोये होनेवाली धान्य आदि पृथिवीके गुणोंसे सुशोभित है ॥ ९-१० ॥ उस देशके सभी मनुष्य क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णमें विभक्त थे तथा नेत्र विशेषके समान स्नेहसे भरे हुए, सूक्ष्म पदार्थोंको देखने वाले एवं दर्शनीय थे ॥ ११ ॥ उस देशके किसान तपस्वियोंका अतिक्रमण करते थे अर्थात् उनसे आगे बढ़े हुए थे । जिस प्रकार तपस्वी ऋजु अर्थात् सरलपरिणामी होते हैं उसी प्रकार वहाँके किसान भी सरलपरिणामी—भोले भाले थे, जिस प्रकार तपस्वी धार्मिक होते हैं उसी प्रकार किसान भी धार्मिक थे—धर्मात्मा थे अथवा खेतकी रक्षाके लिए धर्म—धनुषसे

---

१ सर्वान् ख० । २ नृसंसारस्य ल० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जलाशयाश्च सुस्वच्छाः सुखभोग्याः सपद्मकाः । सन्तप्तच्छेदिनोऽगाधा मनोनयनहारिणः ॥ १३ ॥
क्षेत्राणि सर्वधान्यानि सर्वतर्पीणि सर्वदा । सम्पन्नानि महीभर्तुः कोष्ठागाराणि वा बभुः ॥ १४ ॥
ग्रामाः कुक्कुटसम्पात्याः सारा बहुकृषीबलाः । पशुधान्यधनापूर्णाः नित्यारम्भा[1] निराकुलाः ॥ १५ ॥
वीतदण्डादिबाधत्वान्निगमाः सर्वसम्पदः । वर्णाश्रमसमाकीर्णास्ते स्थानीयानुकारिणः ॥ १६ ॥
[2]अंसचारिपथोपेतः सफलाकण्टकद्रुमः । अदृष्टाष्टभयः प्रान्तर्वाधितन्वीवनाश्रयः ॥ १७ ॥
यद्यज्जनपदस्योक्तं नीतिशास्त्रविशारदैः । लक्षणं तस्य तस्यायं देशो लक्ष्यत्वमाँयियान् ॥ १८ ॥
हानिर्धनस्य सत्पात्रे सत्क्रियायाः फलावधौ । उन्नतेर्विनयस्थाने प्राणस्य परमायुषि ॥ १९ ॥
तुङ्गेषु कुचयोरेव काठिन्यमतिवर्तते । गजेष्वेव प्रपातोऽपि तरुष्वेव [3]दरीरिपु ॥ २० ॥
दण्डश्छत्रे तुलायाञ्च नागरादिषु तीक्ष्णता । रोधनं सेतुबन्धेषु शब्दशास्त्रेऽपवादभाक् ॥ २१ ॥

सहित थे, जिस प्रकार तपस्वी वीतदोष–दोषोंसे रहित होते हैं उसी प्रकार किसान भी वीतदोष–निर्दोष थे अथवा खेतोंकी रक्षाके लिए दोषाएँ–रात्रियाँ व्यतीत करते थे, जिस प्रकार तपस्वी क्षुधा तृषा आदिके कष्ट सहन करते हैं उसी प्रकार किसान भी क्षुधा तृषा आदिके कष्ट सहन करते थे। इस प्रकार सादृश्य होनेपर भी किसान तपस्वियोंसे आगे बढ़े हुए थे उसका कारण था कि तपस्वी मनुष्योंके आरम्भ सफल भी होते थे और निष्फल भी चले जाते थे परन्तु किसानोंके आरम्भ निश्चित रूपसे सफल ही रहते थे ॥ १२ ॥ वहांके सरोवर अत्यन्त निर्मल थे, सुखसे उपभोग करनेके योग्य थे, कमलोंसे सहित थे, सन्तापका छेद करनेवाले थे, अगाध–गहरे थे और मन तथा नेत्रोंको हरण करनेवाले थे ॥ १३ ॥ वहांके खेत राजाके भाण्डारके समान जान पड़ते थे, क्योंकि जिस प्रकार राजाओंके भाण्डार सब प्रकारके अनाजसे परिपूर्ण रहते हैं उसी प्रकार वहांके खेत भी सब प्रकारके अनाजसे परिपूर्ण रहते थे, राजाओंके भंडार जिस प्रकार हमेशा सबको संतुष्ट करते हैं उसी प्रकार वहांके खेत भी हमेशा सबको सन्तुष्ट रखते थे, और राजाओंके भंडार जिस प्रकार सम्पन्न–सम्पत्तिसे युक्त रहते हैं उसी प्रकार वहांके खेत भी धान्यरूपी सम्पत्तिसे सम्पन्न रहते थे अथवा 'समन्तान् पन्नाः सम्पन्नाः' सब ओरसे प्राप्त करने योग्य थे ॥ १४ ॥ वहांके गाँव इतने समीप थे कि मुर्गा भी एकसे उड़ कर दूसरे पर जा सकता था, उत्तम थे, उनमें बहुतसे किसान रहते थे, पशु धन धान्य आदिसे परिपूर्ण थे। उनमें निरन्तर काम-काज होते रहते थे तथा सब प्रकारसे निराकुल थे ॥ १५ ॥ वे गांव दण्ड आदिकी बाधासे रहित होनेके कारण सर्व सम्पत्तियोंसे सुशोभित थे, वर्णाश्रमसे भरपूर थे और वहीं रहने वाले लोगोंका अनुकरण करनेवाले थे ॥ १६ ॥ वह देश ऐसे मार्गोंसे सहित था जिनमें जगह-जगह कंधों पर्यन्त पानी भरा हुआ था, अथवा जो असंचारी—दुर्गम थे, अथवा जो असंचारि—आने जानेकी रुकावटसे रहित थे। वहांके वृक्ष फलोंसे लदे हुए तथा कांटोंसे रहित थे। आठ प्रकारके भयोंमें से वहाँ एक भी भय दिखाई नहीं देता था और वहांके वन समीपवर्ती गलियों रूपी स्त्रियोंके आश्रय थे ॥ १७ ॥ नीतिशास्त्रके विद्वानोंने देशके जो जो लक्षण कहे हैं यह देश उन सबका लक्ष्य था अर्थात् वे सब लक्षण इसमें पाये जाते थे ॥ १८ ॥ उस देशमें धनकी हानि सत्पात्रको दान देते समय होती थी अन्य समय नहीं। समीचीन क्रियाकी हानि फल प्राप्त होने पर ही होती थी अन्य समय नहीं। उन्नतिकी हानि विनयके स्थान पर होती थी अन्य स्थान पर नहीं, और प्राणोंकी हानि आयु समाप्त होने पर ही होती थी अन्य समय नहीं ॥ १९ ॥ ऊँचे उठे हुए पदार्थोंमें यदि कठोरता थी तो स्त्रियोंके स्तनोंमें ही थी अन्यत्र नहीं थी। प्रपात यदि था तो हाथियोंमें ही था अर्थात् उन्हींका मद झरता था अन्य मनुष्योंमें प्रपात अर्थात् पतन नहीं था। अथवा प्रपात था तो गुहा आदि निम्न स्थानवर्ती वृक्षोंमें ही था अन्यत्र नहीं ॥ २० ॥ वहाँ यदि दण्ड था तो छत्र अथवा तराजूमें ही था वहांके मनुष्योंमें दण्ड नहीं था अर्थात् उनका कभी जुर्माना नहीं होता था। तीक्ष्णता–तेजस्विता यदि थी तो कोतवाल आदिमें ही, वहांके मनुष्योंमें तीक्ष्णता

१ नित्यारम्भनिराकुलाः ख०, ग० । २ असंचारिपथो ख०, ग० । ३ असंचारि क०, । ४ दरीषु च०, ल० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

निस्त्रिंशशब्दः खड्गेषु विश्वाशित्वं हुताशने । तापकत्वं खराभीषौ मारकत्वं यमाह्वये ॥ २२ ॥
धर्मो जैनेन्द्र एवास्मिन् दिवसे वा दिवाकरः । ततो नैकान्तवादानामुलूकानामिवोद्गमः ॥ २३ ॥
दुर्गाण्यासन् यथास्थानं सातत्येनानुसंस्थितैः । भृतानि यन्त्रशस्त्राम्बुयवसैन्धवरक्षकैः ॥ २४ ॥
तस्य मध्ये शुभस्थाने ललाटे वा विशेषकम् । विशेषैः सर्वरम्याणां श्रीपुरं [1]वामरं पुरम् ॥ २५ ॥
विकसन्नीलनीरेजसरोजालिविलोचनैः । स्वच्छवारिसरोवक्त्रैर्हसत्परपुरश्रियम् ॥ २६ ॥
नानाप्रसूनसुस्वादकेसरासवपायिनः । तत्रालिनोऽलिनीवृन्दैः प्रयान्त्यापानकोत्सवम् ॥ २७ ॥
तदुत्तुङ्गमहासौधगेहैः समुरजारवैः । विश्राम्यन्तु भवन्तोऽत्रेत्याह्वयद्वा घनाघनान् ॥ २८ ॥
तदेव सर्ववस्तूनामाकरीभूतमन्यथा । तानि निष्ठां न किं यान्ति तथा भोगैर्निरन्तरम् ॥ २९ ॥
यद्यदालोक्यते तत्तत्स्ववर्गीणेषु सरागम् । भ्रान्तिः स्वर्गोऽयमेवेति करोति मरुतामपि ॥ ३० ॥
सत्कुलेषु समुद्भूतास्तत्र सर्वेऽपि [2]सव्रताः । उत्पद्यन्ते यतः प्रेत्य स्वर्गजाः शुद्धदृष्टयः ॥ ३१ ॥
स्वर्गः किमीदृशो वेति तत्रस्थाश्चारुदर्शनाः । मुक्त्यर्थमेव कुर्वन्ति धर्मं न स्वर्गमेधया ॥ ३२ ॥
तत्रोत्सवे जनाः पूजां मङ्गलार्थं प्रकुर्वते । शोके तदपनोदार्थमेते जैनीं विवेकिनः ॥ ३३॥
साध्यार्था इव साध्यन्ते जैनवादैः [3]सहेतुभिः । धर्मार्थकामास्तज्ज्ञातैरमेयसुखदायिनः ॥ ३४ ॥

नहीं–क्रूरता नहीं थी। रुकावट केवल पुलोंमें ही थी वहांके मनुष्योंमें किसी प्रकारकी रुकावट नहीं थी। और अपवाद यदि था तो व्याकरण शास्त्रमें ही था वहांके मनुष्योंमें अपवाद–अपयश नहीं था ॥ २१ ॥ निस्त्रिंश शब्द कृपाणमें ही आता था अर्थात् कृपाण ही (त्रिंशद्भ्योऽङ्गुलिभ्यो निर्गत इति निस्त्रिंशः) तीस अङ्गुलसे बड़ी रहती थी, वहांके मनुष्योंमें निस्त्रिंश—क्रूर शब्दका प्रयोग नहीं होता था। विश्वाशित्व अर्थात् सब चीजें खा जाना यह शब्द अग्निमें ही था वहांके मनुष्यों में विश्वाशित्व—सर्वभक्षकपना नहीं था। तापकत्व अर्थात् संताप देना केवल सूर्यमें था वहांके मनुष्योंमें नहीं था, और मारकत्व केवल यमराजके नामोंमें था वहांके मनुष्योंमें नहीं था ॥ २२ ॥ जिस प्रकार सूर्य दिनमें ही रहता है उसी प्रकार धर्म शब्द केवल जिनेन्द्र प्रणीत धर्ममें ही रहता था। यही कारण था कि वहाँ पर उल्लुओंके समान एकान्त वादोंका उद्गम नहीं था ॥ २३ ॥ उस देशमें सदा यथास्थान रखे हुए यन्त्र, शस्त्र, जल, जौ, घोड़े और रक्षकोंसे भरे हुए किले थे ॥ २४ ॥ जिस प्रकार ललाटके बीचमें तिलक होता है उसी प्रकार अनेक शुभस्थानोंसे युक्त उस देशके मध्यमें श्रीपुर नामका नगर है। वह श्रीपुर नगर अपनी सब तरहकी मनोहर वस्तुओंसे देवनगरके समान जान पड़ता था ॥ २५ ॥ खिले हुए नीले तथा लाल कमलोंके समूह ही जिनके नेत्र हैं ऐसे स्वच्छ जलसे भरे हुए सरोवररूपी मुखोंके द्वारा वह नगर शत्रुनगरोंकी शोभाकी मानो हँसी ही उड़ाता था ॥ २६ ॥ उस देशमें अनेक प्रकारके फूलोंके स्वादिष्ट केशरके रसको पीनेवाले भौंरे भ्रमरियोंके समूहके साथ पान-गोष्ठीका आनन्द प्राप्त करते थे ॥ २७ ॥ उस नगरमें बड़े-बड़े ऊँचे पक्के भवन बने हुए थे, उनमें मृदङ्गोंका शब्द हो रहा था। जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो 'आप लोग यहाँ विश्राम कीजिये' इस प्रकार वह नगर मेघोंको ही बुला रहा था ॥ २८ ॥ ऐसा मालूम होता था कि वह नगर सर्व वस्तुओंका मानो खान था। यदि ऐसा न होता तो निरन्तर उपभोगमें आने पर वे समाप्त क्यों नहीं होतीं ? ॥ २९ ॥ उस नगर में जो जो वस्तु दिखाई देती थी वह अपने वर्गमें सर्वश्रेष्ठ रहती थी अतः देवोंको भी भ्रम हो जाता था कि क्या यह स्वर्ग ही है ? ॥३०॥ वहांके रहने वाले सभी लोग उत्तम कुलोंमें उत्पन्न हुए थे, व्रतसहित थे तथा सम्यग्दृष्टि थे अतः वहांके मरे हुए जीव स्वर्गमें ही उत्पन्न होते थे ॥ ३१ ॥ 'स्वर्गमें क्या रक्खा ? वह तो ऐसा ही है' यह सोच कर वहांके सम्यग्दृष्टि मनुष्य मोक्षके लिए ही धर्म करते थे, स्वर्गकी इच्छासे नहीं ॥ ३२ ॥ उस नगरमें विवेकी मनुष्य उत्सवके समय मङ्गलके लिए और शोकके समय उसे दूर करनेके लिए जिनेन्द्र भगवान्की पूजा किया करते थे ॥ ३३ ॥ वहांके जैनवादी लोग अपरिमित सुख देनेवाले धर्म, अर्थ

---

१ आमरं वा देवनगरवत् । २ सुव्रताः क०, घ० ।

द्वीपार्द्धचक्रवालो वा प्राकारो यत्परीतवान् । भियेव रविसन्तापाद्धीनोऽभून्मणिरश्मिषु ॥ ३५ ॥
श्रीषेणो नाम तस्यासीत् पतिः सुरपतिद्युतिः । नतारिमौलिरत्नांशुवार्विकासिक्रमाम्बुजः ॥ ३६ ॥
पाति यस्मिन् भुवं जिष्णौ दृष्टा विगतविक्रियाः । अभूवन् शक्तिवन्मन्त्रसन्निधौ वा भुजङ्गमाः ॥३७॥
उपाया येन सञ्चिन्त्य यथास्थानप्रयोजिताः । ददुः फलमतिस्फीतं समाहर्तृवदर्थितम् ॥ ३८ ॥
श्रीकान्ता नाम तस्यासीद् वनिता विनयान्विता । सती मृदुपदन्यासा सत्कवेरिव भारती ॥ ३९ ॥
रूपाद्याः स्त्रीगुणास्तस्याः समुत्पन्नाः सुखावहाः । सुता इव सदा पाल्या वन्द्याश्च गुरुवत्सताम् ॥ ४० ॥
अरीरमन्मनः पत्युस्तस्या रूपादयो गुणाः । स्यादेवकारसंयुक्ता नया इव मनीषिणः ॥ ४१ ॥
प्रतिच्छन्दः परस्त्रीणां वेधसैषा विनिर्मिता । गुणानामिव मञ्जूषा स्वमतिप्रतिपत्तये ॥ ४२ ॥
[1]अपापं सुखमच्छिन्नं [2]सदृहं समतृप्तिदम् । मिथुनं सत्समापोच्चैर्मिथुनं वामरं परम् ॥ ४३ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री कदाचिदथ शोकार्तो निष्पुत्रतयाऽद्युचाहितः । इति स्वगतमेकाकी सन्तत्यर्थमचिन्तयत् ॥ ४४ ॥
स्त्रियः संसारवल्लर्यः सत्पुत्रास्तत्फलायिताः । न चेत्ते तस्य रामाभिः पापाभिः किं नृपापिनः ॥ ४५ ॥
यः पुत्रवदनाम्भोजं नापश्यद्दैवयोगतः । षड्खण्डश्रीमुखाब्जेन दृष्टेनाप्यस्य तेन किम् ॥ ४६ ॥
ततः पुरोधसः प्राहुं सुतं सदुपदेशतः । अनर्घैर्मणिभिः पञ्चवर्णैरञ्चितकाञ्चनैः ॥ ४७ ॥

और कामको साध्य पदार्थोंके समान उन्हींसे उत्पन्न हुए हेतुओंसे सिद्ध करते थे ॥ ३४ ॥ उस नगरको घेरे हुए जो कोट था वह ऐसा जान पड़ता था मानो पुष्करवरद्वीपके बीचमें पड़ा हुआ मानुषोत्तर पर्वत ही हो। वह कोट अपने रत्नोंकी किरणोंमें ऐसा जान पड़ता था मानो सूर्यके संतापके भयसे छिप ही गया हो ॥ ३५ ॥ नमस्कार करनेवाले शत्रु राजाओंके मुकुटोंमें लगे हुए रत्नोंकी किरणें रूपी जलमें जिसके चरण, कमलके समान विकसित हो रहे हैं ऐसा, इन्द्रके समान कान्तिका धारक श्रीषेण नामका राजा उस श्रीपुर नगरका स्वामी था ॥ ३६ ॥ जिस प्रकार शक्तिशाली मन्त्रके समीप सर्प विकाररहित हो जाते हैं उसी प्रकार विजयी श्रीषेणके पृथिवीका पालन करने पर सब दुष्ट लोग विकाररहित हो गये थे ॥ ३७ ॥ उसने साम, दान आदि उपायोंका ठीक-ठीक विचार कर यथास्थान प्रयोग किया था इसलिए वे दाताके समान बहुत भारी इच्छित फल प्रदान करते थे ॥ ३८ ॥ उसकी विनय करनेवाली श्रीकान्ता नामकी स्त्री थी। वह श्रीकान्ता किसी अच्छे कविकी वाणीके समान थी। क्योंकि जिस प्रकार अच्छे कविकी वाणी सती अर्थात् दुःश्रवत्व आदि दोषोंसे रहित होती है उसी प्रकार वह भी सती अर्थात् पतिव्रता थी और अच्छे कविकी वाणी जिस प्रकार मृदुपदन्यासा अर्थात् कोमलकान्तपदविन्याससे युक्त होती है उसी प्रकार वह भी मृदुपदन्यासा अर्थात् कोमल चरणोंके निक्षेपसे सहित थी ॥ ३९ ॥ स्त्रियोंके रूप आदि जो गुण हैं वे सब उसमें सुख देनेवाले उत्पन्न हुए थे। वे गुण पुत्रके समान पालन करने योग्य थे और गुरुओंके समान सज्जनोंके द्वारा वन्दनीय थे ॥ ४० ॥ जिस प्रकार स्यादेवकार—स्यात् एव शब्दसे (किसी अपेक्षासे पदार्थ ऐसा ही है) से युक्त नय किसी विद्वान्के मनको आनन्दित करते हैं उसी प्रकार उसकी कान्ताके रूप आदि गुण पतिके मनको आनन्दित करते थे ॥ ४१ ॥ वह स्त्री अन्य स्त्रियोंके लिए आदर्शके समान थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो नामकर्म रूपी विधाताने अपनी बुद्धिकी प्रकर्षता बतलानेके लिए गुणोंकी पेटी ही बनाई हो ॥४२॥ वह दम्पती देवदम्पतीके समान पापरहित, अविनाशी, कभी नष्ट न होनेवाले और समान तृप्तिको देनेवाले उत्कृष्ट सुखको प्राप्त करता था ॥४३॥

वह राजा निष्पुत्र था अतः शोकसे पीड़ित होकर पुत्रके लिए अकेला अपने मनमें निम्न प्रकार विचार करने लगा ॥ ४४ ॥ स्त्रियाँ संसारकी लताके समान हैं और उत्तम पुत्र उनके फलके समान हैं। यदि मनुष्यके पुत्र नहीं हुए तो इस पापी मनुष्यके लिए पुत्रहीन पापिनी स्त्रियोंसे क्या प्रयोजन है ? ॥ ४५ ॥ जिसने दैवयोगसे पुत्रका मुखकमल नहीं देखा है वह छह खण्डकी लक्ष्मीका मुख भले ही देख ले पर उससे क्या लाभ है ॥ ४६ ॥ उसने पुत्र प्राप्त करनेके लिए पुरोहितके

---

१ अपारं ब० । २ सहस्रेहं सतृप्तिदम् क०, घ० ।

विधाय जिनबिम्बानि प्रातिहार्यैः सहाष्टभिः । भृङ्गारादिविनिर्दिष्टैः सङ्गतान्यष्टमङ्गलैः ॥ ४८ ॥
प्रतिष्ठाकल्पसम्प्रोक्तैः प्रतिष्ठाप्य क्रियाक्रमैः । कृत्वा महाभिषेकं च जिनसङ्गममङ्गलैः ॥ ४९ ॥
गन्धोदकैः स्वयं देव्या सहैवाप्तात्स्तुवन् जिनान् । व्यधादाष्टाह्निकीं पूजामैहिकामुत्रिकोदयाम् ॥ ५० ॥
यातैः कतिपयैर्देवी दिनैः स्वप्नान् व्यलोकत । गजसिंहेन्दुपद्माभिषेकानीषद्विनिद्रिता ॥ ५१ ॥
तदैव गर्भसङ्क्रान्तिरभूत्तस्यास्ततः क्रमात् । आलस्यमरुचिस्तन्द्रा जुगुप्सा वा निमित्तिका ॥ ५२ ॥
[1]अशक्तयोरिवान्योन्यं विजेतुं सुचिरान्मुखम् । कुचयोरादधौ तस्याः कालिमानं दिने दिने ॥ ५३ ॥
योषितां भूषणं लज्जा श्लाघ्यं नान्यद्विभूषणम् । इति स्पष्टयितुं वैषा सर्वचेष्टा स्थिता ह्रिया ॥ ५४ ॥
तस्या भाराक्षमत्वेन भूषणान्युचितान्यपि । दिवस्ताराकुलानीव निशान्ते स्वल्पतां ययुः ॥ ५५ ॥
वाचः परिमिताः स्वल्पवित्तस्येव विभूतयः । चिरं विरम्य श्रव्यत्वान्नवाम्भोदावलेरिव[2] ॥ ५६ ॥
कुर्युः कुतूहलोत्पत्तिं वाढमभ्यर्णवर्तिनाम् । एवं तद्गर्भचिह्नानि व्यक्ताव्यक्तान्यपि स्फुटम् ॥ ५७ ॥
प्रमोदात्प्राप्य राजानं प्रणम्याननसूचितम् । इति चैत्यामुवन् कर्णे तन्महत्तरिकास्तदा ॥ ५८ ॥
सरोजं वोदयाद्भानोः कुमुदं वा हिमद्युतेः । व्यकसत्तन्मुखाम्भोजं श्रुतगर्भमहोदयात् ॥ ५९ ॥
चन्द्रोदयोन्वयाम्भोधेः कुलस्य तिलकायितः । प्रादुर्भावस्तनूजस्य न प्रतोषाय कस्य वा ॥ ६० ॥
अदृष्टवदनाम्भोजमपत्यं गर्भगं च माम् । एवं प्रतोषयत्येतत् दृष्टवक्त्रं किमुच्यते ॥ ६१ ॥
मत्वेति ताभ्यो दत्त्वेष्टं स्वाप्तैः कतिपयैर्वृतः । महादेवीगृहं गत्वा द्विगुणीभूतसम्मदः ॥ ६२ ॥

उपदेशसे पाँच वर्णके अमूल्य रत्नोंसे मिले सुवर्णकी जिन-प्रतिमाएँ बनवाईं। उन्हें आठ प्रातिहार्यों तथा भृङ्गार आदि आठ मङ्गल-द्रव्यसे युक्त किया, प्रतिष्ठाशास्त्रमें कही हुई क्रियाओंके क्रमसे उनकी प्रतिष्ठा कराई, महाभिषेक किया, जिनेन्द्र भगवान्के संसर्गसे मङ्गल रूप हुए गन्धोदकसे रानीके साथ स्वयं स्नान किया, जिनेन्द्र भगवान्की स्तुति की तथा इस लोक और परलोक सम्बन्धी अभ्युदयको देनेवाली आष्टाह्निकी पूजा की ॥ ४७-५० ॥ इस प्रकार कुछ दिन व्यतीत होने पर कुछ कुछ जागती हुई रानीने हाथी सिंह चन्द्रमा और लक्ष्मीका अभिषेक ये चार स्वप्न देखे ॥ ५१ ॥ उसी समय उसके गर्भ धारण हुआ तथा क्रमसे आलस्य आने लगा, अरुचि होने लगी, तन्द्रा आने लगी और बिना कारण ही ग्लानि होने लगी ॥ ५२ ॥ उसके दोनों स्तन चिरकाल व्यतीत हो जाने पर भी परस्पर एक दूसरेको जीतनेमें समर्थ नहीं हो सके थे अतः दोनोंके मुख प्रतिदिन कालिमाको धारण कर रहे थे ॥ ५३ ॥ 'स्त्रियोंके लिये लज्जा ही प्रशंसनीय आभूषण है अन्य आभूषण नहीं' यह स्पष्ट करनेके लिए ही मानो उसकी समस्त चेष्टाएँ लज्जासे सहित हो गई थीं ॥ ५४ ॥ जिस प्रकार रात्रिके अन्त भागमें आकाशके ताराओंके समूह अल्प रह जाते हैं उसी प्रकार भार धारण करनेमें समर्थ नहीं होनेसे उसके योग्य आभूषण भी अल्प रह गये थे—विरल हो गये थे ॥ ५५ ॥ जिस प्रकार अल्प धनवाले मनुष्यकी विभूतियाँ परिमित रहती हैं उसी प्रकार उसके वचन भी परिमित थे और नई मेघमालाके शब्दके समान रुक-रुक कर बहुत देर बाद सुनाई देते थे ॥ ५६ ॥ इस प्रकार उसके गर्भके चिह्न निकटवर्ती मनुष्योंके लिए कुतूहल उत्पन्न कर रहे थे। वे चिह्न कुछ प्रकट थे और कुछ अप्रकट थे ॥ ५७ ॥ किसी एक दिन रानीकी प्रधान दासियोंने हर्षसे राजाके पास जाकर और प्रणाम कर उनके कानमें यह समाचार कहा। यद्यपि यह समाचार दासियोंके मुखकी प्रसन्नतासे पहले ही सूचित हो गया था तो भी उन्होंने कहा था ॥ ५८ ॥ गर्भ धारणका समाचार सुनकर राजाका मुख-कमल ऐसा विकसित हो गया जैसा कि सूर्योदयसे कमल और चन्द्रोदयसे कुमुद विकसित हो जाता है ॥ ५९ ॥ जो वंशरूपी समुद्रको वृद्धिङ्गत करनेके लिए चन्द्रोदयके समान है अथवा कुलको अलंकृत करनेके लिए तिलकके समान है ऐसा पुत्रका प्रादुर्भाव किसके संतोषके लिए नहीं होता ? ॥ ६० ॥ जिसका मुखकमल अभी देखनेको नहीं मिला है, केवल गर्भमें ही स्थित है ऐसा भी जब मुझे इस प्रकार संतुष्ट कर रहा है तब मुख दिखाने पर कितना संतुष्ट करेगा इस बातका क्या कहना है ॥ ६१ ॥ ऐसा मान कर राजाने उन दासियोंके लिये

---

१ आसक्तयोः क०, घ० । २ नवाम्भोदावलीमिव ख० ।

अन्वितां वाम्रपदवीं रत्नगर्भामिव क्षितिम् । उपोदयार्कां प्राचीं वा तां ददर्श दृशः सुखम् ॥ ६३ ॥
सापि दृष्ट्वा महीनाथमभ्युत्थातुं कृतोद्यमा । तथैव देवि तिष्ठेति स्थिता राज्ञा निवारिता ॥ ६४ ॥
नृपस्तयैकशय्यायामुपविश्य चिरं मुदा । सलज्जया सहालाप्य ययौ तदुचितोक्तिभिः ॥ ६५ ॥
दिनेषु केषुचित्पश्चाद्यातेषु प्रकटीभवत् । प्राक् पुण्याद् गुरुशुक्रादिशुभग्रहनिरीक्षणात् ॥ ६६ ॥
हरेर्हरिदिवादित्यं सस्यपाकं यथा शरत् । महोदयमिवाख्यातिरसूत सुतमुत्तमम् ॥ ६७ ॥
प्रवर्द्धमानभाग्यस्य योग्यस्य सकलश्रियः । श्रीवर्मेति शुभं नाम तस्य बन्धुजनो व्यधात् ॥ ६८ ॥
प्रबोधो मूर्छितस्येव दुर्विधस्येव वा निधिः । जयो वाल्पसैन्यस्य राज्ञस्तोषं चकार सः ॥ ६९ ॥
तस्याङ्गतेजसा रत्नदीपिका विहतत्विषः । विभावर्यां सभास्थाने नैरर्थक्यं प्रपेदिरे ॥ ७० ॥
शरीरवृद्धिस्तस्यासीद् भिषक्शास्त्रोक्तवृत्तितः । [1]शब्दशास्त्रादिभिः प्रज्ञावृद्धिः सुविहितक्रियाः ॥ ७१ ॥
स राजा तेन पुत्रेण द्वीपोऽयमिव मेरुणा । तुङ्गेन सङ्गतः श्रीमान् पालयन् वलयं क्षितेः ॥ ७२ ॥
जिनं श्रीपद्मनामानमवतीर्णं यदृच्छया । शिवङ्करवनोद्याने कदाचिद्वनपालतः ॥ ७३ ॥
श्रुत्वा सप्तपदानीत्वा तां दिशं शिरसाऽनमत् । तदानीमेव सम्प्राप्य विश्वेशं प्रश्रयाश्रयः ॥ ७४ ॥
त्रिःपरीत्य नमस्कृत्य तं यथास्थानमास्थितः । कृत्वा धर्मपरिप्रश्नं बुद्ध्वा [2]वस्तु यथोदितम् ॥ ७५ ॥
भोगतृष्णामपास्याशु धर्मतृष्णासमानसः । दत्त्वा श्रीवर्मणे राज्यं प्राव्राजीत्तज्जिनान्तिके ॥ ७६ ॥

इच्छित पुरस्कार दिया और द्विगुणित आनन्दित होता हुआ कुछ आप्त जनोंके साथ वह रानीके घर गया ॥ ६२ ॥ वहाँ उसने नेत्रोंको सुख देनेवाली रानीको ऐसा देखा मानो मेघसे युक्त आकाश ही हो, अथवा रत्नगर्भा पृथिवी हो अथवा उदय होनेके समीपवर्ती सूर्यसे युक्त पूर्व दिशा ही हो ॥ ६३ ॥ राजाको देखकर रानी खड़ी होनेकी चेष्टा करने लगी परन्तु 'हे देवि, बैठी रहो' इस प्रकार राजाके मना किये जाने पर बैठी रही ॥ ६४ ॥ राजा एक ही शय्या पर चिरकाल तक रानीके साथ बैठा रहा और लज्जा सहित रानीके साथ योग्य वार्तालाप कर हर्षित होता हुआ वापिस चला गया ॥ ६५ ॥

तदनन्तर कितने ही दिन व्यतीत हो जाने पर पुण्य कर्मके उदयसे अथवा गुरु शुक्र आदि शुभ ग्रहोंके विद्यमान रहते हुए उसने जिस प्रकार इन्द्रकी दिशा (प्राची) सूर्यको उत्पन्न करती है, शरदृतु पके हुए धानको उत्पन्न करती है और कीर्ति महोदयको उत्पन्न करती है उसी प्रकार रानीने उत्तम पुत्र उत्पन्न किया ॥ ६६-६७ ॥ जिसका भाग्य बढ़ रहा है और जो सम्पूर्ण लक्ष्मी पानेके योग्य है ऐसे उस पुत्रका बन्धुजनोंने 'श्रीवर्मा' यह शुभ नाम रक्खा ॥ ६८ ॥ जिस प्रकार मूर्च्छितको सचेत होनेसे संतोष होता है, दरिद्रको खजाना मिलनेसे संतोष होता है और थोड़ी सेनावाले राजाको विजय मिलनेसे संतोष होता है उसी प्रकार उस पुत्र-जन्मसे राजाको संतोष हुआ था ॥ ६९ ॥ उस पुत्रके शरीरके तेजसे जिनकी कान्ति नष्ट हो गई है ऐसे रत्नोंके दीपक रात्रिके समय सभा-भवनमें निरर्थक हो गये थे ॥ ७० ॥ उसके शरीरकी वृद्धि वैद्यक शास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार होती थी और अच्छी क्रियाओंको करनेवाली बुद्धिकी वृद्धि व्याकरण आदि शास्त्रोंके अनुसार हुई थी ॥ ७१ ॥ जिस प्रकार यह जम्बूद्वीप ऊँचे मेरु पर्वतसे सुशोभित होता है उसी प्रकार पृथिवी-मंडलका पालन करनेवाला यह लक्ष्मी-सम्पन्न राजा उस श्रेष्ठ पुत्रसे सुशोभित हो रहा था ॥ ७२ ॥ किसी एक दिन शिवंकर वनके उद्यानमें श्रीपद्म नामके जिनराज अपनी इच्छासे पधारे थे। वनपालसे यह समाचार सुनकर राजाने उस दिशामें सात कदम जाकर शिरसे नमस्कार किया और बड़ी विनयके साथ उसी समय जिनराजके पास जाकर तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, नमस्कार किया, और यथास्थान आसन ग्रहण किया। राजाने उनसे धर्मका स्वरूप पूछा, उनके कहे अनुसार वस्तु तत्त्वका ज्ञान प्राप्त किया, शीघ्र ही भोगोंकी तृष्णा छोड़ी, धर्मकी तृष्णामें अपना मन लगाया, श्रीवर्मा पुत्रके

---

१ सर्वशास्त्रादिभिः ग० । २ धर्मं यथोदितम् ल० ।

श्रीवर्मापि जिनेन्द्रोक्त्या [1]धूतमिथ्यामहातमाः । आस्थात्तुर्यगुणस्थानमाद्यं सोपानमुच्यते ॥ ७७ ॥
सन्निधाने च तस्यायः[2] सन्निधापयति स्वयम् । यथाकाममशेषार्थांस्तैः स प्रापेप्सितं सुखम् ॥ ७८ ॥
असौ कदाचिदाषाढपौर्णमासीदिने जिनान् । उपोष्याभ्यर्च्य सत्स्वान्तै रात्रौ हर्म्यतले स्थितः ७९ ॥
विलोक्योपातमुल्काया भोगसारे विरक्तवान् । प्राग्विश्राणितसाम्राज्यः श्रीकान्तायाग्रसूनवे ॥ ८० ॥
अभ्यासे श्रीप्रभेशस्य दीक्षित्वा सुचिरं तपः । विधाय विधिवत्प्रान्ते संन्यस्य श्रीप्रभे गिरौ ॥ ८१ ॥
श्रीप्रभे प्रथमे कल्पे विमाने सागरोपम–। द्वित्वायुः श्रीधरो नाम्ना देवः समुदपद्यत ॥ ८२ ॥
अणिमादिगुणः सप्तहस्तो वैक्रियिकाङ्गभाक् । चतुर्थलेश्यो मासेन निःश्वसन् मनसाहरन्[3] ॥ ८३ ॥
वर्षद्वयसहस्रेण पुद्गलानमृतात्मकान् । तृप्तः कायप्रवीचाराद् व्याप्ताद्यक्ष्मातलावधिः ॥ ८४ ॥
बलतेजोमहाविक्रियाभिः स्वावधिसम्मितः । सुस्थितोऽनुभवन्सौख्यं स्वपुण्यपरिपाकजम् ॥ ८५ ॥
दक्षिणे धातकीखण्डे प्राचीष्वाकारपर्वतात् । भारते [4]विषये श्रीमदलकाख्ये पुरोत्तमम् ॥ ८६ ॥
अयोध्याह्वं नृपस्तस्मिन्नाबभावजितञ्जयः । आसीदजितसेनास्य देवी [5]सुतसुखप्रदा ॥ ८७ ॥
सा कदाचित्तनूजाप्त्यै परिपूज्य जिनेश्वरान् । सुप्ता तच्चिन्तया स्वप्नान्विलोक्याष्टौ शुभानिमान् ॥ ८८ ॥
गजेन्द्रवृषसिंहेन्दुरवीन् पद्मसरोवरम् । शङ्खं पूर्णघटं चैतत् फलान्यप्यजितञ्जयात् ॥ ॥ ८९ ॥
गजात्पुत्रं गभीरं गोः सिंहेनानन्तवीर्यकम् । चन्द्रेण तर्पकं तेजः प्रतापाढ्यं दिवाकरात् ॥ ९० ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

लिए राज्य दिया और उन्हीं श्रीपद्म जिनेन्द्रके समीप दीक्षा धारण कर ली ॥ ७३–७६ ॥ जिनेन्द्र भगवान्के उपदेशसे जिसका मिथ्यादर्शनरूपी महान्धकार नष्ट हो गया है। ऐसे श्रीवर्माने भी वह चतुर्थ गुणस्थान धारण किया जो कि मोक्षकी पहली सीढ़ी कहलाती है ॥ ७७ ॥ चतुर्थ गुणस्थानके सन्निधानमें जिस पुण्य-कर्मका संचय होता है वह स्वयं ही इच्छानुसार समस्त पदार्थोंको सन्निहित–निकटस्थ करता रहता है। उन पदार्थोंसे श्रीवर्माने इच्छित सुख प्राप्त किया था ॥ ७८ ॥

किसी समय राजा श्रीवर्मा आषाढ़ मासकी पूर्णिमाके दिन जिनेन्द्र भगवान्की उपासना और पूजा कर अपने आप्तजनोंके साथ रात्रिमें महलकी छत पर बैठा था ॥ ७९ ॥ वहाँ उल्कापात देखकर वह भोगोंसे विरक्त हो गया। उसने श्रीकान्त नामक बड़े पुत्रके लिए राज्य दे दिया और श्रीप्रभ जिनेन्द्रके समीप दीक्षा लेकर चिरकाल तक तप किया तथा अन्तमें श्रीप्रभ नामक पर्वत पर विधिपूर्वक संन्यासमरण किया ॥ ८०–८१ ॥ जिससे प्रथम स्वर्गके श्रीप्रभ विमानमें दो सागरकी आयु वाला श्रीधर नामका देव हुआ ॥ ८२ ॥ वह देव अणिमा, महिमा आदि आठ गुणोंसे युक्त था, सात हाथ ऊँचा उसका शरीर था, वैक्रियिक शरीरका धारक था, पीतलेश्या वाला था, एक माहमें श्वास लेता था; दो हजार वर्षमें अमृतमय पुद्गलोंका मानसिक आहार लेता था, काय-प्रवीचारसे संतुष्ट रहता था, प्रथम पृथिवी तक उसका अवधिज्ञान था, बल तेज तथा विक्रिया भी प्रथम पृथिवी तक थी, इस तरह अपने पुण्य कर्मके परिपाकसे प्राप्त हुए सुखका उपभोग करता हुआ वह सुखसे रहता था ॥ ८३–८५ ॥

धातकीखण्ड द्वीपकी पूर्व दिशामें जो इष्वाकार पर्वत है उससे दक्षिणकी ओर भरतक्षेत्रमें एक अलका नामका सम्पन्न देश है। उसमें अयोध्या नामका उत्तम नगर है। उसमें अजितंजय राजा सुशोभित था। उसकी अजितसेना नामकी वह रानी थी जो कि पुत्र-सुख को प्रदान करती थी ॥ ८६–८७ ॥ किसी एक दिन पुत्र-प्राप्तिके लिए उसने जिनेन्द्र भगवान् की पूजा की और रात्रिको पुत्रकी चिन्ता करती हुई सो गई। प्रातः काल नीचे लिखे हुए आठ शुभ स्वप्न उसने देखे। हाथी, बैल, सिंह, चन्द्रमा, सूर्य, कमलोंसे सुशोभित सरोवर, शङ्ख और पूर्ण कलश। राजा अजितंजयसे उसने स्वप्नोंका निम्न प्रकार फल ज्ञात किया। हे देवि! हाथी देखनेसे तुम पुत्रको प्राप्त करोगी; बैलके देखनेसे वह पुत्र गंभीर प्रकृतिका होगा; सिंहके देखनेसे अनन्तबलका धारक होगा, चन्द्रमाके देखनेसे सबको संतुष्ट करनेवाला होगा, सूर्यके देखनेसे तेज और प्रतापसे युक्त होगा, सरोवरके

---

१ बीतमिथ्या–ख०,ग०। २ पुण्यम्। ३ मनसाहरत् ल०। ४ विजये क०,ख०,ग० घ०,। ५ सुखसुतप्रदा।

सरसा शङ्खचक्रादि द्वात्रिंशल्लक्षणान्वितम् । शङ्खेन चक्रिणं पूर्णकुम्भाज्ज्ञात्वा निधीशिनम् ॥ ९१ ॥
तुष्टा कतिपयैर्मासैस्तं श्रीधरमजीजनत् । व्यधादजितसेनाख्यां राजास्य जितविद्विषः ॥ ९२ ॥
तेन तेजस्विना राजा सदाभाद् भास्करेण वा । दिवसो विरजास्तादृक् तनूजः [1]कुलभूषणम् ॥ ९३ ॥
स्वयम्प्रभाख्यतीर्थेशमशोकवनमागतम् । परेद्युः सपरीवारः सम्प्राप्यार्च्य सन्नतः ॥ ९४ ॥
श्रुत्वा धर्मं सतां त्याज्यं राज्यं निर्जितशत्रवे । प्रदायाजितसेनाय संयम्यासीत्स केवली ॥ ९५ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
राजलक्ष्म्या कुमारोऽपि रक्तया स वशीकृतः । प्रौढ एव युवा कामं मुख्यं सौख्यमुपेयिवान् ॥ ९६ ॥
तत्पुण्यपरिपाकेन चक्ररत्नादि चक्रिणः । यद्यत्तत्तत्समुत्पन्नं चेतनेतरभेदकम् ॥ ९७ ॥
चक्रमाक्रान्तदिक्चक्रमस्य तस्योद्भवेऽभवत् । पुनर्दिग्विजयो जेतुः पुरबाह्यविहारवत् ॥ ९८ ॥
नासुखोऽनेन कोऽप्यासीन्न परिग्रहमूर्च्छना । षट्खण्डाधीशिनोऽप्यस्य पुण्यं पुण्यानुबन्धि यत् ॥ ९९ ॥
दुःखं स्वकर्मपाकेन सुखं तदनुपालनात् । प्रजानां तस्य साम्राज्ये तत्ताभिः सोऽभिनन्द्यते ॥ १०० ॥
देवविद्याधराधीशमुकुटाग्रेषु सद्युतीन् । विच्छायीकृत्य रत्नांशूंस्तदाज्ञैवोच्छ्रिता बभौ ॥ १०१ ॥
नित्योदयस्य चेन्न स्यात् पद्मानन्दकृतो बलम् । चण्डद्युतेः कथं पाति शक्रोऽप्यक्षः स्वयं दिशम् ॥१०२॥
[2]विधीर्वेधा न चेदग्नि स्थापयेद्रक्षितुं दिशम् । स्वयोनिदाहिना कोऽपि क्वचित् केनापि रक्षितः ॥१०३॥
पालको मारको वेति नान्तकं सर्वभक्षिणम् । किं वेत्ति वेधास्तं पातुं पापिनं परिकल्पयन् ॥ १०४ ॥

देखनेसे शंख-चक्र आदि बत्तीस लक्षणोंसे सहित होगा, शंख देखनेसे चक्रवर्ती होगा और पूर्ण कलश देखनेसे निधियोंका स्वामी होगा ॥ ८८–९१ ॥ स्वप्नोंका उक्त प्रकार फल जानकर रानी बहुत ही संतुष्ट हुई । तदनन्तर कुछ माह बाद उसने पूर्वोक्त श्रीधरदेवको उत्पन्न किया । राजाने शत्रुओंको जीतनेवाले इस पुत्रका अजितसेन नाम रक्खा ॥ ९२ ॥ राजा उस तेजस्वी पुत्रसे ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि धूलिरहित दिन सूर्यसे सुशोभित होता है । यथार्थमें ऐसा पुत्र ही कुलका आभूषण होता है ॥ ९३ ॥ दूसरे दिन स्वयंप्रभ नामक तीर्थंकर अशोक वनमें आये । राजाने परिवारके साथ जाकर उनकी पूजा की, स्तुति की, धर्मोपदेश सुना और सज्जनोंके छोड़ने योग्य राज्य शत्रुओंको जीतनेवाले अजितसेन पुत्रके लिए देकर संयम धारण कर लिया तथा स्वयं केवलज्ञानी बन गया ॥ ९४–९५ ॥ इधर अनुरागसे भरी हुई राज्य-लक्ष्मीने कुमार अजितसेनको अपने वश कर लिया जिससे वह युवावस्थामें ही प्रौढ़की तरह मुख्य सुखोंका अनुभव करने लगा ॥ ९६ ॥ उसके पुण्य कर्मके उदयसे चक्रवर्तीके चक्ररत्न आदि जो-जो चेतन-अचेतन सामग्री उत्पन्न होती है वह सब आकर उत्पन्न हो गई ॥ ९७ ॥ उसके समस्त दिशाओंके समूहको जीतनेवाला चक्ररत्न प्रकट हुआ । चक्ररत्नके प्रकट होते ही उस विजयीके लिए दिग्विजय करना नगरके बाहर घूमनेके समान सरल हो गया ॥ ९८ ॥ इस चक्रवर्तीके कारण कोई भी दुःखी नहीं था और यद्यपि यह छह खण्डका स्वामी था फिर भी परिग्रहमें इसकी आसक्ति नहीं थी । यथार्थमें पुण्य तो वही है जो पुण्य कर्मका बन्ध करनेवाला हो ॥ ९९ ॥ उसके साम्राज्यमें प्रजाको यदि दुःख था तो अपने अशुभकर्मोदयसे था और सुख था तो उस राजाके द्वारा सम्यक् रक्षा होनेसे था । यही कारण था कि प्रजा उसकी वन्दना करती थी ॥ १०० ॥ देव और विद्याधर राजाओंके मुकुटोंके अग्रभागपर चमकने वाले रत्नोंकी किरणोंको निष्प्रभ बनाकर उसकी उन्नत आज्ञा ही सुशोभित होती थी ॥ १०१ ॥ यदि निरन्तर उदय रहने वाले और कमलोंको आनन्दित करने वाले सूर्यका बल प्राप्त नहीं होता तो इन्द्र स्वयं अधिपति हो कर भी अपनी दिशाकी रक्षा कैसे करता ! ॥ १०२ ॥ विधाता अवश्य ही बुद्धि-हीन है क्योंकि यदि वह बुद्धिहीन नहीं होता तो आग्नेय दिशाकी रक्षाके लिए अग्निको क्यों नियुक्त करता ? भला, जो अपने जन्मदाताको जलाने वाला है उससे भी क्या कहीं किसीकी रक्षा हुई है ? ॥१०३॥ क्या विधाता यह नहीं जानता था कि यमराज पालक है या मारक ? फिर भी उसने उसी सर्व-

---

१ कुलभूषणः क०, घ० । २ विधिर्वेधा ग०, ल०, म० ।

शुनः स्थाने स्थितो दीनो नित्यं यमसमीपगः । स्वजीवितेऽपि सन्देह्यो नैर्ऋतः कस्य पालकः ॥ १०५ ॥
[1]काललीलां विलव्यालं (?) पाशहस्तो [2]जलप्रियः । स [3]नदीनाश्रयः पाशी प्रजानां केन पालकः॥१०६॥
धूमध्वजसखोऽस्थास्नुः स्वयमन्यांश्च चालयन् । पालकः स्थापितस्तादृक् स किमेकत्र तिष्ठति ॥ १०७ ॥
लुब्धो न लभते पुण्यं विपुण्यः केन पालकः । धनेन चेद्दाता तत् गुह्यकोऽपि न पालकः ॥ १०८ ॥
ईशानोऽन्त्यां दशां यातो गणने सर्वपश्चिमः । पिशाचावेष्टितो दुष्टः कथमेष दिशः पतिः ॥ १०९ ॥
कृत्वैतान् बुद्धिवैकल्यात्तत्प्रमार्ष्टुं प्रजापतिः । व्यधादेकमिमं मन्ये विश्वदिक्पालनक्षमम् ॥ ११० ॥
इत्युदात्तवचोमाला विरचय्याभिसंस्तुतः । विक्रमाक्रान्तदिक्चक्रः शक्रादीन् सोऽतिलङ्घते ॥ १११ ॥
धनं दाने मतिर्धर्मे शौर्यं भूताभिरक्षणे । आयुः सुखे तनुर्भोगे तस्य वृद्धिमवाप्नुयुः ॥ ११२ ॥
अपरायत्तमच्छिन्नमबाधमयवर्द्धनम् । गुणान्पुष्णन् वितृष्णः सन् सुखेन सुखमीयिवान् ॥ ११३ ॥
सत्यं वाचि दया चित्तं धर्मकर्मणि निर्मलः । स्वान् गुणान् वा प्रजाः पाति राजर्षिः केन नास्तु सः॥११४॥
मन्ये नैसर्गिकं तस्य सौजन्यं कथमन्यथा । प्राणहारिणि पापेऽपि रिपौ नोपैति विक्रियाम् ॥ ११५ ॥
न हि मूलहरः कोऽपि नापि कोऽपि कदर्यकः । तादात्विकोऽपि तद्राज्ये सर्वे सद्व्ययकारिणः ॥ ११६ ॥

भक्षी पापीको दक्षिण दिशाका रक्षक बना दिया ॥ १०४ ॥ जो कुत्तेके स्थानपर रहता है, दीन है, सदा यमराजके समीप रहता है और अपने जीवनमें भी जिसे संदेह है ऐसा नैर्ऋत किसकी रक्षा कर सकता है ? ॥ १०५ ॥ जो जल भूमिमें विद्यमान विलमें मकरादि हिंसक जन्तुके समान रहता है, जिसके हाथमें पाश है, जो जलप्रिय है—जिसे जल प्रिय है (पक्षमें जिसे जड-मूर्ख प्रिय है) और जो नदीनाश्रय है—समुद्रमें रहता है (पक्षमें दीन मनुष्योंका आश्रय नहीं है) ऐसा वरुण प्रजाकी रक्षा कैसे कर सकता है ? ॥ १०६ ॥ जो अग्निका मित्र है, स्वयं अस्थिर है और दूसरोंको चलाता रहता है उस वायुको विधाताने वायव्य दिशाका रक्षक स्थापित किया सो ऐसा वायु क्या कहीं ठहर सकता है ? ॥ १०७ ॥ जो लोभी है वह कभी पुण्य-संचय नहीं कर सकता और जो पुण्यहीन है वह कैसे रक्षक हो सकता है जब कि कुबेर कभी किसीको धन नहीं देता तब उसे विधाताने रक्षक कैसे बना दिया ? ॥ १०८ ॥ ईशान अन्तिम दशाको प्राप्त है, गिनती उसकी सबसे पीछे होती है, पिशाचों से घिरा हुआ है और दुष्ट है इसलिए यह ऐशान दिशाका स्वामी कैसे हो सकता है ? ॥ १०९ ॥ ऐसा जान पड़ता है कि विधाताने इन सबको बुद्धिकी विकलतासे ही दिशाओंका रक्षक बनाया था और इस कारण उसे भारी अपयश उठाना पड़ा था। अब विधाताने अपना सारा अपयश दूर करनेके लिए ही मानो इस एक अजितसेनको समस्त दिशाओंका पालन करनेमें समर्थ बनाया था ॥ ११० ॥ इस प्रकारके उदार वचनोंकी माला बनाकर सब लोग जिसकी स्तुति करते हैं और अपने पराक्रमसे जिसने समस्त दिशाओंको व्याप्त कर लिया है ऐसा अजितसेन इन्द्रादि देवोंका उल्लंघन करता था ॥ १११ ॥ उसका धन दान देनेमें, बुद्धि धार्मिक कार्योंमें, शूरवीरता प्राणियों की रक्षामें, आयु सुखमें और शरीर भोगोपभोगमें सदा वृद्धिको प्राप्त होता रहता था ॥११२॥ उसके पुण्यकी वृद्धि दूसरेके आधीन नहीं थी, कभी नष्ट नहीं होती थी और उसमें किसी तरहकी बाधा नहीं आती थी। इस प्रकार वह तृष्णारहित होकर गुणोंका पोषण करता हुआ बड़े आरामसे सुखको प्राप्त होता था ॥ ११३ ॥ उसके वचनोंमें सत्यता थी, चित्तमें दया थी, धार्मिक कार्योंमें निर्मलता थी, और प्रजाकी अपने गुणोंके समान रक्षा करता था फिर वह राजर्षि क्यों न हो ? ॥ ११४ ॥ मैं तो ऐसा मानता हूं कि सुजनता उसका स्वाभाविक गुण था। यदि ऐसा न होता तो प्राण हरण करनेवाले पापी शत्रु पर भी वह विकारको क्यों नहीं प्राप्त होता ॥ ११५ ॥ उसके राज्यमें न तो कोई मूलहर था—मूल पूँजीको खानेवाला था, न कोई कदर्य था—अतिशय कृपण था और

---

१ 'कालिलेलाविलव्यालः' इति पाठो भवेत् । कलिलस्येयं जलस्य इयं कालिला सा चासौ इला च भूमिश्चेति कालिलेला तस्यां विद्यमानो विलो गर्तसन्निभो नीचैः प्रदेशः तत्र विद्यमानो व्याळो मकरादिजन्तुरिव, इति तदर्थः । २ जडं प्रियो यस्य सः, पक्षे डलयोरभेदात् जडो मूर्खः प्रियो यस्य सः । ३ नदीनामिनः स्वामी नदीनः समुद्रः स आश्रयो यस्य स, पक्षे न दीनानाम् आश्रय इति नदीनाश्रयः 'सह सुपा' इत्यनेन समासः ।

इति तस्मिन् महीं पाति सौराज्ये सति भूपतौ । प्रजाः प्रजापतिं मत्वा तमैधन्त सुमेधसम् ॥ ११७ ॥
रत्नानि निधयश्चास्य चतुर्दश नवाभवत् । नवयौवनसम्प्राप्तौ प्राक्तपुण्योदयात् प्रभोः ॥ ११८ ॥
भाजनं भोजनं शय्या चमूर्वाहनमासनम् । निधीरत्नं पुरं नाट्यमिति भोगान्दशान्वभूत् ॥ ११९ ॥
श्रद्धादिगुणसम्पन्नः स कदाचिन्महीपतिः । अरिन्दमाय दत्त्वान्नं सते मासोपवासिने ॥ १२० ॥
गृहीतनवपुण्यात्मा वसुधारादिपञ्चकम् । प्रापाश्चर्यमनाप्यं किं सदनुष्ठानतत्परैः ॥ १२१ ॥
असौ मनोहरोद्याने गुप्तप्रभजिनेश्वरम्[1] । परेद्युः प्राप्य तत्प्रोक्तं धर्मसारं रसायनम् ॥ १२२ ॥
पीत्वा [2]स्वभवसम्बन्धश्रुतिबन्धुप्रचोदितः । सद्यो निर्विद्य साम्राज्यं वितीर्य जितशत्रवे ॥ १२३ ॥
त्रैलोक्यजयिनं जेतुं मोहराजं कृतोद्यमः । [3]राजभिर्बहुभिः सार्द्धं गृहीत्वा साधनं तपः ॥ १२४ ॥
चरित्वा निरतीचारं तनुं त्यक्त्वायुषोऽवधौ । नभस्तिलकगिर्यग्रे शान्तकारविमानगः ॥ १२५ ॥
अच्युतेन्द्रोऽजनिष्टाब्धिद्वाविंशतिस्थितिः । हस्तत्रयप्रमाणात्तनिधातुतनुभास्करः ॥ १२६ ॥
शुक्ललेश्यः श्वसन्मासैरेकादशभिराहरन् । द्वाविंशतिसहस्राब्दैर्मनसा [4]ऽऽहारमामरम् ॥ १२७ ॥
तमःप्रभावधिव्याप्तदेशावधिविलोचनः । तत्क्षेत्रव्यापिसत्तेजोबलोत्तरशरीरभाक् ॥ १२८ ॥
दिव्यभोगांश्चिरं भुक्त्वा स्वायुरन्ते विशुद्धदृक् । [5]प्राग्भागधातकीखण्डे सीतादक्षिणकूलगे ॥ १२९ ॥
विषये मङ्गलावत्यां रत्नसञ्चय[6]पूःपतिः । देव्यां कनकमालायां वल्लभः कनकप्रभः ॥ १३० ॥

न कोई तादात्विक था—भविष्यत्का विचार न रख वर्तमानमें ही मौज उड़ानेवाला था, किन्तु सभी समीचीन कार्योंमें खर्च करनेवाले थे ॥ ११६ ॥ इस प्रकार जब वह राजा पृथिवीका पालन करता था तब सब ओर सुराज्य हो रहा था और प्रजा उस बुद्धिमान् राजाको ब्रह्मा मानकर वृद्धिको प्राप्त हो रही थी ॥ ११७ ॥ जब नव यौवन प्राप्त हुआ तब उस राजाके पूर्वोपार्जित पुण्य कर्मके उदयसे चौदह रत्न और नौ निधियाँ प्रकट हुई थीं ॥ ११८ ॥ भाजन, भोजन, शय्या, सेना, सवारी, आसन, निधि, रत्न, नगर और नाट्य इन दश भोगोंका वह अनुभव करता था ॥ ११९ ॥ श्रद्धा आदि गुणोंसे संपन्न उस राजाने किसी समय एक माहका उपवास करनेवाले अरिन्दम नामक साधुके लिए आहार-दान देकर नवीन पुण्यका बन्ध किया तथा रत्न-वृष्टि आदि पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम कार्योंके करनेमें तत्पर रहनेवाले मनुष्योंको क्या दुर्लभ है ? ॥ १२०–१२१ ॥ दूसरे दिन वह राजा, गुप्तप्रभ जिनेन्द्रकी वन्दना करनेके लिए मनोहर नामक उद्यानमें गया। वहाँ उसने जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए श्रेष्ठ धर्म रूपी रसायनका पान किया, अपने पूर्व भवके सम्बन्ध सुने, जिनसे भाईके समान प्रेरित हो शीघ्र ही वैराग्य प्राप्त कर लिया। वह जितशत्रु नामक पुत्रके लिए राज्य देकर त्रैलोक्यविजयी मोह राजाको जीतनेके लिए तत्पर हो गया तथा बहुतसे राजाओंके साथ उसने तप धारण कर लिया। इस प्रकार निरतिचार तप तप कर आयुके अन्तमें वह नभस्तिलक नामक पर्वतके अग्रभाग पर शरीर छोड़ सोलहवें स्वर्गके शान्तकार विमानमें अच्युतेन्द्र हुआ। वहाँ उसकी बाईस सागरकी आयु थी, तीन हाथ ऊँचा तथा धातु-उपधातुओंसे रहित देदीप्यमान शरीर था, शुक्ललेश्या थी, वह ग्यारह माहमें एक बार श्वास लेता था, बाईस हजार वर्ष बाद एक बार अमृतमयी मानसिक आहार लेता था, उसके देशावधिज्ञान-रूपी नेत्र छठवीं पृथिवी तकके पदार्थों तकको देखते थे, उसका समीचीन तेज, बल तथा वैक्रियिक शरीर भी छठवीं पृथिवी तक व्याप्त हो सकता था ॥ १२२–१२८ ॥ इस प्रकार निर्मल सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला वह अच्युतेन्द्र चिरकाल तक स्वर्गके सुख भोग आयुके अन्तमें कहाँ उत्पन्न हुआ यह कहते हैं ॥ १२९ ॥

पूर्व धातकीखण्ड द्वीपमें सीता नदीके दाहिने तट पर एक मङ्गलावती नामका देश था। उसके रत्नसंचय नगरमें कनकप्रभ राजा राज्य करते थे। उनकी कनकमाला नामकी रानी थी। वह अहमिन्द्र उन दोनों दम्पतियोंके शुभ स्वप्नों द्वारा अपनी सूचना देता हुआ पद्मनाभ नामका पुत्र

---

१ जिनेशितम् ल० । २ स्वभाव क०, घ० । स्वभवः ख०, ग०, ल० । ३ रामाभिः ल० । ४मनिंसाहार –क०, ख०, घ० । ५ प्राग्भागे ल० । ६ रत्नसंचयभूपतिः ख० ।

पद्मनाभः सुतो जातस्तयोः सुस्वप्नपूर्वकम् । बालानुकूलपर्युष्टिविशेषैः सोऽभ्यवर्द्धत ॥ १३१ ॥
उपयोगक्षमाशेषपर्याप्तिपरिनिष्ठितम् । आरोप्य तं व्रतं राजा विद्यागृहमवीविशत् ॥ १३२ ॥
अभिजातपरीवारो दासहस्तिपकादिकान् । दूरीकृत्य स निःशेषा विद्याः शिक्षितुमुद्ययौ ॥ १३३ ॥
तथेन्द्रियततिस्तेन पराजीयत सा यथा । निजार्थैः सर्वभावेन तनोति प्रीतिमात्मनः ॥ १३४ ॥
स धीमान् वृद्धसंयोगं व्यधाद् विनयवृद्धये । [1]विनयः शास्त्रनिर्णीतः कृत्रिमः सहजोऽपरः ॥ १३५ ॥
तं सम्पूर्णकलं प्राप्य कान्तं सहजकृत्रिमौ । राजानं गुरुशुक्रौ वा रेजतुर्विनयौ भृशम् ॥ १३६ ॥
स धीमान् षोडशे वर्षे विरेजे प्राप्य यौवनम् । वनं सुष्ठु विनीतात्मा संयतो वा जितेन्द्रियः ॥ १३७ ॥
रूपान्वयवयःशिक्षासम्पन्नं तमविक्रियम्[2] । [3]भद्रं गजं विनीतात्मा[4] समालोक्य मुदा पिता ॥१३८॥
विद्यापूजां विधायास्य जिनपूजापुरःसरम् । संस्कृतस्येव रत्नस्य व्यधाद् बुद्धिं क्रियान्तरे ॥ १३९ ॥
कलाभिरिव बालेन्दुं शुक्लपक्षसमाश्रयात् । रम्यं राजा तमूर्जो[5] वा प्रमदाभिरपूरयन् ॥ १४० ॥
तस्य सोमप्रभादीनां देवीनामभवन् सुताः । शुभाः सुवर्णनाभाद्याः भास्करस्येव [6]भानवः ॥ १४१ ॥
पुत्रपौत्रादिभिः श्रीमान् परीतः कनकप्रभः । स्वराज्यं पालयन्नेवं सुखेनान्येद्युरुद्धधीः ॥ १४२ ॥
मनोहरवने धर्मं श्रीधराज्जिनपुङ्गवात् । श्रुत्वा संयोज्य साम्राज्यं सूनौ संयम्य निर्वृतः ॥ १४३ ॥
पद्मनाभश्च तत्रैव गृहीतोपासकव्रतः । [7]तन्त्रावापगतव्याप्तिममात्यैः सम्प्रवर्तयन् ॥ १४४ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उत्पन्न हुआ। पद्मनाभ, बालकोचित सेवा-विशेषके द्वारा निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होता रहता था ॥ १३०-१३१ ॥ उपयोग तथा क्षमा आदि सब गुणोंकी पूर्णता हो जानेपर राजाने उसे व्रत देकर विद्यागृहमें प्रविष्ट कराया ॥ १३२ ॥ कुलीन विद्वानोंके साथ रहनेवाला वह राजकुमार, दास तथा महावत आदिको दूर कर समस्त विद्याओंके सीखनेमें उद्यम करने लगा ॥ १३३ ॥ उसने इन्द्रियों-के समूहको इस प्रकार जीत रक्खा था कि वे इन्द्रियाँ सब रूपसे अपने विषयोंके द्वारा केवल आत्मा-के साथ ही प्रेम बढ़ाती थीं ॥ १३४ ॥ वह बुद्धिमान् विनयकी वृद्धिके लिए सदा वृद्धजनोंकी संगति करता था। शास्त्रोंसे निर्णय कर विनय करना कृत्रिम विनय है और स्वभावसे ही विनय करना स्वाभाविक विनय है ॥ १३५ ॥ जिस प्रकार चन्द्रमाको पाकर गुरु और शुक्र ग्रह अत्यन्त सुशोभित होते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण कलाओंको धारण करनेवाले अतिशय सुन्दर उस राजकुमारको पाकर स्वाभाविक और कृत्रिम-दोनों प्रकारके विनय अतिशय सुशोभित हो रहे थे ॥ १३६ ॥ वह बुद्धि-मान् राजकुमार सोलहवें वर्षमें यौवन प्राप्त कर ऐसा सुशोभित हुआ जैसा कि विनयवान् जितेन्द्रिय संयमी वनको पाकर सुशोभित होता है ॥ १३७ ॥ जिस प्रकार भद्र जातिके हाथीको देखकर उसका शिक्षक हर्षित होता है उसी प्रकार रूप, वंश, अवस्था और शिक्षासे सम्पन्न तथा विकारसे रहित पुत्रको देखकर पिता बहुत ही हर्षित हुए। उन्होंने जिनेन्द्र भगवान्की पूजाके साथ उसकी विद्याकी पूजा की तथा संस्कार किये हुए रत्नके समान उसकी बुद्धि दूसरे कार्यमें लगाई ॥१३८-१३९॥ जिस प्रकार शुद्धपक्ष-शुक्लपक्षके आश्रयसे कलाओंके द्वारा बालचन्द्रको पूर्ण किया जाता है उसी प्रकार बलवान् राजाने उस सुन्दर पुत्रको अनेक स्त्रियोंसे पूर्ण किया था अर्थात् उसका अनेक स्त्रियोंके साथ विवाह किया था ॥ १४० ॥ जिस प्रकार सूर्यके किरणें उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार उसकी सोमप्रभा आदि रानियोंके सुवर्णनाभ आदि शुभ पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १४१ ॥ इस प्रकार पुत्र-पौत्रादिसे घिरे हुए श्रीमान् और बुद्धिमान् राजा कनकप्रभ सुखसे अपने राज्यका पालन करते थे ॥ १४२ ॥

किसी दिन उन्होंने मनोहर नामक वनमें पधारे हुए श्रीधर नामक जिन-राजसे धर्मका स्वरूप सुनकर अपना राज्य पुत्रके लिए दे दिया तथा संयम धारण कर क्रम-क्रमसे निर्वाण प्राप्त कर लिया ॥ १४३ ॥ पद्मनाभने भी उन्हीं जिनराजके समीप श्रावकके व्रत लिये तथा मन्त्रियोंके साथ स्वराष्ट्र

---

१ विनीतः ख० । २ तमविक्रियः ख० । ३ भद्राङ्गजं क०, ग०, घ० । ४ विनेता वा क०, ख०, ग०, घ० । ५ तमूर्जां वा ग० । ६ भाजनम् ग० । ७ 'तन्त्रः स्वराष्ट्रचिन्तायामावापः परचिन्तनम्' ।

विश्रम्भहाससंस्पर्शविनोदैरतिपेशलैः । कामिनीनां कलालापैः [1]सविलोलैर्विलोकनैः ॥ १४५ ॥
अनङ्गपूर्वरङ्गस्य पुष्पाञ्जलिनिभैः[2] शुभैः । समप्रेमसमुत्पन्नैः प्रसादं प्राप चेतसः ॥ १४६ ॥
कामकल्पद्रुमोद्भूतं परिपक्वं फलोत्तमम् । रामाप्रेमोपनीतं सा[3] सीमाऽऽसीत्तस्य निर्वृतेः ॥ १४७ ॥
प्राक्तनोपात्तपुण्यस्य फलमेतदिति स्फुटम् । प्रबोधयन्नसौ मूढानुद्यद्दीप्तिरभूत्सुखी ॥ १४८ ॥
सोऽपि श्रीधरसान्निध्ये बुद्ध्वा धर्मं बुधोत्तमः । संसारमोक्षयाथात्म्यमात्मन्येवमचिन्तयत् ॥ १४९ ॥
यावदौदयिको भावस्तावत्संसृतिरात्मनः । स च कर्माणि तत्कर्म तावद्यावत्सकारणम् ॥ १५० ॥
कारणान्यपि पञ्चैव मिथ्यात्वादीनि कर्मणः । मिथ्यात्वे सत्यवश्यं स्यात्तत्र शेषं चतुष्टयम् ॥ १५१ ॥
असंयमे त्रयं द्वे स्तः प्रमादे योगसञ्ज्ञकम्[4] । कषाये निःकषायस्य योग एव हि बन्धकृत् ॥ १५२ ॥
स्वस्मिन् स्वस्मिन् गुणस्थाने मिथ्यात्वादेर्विनाशनात् । स्वहेतोस्तत्कृतो बन्धस्तत्र तत्र विनश्यति ॥१५३॥
सदादित्रितयं नंक्ष्यत् पश्चात्तच्च स्वकालतः । आपर्यन्तगुणस्थानात्क्षयात्संसृतेः क्षयः ॥ १५४ ॥
संसारे प्रलयं याते पापे जन्मादिलक्षणे । क्षायिकैरात्मनो भावैरात्मन्यात्मा समेधते ॥ १५५ ॥
इति तत्त्वं जिनोद्दिष्टमज्ञानान्धवच्चिरम् । भ्रान्तः संसारकान्तारे दुर्गे दुःखी[5] दुरन्तके ॥ १५६ ॥
असंयमादिकं सर्वमुज्झित्वा कर्मकारणम् । शुद्धश्रद्धादिमोक्षाङ्गपञ्चकं समुपैम्यहम् ॥ १५७ ॥

और पर-राष्ट्रकी नीतिका विचार करता हुआ वह सुखसे रहने लगा ॥ १४४ ॥ परस्परके समान प्रेमसे उत्पन्न हुए और कामदेवके पूर्व रङ्गकी शुभ पुष्पाञ्जलिके समान अत्यन्त कोमल स्त्रियोंकी विनय, हँसी, स्पर्श, विनोद, मनोहर बातचीत और चञ्चल चितवनोंके द्वारा वह चित्तकी परम प्रसन्नताको प्राप्त होता था ॥ १४५-१४६ ॥ कामदेव रूपी कल्प-वृक्षसे उत्पन्न हुए, स्त्रियोंके प्रेमसे प्राप्त हुए और पके हुए भोगोपभोग रूपी उत्तम फल ही राजा पद्मनाभके वैराग्यकी सीमा हुए थे अर्थात् इन्हीं भोगोपभोगोंसे उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया था ॥ १४७ ॥ ये सब भोगोपभोग पूर्वभवमें किये हुए पुण्यकर्मके फल हैं इस प्रकार मूर्ख मनुष्योंको स्पष्ट रीतिसे बतलाता हुआ वह तेजस्वी पद्मनाभ सुखी हुआ था ॥ १४८ ॥ विद्वानोंमें श्रेष्ठ पद्मनाभ भी, श्रीधर मुनिके समीप धर्मका स्वरूप जानकर अपने हृदयमें संसार और मोक्षका यथार्थ स्वरूप इस प्रकार विचारने लगा ॥ १४९ ॥ उसने विचार किया कि 'जब तक औदयिक भाव रहता है तब तक आत्माको संसार-भ्रमण करना पड़ता है, औदयिक भाव तब तक रहता है जब तक कि कर्म रहते हैं और कर्म तब तक रहते हैं जब तक कि उनके कारण विद्यमान रहते हैं ॥ १५० ॥ कर्मोंके कारण मिथ्यात्वादिक पाँच हैं। उनमें-से जहाँ मिथ्यात्व रहता है वहाँ बाकीके चार कारण अवश्य रहते हैं ॥ १५१ ॥ जहाँ असंयम रहता है वहाँ उसके सिवाय प्रमाद, कषाय और योग ये तीन कारण रहते हैं। जहाँ प्रमाद रहता है वहाँ उसके सिवाय योग और कषाय ये दो कारण रहते हैं। जहाँ कषाय रहती है वहाँ उसके सिवाय योग कारण रहता है और जहाँ कषायका अभाव है वहाँ सिर्फ योग ही बन्धका कारण रहता है ॥ १५२ ॥ अपने-अपने गुणस्थानमें मिथ्यात्वादि कारणोंका नाश होनेसे वहाँ उनके निमित्तसे होनेवाला बन्ध भी नष्ट हो जाता है ॥ १५३ ॥ पहले सत्ता, बन्ध और उदय नष्ट होते हैं, उनके पश्चात् चौदहवें गुणस्थान तक अपने-अपने कालके अनुसार कर्म नष्ट होते हैं तथा कर्मोंके नाश होनेसे संसारका नाश हो जाता है ॥ १५४ ॥ जो पाप रूप है और जन्म-मरण ही जिसका लक्षण है ऐसे संसारके नष्ट हो जानेपर आत्माके क्षायिक भाव ही शेष रह जाते हैं। उस समय यह आत्मा अपने आपमें उन्हीं क्षायिक भावोंके साथ बढ़ता रहता है ॥ १५५ ॥ इस प्रकार जिनेन्द्र देवके द्वारा कहे हुए तत्त्वको नहीं जाननेवाला यह प्राणी, जिसका अन्त मिलना अत्यन्त कठिन है ऐसे संसार-रूपी दुर्गम वनमें अन्धेके समान चिरकालसे भटक रहा है ॥ १५६ ॥ अब मैं असंयम आदि कर्म-बन्धके समस्त कारणोंको छोड़कर शुद्ध श्रद्धान आदि मोक्षके पाँचों कारणोंको प्राप्त होता हूं—धारण करता हूं' ॥ १५७ ॥

---

१ सविलासैर्विलोकनैः ख० । २ निभः ल० । ३ सत्समासीत्तस्य क०, घ० । तत्सीमासीत्तस्य ख० । ४ योगसंज्ञके ल० । ५ दुःखे ख० ।

इत्यन्तस्तत्त्वतो ज्ञात्वा पद्मनाभो हिताहिते । दत्त्वा सुवर्णनाभाय [1]प्राभवं बाह्यसम्पदः ॥ १५८ ॥
राजभिर्बहुभिः सार्धं दीक्षां प्रतिपद्य सः । सम्यगाराधनाश्चक्रे प्रसिद्धे मुक्तिसाधने ॥ १५९ ॥
द्वयष्टकारणसम्प्राप्तभावनो नामतीर्थकृत् । स्वीकृत्यैकादशाङ्गाब्धिपारगः परमं तपः ॥ १६० ॥
सिंहनिःक्रीडिताद्युग्रं विधायाबुधदुस्तरम्[2] । कालान्ते सम्यगाराध्य समुत्सृष्टशरीरकः ॥ १६१ ॥
वैजयन्ते त्रयस्त्रिंशत्सागरायुरजायत । पूर्वोक्तदेहलेश्यादिविशेषो दिव्यसौख्यभाक् ॥ १६२ ॥
तस्मिन् षण्मासशेषायुष्या[3]गमिष्यति भूतले । द्वीपेऽस्मिन् भारते वर्षे नृपश्चन्द्रपुराधिपः[4] ॥ १६३ ॥
इक्ष्वाकुः काश्यपो वंशगोत्राभ्यामद्भुतोदयः । महासेनो महादेवी लक्ष्मणा स्वगृहाङ्गणे ॥ १६४ ॥
वसुधारां सुरैः प्राप्ता देवीभिः परिवारिता । दिव्यवस्त्रस्रगालेपशयनादिसुखोचिता ॥ १६५ ॥
चैत्रस्य कृष्णपञ्चम्यां स्वप्नान् यामममोहरे । दृष्ट्वा षोडश संतुष्य समुत्थायोदिते रवौ ॥ १६६ ॥
[5]पुण्यप्रसाधनोपेता [6]स्ववक्त्रार्पितसम्मदा । स्वप्नान् सिंहासनासीनं स्वानवाजीगमत् पतिम् ॥ १६७ ॥
सोऽपि स्वावधिबोधेन तत्फलानि पृथक् पृथक् । राज्ञ्यै निवेदयामास सापि सन्तोषसम्भृता ॥ १६८ ॥
कान्तिं लज्जां धृतिं कीर्तिं बुद्धिं सौभाग्यसम्पदम् । श्रीह्रीधृत्यादिदेवीषु वर्धयन्तीषु सन्ततम् ॥ १६९ ॥
[7]पौषासितैकदश्यां सा शक्रयोगे सुराचितम् । अहमिन्द्रमतर्क्यार्भं त्रिबोधमुपपादयत् ॥ १७० ॥
तदैवाभ्येत्य नाकीशो महामन्दरमस्तके । सिंहासनं समारोप्य सुस्नाप्य क्षीरवारिभिः ॥ १७१ ॥

इस प्रकार अन्तरङ्गमें हिताहितका यथार्थ स्वरूप जानकर पद्मनाभने बाह्य सम्पदाओंकी प्रभुता सुवर्णनाभके लिए दे दी और बहुतसे राजाओंके साथ दीक्षा धारण कर ली। अब वह मोक्ष-के कारण भूत चारों आराधनाओंका आचरण करने लगा, सोलह कारण-भावनाओंका चिन्तवन करने लगा तथा ग्यारह अंगोंका पारगामी बनकर उसने तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध किया। जिसे अज्ञानी जीव नहीं कर सकते ऐसे सिंहनिष्क्रीडित आदि कठिन तप उसने किये और आयुके अन्तः-में समाधिमरण-पूर्वक शरीर छोड़ा जिससे वैजयन्त विमानमें तैंतीस सागरकी आयुका धारक अह-मिन्द्र हुआ। उसके शरीरका प्रमाण तथा लेश्यादिकी विशेषता पहले कहे अनुसार थी। इस तरह वह दिव्य सुखका उपभोग करता हुआ रहता था ॥ १५८–१६२ ॥

तदनन्तर जब उसकी आयु छहकी बाकी रह गई तब इस जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें एक चन्द्र-पुर नामका नगर था। उसमें इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री तथा आश्चर्यकारी वैभवको धारण करनेवाला महासेन नामका राजा राज्य करता था। उसकी महादेवीका नाम लक्ष्मणा था। लक्ष्मणाने अपने घरके आंगनमें देवोंके द्वारा बरसाई हुई रत्नोंकी धारा प्राप्त की थी। श्री ह्री आदि देवियाँ सदा उसे घेरे रहती थीं। देवोपनीत वस्त्र, माला, लेप तथा शय्या आदिके सुखोंका समुचित उपभोग करनेवाली रानीने चैत्रकृष्ण पञ्चमीके दिन पिछली रात्रिमें सोलह स्वप्न देखकर संतोष लाभ किया। सूर्योदयके समय उसने उठकर अच्छे-अच्छे वस्त्राभरण धारण किये तथा प्रसन्नमुख होकर सिंहासन पर बैठे हुए पतिसे अपने सब स्वप्न निवेदन किये ॥ १६३–१६७ ॥ राजा महासेनने भी अवधिज्ञानसे उन स्वप्नोंका फल जानकर रानीके लिए पृथक्-पृथक् बतलाया जिन्हें सुनकर वह बहुत ही हर्षित हुई ॥ १६८ ॥ श्री ह्री धृति आदि देवियाँ उसकी कान्ति, लज्जा, धैर्य, कीर्ति, बुद्धि और सौभाग्य-सम्पत्ति-को सदा बढ़ाती रहती थीं ॥ १६९ ॥ इस प्रकार कितने ही दिन व्यतीत हो जानेपर उसने पौषकृष्ण एकादशीके दिन शक्रयोगमें देव पूजित, अचिन्त्य प्रभाके धारक और तीन ज्ञानसे सम्पन्न उस अह-मिन्द्र पुत्रको उत्पन्न किया ॥ १७० ॥ उसी समय इन्द्रने आकर महामेरुकी शिखर पर विद्यमान सिंहासन पर उक्त जिन-बालकको विराजमान किया, क्षीरसागरके जलसे उनका अभिषेक किया, सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित किया, तीन लोकके राज्यकी कण्ठी बाँधी और फिर प्रसन्नतासे हजार

---

१ प्रभावं राज्यसम्पदः ग० । प्राभवं राज्यसंपदः क०, ख०, घ० । २ विधायांबुधदुस्तरम् ल० । ३ शेषायुषा क० । ४ चण्डपुराधिपः क०, घ० । ५ पुण्यप्रसाधनोपेतो क०, ख०, ग०, घ० । ६ स्ववक्त्रार्पितसंभवा क० । ७ पौषे सितैकादश्यन्ते ग० ।

विभूष्य भूषणैः सर्वैर्बद्ध्वा त्रैलोक्यकण्ठिकाम् । मुदा वीक्ष्य सहस्राक्षो व्यवहारप्रसिद्धये ॥ १७२ ॥
कुवं कुवलयस्यास्य सम्भवे व्यकसत्तराम् । यतस्ततश्चकाराख्यां सार्थां चन्द्रप्रभं प्रभोः ॥ १७३ ॥
आनन्दनाटकं चास्य निर्वर्त्याग्रे शचीपतिः । पुनरानीय तत्पित्रोरर्पयित्वा जगत्पतिम् ॥ १७४ ॥
भोगोपभोगयोग्योरुवस्तुभिः परिचर्यताम् । भगवानिति सन्दिश्य यक्षेशं स्वाश्रयं ययौ ॥ १७५ ॥
प्रबोधमहतां स्त्रीत्वमपि निन्द्यं जगत्पतेः । लोकोपकारिणः प्राप्तेः सपुण्यां लक्ष्मणामिमाम् ॥ १७६ ॥
पावनीं स्तुत्यतां नीत्वा देवाश्चापन् महाफलम् । स्त्रीतेदृशी वरिष्ठेति मेनिरेऽनिमिषाङ्गनाः ॥ १७७ ॥
गतेऽनन्तरसन्ताने सागरोपमकोटिभिः । शतैर्नवभिरेषोऽभूत्तदभ्यन्तरजीवितः ॥ १७८ ॥
शून्यषट्कैकपूर्वायुः सार्द्धचापशतोच्छ्रितिः । अवर्द्धन्तेव शीतांशुः कलाशेषो जगन्नुतः ॥ १७९ ॥
इतः स्वामिंस्त्वमेहीति कुतूहलविलासिनी । प्रसारितकरन्यस्ततलाम्भोजसमाश्रयः ॥ १८० ॥
अकारणसमुद्भूतस्मितकान्तमुखाम्बुजः । कदाचित्प्रस्खलत्पादविन्यासो मणिकुट्टिमे ॥ १८१ ॥
इत्यादितद्वयोयोग्यमुग्धशुद्धविचेष्टितैः । नीत्वा बाल्यं स कौमारमाप प्रार्थ्यं सुखार्थिभिः ॥ १८२ ॥
अमृतैस्तनुमेतस्य[1] कृतां मन्यामहे वयम् । वेधसेति जनालापाः प्रवर्तन्ते स्म कौतुकात् ॥ १८३ ॥
आधिक्याद्भावलेश्येव निर्गतेवेक्षयाप्रिया । द्रव्यलेश्या व्यभासिष्ट जित्वा पूर्णेन्दुजद्युतिम् ॥ १८४ ॥
यशसा लेश्यया चास्य ज्योतिषां छादिता द्युतिः । भोगभूमिर्निवृत्तेति प्रतोषमकरोज्जनः ॥ १८५ ॥*

नेत्र बनाकर उन्हें देखा। उनके उत्पन्न होते ही यह कुवलय अर्थात् पृथ्वी-मण्डलका समूह अथवा नील-कमलोंका समूह अत्यन्त विकसित हो गया था इसलिए इन्द्रने व्यवहारकी प्रसिद्धिके लिए उनका 'चन्द्रप्रभ' यह सार्थक नाम रक्खा ॥ १७१–१७३ ॥ इन्द्रने इन त्रिलोकीनाथके आगे आनन्द नामका नाटक किया। तदनन्तर उन्हें लाकर उनके माता-पिताके लिए सौंप दिया ॥ १७४ ॥ 'तुम भोगोपभोगकी योग्य वस्तुओंके द्वारा भगवान्‌की सेवा करो' इस प्रकार कुबेरके लिए संदेश देकर इन्द्र अपने स्थान पर चला गया ॥ १७५ ॥ यद्यपि विद्वान् लोग स्त्री-पर्यायको निन्द्य बतलाते हैं तथापि लोगोंका कल्याण करनेवाले जगत्पति भगवान्‌को धारण करनेसे यह लक्ष्मणा बड़ी ही पुण्यवती है, बड़ी ही पवित्र है,' इस प्रकार देव लोग उसकी स्तुति कर महान् फलको प्राप्त हुए थे तथा 'इस प्रकारकी स्त्री-पर्याय श्रेष्ठ है' ऐसा देवियोंने भी स्वीकृत किया था ॥ १७६–१७७ ॥

भगवान् सुपार्श्वनाथके मोक्ष जानेके बाद जब नौ सौ करोड़ सागरका अन्तर बीत चुका तब भगवान् चन्द्रप्रभ उत्पन्न हुए थे। उनकी आयु भी इसी अन्तरमें सम्मिलित थी ॥ १७८ ॥ दश लाख पूर्वकी उनकी आयु थी, एक सौ पचास धनुष ऊँचा शरीर था, द्वितीयाके चन्द्रमाकी तरह वे बढ़ रहे थे तथा समस्त संसार उनकी स्तुति करता था ॥ १७९ ॥ 'हे स्वामिन्! आप इधर आइये' इस प्रकार कुतूहलवश कोई देवी उन्हें बुलाती थी। वे उसके फैलाये हुए हाथों पर कमलोंके समान अपनी हथेलियाँ रख देते थे। उस समय कारणके बिना ही प्रकट हुई मन्द मुसकानसे उनका मुखकमल बहुत ही सुन्दर दिखता था। वे कभी मणिजटित पृथिवी पर लड़खड़ाते हुए पैर रखते थे ॥ १८०–१८१ ॥ इस प्रकार उस अवस्थाके योग्य भोलीभाली शुद्ध चेष्टाओंसे बाल्यकालको बिताकर वे सुखाभिलाषी मनुष्योंके द्वारा चाहने योग्य कौमार अवस्थाको प्राप्त हुए ॥ १८२ ॥ उस समय वहाँके लोगोंमें कौतुकवश इस प्रकारकी बातचीत होती थी कि हम ऐसा समझते हैं कि विधाताने इनका शरीर अमृतसे ही बनाया है ॥ १८३ ॥ उनकी द्रव्य लेश्या अर्थात् शरीरकी कान्ति पूर्ण चन्द्रमाकी कान्तिको जीतकर ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो बाह्य वस्तुओंको देखनेके लिए अधिक होनेसे भाव लेश्या ही बाहर निकल आई हो ॥ भावार्थ—उनका शरीर शुक्ल था और भाव भी शुक्ल-उज्ज्वल थे ॥ १८४ ॥ उनके यश और लेश्यासे ज्योतिषी देवोंकी कान्ति छिप गई

१–स्तनुरेतस्य क०, घ०।

*१८५ तमश्लोकादग्रे क०-ख०-ग०-घ०-पुस्तकेष्वयं श्लोकोऽधिको वर्तते, ल० पुस्तके नास्ति– 'आबाल्यादेव पीयूषभोजी तेन तनुद्युतिः। अमानुषी हताशेषद्युतिरित्यब्रवीज्जनः' ॥

द्युतिस्तस्य द्युतिर्वाभात् मिलिता रविचन्द्रयोर्यतस्ततो नित्यमुदेष्यतां पद्माकरे कुमुदान्यपि ॥ १८६ ॥
कुन्दहासा गुणास्तस्य चन्द्रस्येवांशवोऽमलाः । विकासयन्ति भव्यानां मनःकुवलयावलिम् ॥ १८७ ॥
सहोत्पन्नौ श्रियोऽनेन सोदर्येन्दोरिति श्रुतिः । अजानद्भिर्जनैरेतदन्यथा परिकल्पितम् ॥ १८८ ॥
चन्द्रस्येवोदयेऽस्यापि[1] सर्वसन्तापहारिणः । ह्लादते भासते वर्द्धते स्म लोको निराकुलः ॥ १८९ ॥
एतस्यैव गुणैर्लक्ष्मी [2]मन्ये कीर्तिश्च निर्मला । कारणानुगुणं कार्यमिति सत्यं भवेद्यदि ॥ १९० ॥
महाविभूतिसम्पन्नः [3]सज्जमज्जनमङ्गलः । सालङ्कारक्रियो[4] वेलां कदाचिद्दनयत् कृती ॥ १९१ ॥
वीणावाद्येन हृद्येन गीतैर्मुरजवादनैः[5] । कदाचिद्धनदानीतभूषावस्त्रावलोकनैः ॥ १९२ ॥
वादिप्रवाद्युपन्यस्तपक्षादिसुपरीक्षणैः । कुतूहलेक्षणायातभव्यलोकात्मदर्शनैः ॥ १९३ ॥
धर्मादयो व्यवर्द्धन्त गुणाः पापाश्रयाल्लयम् । कौमारेऽस्मिन् स्थितेऽप्येवं किं वाच्यं संयमे सति ॥१९४॥
इति द्विलक्षपञ्चाशत्सहस्रप्रमितैर्गतैः । पूर्वैः राज्याभिषेकाप्त्या परमानन्दसुन्दरः ॥ १९५ ॥
नावतो मण्डलं राहोः स्वहस्ततलसस्मितम् । किं तेजोऽर्कस्य तेजोऽस्य तेजस्त्रैलोक्यरक्षिणः ॥ १९६ ॥
शक्रादयोऽपि कैङ्कर्यं जन्मनः प्राग्वहन्ति चेत् । ऐश्वर्यादिभिरेषोऽन्यैर्वृतः कैरुपमीयताम् ॥ १९७ ॥
तले कपोलयोः क्षीणां छेदे वा दन्तिदन्तयोः । स विलोक्य स्मरस्मेरं स्वमुखं सुखमेयिवान् ॥ १९८ ॥

थी इसलिए 'भोगभूमि लौट आई है' यह समझ कर लोग संतुष्ट होने लगे थे ॥ १८५ ॥ (ये बाल्य अवस्थासे ही अमृतका भोजन करते हैं अतः इनके शरीरकी कान्ति मनुष्योंसे भिन्न है तथा अन्य सबकी कान्तिको पराजित करती है ।) उनके शरीरकी कान्ति ऐसी सुशोभित होती थी मानो सूर्य और चन्द्रमाकी मिली हुई कान्ति हो । इसीलिए तो उनके समीप निरन्तर कमल और कुमुद दोनों ही खिले रहते थे ॥ १८६ ॥ कुन्दके फूलोंकी हँसी उड़ानेवाले उनके गुण चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल थे । इसीलिए तो वे भव्य जीवोंके मनरूपी नीलकमलोंके समूहको विकसित करते रहते थे ॥ १८७ ॥ लक्ष्मी इन्हींके साथ उत्पन्न हुई थी इसलिए वह इन्हींकी बहिन थी । 'लक्ष्मी चन्द्रमाकी बहिन है' यह जो लोकमें प्रसिद्धि है वह अज्ञानी लोगोंने मिथ्या कल्पना कर ली है ॥ १८८ ॥ जिस प्रकार चन्द्रमाका उदय होने पर यह लोक हर्षित हो उठता है, सुशोभित होने लगता है और निराकुल होकर बढ़ने लगता है उसी प्रकार सब प्रकारके संतापको हरनेवाले चन्द्रप्रभ भगवान्का जन्म होने पर यह सारा संसार हर्षित हो रहा है, सुशोभित हो रहा है और निराकुल होकर बढ़ रहा है ॥ १८९ ॥ 'कारणके अनुकूल ही कार्य होता है' यदि यह लोकोक्ति सत्य है तो मानना पड़ता है कि इनकी लक्ष्मी और कीर्ति इन्हींके गुणोंसे निर्मल हुई थीं । भावार्थ—उनके गुण निर्मल थे अतः उनसे जो लक्ष्मी और कीर्ति उत्पन्न हुई थी वह भी निर्मल ही थी ॥ १९० ॥ जो बहुत भारी विभूतिसे सम्पन्न हैं, जो स्नान आदि माङ्गलिक कार्योंसे सजे रहते हैं और अलङ्कारोंसे सुशोभित हैं ऐसे अतिशय कुशल भगवान् कभी मनोहर वीणा बजाते थे, कभी मृदङ्ग आदि बाजोंके साथ गाना गाते थे, कभी कुबेरके द्वारा लाये हुए आभूषण तथा वस्त्र आदि देखते थे, कभी वादी-प्रतिवादियोंके द्वारा उपस्थापित पक्ष आदिकी परीक्षा करते थे और कभी कुतूहलवश अपना दर्शन करनेके लिए आये हुए भव्य जीवोंको दर्शन देते थे इस प्रकार अपना समय व्यतीत करते थे ॥ १९१-१९३ ॥ जब भगवान् कौमार अवस्थामें ही थे तभी धर्म आदि गुणोंकी वृद्धि हो गई थी और पाप आदिका क्षय हो गया था, फिर संयम धारण करने पर तो कहना ही क्या है ? ॥ १९४ ॥ इस प्रकार दो लाख पचास हजार पूर्व व्यतीत होने पर उन्हें राज्याभिषेक प्राप्त हुआ था और उससे वे बहुत ही हर्षित तथा सुन्दर जान पड़ते थे ॥ १९५ ॥ जो अपनी हथेलीप्रमाण मण्डलकी राहुसे रक्षा नहीं कर सकता ऐसे सूर्यका तेज किस कामका ? तेज तो इन भगवान् चन्द्रप्रभका था जो कि तीन लोककी रक्षा करते थे ॥ १९६ ॥ जिनके जन्मके पहले ही इन्द्र आदि देव किङ्करता स्वीकृत कर लेते हैं ऐसे अन्य ऐश्वर्य आदिसे घिरे हुए इन चन्द्रप्रभ भगवान्को किसकी उपमा दी जावे ? ॥ १९७ ॥ वे

१ चन्द्रस्येवोदयस्यापि ल० । २ मान्या ल० । ३ मान्यमज्जनमङ्गलः ख०, ग० । सज्जं सावधानीकृतं मज्जनं मङ्गलस्नानं यस्य सः इति क-पुस्तके टिप्पणी । ४ सालङ्कारक्रियां ख० । ५ मुरजवादिभिः ल० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विलोकिनीनां कान्तानामुत्सुकानां विलासकृत् । त्यागीव स सुखी जातः [1]स्ववक्त्ररसतर्पणात् ॥ १९९ ॥
नान्तरायः परं तस्य कान्तावक्त्राब्जवीक्षणे । जातपङ्केरुहाशङ्कैर्भ्रमद्भिर्भ्रमरैर्विना ॥ २०० ॥
मधुपैश्चपलैर्लोलैर्युक्तायुक्ताविचारकैः । मलिनैः किमकर्तव्यं प्रवेशो यदि लभ्यते ॥ २०१ ॥
खचतुष्केन्द्रियर्तूक्तैः पूर्वैः साम्राज्यसम्पदः । चतुर्विंशतिपूर्वाङ्गैः सम्मितौ क्षणवत्सुखम् ॥ २०२ ॥
सत्यां प्रयाति कालेऽसावलङ्कारगृहेऽन्यदा । प्रपश्यन् वदनाम्भोजं दर्पणागतमात्मनः ॥ २०३ ॥
[2]तत्रावधार्यनिर्वेदहेतुं कञ्चिन्मुखे स्थितम् । पातुकः पश्य कायोऽयमीतयः प्रीतयोऽप्यमूः ॥ २०४ ॥
किं सुखं यदि न स्वस्मात्का लक्ष्मीश्चेदियं चला । किं यौवनं यदि ध्वंसि किमायुर्यदि सावधि ॥२०५॥
सम्बन्धो बन्धुभिः कोऽसौ चेद्वियोगपुरस्सरः । स एवाहं त एवार्थास्तान्येव करणान्यपि ॥ २०६ ॥
प्रीतिः सैवानुभूतिश्च वृत्तिश्चास्यां भवावनौ[3] । परिवृत्तमिदं सर्वं पुनः पुनरनन्तरम् ॥ २०७ ॥
तत्र किं जातमप्येष्यत्काले किं वा भविष्यति । इति जानन्नहं चास्मिन्मोमुहीमि मुहुर्मुहुः ॥ २०८ ॥
अनित्ये नित्यबुद्धिर्मे दुःखे सुखमिति स्मृतिः । अशुचौ शुचिरित्यास्था परत्रात्ममतिर्यथा ॥ २०९ ॥
अविद्ययैवमाक्रान्तो दुरन्ते भववारिधौ । चतुर्विधोरुदुःखाग्रदुर्गदैराहितश्चिरम् ॥ २१० ॥
इत्ययेनायतेनैवमायासित इवाकुलः । काललब्धि परिप्राप्य क्षुण्णमार्गजिहासया ॥ २११ ॥
गुणाढ्यं भावुको भाविकेवलावगमादिभिः । स्मरन्नित्याप सन्मत्या [4]संफल्येव समागमम्[5] ॥ २१२ ॥

स्त्रियोंके कपोल-तलमें अथवा हाथी-दाँतके टुकड़ेमें कामदेवसे मुसकाता हुआ अपना मुख देखकर सुखी होते थे ॥ १९८ ॥ जिस प्रकार कोई दानी पुरुष दान देकर सुखी होता है उसी प्रकार शृङ्गार चेष्टाओंको करने वाले भगवान्, अपनी ओर देखनेवाली उत्सुक स्त्रियोंके लिए अपने मुखका रस समर्पण करनेसे सुखी होते थे ॥ १९९ ॥ मुखमें कमलकी आशङ्का होनेसे जो पास हीमें मँडरा रहे हैं ऐसे भ्रमरोंको छोड़कर स्त्रीका मुख-कमल देखनेमें उन्हें और कुछ बाधक नहीं था ॥ २०० ॥ चञ्चल सतृष्ण, योग्य अयोग्यका विचार नहीं करनेवाले और मलिन मधुप-भ्रमर भी (पक्षमें मद्य-पायी लोग भी) जब प्रवेश पा सकते हैं तब संसारमें ऐसा कार्य ही कौन है जो नहीं किया जा सकता हो ॥ २०१ ॥ इस प्रकार साम्राज्य-सम्पदाका उपभोग करते हुए जब उनका छह लाख पचास हजार पूर्व तथा चौबीस पूर्वाङ्गका लम्बा समय सुख पूर्वक क्षणभरके समान बीत गया तब वे एक दिन आभूषण धारण करनेके घरमें दर्पणमें अपना मुख-कमल देख रहे थे ॥ २०२-२०३ ॥ वहाँ उन्होंने मुख पर स्थित किसी वस्तुको वैराग्यका कारण निश्चित किया और इस प्रकार विचार करने लगे । 'देखो यह शरीर नश्वर है तथा इससे जो प्रीति की जाती है वह भी ईतिके समान दुःखदायी है ॥ २०४ ॥ वह सुख ही क्या है जो अपनी आत्मासे उत्पन्न न हो, वह लक्ष्मी ही क्या है जो चञ्चल हो, वह यौवन ही क्या है जो नष्ट हो जानेवाला हो, और वह आयु ही क्या है जो अवधिसे सहित हो—सान्त हो ॥ २०५ ॥ जिसके आगे वियोग होनेवाला है ऐसा बन्धुजनोंके साथ समागम किस कामका ? मैं वही हूँ, पदार्थ वही हैं, इन्द्रियाँ भी वही हैं, प्रीति और अनुभूति भी वही है, तथा प्रवृत्ति भी वही है किन्तु इस संसारकी भूमिमें यह सब बार-बार बदलता रहता है ॥ २०६-२०७ ॥ इस संसारमें अब तक क्या हुआ है और आगे क्या होनेवाला है यह मैं जानता हूं, फिर भी बार बार मोहको प्राप्त हो रहा हूँ यह आश्चर्य है ॥ २०८ ॥ मैं आज तक अनित्य पदार्थोंको नित्य समझता रहा, दुःखको सुख स्मरण करता रहा, अपवित्र पदार्थोंको पवित्र मानता रहा और परको आत्मा जानता रहा ॥ २०९ ॥ इस प्रकार अज्ञानसे आक्रान्त हुआ यह जीव, जिसका अन्त अत्यन्त कठिन है ऐसे संसाररूपी सागरमें चार प्रकारके विशाल दुःख तथा भयङ्कर रोगोंके द्वारा चिरकालसे पीड़ित हो रहा है ॥ २१० ॥ इस प्रकार काल-लब्धिको पाकर संसारका मार्ग छोड़नेकी इच्छासे वे बड़े लम्बे पुण्यकर्मके द्वारा खिन्न हुएके समान व्याकुल हो गये थे ॥ २११ ॥ आगे

---

१ स्ववक्त्रसंतर्पणात् ल० (छन्दोभङ्गः)। २ तदावधार्य ल० । ३ भवावलौ ल० । ४ सकल्पेव ल० । ५ समागमे ल० ।

दीक्षालक्ष्म्याः स्वयं प्राप्ता सद्बुद्धिः सिद्धिदायिनी । इति प्रबुद्धतत्त्वं तं प्रपद्य सुरसंयताः ॥ २१३ ॥
यथोचितमभिष्टुत्य ब्रह्मलोकं पुनर्ययुः । नृपोऽपि वरचन्द्रस्य कृत्वा राज्याभिषेचनम् ॥ २१४ ॥
विनिःक्रमणकल्याणपूजां प्राप्य सुरेश्वरैः । आरुह्य सुरसन्धार्यां शिबिकां विमलाह्वयात् ॥ २१५ ॥
दिनद्वयोपवासस्थः वने सर्वर्तुकाह्वये । [illegible] पौषे कृष्णस्यैकादश्यां सहीभुजाम् ॥ २१६ ॥
सहस्रेणाप्य नैर्ग्रन्थ्यं मनःपर्ययमाप्तवान् । [1]द्वितीये दिवसे तस्मै पुरे नलिननामनि ॥ २१७ ॥
सोमदत्तो नृपो गौरः प्रदायाहारमुत्तमम् । पुण्यानि नव सम्प्राप्य वसुधारादिपञ्चकम् ॥ २१८ ॥
सुरैस्तदानसन्तुष्टैरापितं स्वीचकार सः । धृत्वा व्रतानि सम्पाल्य समितीस्त्यक्तदण्डकः ॥ २१९ ॥
निगृहीतकषायारिर्वर्द्धमानविशुद्धिभाक् । त्रिगुप्तः शीलसम्पन्नो गुणी प्रोक्तपोद्वयः ॥ २२० ॥
वस्तुवृत्तिवचोभेदाश्चैरन्तर्येण भावयत् । दशप्रकारधर्मस्थः षोढाशेषपरीषहः ॥ २२१ ॥
अनित्याशुचिदुःखत्वं स्मरन् कायादिकं मुहुः । गत्वा सर्वत्र माध्यस्थ्यं परमं योगमाश्रितः ॥ २२२ ॥
त्रीन् मासान् जिनकल्पेन नीत्वा दीक्षावनान्तरे । अधस्तान्नागवृक्षस्य स्थित्वा षष्ठोपवासभृत् ॥ २२३ ॥
फाल्गुने कृष्णसप्तम्यामनुराधापराह्णके । प्रागेव निहिताशेषश्रद्धानप्रतिपक्षकः ॥ २२४ ॥
करणत्रयसंयोगात् क्षपकश्रेणिमाश्रितः । स्फुरत्तुरीयचारित्रो द्रव्यभावविकल्पतः ॥ २२५ ॥
[3]शुक्लध्यानोद्धसद्ध्यात्या मोहारातिं निहत्य सः । [4]सावगाढदृगर्घोऽभाद् विद्यतुष्कादिभास्करः ॥२२६॥

होनेवाले केवलज्ञानादि गुणोंसे मुझे समृद्ध होना चाहिए'''ऐसा स्मरण करते हुए वे दूतीके समान सद्बुद्धिके साथ समागमको प्राप्त हुए थे ॥ २१२ ॥ मोक्ष प्राप्त करानेवाली उनकी सद्बुद्धि अपने आप दीक्षा-लक्ष्मीको प्राप्त हो गई थी। इस प्रकार जिन्होंने आत्मतत्त्वको समझ लिया है ऐसे भगवान् चन्द्रप्रभके समीप लौकान्तिक देव आये और यथायोग्य स्तुति कर ब्रह्मस्वर्गको वापिस चले गये। तदनन्तर महाराज चन्द्रप्रभ भी वरचन्द्र नामक पुत्रका राज्याभिषेक कर देवोंके द्वारा की हुई दीक्षा-कल्याणककी पूजाको प्राप्त हुए और देवोंके द्वारा उठाई हुई विमला नामकी पालकीमें सवार होकर सर्वर्तुक नामक वनमें गये। वहाँ उन्होंने दो दिनके उपवासका नियम लेकर पौष कृष्ण एकादशीके दिन अनुराधा नक्षत्रमें एक हजार राजाओंके साथ निर्ग्रन्थ दीक्षा कर ली। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्राप्त हो गया। दूसरे दिन वे चर्याके लिए नलिन नामक नगरमें गये। वहाँ गौर वर्णवाले सोमदत्त राजाने उन्हें नवधा भक्ति पूर्वक उत्तम आहार देकर दानसे संतुष्ट हुए देवोंके द्वारा प्रकटित रत्नवृष्टि आदि पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये। भगवान् अहिंसा आदि पाँच महाव्रतोंको धारण करते थे, ईर्या आदि पाँच समितियोंका पालन करते थे, मन वचन कायकी निरर्थक प्रवृत्ति रूप तीन दण्डोंका त्याग करते थे ॥ २१३–२१९ ॥ उन्होंने कषायरूपी शत्रुका निग्रह कर दिया था, उनकी विशुद्धता निरन्तर बढ़ती रहती थी, वे तीन गुप्तियोंसे युक्त थे, शील सहित थे, गुणी थे, अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों तपोंको धारण करते थे, वस्तु वृत्ति और वचनके भेदसे निरन्तर पदार्थका चिन्तन करते थे, उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंमें स्थित रहते थे, समस्त परिषह सहन करते थे, 'यह शरीरादि पदार्थ अनित्य हैं, अशुचि हैं और दुःख रूप हैं' ऐसा बार-बार स्मरण रखते थे तथा समस्त पदार्थोंमें माध्यस्थ्य भाव रखकर परमयोगको प्राप्त हुए थे ॥२२०–२२२॥ इस प्रकार जिन-कल्प-मुद्राके द्वारा तीन माह बिताकर वे दीक्षावनमें नागवृक्षके नीचे वेलाका नियम लेकर स्थित हुए। वह फाल्गुन कृष्ण सप्तमीके सायंकालका समय था और उस दिन अनुराधा नक्षत्रका उदय था। सम्यग्दर्शनको घातनेवाली प्रकृतियोंका तो उन्होंने पहले ही क्षय कर दिया अब अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति-करणरूप तीन परिणामोंके संयोगसे क्षपक श्रेणीको प्राप्त हुए। वहाँ उनके द्रव्य तथा भाव दोनोंही रूपसे चौथा सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र प्रकट हो गया ॥ २२३–२२५ ॥ वहाँ उन्होंने प्रथम शुक्लध्यानके प्रभावसे मोहरूपी शत्रुको नष्ट कर दिया जिससे उनका सम्यग्दर्शन अवगाढ सम्यग्दर्शन हो गया।

---

१ पौषमास्यनु–ल० । २ द्वितीयदिवसे ल० । ३ धर्मध्यानेद्धसद्ध्यात्या ल०, ग०, घ०, क० । ४ सावगाढदृगर्घ्यावों ख० । सावगाढदृगर्घ्येऽर्यो ल० ।

द्वितीयशुक्लध्यानेन घातित्रितयघातकः । जीवस्यैवोपयोगाख्यो गुणः शेषेष्वसम्भवात् ॥ २२७ ॥
घातीति नाम तद्घातादभूदघचतुष्टये । अघातिष्वपि केषाञ्चिदेव तत्र विलोपनात् ॥ २२८ ॥
परावगाढं सम्यक्त्वं चर्यान्त्यां ज्ञानदर्शने । दानादिपञ्चकं प्राप्य सयोगः सकलो जिनः ॥ २२९ ॥
सर्वज्ञः सर्वलोकेशः सार्वः सर्वैकरक्षकः । सर्वदृक् सर्वदेवेन्द्रवन्द्यः सर्वार्थदेशकः ॥ २३० ॥
चतुस्त्रिंशदतीशेषविशेषविभवोदयः । प्रातिहार्याष्टकव्यक्तीकृततीर्थकरोदयः ॥ २३१ ॥
देवदेवः समस्तेन्द्रमुकुटोढाङ्घ्रिपङ्कजः । स्वप्रभाह्लादिताशेषविश्वो लोकविभूषणः ॥ २३२ ॥
गतिजीवगुणस्थाननयमानादिविस्तृतेः । प्रबोधकः स्थितो व्योम्नि श्रीमान् चन्द्रप्रभो जिनः ॥ २३३ ॥
क्रौर्यधुर्येण शौर्येण [1]यदंहः सञ्चितं परम् । सिंहैर्हर्तुं स्वजातेर्वा व्यूढं तस्यासनं व्यभात् ॥ २३४ ॥
केवलद्युतिरेवैवं मूर्तिर्जातेव भास्वरा । देहप्रभा दिशो विश्वा भासयन्त्यस्य शोभते ॥ २३५ ॥
[2]चामरैरामरैरेष प्रभाप्रकटितायतिः । हंसांसधवलैर्गङ्गातरङ्गैरिव सेव्यते ॥ २३६ ॥
ध्वनिरेकोऽपि दिव्योऽस्य प्रकाशो वांशुमालिनः । [3]द्रष्टृणां सर्वभावानां सश्रोत्राणां प्रकाशकः ॥२३७॥
त्रिभिः शिवं पदं प्राप्यमस्माभिरिति चावदत् । मोक्षमार्गः पृथग्भूतो भाति छत्रत्रयं विभोः ॥ २३८ ॥
भाति पिण्डीद्रुमो भर्तुरशोकः संश्रयादहम् । इत्याविष्कृतरागो वा पल्लवैः प्रसवैरपि ॥ २३९ ॥

गणिनीश्री ज्ञानमती अभिनन्दन ग्रन्थ - आचार्य श्री अभिनन्दनसागर जी महाराज

उस समय चार ज्ञानोंसे देदीप्यमान चन्द्रप्रभ भगवान् अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥ २२६ ॥ बारहवें गुणस्थानके अन्तमें उन्होंने द्वितीय शुक्लध्यानके प्रभावसे मोहातिरिक्त तीन घातिया कर्मोंका क्षय कर दिया। उपयोग जीवका ही खास गुण है क्योंकि वह जीवके सिवाय अन्य द्रव्योंमें नहीं पाया जाता। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय कर्म जीवके उपयोग गुणका घात करते हैं इसलिए घातिया कहलाते हैं। उन भगवान्के घातिया कर्मोंका नाश हुआ था और अघातिया कर्मोंमेंसे भी कितनी ही प्रकृतियोंका नाश हुआ था। इस प्रकार वे परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन, अन्तिम यथाख्यात चारित्र, क्षायिक ज्ञान, दर्शन तथा दानादि पाँच लब्धियाँ पाकर शरीर सहित सयोगकेवली जिनेन्द्र हो गये ॥ २२७–२२९ ॥ उस समय वे सर्वज्ञ थे, समस्त लोकके स्वामी थे, सबका हित करनेवाले थे, सबके एक मात्र रक्षक थे, सर्वदर्शी थे, समस्त इन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय थे और समस्त पदार्थोंका उपदेश देनेवाले थे ॥ २३० ॥ चौंतीस अतिशयोंके द्वारा उनके विशेष वैभवका उदय प्रकट हो रहा था और आठ प्रातिहार्योंके द्वारा तीर्थंकर नामकर्मका उदय व्यक्त हो रहा था ॥ २३१ ॥ वे देवोंके देव थे, उनके चरण-कमलोंको समस्त इन्द्र अपने मुकुटों पर धारण करते थे, अपनी प्रभासे उन्होंने समस्त संसारको आनन्दित किया था, तथा वे समस्त लोकके आभूषण थे ॥ २३२ ॥ गति, जीव, समास, गुणस्थान, नय, प्रमाण आदिके विस्तारका ज्ञान करानेवाले श्रीमान् चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र आकाशमें स्थित थे ॥ २३३ ॥ सिंहोंके द्वारा धारण किया हुआ उनका सिंहासन ऐसा सुशोभित हो रहा था कि सिंह जातिने क्रूरता-प्रधान शूर-वीरताके द्वारा पहले जिस पापका संचय किया था उसे हरनेके लिए मानो उन्होंने भगवान्का सिंहासन उठा रक्खा था ॥ २३४ ॥ समस्त दिशाओंको प्रकाशित करती हुई उनके शरीरकी प्रभा ऐसी जान पड़ती थी मानो देदीप्यमान केवलज्ञानकी कान्ति ही तदाकार हो गई हो ॥ २३५ ॥ हंसोंके कंधोंके समान सफेद देवोंके चामरोंसे जिनकी प्रभाकी दीर्घता प्रकट हो रही है ऐसे भगवान् ऐसे जान पड़ते थे मानो गङ्गानदीकी लहरें ही उनकी सेवा कर रही हों ॥२३६॥ जिस प्रकार सूर्यका एक ही प्रकाश देखनेवालोंके लिए समस्त पदार्थोंका प्रकाश कर देता है उसी प्रकार भगवान्की एक ही दिव्यध्वनि सुननेवालों के लिए समस्त पदार्थोंका प्रकाश कर देती थी ॥ २३७ ॥ भगवान्का छत्रत्रय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र रूप मोक्षमार्ग जुदा-जुदा होकर यह कह रहा हो कि मोक्षकी प्राप्ति हम तीनोंसे ही हो सकती है अन्यसे नहीं ॥ २३८ ॥ लाल-लाल अशोक वृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो भगवान्के आश्रय-

---

१ यदहः ग०, ल० । २ चमरै-ल० । ३ द्रष्टृणां सर्वभावानां सगोत्राणां प्रकाशकः ख०, ग० । नराणां सर्वभावानां संश्रोतणां प्रकाशकः ल० ।

अभात् सुमनसां वृष्टिः पतन्ती नभसो विभुम् । तारावलिरिवायान्ती सेवितुं भक्तिनिर्भरा ॥२४०॥
देवदुन्दुभयो वार्दं ध्वनुस्तर्जितार्ध्वयः । दिशः श्रावयितुं वास्य मोहारातिजयं विभोः ॥ २४१ ॥
अभादस्य प्रभामध्ये प्रसन्नं वक्त्रमण्डलम् । नाकनद्यामिवाम्भोजमिव वा बिम्बमैन्दवम् ॥ २४२ ॥
श्रीमद्गन्धकुटीमध्ये चतुर्भिस्त्रिगुणैर्गणैः । तारागणैः शरच्चन्द्र इव सेव्यो व्यराजत ॥ २४३ ॥
दत्तादित्रिनवत्युक्तगणेशः खत्रयद्विस–[1] । म्प्रोक्तपूर्वधरः शून्यत्रिकाष्टावधिलोचनः ॥ २४४ ॥
शून्यद्वयचतुःशून्यद्विक[2]पक्षोक्तशिक्षकः । खचतुष्कैकनिर्दिष्टकेवलावगमाग्रणीः ॥ २४५ ॥
चतुर्दशसहस्रोक्तविक्रियर्द्धिविभूषितः । खत्रयाष्टचतुर्ज्ञानपरिपत्परिवारितः ॥ २४६ ॥
खद्वयर्त्वंद्विवादीशः सर्वसार्द्धद्विलक्षकः । खचतुष्काष्टवह्न्युक्तवरुणार्यिकानुतः ॥ २४७ ॥
त्रिलक्षश्रावकाभ्यर्च्यः श्राविकापञ्चलक्षकः । असङ्ख्यदेवदेवीड्यस्तिर्यक्सङ्ख्यातसेवितः[3] ॥ २४८ ॥
प्रादक्षिण्येन भव्येशं परीत्यैते गणाः पृथक् । [4]स्वकोष्ठेष्ववतिष्ठन्ति विहिताञ्जलिकुड्मलाः ॥२४९॥
तत्राकृत्रिमसम्भूतभक्तिभारानतः स्फुरन् । मुकुटाग्रमणिः स्तोत्रं द्वितीयेन्द्रोऽभ्यधादिदम् ॥ २५० ॥
रत्नत्रयेण येनाप्तं रत्नत्रयमनुत्तरम् । त्वं देह्यस्मभ्यमप्युच्चैः सरत्नत्रयसम्पदम् ॥ २५१ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सविधिसागर जी महाराज
स्वार्थः सागरमेरूणां परार्थः कल्पभूरुहाम् । देव स्वार्थः परार्थश्च महिमा महतस्तव ॥ २५२ ॥
ददासि परमं सौख्यमित्यस्तु भवतः [5]स्तवः । नन्द नन्देति देवस्य साधितात्मार्थसम्पदः ॥ २५३ ॥

से ही मैं अशोक–शोकरहित हुआ हूँ अतः उनके प्रति अपने पत्रों और फूलोंके द्वारा अनुराग ही प्रकट कर रहा हो ॥ २३९ ॥ आकाशसे पड़ती हुई फूलोंकी वर्षा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो भगवान्‌की सेवा करनेके लिए भक्तिसे भरी हुई ताराओंकी पंक्ति ही आ रही हो ॥ २४० ॥ समुद्रकी गर्जनाको जीतनेवाले देवोंके नगाड़े ठीक इस तरह शब्द कर रहे थे मानो वे दिशाओंको यह सुना रहे हों कि भगवान्‌ने मोहरूपी शत्रुको जीत लिया है ॥ २४१ ॥ उनकी प्रभाके मध्यमें प्रसन्नतासे भरा हुआ मुख-मण्डल ऐसा सुशोभित होता था मानो आकाशगङ्गामें कमल ही खिल रहा हो अथवा चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब ही हो ॥ २४२ ॥ जिस प्रकार तारागणोंसे सेवित शरद्-ऋतुका चन्द्रमा सुशोभित होता है उसी प्रकार बारह सभाओंसे सेवित भगवान् गन्धकुटीके मध्यमें सुशोभित हो रहे थे ॥ २४३ ॥ उनके दत्त आदि तेरानवें गणधर थे, दो हजार पूर्वधारी थे, आठ हजार अवधिज्ञानी थे, दो लाख चार सौ शिक्षक थे; दश हजार केवलज्ञानी थे। वे चौदह हजार विक्रिया-ऋद्धिके धारक मुनियोंसे विभूषित थे, आठ हजार मनःपर्यय ज्ञानके धारक उनकी सेवा करते थे, तथा सात हजार छह सौ वादियोंके स्वामी थे। इस प्रकार सब मुनियोंकी संख्या अड़ाई लाख थी। वरुणा आदि तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाएँ उनकी स्तुति करती थीं। तीन लाख श्रावक और पाँच लाख श्राविकाएँ उनकी पूजा करती थीं। वे असंख्यात देव-देवियोंसे स्तुत्य थे और संख्यात तिर्यञ्च उनकी सेवा करते थे ॥ २४३–२४८ ॥ ये सब बारह सभाओंके जीव प्रदक्षिणा रूपसे भव्योंके स्वामी भगवान् चन्द्रप्रभको घेरे हुए थे, सब अपने-अपने कोठोंमें बैठे थे और सभी कमलके मुकुलके समान अपने-अपने हाथ जोड़े हुए थे ॥ २४९ ॥

उसी समय जो उत्पन्न हुई भक्तिके भारसे नम्र हो रहा है और जिसके मुकुटके अग्रभागमें लगे हुए मणि देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसा दूसरा ऐशानेन्द्र इस प्रकार स्तुति करने लगा ॥ २५० ॥ वह कहने लगा कि हे भगवन्! जिस रत्नत्रयसे आपने उत्कृष्ट रत्नत्रय प्राप्त किया है वही रत्नत्रय-सम्पत्ति आप मुझे भी दीजिये ॥ २५१ ॥ हे देव! समुद्र और सुमेरु पर्वतकी महिमा केवल अपने लिए हैं तथा कल्पवृक्षकी महिमा केवल परके लिए है परन्तु सबसे बड़े ऐसे आपकी महिमा अपने तथा दूसरे दोनोंके लिए है ॥ २५२ ॥ हे भगवन्! आप परम सुखके देनेवाले हैं ऐसी आपकी स्तुति तो दूर ही रही, अपने आत्मतत्त्व रूपी संपदाको सिद्ध करनेवाले आप सदा समृद्धिमान् हों

---

१ द्वयं ख० । २ द्वय क०, ख०, ग०, घ० । ३ सन्नतः ल० । ४ स्वकोष्ठेऽप्यवतिष्ठन्ते ल० । ५ स्तवं ल०, ख० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

त्वद्वचो वाचि धर्मस्ते हृदि वृत्तिस्तनौ भवेत् । यस्य स त्वादृशो भूत्वा परमानन्दमश्नुते ॥ २५४ ॥
स्वयैवैकेन कर्मारीन् भुवनत्रयविद्विषः । शुक्लध्यानासिना हत्वा मुक्तिसाम्राज्यमर्जितम् ॥ २५५ ॥
त्वत्पादपादपोद्भूतसान्द्रच्छायां समाश्रिताः । पापार्करोगघर्मोऽग्रदुःखसन्तापदूरगाः ॥ २५६ ॥
सागरोऽनन्तकान्तारं संसारः सर्वदेहिनाम् । त्वन्मताश्रितभव्यानां गोष्पदं नन्दनं वनम् ॥ २५७ ॥
फलं [1]त्रिलोकसाम्राज्यं क्लेशकृच्चरणस्मृतिः । लोकस्तत्रापि मन्देच्छो न वेत्ति हितमात्मने ॥ २५८ ॥
आधाराधेयभावोऽयमनन्यसदृशस्तव । अधःस्थं जगदाधेयमाधारस्त्वं [2]तदग्रिमः ॥ २५९ ॥
वेदकोऽसि न वेद्योऽसि न पाल्योऽस्यसि पालकः । कर्तासि नासि कार्यस्त्वं न पोष्योऽस्यसि पोषकः ॥२६०॥
त्वां नमन्नुत्तमः स्तोता गुरुश्च गुणगौरवात् । अनमन् तप्यते पापैरस्तुवन् [3]शप्यते सदा ॥ २६१ ॥
नास्तिकाः पापिनः केचिद् दैष्टिकाश्च [4] हतोद्यमाः । त्वदीयास्त्वास्तिका धर्म्याः परत्र विहितोद्यमाः ॥२६२॥
सर्वत्र सर्वदा सर्वं सर्वैस्त्वं सार्वसर्ववित् । प्रकाशयति नैवेन्दुर्भानुर्वान्येषु का कथा ॥ २६३ ॥

समृद्धिमान् हों, मैं यहीं स्तुति करता हूं ॥ २५३ ॥ जो मनुष्य आपके वचनको अपने वचनोंमें, आपके धर्मको अपने हृदयमें और आपकी प्रवृत्तिको अपने शरीरमें धारण करता है वह आप जैसा ही होकर परम आनन्दको प्राप्त होता है ॥ २५४ ॥ हे नाथ ! आप अकेलेने ही शुक्लध्यान रूपी तलवारके द्वारा तीनों लोकोंसे द्वेष रखनेवाले कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट कर मुक्तिका साम्राज्य प्राप्त कर लिया है ॥ २५५ ॥ हे प्रभो ! जो आपके चरणरूपी वृक्षसे उत्पन्न हुई सघन छायाका आश्रय लेते हैं वे पापरूपी सूर्यके रोगरूपी घामके तीव्र दुःखरूपी संतापसे दूर रहते हैं ॥ २५६ ॥ हे देव ! यह संसार, समस्त जीवोंके लिए या तो समुद्र है या अनन्त वन है परन्तु जो भव्य आपके मतका आश्रय लेते हैं उनके लिए गायका खुर है अथवा नन्दन वन है ॥ २५७ ॥ हे भगवन् ! यद्यपि आपके चरणोंका स्मरण करनेसे कुछ क्लेश अवश्य होता है परन्तु उसका फल तीनों लोकोंका साम्राज्य है। आश्चर्य है कि ये संसारके प्राणी उस महान् फलमें भी मन्द इच्छा रखते हैं इससे जान पड़ता है कि ये अपनी आत्माका हित नहीं जानते ॥ २५८ ॥ हे प्रभो ! आपका यह आधाराधेय भाव अनन्यसदृश है—सर्वथा अनुपम है क्योंकि नीचे रहनेवाला यह संसार तो आधेय है और उसके ऊपर रहनेवाले आप आधार हैं। भावार्थ—जो चीज नीचे रहती है वह आधार कहलाती है और जो उसके ऊपर रहती है वह आधेय कहलाती है परन्तु आपके आधाराधेय भावकी व्यवस्था इस व्यवस्थासे भिन्न है अतः अनुपम है। दूसरे पक्षमें यह अर्थ है कि आप जगत्के रक्षक हैं अतः आधार हैं और जगत् आपकी रक्षाका विषय है अतः आधेय है ॥ २५९ ॥ आप सबको जानते हैं परन्तु आप किसीके द्वारा नहीं जाने जाते, आप सबके रक्षक हैं परन्तु आप किसीके द्वारा रक्षा करने योग्य नहीं हैं, आप सबके करनेवाले हैं परन्तु आप किसीके कार्य नहीं हैं, आप सबके जाननेवाले हैं परन्तु आप किसीके द्वारा जाननेके योग्य नहीं हैं और आप सबका पोषण करने वाले हैं परन्तु आप किसीके द्वारा पोषण किये जानेके योग्य नहीं हैं ॥ २६० ॥ जो आपको नमस्कार करता है वह उत्तम हो जाता है, इसी प्रकार जो आपकी स्तुति करता है वह गुणोंके गौरवसे गुरु अथवा श्रेष्ठ हो जाता है इसके विपरीत जो आपको नमस्कार नहीं करता वह पापोंसे संतप्त होता है और जो आपकी स्तुति नहीं करता वह सदा निन्दाको प्राप्त होता है ॥ २६१ ॥ हे भगवन् ! इस संसारमें कितने ही लोग नास्तिक हैं—परलोककी सत्ता स्वीकृत नहीं करते हैं इसलिए स्वच्छन्द होकर तरह-तरहके पाप करते हैं और कितने ही लोग केवल भाग्यवादी हैं इसीलिए उद्यमहीन होकर अकर्मण्य हो रहे हैं परन्तु आपके भक्त लोग आस्तिक हैं—परलोककी सत्ता स्वीकृत करते हैं इसलिए 'परलोक बिगड़ न जावे' इस भयसे सदा धार्मिक क्रियाएँ करते हैं और परलोकके सुधारके लिए सदा उद्यम करते हैं ॥ २६२ ॥ सबका हित करनेवाले और सबको जाननेवाले आप सब जगह सब समय सब पदार्थोंको प्रकाशित करते हैं। ऐसा प्रकाश न चन्द्रमा कर सकता है और न सूर्य ही,

---

१ त्रैलोक्य ल० । २ तदग्रतः ल० । ३ नाप्यते ल० । ४ द्वैष्टिकाश्च ल०, ख० ।

न स्थिरं क्षणिकं ज्ञानमात्रं शून्यमनीक्षणात्[1] । वस्तु प्रतिक्षणं तत्त्वान्यत्वरूपं तवेक्षणात् ॥ २६४ ॥
अस्त्यात्मा बोधसद्भावात्परजन्मास्ति तत्स्मृतेः । सर्वविद्यास्ति धीवृद्धेस्त्वदुपज्ञमिदं त्रयम् ॥ २६५ ॥
द्रव्याद् द्रव्यस्य वा भेदं गुणस्याप्यवदद्विधीः । गुणैः परिणतिं द्रव्यस्यावादीस्त्वं यथार्थदृक् ॥ २६६ ॥
अप्रतीपा प्रभा भाति देव देहस्य तेऽनिशम् । चन्द्रप्रभेति नामेदमपरीक्ष्य हरिर्व्यधात् ॥ २६७ ॥
इति शब्दार्थगम्भीरस्तवनेन सुराधिपः । चिरं सपुण्यमात्मानं बहुमेने स हृष्टधीः ॥ २६८ ॥
अथ चन्द्रप्रभः स्वामी धर्मतीर्थं प्रवर्तयन् । सर्वान् देशान् विहृत्यार्यान् सम्मेदतलमासदान् ॥ २६९ ॥
विहारमुपसंहृत्य मासं सिद्धशिलातले । प्रतिमायोगमास्थाय सहस्रमुनिभिः सह ॥ २७० ॥
फाल्गुने शुक्लसप्तम्यां ज्येष्ठाचन्द्रेऽपराह्णके । तृतीयशुक्लध्यानेन कृतयोगनिरोधकः ॥ २७१ ॥
अयोगपदमासाद्य तुर्यशुक्लेन निर्हरन् । शेषकर्माणि निर्लुप्तशरीरः परमोऽभवत् ॥ २७२ ॥
सुरा निर्वाणकल्याणपूजाविधिविधायिनः । पुण्यपण्यं समादाय तदेयुः स्वस्वमास्पदम् ॥ २७३ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शार्दूलविक्रीडितम्

सम्पूर्णः किमयं शरच्छशधरः किं वार्पितोऽदर्पणः
सर्वार्थावगतेः किमेष विलसत्पीयूषपिण्डः पृथुः ।
किं पुण्याणुमयश्चयोऽयमिति यद्वक्त्राम्बुजं शङ्कते
सोऽयं चन्द्रजिनस्तमो व्यपहरन्नंहोभयाद्रक्षतात् ॥ २७४ ॥

फिर, अन्य पदार्थोंकी तो बात ही क्या है ? ॥२६३ ॥ हे भगवन् ! कोई भी वस्तु न नित्य है, न क्षणिक है, न ज्ञानमात्र है और न अदृश्य होनेसे शून्य रूप है किन्तु आपके दर्शनसे प्रत्येक वस्तु तत्त्व और अतत्त्व रूप—अस्ति और नास्ति रूप है ॥ २६४ ॥ आत्मा है, क्योंकि उसमें ज्ञानका सद्भाव है, आत्मा दूसरा जन्म धारण करता है क्योंकि उसका स्मरण बना रहता है, और आत्मा सर्वज्ञ है क्योंकि ज्ञानमें वृद्धि देखी जाती है। हे भगवन् ! ये तीनों ही सिद्धान्त आपके ही कहे हुए हैं ॥ २६५ ॥ जिस प्रकार एक द्रव्यसे दूसरा द्रव्य जुदा है उसी प्रकार द्रव्यसे गुण भी जुदा है ऐसा कितने ही बुद्धिहीन मनुष्य कहते हैं परन्तु आपने कहा है कि द्रव्यका परिणमन गुणोंसे ही होता है अर्थात् द्रव्यसे गुण सर्वथा जुदा पदार्थ नहीं है। इसीलिए आप यथार्थद्रष्टा हैं—आप पदार्थके स्वरूपको ठीक-ठीक देखते हैं ॥ २६६ ॥ हे नाथ ! चन्द्रमाकी प्रभा तो राहुसे तिरोहित हो जाती है परन्तु आपके शरीरकी प्रभा बिना किसी प्रतिबन्धके रात-दिन प्रकाशित रही आती है अतः इन्द्रने जो आपका 'चन्द्रप्रभ' (चन्द्रमा जैसी प्रभावाला) नाम रक्खा है वह बिना परीक्षा किये ही रख दिया है ॥ २६७ ॥ इस प्रकार जिसमें शब्द और अर्थ दोनों ही गंभीर हैं ऐसे स्तवनसे प्रसन्न बुद्धिके धारक इन्द्रने अपने आपको चिरकालके लिए बहुत ही पुण्यवान् माना था ॥ २६८ ॥

अथानन्तर चन्द्रप्रभ स्वामी समस्त आर्य देशोंमें विहार कर धर्म-तीर्थकी प्रवृत्ति करते हुए सम्मेदशिखर पर पहुँचे ॥ २६९ ॥ वहाँ वे विहार बन्द कर एक हजार मुनियोंके साथ प्रतिमायोग धारण कर एक माह तक सिद्धशिला पर आरूढ रहे ॥ २७० ॥ और फाल्गुन शुक्ल सप्तमीके दिन ज्येष्ठा नक्षत्रमें सायंकालके समय योग-निरोध कर चौदहवें गुणस्थानको प्राप्त हुए तथा चतुर्थ शुक्ल-ध्यानके द्वारा शरीरको नष्ट कर सर्वोत्कृष्ट सिद्ध हो गये ॥ २७१-२७२ ॥ उसी समय निर्वाण-कल्याणककी पूजाकी विधिको करनेवाले देव आये और पुण्यरूपी पण्य—खरीदने योग्य पदार्थको लेकर अपने-अपने स्थान पर चले गये ॥ २७३ ॥

'क्या यह शरद्ऋतुका पूर्ण चन्द्रमा है, अथवा समस्त पदार्थोंको जाननेके लिए रक्खा हुआ दर्पण है, अथवा अमृतका शोभायमान विशालपिण्ड है अथवा पुण्य परमाणुओंका समूह है' इस प्रकार जिनके मुख-कमलको देखकर लोग शङ्का किया करते हैं वे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र अज्ञानान्धकारको

१-मवीक्षणात् ल० ।

लेश्या यस्य मृणालनालधवला श्लाघ्योभयी[1] शोभते
यस्यास्येन्दुरहर्दिवं कुवलयाह्लादं विधत्ते ध्रुवम् ।
यद्बोधोज्ज्वलदर्पणे त्रिसमयं जीवादिकं लक्ष्यते
स श्रीमान् दिशताच्छ्रिय जिनपतिर्नष्टाष्टकमाष्टकः ॥ २७५ ॥

श्रीवर्मा श्रीधरो देवोऽजितसेनोऽच्युताधिपः । पद्मनाभोऽहमिन्द्रोऽस्मान् पातु चन्द्रप्रभः प्रभुः ॥ २७६ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे चन्द्रप्रभपुराणं परिसमाप्तं चतुःपञ्चाशत्तमं पर्व ॥ ५४ ॥

नष्ट करते हुए पापके भयसे हमारी रक्षा करें ॥ २७४ ॥ जिनकी द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकारकी लेश्याएँ कमलकी मृणालके समान सफेद तथा प्रशंसनीय सुशोभित हैं, जिनका मुखरूपी चन्द्रमा रात-दिन कुवलय—पृथिवी-मण्डल अथवा नील कमलोंके समूहको हर्षित करता रहता है, जिनके ज्ञानरूपी निर्मल दर्पणमें त्रिकालसम्बन्धी जीवाजीवादि पदार्थ दिखाई देते हैं और जिन्होंने अष्ट कर्मोंका समूह नष्ट कर दिया है ऐसे मोक्ष-लक्ष्मीसे सम्पन्न चन्द्रप्रभ स्वामी हम सबको लक्ष्मी प्रदान करें ॥ २७५ ॥ जो पहले श्रीवर्मा हुए, फिर श्रीधर देव हुए, तदनन्तर अजितसेन हुए, तत्पश्चात् अच्युत स्वर्गके इन्द्र हुए, फिर पद्मनाभ हुए फिर अहमिन्द्र हुए और तदनन्तर अष्टम तीर्थंकर हुए ऐसे चन्द्रप्रभ स्वामी हम सबकी रक्षा करें ॥ २७६ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें चन्द्रप्रभ पुराणका वर्णन करनेवाला चौवनवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ ५४ ॥

---

१ श्लाघ्योभया ल० ।

पञ्चपञ्चाशत्तमं पर्व

विधाय विपुले मार्गे विनेयांश्चामले स्वयम् । स्वयं च सुविधिर्योऽभूद् विधेयान्नः स तं विधिम् ॥ १ ॥
पुष्करार्द्धेन्द्रदिग्भागे[1] मन्दरप्राग्विदेहभाक् । सीतासरिदुदक्कूले विषयः पुष्कलावती ॥ २ ॥
तन्नाभूत्पुण्डरीकिण्यां महीपद्मो महीपतिः । दोर्दण्डखण्डितारातिमण्डलश्चण्डविक्रमः ॥ ३ ॥
पुराणमपि सन्मार्गं स स्ववृत्त्याऽकरोन्नवम् । पाश्चात्यानां तु तद्वृत्त्या पुराणः सोऽभवत्पुनः ॥ ४ ॥
सम्पोष्य पालयामास गां स्वां सा च स्वयं मुदा । प्रस्नुता निजसारेण तं सदा समतर्पयत् ॥ ५ ॥
स्वानुरक्तान् जनान् सर्वान् स्वगुणैः स व्यधात् सुधीः । ते च तं प्रीणयन्ति स्म प्रत्यहं सर्वभावतः ॥६॥
शेषाः प्रकृतयस्तेन विहिता वर्द्धिताश्च याः । स्वेन स्वेनोपकारेण ताश्चैनं वृद्धिमानयन् ॥ ७ ॥
अवर्द्धन्त गुणास्तस्मिन् सद्वृत्ते शास्त्रशालिनि । मुनिवल्लब्धसंस्कारा बभुश्च मणयो यथा ॥ ८ ॥
विभज्य राज्यलक्ष्मीं स्वां यथास्वं स्वसमाश्रितैः । स्वोऽन्वभूच्चिरमच्छिन्नं सन्तः साधारणश्रियः ॥ ९ ॥
वदन्तीन्द्रयमस्थानं राजानं नीतिवेदिनः । कृतीन्द्रस्थान एवायं दण्ड्याभावात्प्रजागुणात् ॥ १० ॥
रतिरच्छिन्नसन्ताना तस्य भोग्याश्च [2]तादृशाः । तस्मात्स्वसुखविच्छेदं नावेदक्षीणपुण्यकः[3] ॥ ११ ॥

जिन्होंने विशाल तथा निर्मल मोक्षमार्गमें अनेक शिष्योंको लगाया और स्वयं लगे एवं जो सुविधि रूप हैं—उत्तम मोक्षमार्गकी विधि रूप हैं अथवा उत्तम पुण्यसे सहित हैं वे सुविधिनाथ भगवान् हम सबके लिए सुविधि—मोक्षमार्गकी विधि अथवा उत्तम पुण्य प्रदान करें ॥ १ ॥ पुष्करार्धद्वीपके पूर्व दिग्भागमें जो मेरु पर्वत है उसके पूर्वविदेहक्षेत्रमें सीतानदीके उत्तर तट पर पुष्कलावती नामका एक देश है। उसकी पुण्डरीकिणी नगरीमें महापद्म नामका राजा राज्य करता था। उस राजाने अपने भुजदण्डोंसे शत्रुओंके समूह खण्डित कर दिये थे, वह अत्यन्त पराक्रमी था, वह किसी पुराने मार्गको अपनी वृत्तिके द्वारा नया कर देता था और फिर आगे होनेवाले लोगोंके लिए वही नया मार्ग पुराना हो जाता था ॥ २-४ ॥ जिस प्रकार कोई गोपाल अपनी गायका अच्छी तरह भरण-पोषण कर उसकी रक्षा करता है और गाय द्रवीभूत होकर बड़ी प्रसन्नताके साथ उसे दूध देती हुई सदा संतुष्ट रखती है उसी प्रकार वह राजा अपनी पृथिवीका भरण-पोषण कर उसकी रक्षा करता था और वह पृथिवी भी द्रवीभूत हो बड़ी प्रसन्नताके साथ अपनेमें उत्पन्न होनेवाले रत्न आदि श्रेष्ठ पदार्थोंके द्वारा उस राजाको संतुष्ट रखती थी ॥ ५ ॥ वह बुद्धिमान् सब लोगोंको अपने गुणोंके द्वारा अपनेमें अनुरक्त बनाता था और सब लोग भी सब प्रकारसे उस बुद्धिमान्को प्रसन्न रखते थे ॥ ६ ॥ उसने मंत्री पुरोहित आदि जिन कार्य-कर्ताओंको नियुक्त किया था तथा उन्हें बढ़ाया था वे सब अपने-अपने उपकारोंसे उस राजाको सदा बढ़ाते रहते थे ॥ ७ ॥ जिस प्रकार मुनियोंमें अनेक गुण वृद्धिको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार उस सदाचारी और शास्त्रज्ञानसे सुशोभित राजामें अनेक गुण वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे तथा जिस प्रकार संस्कार किये हुए मणि सुशोभित होते हैं उसी प्रकार उस राजामें अनेक गुण सुशोभित हो रहे थे ॥ ८ ॥ वह राजा यथायोग्य रीतिसे विभाग कर अपने आश्रित परिवारके साथ अखण्ड रूपसे चिरकाल तक अपनी राज्य-लक्ष्मीका उपभोग करता रहा सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुष लक्ष्मीको सर्वसाधारणके उपभोगके योग्य समझते हैं ॥ ९ ॥ नीतिके जाननेवाले राजाको इन्द्र और यमके समान कहते हैं परन्तु वह पुण्यात्मा इन्द्रके ही समान था क्योंकि उसकी सब प्रजा गुणवती थी अतः उसके राज्यमें कोई दण्ड देनेके योग्य नहीं था ॥ १० ॥ उसके सुखकी परम्परा निरन्तर बनी रहती थी और उसके भोगोपभोगके योग्य पदार्थ भी सदा उपस्थित रहते थे अतः विशाल पुण्यका धारी वह राजा अपने सुखके विरहको कभी

---

१ दिग्भागमन्दर ग०, घ० । २ तादृशः ल० । ३ क्षुण्णपुण्यकः ख०, ल० ।

इति स्वपुण्यमाहात्म्यसम्पादितमहोत्सवः । स कदाचिन्महैश्वर्यं श्रुत्वा स्ववनपालकात् ॥ १२ ॥
जिनं मनोहरोद्याने स्थितं भूतहिताह्वयम् । गत्वा विभूत्या भूतेशं त्रिः परीत्य कृतार्चनः ॥ १३ ॥
वन्दित्वा स्वोचितस्थाने स्थित्वा मुकुलिताञ्जलिः । आकर्ण्य धर्ममुत्पन्नबोधिरेवमचिन्तयत् ॥ १४ ॥
आत्मायमात्मनात्मायमात्मन्याविष्कृतासुखम् । विधायानादिकालीनमिथ्यात्वोदयदूषितः ॥ १५ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
उन्मादीव मदीवान्धो वावेशी वाविचारकः । यद्यदात्महितं मोहात्तत्तदेवाचरँश्चिरम् ॥ १६ ॥
भ्रमित्वा भवकान्तारे प्रभ्रष्टो निर्वृतेः पथः । इत्यतोऽनुभवाद्भीत्वा मुक्तिमार्गप्रपित्सया ॥ १७ ॥
सूनवे धनदाख्याय वितीर्यैश्वर्यमात्मनः । प्राव्राजीद् बहुभिः सार्द्धं राजभिर्भवभीरुभिः ॥ १८ ॥
क्रमादेकादशाङ्गाब्धिपारगो भावनापरः । बद्ध्वा तीर्थकरं नाम प्रान्ते स्वाराधनाविधिः ॥ १९ ॥
विंशत्यब्ध्युपमायुः सार्द्धहस्तत्रयोच्छ्रितिः । शुक्ललेश्यः श्वसन् मासैर्दशभिर्दशभिर्बली ॥ २० ॥
स्मरन् सहस्रविंशत्या वत्सराणां तनुस्थितिम् । [1]मानसोद्यः प्रवीचारः प्राक्षधूमप्रभावधिः ॥ २१ ॥
विक्रियाबलतेजोभिः स्वावधिक्षेत्रसम्मितः । उत्कृष्टाष्टगुणैश्वर्यः प्राणतेन्द्रोऽजनिष्ट सः ॥ २२ ॥
दीर्घं तत्र सुखं भुक्त्वा तस्मिन्नत्रागमिष्यति । द्वीपेऽस्मिन् भारते क्षेत्रे काकन्दीनगराधिपः ॥ २३ ॥
इक्ष्वाकुः काश्यपो वंशगोत्राभ्यां क्षत्रियाग्रिमः । सुग्रीवोऽस्य महादेवी जयरामेति रम्यभाः ॥ २४ ॥
सा देवैर्वसुधारादिपूजां प्राप्य परार्धिकाम् । फाल्गुने मूलनक्षत्रे तामसे नवमीदिने ॥ २५ ॥
प्रभाते षोडश स्वप्नान् दरनिद्राविलेक्षणा । विलोक्य तत्फलान्यात्मपतेर्ज्ञात्वा प्रमोदिनी ॥ २६ ॥

जानता ही नहीं था ॥ ११ ॥ इस प्रकार अपने पुण्यके माहात्म्यसे जिसके महोत्सव निरन्तर बढ़ते रहते हैं ऐसे राजा महापद्मने किसी दिन अपने वनपालसे सुना कि मनोहर नामक उद्यानमें महान् ऐश्वर्यके धारक भूतहित नामके जिनराज स्थित हैं। वह उनकी वन्दनाके लिए बड़े वैभवसे गया और समस्त जीवोंके स्वामी जिनराजकी तीन प्रदक्षिणाएँ देकर उसने पूजा की, वन्दना की तथा हाथ जोड़कर अपने योग्य स्थानपर बैठकर उनसे धर्मोपदेश सुना। उपदेश सुननेसे उसे आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया और वह इस प्रकार विचार करने लगा ॥ १२-१४ ॥ अनादि कालीन मिथ्यात्वके उदयसे दूषित हुआ यह आत्मा, अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माके द्वारा दुःख उत्पन्न कर पागलकी तरह अथवा मतवालेकी तरह अन्धा हो रहा है तथा किसी भूताविष्टके समान अविचारी हो रहा है। जो जो कार्य आत्माके लिए अहितकारी हैं मोहोदयसे यह प्राणी चिरकालसे उन्हींका आचरण करता चला आ रहा है। संसाररूपी अटवीमें भटक-भटक कर यह मोक्षके मार्गसे भ्रष्ट हो गया है। इस प्रकार चिन्तवन कर वह संसारसे भयभीत हो गया तथा मोक्ष-मार्गको प्राप्त करनेकी इच्छासे धनद नामक पुत्रके लिए अपना ऐश्वर्य प्रदान कर संसारसे डरनेवाले अनेक राजाओंके साथ दीक्षित हो गया ॥ १५-१८ ॥ क्रम-क्रमसे वह ग्यारह अंगरूपी समुद्रका पारगामी हो गया, सोलह कारण भावनाओंके चिन्तवनमें तत्पर रहने लगा और तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध कर अन्तमें उसने समाधिमरण धारण किया ॥ १९ ॥ समाधिमरणके प्रभावसे वह प्राणत स्वर्गका इन्द्र हुआ। वहाँ बीस सागरकी उसकी आयु थी, साढ़ेतीन हाथ ऊँचा शरीर था, शुक्ललेश्या थी, दश-दश माहमें श्वास लेता था, बीस हजार वर्ष बाद आहार लेता था, मानसिक प्रवीचार करता था, धूम्रप्रभा पृथिवी तक उसका अवधिज्ञान था, विक्रिया बल और तेजकी सीमा भी उसके अवधिज्ञानकी सीमाके बराबर थी तथा अणिमा महिमा आदि आठ उत्कृष्ट गुणोंसे उसका ऐश्वर्य बढ़ा हुआ था ॥ २०-२२ ॥ वहाँ-का दीर्घ सुख भोगकर जब वह यहाँ आनेके लिए उद्यत हुआ तब इस जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रकी काकन्दी नगरीमें इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री सुग्रीव नामका क्षत्रिय राजा राज्य करता था। सुन्दर कान्तिको धारण करनेवाली जयरामा उसकी पट्टरानी थी ॥ २३-२४ ॥ उस रानीने देवोंके द्वारा अतिशय श्रेष्ठ रत्नवृष्टि आदि सम्मानको पाकर फाल्गुनकृष्ण नवमीके दिन प्रभात कालके समय मूल-नक्षत्रमें जब कि उसके नेत्र कुछ-कुछ बाकी बची हुई निद्रासे मलिन हो रहे थे, सोलह स्वप्न देखे।

---

१ मानसोऽर्च्यः प्रवीचारः ल० ।

मार्गशीर्षे सिते पक्षे जैत्रयोगे तमुत्तमम् । प्रासूत प्रतिपद्याशु तदैत्येन्द्राः सहामरैः ॥ २७ ॥
क्षीराभिषेकं भूषान्ते पुष्पदन्ताख्यमब्रुवन् । कुन्दपुष्पप्रभाभासि देहदीप्त्या विराजितम् ॥ २८ ॥
सागरोपमकोटीनां नवत्यामन्तरे गते । एष चन्द्रप्रभस्याभूत्तदभ्यन्तरजीवितः ॥ २९ ॥
पूर्वलक्षद्वयात्मायुः शतचापसमुच्छ्रितिः । लक्षार्द्धपूर्वकालेऽस्य कौमारमगमत् सुखम् ॥ ३० ॥
अथाप्य पूज्यं साम्राज्यमच्युतेन्द्रादिभिर्विभुः । अन्वभूत्सुखमाश्लिष्टमिष्टैः शिष्टैरभिष्टुतः ॥ ३१ ॥
कान्ताभिः करणैः सर्वैरमुष्मादपि यत्सुखम् । ताभ्योऽनेन तयोः कस्य बहुत्वं कथ्यतां बुधैः ॥ ३२ ॥
पुण्यवानस्वयं किन्तु मन्ये ता बहुपुण्यकाः । याः समभ्यर्णनिर्वाणसुखमेनमरीरमन् ॥ ३३ ॥
यः स्वर्गसारसौख्यनिमग्नः सन् भुवमागतः । तान्येव भोग्यवस्तूनि यानि तं चाभ्यलाषयन् ॥ ३४ ॥
अनन्तशोऽहमिन्द्रत्वं प्राप्य तेनाप्यतृप्तवान् । सुखेनानेन चेदेष तृप्तः सौख्येष्विदं सुखम् ॥ ३५ ॥
अष्टाविंशतिपूर्वाङ्गयुतलक्षार्द्धपूर्वके । राज्यकाले गते प्रीत्या कुर्वतो दिग्विलोकनम् ॥ ३६ ॥
आपतन्तीं विलोक्योल्कामस्यासीदीदृशी मतिः । दीपिकेऽयं ममानादिमहामोहतमोऽपहा ॥ ३७ ॥
इति तद्धेतुसम्भूतविमलावगमात्मकः । स्वयंबुद्धो विबुद्धः सन् तत्त्वमेवं विभावयन् ॥ ३८ ॥
स्पष्टमद्य मया दृष्टं विश्वमेतद्विडम्बनम् । कर्मेन्द्रजालिकेनैवं विपर्यस्य प्रदर्शितम् ॥ ३९ ॥

स्वप्न देखकर उसने अपने पतिसे उनका फल जाना और जानकर बहुत ही हर्षित हुई ॥ २५–२६ ॥ मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदाके दिन जैत्रयोगमें उस महादेवीने वह उत्तम पुत्र उत्पन्न किया । उसी समय इन्द्रोंने देवोंके साथ आकर उनका क्षीरसागरके जलसे अभिषेक किया, आभूषण पहिनाये और कुन्दके फूलके समान कान्तिसे सुशोभित शरीरकी दीप्तिसे विराजित उन भगवान्का पुष्पदन्त नाम रक्खा ॥ २७–२८ ॥ श्री चन्द्रप्रभ भगवान्के बाद जब नब्बे करोड़ सागरका अन्तर बीत चुका था तब श्री पुष्पदन्त भगवान् हुए थे । उनकी आयु भी इसी अन्तरमें शामिल थी ॥ २९ ॥ दो लाख पूर्वकी उनकी आयु थी, सौ धनुष ऊँचा शरीर था और पचास लाख पूर्व तक उन्होंने कुमार-अवस्थाके सुख प्राप्त किये थे ॥ ३० ॥

अथानन्तर अच्युतेन्द्रादि देव जिसे पूज्य समझते हैं ऐसा साम्राज्य पाकर उन पुष्पदन्त भगवान्ने इष्ट पदार्थोंके संयोगसे युक्त सुखका अनुभव किया । उस समय बड़े-बड़े पूज्य पुरुष उनकी स्तुति किया करते थे ॥ ३१ ॥ सब स्त्रियोंसे, इन्द्रियोंसे और इस राज्यसे जो भगवान् सुविधिनाथको सुख मिलता था और भगवान् सुविधिनाथसे उन स्त्रियोंको जो सुख मिलता था उन दोनोंमें विद्वान् लोग किसको बड़ा अथवा बहुत कहें ? ॥ ३२ ॥ भगवान् पुण्यवान् रहें किन्तु मैं उन स्त्रियोंको भी बहुत पुण्यात्मा समझता हूँ क्योंकि मोक्षका सुख जिनके समीप है ऐसे भगवान्को भी वे प्रसन्न करती थीं—क्रीड़ा कराती थीं ॥ ३३ ॥ वे भगवान् स्वर्गके श्रेष्ठ सुख-रूपी समुद्रमें मग्न रहकर पृथिवी पर आये थे अर्थात् स्वर्गके सुखोंसे उन्हें संतोष नहीं हुआ था इसलिए पृथिवी पर आये थे । इससे कहना पड़ता है कि यथार्थ भोग्य वस्तुएँ वही थीं जो कि भगवान्को अभिलाषा उत्पन्न कराती थीं—अच्छी लगती थीं ॥ ३४ ॥ जो भगवान् अनन्त बार अहमिन्द्र पद पाकर भी उससे संतुष्ट नहीं हुए वे यदि मनुष्य-लोकके इस सुखसे संतुष्ट हुए तो कहना चाहिए कि सब सुखोंमें यही सुख प्रधान था ॥ ३५ ॥ इस प्रकार प्रेम-पूर्वक राज्य करते हुए जब उनके राज्य-कालके पचास हजार पूर्व और अट्ठाईस पूर्वांग बीत गये तब वे एक दिन दिशाओंका अवलोकन कर रहे थे । उसी समय उल्कापात देखकर उनके मनमें इस प्रकार विचार उत्पन्न हुआ कि यह उल्का नहीं है किन्तु मेरे अनादिकालीन महामोह रूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाली दीपिका है ॥ ३६–३७ ॥ इस प्रकार उस उल्काके निमित्तसे उन्हें निर्मल आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया । वे स्वयंबुद्ध भगवान् इस निमित्तसे प्रतिबुद्ध होकर तत्त्वका इस प्रकार विचार करने लगे कि आज मैंने स्पष्ट देख लिया कि यह संसार विड-

---

१–रपोष्टुतः (१) ल० ।

कामशोकभयोन्मादस्वप्नचौर्याद्युपद्रुताः । असत्सदिति पश्यन्ति पुरतो वा व्यवस्थितम् ॥ ४० ॥
न स्थास्नु न शुभं किञ्चिन्न सुखं मे न किञ्चन । ममाहमेव मत्तोऽन्यदन्यदेवाखिलं जगत् ॥ ४१ ॥
अहमन्यदिति द्वाभ्यां शब्दाभ्यां सत्यमर्पितम् । तथापि कोऽप्ययं मोहादाग्रहो विग्रहादिषु ॥ ४२ ॥
अहं मम शुभं नित्यं सुखमित्यतथात्मसु । अस्मादेव विपर्यासाद् भ्रान्तोऽहं भववारिधौ ॥ ४३ ॥
जन्मदुःखजरामृत्युमहामकरभीकरे । इति साम्राज्यलक्ष्मीं स तितिक्षुरभवत्तदा ॥ ४४ ॥
क्षिप्त्वा लौकान्तिकावासपूजो राज्यभरं सुते । सुमतौ प्राप्तकल्याणः सुरेन्द्रैः परिवारितः ॥ ४५ ॥
आरुह्य शिबिकां सूर्यप्रभाख्यां पुष्पके वने । मार्गशीर्षे सिते पक्षे प्रतिपद्यपराह्णके ॥ ४६ ॥
दीक्षां षष्ठोपवासेन ससहस्रनृपोऽग्रहीत् । मनःपर्ययसंज्ञानो द्वितीयेऽह्नि प्रविष्टवान् ॥ ४७ ॥
चर्यां शैलपुरे पुष्पमित्रश्यामीकरच्छविः । तत्र तं भोजयित्वाऽऽप पञ्चाश्चर्याणि पार्थिवः ॥ ४८ ॥
एवं तपस्यतो याताः छाद्मस्थ्येन चतुःसमाः । मूलर्क्षे कार्तिके शुक्लद्वितीयायां दिनक्षये ॥ ४९ ॥
दिनद्वयोपवासः सन्नधस्तान्नागभूरुहः । दीक्षावने विधूताघः प्राप्तानन्तचतुष्टयः ॥ ५० ॥
ऋतुविंधामराधीशविहितातर्क्यवैभवः । सुनिरूपितविश्वार्थदिव्यध्वनिविराजितः ॥ ५१ ॥
विदर्भनाममुख्याष्टाशीतिसप्तर्द्धिसंयुतः । शून्यद्वयेन्द्रियैकोक्तश्रुतकेवलिनायकः ॥ ५२ ॥
खद्वयेन्द्रियपञ्चेन्द्रियैकशिक्षकरक्षकः । शून्यद्वयाब्धिकर्मोक्तत्रिज्ञानधरसेवितः ॥ ५३ ॥
शून्यत्रयमुनिप्रोक्तकेवलज्ञानलोचनः । खत्रयाभ्येकनिर्णीतविक्रियर्द्धिविवेष्टितः ॥ ५४ ॥
शून्यद्वयेन्द्रियद्वर्युक्तमनःपर्ययबोधनः । शून्यद्वयर्तुषट्प्रोक्तवादिवन्द्याङ्घ्रिमङ्गलः ॥ ५५ ॥

मार्गका रूप है। [illegible] इसे उलटा कर दिखलाया है ॥ ३८–३९ ॥ काम, शोक, भय, उन्माद, स्वप्न और चोरी आदिसे उपद्रुत हुए प्राणी सामने रक्खे हुए असत् पदार्थको सत् समझने लगते हैं ॥ ४० ॥ इस संसारमें न तो कोई वस्तु स्थिर है, न शुभ है, न कुछ सुख देनेवाली है और न कोई पदार्थ मेरा है, मेरा तो मेरा आत्मा ही है, यह सारा संसार मुझसे जुदा है और मैं इससे जुदा हूँ, इन दो शब्दोंके द्वारा ही जो कुछ कहा जाता है वही सत्य है, फिर भी आश्चर्य है कि मोहोदयसे शरीरादि पदार्थोंमें इस जीवकी आत्मीय बुद्धि हो रही है ॥ ४१–४२ ॥ शरीरादिक ही मैं हूँ, मेरा सब सुख शुभ है, नित्य है इस प्रकार अन्य पदार्थोंमें जो मेरी विपर्यय-बुद्धि हो रही है उसीसे मैं अनेक दुःख देनेवाले जरा, मरण और मृत्यु रूपी बड़े-बड़े मकरोंसे भयंकर इस संसाररूपी समुद्रमें भ्रमण कर रहा हूँ। ऐसा विचार कर वे राज्य-लक्ष्मीको छोड़नेकी इच्छा करने लगे ॥ ४३–४४ ॥ लौकान्तिक देवोंने उनकी पूजा की। उन्होंने सुमति नामक पुत्रके लिए राज्यका भार सौंप दिया, इन्द्रोंने दीक्षा-कल्याणक कर उन्हें घेर लिया ॥ ४५ ॥ वे उसी समय सूर्यप्रभा नामकी पालकी पर सवार होकर पुष्पकवनमें गये और मार्गशीर्षके शुक्लपक्षकी प्रतिपदाके दिन सायंकालके समय बेलाका नियम लेकर एक हजार राजाओंके साथ दीक्षित हो गये। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यय-ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे दूसरे दिन आहारके लिए शैलपुर नामक नगरमें प्रविष्ट हुए। वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले पुष्पमित्र राजाने उन्हें भोजन कराकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ ४६–४८ ॥ इस प्रकार छद्मस्थ अवस्थामें तपस्या करते हुए उनके चार वर्ष बीत गये। तदनन्तर कार्तिक शुक्ल द्वितीया-के दिन सायंकालके समय मूल-नक्षत्रमें दो दिनका उपवास लेकर नागवृक्षके नीचे स्थित हुए और उसी दीक्षावनमें घातिया कर्मरूपी पापकर्मोंको नष्ट कर अनन्तचतुष्टयको प्राप्त हो गये ॥४९–५०॥ चतुर्णिकाय देवोंके इन्द्रोंने उनके अचिन्त्य वैभवकी रचना की—समवसरण बनाया और वे समस्त पदार्थोंका निरूपण करनेवाली दिव्यध्वनिसे सुशोभित हुए ॥ ५१ ॥ वे सात ऋद्धियोंको धारण करनेवाले विदर्भ आदि अट्ठासी गणधरोंसे सहित थे, पन्द्रह सौ श्रुतकेवलियोंके स्वामी थे; एक लाख पचपन हजार पाँच सौ शिक्षकोंके रक्षक थे, आठ हजार चार सौ अवधि-ज्ञानियोंसे सेवित थे, सात हजार केवलज्ञानियों और तेरह हजार विक्रिया ऋद्धिके धारकोंसे वेष्टित थे, सात हजार पाँच सौ मनःपर्ययज्ञानियों और छह हजार छह सौ वादियोंके द्वारा उनके मङ्गलमय चरणोंकी पूजा होती थी, इस प्रकार वे सब मिलाकर दो लाख मुनियोंके स्वामी थे, घोषार्याको आदि लेकर तीन लाख

पिण्डितपिण्डिलक्षेशः खचतुष्काष्टवह्निमान् । घोषार्यांद्यार्यिकोपेतो द्विलक्षश्रावकान्वितः ॥ ५६ ॥
श्राविकापञ्चलक्षार्च्यः सङ्ख्यातीतमरुद्गणः । तिर्यक्सङ्ख्यातसम्पन्नो गणैरित्येभिरर्चितः ॥ ५७ ॥
विहृत्य विषयान् प्राप्य सम्मेदं रुद्धयोगकः । मासे भाद्रपदेऽष्टम्यां शुक्ले मूले पराह्णके ॥ ५८ ॥
सहस्रमुनिभिः सार्द्धं मुक्तिं सुविधिराप्तवान् । निलिम्पाः परिनिर्वाणकल्याणान्ते दिवं ययुः ॥ ५९ ॥

स्रग्धरा

दुर्गं मार्गं परेषां सुगममभिगमात्स्वस्य शुद्धं व्यधाद्यः
प्राप्तुं स्वर्गापवर्गौ सुविधिमुपशमं चेतसा बिभ्रतां तम् ।
भक्तानां मोक्षलक्ष्मीपतिमतिविकसत्पुष्पदन्तं भदन्तं
भास्वन्तं दन्तकान्त्या प्रहसितवदनं पुष्पदन्तं ननामः ॥ ६० ॥

वसन्ततिलका

शान्तं वपुः श्रवणहारि वचश्चरित्रं
सर्वोपकारि तव देव ततो भवन्तम् ।
संसारमारवमहास्थलरुद्रसान्द्र-
छायामहीरुहमिमे सुविधिं श्रयामः ॥ ६१ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
योऽजायत क्षितिभृदत्र महादिपद्मः
पश्चादभूद्दिवि चतुर्दशकल्पनाथः ।
प्रान्ते बभूव भरते सुविधिर्नृपेन्द्र-
स्तीर्थेश्वरः स नवमः कुरुताच्छ्रियं वः ॥ ६२ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे पुष्पदन्तपुराण-
वर्णनं पञ्चपञ्चाशत्तमं पर्व ॥ ५५ ॥

अस्सी हजार आर्यिकाओंसे सहित थे, दो लाख श्रावकोंसे युक्त थे, पाँच लाख श्राविकाओंसे पूजित थे, असंख्यात देवों और संख्यात तिर्यञ्चोंसे सम्पन्न थे। इस तरह बारह सभाओंसे पूजित भगवान् पुष्पदन्त आर्य देशोंमें विहार कर सम्मेदशिखर पर पहुँचे और योग निरोध कर भाद्रशुक्ल अष्टमीके दिन मूल नक्षत्रमें सायंकालके समय एक हजार मुनियोंके साथ मोक्षको प्राप्त हो गये। देव आये और उनका निर्वाण-कल्याणक कर स्वर्ग चले गये ॥ ५२-५९ ॥

जिन्होंने स्वयं चलकर मोक्षका कठिन मार्ग दूसरोंके लिए सरल तथा शुद्ध कर दिया है, जिन्होंने चित्तमें उपशम भावको धारण करनेवाले भक्तोंके लिए स्वर्ग और मोक्षका मार्ग प्राप्त करनेकी उत्तम विधि बतलाई है, जो मोक्ष-लक्ष्मीके स्वामी हैं, जिनके दाँत खिले हुए पुष्पके समान हैं, जो स्वयं देदीप्यमान हैं और जिनका मुख दाँतोंकी कान्तिसे सुशोभित है ऐसे भगवान् पुष्पदन्तको हम नमस्कार करते हैं ॥६०॥ हे देव ! आपका शरीर शान्त है, वचन कानोंको हरनेवाले हैं, चरित्र सबका उपकार करनेवाला है और आप स्वयं संसाररूपी विशाल रेगिस्तानके बीचमें 'सघन'-छायादार वृक्षके समान हैं अतः हम सब आपका ही आश्रय लेते हैं ॥ ६१ ॥

जो पहले महापद्म नामक राजा हुए, फिर स्वर्गमें चौदहवें कल्पके इन्द्र हुए और तदनन्तर भरतक्षेत्रमें महाराज सुविधि नामक नौवें तीर्थंकर हुए ऐसे सुविधिनाथ अथवा पुष्पदन्त हम सबको लक्ष्मी प्रदान करें ॥ ६२ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद् गुणभद्राचार्य प्रणीत, त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें पुष्पदन्त पुराणको पूर्ण करनेवाला पचपनवाँ पर्व समाप्त हुआ।

षट्पञ्चाशत्तमं पर्व

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शीतलो यस्य सद्धर्मः कर्मघर्मांश्वभीषुभिः[1] । सन्तप्तानां शशीवासौ शीतलः शीतलोऽस्तु नः ॥ १ ॥
पुष्करद्वीपपूर्वार्द्धमन्दरप्राग्विदेहभाक् । सीतापाक्टवत्सस्थसुसीमानगराधिपः ॥ २ ॥
भूपतिः पद्मगुल्माख्यो दृष्टोपायचतुष्टयः । पञ्चाङ्गमन्त्रनिर्णीतसन्धिविग्रहतत्त्ववित् ॥ ३ ॥
प्रज्ञावारिपरीषेकवृद्धिमद्राज्यभूरुहः । सप्तप्रकृतिशाखाभिः फलत्यस्य फलत्रयम् ॥ ४ ॥
प्रतापवाडवालोलज्वालामालापरिस्फुरन् । चन्द्रासिधारावार्वृद्धिमग्नारातिमहीधरः ॥ ५ ॥
स्वयमुत्पाद्य दैवेन लक्ष्मीं बुद्धयोद्यमेन च । विधाय सर्वसम्भोग्यां भोक्तापि गुणवानसौ ॥ ६ ॥
न्यायार्जितार्थसन्तर्पितार्थिसार्थे निराकुलम् । पाति तस्मिन् धराचक्रं सर्वर्तुसुखशालिनि ॥ ७ ॥
कोकिलालिकलालापा विलसत्पल्लवाधरा । सौगन्ध्यान्वितमत्तालिकलितोद्गमलोचना ॥ ८ ॥
[2]वीतनीहारसज्ज्योत्स्नाहासा स्वच्छाम्बराम्बरा । सम्पूर्णचन्द्रबिम्बास्या बकुलामोदवासिता ॥ ९ ॥
मलयानिलनिःश्वासा कर्णिकारतनुच्छविः । वसन्तश्रीरिवायाता तत्सङ्गमसमुत्सुका ॥ १० ॥
अनङ्गस्तद्बलेनैनं पञ्चबाणोऽपि निष्ठुरम् । अविध्यद्बहुबाणो वा को न कालबले बली ॥ ११ ॥

जिनका कहा हुआ समीचीन धर्म, कर्मरूपी सूर्यकी किरणोंसे संतप्त प्राणियोंके लिए चन्द्रमाके समान शीतल है—शान्ति उत्पन्न करनेवाला है वे शीतलनाथ भगवान् हम सबके लिए शीतल हों—शान्ति उत्पन्न करनेवाले हों ॥ १ ॥ पुष्करवर द्वीपके पूर्वार्ध भागमें जो मेरु पर्वत है उसकी पूर्व दिशाके विदेह क्षेत्रमें सीतानदीके दक्षिण तट पर एक वत्स नामका देश है । उसके सुसीमा नगरमें पद्मगुल्म नामका राजा राज्य करता था । राजा पद्मगुल्म साम, दान, दण्ड और भेद इन चार उपायोंका ज्ञाता था, सहाय, साधनोपाय, देशविभाग, कालविभाग और विनिपातप्रतीकार इन पाँच अंगोंसे निर्णीत संधि और विग्रह—युद्धके रहस्यको जाननेवाला था । उसका राज्य-रूपी वृक्ष बुद्धि-रूपी जलके सिञ्चनसे खूब वृद्धिको प्राप्त हो रहा था, तथा स्वामी, मंत्री, किला, खजाना, मित्र, देश और सेना इन सात प्रकृतिरूपी शाखाओंसे विस्तारको प्राप्त होकर धर्म, अर्थ और कामरूपी तीन फलोंको निरन्तर फलता रहता था ॥ २–४ ॥ वह प्रताप-रूपी बड़वानलकी चञ्चल ज्वालाओंके समूहसे अत्यन्त देदीप्यमान था तथा उसने अपने चन्द्रहास—खड्गकी धाराजलके समुद्रमें समस्त शत्रु राजा रूप-पर्वतोंको डुबा दिया था ॥ ५ ॥ उस गुणवान् राजाने दैव, बुद्धि और उद्यमके द्वारा स्वयं लक्ष्मीका उपार्जन कर उसे सर्वसाधारणके द्वारा उपभोग करने योग्य बना दिया था । साथ ही वह स्वयं भी उसका उपभोग करता था ॥ ६ ॥ न्यायोपार्जित धनके द्वारा याचकोंके समूहको संतुष्ट करनेवाला तथा समस्त ऋतुओंके सुख भोगनेवाला राजा पद्मगुल्म जब इस धराचक्रका—पृथिवीमण्डलका पालन करता था तब उसके समागमकी उत्सुकतासे ही मानो वसन्त ऋतु आ गई थी । कोकिलाओं और भ्रमरोंके मनोहर शब्द ही उसके मनोहर शब्द थे, वृक्षोंके लहलहाते हुए पल्लव ही उसके ओठ थे, सुगन्धिसे एकत्रित हुए मत्त भ्रमरोंसे सहित पुष्प ही उसके नेत्र थे, कुहरासे रहित निर्मल चाँदनी ही उसका हास्य था, स्वच्छ आकाश ही उसका वस्त्र था, सम्पूर्ण चन्द्रमाका मण्डल ही उसका मुख था, मौलिश्रीकी सुगन्धिसे सुवासित मलय समीर ही उसका श्वासोच्छ्वास था और कनेरके फूल ही उसके शरीरकी पीत कान्ति थी ॥ ७–१० ॥ कामदेव यद्यपि शरीररहित था और उसके पास सिर्फ पाँच ही बाण थे, तो भी वह राजा पद्मगुल्मको इस प्रकार निष्ठुरतासे पीड़ा पहुँचाने लगा जैसे कि अनेक बाणोंसहित हो सो ठीक ही है क्योंकि समयका बल पाकर कौन नहीं बलवान् हो

---

१ कृतधर्मांश्वभीषुभिः ख० । कर्मघर्मांशुमीषुभिः ल० । कर्म एव घर्मांशुः सूर्यः तस्य अभीषवः किरणाः तैः ।
२ भामिनीहार ख०, ल० ।

[1]स सुखेप्सुर्वसन्तश्रीविवशीकृतमानसः । तया विवृद्धसम्प्रीतिराक्रीडति निरन्तरम् ॥ १२ ॥
सापि कालानिलोद्भूता घनाली वा व्यलीयत । तदपायसमुद्भूतशोकव्याकुलिताशयः ॥ १३ ॥
कामो नाम खलः कोऽपि तापयत्यखिलं जगत् । पापी सकलचित्तस्थो विग्रही [2]विग्रहाद्विना ॥ १४ ॥
तं ध्यानानलनिर्दग्धमद्यैव विदधाम्यहम् । इत्याविर्भूतवैराग्यश्चन्दने निजनन्दने ॥ १५ ॥
राज्यभारं समारोप्य मुनिमानन्दनामकम् । सम्प्राप्य [3]सर्वसङ्गाङ्गवैमुख्यं स समीयिवान् ॥ १६ ॥
विपाकसूत्रपर्यन्तसकलाङ्गधरः शमी । स्वीकृत्य तीर्थकृन्नाम विधाय सुचिरं तपः ॥ १७ ॥
सम्प्राप्य [4]जीवितस्यान्तं त्रिधाराधनसाधनः । आरणाख्येऽभवत्कल्पे सुरेन्द्रो [5]रुन्द्रवैभवः ॥ १८ ॥
द्वाविंशत्यब्धिमानायुः हस्तत्रितयविग्रहः । शुक्ललेश्याद्वयो मासैः सदैकादशभिः श्वसन् ॥ १९ ॥
द्वाविंशतिसहस्राब्दैर्मानसाहारतर्पितः । श्रीमान् मनःप्रवीचारः [6]प्राकाम्याद्यष्टधागुणः ॥ २० ॥
प्राक्षष्ठनरकाद् व्याप्ततृतीयज्ञानभास्वरः । तत्प्रमाणबलस्तावत् प्रकाशतनुविक्रियः ॥ २१ ॥
वीतबाह्यविकारोरुवरसौख्याब्धिपारगः । कलामिव [7]किलासङ्ख्यामयमायुरगीगमत् ॥ २२ ॥
तस्मिन्भुवं समायाति षण्मासस्थितिजीविते । द्वीपेऽस्मिन् भारते वर्षे विषये मल याह्वये ॥ २३ ॥
राजा भद्रपुरे वंशे पुरोर्ददरथोऽभवत् । महादेवी सुनन्दास्य तद्गृहं धनदाज्ञया ॥ २४ ॥
रत्नैरपूरयन् देवाः षण्मासैर्गुह्यकाह्वयाः । सापि स्वप्नान्निशाप्रान्ते [8]षोडशालोक्य मानिनी ॥ २५ ॥

जाता है ? ॥ ११ ॥ जिसका मन वसन्त-लक्ष्मीने अपने अधीन कर लिया है तथा जो अनेक सुख प्राप्त करना चाहता है ऐसा वह राजा प्रीतिको बढ़ाता हुआ उस वसन्तलक्ष्मीके साथ निरन्तर क्रीड़ा करने लगा ॥ १२ ॥ परन्तु जिस प्रकार वायुसे उड़ाई हुई मेघमाला कहीं जा छिपती है उसी प्रकार कालरूपी वायुसे उड़ाई वह वसन्त-ऋतु कहीं जा छिपी—नष्ट हो गई और उसके नष्ट होनेसे उत्पन्न हुए शोकके द्वारा उसका चित्त बहुत ही व्याकुल हो गया ॥ १३ ॥ वह विचार करने लगा कि यह काम बड़ा दुष्ट है, यह पापी समस्त संसारको दुःखी करता है, सबके चित्तमें रहता है और विग्रह-शरीर रहित होनेपर भी विग्रही—शरीरसहित (पक्षमें उपद्रव करनेवाला) है ॥ १४ ॥ मैं उस कामको आज ही ध्यानरूपी अग्निके द्वारा भस्म करता हूँ । इस प्रकार उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ । वह चन्दन नामक पुत्रके लिए राज्यका भार सौंपकर आनन्द नामक मुनिराजके समीप पहुँचा और समस्त परिग्रह तथा शरीरसे विमुख हो गया ॥ १५-१६ ॥ शान्त परिणामोंको धारण करनेवाले उसने विपाकसूत्र तक सब अंगोंका अध्ययन किया, चिरकाल तक तपश्चरण किया, तीर्थंकर नाम-कर्मका बन्ध किया, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन आराधनाओंका साधन किया तथा आयुके अन्तमें वह समाधिमरण कर आरण नामक पन्द्रहवें स्वर्गमें विशाल वैभवको धारण करनेवाला इन्द्र हुआ ॥१७-१८॥ वहाँ उसकी आयु बाईस सागरकी थी, तीन हाथ ऊँचा उसका शरीर था, द्रव्य और भाव दोनों ही शुक्ललेश्याएँ थी, ग्यारह माहमें श्वास लेता था, बाईस हजार वर्षमें मानसिक आहार लेकर संतुष्ट रहता था, लक्ष्मीमान् था, मानसिक प्रवीचारसे युक्त था, प्राकाम्य आदि आठ गुणोंका धारक था, छठवें नरकके पहले-पहले तक व्याप्त रहनेवाले अवधिज्ञानसे देदीप्य-मान था, उतनी ही दूर तक उसका बल तथा विक्रिया शक्ति थी और बाह्य-विकारोंसे रहित विशाल श्रेष्ठ सुखरूपी सागरका पारगामी था, इस प्रकार उसने अपनी असंख्यात वर्षकी आयुको कालकी कलाके समान—एक क्षणके समान बिता दिया ॥ १९-२२ ॥ जब उस इन्द्रकी आयु छह माहकी बाकी रह गई और वह पृथिवी पर आनेके लिए उद्यत हुआ तब जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्र सम्बन्धी मलय नामक देशमें भद्रपुर नगरका स्वामी इक्ष्वाकुवंशी राजा दृढ़रथ राज्य करता था । उसकी महारानीका नाम सुनन्दा था । कुबेरकी आज्ञासे यक्ष जातिके देवोंने छह मास पहलेसे रत्नोंके द्वारा सुनन्दाका

---

१ सन् सुखेप्सु-ग० । सुसुखेप्सु-ल० । २ विग्रहं विना ख० । ३ सर्वसङ्गाङ्गवैमुख्यं (सर्वपरिग्रहशरीरवि-मुखत्वं) क०, टि० । सर्वसंभोगवैमुख्यम् ल० । ४ जीवितस्यान्ते ल० । ५ विशालवैभवः । ६ प्राकाम्याद्यष्ट-धीगुणः ल० । प्राकाम्यद्यष्टधागुणैः ख० । ७ कलासंख्य-ल० । ८ निशाप्रान्ते ल० ।

प्रविशन्तं गजं चास्ये भूपतेस्तत्फलान्यवैत्[1] । तदाषाढनक्षत्रे कृष्णाष्टम्यां दिवश्च्युतः ॥ २६ ॥
चैत्रे स देवः स्वर्गाग्रात् गुणैः सद्वृत्ततादिभिः । भावी शुक्तिपुटे तस्या वार्विन्दुर्वोदरेऽभवत् ॥ २७ ॥
आदिकल्याणसत्पूजां प्रीत्यैत्य विदधुः सुराः । द्वादश्यामसिते माघे विश्वयोगेऽजनि क्रमात् ॥ २८ ॥
तदैवागत्य तं नीत्वा [2]महामेरुं महोत्सवाः । देवा महाभिषेकान्ते व्याहरन्ति स्म शीतलम् ॥ २९ ॥
नवकोट्यब्धिमानोक्तपुष्पदन्तान्तरान्तिमे । पल्योपमचतुर्भागे व्युच्छिन्ने धर्मकर्मणि ॥ ३० ॥
तदभ्यन्तरवर्त्यायुरुत्पन्नः कनकच्छविः । खपञ्चकैकपूर्वायुर्धनुर्नवतिविग्रहः ॥ ३१ ॥
गते स्वायुश्चतुर्भागे कौमारे स्वपितुः पदम् । प्राप्य प्रधानसिद्धिं च पालयामास स प्रजाः ॥ ३२ ॥
गत्यादिशुभनामानि सद्वेद्यं गोत्रमुत्तमम् । आयुस्तीर्थकरोपेतमपवर्तविवर्जितम् ॥ ३३ ॥
सर्वाण्येतानि सम्भूय स्वोत्कृष्टानुभवोदयात् । सुखदानि ततस्तस्य सुखं केनोपमीयते ॥ ३४ ॥
स्वायुश्चतुर्थभागावशेषे ह्रासितसंसृतिम्[3] । प्रत्याख्यानकषायोदयावसाने प्रतिष्ठितम् ॥ ३५ ॥
तं कदाचिद्विहारार्थं वनं यातं महौजसम् । हिमानीपटलं सद्यः प्रच्छाद्य [4]विलयं गतः ॥ ३६ ॥
स तद्धेतुसमुद्भूतबोधिरित्थमचिन्तयत् । क्षणं प्रत्यर्थपर्यायैरिदं विश्वं विनश्वरम् ॥ ३७ ॥
दुःखदुःखिनिमित्ताख्यत्रितयं निश्चितं मया । सुखादित्रयविज्ञानमेतन्मोहानुबन्धजात् ॥ ३८ ॥
अहं किल सुखी सौख्यमेतत् किल पुनः सुखम् । पुण्यात्किल महामोहः काललब्ध्या विनाभवत् ॥३९॥

घर भर दिया। मानवती सुनन्दाने भी रात्रिके अन्तिम भागमें सोलह स्वप्न देखकर अपने मुखमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। प्रातःकाल राजासे उनका फल ज्ञात किया और उसी समय चैत्रकृष्ण अष्टमीके दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्रमें सद्वृत्तता—सदाचार आदि गुणोंसे उपलक्षित वह देव स्वर्गसे च्युत होकर रानीके उदरमें उस प्रकार अवतीर्ण हुआ जिस प्रकार कि सद्वृत्तता—गोलाई आदि गुणोंसे उपलक्षित जलकी बूँद शुक्तिके उदरमें अवतीर्ण होती है ॥ २२–२७ ॥ देवोंने आकर बड़े प्रेमसे प्रथम कल्याणककी पूजा की। क्रम-क्रमसे नव माह व्यतीत होनेपर माघकृष्ण द्वादशीके दिन विश्वयोगमें पुत्र-जन्म हुआ ॥ २८ ॥ उसी समय बहुत भारी उत्सवसे भरे देव लोग आकर उस बालकको सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहाँ उन्होंने उसका महाभिषेक किया और शीतलनाथ नाम रक्खा ॥२९॥ भगवान् पुष्पदन्तके मोक्ष चले जानेके बाद नौ करोड़ सागरका अन्तर बीत जानेपर भगवान् शीतलनाथका जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसीमें सम्मिलित थी। उनके जन्म लेनेके पहले पल्यके चौथाई भाग तक धर्म-कर्मका विच्छेद रहा था। भगवान्के शरीरकी कान्ति सुवर्णके समान थी, आयु एक लाख पूर्वकी थी और शरीर नब्बे धनुष ऊँचा था ॥ ३०–३१ ॥ जब आयुके चतुर्थभागके प्रमाण कुमारकाल व्यतीत हो गया तब उन्होंने अपने पिताका पद प्राप्त किया तथा प्रधान सिद्धि प्राप्त कर प्रजाका पालन किया ॥ ३२ ॥ गति आदि शुभ नामकर्म, साता वेदनीय, उत्तम गोत्र और अपघात मरणसे रहित तथा तीर्थंकर नामकर्मसे सहित आयु-कर्म ये सभी मिलकर उत्कृष्ट अनुभाग-बन्धका उदय होनेसे उनके लिए सब प्रकारके सुख प्रदान करते थे अतः उनके सुखकी उपमा किसके साथ दी जा सकती है ? ॥ ३३–३४ ॥ इस प्रकार जब उनकी आयुका चतुर्थ भाग शेष रह गया, तथा संसार-भ्रमण अत्यन्त अल्प रह गया तब उनके प्रत्याख्यानावरण कषायका अन्त हो गया। महातेजस्वी भगवान् शीतलनाथ किसी समय विहार करनेके लिए वनमें गये। वहाँ उन्होंने देखा कि पालेका समूह जो क्षण भर पहले समस्त पदार्थोंको ढके हुए था शीघ्र ही नष्ट हो गया है ॥ ३५–३६ ॥ इस प्रकरणसे उन्हें आत्म-ज्ञान उत्पन्न हो गया और वे इस प्रकार विचार करने लगे कि प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण भरमें बदलते रहते हैं उन्हींसे यह सारा संसार विनश्वर है ॥ ३७ ॥ आज मैंने दुःख, दुःखी और दुःखके निमित्त इन तीनोंका निश्चय कर लिया। मोहके अनुबन्धसे मैं इन तीनोंको सुख, सुखी और सुखका निमित्त समझता रहा ॥ ३८ ॥ 'मैं सुखी हूँ, यह सुख है और यह सुख पुण्योदयसे फिर भी मुझे मिलेगा' यह बड़ा भारी मोह है जो कि काललब्धिके बिना हो रहा

---

१ न्यवौत् (ा) ल० । २ महामेरु ल० । ३ संसृतिः ल० । ४ प्रलयं ल० ।

कर्म स्यात्किं न वा पुण्यं कर्म चेत्कर्मणा कुतः । सुखं रतिविकाराभिलाषदोषवतोऽङ्गिनः ॥ ४० ॥
विषयैरेव चेत्सौख्यं तेषां पर्यन्तगोऽस्म्यहम् । ततः कुतो न मे तृप्तिः मिथ्यावैषयिकं सुखम् ॥ ४१ ॥
औदासीन्यं सुखं तच्च सति मोहे कुतस्ततः । मोहारिरेव निर्मूलं विलयं प्रापये द्रुतम् ॥ ४२ ॥
इत्याकलय्य [1]याथात्म्यं हेयपक्षे निवेशितम् । दत्त्वा पुत्राय साम्राज्यं मोहिनामादरावहम् ॥ ४३ ॥
लब्धलौकान्तिकस्तोत्रः प्राप्ततत्कालपूजनः । शुक्रप्रभां समारुह्य सहेतुकवनान्तरे ॥ ४४ ॥
पूर्वाषाढे माघमासे कृष्णद्वादश्यहःक्षये । उपवासद्वयी[2] राजसहस्रेणैत्य संयमम् ॥ ४५ ॥
चतुर्ज्ञानो द्वितीयेऽह्नि स चर्यार्थं प्रविष्टवान् । अरिष्टनगरं तस्मै नवपुण्यः पुनर्वसुः ॥ ४६ ॥
नाम्ना नरपतिर्दत्वा परमान्नं प्रमोदवान् । वितीर्णममरैस्तुष्टैः प्रापदाश्चर्यपञ्चकम् ॥ ४७ ॥
छाद्मस्थ्येन समास्तिस्रो नीत्वा बिल्वद्रुमाश्रयः । पौषकृष्णचतुर्दश्यां पूर्वाषाढेऽपराह्णगे ॥ ४८ ॥
दिनद्वयोपवासेन कैवल्यं कनकद्युतिः । प्रापदाप्य तदा देवाः तस्य पूजामकुर्वत ॥ ४९ ॥
अनगाराख्यमुख्यैकाशीतिसप्तर्द्धिसत्तमः । शून्यद्वयखयुगैकोक्तपूज्यपूर्वधरान्वितः ॥ ५० ॥
शून्यद्वयद्विरन्ध्रेन्द्रियोक्तशिक्षकलक्षितः । शून्यद्वयद्विसप्ताङ्कज्ञानत्रयविलोचनः ॥ ५१ ॥
शून्यत्रितयसप्तोक्तपञ्चमावगमान्वितः । शून्यत्रितयपक्षैकविक्रियर्द्धियतीडितः ॥ ५२ ॥
खद्विकेन्द्रियसप्तोक्तमनःपर्ययसंयतः । शून्यद्वयर्द्धिपञ्चोक्तवादिमुख्याञ्चितक्रमः ॥ ५३ ॥
एकीकृतयतिव्रात[3]लक्षासमुपलक्षितः । खचतुष्काष्टवह्न्युक्तध[4]रणाद्यार्यिकान्वितः ॥ ५४ ॥
उपासकद्विलक्षाढ्यों द्विगुणश्राविकानुतः । असङ्ख्यदेवदेवीड्यस्तिर्यक्संख्यातसेवितः ॥ ५५ ॥

है ॥ ३९ ॥ कर्म पुण्यरूप हों अथवा न हों, यदि कर्म विद्यमान हैं तो उनसे इस जीवको सुख कैसे मिल सकता है ? क्योंकि यह जीव राग-द्वेष तथा अभिलाषा आदि अनेक दोषोंसे युक्त है ॥ ४० ॥ यदि विषयोंसे ही सुख प्राप्त होता है तो मैं विषयोंके अन्तको प्राप्त हूँ अर्थात् मुझे सबसे अधिक सुख प्राप्त हैं फिर मुझे संतोष क्यों नहीं होता। इससे जान पड़ता है कि विषय-सम्बन्धी सुख मिथ्या सुख है ॥ ४१ ॥ उदासीनता ही सच्चा सुख है और वह उदासीनता मोहके रहते हुए कैसे हो सकती है ? इसलिए मैं सर्वप्रथम इस मोह शत्रुको ही शीघ्रताके साथ जड़-मूलसे नष्ट करता हूँ ॥ ४२ ॥ इस प्रकार पदार्थके यथार्थ स्वरूपका विचार कर उन्होंने विवेकियोंके द्वारा छोड़नेके योग्य और मोही जीवोंके द्वारा आदर देनेके योग्य अपना सारा साम्राज्य पुत्रके लिए दे दिया ॥ ४३ ॥ उसी समय आये हुए लौकान्तिक देवोंने जिनकी स्तुति की है तथा उन्होंने दीक्षा-कल्याणक पूजा प्राप्त की है ऐसे भगवान् शीतलनाथ शुक्रप्रभा नामकी पालकी पर सवार होकर सहेतुक वनमें पहुँचे ॥ ४४ ॥ वहाँ उन्होंने माघकृष्ण द्वादशीके दिन सायंकालके समय पूर्वाषाढ़ा नक्षत्रमें दो उपवासका नियम लेकर एक हजार राजाओंके साथ संयम धारण किया ॥ ४५ ॥ चार ज्ञानके धारी भगवान् दूसरे दिन चर्याके लिए अरिष्ट नगरमें प्रविष्ट हुए। वहाँ नवधा भक्ति करनेवाले पुनर्वसु राजाने बड़े हर्षके साथ उन्हें खीरका आहार देकर संतुष्ट देवोंके द्वारा प्रदत्त पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ ४६-४७ ॥ तदनन्तर छद्मस्थ अवस्थाके तीन वर्ष बिताकर वे एक दिन बेलके वृक्षके नीचे दो दिनके उपवासका नियम लेकर विराजमान हुए। जिससे पौषकृष्ण चतुर्दशीके दिन पूर्वाषाढ़ नक्षत्रमें सायंकालके समय सुवर्णके समान कान्तिवाले उन भगवान्ने केवलज्ञान प्राप्त किया। उसी समय देवोंने आकर उनके ज्ञान-कल्याणककी पूजा की ॥ ४८-४९ ॥ उनकी सभामें सप्त ऋद्धियोंको धारण करनेवाले अनगार आदि इक्यासी गणधर थे। चौदह सौ पूर्वधारी थे, उनसठ हजार दो सौ शिक्षक थे, सात हजार दो सौ अवधिज्ञानी थे, सात हजार केवलज्ञानी थे, बारह हजार विक्रिया ऋद्धिके धारक मुनि उनकी पूजा करते थे, सात हजार पाँच सौ मनःपर्ययज्ञानी उनके चरणोंकी पूजा करते थे, इस तरह सब मुनियोंकी संख्या एक लाख थी, धरणा आदि तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाएँ उनके साथ थीं,

---

१ याथात्म्यहेय ल० । २ उपवासद्वयो ख०, ल० । ३ लब्धः समुप-ख० । लब्धसमुप-ल० । ४ धारणाद्या ल० ।

विहृत्य विविधान् देशान् भव्यमिथ्यादृशो बहून् । सम्यक्त्वादिगुणस्थानान्यापयन्[1] धर्मदेशनात् ॥५६॥
सम्मेदशैलमासाद्य मासमात्रोज्झितक्रियः । प्रतिमायोगमासाद्य सहस्रमुनिसंवृतः ॥ ५७ ॥
धवलाश्वयुजाष्टम्यां पूर्वाषाढेऽपराह्णगः । नाशिताशेषकर्मारिः सम्प्रापत्परमं पदम् ॥ ५८ ॥
कृत्वा पञ्चमकल्याणं देवेन्द्रा द्योतिताखिलाः । स्वदेहद्युतिभिः स्तुत्वा शीतलं संसृता दिवम् ॥ ५९ ॥

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्

यस्योत्पादमनुप्रसादमगमज्जन्द्रोदयाद्वा जगत्
बन्धूनां व्यकसन्मुखानि निखिलान्यब्जानि वोष्णद्युतेः ।
अर्थान् प्राप्य समीप्सितान् बहुमुदन्सिञ्चर्थवन्तोऽर्थिनः
तं वन्दे त्रिदशार्चितं रतितृपानिःशेषिणं शीतलम् ॥ ६० ॥
दिङ्मातङ्गकपोलमूलगलितैर्दानैस्ततामोदनै–
र्दत्त्वार्द्धेन्दुनिभोज्ज्वलोत्तिलकिकास्तद्दत्तपर्यङ्कके[2] ॥
दिक्कन्याः कलकण्ठिकाश्च रचितैर्गायन्ति वर्णाक्षरै-
र्यस्यात्युद्धतमोहवीरविजयं तं शीतलं संस्तुवे ॥ ६१ ॥

मुनिदीक्षक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

रथोद्धतावृत्तम्

पद्मगुल्ममखिलैः स्तुतं गुणैरारणेन्द्रममरार्चितं ततः ।
तीर्थकृत्सुदशमं दयामयं शीतलं नमत सर्वशीतलम् ॥ ६२ ॥

अनुष्टुप्

शीतलेशस्य तीर्थान्ते सद्धर्मो नाशमेयिवान् । वक्तृश्रोतृचरिष्णूनामभावात्कालदोषतः ॥ ६३ ॥

दो लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ उनकी अर्चा तथा स्तुति करती थीं, असंख्यात देव-देवियाँ उनका स्तवन करती थीं और संख्यात तिर्यञ्च उनकी सेवा करती थीं ॥ ५०–५५ ॥ असंख्यात देशोंमें विहार कर धर्मोपदेशके द्वारा बहुतसे भव्य मिथ्यादृष्टि जीवोंको सम्यक्त्व आदि गुणस्थान प्राप्त कराते हुए वे सम्मेदशिखर पर पहुँचे। वहाँ एक माहका योग-निरोध कर उन्होंने प्रतिमा योग धारण किया और एक हजार मुनियोंके साथ आश्विन शुक्ला अष्टमीके दिन सायंकालके समय पूर्वाषाढ़ा नक्षत्रमें समस्त कर्म-शत्रुओंको नष्टकर मोक्ष प्राप्त किया ॥ ५६–५८ ॥ अपने शरीरकी कान्तिसे सब पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले इन्द्र पंचम कल्याणक कर तथा शीतलनाथ जिनेन्द्रकी स्तुति कर स्वर्गको चले गये ॥ ५९ ॥

जिनका जन्म होते ही संसार इस प्रकार प्रसन्नताको प्राप्त हो गया जिस प्रकार कि चन्द्रोदयसे होता है। समस्त भाई-बन्धुओंके मुख इस प्रकार विकसित हो गये जिस प्रकार कि सूर्यसे कमल विकसित हो जाते हैं और याचक लोग इच्छित पदार्थ पाकर बड़े हर्षसे कृतकृत्य हो गये उन देव पूजित, रति तथा तृष्णाको नष्ट करनेवाले शीतल जिनेन्द्रकी मैं वन्दना करता हूँ—स्तुति करता हूँ ॥ ६० ॥ दिग्गजोंके कपोलमूलसे गलते हुए तथा सबको सुगन्धित एवं हर्षित करनेवाले मद-जलसे जिन्होंने ललाट पर अर्धचन्द्राकार तिलक दिया है, जिनके कण्ठ मधुर हैं ऐसी दिक्कन्याएँ स्वरचित पद्योंके द्वारा जिनकी अत्यन्त उद्दण्ड मोहरूपी शूर-वीरको जीत लेनेके गीत गाती हैं उन शीतल जिनेन्द्रकी मैं स्तुति करता हूँ ॥ ६१ ॥ जो पहले सब तरहके गुणोंसे स्तुत्य पद्मगुल्म नामके राजा हुए, फिर देवोंके द्वारा पूजित आरण स्वर्गके इन्द्र हुए और तदनन्तर दशम तीर्थंकर हुए उन दयालु तथा सबको शान्त करनेवाले श्री शीतल जिनेन्द्रको हे भव्य जीवो ! नमस्कार करो ॥ ६२ ॥

अथानन्तर–श्री शीतलनाथ भगवान्के तीर्थके अन्तिम भागमें काल-दोषसे वक्ता, श्रोता और आचरण करनेवाले धर्मात्मा लोगोंका अभाव हो जानेसे समीचीन जैन धर्मका नाश हो गया ॥६३॥

१–न्यायोजन् ल० । २ तद्दत्तपर्यन्तके ख० । तद्दन्तिपर्यन्तके ल० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तदा मलयदेशेशो निवसन् भद्रिले पुरे । राजा मेघरथस्तस्य सचिवः सत्यकीर्तिवाक्[1] ॥ ६४ ॥
स कदाचित्सभागेहे सिंहासनमधिष्ठितः । आपृच्छत सभासीनान् धर्मार्थं द्रव्यदित्सया ॥ ६५ ॥
दानेषु कतमद्दानं दत्तं बहुफलं भवेत् । इत्यतो मतिवाक्सारः सचिवो दानतत्त्ववित् ॥ ६६ ॥
शास्त्राभयान्नदानानि प्रोक्तानि मुनिसत्तमैः । पूर्वपूर्वबहूपात्तफलानीमानि धीमताम् ॥ ६७ ॥
पूर्वापरविरोधादिदूरं हिंसाद्यपासनम् । प्रमाणद्वयसंपादि[2] शास्त्रं सर्वज्ञभाषितम् ॥ ६८ ॥
भूयः संसारभीरूणां सतामनुजिघृक्षया । व्याख्यानं तस्य शास्त्रस्य शास्त्रदानं तदुच्यते ॥ ६९ ॥
मुमुक्षोर्दृष्टतत्त्वस्य बन्धहेतुजिहासया । प्राणिपीडापरित्यागस्तद्दानमभयाह्वयम् ॥ ७० ॥
हिंसादिदोषदूरेभ्यो ज्ञानिभ्यो बाह्यसाधनम् । प्राहुराहारदानं तच्छुद्धाहारातिसर्जनम् ॥ ७१ ॥
आभ्यामाद्यन्तदानाभ्यामुभयोः कर्मनिर्जरा । पुण्यास्रवश्च शेषेण दातुस्तदुभयं भवेत् ॥ ७२ ॥
न ज्ञानात्सन्ति दानानि विना ज्ञानं न शाश्वतः । [3]हेयोदेयादितत्त्वावभासनं परमं हि तत् ॥ ७३ ॥
तद्व्याख्यातं श्रुतं सम्यक् भावितं शुद्धबुद्धये । [4]तयोर्हेयं परित्यज्य हितमादाय सव्रताः ॥ ७४ ॥
मुक्तिमार्गं समाश्रित्य [5]क्रमाच्छान्तेन्द्रियाशयाः ।[1] शुक्लध्यानमभिष्टाय प्राप्नुवन्त्यक्षयं पदम् ॥ ७५ ॥
तस्माद् दानेषु तच्छ्रेष्ठं प्रदातुर्ग्रहीतामपि । निरवद्यं निजानन्दनिर्वाणपदसाधनम् ॥ ७६ ॥
अन्त्यादप्यल्पसावद्यादभयाख्यमभिष्टुतम् । त्रिभिरेभिर्महादानैः प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ७७ ॥

उस समय भद्रिलपुरमें मलय देशका स्वामी राजा मेघरथ रहता था, उसके मंत्रीका नाम सत्यकीर्ति था ॥ ६४ ॥ किसी एक दिन राजा मेघरथ सभा-भवनमें सिंहासन पर बैठे हुए थे, उसी समय उन्होंने धर्मके लिए धन दान करनेकी इच्छासे सभामें बैठे हुए लोगोंसे कहा ॥ ६५ ॥ कि सब दानों-में ऐसा कौन-सा दान है कि जिसके देनेपर बहुत फल होता हो ? इसके उत्तरमें दानके तत्त्वको जाननेवाला मंत्री इस प्रकार कहने लगा ॥६६॥ कि श्रेष्ठ मुनियोंने शास्त्रदान, अभयदान और अन्नदान ये तीन प्रकारके दान कहे हैं । ये दान बुद्धिमानोंके लिए पहले-पहले अधिक फल देनेवाले हैं अर्थात् अन्नदानकी अपेक्षा अभयदानका और अभयदानकी अपेक्षा शास्त्रदानका बहुत फल है ॥ ६७ ॥ जो सर्वज्ञ-देवका कहा हुआ हो, पूर्वापरविरोध आदि दोषोंसे रहित हो, हिंसादि पापोंको दूर करनेवाला हो और प्रत्यक्ष परोक्ष दोनों प्रमाणोंसे सम्पन्न हो उसे शास्त्र कहते हैं ॥ ६८ ॥ संसारके दुःखोंसे डरे हुए सत्पुरुषोंका उपकार करनेकी इच्छासे पूर्वोक्त शास्त्रका व्याख्यान करना शास्त्रदान कहलाता है ॥ ६९ ॥ मोक्ष प्राप्त करनेका इच्छुक तथा तत्त्वोंके स्वरूपको जाननेवाला मुनि कर्मबन्धके कारणों-को छोड़नेकी इच्छासे जो प्राणिपीड़ाका त्याग करता है उसे अभयदान कहते हैं ॥ ७० ॥ हिंसादि दोषोंसे दूर रहनेवाले ज्ञानी साधुओंके लिए शरीरादि बाह्य साधनोंकी रक्षाके अर्थ जो शुद्ध आहार दिया जाता है उसे आहारदान कहते हैं ॥७१॥ इन आदि और अन्तके दानोंसे देने तथा लेनेवाले दोनोंको ही कर्मोंकी निर्जरा एवं पुण्य कर्मका आस्रव होता है और अभयदानसे सिर्फ देनेवालेके ही उक्त दोनों फल होते हैं ॥७२॥ इस संसारमें ज्ञानसे बढ़कर अन्य दान नहीं हैं और ज्ञान शास्त्रके बिना नहीं हो सकता । वास्तवमें शास्त्र ही हेय और उपादेय तत्त्वोंको प्रकाशित करनेवाला श्रेष्ठ साधन है ॥ ७३ ॥ शास्त्रका अच्छी तरह व्याख्यान करना, सुनना और चिन्तवन करना शुद्ध बुद्धिका कारण है । शुद्ध बुद्धिके होने पर ही भव्य जीव हेय पदार्थको छोड़कर और हितकारी पदार्थको ग्रहण कर व्रती बनते हैं, मोक्षमार्गका अवलम्बन लेकर क्रम-क्रमसे इन्द्रियों तथा मनको शान्त करते हैं और अन्तमें शुक्ल-ध्यानका अवलम्बन लेकर अविनाशी मोक्ष पद प्राप्त करते हैं ॥ ७४-७५ ॥ इसलिए सब दानोंमें शास्त्रदान ही श्रेष्ठ है, पाप-कार्योंसे रहित है तथा देने और लेनेवाले दोनोंके लिए ही निजानन्द रूप मोक्ष-प्राप्तिका कारण है ॥ ७६ ॥ अन्तिम आहारदानमें थोड़ा आरम्भ-जन्य पाप करना पड़ता है इसलिए उनकी अपेक्षा अभयदान श्रेष्ठ है । यह जीव इन तीन महादानोंके द्वारा परम पदको प्राप्त

---

१ कीर्तिभाक् ख० । २ संवादि ल० । ३ हेयोपेयादि ल० । ४ तदा हेयं ख०, ग० । ५ क्रमात् शातेन्द्रियाशयाः क०, घ० ।

इति प्राहैवमुक्तेऽपि राज्ञा तन्नावमन्यता । कपोतलेश्यामाहात्म्यादन्यदानप्रदित्सया ॥ ७८ ॥
तत्रैव नगरे भूतिशर्माख्यो ब्राह्मणोऽभवत् । प्रणीतदुश्रुतैः राज्ञोऽरञ्जयत्स्वमनीषया ॥ ७९ ॥
तस्मिन्नुपरते तस्य तनयः सर्वशास्त्रवित् । मुण्डशालायनो जातस्तत्रासीनोऽब्रवीदसौ ॥ ८० ॥
मुनीनां दुर्विधानां च दानत्रयमिदं मतम् । [1]महेच्छानां महीशानां दानमस्त्यन्यदुत्तमम् ॥ ८१ ॥
भूसुवर्णादिभूयिष्ठमाचन्द्रार्कंयशस्करम् । शापानुग्रहशालिभ्यो ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छत ॥ ८२ ॥
आर्षमत्र श्रुतं चास्ति दानस्यास्योपदेशकम् । इत्यानीय गृहात्स्वोक्तं तत्पुस्तकमवाचयत् ॥ ८३ ॥
इत्थं तेनेङ्गितज्ञेन लब्ध्वावसरमुत्पथम् । मुण्डशालायनेनोक्तं राजा तद्ब्रह्ममन्यत ॥ ८४ ॥
पापाभीरोरभद्रस्य विषयान्धस्य दुर्मतेः । रञ्जितः स महीपालः परलोकमहाशया ॥ ८५ ॥
कदाचित्कार्तिके मासे पौर्णमास्यां शुचीभवन् । मुण्डशालायनं भक्त्या पूजयित्वाक्षतादिभिः ॥ ८६ ॥
भूसुवर्णादितत्प्रोक्तदानान्यदित दुर्मतिः । तं दृष्ट्वा भक्तिमान् भूपममात्यः [2]प्रत्युवाच तम् ॥ ८७ ॥
अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं जिनैर्मतम् । स्वपरोपकृतिं प्राहुरत्र तज्ज्ञा अनुग्रहम् ॥ ८८ ॥
[3]स्वोपकारोऽयसंवृद्धिः परस्य गुणवर्द्धनम् । स्वशब्दो धनपर्यायवाची पात्रेऽतिसर्जनम् ॥ ८९ ॥
स्वस्य दानं प्रशंसन्ति तज्जानन्नपि किं वृथा । कुपात्रेऽर्थं विसृष्ट्वैवं त्रयाणां विहतिः कृता ॥ ९० ॥
सुबीजं सुप्रभूतं च प्रक्षिप्तं किं तदूषरे । फलं भवति सङ्क्लेश-बीजनाश-फलाद्विना ॥ ९१ ॥

होता है ॥ ७७ ॥ इस प्रकार कहे जानेपर भी राजाने दानका यह निरूपण स्वीकृत नहीं किया क्योंकि वह कपोतलेश्याके माहात्म्यसे इन तीन दानोंके सिवाय और ही कुछ दान देना चाहता था ॥ ७८ ॥

उसी नगरमें एक भूतिशर्मा नामका ब्राह्मण रहता था। वह अपनी बुद्धिके अनुसार खोटे-खोटे शास्त्र बनाकर राजाको प्रसन्न किया करता था ॥ ७९ ॥ उसके मरने पर उसका मुण्डशालायन नामक पुत्र समस्त शास्त्रोंका जाननेवाला हुआ। वह उस समय उसी सभामें बैठा हुआ था अतः मंत्रीके द्वारा पूर्वोक्त दानका निरूपण समाप्त होते ही कहने लगा ॥ ८० ॥ कि ये तीन दान मुनियोंके लिए अथवा दरिद्र मनुष्योंके लिए हैं। बड़ी-बड़ी इच्छा रखनेवाले राजाओंके लिए तो दूसरे ही उत्तम दान हैं ॥ ८१ ॥ शाप तथा अनुग्रह करनेकी शक्तिसे सुशोभित ब्राह्मणोंके लिए, जब तक चन्द्र अथवा सूर्य हैं तब तक यशका करनेवाला पृथिवी तथा सुवर्णादिका बहुत भारी दान दीजिए ॥ ८२ ॥ इस दानका समर्थन करनेवाला ऋषिप्रणीत शास्त्र भी विद्यमान है, ऐसा कहकर वह अपने घरसे अपनी बनाई हुई पुस्तक ले आया और सभामें उसे बचवा दिया ॥ ८३ ॥ इस प्रकार अभिप्रायको जाननेवाले मुण्डशालायनने अवसर पाकर कुमार्गका उपदेश दिया और राजाने उसे बहुत माना—उसका सत्कार किया ॥ ८४ ॥ देखो, मुण्डशालायन पापसे नहीं डरता था, अभद्र था, विषयान्ध था और दुर्बुद्धि था फिर भी राजा परलोककी बड़ी भारी आशासे उसपर अनुरक्त हो गया—प्रसन्न हो गया ॥ ८५ ॥ किसी समय कार्तिक मासकी पौर्णमासीके दिन उस दुर्बुद्धि राजाने शुद्ध होकर बड़ी भक्तिके साथ अक्षतादि द्रव्योंसे मुण्डशालायनकी पूजा कर उसे उसके द्वारा कहे हुए भूमि तथा सुवर्णादिके दान दिये। यह देख भक्त मंत्रीने राजासे कहा ॥ ८६-८७ ॥ अनुग्रहके लिए अपना धन या अपनी कोई वस्तु देना सो दान है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है और इस विषयके जानकार मनुष्य अपने तथा परके उपकारको ही अनुग्रह कहते हैं ॥ ८८ ॥ पुण्य कर्मकी वृद्धि होना यह अपना उपकार है—अनुग्रह है और परके गुणोंकी वृद्धि होना परका उपकार है। स्व शब्द धनका पर्यायवाची है। धनका पात्रके लिए देना स्व दान कहलाता है। यही दान प्रशंसनीय दान है फिर जानते हुए भी आप इस प्रकार कुपात्रके लिए धन दान देकर आप दाता, दान और पात्र तीनोंको क्यों नष्ट कर रहे हैं ॥८९-९०॥ उत्तम बीज कितना ही अधिक क्यों न हो, यदि ऊसर जमीनमें डाला जावेगा तो उससे संक्लेश और बीज नाश-रूप फलके सिवाय और क्या होगा ?

---

१ महेशानां महीशाना ग० । २ प्रत्युवाचत ल० । ३ अयस्य पुण्यकर्मणः संवृद्धिरयसंवृद्धिः, स्वोपकारः ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सुबीजमल्पमप्युप्तं सुक्षेत्रे कालवेदिना । तत्सहस्रगुणीभूतं वापकस्य फलं भवेत् ॥ ९२ ॥
इति भक्तेन तेनोक्तमुदाहरणकोटिभिः । धीमता तन्महीभर्तुरुपकाराय नाभवत् ॥ ९३ ॥
कालदष्टस्य वा मन्त्रो भैषज्यं वा गतायुषः । आजन्मान्धस्य वादर्शो विपरीतस्य सद्वचः ॥ ९४ ॥
विहायादिक्रमायातं दानमार्गं कुमार्गगः । मूर्खप्रलपितं दानमारातीयमवीवृतत् ॥ ९५ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

कन्याहस्तिसुवर्णवाजिकपिलादासीतिलस्यन्दन-
क्ष्मागेहप्रतिबद्धमत्र दशधा दानं दरिद्रेप्सितम् ।
तीर्थान्ते जिनशीतलस्य सुतरामाविश्चकार स्वयं
लुब्धो वस्तुषु भूतिशर्मतनयोऽसौ मुण्डशालायनः ॥ ९६ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे शीतलपुराणं नाम परिसमाप्तं षट्पञ्चाशत्तमं पर्व ॥ ५६ ॥

कुछ भी नहीं ॥ ९१ ॥ इसके विपरीत उत्तम बीज थोड़ा भी क्यों न हो, यदि समयको जाननेवाले मनुष्यके द्वारा उत्तम क्षेत्रमें बोया जाता है तो बोनेवालेके लिए उससे हजारगुना फल प्राप्त होता है ॥ ९२ ॥ इस प्रकार उस बुद्धिमान् एवं भक्त मंत्रीने यद्यपि करोड़ों उदाहरण देकर उस राजाको समझाया परन्तु उससे राजाका कुछ भी उपकार नहीं हुआ ॥ ९३ ॥ सो ठीक ही है क्योंकि विपरीत बुद्धिवाले मनुष्यके लिए सत्-पुरुषोंके वचन ऐसे हैं जैसे कि कालके काटेके लिए मंत्र, जिसकी आयु पूर्ण हो चुकी है उसके लिए औषधि, और जन्मके अन्धेके लिए दर्पण ॥ ९४ ॥ उस कुमार्गगामी राजाने प्रारम्भसे ही चले आये दानके मार्गको छोड़कर मूर्ख मुण्डशालायनके द्वारा कहे हुए आधुनिक दानके मार्गको प्रचलित किया ॥ ९५ ॥ इस प्रकार लौकिक वस्तुओंके लोभी, भूतिशर्माके पुत्र मुण्डशालायनने श्री शीतलनाथ जिनेन्द्रके तीर्थके अन्तिम समयमें दरिद्रोंको अच्छा लगनेवाला—कन्यादान, हस्तिदान, सुवर्णदान, अश्वदान, गोदान, दासीदान, तिलदान, रथदान, भूमिदान और गृहदान यह दश प्रकारका दान स्वयं ही अच्छी तरह प्रकट किया—चलाया ॥ ९६ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें शीतलपुराणका वर्णन करनेवाला छप्पनवाँ पर्व पूर्ण हुआ ।

सप्तपञ्चाशत्तमं पर्व

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

[1]श्रेयः श्रेयेषु[2] नास्त्यन्यः [3]श्रेयसः श्रेयसे बुधैः। इति [4]श्रेयोऽर्थिभिः श्रेयः श्रेयांसः श्रेयसेऽस्तु नः ॥ १ ॥
पुष्करार्द्धेन्द्रदिग्मेरुप्राग्विदेहे सुकच्छके । सीतानद्युत्तरे देशे नृपः क्षेमपुराधिपः ॥ २ ॥
नलिनप्रभनामाभून्नमिताशेषविद्विषः । प्रजानुरागसम्पादिताचिन्त्यमहिमाश्रयः ॥ ३ ॥
पृथक्त्रिभेदनिर्णीतिशक्तिसिद्ध्युदयोदितः । शमव्यायामसम्प्राप्तक्षेमयोगोऽयमैधत ॥ ४ ॥
भूभृत्त्रमर्थवत्तस्मिन्यस्मान्न्यायेन पालनात् । स्थितौ सुस्थाप्य सस्निग्धां धरामधित स प्रजाः ॥ ५ ॥
धर्मे पूतापरे धर्मस्तस्मिन्सन्मार्गवर्तिनि । अर्थकामौ च धर्म्यौ यत्तत् स धर्ममयोऽभवत् ॥ ६ ॥
एवं स्वकृतपुण्यानुभावोदितसुखाकरः । लोकपालोपमो दीर्घं पालयन्निखिलामिलाम् ॥ ७ ॥
[5]सहस्राम्रवणेऽनन्तजिनं तद्वनपालकात् । श्रुतावतीर्णं विदित्वात्मपरिवारपरिष्कृतः ॥ ८ ॥
गत्वाऽभ्यर्च्य चिरं स्तुत्वा नत्वा स्वोचितदेशभाक् । श्रुत्वा धर्मं समुत्पन्नतत्त्वबुद्धिरिति स्मरन् ॥ ९ ॥
कस्मिन् केन कथं कस्मात् कस्य किं श्रेय इत्यदः । अजानता मया भ्रान्तं भ्रान्त्येनानन्तजन्मसु ॥ १० ॥
आहितो बहुधा मोहान्मयैवैष परिग्रहः । तत्त्यागाद्यदि निर्वाणं कस्मात्कालविलम्बनम् ॥ ११ ॥
इति मत्वा सुपुत्राय [6]पुत्राय गुणशालिने । दत्त्वा राज्यं समं भूपैर्बहुभिः संयमं ययौ ॥ १२ ॥
शिक्षितैकादशाङ्गोऽसौ,तीर्थकृन्नामधाम सन् । संन्यस्याजनि कल्पेऽन्ते सुराधीशोऽच्युताह्वयः ॥ १३ ॥

जो आश्रय लेने योग्य हैं उनमें श्रेयान्सनाथको छोड़कर कल्याणके लिए विद्वानोंके द्वारा और दूसरा आश्रय लेने योग्य नहीं है–इस तरह कल्याणके अभिलाषी मनुष्योंके द्वारा आश्रय करने योग्य भगवान् श्रेयांसनाथ हम सबके कल्याणके लिए हों ॥ १ ॥ पुष्करार्ध द्वीपसम्बन्धी पूर्व विदेह क्षेत्रके सुकच्छ देशमें सीता नदीके उत्तर तटपर क्षेमपुर नामका नगर है। उसमें समस्त शत्रुओंको नम्र करनेवाला तथा प्रजाके अनुरागसे प्राप्त अचिन्त्य महिमाका आश्रयभूत नलिनप्रभ नामका राजा राज्य करता था ॥ २-३ ॥ पृथक्-पृथक् तीन भेदोंके द्वारा जिनका निर्णय किया गया है ऐसी शक्तियों, सिद्धियों और उदयोंसे जो अभ्युदयको प्राप्त है तथा शान्ति और परिश्रमसे जिसे क्षेम और योग प्राप्त हुए हैं ऐसा यह राजा सदा बढ़ता रहता था ॥ ४ ॥ वह राजा न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करता था और स्नेह पूर्ण पृथिवीको मर्यादामें स्थित कर उसका भूभृत्पना सार्थक था ॥ ५ ॥ समीचीन मार्गमें चलनेवाले उस श्रेष्ठ राजामें धर्म तो धर्म ही था, किन्तु अर्थ तथा काम भी धर्म-युक्त थे। अतः वह धर्ममय ही था ॥ ६ ॥ इस प्रकार स्वकृत पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त सुखकी खान स्वरूप यह राजा लोकपालके समान इस समस्त पृथिवीका दीर्घकाल तक पालन करता रहा ॥७॥ एक दिन वनपालसे उसे मालूम हुआ कि सहस्राम्रवणमें अनन्त जिनेन्द्र अवतीर्ण हुए हैं तो वह अपने समस्त परिवारसे युक्त होकर सहस्राम्रवणमें गया। वहाँ उसने जिनेन्द्रदेव की पूजा की, चिरकाल तक स्तुति की, नमस्कार किया और फिर अपने योग्य स्थान पर बैठ गया। तदनन्तर धर्मोपदेश सुनकर उसे तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ जिससे इस प्रकार चिन्तवन करने लगा कि किसका कहाँ किसके द्वारा किस प्रकार किससे और कितना कल्याण हो सकता है यह न जान कर मैंने खेद-खिन्न होते हुए अनन्त जन्मोंमें भ्रमण किया है। मैंने जो बहुत प्रकारका परिग्रह इकट्ठा कर रक्खा है वह मोह वश ही किया है इसलिए इसके त्यागसे यदि निर्वाण प्राप्त हो सकता है, तब समय बितानेसे क्या लाभ है ? ॥ ८-११ ॥ ऐसा विचार कर उसने गुणोंसे सुशोभित सुपुत्र नामक पुत्रके लिए राज्य देकर बहुत-से राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया ॥ १२ ॥ ग्यारह अंगोंका अध्ययन किया, तीर्थंकर नाम-

---

१ श्रयणीयः । २ श्रेयेषु आश्रयणीयेषु । ३ श्रेयसः एकादशतीर्थंकरात् । ४ कल्याणार्थिभिः । ५ सहस्राम्रवने ल० । ६ सुपुत्राय सुपुत्रगुणशालिने ख०, ग०, ल० ।

पुष्पोत्तरविमानेऽसौ द्वाविंशत्यब्धिजीवितः । हस्तत्रयप्रमाणाङ्गः प्रोक्तलेश्यादिभिर्युतः ॥ १४ ॥
देवीभिर्दिव्यभावाभिः कमनीयाभिरन्वहम् । भवसाराणि सौख्यानि तत्र प्रीत्यान्वभूचिरम् ॥ १५ ॥
कल्पातीता विरागास्ते परे चाल्पसुखास्ततः । संसारसौख्यपर्यन्तसन्तोषात्समतीयिवान् ॥ १६ ॥
अनुभूय सुखं तस्मिन् तस्मिन्नत्रागमिष्यति । द्वीपेऽस्मिन् भारते सिंहपुराधीशो नरेश्वरः ॥ १७ ॥
इक्ष्वाकुवंशविख्यातो विष्णुनामास्य वल्लभा । नन्दा षण्मासससम्प्राप्तवसुधारादिपूजना ॥ १८ ॥
ज्येष्ठे मास्यसिते षष्ठ्यां श्रवणे रात्रिनिर्गमे । स्ववक्त्रावेशिनागेन्द्रात्स्वप्नानैक्षिष्ट षोडश ॥ १९ ॥
तत्फलान्यवबुध्यासौ पत्युः सम्प्राप्य सम्मदम् । तदैवायातदेवेन्द्रविहितोरुमहोत्सवा ॥ २० ॥
नवमासान् यथोक्तेन नीत्वा सन्तोष्य सुप्रजाः । फाल्गुने मासि कृष्णैकादश्यां त्रिज्ञानधारिणम् ॥२१॥
विष्णुयोगे महाभागमसूताच्युतनायकम् । मेघावलीव सद्वृष्टिविशेषं विश्वतुष्टये ॥ २२ ॥
तदुद्भवे प्रसन्नानि मनांसि सकलाङ्गिनाम् । जलस्थलानि वा[1] सद्यः सर्वत्र शरदागमे ॥ २३ ॥
अर्थिनो धनसन्तृप्त्या धनिनो दीनतर्पणैः[2] । ते च ते चेष्टसम्भोगात्सोद्भवाः [3]स्युस्तदुद्भवे ॥ २४ ॥
तदा सर्वर्तवस्तत्र स्वैः स्वैर्भावैर्मनोहरैः । प्रादुर्बभूवुः सम्भूय सर्वाङ्गिसुखहेतवः ॥ २५ ॥
सरोगाः प्रापुरारोग्यं शोकिनो वीतशोकताम् । धर्मिष्ठतां च पापिष्ठाश्चित्रमीशसमुद्भवे ॥ २६ ॥
जनस्य चेदृगं तोषस्तदानीमतिमात्रया । पित्रोस्तस्य प्रमोदस्य प्रमा केन विधीयते ॥ २७ ॥

कर्मका बन्ध किया और आयुके अन्तमें समाधिमरण कर सोलहवें अच्युत स्वर्गके पुष्पोत्तर विमानमें अच्युत नामका इन्द्र हुआ। वहाँ बाईस सागर प्रमाण उसकी आयु थी, तीन हाथ ऊँचा शरीर था, और ऊपर जिनका वर्णन आ चुका है ऐसी लेश्या आदिसे सहित था ॥ १३–१४ ॥ दिव्य भावोंको धारण करनेवाली सुन्दर देवियोंके साथ उसने बहुत समय तक प्रतिदिन उत्तमसे उत्तम सुखोंका बड़ी प्रीतिसे उपभोग किया ॥ १५ ॥ कल्पातीत—सोलहवें स्वर्गके आगेके अहमिन्द्र विराग हैं—राग रहित हैं और अन्य देव अल्प सुखवाले हैं इसलिए संसारके सबसे अधिक सुखोंसे संतुष्ट होकर वह अपनी आयु व्यतीत करता था ॥ १६ ॥ वहाँके सुख भोगकर जब वह यहाँ आनेके लिए उद्यत हुआ तब इसी जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें सिंहपुर नगरका स्वामी इक्ष्वाकु वंशसे प्रसिद्ध विष्णु नामका राजा राज्य करता था ॥१७॥ उसकी वल्लभाका नाम सुनन्दा था। सुनन्दाने गर्भधारणके छह माह पूर्वसे ही रत्नवृष्टि आदि कई तरहकी पूजा प्राप्त की थी॥१८॥ ज्येष्ठकृष्ण षष्ठीके दिन श्रवण नक्षत्रमें प्रातःकालके समय उसने सोलह स्वप्न तथा अपने मुखमें प्रवेश करता हुआ हाथी देखा ॥ १९ ॥ पतिसे उनका फल जानकर वह बहुत ही हर्षको प्राप्त हुई। उसी समय इन्द्रोंने आकर गर्भ-कल्याणकका महोत्सव किया ॥ २० ॥ उत्तम सन्तानको धारण करनेवाली सुनन्दाने पूर्वोक्त विधिसे नौ माह बिता कर फाल्गुनकृष्ण एकादशीके दिन विष्णुयोगमें तीन ज्ञानोंके धारक तथा महाभाग्यशाली उस अच्युतेन्द्रको संसारके संतोषके लिए उस प्रकार उत्पन्न किया जिस प्रकार कि मेघमाला उत्तम वृष्टिको उत्पन्न करती है ॥ २१–२२ ॥ जिस प्रकार शरद-ऋतुके आनेपर सब जगहके जलाशय शीघ्र ही प्रसन्न–स्वच्छ हो जाते हैं उसी प्रकार उनका जन्म होते ही सब जीवोंके मन प्रसन्न हो गये थे—हर्षसे भर गये थे ॥ २३ ॥ भगवान्का जन्म होनेपर याचक लोग धन पाकर हर्षित हुए थे, धनी लोग दीन मनुष्योंको संतुष्ट करनेसे हर्षित हुए थे और वे दोनों इष्ट भोग पाकर सुखी हुए थे ॥२४॥ उस समय सब जीवोंको सुख देनेवाली समस्त ऋतुएँ मिलकर अपने-अपने मनोहर भावोंसे प्रकट हुई थीं ॥ २५ ॥ बड़ा आश्चर्य था कि उस समय भगवान्का जन्म होनेपर रोगी मनुष्य नीरोग हो गये थे, शोकवाले शोकरहित हो गये थे, और पापी जीव धर्मात्मा बन गये थे ॥ २६ ॥ जब उस समय साधारण मनुष्योंको इतना संतोष हो रहा था तब माता-पिताके संतोषका प्रमाण कौन

---

१ 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरिवार्थेऽपि समुच्चये' इति कोशः । २ दीनतर्पणात् ग० । ३ सोद्भवाः सहर्षाः "क्षण उद्भव उत्सवः" ।

सचश्चतुर्विधा देवाः कृत्वा तेजोमयं जगत् । स्वाङ्गाभरणभाभारैरापतन्ति स्म सर्वतः ॥ २८ ॥
नेदुर्दुन्दुभयो हृद्याः पेतुः कुसुमवृष्टयः । नेदुरामरनर्तक्यो जगुः स्वादुः [1]द्युगायकाः ॥ २९ ॥
लोकोऽयं देवलोको वा ततश्चात्यद्भुतोदयः । अपूर्वः कोऽप्यभूद्वेति तदासन् [2]द्युसदां गिरः ॥ ३० ॥
[3]पितरौ तस्य सौधर्मः स्वयं सद्भूषणादिभिः । शची देवीं च सन्तोष्य मायया ऽऽदाय बालकम् ॥ ३१ ॥
ऐरावतगजस्कन्धमारोप्यामरसेनया । सहलीलः स सम्प्राप्य महामेरुं महौजसम् ॥ ३२ ॥
पञ्चमाक्षीरपाराक्षीरवारिघटोत्करैः । अभिषिच्य विभूष्येशं श्रेयानित्यवदन्मुदा ॥ ३३ ॥
ततः पुरं समानीय मातुरङ्के निधाय तम् । सुरैरीशः सुरैः सार्द्धं [4]प्रमुदा[5] सुरालये ॥ ३४ ॥
गुणैः सार्द्धमवर्द्धन्त तदास्यावयवाः शुभाः । क्रमात्कान्तिं प्रपुष्यन्तो बालचन्द्रस्य वांशुभिः ॥ ३५ ॥
स खत्रयर्तुपक्षर्तुपड्वत्सरशताब्धिभिः । ऊनसागरकोट्यन्ते पल्यार्द्धे धर्मसन्ततौ ॥ ३६ ॥
व्युच्छिन्नायां तदभ्यन्तरायुः श्रेयःसमुद्भवः । पञ्चशून्ययुगाष्टाब्दजीवितः कनकप्रभः ॥ ३७ ॥
चापाशीतिसमुत्सेधो बलोजस्तेजसां निधिः । एकविंशतिलक्षाब्दकौमार[6]सुखसागरः ॥ ३८ ॥
प्राप्य राज्यं सुरैः पूज्यं सर्वलोकनमस्कृतः । तर्पयँश्चन्द्रवत्सर्वान् दर्पितान् भानुवत्तपन् ॥ ३९ ॥
तेजोमहामणिर्वार्द्धिर्गाम्भीर्यं मलयोद्भवः । शैत्यं धर्म इव श्रेयः सुखं स्वस्याकरोच्चिरम् ॥ ४० ॥
प्राग्जन्मसुकृतायेन[7] कृतायां सर्वसम्पदि । बुद्धिपौरुषयोर्व्याप्तिस्तस्याभूद्धर्मकामयोः ॥ ४१ ॥

बता सकता है ? ॥ २७ ॥ शीघ्र ही चारों निकायके देव अपने शरीर तथा आभरणोंकी प्रभाके समूहसे समस्त संसारको तेजोमय करते हुए चारों ओरसे आ गये ॥ २८ ॥ मनोहर दुन्दुभियाँ बजने लगीं, पुष्प-वर्षाएँ होने लगीं, देव-नर्तकियाँ नृत्य करने लगीं और स्वर्गके गवैया मधुर गान गाने लगे ॥ २९ ॥ 'यह लोक देव लोक है अथवा उससे भी अधिक वैभवको धारण करनेवाला कोई दूसरा ही लोक है' इस प्रकार देवोंके शब्द निकल रहे थे ॥ ३० ॥ सौधर्मेन्द्रने स्वयं उत्तम आभूषणादिसे भगवान्के माता-पिताको संतुष्ट किया और इन्द्राणीने मायासे माताको संतुष्ट कर जिन-बालकको उठा लिया ॥ ३१ ॥ सौधर्मेन्द्र जिन-बालकको ऐरावत हाथीके कन्धे पर विराजमान कर देवोंकी सेनाके साथ लीला-पूर्वक महा-तेजस्वी महामेरु पर्वत पर पहुँचा ॥ ३२ ॥ वहाँ उसने पञ्चम क्षीरसमुद्रसे लाये हुए क्षीर रूप जलके कलशोंके समूहसे भगवान्का अभिषेक किया, आभूषण पहिनाये और बड़े हर्षके साथ उनका श्रेयांस यह नाम रक्खा ॥ ३३ ॥ इन्द्र मेरु पर्वतसे लौटकर नगरमें आया और जिन-बालकको माताकी गोदमें रख, देवोंके साथ उत्सव मनाता हुआ स्वर्ग चला गया ॥ ३४ ॥ जिस प्रकार किरणोंके द्वारा क्रम-क्रमसे कान्तिको पुष्ट करनेवाले बाल-चन्द्रमाके अवयव बढ़ते रहते हैं उसी प्रकार गुणोंके साथ-साथ उस समय भगवान्के शरीरावयव बढ़ते रहते थे ॥ ३५ ॥ शीतलनाथ भगवान्के मोक्ष जानेके बाद जब सौ सागर और छयासठ लाख छब्बीस हजार वर्ष कम एक सागर प्रमाण अन्तराल बीत गया तथा आधे पल्य तक धर्मकी परम्परा टूटी रही तब भगवान् श्रेयांसनाथका जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसी अन्तरालमें शामिल थी। उनकी कुल आयु चौरासी लाख वर्षकी थी। शरीर सुवर्णके समान कान्तिवाला था, ऊँचाई अस्सी धनुष की थी, तथा स्वयं बल, ओज और तेजके भंडार थे। जब उनकी कुमारावस्थाके इकीस लाख वर्ष बीत चुके तब सुखके सागर स्वरूप भगवान्ने देवोंके द्वारा पूजनीय राज्य प्राप्त किया। उस समय सब लोग उन्हें नमस्कार करते थे, वे चन्द्रमाके समान सबको संतृप्त करते थे और अहंकारी मनुष्योंको सूर्यके समान संतापित करते थे ॥३६–३९॥ उन भगवान्ने महामणिके समान अपने आपको तेजस्वी बनाया था, समुद्रके समान गम्भीर किया था, चन्द्रमाके समान शीतल बनाया था और धर्मके समान चिरकाल तक कल्याणकारी श्रुत-स्वरूप बनाया था ॥ ४० ॥ पूर्व जन्ममें अच्छी तरह किये हुए पुण्य-कर्मसे उन्हें सर्व प्रकारकी सम्पदाएँ तो स्वयं प्राप्त हो गई थीं अतः उनकी बुद्धि और पौरुषकी व्याप्ति

---

१ स्वर्गगायकाः । द्युनायकाः ख० । द्युगायनाः ल० । २ दिवि सीदन्तीति द्युसदः तेषाम् देवानाम् । ३ माता च पिता चेति पितरौ मातापितरौ, एकशेषः । ४ प्रसन्नो भूत्वा । ५ आर जगाम । ६ कौमारे सु-ल० । ७ पूर्वजन्मसुविहितपुण्यकर्मणा ।

तथा शुभविनोदेषु देवैः पुण्यानुबन्धिषु । सम्पादितेषु कान्ताभिर्दिनान्यारमतोऽगमन् ॥ ४२ ॥
एवं पञ्चचतुष्पक्षाब्धिमितसंवत्सरावधौ । राज्यकालेऽयमन्येद्युर्वसन्तपरिवर्तनम् ॥ ४३ ॥
विलोक्य किल कालेन सर्वं ग्रासीकृतं जगत् । सोऽपि कालो व्ययं याति क्षणादिपरिवर्तनैः ॥ ४४ ॥
कस्यान्यस्य स्थिरीभावो विश्वमेतद्विनश्वरम् । शाश्वतं न पदं यावत् प्राप्यते सुस्थितिः कुतः ॥ ४५ ॥
इति स चिन्तयन् लब्धस्तुतिः सारस्वतादिभिः । श्रेयस्करे समारोप्य सुते राज्यं सुराधिपैः ॥ ४६ ॥
प्राप्य निष्क्रमणस्नानमारुह्य विमलप्रभाम् । शिबिकां देवसंवाह्यां त्यक्ताहारो दिनद्वयम् ॥ ४७ ॥
मनोहरमहोद्याने फाल्गुनैकादशीदिने । कृष्णपक्षे सहस्रेण पूर्वाह्णे भूभुजां समम् ॥ ४८ ॥
श्रवणे संयमं प्राप्य चतुर्थावगमेन सः । दिने द्वितीये सिद्धार्थनगरं भुक्तयेऽविशत् ॥ ४९ ॥
तस्मै हेमद्युतिर्नन्दभूपतिर्भक्तिपूर्वकम् । दत्त्वाऽन्नं प्राप्य सत्पुण्यं पञ्चाश्चर्याण्यजर्यधीः ॥ ५० ॥
द्विसंवत्सरमानेन छाद्मस्थ्ये गतवत्यसौ । मुनिर्मनोहरोद्याने तुम्बुरद्रुमसंश्रयः ॥ ५१ ॥
दिनद्वयोपवासेन माघे मास्यपराह्णगः । श्रवणे कृष्णपक्षान्ते कैवल्यमुदपादयत् ॥ ५२ ॥
तदा चतुर्थकल्याणपूजां देवाश्चतुर्विधाः । तस्य निर्वर्तयामासुर्विविधर्द्धिसमन्विताः ॥ ५३ ॥
सप्तसप्ततिकुन्थ्वादिगणभृद्वृन्दवेष्टितः । शून्यद्वयानलैकोक्तसर्वपूर्वधरान्वितः ॥ ५४ ॥
खद्वयद्वयष्टवार्ध्युक्तशिक्षकोत्तमपूजितः । शून्यत्रितयषट्प्रोक्ततृतीयज्ञानमानितः ॥ ५५ ॥
शून्यद्वयेन्द्रियर्तूक्तपञ्चमज्ञानभास्करः । शून्यत्रिकैकैकाख्येयविक्रियर्द्धिविभूषितः ॥ ५६ ॥

सिर्फ धर्म और काममें ही रहती थी। भावार्थ—उन्हें अर्थकी चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी ॥ ४१ ॥ देवोंके द्वारा किये हुए पुण्यानुबन्धी शुभ विनोदोंमें स्त्रियोंके साथ क्रीडा करते हुए उनके दिन व्यतीत हो रहे थे ॥ ४२ ॥ इस प्रकार बयालीस वर्ष तक उन्होंने राज्य किया। तदनन्तर किसी दिन वसन्त ऋतुका परिवर्तन देखकर वे विचार करने लगे कि जिस कालने इस समस्त संसारको ग्रस्त कर रक्खा है वह काल भी जब क्षण घड़ी घंटा आदिके परिवर्तनसे नष्ट होता जा रहा है तब अन्य किस पदार्थमें स्थिरता रह सकती है ? यथार्थमें यह समस्त संसार विनश्वर है, जब तक शाश्वत पद—अविनाशी मोक्ष पद नहीं प्राप्त कर लिया जाता है तब तक एक जगह सुखसे कैसे रहा जा सकता है ? ॥ ४३–४५ ॥ भगवान् ऐसा विचार कर ही रहे थे कि उसी समय सारस्वत आदि लौकान्तिक देवोंने आकर उनकी स्तुति की। उन्होंने श्रेयस्कर पुत्रके लिए राज्य दिया, इन्द्रोंके द्वारा दीक्षा-कल्याणकके समय होनेवाला महाभिषेक प्राप्त किया और देवोंके द्वारा उठाई जानेके योग्य विमलप्रभा नामकी पालकी पर सवार होकर मनोहर नामक महान् उद्यानकी ओर प्रस्थान किया। वहाँ पहुँच कर उन्होंने दो दिनके लिए आहारका त्याग कर फाल्गुन कृष्ण एकादशीके दिन प्रातःकालके समय श्रवण नक्षत्रमें एक हजार राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया। उसी समय उन्हें चौथा मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। दूसरे दिन उन्होंने भोजनके लिए सिद्धार्थ नगरमें प्रवेश किया ॥ ४६–४९ ॥ वहाँ उनके लिए सुवर्णके समान कान्तिवाले नन्द राजाने भक्ति-पूर्वक आहार दिया जिससे उत्तम बुद्धिवाले उस राजाने श्रेष्ठ पुण्य और पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ ५० ॥ इस प्रकार छद्मस्थ अवस्थाके दो वर्ष बीत जाने पर एक दिन महामुनि श्रेयांसनाथ मनोहर नामक उद्यानमें दो दिनके उपवासका नियम लेकर तुम्बुर वृक्षके नीचे बैठे और वहीं पर उन्हें माघकृष्ण अमावस्याके दिन श्रवण नक्षत्रमें सायंकालके समय केवलज्ञान उत्पन्न हो गया ॥ ५१–५२ ॥ उसी समय अनेक ऋद्धियोंसे सहित चार निकायके देवोंने उनके चतुर्थ कल्याणककी पूजा की ॥ ५३ ॥

भगवान् कुन्थुनाथ, कुन्थु आदि सतहत्तर गणधरोंके समूहसे घिरे हुए थे, तेरहसौ पूर्वधारियोंसे सहित थे, अड़तालीस हजार दो सौ उत्तम शिक्षक मुनियोंके द्वारा पूजित थे, छह हजार अवधिज्ञानियोंसे सम्मानित थे, छह हजार पाँचसौ केवलज्ञानी रूपी सूर्योंसे सहित थे, ग्यारह हजार विक्रिया-ऋद्धि के धारकोंसे सुशोभित थे, छह हजार मनःपर्ययज्ञानियोंसे युक्त थे, और पाँच हजार मुख्य वादियोंसे सेवित थे। इस प्रकार सब मिलाकर चौरासी हजार मुनियोंसे सहित थे। इनके सिवाय

षट्सहस्रप्रमाप्रोक्तमनःपर्ययवीक्षणः । शून्यत्रितयपञ्चोक्तवादिमुख्यसमाश्रितः ॥ ५७ ॥
शून्यत्रययुगाष्टोक्तपिण्डिताखिललक्षितः । खचतुष्टयपक्षैकधारणार्यिकार्चितः ॥ ५८ ॥
द्विलक्षोपासकोपेतो द्विगुणश्राविकार्चितः । पूर्वोक्तदेवतिर्यंको विहरन् धर्ममादिशन् ॥ ५९ ॥
सम्मेदगिरिमासाद्य[1] निष्क्रियो मासमास्थितः । सहस्रमुनिभिः सार्द्धं प्रतिमायोगधारकः ॥ ६० ॥
पौर्णमास्यां धनिष्ठायां दिनान्ते श्रावणे सताम् । असङ्ख्यातगुणश्रेण्या निर्जरां व्यदधन् मुहुः ॥ ६१ ॥
विध्वस्य विश्वकर्माणि ध्यानाभ्यां स्थानपञ्चके । पञ्चमीं गतिमध्यास्य सिद्धः श्रेयान् सुनिवृतः ॥ ६२ ॥
[2]विफलानिमिषत्वा स्मो विनास्मादिति वा सुराः । कृतनिर्वाणकल्याणास्तदैव त्रिदिवं ययुः ॥ ६३ ॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

निर्धूय यस्य निजजन्मनि सत्समस्त-
मान्ध्यं चराचरमशेषमवेक्षमाणम् ।
ज्ञानं प्रतीपविरहाज्जिजरूपसंस्थं
श्रेयान् जिनः स दिशतादशिवच्युतिं वः ॥ ६४ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

मार्गदर्शक :- सुविधिसागर जी महाराज

सत्यं सार्वदयामयं तव वचः सर्वं सुहृज्जनो हितं
चारित्रं च विभोस्तदेतदुभयं ब्रूते विशुद्धिं पराम् ।
तस्मादेव समाश्रयन्ति विबुधास्त्वामेव शक्रादयो
भक्त्येति स्तुतिगोचरो स विदुषां श्रेयान् स वः श्रेयसे ॥ ६५ ॥

राजाभून्नलिनप्रभः प्रभुतमः प्रध्वस्तपापप्रभः
कल्पान्ते सकलामराधिपपतिः सङ्कल्पसौख्याकरः ।

एक लाख बीस हजार धारणा आदि आर्यिकाएँ उनकी पूजा करती थीं, दो लाख श्रावक और चार लाख श्राविकाएँ उनके साथ थीं, पहले कहे अनुसार असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यञ्च सदा उनके साथ रहते थे। इस प्रकार विहार करते और धर्मका उपदेश देते हुए वे सम्मेदशिखर पर जा पहुँचे। वहाँ एक माह तक योग-निरोध कर एक हजार मुनियोंके साथ उन्होंने प्रतिमायोग धारण किया। श्रावणशुक्ला पौर्णमासीके दिन सायंकालके समय धनिष्ठा नक्षत्रमें विद्यमान कर्मोंकी असंख्यातगुणश्रेणी निर्जरा की और अ इ उ ऋ लृ इन पाँच लघु अक्षरोंके उच्चारणमें जितना समय लगता है उतने समयमें अन्तिम दो शुक्लध्यानोंसे समस्त कर्मोंको नष्ट कर पञ्चमी गतिमें स्थित हो वे भगवान् श्रेयांसनाथ मुक्त होते हुए सिद्ध हो गये ॥ ५४–६२ ॥ इसके बिना हमारा टिमकाररहित-पना व्यर्थ है ऐसा विचार कर देवोंने उसी समय उनका निर्वाण-कल्याणक किया और उत्सव कर सब स्वर्ग चले गये ॥ ६३ ॥

जिनके ज्ञानने उत्पन्न होते ही समस्त अन्धकारको नष्ट कर सब चराचर विश्वको देख लिया था, और कोई प्रतिपक्षी न होनेसे जो अपने ही स्वरूपमें स्थित रहा था ऐसे श्री श्रेयांसनाथ जिनेन्द्र तुम सबका अकल्याण दूर करें ॥ ६४ ॥ 'हे प्रभो ! आपके वचन सत्य, सबका हित करने-वाले तथा दयामय हैं। इसी प्रकार आपका समस्त चारित्र सुहृत् जनोंके लिए हितकारी है। हे भग-वन् ! आपकी ये दोनों वस्तुएँ आपकी परम विशुद्धिको प्रकट करती हैं। हे देव ! इसीलिए इन्द्र आदि देव भक्ति-पूर्वक आपका ही आश्रय लेते हैं। इस प्रकार विद्वान् लोग जिनकी स्तुति किया करते हैं ऐसे श्रेयांसनाथ भगवान् तुम सबके कल्याणके लिए हों ॥ ६५ ॥ जो पहले पापकी प्रभाको नष्ट करनेवाले श्रेष्ठतम नलिनप्रभ राजा हुए, तदनन्तर अन्तिम कल्पमें संकल्प मात्रसे प्राप्त होनेवाले

१–माश्रित्य ब० । २ विफलम् अनिमिषत्वं पक्ष्मस्पन्दराहित्यं येषां तथाभूताः ।

यस्तीर्थाधिपतिस्त्रिलोकमहितः श्रीमान् श्रियै श्रेयसं
स्याद्वादं प्रतिपाद्य सिद्धिमगमत् श्रेयान् जिनः सोऽस्तु वः ॥ ६६ ॥

[1]जिनसेनानुगायास्मै पुराणकवये नमः । गुणभद्रभदन्ताय लोकसेनार्चिताङ्घ्रये ॥ ६७ ॥

तीर्थेऽस्मिन् केशवः श्रीमानभूदाद्यः समुद्यमी । भरतश्चक्रिणां वासौ त्रिखण्डपरिपालिनाम् ॥ ६८ ॥

आतृतीयभवात्तस्य चरितं प्रणिगद्यते । उदितास्तगभूपानामुदाहरणमित्यदः ॥ ६९ ॥

द्वीपेऽस्मिन् भारते क्षेत्रे विषयो मगधाह्वयः । पुरं राजगृहं तस्मिन् पुरन्दरपुरोत्तमम् ॥ ७० ॥

स्वर्गादेत्यात्र भूष्णूनां राज्ञां यद्गृहमेव तत् । भोगोपभोगसम्पत्त्या नाम तस्यार्थवत्ततः ॥ ७१ ॥

विश्वभूतिः पतिस्तस्य जैनी देव्यनयोस्सुतः । विश्वनन्दनशीलत्वाद्विश्वनन्दीति विश्रुतः ॥ ७२ ॥

विश्वभूतेर्विशाखादिभूतिर्जातोऽनुजः प्रिया । लक्ष्मणाख्यास्य नन्द्यन्तविशाखस्तनयोऽनयोः ॥ ७३ ॥

विश्वभूतिस्तपः प्रायात् कृत्वा राज्ये निजानुजम् । प्रजाः प्रपालयत्यस्मिन्प्रणताखिलभूपतौ ॥ ७४ ॥

नानावीरुल्लतावृक्षैर्विराजन्नन्दनं वनम् । यद्विश्वनन्दिनस्तत्र प्राणेभ्योऽपि प्रियं परम् ॥ ७५ ॥

विशाखभूतिपुत्रेण निर्भर्त्स्य वनपालकान् । स्वीकृतं तद्बलात्तेन तेनासीत्संयुगस्तयोः ॥ ७६ ॥

संग्रामासहनात्तत्र दृष्ट्वा तस्य पलायनम् । विश्वनन्दी विरक्तः सन् धिग्मोहमिति चिन्तयन् ॥ ७७ ॥

त्यक्त्वा सर्वं समागत्य सम्भूतगुरुसन्निधौ । पितृव्यमग्रणीकृत्य संयमं प्रत्यपद्यत ॥ ७८ ॥

स शीलगुणसम्पन्नः कुर्वन्ननशनं तपः । विहरन्नेकदा भोक्तुं प्राविशन् मथुरापुरम् ॥ ७९ ॥

सुखोंकी खान स्वरूप, समस्त देवोंके अधिपति—अच्युतेन्द्र हुए और फिर त्रिलोकपूजित तीर्थंकर होकर कल्याणकारी स्याद्वादका उपदेश देते हुए मोक्षको प्राप्त हुए ऐसे श्रीमान् श्रेयान्सनाथ जिनेन्द्र तुम सबकी लक्ष्मीके लिए हों—तुम सबको लक्ष्मी प्रदान करें ॥ ६६ ॥

[जो जिनसेनके अनुगामी हैं—शिष्य हैं तथा लोकसेन नामक शिष्यके द्वारा जिनके चरण-कमल पूजित हुए हैं और जो इस पुराणके बनानेवाले कवि हैं ऐसे भदन्त गुणभद्राचार्यको नमस्कार हो ॥ ६७ ॥]

जिस प्रकार चक्रवर्तियोंमें प्रथम चक्रवर्ती भरत हुआ उसी प्रकार श्रेयान्सनाथके तीर्थमें तीन खण्डको पालन करनेवाले नारायणोंमें उद्यमी प्रथम नारायण हुआ ॥ ६८ ॥ उसीका चरित्र तीसरे भवसे लेकर कहता हूँ । यह उदय तथा अस्त होनेवाले राजाओंका एक अच्छा उदाहरण है ॥ ६९ ॥ इस जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें एक मगधनामका देश है उसमें राजगृह नामका नगर है जो कि इन्द्रपुरी से भी उत्तम है ॥ ७० ॥ स्वर्गसे आकर उत्पन्न होनेवाले राजाओंका यह घर है इसलिए भोगोपभोग-की सम्पत्तिकी अपेक्षा उसका 'राजगृह' यह नाम सार्थक है ॥ ७१ ॥ किसी समय विश्वभूति राजा उस राजगृह नगरका स्वामी था, उसकी रानीका नाम जैनी था । इन दोनोंके एक पुत्र था जो कि सबके लिए आनन्ददायी स्वभाव वाला होनेके कारण विश्वनन्दी नामसे प्रसिद्ध था ॥ ७२ ॥ विश्व-भूतिके विशाखभूति नामका छोटा भाई था, उसेकी स्त्रीका नाम लक्ष्मणा था और उन दोनोंके विशाखनन्दी नामका पुत्र था ॥७३ ॥ विश्वभूति अपने छोटे भाईको राज्य सौंपकर तपके लिए चला गया और समस्त राजाओंको नम्र बनाता हुआ विशाखभूति प्रजाका पालन करने लगा ॥ ७४ ॥ उसी राजगृह नगरमें नाना गुल्मों, लताओं और वृक्षोंसे सुशोभित एक नन्दन नामका बाग था जो कि विश्वनन्दीको प्राणोंसे अधिक प्यारा था ॥ ७५ ॥ विशाखभूतिके पुत्रने वनवालोंको डाँट कर जबर्दस्ती वह वन ले लिया जिससे उन दोनों—विश्वनन्दी और विशाखनन्दीमें युद्ध हुआ ॥ ७६ ॥ विशाखनन्दी उस युद्धको नहीं सह सका अतः भाग खड़ा हुआ । यह देखकर विश्वनन्दीको वैराग्य उत्पन्न हो गया और वह विचार करने लगा कि इस मोहको धिक्कार है ॥ ७७ ॥ वह सबको छोड़कर सम्भूत गुरुके समीप आया और काका विशाखभूतिको अग्रगामी बनाकर अर्थात् उसे साथ लेकर दीक्षित हो गया ॥ ७८ ॥ वह शील तथा गुणोंसे सम्पन्न होकर अनशन तप करने लगा तथा

---

१ अयं श्लोकः प्रक्षिप्तो भाति ।

स बालवत्सया धेन्वा क्रुधा प्रतिहतोऽपतत् । दौष्ट्यान्निर्वासितो देशान् भ्राम्यंस्तत्रागतो विधीः ॥८०॥
विशाखनन्दी तं दृष्ट्वा वेश्यासौधतले स्थितः । व्यहसद्विक्रमस्तेऽद्य क्व यातः स इति क्रुधा ॥ ८१ ॥
सशल्यः सोऽपि तच्छ्रुत्वा सनिदानोऽसुसङ्क्षये । महाशुक्रेऽभवद्देवो यत्रासीदनुजः पितुः ॥ ८२ ॥
[1]षोडशाब्ध्यायुषा दिव्यभोगान् देव्यप्सरोगणैः । ईप्सिताननुभूयासौ ततः प्रच्युत्य भूतले ॥ ८३ ॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते क्षेत्रे[2] सुरम्यविषये पुरे । प्रजापतिर्महाराजः पोदनाख्येऽभवत्पतिः ॥ ८४ ॥
प्राणप्रिया महादेवी तस्याजनि मृगावती । तस्यां सस्वप्नवीक्षान्ते त्रिपृष्ठाख्यः सुतोऽभवत् ॥ ८५ ॥
पितृव्योऽपि च्युतस्तस्मात्तोको[3]ऽभूत्तन्महीपतेः । जयावत्यां [4]पुरे चैत्य विक्रमी विजयाह्वयः ॥ ८६ ॥
भ्रमन् विशाखनन्दी च चिरं संसारचक्रके । विजयार्द्धोत्तरश्रेण्यामलकाख्यपुरेशिनः ॥ ८७ ॥
मयूरग्रीवसंज्ञस्य स्वपुण्यपरिपाकतः । हयग्रीवाह्वयः सूनुरजायत जितारिराट् ॥ ८८ ॥
अशीतिचापदेहौ तावादिमौ रामकेशवौ । पञ्चशून्ययुगाष्टाब्दनिर्भङ्गपरमायुषौ ॥ ८९ ॥
शङ्खेन्द्रनीलसङ्काशौ हत्वाऽश्वग्रीवमुद्धतम् । त्रिखण्डमण्डितायास्तां विहाभूतां पती क्षितेः ॥ ९० ॥
द्विगुणाष्टसहस्राणां मुकुटाङ्कमहीभुजाम् । खगव्यन्तरदेवानामाधिपत्यं समीयतुः ॥ ९१ ॥
त्रिपृष्टस्य धनुःशङ्खचक्रदण्डासिशक्तयः । गदा च सप्तरत्नानि रक्षितान्यभवत्सुरैः ॥ ९२ ॥
रामस्यापि गदा रत्नमाला [5]समुशलं हलम् । श्रद्धानज्ञानचारित्रतपांसीवाभवन्त्रिये ॥ ९३ ॥
देव्यः स्वयम्प्रभामुख्या [6]मुकुटेशप्रमा बभुः । केशवस्य तदर्द्धास्ता रामस्यापि मनःप्रियाः ॥ ९४ ॥

विहार करता हुआ एक दिन मथुरा नगरीमें प्रविष्ट हुआ ॥ ७९ ॥ वहाँ एक छोटे बछड़ेवाली गायने क्रोधसे धक्का दिया जिससे वह गिर पड़ा। दुष्टताके कारण राज्यसे बाहर निकाला हुआ मूर्ख विशाखनन्दी अनेक देशोंमें घूमता हुआ उसी मथुरानगरीमें आकर रहने लगा था। वह उस समय एक वेश्याके मकानकी छतपर बैठा था। वहाँसे उसने विश्वनन्दीको गिरा हुआ देखकर क्रोधसे उसकी हँसी की कि तुम्हारा वह पराक्रम आज कहाँ गया ? ॥ ८०–८१ ॥ विश्वनन्दीको कुछ शल्य थी अतः उसने विशाखनन्दीकी हँसी सुनकर निदान किया। तथा प्राणक्षय होनेपर महाशुक्र स्वर्गमें जहाँ कि पिताका छोटा भाई उत्पन्न हुआ था, देव हुआ ॥ ८२ ॥ वहाँ सोलह सागर प्रमाण उसकी आयु थी। समस्त आयु भर देवियों और अप्सराओंके समूहके साथ मनचाहे भोग भोगकर वहाँसे च्युत हुआ और इस पृथिवी तल पर जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्रके सुरम्य देशमें पोदनपुर नगरके राजा प्रजापतिकी प्राणप्रिया मृगावती नामकी महादेवीके शुभ स्वप्न देखनेके बाद त्रिपृष्ठ नामका पुत्र हुआ ॥ ८३–८५ ॥ काकाका जीव भी वहाँसे—महाशुक्र स्वर्ग से च्युत होकर इसी नगरीके राजाकी दूसरी पत्नी जयावतीके विजय नामका पुत्र हुआ ॥ ८६ ॥ और विशाखनन्दी चिरकाल तक संसार-चक्रमें भ्रमण करता हुआ विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीकी अलका नगरीके स्वामी मयूरग्रीव राजाके अपने पुण्योदयसे शत्रु राजाओंको जीतनेवाला अश्वग्रीव नामका पुत्र हुआ ॥ ८७–८८ ॥ इधर विजय और त्रिपृष्ठ दोनों ही प्रथम बलभद्र तथा नारायण थे, उनका शरीर अस्सी धनुष ऊँचा था और चौरासी लाख वर्षकी उनकी आयु थी ॥ ८९ ॥ विजयका शरीर शंखके समान सफेद था और त्रिपृष्ठका शरीर इन्द्रनीलमणिके समान नील था। वे दोनों उद्दण्ड अश्वग्रीवको मारकर तीन खण्डोंसे शोभित पृथिवीके अधिपति हुए थे ॥ ९० ॥ वे दोनों ही सोलह हजार मुकुट-बद्ध राजाओं, विद्याधरों एवं व्यन्तर देवोंके आधिपत्यको प्राप्त हुए थे ॥ ९१ ॥ त्रिपृष्ठके धनुष, शंख, चक्र, दण्ड, असि, शक्ति और गदा ये सात रत्न थे जो कि देवोंसे सुरक्षित थे ॥ ९२ ॥ बलभद्रके भी गदा, रत्नमाला, मुसल और हल, ये चार रत्न थे जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपके समान लक्ष्मीको बढ़ानेवाले थे ॥ ९३ ॥ त्रिपृष्ठकी स्वयंप्रभाको आदि लेकर सोलह हजार स्त्रियाँ थीं और बलभद्रके

---

१ एष पाठः क०-ख०-ग०-घ०-प्रतिसंमतः, षोडशाब्धिसमायुर्दिव्यभोगानप्सरोगणैः ल०। २ वर्षे ल० । ३ पुत्रः । 'पुत्रः सूनुरपत्यं च तुक्लोकौ चात्मजः सुतः ।' इति कोशः । ४ परैवैत्य ल० । ५ समुसलं ग० । ६ मुकुटबद्धराजप्रमाणाः षोडशसहस्रप्रमिता इति यावत् ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

स संरम्य चिरं ताभिर्बद्धारम्भपरिग्रहः । सप्तमीं पृथिवीं प्राप केशवश्चाश्वकन्धरः ॥ ९५ ॥
सीरपाणिश्च तद्दुःखात्तदैवादाय संयमम् । सुवर्णकुम्भयोगीन्द्रादभूदगृहकेवली ॥ ९६ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

कृत्वा राज्यममू सहैव सुचिरं भुक्त्वा सुखं तादृशं
पृथ्वीमूलमगात्किलाखिलमहादुःखालयं केशवः ।
रामो धाम परं सुखस्य जगतां मूर्द्धानमध्यास्त धिक्
दुष्टं कः सुखभाग्विलोमगविधिं यावन्न हन्यादमुम् ॥ ९७ ॥

उपजातिच्छन्दः

प्राग्विश्वनन्दीति विशामधीशस्ततो महाशुक्रमधिष्ठितोऽमरः ।
पुनस्त्रिपृष्टो भरतार्द्धचक्री चिताघकः सप्तमभूमिमाश्रयत् ॥ ९८ ॥

वंशस्थवृत्तम्

विशाखभूतिर्धरणीपतिर्यमी मरुन्महाशुक्रगतस्ततश्च्युतः ।
हलायुधोऽसौ विजयाह्वयः क्षयं भवं स नीत्वा परमात्मतामितः ॥ ९९ ॥
विशाखनन्दी विहतप्रतापो[1] व्यसुः परिभ्रम्य भवे चिरं ततः ।
खगाधिनाथो हयकन्धराह्वयो रिपुस्त्रिपृष्टस्य ययावधोगतिम् ॥ १०० ॥
इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे श्रेयस्तीर्थंकरत्रिपृष्ट-
विजयाश्वग्रीवपुराणं परिसमाप्तं सप्तपञ्चाशत्तमं पर्व ॥ ५७ ॥

—+-+-+—

चित्तको प्रिय लगनेवाली आठ हजार स्त्रियाँ थीं ॥ ९४ ॥ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहको धारण करनेवाला त्रिपृष्ठ नारायण उन स्त्रियोंके साथ चिरकाल तक रमण कर सातवीं पृथिवीको प्राप्त हुआ—सप्तम नरक गया। इसी प्रकार अश्वग्रीव प्रतिनारायण भी सप्तम नरक गया ॥ ९५ ॥ बलभद्रने भाईके दुःखसे दुःखी होकर उसी समय सुवर्णकुम्भ नामक योगिराजके पास संयम धारण कर लिया और क्रम-क्रमसे अनगारकेवली हुआ ॥ ९६ ॥ देखो, त्रिपृष्ठ और विजयने साथ ही साथ राज्य किया, और चिरकाल तक अनुपम सुख भोगे परन्तु नारायण-त्रिपृष्ठ समस्त दुःखोंके महान् गृह स्वरूप सातवें नरकमें पहुँचा और बलभद्र सुखके स्थानभूत त्रिलोकके अग्रभाग पर जाकर अधिष्ठित हुआ इसलिए प्रतिकूल रहनेवाले इस दुष्ट कर्मको धिक्कार हो। जब तक इस कर्मको नष्ट नहीं कर दिया जावे तब तक इस संसारमें सुखका भागी कौन हो सकता है ? ॥ ९७ ॥ त्रिपृष्ठ, पहले तो विश्वनन्दी नामका राजा हुआ फिर महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ, फिर त्रिपृष्ठ नामका अर्धचक्री—नारायण हुआ और फिर पापोंका संचय कर सातवें नरक गया ॥ ९८ ॥ बलभद्र, पहले विशाखभूति नामका राजा था फिर मुनि होकर महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ, वहाँसे चयकर विजय नामका बलभद्र हुआ और फिर संसारको नष्ट कर परमात्म-अवस्थाको प्राप्त हुआ ॥ ९९ ॥ प्रतिनारायण पहले विशाखनन्दी हुआ, फिर प्रताप रहित हो मरकर चिरकाल तक संसारमें भ्रमण करता रहा, फिर अश्वग्रीव नामका विद्याधर हुआ जो कि त्रिपृष्ठ नारायणका शत्रु होकर अधोगति—नरक गतिको प्राप्त हुआ ॥ १०० ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टि लक्षण महापुराण संग्रहमें श्रेयांसनाथ तीर्थंकर त्रिपृष्टनारायण, विजय बलभद्र और अश्वग्रीव प्रतिनारायणके पुराणका वर्णन करनेवाला सत्तावनवाँ पर्व समाप्त हुआ

—:※:—

१ अत्र छन्दोभङ्गः, 'विहतप्रतापकः' इति पाठो भवेत् ।

अष्टपञ्चाशत्तमं पर्व

[1]वासोरिन्द्रस्य पूज्योऽयं वसुपूज्यस्य वा सुतः । वासुपूज्यः सतां पूज्यः स ज्ञानेन पुनातु नः ॥ १ ॥
पुष्करार्द्धेन्द्रदिग्मेरुसीतापाग्वत्सकावती–। [2]विषये ख्यातरत्नादिपुरे पद्मोत्तरः पतिः ॥ २ ॥
कीर्तिर्गुणमयी वाचि मूर्तिः पुण्यमयीक्षणे । वृत्तिर्धर्ममयी चित्ते सर्वेषामस्य भूभुजः ॥ ३ ॥
शान्तिर्वाचि दया चित्ते धाम तेहे नयो मतौ । धनं दाने जिने भक्तिः प्रतापस्तस्य शत्रुषु ॥ ४ ॥
पाति तस्मिन् भुवं भूपे न्यायमार्गानुवर्तिनि । वृद्धिमेव प्रजाः प्रापुर्मुनौ समितयो यथा ॥ ५ ॥
[3]गुणास्तस्य धनं लक्ष्मीस्तदीयापि[4] गुणप्रिया । तया सह ततो दीर्घं निर्द्वन्द्वं सुखमाप्नुवन् ॥ ६ ॥
स कदाचित् समासीनं मनोहरगिरौ जिनम् । युगन्धराह्वयं स्तोत्रैरुपास्य खलु भक्तिमान् ॥ ७ ॥
श्रुत्वा सप्रश्रयो धर्ममनुप्रेक्षानुचिन्तनात् । जातत्रिभेदनिर्वेगः[5] पुनश्चेत्यप्यचिन्तयत् ॥ ८ ॥
श्रियो माया सुखं दुःखं [6]विश्रसावधि जीवितम् । संयोगो विप्रयोगान्तः कायोऽयं [7]सामयः खलः ॥९॥
कात्र प्रीतिरहं जन्मपञ्चावर्तान्महाभयात् । निर्गच्छाम्यवलम्ब्यैतां काललब्धिमुपस्थिताम् ॥ १० ॥
ततो राज्यभरं पुत्रे धनमित्रे नियोज्य सः । महीशैर्बहुभिः सार्द्धमदीक्षिष्टात्मशुद्धये ॥ ११ ॥
अधीत्यैकादशाङ्गानि श्रद्धानाद्याससम्पदा । बद्ध्वा तीर्थंकरं नाम प्रान्ते संन्यस्य शुद्धधीः ॥ १२ ॥

जो वासु अर्थात् इन्द्रके पूज्य हैं अथवा महाराज वसुपूज्यके पुत्र हैं और सज्जन लोग जिनकी पूजा करते हैं ऐसे वासुपूज्य भगवान् अपने ज्ञानसे हम सबको पवित्र करें ॥ १ ॥ पुष्करार्ध द्वीपके पूर्व मेरुकी ओर सीता नदीके दक्षिण तट पर वत्सकावती नामका एक देश है। उसके अतिशय प्रसिद्ध रत्नपुर नगरमें पद्मोत्तर नामका राजा राज्य करता था ॥ २ ॥ उस राजाकी गुणमयी कीर्ति सबके वचनोंमें रहती थी, पुण्यमयी मूर्ति सबके नेत्रोंमें रहती थी, और धर्ममयी वृत्ति सबके चित्तमें रहती थी ॥ ३ ॥ उसके वचनोंमें शान्ति थी, चित्तमें दया थी, शरीरमें तेज था, बुद्धिमें नीति थी, दानमें धन था, जिनेन्द्र भगवान्‌में भक्ति थी और शत्रुओंमें प्रताप था अर्थात् अपने प्रतापसे शत्रुओंको नष्ट करता था ॥ ४ ॥ जिस प्रकार न्यायमार्गसे चलनेवाले मुनिमें समितियाँ बढ़ती रहती हैं उसी प्रकार न्यायमार्गसे चलनेवाले उस राजाके पृथिवीका पालन करते समय प्रजा खूब बढ़ रही थी ॥ ५ ॥ उसके गुण ही धन था तथा उसकी लक्ष्मी भी गुणोंसे प्रेम करनेवाली थी इसलिए वह उस लक्ष्मीके साथ बिना किसी प्रतिबन्धके विशाल सुख प्राप्त करता रहता था ॥ ६ ॥ किसी एक दिन मनोहर नामके पर्वत पर युगन्धर जिनराज विराजमान थे। पद्मोत्तर राजाने वहाँ जाकर भक्तिपूर्वक अनेक स्तोत्रोंसे उनकी उपासना की ॥ ७ ॥ विनयपूर्वक धर्म सुना और अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन किया। अनुप्रेक्षाओंके चिन्तवनसे उसे संसार, शरीर और भोगोंसे तीन प्रकारका वैराग्य उत्पन्न हो गया। वैराग्य होने पर वह इस प्रकार पुनः चिन्तवन करने लगा ॥ ८ ॥ कि यह लक्ष्मी माया रूप है, सुख दुःखरूप है, जीवन मरण पर्यन्त है, संयोग-वियोग होने तक है और यह दुष्ट शरीर रोगोंसे सहित है ॥ ९ ॥ अतः इन सबमें क्या प्रेम करना है ? अब तो मैं उपस्थित हुई इस काललब्धिका अवलम्बन लेकर अत्यन्त भयानक इस संसार रूपी पञ्च परावर्तनोंसे बाहर निकलता हूँ ॥ १० ॥ ऐसा विचार कर उसने राज्यका भार धनमित्र नामक पुत्रके लिए सौंपा और स्वयं आत्म-शुद्धिके लिए अनेक राजाओंके साथ दीक्षा ले ली ॥ ११ ॥ निर्मल बुद्धिके धारक पद्मोत्तर मुनिने ग्यारह अंगोंका अध्ययन किया, दर्शनविशुद्धि

---

१ वासुना इन्द्रेण पूज्यः वासुपूज्यः, अथवा वसुपूज्यस्य अपत्यं वासुपूज्यः । २ विषयख्यात ख० । ३ गुणस्तस्य ग०, ल० । ४ तद्दायापि ल० (?) । ५ निर्वेदः ल० । ६ मरणावधि । ७ सामयः सरोगः ।

महाशुक्रविमानेऽभून्महाशुक्रोऽमराधिपः । षोडशाब्धिप्रमाणायुश्चतुर्हस्तशरीरभाक् ॥ १३ ॥
पद्मलेश्यः श्वसन्मासैरष्टभिस्तुष्टमानसः । षोडशाब्दसहस्रान्ते मानसाहारमाहरन् ॥ १४ ॥
सदा शब्दप्रवीचारश्चतुर्थक्ष्मागतावधिः । प्रभावधिरिवैतस्य विक्रियाबलतेजसाम् ॥ १५ ॥
तत्रामरीकलालापगीतवाद्यादिमोदिते । चोदिते कालपर्यायैस्तस्मिन्नत्रागमिष्यति ॥ १६ ॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते चम्पानगरेऽङ्गनराधिपः । इक्ष्वाकुः काश्यपः ख्यातो वसुपूज्योऽस्य भामिनी ॥ १७ ॥
प्रिया जयावती प्राप्तवसुधारादिमानना । आषाढकृष्णषष्ठ्यन्ते चतुर्विंशर्क्षलक्षिते ॥ १८ ॥
दृष्ट्वा स्वप्नान् फलं तेषां पत्युर्ज्ञात्वाऽतितोषिणी । अष्टौ मासान् क्रमान्नीत्वा प्राप्तफाल्गुनमासिका ॥१९॥
कृष्णायां [1]वारुणे योगे चतुर्दश्यां सुरोत्तमम् । सर्वप्राणिहितं पुत्रं सुखेनेयमजीजनत् ॥ २० ॥
सुराः सौधर्ममुख्यास्तं सुराद्रौ क्षीरसागरात् । घटैरानीय पानीयं स्नपयित्वा प्रसाधनम् ॥ २१ ॥
विधाय वासुपूज्यं च नामादाय पुनर्गृहम् । नत्वा वासान् स्वकीयास्ते जग्मुर्जातमहोत्सवाः ॥ २२ ॥
श्रेयस्तीर्थान्तरे पञ्चाशच्चतुःसागरोपमे । प्रान्तपल्यत्रिभागेऽस्मिन् व्युच्छित्तौ [2]धर्मसन्ततेः ॥ २३ ॥
तदभ्यन्तरवर्त्यायुः सोऽभवद्वापसप्ततिः । पञ्चशून्यद्विसप्ताब्दजीवितः कुंकुमच्छविः ॥ २४ ॥
इष्टाष्टादशधान्यानां बीजानां वृद्धिकारणम् । [3]भेकलेह्यमिव क्षेत्रं गुणानामेष भूपतिः ॥ २५ ॥
श्रियमस्य गुणाः प्राप्य सर्वे सत्फलदायिनः । समां वृष्टिरिवाभीष्टां सस्यभेदा जगद्धिताः ॥ २६ ॥

आदि भावनाओं रूप सम्पत्तिके प्रभावसे तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध किया और अन्तमें संन्यास धारण किया ॥ १२ ॥ जिससे महाशुक्र विमानमें महाशुक्र नामका इन्द्र हुआ। सोलह सागर प्रमाण उसकी आयु थी और चार हाथ ऊँचा शरीर था ॥ १३ ॥ पद्मलेश्या थी, आठ माहमें एक बार श्वास लेता था, सदा संतुष्टचित्त रहता था और सोलह हजार वर्ष बीतने पर एक बार मानसिक आहार लेता था ॥ १४ ॥ सदा शब्दसे ही प्रवीचार करता था अर्थात् देवाङ्गनाओंके मधुर शब्द सुनने मात्रसे उसकी कामबाधा शान्त हो जाती थी, चतुर्थ पृथिवी तक उसके अवधिज्ञानका विषय था, और चतुर्थ पृथिवी तक ही उसकी विक्रिया बल और तेजकी अवधि थी ॥ १५ ॥ वहाँ देवियोंके मधुर वचन, गीत, बाजे आदिसे वह सदा प्रसन्न रहता था। अन्तमें काल द्रव्यकी पर्यायोंसे प्रेरित होकर जब वह यहाँ आनेवाला हुआ ॥ १६ ॥

तब इस जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्रके चम्पा नगरमें वसुपूज्य नामका अङ्गदेशका राजा रहता था। वह इक्ष्वाकुवंशी तथा काश्यपगोत्री था। उसकी प्रिय स्त्रीका नाम जयावती था,। जयावतीने रत्नवृष्टि आदि सम्मान प्राप्त किया था। तदनन्तर उसने आषाढ़कृष्ण षष्ठीके दिन चौबीसवें शतभिषा नक्षत्रमें सोलह स्वप्न देखे और पतिसे उनका फल जानकर बहुत ही सन्तोष प्राप्त किया। क्रम-क्रमसे आठ माह बीत जानेपर जब नौवाँ फाल्गुन माह आया तब उसने कृष्णपक्षकी चतुर्दशीके दिन वारुण योगमें सब प्राणियोंका हित करनेवाले उस इन्द्ररूप पुत्रको सुखसे उत्पन्न किया ॥ १७-२० ॥ सौधर्म आदि देवोंने उसे सुमेरु पर्वत पर ले जाकर घड़ों द्वारा क्षीरसागरसे लाये हुए जलके द्वारा उसका जन्माभिषेक किया, आभूषण पहिनाये, वासुपूज्य नाम रक्खा, घर वापिस लाये और अनेक महोत्सव कर अपने अपने निवास-स्थानोंकी ओर गमन किया ॥ २१-२२ ॥ श्री श्रेयांमनाथ तीर्थंकरके तीर्थसे जब चौवन सागर प्रमाण अन्तर बीत चुका था और अन्तिम पल्यके तृतीय भागमें जब धर्मकी सन्ततिका विच्छेद हो गया था तब वासुपूज्य भगवान्का जन्म हुआ था। इनकी आयु भी इसी अन्तरमें सम्मिलित थी, वे सत्तर धनुष ऊँचे थे, बहत्तर लाख वर्षकी उनकी आयु थी और कुंकुमके समान उनके शरीरकी कान्ति थी ॥ २३-२४ ॥ जिस प्रकार मेंडकोंके द्वारा आस्वादन करने योग्य अर्थात् सजल क्षेत्र अठारह प्रकारके इष्ट धान्योंके बीजोंकी वृद्धिका कारण होता है उसी प्रकार यह राजा गुणोंकी वृद्धिका कारण था ॥ २५ ॥ जिस प्रकार संसारका हित करनेवाले सब प्रकारके धान्य, समा नामकी इच्छित वर्षाको पाकर श्रेष्ठ फल देनेवाले होते हैं उसी प्रकार समस्त गुण

---

१ वरुणे योगे ख०, ग०। २ धर्मसन्ततौ क०, ग०, घ०। ३ मेकलेह्य ल०।

त्रयः साप्ताहिका मेघा अशीतिः कणशीकराः । षष्टिरातपमेघानामेघवृष्टिः[1] समा मता ॥ २७ ॥
अगुर्गुणा गुणीभावमन्येष्वस्मिंस्तु मुख्यताम् । आश्रयः कस्य वैशिष्ट्यं विशिष्टो न प्रकल्पते ॥ २८ ॥
गुणी गुणमयस्तस्य नाशस्तन्नाश इष्यते । इति बुद्ध्वा सुधीः सर्वान् गुणान् सम्यगपालयत् ॥ २९ ॥
अष्टादशसमाः लक्षाः कौमारे प्राप्य संसृतेः । निर्विद्यात्मगतं धीमान् याथात्म्यं समचिन्तयत् ॥ ३० ॥
विधीविषयसंसक्तो[2] बध्नन्नात्मानमात्मना । बन्धैश्चतुर्विधैर्दुःखं भुञ्जानश्च चतुर्विधम् ॥ ३१ ॥
अनादौ जन्मकान्तारे भ्रान्त्वा कालादिलब्धितः । सन्मार्गं प्राप्तवांस्तेन प्रगुणं यामि सद्गतिम् ॥ ३२ ॥
अस्तु कायः शुचिः स्थास्नुः प्रेक्षणीयो निरामयः । आयुश्चिरमनाबाधं सुखं [3]सन्ततसाधनम् ॥ ३३ ॥
किन्तु ध्रुवो वियोगोऽत्र रागात्मकमिदं सुखम् । रागी बध्नाति कर्माणि बन्धः संसारकारणम् ॥ ३४ ॥
चतुर्गतिभयः सोऽपि तत्र दुःखसुखावहः । ततः किमनुजेत्येतत्त्याज्यमेव विचक्षणैः ॥ ३५ ॥
इति चिन्तयतस्तस्य स्तवो लौकान्तिकैः कृतः । सुरा निष्क्रमणस्नानभूषणाद्युत्सवं व्यधुः ॥ ३६ ॥
शिबिकां देवसंरूढामारुह्य पृथिवीपतिः । वने मनोहरोद्याने चतुर्थोपोषितं वहन् ॥ ३७ ॥
विशाखर्क्षे चतुर्दश्यां सायाह्ने कृष्णफाल्गुने । सामायिकं समादाय तुर्यज्ञानोऽप्यभूदनु ॥ ३८ ॥
सह तेन महीपालाः षट्सप्ततिमिताहिताः । प्रव्रज्यां प्रत्यपद्यन्त परमार्थविदो मुदा ॥ ३९ ॥
द्वितीये दिवसेऽविक्षन् महानगरमन्धसे । सुन्दराख्यो नृपस्तस्मै सुवर्णाभोऽदिताशनम् ॥ ४० ॥
आश्चर्यपञ्चकं चापि तेन छाद्मस्थ्यवत्सरे । गते श्रीवासुपूज्येशः स्वदीक्षावनमागतः ॥ ४१ ॥

इस राजाकी बुद्धिको पाकर श्रेष्ठ फल देनेवाले हो गये थे ॥ २६ ॥ सात दिन तक मेघोंका बरसना त्रय कहलाता है, अस्सी दिन तक बरसना कणशीकर कहलाता है और बीच-बीचमें आतप-धूप प्रकट करनेवाले मेघोंका साठ दिन तक बरसना समावृष्टि कहलाती है ॥ २७ ॥ गुण, अन्य हरि-हरादिकमें जाकर अप्रधान हो गये थे परन्तु इन वासुपूज्य भगवान्‌में वही गुण मुख्यताको प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि विशिष्ट आश्रय किसकी विशेषताको नहीं करते ? ॥ २८ ॥ चूँकि सब पदार्थ गुणमय हैं—गुणोंसे तन्मय हैं अतः गुणका नाश होनेसे गुणी पदार्थका भी नाश हो जावेगा यह विचार कर ही बुद्धिमान् वासुपूज्य भगवान् समस्त गुणोंका अच्छी तरह पालन करते थे ॥ २९ ॥ जब कुमारकालके अठारह लाख वर्ष बीत गये तब संसारसे विरक्त होकर बुद्धिमान् भगवान् अपने मनमें पदार्थके यथार्थ स्वरूपका इस प्रकार विचार करने लगे ॥ ३० ॥ यह निर्बुद्धि प्राणी विषयोंमें आसक्त होकर अपनी आत्माको अपने ही द्वारा बाँध लेता है तथा चार प्रकारके बन्धसे चार प्रकार-का दुःख भोगता हुआ इस अनादि संसार-वनमें भ्रमण कर रहा है। अब मैं कालादि लब्धियोंसे उत्तम गुणको प्रकट करनेवाले सन्मार्गको प्राप्त हुआ हूँ अतः मुझे मोक्ष रूप सद्गति ही प्राप्त करना चाहिए ॥ ३१-३२ ॥ शरीर भला ही पवित्र हो, स्थायी हो, दर्शनीय-सुन्दर हो, नीरोग हो, आयु चिरकाल तक बाधासे रहित हो, और सुखके साधन निरन्तर मिलते रहें परन्तु यह निश्चित है कि इन सबका वियोग अवश्यंभावी है, यह इन्द्रियजन्य सुख रागरूप है, रागी जीव कर्मोंको बाँधता है, बन्ध संसारका कारण है, संसार चतुर्गति रूप है और चारों गतियाँ दुःख तथा सुखको देनेवाली हैं अतः मुझे इस संसारसे क्या प्रयोजन है ? यह तो बुद्धिमानोंके द्वारा छोड़ने योग्य ही है ॥ ३३-३५ ॥ इधर भगवान् ऐसा चिन्तवन कर रहे थे उधर लौकान्तिक देवोंने आकर उनकी स्तुति करना प्रारम्भ कर दी। देवोंने दीक्षा-कल्याणकके समय होनेवाला अभिषेक किया, आभूषण पहिनाये तथा अनेक उत्सव किये ॥ ३६ ॥ महाराज वासुपूज्य देवोंके द्वारा उठाई गई पालकी पर सवार होकर मनोहरो-द्यान नामक वनमें गये और वहाँ दो दिनके उपवासका नियम लेकर फाल्गुनकृष्ण चतुर्दशीके दिन सायंकालके समय विशाखा नक्षत्रमें सामायिक नामका चारित्र ग्रहण कर साथ ही साथ मनःपर्यय-ज्ञानके धारक भी हो गये ॥ ३७-३८ ॥ उनके साथ परमार्थको जाननेवाले छह सौ छिहत्तर राजाओंने भी बड़े हर्षसे दीक्षा प्राप्त की थी ॥ ३९ ॥ दूसरे दिन उन्होंने आहारके लिए महानगरमें प्रवेश किया। वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले सुन्दर नामके राजाने उन्हें आहार दिया ॥ ४० ॥ और पञ्चाश्चर्य प्राप्त

---

१ षष्टिरातपमेघानां मेघवृष्टिः क०,घ०।-मेघा वृष्टिः ल० । २ संशक्तो ल० । ३ सन्ततिसाधनम् ग०,ख०।

कदम्बवृक्षमूलस्थः सोपवासोऽपराह्णके । माघज्योत्स्नाद्वितीयायां विशाखर्क्षेऽभवज्जिनः ॥ ४२ ॥
सौधर्ममुख्यदेवेन्द्रास्तदैवैनमपूजयन् । तत्कल्याणं न विस्तार्यं नाम्नोऽन्त्यस्योदये यतः ॥ ४३ ॥
षट्पष्टिमितधर्मादिगणभृद्वृन्दवन्दितः । खद्वयद्व्येकविज्ञातपूर्वपूर्वधरावृतः ॥ ४४ ॥
खद्वयद्विनवाग्न्युक्तशिक्षकाभिष्टुतक्रमः । शून्यद्वयचतुःपञ्चप्रोक्तावधिबुधश्रितः[1] ॥ ४५ ॥
शून्यत्रिकर्तुविख्यातश्रुतकेवलवीक्षणः । खचतुष्कैकनिर्णीतविक्रियर्द्धिविभूषितः ॥ ४६ ॥
षट्सहस्रचतुर्ज्ञानमानितक्रमपङ्कजः । खद्वयद्विचतुःप्रोक्तवादिसाधितमच्छ्रुतिः ॥ ४७ ॥
शून्यत्रयद्विसप्तोक्तपिण्डिताखिलमण्डितः । शून्यत्रयर्तुशून्यैकसेनार्यार्यार्यिकादिधृत् ॥ ४८ ॥
द्विलक्षश्रावकोपेतः श्राविकातुर्यलक्षकः । पूर्वोक्तदेवदेवीड्यस्तिर्यक्संख्यातसंस्तुतः ॥ ४९ ॥
स तैः सह विहृत्याखिलार्यक्षेत्राणि तर्पयन् । धर्मवृष्ट्या क्रमात्प्राप्य चम्पामब्दसहस्रकम् ॥ ५० ॥
स्थित्वाऽत्र निष्क्रियं मासं नद्या [2]राजतमालिका- । सञ्ज्ञायाश्चित्तहारिण्याः [3]पर्यन्तावनिवर्तिनि ॥५१॥
अग्रमन्दरशैलस्य सानुस्थानविभूषणे । वने मनोहरोद्याने पल्यङ्कासनमाश्रितः ॥ ५२ ॥
मासे भाद्रपदे ज्योत्स्नाचतुर्दश्यापराह्णके । विशाखायां ययौ मुक्तिं चतुर्णवतिसंयतैः ॥ ५३ ॥
परिनिर्वाणकल्याणपूजाप्रान्ते महोत्सवैः । अवन्दिषत ते देवं देवाः सेवाविचक्षणाः ॥ ५४ ॥
विजिगीषोर्गुणैः[4] षड्भिः [5]सिद्धिश्चेत्सुप्रयोजितैः । मुमुक्षोः किं न [6]सामीभिः [7]लक्षाचतुरशीतिगैः ॥५५॥

किये । तदनन्तर छद्मस्थ अवस्थाका एक वर्ष बीत जानेपर किसी दिन वासुपूज्य स्वामी अपने दीक्षा-वनमें आये ॥ ४१ ॥ वहाँ उन्होंने कदम्ब वृक्षके नीचे बैठकर उपवासका नियम लिया और माघशुक्ल द्वितीयाके दिन सायकालके समय विशाखा नक्षत्रमें चार घातिया कर्मोंको नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त किया। अब वे जिनराज हो गये ॥ ४२ ॥ सौधर्म आदि इन्द्रोंने उसी समय आकर उनकी पूजा की। चूँकि भगवान्का वह दीक्षा-कल्याणक नामकर्मके उदयसे हुआ था अतः उसका विस्तारके साथ वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ४३ ॥ वे धर्मको आदि लेकर छयासठ गदाधरोंके समूहसे वन्दित थे, बारह सौ पूर्वधारियोंसे घिरे रहते थे, उनतालीस हजार दो सौ शिक्षक उनके चरणोंकी स्तुति करते थे, पाँच हजार चार सौ अवधिज्ञानी उनकी सेवा करते थे, छह हजार केवलज्ञानी उनके साथ थे, दश हजार विक्रिया ऋद्धिको धारण करनेवाले मुनि उनकी शोभा बढ़ा रहे थे, छह हजार मनःपर्ययज्ञानी उनके चरण-कमलोंका आदर करते थे और चार हजार दो सौ वादी उनकी उत्तम प्रसिद्धिको बढ़ा रहे थे। इस प्रकार सब मिलकर बहत्तर हजार मुनियोंसे वे सुशोभित थे, एक लाख छह हजार सेना आदि आर्यिकाओंको धारण करते थे, दो लाख श्रावकोंसे सहित थे, चार लाख श्राविकाओंसे युक्त थे, असंख्यात देव-देवियोंसे स्तुत्य थे और संख्यात तिर्यञ्चोंसे स्तुत थे ॥ ४४–४९ ॥ भगवान्ने इन सब-के साथ समस्त आर्यक्षेत्रोंमें विहार कर उन्हें धर्मवृष्टिसे संतृप्त किया और क्रम-क्रमसे चम्पा नगरीमें आकर एक हजार वर्ष तक रहे। जब आयुमें एक मास शेष रह गया तब योग-निरोधकर रजत-मालिका नामक नदीके किनारेकी भूमि पर वर्तमान, मन्दरगिरिकी शिखरको सुशोभित करनेवाले मनोहरोद्यानमें पर्यङ्कासनसे स्थित हुए तथा भाद्रपदशुक्ला चतुर्दशीके दिन सायंकालके समय विशाखा नक्षत्रमें चौरानवे मुनियोंके साथ मुक्तिको प्राप्त हुए ॥ ५०–५३ ॥ सेवा करनेमें अत्यन्त निपुण देवोंने निर्वाणकल्याणककी पूजाके बाद बड़े उत्सवसे भगवान्की वन्दना की ॥ ५४ ॥ जब कि विजयकी इच्छा रखनेवाले राजाको, अच्छी तरह प्रयोगमें लाये हुए सन्धि-विग्रह आदि छह गुणोंसे ही सिद्धि (विजय) मिल जाती है तब मोक्षाभिलाषी भगवान्को चौरासी लाख गुणोंसे सिद्धि (मुक्ति) क्यों नहीं मिलती ? अवश्य मिलती ॥ ५५ ॥

---

१ स्मृतः ख० । २ रजतमालिका क०, घ० । रजतशालिका ख०, ग० । रजतमौलिका ङ० । ३ पर्यन्तावनिवर्तनः ग० । ४ सन्धिविग्रहादिभिः षट्गुणैः । ५ सफलता-विजय', । ६ सा सिद्धिः अमीभिः गुणैः । ७ चतुरशीतिलक्षप्रमितोत्तरगुणैः ।

मालिनी

सदसदुभयमेतैनैकशब्देन वाच्ये
त्रितयमपि पृथक्तत्तुर्यभङ्गेन युज्यात् ।
इति सकलपदार्थासप्तभङ्गी त्वयोक्ता
कथमवितथवाक्त्वं वासुपूज्यो न पूज्यः ॥ ५६ ॥

वसन्ततिलका

धर्मो दया कथमसौ सपरिग्रहस्य
वृष्टिर्धरातलहिता किमवग्रहेऽस्ति ।
तस्मात्त्वया द्वयपरिग्रहमुक्तिरुक्ता
तद्वासनासुमहितो जिन वासुपूज्यः ॥ ५७ ॥
पद्मोत्तरः प्रथमजन्मनि पार्थिवेशः
शुक्रे महत्यमरराट्पदपद्मपातः ।
यो वासुपूज्ययुवराट् त्रिजगत्प्रपूज्यः
राज्ये जिनः स दिशतादतुलं सुखं वः ॥ ५८ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागरजी महाराज

अनुष्टुप्

तीर्थे श्रीवासुपूज्यस्य द्विपृष्ठो नाम भूपतिः । त्रिखण्डाधिपतिर्जातो द्वितीयः सोऽर्द्धचक्रिणाम् ॥ ५९ ॥
वृत्तकं तस्य वक्ष्यामो जन्मत्रयसमाश्रितम् । श्रुतेन येन भव्यानां भवेद् भूयो भवाद्भयम् ॥ ६० ॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते वर्षे कनकादिपुराधिपः । सुषेणो नाम तस्यासीन्नर्तकी गुणमञ्जरी ॥ ६१ ॥
रूपिणी [1]सुभगानृत्यगीतवाद्यादिविश्रुता । सरस्वती द्वितीयेव सर्वभूपाभिवाञ्छिता ॥ ६२ ॥
अस्ति तत्रैव देशोऽन्यो मलयाख्यो मनोहरः । विन्ध्यशक्तिः पतिस्तस्य नृपो विन्ध्यपुरे वसन् ॥ ६३ ॥

पदार्थ कथंचित् सत् है, कथंचित् असत् है, कथंचित् सत्-असत् उभयरूप है, कथंचित् अवक्तव्य है, कथंचित् सत् अवक्तव्य है, कथंचित् असत् अवक्तव्य है, और कथंचित् सदसद्-वक्तव्य है, इस प्रकार हे भगवन्, आपने प्रत्येक पदार्थके प्रति सप्तभङ्गीका निरूपण किया है और इसीलिए आप सत्यवादी रूपसे प्रसिद्ध हैं फिर हे वासुपूज्य देव ! आप पूज्य क्यों न हों ? अवश्य हों ॥ ५६ ॥ धर्म दया रूप है, परन्तु वह दयारूप धर्म परिग्रह सहित पुरुषके कैसे हो सकता है ? वर्षा पृथिवीतलका कल्याण करनेवाली है परन्तु प्रतिबन्धके रहते हुए कैसे हो सकती है ? इसीलिए आपने अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग—दोनों परिग्रहोंके त्यागका उपदेश दिया है । हे वासुपूज्य जिनेन्द्र ! आप इसी परिग्रह-त्यागकी वासनासे पूजित हैं ॥ ५७ ॥ जो पहले जन्ममें पद्मोत्तर राजा हुए, फिर महा-शुक्र स्वर्गमें इन्द्र हुए, वह इन्द्र, जिनके कि चरण, देवरूपी भ्रमरोंके लिए कमलके समान थे और फिर त्रिजगत्पूज्य वासुपूज्य जिनेन्द्र हुए, वह जिनेन्द्र, जिन्होंने कि बालब्रह्मचारी रह कर ही राज्य किया था, वे बारहवें तीर्थंकर तुम सबके लिए अतुल्य सुख प्रदान करें ॥ ५८ ॥

अथानन्तर—श्री वासुपूज्य स्वामीके तीर्थमें द्विपृष्ठ नामका राजा हुआ जो तीन खण्डका स्वामी था और दूसरा अर्धचक्री (नारायण) था ॥ ५९ ॥ यहाँ उसका तीन जन्म सम्बन्धी चरित्र कहता हूँ जिसके सुननेसे भव्य-जीवोंको संसारसे बहुत भारी भय उत्पन्न होगा ॥ ६० ॥ इसी जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें एक कनकपुर नामका नगर है । उसके राजाका नाम सुषेण था । सुषेणके एक गुणमंजरी नामकी नृत्यकारिणी थी ॥ ६१ ॥ वह नृत्यकारिणी रूपवती थी, सौभाग्यवती थी, गीत नृत्य तथा बाजे बजाने आदि कलाओंमें प्रसिद्ध थी, और दूसरी सरस्वतीके समान जान पड़ती थी, इसीलिए सब राजा उसे चाहते थे ॥ ६२ ॥ उसी भरतक्षेत्रमें एक मलय नामका मनोहर देश था, उसके विन्ध्य-

---

१ सुभगागीतनृत्य ख० ।

स रक्तो गुणमञ्जर्याः प्रेक्षायामिव षट्पदः । चूतप्रसवमञ्जर्या माधुर्यरसरञ्जितः ॥ ६४ ॥
रत्नाद्युपायनोपेतं मितार्थं[1] चित्तहारिणम् । सुषेणं प्रतिसम्मान्य प्राहिणोन्नर्तकीप्सया ॥ ६५ ॥
दूतोऽपि सत्वरं गत्वा स सुषेणमहीपतिम् । दृष्ट्वा यथोचितं तस्मै दत्त्वोपायनमब्रवीत् ॥ ६६ ॥
युष्मद्गृहे महारत्नं नर्तकी किल विश्रुता । विन्ध्यशक्तिर्भवद्बन्धुस्तां द्रष्टुमभिलाषुकः ॥ ६७ ॥
तत्प्रयोजनमुद्दिश्य प्रहितोऽहं महीपते । त्वयापि सा प्रहेतव्या प्रत्यानीय समर्पये ॥ ६८ ॥
इत्यतस्तद्वचः श्रुत्वा सुतरां कोपवेपिना । याहि याहि किमश्रव्यैर्वचोभिर्दर्पशालिभिः ॥ ६९ ॥
इति निर्भर्त्सितो भूयः सुषेणेन दुरुक्तिभिः । दूतः प्रत्येत्य तत्सर्वं विन्ध्यशक्तिं [2]व्यजिज्ञपत् ॥ ७० ॥
सोऽपि कोपग्रहाविष्टस्तद्वचःश्रवणाद् भृशम् । अस्तु को दोष इत्यात्मगतमालोच्य मन्त्रिभिः ॥ ७१ ॥
शूरो लघुसमुत्थानः कूटयुद्धविशारदः । अवस्कन्देन सम्प्राप्य सारसांग्रामिकाग्रणीः ॥ ७२ ॥
विधाय सङ्गरे भङ्गं तत्कीर्तिमिव नर्तकीम् । [3]तामाहरद् गते पुण्ये कस्य किं कोऽत्र नाहरत् ॥ ७३ ॥
दन्तभङ्गो गजेन्द्रस्य दंष्ट्रभङ्गो गजद्विषः । मानभङ्गो महीभर्तुर्महिमानमपह्नुते ॥ ७४ ॥
स तेन मानभङ्गेन स्वगृहाद्भग्नमानसः । पृष्ठभङ्गेन नागो वा न प्रतस्थे पदात्पदम् ॥ ७५ ॥
स कदाचित्सनिर्वेदः[4] सुव्रताख्यजिनाधिपात् । अनगारात्परिज्ञातधर्मान्निर्मलचेतसा ॥ ७६ ॥
स कोऽपि पापपाको मे येन तेनाप्यहं जितः । इति सञ्चिन्त्य पापारिं निहन्तुं मतिमातनोत् ॥ ७७ ॥
तपस्तनूनपात्तापतनूकृततनुश्चिरम् । सारिकोपः स संन्यस्य सनिदानः सुरोऽभवत् ॥ ७८ ॥

पुर नगरमें विन्ध्यशक्ति नामका राजा रहता था ॥ ६३ ॥ जिस प्रकार मधुरताके रससे अनुरक्त हुआ भ्रमर आम्रमञ्जरीके देखनेमें आसक्त होता है उसी प्रकार वह राजा गुणमञ्जरीके देखनेमें आसक्त था ॥ ६४ ॥ उसने नृत्यकारिणीको प्राप्त करनेकी इच्छासे सुषेण राजाका सन्मान कर उसके पास रत्न आदिकी भेंट लेकर चित्तको हरण करनेवाला एक दूत भेजा ॥ ६५ ॥ उस दूतने भी शीघ्र जाकर सुषेण महाराजके दर्शन किये, यथायोग्य भेंट दी और निम्न प्रकार समाचार कहा ॥ ६६ ॥ उसने कहा कि आपके घरमें जो अत्यन्त प्रसिद्ध नर्तकीरूपी महारत्न है, उसे आपका भाई विन्ध्यशक्ति देखना चाहता है ॥ ६७ ॥ हे राजन् ! इसी प्रयोजनको लेकर मैं यहाँ भेजा गया हूँ । आप भी उस नृत्यकारिणीको भेज दीजिए । मैं उसे वापिस लाकर आपको सौंप दूँगा ॥ ६८ ॥ दूतके ऐसे वचन सुनकर सुषेण क्रोधसे अत्यन्त काँपने लगा और कहने लगा कि जा, जा, नहीं सुनने योग्य तथा अहंकारसे भरे हुए इन वचनोंसे क्या लाभ है ? इस प्रकार सुषेण राजाने खोटे शब्दों द्वारा दूतकी बहुत भारी भर्त्सना की । दूतने वापिस आकर यह सब समाचार राजा विन्ध्यशक्तिसे कह दिए ॥ ६९–७० ॥ दूतके वचन सुननेसे वह भी बहुत भारी क्रोधरूपी ग्रहसे आविष्ट हो गया—अत्यन्त कुपित हो गया और कहने लगा कि रहने दो, क्या दोष है ? तदनन्तर मंत्रियोंके साथ उसने कुछ गुप्त विचार किया ॥ ७१ ॥ कूट युद्ध करनेमें चतुर, श्रेष्ठ योद्धाओंके आगे चलनेवाला और शूरवीर वह राजा अपनी सेना लेकर शीघ्र ही चला ॥ ७२ ॥ विन्ध्यशक्तिने युद्धमें राजा सुषेणको पराजित किया और उसकी कीर्तिके समान नृत्यकारिणीको जबरदस्ती छीन लिया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यके चले जाने पर कौन किसकी क्या वस्तु नहीं हर लेता ? ॥ ७३ ॥ जिस प्रकार दाँतका टूट जाना हाथीकी महिमाको छिपा लेता है, और दाढ़का टूट जाना सिंहकी महिमाको तिरोहित कर देता है उसी प्रकार मान-भङ्ग राजाकी महिमाको छिपा देता है ॥ ७४ ॥ उस मान-भङ्गसे राजा सुषेणका दिल टूट गया अतः जिस प्रकार पीठ टूट जानेसे सर्प एक पद भी नहीं चल पाता है उसी प्रकार वह भी अपने स्थानसे एक पद भी नहीं चल सका ॥ ७५ ॥ किसी एक दिन उसने विरक्त होकर धर्मके स्वरूपको जाननेवाले गृह-त्यागी सुव्रत जिनेन्द्रसे धर्मोपदेश सुना और निर्मल चित्तसे इस प्रकार विचार किया कि वह हमारे किसी पापका ही उदय था जिससे विन्ध्यशक्तिने मुझे हरा दिया । ऐसा विचार कर उसने पाप-रूपी शत्रुको नष्ट करनेकी इच्छा की ॥ ७६–७७ ॥ और उन्हीं जिनेन्द्रसे दीक्षा ले

---

१ मितभाषिणं दूतम् । २ प्रजिज्ञपत् ल० । ३ ततोऽहरद् ल० । ४ सनिर्वेगः ख० । सनिर्वेदं ल० ।

विमानेऽनुपमे नाम्ना कल्पे प्राणतनामनि । विंशत्यब्ध्युपमायुः सन् स्वष्टर्द्धिकृतसम्मदः ॥ ७९ ॥
अत्रैव [1]भारते श्रीमान् महापुरमधिष्ठितः । नृपो वायुरथो नाम भुक्त्वा राज्यश्रियं चिरम् ॥ ८० ॥
श्रुत्वा सुव्रतनामार्हत्पार्श्वे धर्मं स तत्त्ववित् । सुतं घनरथं राज्ये स्थापयित्वाऽगमत्तपः ॥ ८१ ॥
अधीत्य सर्वशास्त्राणि विधाय परमं तपः । तत्रैवेन्द्रोऽभवत्कल्पे विमानेऽनुत्तराह्वये ॥ ८२ ॥
ततोऽवतीर्य वर्षेऽस्मिन् पुरीद्वारावतीपतेः[2] । ब्रह्माख्यस्याचलस्तोकः सुभद्रायामभूद्विभुः ॥ ८३ ॥
तस्यैवासौ सुषेणाख्योऽप्युषायामात्मजोऽजनि । द्विपृष्ठाख्यस्तनुस्तस्य चापसप्ततिसम्मिता ॥ ८४ ॥
द्वासप्ततिसमालक्षाः परमायुर्निरन्तरम् । राजभोगानभुक्तोच्चैरिक्ष्वाकूणां कुलाग्रणीः ॥ ८५ ॥
कुन्देन्द्रनीलसङ्काशावभातां बलकेशवौ । सङ्गमेन प्रवाहौ वा गङ्गायमुनयोरमू ॥ ८६ ॥
अविभक्तां महीमेतावभुक्तां पुण्यनायकौ । सरस्वतीं गुरूद्दिष्टां समानश्राविकाविव ॥ ८७ ॥
अविवेकस्तयोरासीदधीताशेषशास्त्रयोः । अपि श्रीकामिनीयोगे स एव किल शस्यते ॥ ८८ ॥
स्थिरावत्युन्नतौ शुक्लनीलौ भातः स्म भूभृतौ । कैलासाञ्जनसञ्ज्ञौ वा सङ्गतौ तौ मनोहरौ ॥ ८९ ॥
इतः स विन्ध्यशक्त्याख्यो घटीयन्त्रसमाश्चिरम् । भ्रान्त्वा संसारवाराशावणीयः पुण्यसाधनः ॥ ९० ॥
इहैव श्रीधराख्यस्य भोगवर्द्धनभूःपते[3] । अभूदखिलविख्यातस्तनूजस्तारकाख्यया ॥ ९१ ॥
बभार भास्वरां लक्ष्मीं भरतार्द्धे निवासिनीम् । स्वचक्राक्रान्तिसन्त्रासदासीभूत (ख) भूचरः ॥ ९२ ॥

ली । बहुत दिन तक तपरूपी अग्निके संतापसे उसका शरीर कृश हो गया था । अन्तमें शत्रुपर क्रोध रखता हुआ वह निदान बन्ध सहित संन्यास धारण कर प्राणत स्वर्गके अनुपम नामक विमानमें बीस सागरकी आयुवाला तथा आठ ऋद्धियोंसे हर्षित देव हुआ ॥ ७८–७९ ॥

अथानन्तर इसी भरतक्षेत्रके महापुर नगरमें श्रीमान् वायुरथ नामका राजा रहता था । चिरकाल तक राज्यलक्ष्मीका उपभोग कर उसने सुव्रत नामक जिनेन्द्रके पास धर्मका उपदेश सुना, तत्त्वज्ञानी वह पहलेसे ही था अतः विरक्त होकर घनरथ नामक पुत्रको राज्य देकर तपके लिए चला गया ॥ ८०–८१ ॥ समस्त शास्त्रोंका अध्ययन कर तथा उत्कृष्ट तप कर वह उसी प्राणत स्वर्गके अनुत्तर नामक विमानमें इन्द्र हुआ ॥ ८२ ॥ वहाँसे चय कर इसी भरतक्षेत्रकी द्वारावती नगरीके राजा ब्रह्मके उनकी रानी सुभद्राके अचलस्तोक नामका पुत्र हुआ ॥ ८३ ॥ तथा सुषेणका जीव भी वहाँसे चय कर उसी ब्रह्म राजाकी दूसरी रानी उषाके द्विपृष्ठ नामका पुत्र हुआ । उस द्विपृष्ठका शरीर सत्तर धनुष ऊँचा था और आयु बहत्तर लाख वर्षकी थी। इस प्रकार इक्ष्वाकु वंशका अग्रेसर वह द्विपृष्ठ, राजाओंके उत्कृष्ट भोगोंका उपभोग करता था ॥ ८४–८५ ॥ कुन्द पुष्प तथा इन्द्रनीलमणिके समान कान्तिवाले वे बलभद्र और नारायण जब परस्परमें मिलते थे तब गङ्गा और यमुनाके प्रवाहके समान जान पड़ते थे ॥ ८६ ॥ जिस प्रकार समान दो श्रावक गुरुके द्वारा दी हुई सरस्वतीका बिना विभाग किये ही उपभोग करते हैं उसी प्रकार पुण्यके स्वामी वे दोनों भाई बिना विभाग किये ही पृथिवीका उपभोग करते थे ॥८७॥ समस्त शास्त्रोंका अध्ययन करनेवाले उन दोनों भाइयोंमें अभेद था—किसी प्रकारका भेदभाव नहीं था सो ठीक ही है क्योंकि उसी अभेदकी प्रशंसा होती है जो कि लक्ष्मी और स्त्रीका संयोग होनेपर भी बना रहता है ॥ ८८ ॥ वे दोनों स्थिर थे, बहुत ही ऊँचे थे, तथा सफेद और नील रङ्गके थे इसलिए ऐसे अच्छे जान पड़ते थे मानो कैलास और अञ्जनगिरि ही एक जगह आ मिले हों ॥ ८९ ॥

इधर राजा विन्ध्यशक्ति, घटी यन्त्रके समान चिरकाल तक संसार-सागरमें भ्रमण करता रहा । अन्तमें जब थोड़ेसे पुण्यके साधन प्राप्त हुए तब इसी भरतक्षेत्रके भोगवर्धन नगरके राजा श्रीधरके सर्व प्रसिद्ध तारक नामका पुत्र हुआ ॥ ९०–९१ ॥ अपने चक्रके आक्रमण सम्बन्धी भयसे जिसने समस्त विद्याधर तथा भूमि-गोचरियोंको अपना दास बना लिया है ऐसा वह तारक आधे

---

१ भरते ल० । २ पुरीद्वारवतीपतेः क०, घ० । पुरे ख०, ग० । ३ भूपतेः ख० ग० ।

आस्तामन्यत्र तल्लक्ष्म्या मन्दमन्दप्रभे रवौ । मन्ये [1]विकस्वरा पद्मा पद्मेष्वपि न जातुचित् ॥ ९३ ॥
[2]पुराणभूपमार्गस्य सोऽभवत्पारिपन्थिकः । सिंहिकानन्दनो वोग्रः पूर्णमास्यमृतद्युतेः ॥ ९४ ॥
गलन्ति गर्भास्तन्नाम्ना गर्भिणीनां भयोद्भवात् । घनावनावलीनां वा क्रूरग्रहविकारतः ॥ ९५ ॥
अन्विष्य प्रतियोद्धारमलब्ध्वा क्रुद्धमानसः । स्वप्रतापाग्निधूमेन दूषितो वा मषीनिभः ॥ ९६ ॥
संतप्तसर्वभूभर्त्यः घर्मघर्मांशुदुस्सहः । स पाताभिमुखः किं स्युः स्थावरास्तादृशाः श्रियः ॥ ९७ ॥
अखण्डस्य त्रिखण्डस्याधिपत्यं समुद्वहन् । जन्मान्तरागतात्युग्रविरोधाराध्यचोदितः ॥ ९८ ॥
द्विपृष्टाचलयोर्वृद्धिं प्ररूढां सोढुमक्षमः । करदीकृतनिःशेषमहीपालकृषीबलः ॥ ९९ ॥
ब्रह्मवत्करदौ नैतौ दुर्मदेनापि दर्पितौ[3] । [4]दुष्टमाशीविषं गेहे वर्द्धमानं सहेत कः ॥ १०० ॥
उच्छेद्यकोटिमारूढौ ममेमौ येन केनचित् । सन्दूष्याहं हनिष्यामि निजप्रकृतिदूषितौ ॥ १०१ ॥
[5]इत्यपायं विचिन्त्यैकं दुर्वचं कलहप्रियम् । प्राहिणोत्सोऽपि तौ प्राप्य सहसैवाह दुर्मुखः ॥ १०२ ॥
इत्यादिशति वां देवस्तारको [6]मारको द्विषाम्। युष्मद्गृहे किलैकोऽस्ति ख्यातो गन्धगजो महान् ॥१०३॥
आश्वसौ मे प्रहेतव्यो नो चेद्युष्मच्छिरोद्वयम् । खण्डीकृत्याहरिष्यामि गजं मजयसेनया ॥ १०४ ॥
इत्यसभ्यमसोढव्यं तेनोक्तं कलहार्थिना । श्रुत्वाऽचलोऽचलो वोद्यैर्धीरोदात्तोऽब्रवीदिदम् ॥ १०५ ॥
गजो नाम कियान् शीघ्रमेत्यसावेव सेनया । तस्मै ददामहेऽन्यच्च येनासौ स्वास्थ्यमाप्नुयात् ॥ १०६ ॥

भरतक्षेत्रमें रहनेवाली देदीप्यमान लक्ष्मीको धारण कर रहा था ॥ ९२ ॥ अन्य जगहकी बात रहने दीजिए, मैं तो ऐसा मानता हूँ कि—उसके डरसे सूर्यकी प्रभा भी मन्द पड़ गई थी इसलिए लक्ष्मी कमलोंमें भी कभी प्रसन्न नहीं दिखती थी ॥ ९३ ॥ जिस प्रकार उग्र राहु पूर्णिमाके चन्द्रमाका विरोधी होता है उसी प्रकार उग्र प्रकृति वाला तारक भी प्राचीन राजाओंके मार्गका विरोधी था ॥ ९४ ॥ जिस प्रकार किसी क्रूर ग्रहके विकारसे मेघमालाके गर्भ गिर जाते हैं उसी प्रकार तारकका नाम लेते ही भय उत्पन्न होनेसे गर्भिणी स्त्रियोंके गर्भ गिर जाते थे ॥ ९५ ॥ स्याहीके समान श्याम वर्णवाला वह तारक सदा शत्रुओंको ढूँढ़ता रहता था और जब किसी शत्रुको नहीं पाता था तब ऐसा जान पड़ता था मानो अपने प्रतापरूपी अग्निके धुएँसे ही काला पड़ गया हो ॥ ९६ ॥ जिसने समस्त क्षत्रियोंको संतप्त कर रक्खा है और जो ग्रीष्म ऋतुके सूर्यके समान दुःखसे सहन करने योग्य है ऐसा वह तारक अन्तमें पतनके सम्मुख हुआ सो ठीक ही है क्योंकि ऐसे लोगोंकी लक्ष्मी क्या स्थिर रह सकती है ? ॥ ९७ ॥ जो अखण्ड तीन खण्डोंका स्वामित्व धारण करता था ऐसा तारक जन्मान्तरसे आये हुए तीव्र विरोधसे प्रेरित होकर द्विपृष्ठनारायण और अचल बलभद्रकी वृद्धको नहीं सह सका। वह सोचने लगा कि मैंने समस्त राजाओं और किसानोंको कर देनेवाला बना लिया है परन्तु ये दोनों भाई ब्राह्मणके समान कर नहीं देते। इतना ही नहीं, दुष्ट गर्वसे युक्त भी हैं। अपने घरमें बढ़ते हुए दुष्ट साँपको कौन सहन करेगा ? ॥ ९८–१०० ॥ ये दोनों ही मेरे द्वारा नष्ट किये जाने योग्य शत्रुओंकी श्रेणीमें स्थित हैं तथा अपने स्वभावसे दूषित भी हैं अतः जिस किसी तरह दोष लगाकर इन्हें अवश्य ही नष्ट करूँगा ॥ १०१ ॥ इस प्रकार अपायका विचार कर उसने दुर्वचन कहनेवाला एक कलह-प्रेमी दूत भेजा और वह दुष्ट दूत भी सहसा उन दोनों भाइयोंके पास जाकर इस प्रकार कहने लगा कि शत्रुओंको मारनेवाले तारक महाराजने आज्ञा दी है कि तुम्हारे घरमें जो एक बड़ा भारी प्रसिद्ध गन्धहस्ती है वह हमारे लिए शीघ्र ही भेजो अन्यथा तुम दोनोंके शिर खण्डित कर अपनी विजयी सेनाके द्वारा उस हाथीको जबरदस्ती मँगा लूँगा ॥ १०२–१०४ ॥ इस प्रकार उस कलहकारी दूतके द्वारा कहे हुए असभ्य तथा सहन करनेके अयोग्य वचन सुनकर पर्वतके समान अचल, उदार तथा धीरोदात्त प्रकृतिके धारक अचल बलभद्र इस तरह कहने लगे ॥ १०५ ॥ कि हाथी क्या चीज है ? तारक महाराज ही अपनी सेनाके साथ शीघ्र आवें। हम उनके

---

१ विकस्मरा ल० । २ पुराण भूतमार्गस्य ल० । ३ दर्पितम् घ० । ४ दुष्टावाशी—ल० । ५ इत्युपायं ल० । ६ वारको क० ।

इत्यादि तेन गम्भीरमभ्युद्य स विसर्जितः । पवमान इव प्राप्य तत्कोपाग्निमदीपयत् ॥ १०७ ॥
तच्छ्रुत्वा सोऽपि कोपाग्निप्रदीप्तः पावकप्रभः । तौ पतङ्गायितावित्थं मत्क्रोधाग्नेरवोचताम् ॥ १०८ ॥
इत्यनालोच्य कार्याङ्गं सङ्गतः सचिवैः समम् । स्वयमभ्युत्थितं मत्वा प्रस्थितः प्राप्तुमन्तकम् ॥ १०९ ॥
दुर्णयाभिमुखो मूर्खश्चालयित्वाऽखिलामिलाम् । षडङ्गेन बलेनासौ प्राप्य तावुदयोन्मुखौ ॥ ११० ॥
समुल्लङ्घितमर्यादः कालान्तजलधिं जयन् । अरुणद्दारुणस्तूर्णं पुरं स्वबलवेलया ॥ १११ ॥
बालवद्धेलया वेलां तत्सेनां निजसेनया । न्यरौत्सीज्जलनिःसारामचलोऽप्यचलस्थितिः ॥ ११२ ॥
द्विपृष्ठो मत्तमातङ्गं सिंहपोत इवोद्धतः । [1]पराक्रमैकसाहाय्यादाक्रमद् बलिनं द्विषम् ॥ ११३ ॥
तारकोऽपि चिरं युद्ध्वा तं निराकर्तुमक्षमः । भ्रामयित्वाऽक्षिपच्चक्रं यमचक्रमिवात्मनः ॥ ११४ ॥
तत्परीत्य स्थितं बाहौ दक्षिणे दयितश्रियः । तस्यासौ तेन चक्रेण नरकं तमजीगमत् ॥ ११५ ॥
द्विपृष्टः सप्तसद्रत्नखिखण्डेशस्तदाभवत् । अचलो बलदेवोऽभूत्प्राप्तरत्नचतुष्टयः ॥ ११६ ॥
कृत्वा दिग्विजयं जित्वा प्रतीपाख्यातभूभृतः । नत्वा श्रीवासुपूज्येशं प्रविश्य पुरमात्मनः ॥ ११७ ॥
चिरं त्रिखण्डसाम्राज्यं विधाय विविधैः सुखैः । द्विपृष्टः कालनिष्ठायामवधिष्ठानमाश्रितः ॥ ११८ ॥
अचलोऽपि तदुद्वेगाद्वासुपूज्यजिनाश्रयात् । सम्प्राप्य संयमं मोक्षलक्ष्म्या सङ्गममीयिवान् ॥ ११९ ॥

वसन्ततिलका

पुण्यैकबीजमवलम्ब्य महीमिवाप्य लब्धोदयौ सममुपार्जितसत्त्वरूपौ ।
एकोऽगमत् फलितुमङ्कुरवत् किलोर्ध्वं पापी परो विफलमूलसमस्त्वधस्तात् ॥ १२० ॥

लिए वह हाथी तथा अन्य वस्तुएँ देंगे जिससे कि वे स्वस्थता-कुशलता (पक्षमें स्वः स्वर्गे तिष्ठतीति स्वस्थः 'शर्परि खरि विसर्गलोपो वा वक्तव्यः' इति वार्तिकेन सकारस्य लोपः । स्वस्थस्य भावः स्वास्थ्यम्) मृत्युको प्राप्त कर सकेंगे ॥ १०६ ॥ इस प्रकार गम्भीर वचन कह कर अचल बलभद्रने उस दूतको विदा कर दिया और उसने भी जाकर हवाकी तरह उसकी कोपाग्निको प्रदीप्त कर दिया ॥ १०७ ॥ यह सुनकर कोपाग्निसे प्रदीप्त हुआ तारक अग्निके समान प्रज्वलित हो गया और कहने लगा कि इस प्रकार वे दोनों भाई मेरी क्रोधाग्निके पतंगे बन रहे हैं ॥ १०८ ॥ उसने मंत्रियोंके साथ बैठकर किसी कार्यका विचार नहीं किया और अपने आपको सर्वशक्ति-सम्पन्न मान कर मृत्यु प्राप्त करनेके लिए प्रस्थान कर दिया ॥ १०९ ॥ अन्याय करनेके सम्मुख हुआ वह मूर्ख षडङ्ग सेनासे समस्त पृथिवीको कँपाता हुआ उदय होनेके सम्मुख हुए उन दोनों भाइयोंके पास जा पहुँचा । उसने सब मर्यादाका उलंघन कर दिया था इसलिए प्रलयकालके समुद्रको भी जीत रहा था । इस प्रकार अतिशय दुष्ट तारकने शीघ्र ही जाकर अपनी सेनारूपी वेला (ज्वारभाटा) के द्वारा अचल और द्विपृष्ठके नगरको घेर लिया ॥ ११०-१११ ॥ जिस प्रकार कोई पर्वत जलकी लहरको अनायास ही रोक देता है उसी प्रकार पर्वतके समान स्थिर रहनेवाले अचलने अपनी सेनाके द्वारा उसकी निःसार सेनाको अनायास ही रोक दिया था ॥ ११२ ॥ जिस प्रकार सिंहका बच्चा मत्त हाथीके ऊपर आक्रमण करता है उसी प्रकार उद्धत प्रकृतिवाले द्विपृष्ठने भी एक पराक्रमकी सहायतासे ही बलवान् शत्रु पर आक्रमण कर दिया ॥ ११३ ॥ तारकने यद्यपि चिरकाल तक युद्ध किया पर तो भी वह द्विपृष्ठको पराजित करनेमें समर्थ नहीं हो सका । अन्तमें उसने यमराजके चक्रके समान अपना चक्र घुमाकर फेंका ॥ ११४ ॥ वह चक्र द्विपृष्ठकी प्रदक्षिणा देकर उस लक्ष्मीपतिकी दाहिनी भुजा पर स्थिर हो गया और उसने उसी चक्रसे तारकको नरक भेज दिया ॥ ११५ ॥ उसी समय द्विपृष्ठ, सात उत्तम रत्नोंका तथा तीन खण्ड पृथिवीका स्वामी हो गया और अचल बलभद्र बन गया तथा चार रत्न उसे प्राप्त हो गये ॥ ११६ ॥ दोनों भाइयोंने शत्रु राजाओंको जीतकर दिग्विजय किया और श्री वासुपूज्य स्वामीको नमस्कार कर अपने नगरमें प्रवेश किया ॥ ११७ ॥ चिरकाल तक तीन खण्डका राज्य कर अनेक सुख भोगे । आयुके अन्तमें मरकर द्विपृष्ठ सातवें नरक गया ॥ ११८ ॥ भाईके वियोगसे अचलको बहुत शोक हुआ जिससे उसने श्रीवासुपूज्य स्वामीका आश्रय लेकर संयम धारण कर लिया तथा मोक्ष-लक्ष्मीके साथ समागम प्राप्त किया ॥ ११९ ॥ उन दोनों भाइयोंने

---

१ पराक्रमैकसाहाय्यमाक्रमद् ग० ।

मालिनी

इदमिति विधिपाकाद् वृत्तमस्मिन् द्विपृष्ठे
परिणतमचले च प्रत्यहं चिन्तयित्वा ।
विपुलमतिभिरार्यैः कार्यमुत्सृज्य पापं
सकलसुखनिधानं पुण्यमेव प्रतीपम् ॥ १२१ ॥

पृथ्वी

पुरेऽत्र कनकादिके प्रथितवान् सुषेणो नृपः
ततोऽनु तपसि स्थितोऽजनि चतुर्दशस्वर्गभाक् ।
त्रिखण्डपरिपालकोऽभवदतो द्विपृष्ठाख्यया
परिग्रहमहाभरादुपगतः क्षितिं सप्तमीम् ॥ १२२ ॥

वंशस्थवृत्तम्

महापुरे वायुरथो महीपतिः प्रपद्य चारित्रमनुत्तरं ययौ ।
ततो बलो द्वारवतीपुरेऽचलस्त्रिलोकपूज्यत्वमवाप्य निर्वृतः ॥ १२३ ॥

वसन्ततिलका

विख्यातविन्ध्यनगरेऽजनि विन्ध्यशक्ति-
र्भ्रान्त्वा चिरं भववने चितपुण्यलेशः ।
श्रीभोगवर्द्धनपुराधिपतारकाख्यः
प्राप द्विपृष्टरिपुरन्त्यमहीं [1]महाहाः ॥ १२४ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे वासुपूज्यजिनपतिद्विपृष्टाचल-
तारकपुराणं परिसमाप्तम् अष्टपञ्चाशत्तमं पर्व ॥ ५८ ॥

किसी पुण्यका बीज पाकर तीन खण्डकी पृथिवी पाई, अनेक विभूतियाँ पाईं और साथ-ही साथ उत्तम पद प्राप्त किया परन्तु उनमेंसे एक तो अंकुरके समान फल प्राप्त करनेके लिए ऊपरकी ओर (मोक्ष) गया और दूसरा पापसे युक्त होनेके कारण फलरहित जड़के समान नीचेकी ओर (नरक) गया ॥ १२० ॥ इस प्रकार द्विपृष्ठ तथा अचलका जो भी जीवन-वृत्त घटित हुआ है वह सब कर्मोदयसे ही घटित हुआ है ऐसा विचार कर विशाल बुद्धिके धारक आर्य पुरुषोंको पाप छोड़कर उसके विपरीत समस्त सुखोंका भंडार जो पुण्य है वही करना चाहिए ॥ १२१ ॥ राजा द्विपृष्ठ पहले इसी भरतक्षेत्रके कनकपुर नगरमें सुषेण नामका प्रसिद्ध राजा हुआ, फिर तपश्चरण कर चौदहवें स्वर्गमें देव हुआ, तदनन्तर तीन खण्डकी रक्षा करनेवाला द्विपृष्ठ नामका अर्धचक्री हुआ और इसके बाद परिग्रहके महान् भारसे मरकर सातवें नरक गया ॥ १२२ ॥ बलभद्र, पहले महापुर नगरमें वायुरथ राजा हुआ, फिर उत्कृष्ट चारित्र प्राप्त कर उसी प्राणत स्वर्गके अनुत्तरविमानमें उत्पन्न हुआ, तदनन्तर द्वारावती नगरीमें अचल नामका बलभद्र हुआ और अन्तमें निर्वाण प्राप्त कर त्रिभुवनके द्वारा पूज्य हुआ ॥ १२३ ॥ प्रतिनारायण तारक, पहले प्रसिद्ध विन्ध्यनगरमें विन्ध्यशक्ति नामका राजा हुआ, फिर चिरकाल तक संसार-वनमें भ्रमण करता रहा । कदाचित् थोड़ा पुण्यका संचय कर श्री भोगवर्द्धन नगरका राजा तारक हुआ और अन्तमें द्विपृष्ठनारायणका शत्रु होकर—उनके हाथसे मारा जाकर महापापके उदयसे अन्तिम पृथिवीमें नारकी उत्पन्न हुआ ॥ १२४ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें श्री वासुपूज्य जिनेन्द्र, द्विपृष्ठनारायण, अचल बलभद्र और तारक प्रतिनारायणका वर्णन करनेवाला अट्ठावनवाँ पर्व पूर्ण हुआ ।

---

१ महत् अंहः पापं यस्य स महांहाः महापापः ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एकोनषष्टितमं पर्व

विमलेऽब्दसमे बोधे दृश्यते विमलं जगत् । [1]विमलं यस्य मे सोऽथ विमलः क्रियात् ॥ १ ॥
प्रतीचि धातकीखण्डे देवाद्र्यपरभागभाक् । नदीदक्षिणकूलस्थो विषयो रम्यकावती ॥ २ ॥
पद्मसेनो महीशोऽत्र महानगरमास्थितः । प्रजाभ्य इव कल्पागः समीप्सितफलप्रदः ॥ ३ ॥
[2]तन्त्रावापविभागोक्तनीतिशास्त्रार्थनिश्चये[3] । उदाहरणमित्याहुस्तद्वृत्तं शास्त्रवेदिनः ॥ ४ ॥
अर्जनानुभवावर्थे प्रजानामात्मवृत्तिभिः । व्यापारो रक्षके तस्मिन् महीशे मर्दितद्विषि ॥ ५ ॥
नाक्रामति प्रजा न्यायं तां नाक्रमति भूपतिः । तं त्रिवर्गं त्रिवर्गस्य नान्योन्यातिक्रमः क्वचित् ॥ ६ ॥
प्रीतिङ्करवने [4]सर्वगुप्तकेवलसन्निधौ । धर्मतत्त्वं परिज्ञाय स्वैष्यज्जन्मद्वयं च सः ॥ ७ ॥
तदैव तीर्थकृज्जात इव जातमहोत्सवः । पद्मनाभाय दत्वैश्यं [5]प्रारब्ध परमं तपः ॥ ८ ॥
प्रतीतैकादशाङ्गार्थो भावनाहिततीर्थकृत् । शेषपुण्यसमग्रोऽयमाराध्यान्ते चतुष्टयम् ॥ ९ ॥
सहस्रारविमानेशस्तन्नामेन्द्रोऽजनिष्ट सः । अष्टादशाब्धिमानायुरेकचापतनूच्छ्रितिः ॥ १० ॥
जघन्यशुक्लद्वयभाग् नवमासेषु निःश्वसन् । अष्टादशसहस्राब्दैराहारं मनसाऽऽहरन् ॥ ११ ॥
तृसो रूपप्रवीचारात् प्राक्चतुर्थधरावधिः । तावन्मात्रप्रकाशादिरणिमादिगुणोन्नतः ॥ १२ ॥
स स्नेहामृतसम्पृक्तमुखाम्बुरुहदर्शनात् । सन्तर्पितामरीचेताः सुचिरं सुखमन्वभूत् ॥ १३ ॥

जिनके दर्पणके समान निर्मल ज्ञानमें सारा संसार निर्मल-स्पष्ट दिखाई देता है और जिनके सब प्रकारके मलोंका अभाव हो चुका है ऐसे श्री विमलनाथ स्वामी आज हमारे मलोंका अभाव करें—हम सबको निर्मल बनावें ॥ १ ॥ पश्चिम धातकीखण्ड द्वीपमें मेरुपर्वतसे पश्चिमकी ओर सीता नदीके दक्षिण तट पर रम्यकावती नामका एक देश है ॥ २ ॥ उसके महानगरमें वह पद्मसेन राजा राज्य करता था जो कि प्रजाके लिए कल्पवृक्षके समान इच्छित फल देनेवाला था ॥ ३ ॥ स्वदेश तथा परदेशके विभागसे कहे हुए नीति-शास्त्र सम्बन्धी अर्थका निश्चय करनेमें उस राजाका चरित्र उदाहरण रूप था ऐसा शास्त्रके जानकार कहा करते थे ॥ ४ ॥ शत्रुओंको नष्ट करनेवाले उस राजाके राज्य करते समय अपनी-अपनी वृत्तिके अनुसार धनका अर्जन तथा उपभोग करना ही प्रजाका व्यापार रह गया था ॥ ५ ॥ वहाँकी प्रजा कभी न्यायका उल्लंघन नहीं करती थी, राजा प्रजाका उल्लंघन नहीं करता था, धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग राजाका उल्लंघन नहीं करता था और त्रिवर्ग परस्पर एक दूसरेका उल्लंघन नहीं करता था ॥ ६ ॥ किसी एक दिन राजा पद्मसेनने प्रीतिंकर वनमें स्वर्गगुप्त केवलीके समीप धर्मका स्वरूप जाना और उन्हींसे यह भी जाना कि हमारे सिर्फ दो आगामी भव बाकी रह गये हैं ॥ ७ ॥ उसी समय उसने ऐसा उत्सव मनाया मानो मैं तीर्थंकर ही हो गया हूँ और पद्मनाभ पुत्रके लिए राज्य देकर उत्कृष्ट तप तपना शुरू कर दिया ॥ ८ ॥ ग्यारह अंगोंका अध्ययन कर उनपर दृढ़ प्रत्यय किया, दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओंके द्वारा तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया, अन्य पुण्य प्रकृतियोंका भी यथायोग्य संचय किया और अन्त समयमें चार आराधनाओंकी आराधना कर सहस्रार नामक स्वर्गमें सहस्रार नामका इन्द्रपद प्राप्त किया। वहाँ अठारह सागर उसकी आयु थी, एक धनुष अर्थात् चार हाथ ऊँचा शरीर था, द्रव्य और भावकी अपेक्षा जघन्य शुक्ललेश्या थी, वह नौ माहमें एक बार श्वास लेता था, अठारह हजार वर्षमें एक बार मानसिक आहार ग्रहण करता था, देवांगनाओंका रूप देखकर ही उसकी काम-व्यथा शान्त हो जाती थी, चतुर्थ पृथिवी तक उसके अवधिज्ञानका विषय था, वहीं तक उसकी दीप्ति आदि फैल सकती थी, वह अणिमा महिमा आदि गुणोंसे समुन्नत

---

१ मलस्याभावो विमलम् अन्ययीभावसमासः । २ विभोगोक्त क०, घ० । ३ शास्त्रसमुच्चये ल० । ४ सर्वतप्त ल० । ५ प्रारब्धं ख०, ल० ।

सुरलोकादिमं लोकमिन्द्रेऽस्मिन्नागमिष्यति । क्षेत्रेऽत्र पुरि काम्पिल्ये पुरुदेवान्वयो नृपः ॥ १४ ॥
कृतवर्मा महादेवी जयश्यामाऽस्य विश्रुता । देवेन्द्रकृतपूजार्हा वसुधारादिवस्तुभिः ॥ १५ ॥
शुचौ कृष्णदशम्यन्तरजन्यामुत्तरादिमे । ऋक्षे भाद्रपदे दृष्ट्वा स्वप्नान् षोडश सत्फलान् ॥ १६ ॥
तदानीमेव हस्तीन्द्रं विशन्तं वक्त्रवारिजे[1] । व्यलोकिष्ट फलान्येषामवबुध्य महीपतेः ॥ १७ ॥
ततः स्वविष्टराकम्पान्निवेदिततदुत्सवैः । सुरैः स्वर्गात्समायातैरापं कल्याणमादिमम् ॥ १८ ॥
वर्द्धमानेन गर्भेण तेनावर्द्धत सम्मदः । हृदये बन्धुवर्गस्य दुर्गतस्य धनेन वा ॥ १९ ॥
प्रमोदाय सुतस्येह सामान्यस्यापि सम्भवः । किमुच्यते पुनः सूतेः प्रागानम्रसुरेशिनः ॥ २० ॥
[2]माघशुक्लचतुर्थ्यां सा तमहिर्बुध्नयोगतः । त्रिबोधं त्रिजगन्नाथं प्रासूत विमलप्रभम् ॥ २१ ॥
जन्माभिषेककल्याणप्रान्ते विमलवाहनम् । तमाहुरमराः सर्वे सर्वसंस्तुतिगोचरम् ॥ २२ ॥
वासुपूज्येशसन्ताने त्रिंशत्सागरसम्मिते । [3]प्रान्तपल्योपमे धर्मध्वंसे तद्भूतजीवितः ॥ २३ ॥
षष्टिलक्षसमिताब्दायुः षष्टिचापतनुप्रभः[4] । अष्टापदप्रभः [5]सोऽभूत् सर्वपुण्यसमुच्चयः ॥ २४ ॥
खपञ्चकेन्द्रियैकाब्दकौमारविरतौ कृती । राज्याभिषेकपूतात्मा पावनीकृतविष्टपः ॥ २५ ॥
लक्ष्मीः सहचरी तस्य कीर्तिर्जन्मान्तरागता । सरस्वती सहोत्पन्ना वीरलक्ष्म्या स्वयं वृतः ॥ २६ ॥
गुणाः सत्यादयस्तस्मिन् वर्द्धन्ते स्म यथा तथा । मुनीन्द्रैरपि सम्प्राप्यां वर्णना तेषु का परा ॥ २७ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

था, स्नेह रूपी अमृतसे सम्पृक्त रहनेवाले उसके मुख-कमलको देखनसे देवांगनाओंका चित्त संतुष्ट हो जाता था। इस प्रकार चिरकाल तक उसने सुखोंका अनुभव किया ॥ ९–१३ ॥

वह इन्द्र जब स्वर्ग लोकसे चयकर इस पृथिवी लोक पर आनेवाला हुआ तब इसी भरत-क्षेत्रके काम्पिल्य नगरमें भगवान् ऋषभदेवका वंशज कृतवर्मा नामका राजा राज्य करता था। जय-श्यामा उसकी प्रसिद्ध महादेवी थी। इन्द्रादि देवोंने रत्नवृष्टि आदिके द्वारा जयश्यामाकी पूजा की। ॥ १४–१५ ॥ उसने ज्येष्ठकृष्णा दशमीके दिन रात्रिके पिछले भागमें उत्तराभाद्रपद नक्षत्रके रहते हुए सोलह स्वप्न देखे, उसी समय अपने मुख-कमलमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा, और राजासे इन सबका फल ज्ञात किया ॥ १६–१७ ॥ उसी समय अपने आसनोंके कम्पनसे जिन्हें गर्भ-कल्याणककी सूचना हो गई है ऐसे देवोंने स्वर्गसे आकर प्रथम–गर्भकल्याणक किया ॥ १८ ॥

जिस प्रकार बढ़ते हुए धनसे किसी दरिद्र मनुष्यके हृदयमें हर्षकी वृद्धि होने लगती है उसी प्रकार रानी जयश्यामाके बढ़ते हुए गर्भसे बन्धुजनोंके हृदयमें हर्षकी वृद्धि होने लगी थी ॥ १९ ॥ इस संसारमें साधारणसे साधारण पुत्रका जन्म भी हर्षका कारण है तब जिसके जन्मके पूर्व ही इन्द्र लोग नम्रीभूत हो गये हों उस पुत्रके जन्मकी बात ही क्या कहना है ? ॥ २० ॥ माघशुक्ल चतुर्थीके दिन (ख० ग० प्रतिके पाठकी अपेक्षा चतुर्दशीके दिन) अहिर्बुध्न योगमें रानी जयश्यामाने तीन ज्ञानके धारी, तीन जगत्के स्वामी तथा निर्मल प्रभाके धारक भगवान्को जन्म दिया ॥ २१ ॥ जन्माभिषेकके बाद सब देवोंने उनका विमलवाहन नाम रक्खा और सबने स्तुति की ॥ २२ ॥ भग-वान् वासुपूज्यके तीर्थके बाद जब तीस सागर वर्ष बीत गये और पल्यके अन्तिम भागमें धर्मका विच्छेद हो गया तब विमलवाहन भगवान्का जन्म हुआ था। उनकी आयु इसी अन्तरालमें शामिल थी ॥ २३ ॥ उनकी आयु साठ लाख वर्षकी थी, शरीर साठ धनुष ऊँचा था, कान्ति सुवर्णके समान थी और वे ऐसे सुशोभित होते थे मानो समस्त पुण्योंकी राशि ही हों ॥ २४ ॥ समस्त लोकको पवित्र करनेवाले, अतिशय पुण्यशाली भगवान् विमलवाहनकी आत्मा पन्द्रह लाख प्रमाण कुमारकाल बीतजानेपर राज्याभिषेकसे पवित्र हुई थी ॥ २५ ॥ लक्ष्मी उनकी सहचारिणी थी, कीर्ति जन्मान्तरसे साथ आई थी, सरस्वती साथ ही उत्पन्न हुई थी और वीर-लक्ष्मीने उन्हें स्वयं स्वीकृत किया था ॥ २६ ॥ उस राजामें जो सत्यादिगुण बढ़ रहे थे वे बड़े-बड़े मुनियोंके द्वारा भी प्रार्थनीय थे इससे

१ वारिजम् ख०, ग० । २ माघशुक्लचतुर्दश्यां ख०, ग० । ३ प्राप्त-ख० । ४ वपुःप्रभः ख० । ५ सोऽभात् क०, ख०, ग०, घ० ।

सुखस्य तस्य को वेत्ति प्रमां मुक्तिमुखस्य चेत् । [1]अनन्तरनितान्तत्वादानन्त्यादतिशुद्धितः ॥ २८ ॥
देवदेवस्तदैवासावासीद् विश्वसुरेश्वरैः । अभ्यर्चितांघ्रिरागन्त्री केवलं केवलात्मता ॥ २९ ॥
यशः प्रकाशयत्याशाः [2]श्रीशः कुन्देन्दुनिर्मलम् । काशप्रसवनीकाशमाकाशं चाकरोददः ॥ ३० ॥
त्रिंशच्छतसहस्राब्दराज्यकालावसानगः । भोगान् विभज्य भुञ्जानो भूयः षड्ऋतुसम्भवान् ॥ ३१ ॥
हिमानीपटलच्छन्नदिग्भूभूरुहभूधरे । हेमन्ते हैमनीं लक्ष्मीं विलीनां वीक्ष्य तत्क्षणात् ॥ ३२ ॥
विरक्तः संसृतेः पूर्वनिजजन्मोपयोगवान् । रोगीव नितरां खिन्नो मानभङ्गविमर्शनात् ॥ ३३ ॥
सज्ज्ञानैस्त्रिभिरप्येभिः किं कृत्यमवधौ स्थिते । वीर्येण च किमेतेन यत्परमोत्कर्षमनाप्तवत्[3] ॥ ३४ ॥
चारित्रस्य न गन्धोऽपि प्रत्याख्यानोदयो यतः । बन्धश्चतुर्विधोऽप्यस्ति बहुमोहपरिग्रहः ॥ ३५ ॥
प्रमादाः सन्ति सर्वेऽपि निर्जराप्यल्पिकेव सा । अहो मोहस्य माहात्म्यं माद्याम्यहमिहैव हि ॥ ३६ ॥
साहसं [4]पश्य भुञ्जेऽहं [5]भोगान्भोगानिवोरगान् । पुण्यस्य कर्मणः पाकादेतन्मे सम्प्रवर्तते ॥ ३७ ॥
तस्य यावन्न यास्यन्तमनन्तं तत्सुखं कुतः । इतीवचित्तो विमलो विमलावगमोद्गमात् ॥ ३८ ॥
तदैवायातसारस्वतादिभिः कृतसंस्तवः । सुरैस्तृतीयकल्याणे विहिताभिषवोत्सवः ॥ ३९ ॥
देवदत्तां समारुह्य शिबिकाममरैर्वृतः । विभुः सहेतुकोद्याने प्राव्राजीद् द्युपवासभाक् ॥ ४० ॥
माघशुक्लचतुर्थ्यांहःप्रान्ते षड्विंशकर्क्षके । सहस्रनरपैः सार्द्धं प्राप्य तुर्यावबोधनम् ॥ ४१ ॥

बढ़कर उनकी और क्या स्तुति हो सकती थी ॥ २७ ॥ अत्यन्त विशुद्धताके कारण थोड़े ही दिन बाद जिन्हें मोक्षका अनन्त सुख प्राप्त होनेवाला है ऐसे विमलवाहन भगवान् के अनन्त सुखका वर्णन भला कौन कर सकता है ? ॥२८॥ जब उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ तब समस्त इन्द्रोंने उनके चरणकमलोंकी पूजा की थी और इसीलिए वे देवाधिदेव कहलाये थे ॥ २९ ॥ लक्ष्मीके अधिपति भगवान् विमलवाहनका कुन्दपुष्प अथवा चन्द्रमाके समान निर्मल यश दिशाओंको प्रकाशित कर रहा था और आकाशको काशके पुष्पके समान बना रहा था ॥ ३० ॥ इस प्रकार छह ऋतुओंमें उत्पन्न हुए भोगोंका उपभोग करते हुए भगवान्के तीस लाख वर्ष बीत गये ॥ ३१॥

एक दिन उन्होंने, जिसमें समस्त दिशाएँ, भूमि, वृक्ष और पर्वत बर्फसे ढक रहे थे ऐसी हेमन्त ऋतुमें बर्फकी शोभाको तत्क्षणमें विलीन होता देखा ॥ ३२ ॥ जिससे उन्हें उसी समय संसारसे वैराग्य उत्पन्न हो गया, उसी समय उन्हें अपने पूर्व जन्मकी सब बातें याद आ गईं और मान-भंगका विचार कर रोगीके समान अत्यन्त खेदखिन्न हुए ॥ ३३ ॥ वे सोचने लगे कि इन तीन सम्यग्ज्ञानोंसे क्या होने वाला है क्यों कि इन सभीकी सीमा है—इन सभीका विषय क्षेत्र परिमित है और इस वीर्यसे भी क्या लाभ है ? जो कि परमोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त नहीं है ॥ ३४ ॥ चूंकि प्रत्याख्यानावरण कर्मका उदय है अतः मेरे चारित्रका लेश भी नहीं है और बहुत प्रकारका मोह तथा परिग्रह विद्यमान है अतः चारों प्रकार बन्ध भी विद्यमान है ॥ ३५ ॥ प्रमाद भी अभी मौजूद है और निर्जरा भी बहुत थोड़ी है। अहो ! मोहकी बड़ी महिमा है कि अब भी मैं इन्हीं संसारकी वस्तुओंमें मत्त हो रहा हूँ ॥ ३६ ॥ मेरा साहस तो देखो कि मैं अब तक सर्पके शरीर अथवा फणाके समान भयंकर इन भोगोंको भोग रहा हूँ। यह अब भोगोपभोग मुझे पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुए हैं ॥ ३७ ॥ सो जब तक इस पुण्यकर्मका अन्त नहीं कर देता जब तक मुझे अनन्त सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? इस प्रकार निर्मल ज्ञान उत्पन्न होनेसे विमलवाहन भगवान्ने अपने हृदयमें विचार किया ॥ ३८ ॥ उसी समय आये हुए सारस्वत आदि लौकान्तिक देवोंने उनका स्तवन किया तथा अन्य देवोंने दीक्षाकल्याणकके समय होने वाले अभिषेकका उत्सव किया ॥ ३९ ॥ तदनन्तर देवोंके द्वारा घिरे हुए भगवान् देवदत्ता नामकी पालकी पर सवार होकर सहेतुक वनमें गये और वहाँ दो दिनके उपवासका नियम लेकर दीक्षित हो गये ॥ ४० ॥ उन्होंने यह दीक्षा

---

१ अनन्तरं नितान्तत्वात् क०, घ० । २ श्रिया ईट् तस्य लक्ष्मीश्वरस्य। ३-मनाप्तवान् ग०, ख० । ४ परिभुञ्जेऽमून् ख० । ५ सर्पशरीराणीव ।

द्वितीयेऽह्नि पुरं[1] नन्दनाभिधं भुक्तयेऽविशत् । जयो नाम नृपस्तस्मै दत्त्वाऽन्नं कनकप्रभः ॥ ४२ ॥
पञ्चाश्चर्यं [2]समापाप्यं किन्न वा पात्रदानतः । सामायिकं समादाय संयमं शुद्धचेतसा ॥ ४३ ॥
त्रिवत्सरमिते याते तपस्येष महामुनिः । निजदीक्षावने जम्बूद्रुममूले द्युपोषितः ॥ ४४ ॥
माघे मासि सिते पक्षे षष्ठ्यां प्रेष्ठोपराह्णके । स्वदीक्षादाननक्षत्रे घातिकर्मविनाशनात् ॥ ४५ ॥
केवलावगमं प्रापत्सद्यो व्याप्तचराचरः । तदैवापैंश्च देवेन्द्राः स्वानमन्मुकुटाननाः ॥ ४६ ॥
देवदुन्दुभिमुख्याष्टप्रातिहार्यादिवैभवम् । प्राप्य तैर्गन्धकुट्यन्तर्गतसिंहासने स्थितः ॥ ४७ ॥
मन्दरादिगणाधीशपञ्चपञ्चाशदावृतः । शतोत्तरसहस्रोक्तपूज्यपूर्वधरैर्वृतः ॥ ४८ ॥
खत्रिपञ्चर्तुवह्न्युक्तशिक्षकैरुपलक्षितः । खद्वयाष्टचतुर्मेयत्रिविधावधिवन्दितः ॥ ४९ ॥
खद्वयेन्द्रियपञ्चाभिधेयकेवललोचनः । शून्यत्रयनवज्ञातविक्रियद्धृयु[1]पबृंहितः ॥ ५० ॥
खद्वयेन्द्रियपञ्चाधिगम्यतुर्यावबोधनः । खद्वयर्त्वग्निनिर्णीतवादिसंयतसंयुतः ॥ ५१ ॥
अष्टषष्टिसहस्रोक्तसर्वसंयमिसंस्तुतः । त्रिसहस्रैकलक्षोक्तपद्मार्यार्यिकार्चितः ॥ ५२ ॥
द्विलक्षश्रावकोपेतो द्विगुणश्राविकार्चितः । पूर्वोक्तद्विगणोपेतो धर्मक्षेत्रेष्वनारतम् ॥ ५३ ॥
भवातपपरिम्लानभव्यसस्याभितर्पकः । सम्मेदपर्वतं प्राप्य मासमेकं गतक्रियः ॥ ५४ ॥
खद्वयर्त्वष्टसम्प्रोक्तयतिभिः प्रतिमां गतः । आषाढस्योत्तराषाढे कृष्णाष्टम्यां निशामुखे ॥ ५५ ॥
सद्यः कृत्वा समुद्घातं सूक्ष्मं शुक्लं समाश्रितः । सम्यग्योगादयोगः सन् स्वास्थ्यं रोगीव सोऽगमत्॥५६॥

माघशुक्ल चतुर्थीके दिन सायंकालके समय छब्बीसवें—उत्तराभाद्रपद नक्षत्रमें एक हजार राजाओंके साथ ली थी और उसी दिन वे चौथा–मनःपर्ययज्ञान प्राप्तकर चार ज्ञानके धारी हो गये थे ॥४१॥ दूसरे दिन उन्होंने भोजनके लिए नन्दनपुर नगरमें प्रवेश किया। वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले राजा कनकप्रभुने उन्हें आहार दान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये सो ठीक ही है क्योंकि पात्रदानसे क्या नहीं प्राप्त होता ? इस प्रकार सामायिक चारित्र धारण करके शुद्ध हृदयसे तपस्या करने लगे ॥ ४२–४३ ॥ जब तीन वर्ष बीत गये तब वे महामुनि एक दिन अपने दीक्षावनमें दो दिनके उपवासका नियम ले कर जामुनके वृक्षके नीचे ध्यानारूढ हुए ॥ ४४ ॥ फलस्वरूप माघशुक्ल षष्ठीके दिन सायंकालके समय अतिशय श्रेष्ठ भगवान् विमलवाहनने अपने दीक्षाग्रहणके नक्षत्रमें घातिया कर्मोंका विनाश कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। अब वे चर-अचर समस्त पदार्थोंको शीघ्र ही जानने लगे। उसी समय अपने मुकुट तथा मुख झुकाये हुए देव लोग आये। उन्होंने देवदुन्दुभि आदि आठ मुख्य प्रातिहार्योंका वैभव प्रकट किया। उसे पाकर वे गन्ध-कुटीके मध्यमें स्थित सिंहासनपर विराजमान हुए ॥ ४५–४७ ॥ वे भगवान् मन्दर आदि पचपन गणधरोंसे सदा घिरे रहते थे, ग्यारह सौ पूज्य पूर्वधारियोंसे सहित थे, छत्तीस हजार पाँच सौ तीस शिक्षकोंसे युक्त थे, चार हजार आठसौ तीनों प्रकारके अवधि-ज्ञानियोंसे वन्दित थे, पाँच हजार पाँचसौ केवलज्ञानी उनके साथ थे, नौ हजार विक्रिया ऋद्धिके धारक उनके संघकी वृद्धि करते थे, पाँच हजार पाँच सौ मनःपर्यय ज्ञानी उनके समवसरणमें थे, वे तीन हजार छह सौ वादियोंसे सहित थे, इस प्रकार अड़सठ हजार मुनि उनकी स्तुति करते थे। पद्माको आदि लेकर एक लाख तीन हजार आर्यिकाएं उनकी पूजा करती थीं, वे लाख श्रावकोंसे सहित थे तथा चार लाख श्राविकाओंसे पूजित थे। इनके सिवाय दो गणों अर्थात् असंख्यात देव देवियों और संख्यात तिर्यञ्चोंसे वे सहित थे। इस तरह धर्मक्षेत्रोंमें उन्होंने निरन्तर विहार किया तथा संसाररूपी आतपसे मुरझाये हुए भव्यरूपी धान्योंको संतुष्ट किया। अन्तमें वे सम्मेदशिखरपर जा विराजमान हुए और वहाँपर उन्होंने एक माहका योग निरोध किया ॥ ४८–५४ ॥ आठ हजार छह सौ मुनियोंके साथ प्रतिमा योग धारण किया तथा आषाढ़ कृष्ण अष्टमीके दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्रमें प्रातःकालके समय शीघ्र ही समुद्घात कर सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाती नामका शुक्लध्यान धारण किया तथा तत्काल ही सयोग अवस्थासे अयोग अवस्था धारण कर उस प्रकार स्वास्थ्य (स्वरूपावस्थान) अर्थात् मोक्ष प्राप्त किया जिस प्रकार कि कोई

---

१ पुरे ल०। २ समाप लेभे, आप्यं लभ्यम्।

तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् पूज्या कालाष्टमी बुधैः । तदेवालम्बनं कृत्वा मिथ्यादृग्भिश्च पूज्यते ॥ ५७ ॥
कृत्वाऽन्त्येष्टिं तदाभ्येत्य सौधर्मप्रमुखाः सुराः । सिद्धस्तुतिभिरर्थ्याभिरवन्दिषत निर्वृतम् ॥ ५८ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

सन्तत्या मलसञ्चयः परिणतो हिंसादिभिः सन्ततं
संसारे सुकृतात्ततो निजगुणा नेयुर्विशुद्धिं क्वचित् ।
तानद्याहमवाप्य बुद्धिममलां शुद्धिं नयामीत्ययं
शुक्लध्यानमुपाश्रितोऽतिविमलस्तस्माद्यथार्थाह्वयः ॥ ५९ ॥

वसन्ततिलका

श्रद्धानबोधरदनं गुणपुण्यमूर्ति-
माराधना चरणमायतधर्महस्तम् ।
सन्मार्गवारणमघारिमभिप्रचोद्य
विध्वंसनाद्विमलवाहनमाहुरेनम् ॥ ६० ॥

मालिनी

विनिहतपरसेनः पद्मसेनो महीशः
सुरसमितिसमर्च्यः स्पष्टसौख्योऽष्टमेन्द्रः ।
विपुलविमलकीर्तिर्विश्वविश्वम्भरेशो
विमलजिनपतिः स्तात् सुष्ठुतस्तुष्टये वः ॥ ६१ ॥
स्त्रिमिततमसराशिध्वस्तनिःशेषदोषं
क्रमगमकरणान्तर्द्धानहीनावबोधम् ।
विमलममलमूर्तिं कीर्तिभाजं शुभाजां
नमत विमलताप्त्यै भक्तिभारेण भव्याः ॥ ६२ ॥

रोगी स्वास्थ्य (नीरोग अवस्था) प्राप्त करता है ॥ ५५-५६ ॥ उसी समयसे ले कर लोकमें आषाढ कृष्ण अष्टमी, कालाष्टमीके नामसे विद्वानोंके द्वारा पूज्य हो गई और इसी निमित्तको पाकर मिथ्या-दृष्टि लोग भी उसकी पूजा करने लगे ॥ ५७ ॥ उसी समय सौधर्म आदि देवोंने आकर उनका अन्त्येष्टि संस्कार किया और मुक्त हुए उन भगवान्की अर्थपूर्ण सिद्ध स्तुतियोंसे वन्दना की ॥ ५८ ॥

हिंसा आदि पापोंसे परिणत हुआ यह जीव निरन्तर मलका संचय करता रहता है और पुण्यके द्वारा भी इसी संसारमें निरन्तर विद्यमान रहता है अतः कहीं अपने गुणोंको विशुद्ध बनाना चाहिये—पाप पुण्यके विकल्पसे रहित बनाना चाहिये। आज मैं निर्मल बुद्धि-शुद्धोपयोगकी भावनाको प्राप्त कर अपने उन गुणोंको शुद्धि प्राप्त कराता हूँ—पुण्य-पापके विकल्पसे दूर हटाकर शुद्ध बनाता हूँ' ऐसा विचार कर ही जो शुक्लध्यानको प्राप्त हुए थे ऐसे विमलवाहन भगवान् अपने सार्थक नामको धारण करते थे ॥ ५९ ॥ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ही जिसके दो दाँत हैं; गुण ही जिसका पवित्र शरीर है, चार आराधनाएँ ही जिसके चरण हैं और विशाल धर्म ही जिसकी सूँड है ऐसे सन्मार्गरूपी हाथीको पाप-रूपी शत्रुके प्रति प्रेरित कर भगवान् विमलवाहनने पाप-रूपी शत्रुको नष्ट किया था इसलिए ही लोग उन्हें विमलवाहन (विमलं वाहनं यानं यस्य सः विमलवाहनः—निर्मल सवारीसे युक्त) कहते थे ॥ ६० ॥ जो पहले शत्रुओंकी सेनाको नष्ट करने-वाले पद्मसेन राजा हुए, फिर देव-समूहसे पूजनीय तथा स्पष्ट सुखोंसे युक्त अष्टम स्वर्गके इन्द्र हुए, और तदनन्तर विशाल निर्मलकीर्तिके धारक एवं समस्त पृथिवीके स्वामी विमलवाहन जिनेन्द्र हुए, वे तेरहवें विमलनाथ तीर्थंकर अच्छी तरह आप लोगोंके संतोषके लिए हों ॥ ६१ ॥ हे भव्य जीवो ! जिन्होंने अपनी अत्यन्त निश्चल समाधिके द्वारा समस्त दोषोंको नष्ट कर दिया है, जिनका

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तीर्थे विमलनाथस्य सञ्जातौ रामकेशवौ । धर्मस्वयम्भूनामानौ तयोश्चरितमुच्यते ॥ ६३ ॥
विदेहेऽस्मिन् प्रतीच्यासीन्मित्रनन्दीति भूभुजः । स्ववशीकृतनिःशेषनिजभोग्यमहीतलः ॥ ६४ ॥
प्रजानामेष रक्तत्वात् प्रजाश्चास्य प्रपालनात् । सर्वदा वृद्धयेऽभूवन् भवेत्स्वार्था परार्थता ॥ ६५ ॥
स्वचक्रमिव तस्यासीत्परचक्रं च धीमतः । चक्रवृद्धेः स्वचक्रं च परचक्रमपक्रमात् ॥ ६६ ॥
अतृप्यदेष भूपालस्तर्पयित्वाऽखिलाः प्रजाः । परोपकारवृत्तीनां परतृप्तिः स्वतृप्तये ॥ ६७ ॥
स कदाचित्समासाद्य सुव्रतं जिनपुङ्गवम् । श्रुत्वा धर्मं सुधीर्भत्वा स्वाङ्गभोगादि भंगुरम् ॥ ६८ ॥
अङ्गिनो बत सीदन्ति सङ्गमादाहितांहसः । निःसङ्गतां न गच्छन्ति किं गतं न विदन्त्यमी ॥ ६९ ॥
इति निर्विद्य संसाराद् गृहीत्वा संयमं परम् । संन्यस्यागात् त्रयस्त्रिंशद्वार्द्धिस्थितिरनुत्तरम् ॥ ७० ॥
ततो [1]द्वारवतीपुर्यां सुतो भद्रमहीपतेः । सुभद्रायाश्च धर्माख्यः सोऽभूत्सुस्वप्नपूर्वकम् ॥ ७१ ॥
अमुस्मिन् भारते वर्षे कुणालविषये पुरम् । श्रावस्ती तत्र राजाऽभूत्सुकेतुर्भोगतत्परः ॥ ७२ ॥
कामजे व्यसने द्यूते संसक्तः कर्मचोदितः । निषिद्धो मन्त्रिभिर्बन्धुवरैश्च बहुशो हितैः ॥ ७३ ॥
चोदितो वा स तैर्भूयो दीव्यन् दैवविलोमतः । राष्ट्रं वित्तं बलं देवी सर्वमस्यापहारितम् ॥ ७४ ॥
क्रोधजेषु त्रिपूक्तेषु कामजेषु चतुर्षु च । नापरं व्यसनं द्यूतान्निकृष्टं प्राहुरागमाः ॥ ७५ ॥

ज्ञान क्रम, इन्द्रिय तथा मनसे रहित है, जिनका शरीर अत्यन्त निर्मल है और देव भी जिनकी कीर्तिका गान करते हैं ऐसे विमलवाहन भगवान्को निर्मलता प्राप्त करनेके लिए तुम सब बड़ी भक्तिसे नमस्कार करो ॥ ६२ ॥

अथानन्तर श्री विमलनाथ भगवान्के तीर्थमें धर्म और स्वयंभू नामके बलभद्र तथा नारायण हुए इसलिए अब उनका चरित कहा जाता है ॥ ६३ ॥ इसी भरतक्षेत्रके पश्चिम विदेह क्षेत्रमें एक मित्रनन्दी नामका राजा था, उसने अपने उपभोग करने योग्य समस्त पृथिवी अपने आधीन कर ली थी ॥ ६४ ॥ प्रजा इसके साथ प्रेम रखती थी इसलिए यह प्रजाकी वृद्धिके लिए था और यह प्रजाकी रक्षा करता था अतः प्रजा इसकी वृद्धिके लिए थी—राजा और प्रजा दोनों ही सदा एक दूसरेकी वृद्धि करते थे सो ठीक ही है क्योंकि परोपकारके भीतर स्वोपकार भी निहित रहता है ॥ ६५ ॥ उस बुद्धिमान्के लिए शत्रुकी सेना भी स्वसेनाके समान थी और जिसकी बुद्धि चक्रके समान फिरा करती थी—चंचल रहती थी उसके लिए क्रमका उल्लंघन होनेसे स्वसेना भी शत्रु-सेनाके समान हो जाती थी ॥६६॥ यह राजा समस्त प्रजाको संतुष्ट करके ही स्वयं संतुष्ट होता था सो ठीक ही है क्योंकि परोपकार करनेवाले मनुष्योंके दूसरोंको संतुष्ट करनेसे ही अपना संतोष होता है ॥ ६७ ॥ किसी एक दिन वह बुद्धिमान् सुव्रत नामक जिनेन्द्रके पास पहुँचा और वहाँ धर्मका स्वरूप सुनकर अपने शरीर तथा भोगादिको नश्वर मानने लगा ॥ ६८ ॥ वह सोचने लगा—बड़े दुःखकी बात है कि ये संसारके प्राणी परिग्रहके समागमसे ही पापोंका संचय करते हुए दुःखी हो रहे हैं फिर भी निष्परिग्रह अवस्थाको प्राप्त नहीं होते—सब परिग्रह छोड़ कर दिगम्बर नहीं होते। बड़ा आश्चर्य है कि ये सामनेकी बातको भी नहीं जानते ॥ ६९ ॥ इस प्रकार संसारसे विरक्त होकर उसने उत्कृष्ट संयम धारण कर लिया और अन्त समयमें संन्यास धारण कर अनुत्तर विमानमें तैंतीस सागरकी आयुवाला अहमिन्द्र हुआ ॥ ७० ॥

वहाँसे चयकर द्वारावती नगरीके राजा भद्रकी रानी सुभद्राके शुभ स्वप्न देखनेके बाद धर्म नामका पुत्र हुआ ॥ ७१ ॥ इसी भारतवर्षके कुणाल देशमें एक श्रावस्ती नामका नगर था वहाँ पर भोगोंमें तल्लीन हुआ सुकेतु नामका राजा रहता था ॥ ७२ ॥ अशुभ कर्मके उदयसे वह बहुत कामी था, तथा द्यूत व्यसनमें आसक्त था। यद्यपि हित चाहनेवाले मन्त्रियों और कुटुम्बियोंने उसे बहुत बार रोका पर उसके बदले उनसे प्रेरित हुएके समान वह बार-बार जुआ खेलता रहा और कर्मोदयके विपरीत होनेसे वह अपना देश-धन-बल और रानी सब कुछ हार गया ॥ ७३–७४ ॥ क्रोधसे उत्पन्न

---

१ द्वारावती क०, घ० ।

महागुणेषु यत्सत्यमुक्तं प्राग् हार्यते हि तत् । द्यूतासक्तेन लज्जाभिमानं पश्चात्कुलं सुखम् ॥ ७६ ॥
सौजन्यं बन्धवो धर्मो द्रव्यं क्षेत्रं गृहं यशः । पितरौ दारका दाराः स्वयं चातिप्रसङ्गतः ॥ ७७ ॥
न स्नानं भोजनं स्वापो निरोधाद्रोगमृच्छति । न यात्यर्थान् वृथा क्लेशी बहुदोषं चिनोत्यघम् ॥ ७८ ॥
करोति कुत्सितं कर्म जायते पारिपन्थिकः । याचतेऽन्येषु [1]वार्थार्थमकार्येषु प्रवर्तते ॥ ७९ ॥
बन्धुभिः स परित्यक्तो राजभिर्याति यातनाम् । इति द्यूतस्य को दोषानुद्देष्टुमपि शक्नुयात् ॥ ८० ॥
सुकेतुरेव दृष्टान्तो येन राज्यं तथा हृतम् । तस्माद्योऽकूजो वान्छेत् दूरतो द्यूतमुत्सृजेत् ॥ ८१ ॥
सुकेतुरिति सर्वस्वहानिशोकाकुलीकृतः । गत्वा सुदर्शनाचार्य[2]पादमूलं श्रुतागमः ॥ ८२ ॥
सद्यो निर्विद्य संसारात्प्रव्रज्याप्यशुभाशयः[3] । शोकादन्नं समुत्सृज्य तपोभिरतिदुष्करैः ॥ ८३ ॥
दीर्घकालमलं तप्त्वा कलागुणविदग्धता । बलं चैतेन मे भूयात्तपसेत्यायुषः क्षये ॥ ८४ ॥
कृत्वा निदानं संन्यस्य लान्तवकल्पमास्थितः । तत्र दिव्यसुखं प्रापत्स चतुर्दशसागरम् ॥ ८५ ॥
ततः सोऽप्यवतीर्यात्र भद्रस्यैव महीभुजः । बभूव पृथिवीदेव्यां स्वयम्भूः सूनुषु प्रियः ॥ ८६ ॥
धर्मो बलः स्वयम्भूश्च केशवस्तौ परस्परम् । अभूतां प्रीतिसम्पन्नावन्वभूतां श्रियं चिरम् ॥ ८७ ॥
सुकेतुजातौ द्यूतेन निर्जित्य बलिना हठात् । स्वीकृतं येन तद्राज्यं सोऽभूद्रत्नपुरे मधुः ॥ ८८ ॥
तज्जन्मवैरसंस्कारसमेतेनाधुनामुना । तद्वामश्रुतिमात्रेण सकोपेन स्वयम्भुवा ॥ ८९ ॥

होनेवाले मद्य, मांस और शिकार इन तीन व्यसनोंमें तथा कामसे उत्पन्न होनेवाले जुआ, चोरी, वेश्या और पर-स्त्रीसेवन इन चार व्यसनोंमें जुआ खेलनेके समान कोई नीच व्यसन नहीं है ऐसा सब शास्त्रकार कहते हैं ॥ ७५ ॥ जो सत्य महागुणोंमें कहा गया है जुआ खेलनेमें आसक्त मनुष्य उसे सबसे पहले हारता है। पीछे लज्जा, अभिमान, कुल, सुख, सज्जनता, बन्धुवर्ग, धर्म, द्रव्य, क्षेत्र, घर, यश, माता-पिता, बाल-बच्चे, स्त्रियाँ और स्वयं अपने आपको हारता है—नष्ट करता है। जुआ खेलनेवाला मनुष्य अत्यासक्तिके कारण न स्नान करता है, न भोजन करता है, न सोता है और इन आवश्यक कार्योंका रोध हो जानेसे रोगी हो जाता है। जुआ खेलनेसे धन प्राप्त होता हो सो बात नहीं, वह व्यर्थ ही क्लेश उठाता है, अनेक दोष उत्पन्न करनेवाले पापका संचय करता है, निन्द्य कार्य कर बैठता है, सबका शत्रु बन जाता है, दूसरे लोगोंसे याचना करने लगता है और धनके लिए नहीं करने योग्य कर्मोंमें प्रवृत्ति करने लगता है। बन्धुजन उसे छोड़ देते हैं—घरसे निकाल देते हैं, एवं राजाकी ओरसे उसे अनेक कष्ट प्राप्त होते हैं। इस प्रकार जुआके दोषोंका नामोल्लेख करनेके लिए भी कौन समर्थ है ? ॥ ७६–८० ॥ राजा सुकेतु ही इसका सबसे अच्छा दृष्टान्त है क्योंकि वह इस जुआके द्वारा अपना राज्य भी हरा बैठा था। इसलिए जो मनुष्य अपने दोनों लोकोंका भला चाहता है वह जुआको दूरसे ही छोड़ देवे ॥ ८१ ॥ इस प्रकार सुकेतु जब अपना सर्वस्व हार चुका तब शोकसे व्याकुल होकर सुदर्शनाचार्यके चरण-मूलमें गया। वहाँ उसने जिनागमका उपदेश सुना और संसारसे विरक्त होकर दीक्षा धारण कर ली। यद्यपि उसने दीक्षा धारण कर ली थी तथापि उसका आशय निर्मल नहीं हुआ था। उसने शोकसे अन्न छोड़ दिया और अत्यन्त कठिन तपश्चरण किया ॥ ८२–८३ ॥ इस प्रकार दीर्घकाल तक तपश्चरण कर उसने आयुके अन्तिम समयमें निदान किया कि इस तपके द्वारा मेरे कला, गुण, चतुरता और बल प्रकट हो ॥ ८४ ॥ ऐसा निदान कर वह संन्यास-मरणसे मरा तथा लान्तव स्वर्गमें देव हुआ। वहाँ चौदह सागर तक स्वर्गीय सुखका उपभोग करता रहा ॥ ८५ ॥ वहाँसे चयकर इसी भरतक्षेत्रकी द्वारावती नगरीके भद्र राजाकी पृथिवी रानीके स्वयंभू नामका पुत्र हुआ। यह पुत्र राजाको सब पुत्रोंमें अधिक प्यारा था ॥ ८६ ॥ धर्म बलभद्र था और स्वयंभू नारायण था। दोनोंमें ही परस्पर अधिक प्रीति थी और दोनों ही चिरकाल तक राज्यलक्ष्मीका उपभोग करते रहे ॥ ८७ ॥ सुकेतुकी पर्यायमें जिस बलवान् राजाने जुआमें सुकेतुका राज्य छीन लिया था वह मर कर रत्नपुर नगरमें राजा मधु हुआ था ॥ ८८ ॥ पूर्व जन्मके

---

१ वा अर्थार्थं धनार्थम् । २ सुदर्शनाचार्यपाद ल० । ३–स्यशुभाशयं ग०, घ०, क०, ।

मधोः केनापि भूपे च प्रहितं प्राभृतं स्वयम् । घातयित्वोभयोर्दूतौ साधिक्षेपमगृह्णत ॥ ९० ॥
प्रीत्यप्रीतिसमुत्पन्नः संस्कारो जायते स्थिरः[1] । तस्मादप्रीतिमात्मज्ञो न कुर्यात्क्वापि कस्यचित् ॥ ९१ ॥
आकर्ण्य नारदाद् दूतमृत्युमावेशितक्रुधा । ययावभिमुखं योद्धुं रामकेशवयोर्मधुः ॥ ९२ ॥
तौ च संग्रामसन्नद्धौ क्रुद्धौ युद्धविशारदौ । प्रापतुः सहसा हन्तुं तं यमानलसन्निभौ ॥ ९३ ॥
सैन्ययोरुभयोरासीत् संग्रामः संहरन्निव । परस्परं चिरं घोरः शूरयोर्भीरुभीप्रदः ॥ ९४ ॥
स्वयम्भुवं समुद्दिश्य तदा सोढा मधुः क्रुधा । ज्वलच्चक्रं विवस्वांशु न्यक्षिपत्तज्जिघांसया ॥ ९५ ॥
तद्गत्वाऽऽशु परीत्यैनं भुजाग्रे दक्षिणे स्थितम् । अवतीर्यं मरुन्मार्गाद्भास्करस्येव मण्डलम् ॥ ९६ ॥
तदेवादाय सक्रोधः स्वयम्भूर्विद्विषं प्रति । [2]प्रहित्यादादसूंस्तस्य किं न स्यात् सुकृतोदयात् ॥ ९७ ॥
आधिपत्यं तदावाप्य भरतार्द्धस्य केशवः । वासवो वोऽन्वभूद्भोगान्निर्विघ्नं स्वाग्रजान्वितः ॥ ९८ ॥
मधुः सत्त्वं समुत्सृज्य भूयः [3]संश्रितवान् रजः । बद्ध्वायुर्नारकं प्रापन्निरयं स तमस्तमः ॥ ९९ ॥
केशवोऽपि तमन्वेष्टुमिव वैरानुबन्धनात् । तदेव [4]नरकं पश्चात्प्राविक्षत् पापपाकतः ॥ १०० ॥
बलोऽपि तद्वियोगोत्थशोकसन्तप्तमानसः । निर्विद्य संसृतेः प्राप्य जिनं विमलवाहनम् ॥ १०१ ॥
सामायिकं समादाय संयमं संयताग्रणीः । [5]विग्रहे [6]विग्रहीवोग्रं निर्व्यग्रमकरोत्तपः ॥ १०२ ॥
सद्वृत्तस्तेजसो मूर्तिर्धुन्वन्नभ्युदितस्तमः । असम्बाधमगादूर्ध्वं भास्वानिव बलोऽमलः ॥ १०३ ॥

वैरका संस्कार होनेसे राजा स्वयंभू मधुका नाम सुनने मात्रसे कुपित हो जाता था ॥ ८९ ॥ किसी समय किसी राजाने राजा मधुके लिए भेंट भेजी थी, राजा स्वयंभूने दोनोंके दूतोंको मारकर तिरस्कारके साथ वह भेंट स्वयं छीन ली ॥ ९० ॥ आचार्य कहते हैं कि प्रेम और द्वेषसे उत्पन्न हुआ संस्कार स्थिर हो जाता है इसलिए आत्मज्ञानी मनुष्यको कहीं किसीके साथ द्वेष नहीं करना चाहिए ॥ ९१ ॥ जब मधुने नारदसे दूतके मरनेका समाचार सुना तो वह क्रोधित होकर युद्ध करनेके लिए बलभद्र और नारायणके सन्मुख चला ॥ ९२ ॥ इधर युद्ध करनेमें चतुर तथा कुपित बलभद्र और नारायण युद्धके लिए पहलेसे ही तैयार बैठे थे अतः यमराज और अग्निकी समानता रखनेवाले वे दोनों राजा मधुको मारनेके लिए सहसा उसके पास पहुँचे ॥ ९३ ॥ दोनों शूरकी सेनाओंमें परस्परका संहार करनेवाला तथा कायर मनुष्योंको भय उत्पन्न करनेवाला चिरकाल तक घमासान युद्ध हुआ ॥ ९४ ॥ अन्तमें राजा मधुने कुपित होकर स्वयंभूको मारनेके उद्देश्यसे शीघ्र ही जलता हुआ चक्र घुमा कर फेंका ॥ ९५ ॥ वह चक्र शीघ्रताके साथ जाकर तथा प्रदक्षिणा देकर स्वयंभूकी दाहिनी भुजाके अग्रभाग पर ठहर गया। उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो आकाशसे उतरकर सूर्यका बिम्ब ही नीचे आ गया हो ॥९६॥ उसी समय राजा स्वयंभूने कुपित होकर वह चक्र शत्रुके प्रति फेंका सो ठीक ही है क्योंकि पुण्योदयसे क्या नहीं होता ? ॥ ९७ ॥ उसी समय स्वयंभू-नारायण, आधे भरतक्षेत्रका राज्य प्राप्त कर इन्द्रके समान अपने बड़े भाईके साथ उसका निर्विघ्न उपभोग करने लगा ॥ ९८ ॥ राजा मधुने प्राण छोड़कर बहुत भारी पापका संचय किया जिससे नरकायु बाँध कर तमस्तम नामक सातवें नरकमें गया ॥ ९९ ॥ और नारायण स्वयंभू भी वैरके संस्कारसे उसे खोजनेके लिए ही मानो अपने पापोदयके कारण पीछेसे उसी नरकमें प्रविष्ट हुआ ॥ १०० ॥ स्वयंभूके वियोगसे उत्पन्न हुए शोकके द्वारा जिसका हृदय संतप्त हो रहा था ऐसा बलभद्र धर्म भी संसारसे विरक्त होकर भगवान् विमलनाथके समीप पहुँचा ॥ १०१ ॥ और सामायिक संयम धारण कर संयमियोंमें अग्रेसर हो गया। उसने निराकुल होकर इतना कठिन तप किया मानो शरीरके साथ विद्वेष ही ठान रक्खा हो ॥ १०२ ॥ उस समय बलभद्र ठीक सूर्यके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार सूर्य सद्वृत्त अर्थात् गोलाकार होता है उसी प्रकार बलभद्र भी सद्वृत्त सदाचार से युक्त थे, जिस प्रकार सूर्य तेजकी मूर्ति स्वरूप होता है उसी प्रकार बलभद्र भी तेजकी मूर्ति स्वरूप

---

१ स्थितिः ग० । २ प्रहित्य अदात् असून् तस्य इति पदच्छेदः । ३ संसृतिबीजजम् ख० । ४ नारकं क०, घ० । ५ विग्रहे शरीरे । ६ विग्रही विद्वेषी ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वसन्ततिलका

द्यूतेन मोहविहितेन विधीः स्वयम्भूः
यातो मधुश्च नरकं दुरितैर्दुरन्तम् ।
धर्मादिकं त्रितयमेव कुमार्गवृत्त्या
हेतुः श्रितं भवति दुःखपरम्परायाः ॥ १०४ ॥
क्रोधादिभिः सुतपसोऽपि भवेन्निदानं
तत्स्याद् दुरन्तदुरितोर्जितदुःखहेतुः ।
तेनाप मुक्तिपथगोऽप्यपथं सुकेतु-
स्त्याज्यं ततः खलसमागमवन्निदानम् ॥ १०५ ॥

मालिनी

द्युतिविनिहतमित्रो मित्रनन्दी क्षितीशो
यमसमितिसमग्रोऽनुत्तराधीश्वरोऽभूत् ।
अनुधरणिमितः सन् द्वारवत्यां [1]सुधर्मः
परमपदमवापत्साधितात्मस्वरूपः ॥ १०६ ॥

पृथ्वी

कुणालविषये सुकेतुरधिराडभूद् दुर्मति-
स्ततः कृततपाः सुरोऽजनि सुखालये क्लान्तवे ।
कृतान्तसदृशो मधोरनुबभूव चक्रेश्वर-
स्ततश्च दुरितोदयाक्षितिमगात्स्वयम्भूरधः ॥ १०७ ॥
जिनस्यास्यैव तीर्थेऽग्र्यौ गणेशौ मेरुमन्दरौ । तुङ्गौ स्थिरौ सुरैः सेव्यौ वक्ष्यामश्चरितं तयोः ॥ १०८ ॥

थे, जिस प्रकार सूर्य उदित होते ही अन्धकारको नष्ट कर देता है उसी प्रकार बलभद्रने मुनि होते ही अन्तरङ्गके अन्धकारको नष्ट कर दिया था, जिस प्रकार सूर्य निर्मल होता है उसी प्रकार बलभद्र भी कर्ममलके नष्ट हो जानेसे निर्मल थे और जिस प्रकार सूर्य बिना किसी रुकावटके ऊपर आकाशमें गमन करता है उसी प्रकार बलभद्र भी बिना किसी रुकावटके ऊपर तीन लोकके अग्रभाग पर जा विराजमान हुए ॥ १०३ ॥ देखो, मोह वश किये हुए जुआसे मूर्ख स्वयंभू और राजा मधु पापका संचय कर दुखदायी नरकमें पहुँचे सो ठीक ही है क्योंकि धर्म, अर्थ, काम इन तीनका यदि कुमार्ग वृत्तिसे सेवन किया जावे तो यह तीनों ही दुःख-परम्पराके कारण हो जाते हैं ॥ १०४ ॥ कोई उत्तम तपश्चरण करे और क्रोधादिके वशीभूत हो निदान-बंध कर ले तो उसका वह निदान-बन्ध अतिशय पापसे उत्पन्न दुःखका कारण हो जाता है। देखो, सुकेतु यद्यपि मोक्षमार्गका पथिक था तो भी निदान-बन्धके कारण कुगतिको प्राप्त हुआ अतः दुष्ट मनुष्यकी संगतिके समान निदान-बन्ध दूरसे ही छोड़ने योग्य है ॥ १०५ ॥ धर्म, पहले अपनी कान्तिसे सूर्यको जीतनेवाला मित्रनन्दी नामका राजा हुआ, फिर महाव्रत और समितियोंसे सम्पन्न होकर अनुत्तरविमानका स्वामी हुआ, वहाँसे चयकर पृथिवीपर द्वारावती नगरीमें सुधर्म बलभद्र हुआ और तदनन्तर आत्म-स्वरूपको सिद्धकर मोक्ष पद-को प्राप्त हुआ ॥ १०६ ॥ स्वयंभू पहले कुणाल देशका मूर्ख राजा सुकेतु हुआ, फिर तपश्चरण कर सुखके स्थान-स्वरूप लान्तव स्वर्गमें देव हुआ, फिर राजा मधुको नष्ट करनेके लिए यमराजके समान चक्रपति-नारायण हुआ और तदनन्तर पापोदयसे नीचे सातवीं पृथिवीमें गया ॥ १०७ ॥

अथानन्तर—इन्हीं विमलवाहन तीर्थंकरके तीर्थमें अत्यन्त उन्नत, स्थिर और देवोंके द्वारा सेवनीय मेरु और मन्दर नामके दो गणधर हुए थे इसलिए अब उनका चरित कहते हैं ॥ १०८ ॥

---

१ सुवर्मः ल० ।

द्वीपेऽपरविदेहेऽस्मिन् सीतोदानद्युदक्तटे । विषये गन्धमालिन्यां वीतशोकपुराधिपः ॥ १०९ ॥
वैजयन्तो नृपस्तस्य देव्याः सर्वश्रियः सुतौ । संजयन्तजयन्ताख्यौ राजपुत्रगुणान्वितौ ॥ ११० ॥
तावन्येद्युरशोकाख्यवने तीर्थकृतोऽन्तिके । धर्मं स्वयम्भुवः श्रुत्वा भोगनिर्वेदचोदितौ ॥ १११ ॥
संजयन्ततनूजाय वैजयन्ताय धीमते । दत्त्वा राज्यं समं पित्रा संयमं समवापतुः ॥ ११२ ॥
सप्तमे संयमस्थाने क्षीणाशेषकषायकः । सामरस्यं समाप्याप वैजयन्तो जिनेशिताम् ॥ ११३ ॥
पितुः कैवल्यसम्प्राप्तिकल्याणे धरणेशिनः । जयन्तो वीक्ष्य सौन्दर्यमैश्वर्यं च महन्मुनिः ॥ ११४ ॥
धरणेन्द्रोऽभवन्मृत्वा दुर्मतिः स निदानतः । अत्यल्पं बहुमौल्येन गृह्णतो न हि दुर्लभम् ॥ ११५ ॥
अन्येद्युः सञ्जयन्ताख्यं प्रतिमायोगधारिणम् । मनोहरपुराभ्यर्णभीमारण्यान्तरे यतिम् ॥ ११६ ॥
विद्युद्दंष्ट्राह्वयो विद्याधरो वीक्ष्याक्षमो रुषा । [1]पूर्ववैरानुसन्धानस्मृत्युद्भूतातिवेगया ॥ ११७ ॥
उद्धृत्येलाख्ययाप्यद्रेर्भरतेऽपाग्दिगाश्रिता । नदी कुसुमवत्याख्या हरवत्यभिधा परा ॥ ११८ ॥
सुवर्णगजवत्यौ च चण्डवेगा च पञ्चमी । न्यक्षिपत्सङ्गमे तासामगाधे सलिले खलः ॥ ११९ ॥
अयं पापी महाकायो दानवो मानवाशनः । सर्वानस्मान् पृथग्दृष्ट्वा खादितुं निभृतं स्थितः ॥ १२० ॥
शरकुन्तादिशस्त्रौघैर्निर्घृणं सर्वभक्षिणम् । वयं सर्वेऽपि सम्भूय हनामोऽखिलविद्विषम् ॥ १२१ ॥
उपेक्षितोऽयमद्यैव क्षुत्कुक्षिर्बुभुक्षितः । भक्षयेल्लक्षितोऽवश्यं निशायां स्त्रीः शिशून्पशून् ॥ १२२ ॥
तस्मान्मद्वचनं यूयं प्रतीत किमहं वृथा । मृषा भाषे किमेतेन वैरमस्यत्र मे पृथक् ॥ १२३ ॥
इति तेन खगा मुग्धाः पुनः सर्वेऽपि नोदिताः । तथेति मृत्युसन्त्रस्ताः समस्ताः शस्त्रसंहतीः ॥ १२४ ॥
आदाय साधुमूर्धन्यं समाहितमहाधियम् । समन्ताद्धन्तुमारब्धा विश्रब्धं लुब्धकोपमाः ॥ १२५ ॥

जम्बूद्वीपके पश्चिम विदेह क्षेत्रमें सीतोदा नदीके उत्तर तटपर एक गन्धमालिनी नामका देश है उसके वीतशोक नगरमें वैजयन्त राजा राज्य करता था। उसकी सर्वश्री नामकी रानी थी और उन दोनोंके संजयन्त तथा जयन्त नामके दो पुत्र थे, ये दोनों ही पुत्र राजपुत्रोंके गुणोंसे सहित थे ॥ १०९–११० ॥ किसी दूसरे दिन अशोक वनमें स्वयंभू नामक तीर्थंकर पधारे। उनके समीप जाकर दोनों भाइयोंने धर्मका स्वरूप सुना और दोनों ही भोगोंसे विरक्त हो गये ॥ १११॥ उन्होंने संजयन्तके पुत्र वैजयन्तके लिए जो कि अतिशय बुद्धिमान् था राज्य देकर पिताके साथ संयम धारण कर लिया ॥ ११२ ॥ संयमके सातवें स्थान अर्थात् बारहवें गुणस्थानमें समस्त कषायोंका क्षय कर जिन्होंने समरसपना—पूर्ण वीतरागता प्राप्त कर ली है ऐसे वैजयन्त मुनिराज जिनराज अवस्थाको प्राप्त हुए ॥ ११३ ॥ पिताके केवलज्ञानका उत्सव मनानेके लिए सब देव आये तथा धरणेन्द्र भी आया। धरणेन्द्रके सौन्दर्य और बहुत भारी ऐश्वर्यको देखकर जयन्त मुनिने धरणेन्द्र होनेका निदान किया। उस निदानके प्रवाहसे वह दुर्बुद्धि मर कर धरणेन्द्र हुआ सो ठीक ही है क्योंकि बहुत मूल्यसे अल्प मूल्यकी वस्तु खरीदना दुर्लभ नहीं है ॥ ११४–११५ ॥ किसी एक दिन संजयन्त मुनि, मनोहर नगरके समीपवर्ती भीम नामक वनमें प्रतिमा योग धारण कर विराजमान थे ॥ ११६ ॥ वहींसे विद्युद्दंष्ट्र नामका विद्याधर निकला। वह पूर्वभवके वैरके स्मरणसे उत्पन्न हुए तीव्र वेगसे युक्त क्रोधसे आगे बढ़नेके लिए असमर्थ हो गया। वह दुष्ट उन मुनिराजको उठा लाया तथा भरतक्षेत्रके इला नामक पर्वतकी दक्षिण दिशाकी ओर जहाँ कुसुमवती, हरवती, सुवर्णवती, गजवती और चण्डवेगा इन नदियोंका समागम होता है वहाँ उन नदियोंके अगाध जलमें छोड़ आया ॥ ११७–११९ ॥ इतना ही नहीं उसने भोले-भाले विद्याधरोंको निम्नाङ्कित शब्द कहकर उत्तेजित भी किया। वह कहने लगा कि यह कोई बड़े शरीरका धारक, मनुष्योंको खानेवाला पापी राक्षस है, यह हम सबको अलग-अलग देखकर खानेके लिए चुपचाप खड़ा है, इस निर्दय, सर्वभक्षी तथा सर्वद्वेषी दैत्यको हम लोग मिलकर बाण तथा भाले आदि शस्त्रोंके समूहसे मारें, देखो, यह भूखा है, भूखसे इसका पेट झुका जा रहा है, यदि इसकी उपेक्षा की गई तो यह देखते-देखते आज रात्रिको ही स्त्रियों-बच्चों

---

१ पूर्ववैरानुसम्बन्धात् ग० । पूर्ववैरानुबन्धानु—ख० ।

सोऽपि सर्वंसहिष्णुः सन् वज्रकायोऽचलाकृतिः । निश्चलो निर्वृतिं यातः शुक्लध्यानेन शुद्धधीः ॥१२६॥
सर्वे निर्वाणकल्याणपूजां कर्तुं सुराधिपाः । चतुर्विधाः समं प्रापंस्तदा तद्भक्तिचोदिताः ॥ १२७ ॥
स्वाग्रजाङ्गेक्षणोद्भूततृतीयावगमः क्रुधा । नागेन्द्रो नागपाशेन तान् बबन्धाखिलान् खगान् ॥ १२८ ॥
नास्माकं देव दोषोऽस्ति विद्युद्दंष्ट्रेण पापिना । विदेहादमुमानीय भयं चास्मात्खचारिणाम् ॥ १२९ ॥
प्रतिपाद्य जनैरेभिरकारि विविधो मुधा । महोपसर्ग इत्याहुस्तेषु केचिद्विचक्षणाः ॥ १३० ॥
श्रुत्वा तन्नागराजोऽपि तेषु कालुष्यमुत्सृजन् । विद्युद्दंष्ट्रं पयोराशौ सबन्धुं क्षेप्तुमुद्यतः ॥ १३१ ॥
आदित्याभस्तदा देवो गुणहेतुस्तयोरभूत् । मध्ये ज्ञातानुबन्धो वा धातुप्रत्यययोः परः ॥ १३२ ॥
कृतदोषोऽस्ययं नागनाथ किन्त्वनुरोधतः । ममास्य शम्यतां क्षुद्रे कः कोपस्त्वादृशां पशौ ॥ १३३ ॥
पुरादितीर्थकृत्काले भवद्वंशसमुद्भवैः । वंशोऽस्य निर्मितो दत्त्वा विद्या विद्याधरेशिनाम् ॥ १३४ ॥
[1]संबद्धयं विषवृक्षं च छेत्तुं स्वयमसौ क्षमः । इत्यबालप्रसिद्धं किं न वेत्सि विषभृत्यते ॥ १३५ ॥
इत्युक्तस्तेन नागेन्द्रः प्रत्युवाच तपोधनम् । मदग्रजमयं दुष्टो निर्हेतुकममीमरत् ॥ १३६ ॥
तद्ध्रुवं मम हन्तव्यो न निषेध्यं त्वयार्थितम् । मयेति सहसा देवस्तमाह मतिमान् वृथा ॥ १३७ ॥
वैरं वहसि ते भ्राता जातौ जातोऽयमेव किम्। विद्युद्दंष्ट्रो न किं भ्राता सञ्जातः संसृतौ भ्रमन् ॥१३८॥

तथा पशुओंको खा जावेगा। इसलिए आप लोग मेरे वचनों पर विश्वास करो, मैं वृथा ही झूठ क्यों बोलूँगा ? क्या इसके साथ मेरा द्वेष है ?' इस प्रकार उसके द्वारा प्रेरित हुए सब विद्याधर मृत्युसे डर गये और जिस प्रकार किसी विश्वासपात्र मनुष्यको ठग लोग मारने लगते हैं उस प्रकार शस्त्रोंका समूह लेकर साधुशिरोमणि एवं समाधिमें स्थित उन संजयन्त मुनिराजको वे विद्याधर सब ओरसे मारने लगे ॥ १२०–१२५ ॥ जयन्त मुनिराज भी इस समस्त उपसर्गको सह गये, उनका शरीर वज्रके समान सुदृढ़ था, वे पर्वतके समान निश्चल खड़े रहे और शुक्लध्यानके प्रभावसे निर्मल ज्ञानके धारी मोक्षको प्राप्त हो गये ॥ १२६ ॥ उसी समय चारों निकायके इन्द्र उनकी भक्तिसे प्रेरित होकर निर्वाण-कल्याणककी पूजा करनेके लिए आये ॥ १२७ ॥ सब देवोंके साथ पूर्वोक्त धरणेन्द्र भी आया था, अपने बड़े भाईका शरीर देखनेसे उसे अवधिज्ञान प्रकट हो गया जिससे वह बड़ा कुपित हुआ। उसने उन समस्त विद्याधरोंको नागपाशसे बाँध लिया ॥ १२८ ॥ उन विद्याधरोंमें कोई-कोई बुद्धिमान् भी थे अतः उन्होंने प्रार्थना की कि हे देव ! इस कार्यमें हम लोगोंका दोष नहीं है, पापी विद्युद्दंष्ट्र इन्हें विदेह क्षेत्रसे उठा लाया और विद्याधरोंको इसने बतलाया कि इनसे तुम सबको बहुत भय है। ऐसा कहकर इसी दुष्टने हम सब लोगोंसे व्यर्थ ही यह महान् उपसर्ग करवाया है ॥ १२९–१३० ॥ विद्याधरोंकी प्रार्थना सुनकर धरणेन्द्रने उन पर क्रोध छोड़ दिया और परिवारसहित विद्युद्दंष्ट्रको समुद्रमें गिराने का उद्यम किया ॥ १३१ ॥ उसी समय वहाँ एक आदित्याभ नामका देव आया था जो कि विद्युद्दंष्ट्र और धरणेन्द्र दोनोंके ही गुण-लाभका उस प्रकार हेतु हुआ था जिस प्रकार कि किसी धातु और प्रत्ययके बीचमें आया हुआ अनुबन्ध गुण—व्याकरणमें प्रसिद्ध संज्ञा विशेषका हेतु होता हो ॥ १३२ ॥ वह कहने लगा कि हे नागराज ! यद्यपि इस विद्युद्दंष्ट्रने अपराध किया है तथापि मेरे अनुरोधसे इसपर क्षमा कीजिये। आप जैसे महापुरुषोंका इस क्षुद्र पशु पर क्रोध कैसा ? ॥ १३३ ॥ बहुत पहले, आदिनाथ तीर्थंकरके समय आपके वंशमें उत्पन्न हुए धरणेन्द्रके द्वारा विद्याधरोंकी विद्याएं देकर इसके वंशकी रचना की गई थी। लोकमें यह बात बालक तक जानते हैं कि अन्य वृक्षकी बात जाने दो, विष-वृक्षको भी स्वयं बढ़ाकर स्वयं काटना उचित नहीं है, फिर हे नागराज! आप क्या यह बात नहीं जानते?॥१३४-१३५॥ जब आदित्याभ यह कह चुका तब नागराज-धरणेन्द्रने उत्तर दिया कि 'इस दुष्टने मेरे तपस्वी बड़े भाईको अकारण ही मारा है अतः यह मेरे द्वारा अवश्य ही मारा जावेगा। इस विषयमें आप मेरी इच्छाको रोक नहीं सकते।' यह सुनकर बुद्धिमान् देवने कहा कि—'आप वृथा ही वैर धारण कर

---

१ 'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' इति कुमारसंभवे कालिदासमहाकवेः ।

बन्धुः कः को न वा बन्धुः बन्धुताबन्धुताद्वयम् । संसारे परिवर्तेत [1]विदामत्राग्रहः कुतः ॥ १३९ ॥
कृतापराधे भ्राता ते विद्युद्दंष्ट्रमदण्डयत् । ततोऽयं स्मृततज्जन्मा मुनेरस्यापकारकः ॥ १४० ॥
अग्रजं तव पापोऽयं प्राक्तजन्मचतुष्टये । महावैरानुबन्धेन [2]लोकान्तरमजीगमत् ॥ १४१ ॥
अस्मिन् जन्मन्यमुं मन्ये मुनेरस्योपकारकम् । खगमेतत् कृतं सोढायन्मुक्तिमयमेयिवान् ॥ १४२ ॥
आस्तां तावदिदं भद्र भद्रं निर्मूतिकारणम् । प्राक्तनस्यापकारस्य वद केन प्रतिक्रिया ॥ १४३ ॥
इत्याकर्ण्य फणीन्द्रस्तत्कथ्यतां सा कथा मम । कथमित्यन्वयुङ्क्तासावादित्याभं समुत्सुकाः ॥ १४४ ॥
शृणु वैरं विसृज्यास्मिन् बुद्धिमन् शुद्धचेतसा । तत्प्रपञ्चं वदामीति देवो विस्पष्टमभ्यधात् ॥ १४५ ॥
अत्रैवेऽस्मिन् भारते सिंहपुराधीशो महीपतिः । सिंहसेनः प्रिया तस्य रामदत्ताऽभवत्सती ॥ १४६ ॥
श्रीभूतिः सत्यघोषाङ्को मन्त्री तस्य महीपतेः । श्रुतिस्मृतिपुराणादिशास्त्रविद् ब्राह्मणोत्तमः ॥ १४७ ॥
पद्मखण्डपुरे श्रेष्ठिसुदत्ताख्यसुमित्रयोः । भद्रमित्रः सुतो रत्नद्वीपे पुण्योदयात्स्वयम् ॥ १४८ ॥
उपार्जितपरार्घोरुरत्नः सिंहपुरे स्थिरम् । तिष्ठासुर्मन्त्रिणं दृष्ट्वा सर्वमावेद्य तन्मतात् ॥ १४९ ॥
तस्य हस्ते स्वरत्नानि स्थापयित्वा स बान्धवान् । आनेतुं पद्मखण्डाख्यं गत्वा तस्मान्निवर्त्य सः ॥१५०॥
पुनरभ्येत्य रत्नानि सत्यघोषमयाचत । सोऽपि तद्रत्नमोहेन न जानामीत्यपाक्षुत ॥ १५१ ॥
भद्रमित्रोऽपि पूत्कारं सर्वतो नगरेऽकरोत् । सत्यघोषोऽपि पापिष्ठैरेष चौरैरभिद्रुतः ॥ १५२ ॥

रहे हैं। इस संसारमें क्या यही तुम्हारा भाई है ? और संसारमें भ्रमण करता हुआ विद्युद्दंष्ट्र क्या आज तक तुम्हारा भाई नहीं हुआ। इस संसारमें कौन बन्धु है ? और कौन बन्धु नहीं है ? बन्धुता और अबन्धुता दोनों ही परिवर्त्तनशील हैं—आज जो बन्धु हैं वह कल अबन्धु हो सकता है और आज जो अबन्धु है वह कल बन्धु हो सकता है अतः इस विषयमें विद्वानोंको आग्रह क्यों होना चाहिये ? ॥ १३६–१३९ ॥ पूर्व जन्ममें अपराध करने पर तुम्हारे भाई संजयन्तने विद्युद्दंष्ट्रके जीवको दण्ड दिया था, आज इसे पूर्वजन्मकी वह बात याद आ गई अतः इसने मुनिका अपकार किया है ॥ १४० ॥ इस पापीने तुम्हारे बड़े भाईको पिछले चार जन्मोंमें भी महावैरके संस्कारसे परलोक भेजा है—मारा है ॥ १४१ ॥ इस जन्ममें तो मैं इस विद्याधरको इन मुनिराजका उपकार करनेवाला मानता हूँ क्योंकि, इसके द्वारा किये हुए उपसर्गको सहकर ही ये मुक्तिको प्राप्त हुए हैं ॥ १४२ ॥ हे भद्र ! इस कल्याण करनेवाले मोक्षके कारणको जाने दीजिये। आप यह कहिये कि पूर्व-जन्ममें किये हुए अपकारका क्या प्रतिकार हो सकता है ? ॥ १४३ ॥

यह सुनकर धरणेन्द्रने उत्सुक होकर आदित्याभसे कहा कि वह कथा किस प्रकार है ? आप मुझसे कहिये ॥ १४४ ॥ वह देव कहने लगा कि हे बुद्धिमान् ! इस विद्युद्दंष्ट्र पर वैर छोड़कर शुद्ध हृदयसे सुनो, मैं वह सब कथा विस्तारसे साफ-साफ कहता हूँ ॥ १४५ ॥

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्रमें सिंहपुर नगरका स्वामी राजा सिंहसेन था उसकी रामदत्ता नामकी पतिव्रता रानी थी ॥१४६॥ उस राजाका श्रीभूति नामका मंत्री था, वह श्रुति स्मृति तथा पुराण आदि शास्त्रोंका जानने वाला था, उत्तम ब्राह्मण था और अपने आपको सत्यघोष कहता था॥१४७॥ उसी देशके पद्मखण्डपुर नगरमें एक सुदत्त नामका सेठ रहता था। उसकी सुमित्रा स्त्रीसे भद्रमित्र नामका पुत्र हुआ उसने पुण्योदयसे रत्नद्वीपमें जाकर स्वयं बहुतसे बड़े-बड़े रत्न कमाये। उन्हें लेकर वह सिंहपुर नगर आया और वहीं स्थायी रूपसे रहनेकी इच्छा करने लगा। उसने श्रीभूति मंत्रीसे मिलकर सब बात कही और उसकी संमतिसे अपने रत्न उसके हाथमें रखकर अपने भाई-बन्धुओंको लेनेके लिए वह पद्मखण्ड नगरमें गया। जब वहाँसे वापिस आया तब उसने सत्यघोषसे अपने रत्न माँगे परन्तु रत्नोंके मोहमें पड़कर सत्यघोष बदल गया और कहने लगा कि मैं कुछ नहीं जानता ॥ १४८–१५१ ॥ तब भद्रमित्रने सब नगरमें रोना-चिल्लाना शुरू किया और सत्यघोषने भी अपनी प्रामाणिकता बनाये रखनेके लिए लोगोंको यह बतलाया कि पापी चोरोंने इसका सब धन लूट लिया है। इसी शोकसे इसका

---

१ विदामत्र ग्रहः कुतः ग० । विदामताग्रहः ख० । २ लोकोत्तर ख० ।

सर्वस्वहरजोद्भूतशोकव्याकुलिताशयः । प्रलापीति जनानेतत् स्वप्रामाण्यादजिग्रहत् ॥ १५३ ॥
समक्षं भूपतेरात्मशुद्धयर्थं शपथं च सः । धर्माधिकृतनिर्दिष्टं चकाराचारदूरगः ॥ १५४ ॥
भद्रमित्रोऽपि पापेन वञ्चितोऽहं निजातिना । द्विजातिनेत्यनाथोऽपि नामुञ्चत् पूत्कृतिं मुहुः ॥ १५५ ॥
चतुर्विधोपधा शुद्धं युक्तं जात्यादिभिर्गुणैः । त्वां सत्यं सत्यघोषाङ्ग मत्वा मन्त्रिगुणोत्तमम् ॥ १५६ ॥
यथा न्यासीकृतं हस्ते तव रत्नकरण्डकम् । किमेवमपलापेन हेतुं तद्ब्रूहि युज्यते ॥ १५७ ॥
सिंहसेनमहाराजप्रसादेन न तेऽस्ति किम् । छत्रसिंहासने मुक्त्वा ननु राज्यमिदं तव ॥ १५८ ॥
धर्मं यशो महत्त्वं च किं वृथैव विघातयेः । न्यासापह्नवदोषं किं न वेत्सि [1]स्मृतिपूदितम् ॥ १५९ ॥
एतदेवार्थशास्त्रस्य नित्यमध्ययने फलम् । यत्परानतिसन्धत्ते नातिसन्धीयते परैः ॥ १६० ॥
इत्यत्र परशब्दार्थे विपर्येपि परो मतः । तत्र शत्रुरहं किं भोः सत्यघोष रिपुस्तव ॥ १६१ ॥
सद्भावप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता । अङ्कमारुह्य [2]सुप्तस्य हन्तुः किं नाम पौरुषम् ॥ १६२ ॥
महामोहग्रहग्रस्त-श्रीभूते भाविजन्मना । त्वं तन्मा नीनशो देहि मह्यं रत्नकरण्डकम् ॥ १६३ ॥
ईदृश्येतत्प्रमाणानि जातिस्तेषामियं स्वयम् । जानंश्च मम रत्नानि किमित्येवमपह्नुषे ॥ १६४ ॥
एवं [3]नित्यं निशाप्रान्ते रोरौत्यारुह्य भूरुहम् । कृत्ये कृच्छ्रेऽपि सत्त्वाढ्या न त्यजन्ति समुद्यमम् ॥१६५॥
[4]मुहुर्मुहुस्तदाकर्ण्य महादेव्या मनस्यभूत् । जानेऽहं नायमुन्मत्तः सर्वदानुगतं वदन् ॥ १६६ ॥
इति सावेद्य भूपालं द्यूतोपायेन मन्त्रिणम् । जित्वा यज्ञोपवीतेन सार्द्धं तन्नाममुद्रिकाम् ॥ १६७ ॥
दत्त्वा निपुणमत्याख्यधात्रीकरतले मिथः । प्रहितं मन्त्रिणा देहि भद्रमित्रकरण्डकम् ॥ १६८ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चित्त व्याकुल हो गया है और उसी दशामें वह यह सब बक रहा है ।। १५२–१५३ ।। सदाचारसे दूर रहने वाले उस सत्यघोषने अपनी शुद्धता प्रकट करनेके लिए राजाके समक्ष धर्माधिकारियों—न्यायाधीशोंके द्वारा बतलाई हुई शपथ खाई ।। १५४ ।। भद्रमित्र यद्यपि अनाथ रह गया था तो भी उसने अपना रोना नहीं छोड़ा, वह बार-बार यही कहता था कि इस पापी विजाति ब्राह्मणने मुझे ठग लिया ।। १५५ ।। हे सत्यघोष ! मैंने तुझे चारों तरहसे शुद्ध जाति आदि गुणोंसे युक्त मंत्रियोंके उत्तम गुणोंसे विभूषित तथा सचमुच ही सत्यघोष समझा था इसलिए ही मैंने अपना रत्नोंका पिटारा तेरे हाथमें सौंप दिया था, अब इस तरह तू क्यों बदल रहा है, इस बदलनेका कारण क्या है और यह सब करना क्या ठीक है ? महाराज सिंहसेनके प्रसादसे तेरे क्या नहीं है ? छत्र और सिंहासनको छोड़कर यह सारा राज्य तेरा ही तो है ।। १५६–१५८ ।। फिर धर्म, यश और बड़प्पनको व्यर्थ ही क्यों नष्ट कर रहा है ? क्या तू स्मृतियोंमें कहे हुये न्यासापहारके दोषको नहीं जानता ? ।।१५९।। तूने जो निरन्तर अर्थशास्त्रका अध्ययन किया है क्या उसका यही फल है कि तू सदा दूसरोंको ठगता है और दूसरोंके द्वारा स्वयं नहीं ठगाया जाता ।। १६० ।। अथवा तू पर शब्द का अर्थ विपरीत समझता है—पर का अर्थ दूसरा न लेकर शत्रु लेता है सो हे सत्यघोष ! क्या सचमुच ही मैं तुम्हारा शत्रु हूँ ? ।। १६१ ।। सद्भावनासे पासमें आये हुए मनुष्योंको ठगनेमें क्या चतुराई है ? गोद आकर सोये हुएको मारने वालेका पुरुषार्थ क्या पुरुषार्थ है ? हे श्रीभूति ! तू महामोह रूपी पिशाचसे ग्रस्त हो रहा है, तू अपने भावी जीवनको नष्ट मत कर, मेरा रत्नोंका पिटारा मुझे दे दे ।। १६२–१६३ ।। मेरे रत्न ऐसे हैं, इतने बड़े हैं और उनकी यह जाति है, यह सब तू जानता है फिर क्यों इस तरह उन्हें छिपाता है ? ।। १६४ ।। इस प्रकार वह भद्रमित्र प्रति दिन प्रातः कालके समय किसी वृक्षपर चढ़कर बार-बार रोता था सो ठीक ही हैं क्योंकि धीर वीर मनुष्य कठिन कार्यमें भी उद्यम नहीं छोड़ते ।। १६५ ।। बार-बार उसका एक-सा रोना सुनकर एक दिन रानीके मनमें विचार आया कि चूँकि 'यह सदा एक ही सदृश शब्द कहता है अतः यह उन्मत्त नहीं है, ऐसा समझ पड़ता है ।। १६६ ।। रानीने यह विचार राजासे प्रकट किये और मंत्रीके साथ जुआ खेलकर उसका यज्ञोपवीत तथा उसके नामकी अंगूठी जीत ली ।। १६७ ।। तदनन्तर उसके

१ स्मृतिनिन्दितम् ख०, ग० । स्मृतिदूषितम् ल० । २ सुप्तानां हेतुः (?) ल० । ३ नित्ये ल० । ४ ब–पुस्तकेऽयं श्लोक उज्झितः ।

अभिज्ञानं च तस्यैतदित्युक्त्वा साज्ञिधानृतः । तदानयेति सन्दिश्य [1]धात्रीमानीनयत्तदा ॥ १६९ ॥
तत्रान्यानि च रत्नानि क्षिप्त्वा क्षितिभुजा स्वयम् । भद्रमित्रं समाहूय रहस्येतन्नवेत्तव ॥ १७० ॥
[2]इत्युक्तः स भवेद्देव ममैव तत्करण्डकम् । किन्तु रत्नान्यनर्घ्याणि मिश्रितान्यत्र कानिचित् ॥ १७१ ॥
एतानि सन्ति मे नैव ममैतानीति शुद्धधीः । स्वरत्नान्येव सत्योक्तिर्जग्राहोत्काग्रणीः सताम् ॥ १७२ ॥
सन्तुष्य भूपतिस्तस्मै सत्यघोषाङ्कसङ्गतम् । ज्येष्ठं श्रेष्ठिपदं भद्रमित्रायादित वेदिता ॥ १७३ ॥
सत्यघोषो मृषावादी पापी पापं समाचरन् । धर्माधिकरणोक्तेन दण्डयतामिति भूभुजा ॥ १७४ ॥
प्रेरितास्तेन मार्गेण सर्वस्वहरणं तथा । चपेटा वज्रमुष्टाख्यमल्लस्य त्रिंशदूर्जिताः ॥ १७५ ॥
कांस्यपात्रत्रयापूर्णनवगोमयभक्षणम् । इति त्रिविधदण्डेन न्यगृह्णन्[3] पुररक्षकाः ॥ १७६ ॥
नृपेऽनुबन्धवैरः सन् मृत्वार्तध्यानदूषितः । द्विजिह्वोऽगन्धनो नाम भाण्डागारेऽजनिष्ट सः ॥ १७७ ॥
अन्यायेनान्यवित्तस्य स्वीकारश्चौर्यमुच्यते । नैसर्गिकं निमित्तोत्थं [4]तदेवं द्विविधं स्मृतम् ॥ १७८ ॥
आद्यमाजन्मनो लोभनिकृष्टस्पर्द्धकोदयात् । सत्यप्यर्थे गृहे स्वस्य कोटीकोट्यादिसङ्ख्यया ॥ १७९ ॥
न चौर्येण विना तोषः सत्याये सति च व्यये । तद्वतस्तादृशो भावः सर्वेषां वा क्षुधार्दितः[5] ॥ १८० ॥
[6]स्त्रीसुतादिव्ययाशक्तेर्विनार्थादितरन्नवेत् । तच्च लोभोदयेनैव दुर्विपाकेन केनचित् ॥ १८१ ॥

निपुणमती नामकी धायके हाथमें दोनों चीजें देकर उसे एकान्तमें समझाया कि 'तू श्रीभूति मंत्रीके घर जा और उनकी स्त्रीसे कह कि मुझे मंत्रीने भेजा है, तू मेरे लिए भद्रमित्रका पिटारा दे दे। पहिचानके लिए उन्होंने यह दोनों चीजें भेजी हैं इस प्रकार झूठ-मूठ ही कह कर तू वह रत्नोंका पिटारा ले आ, इस तरह सिखला कर रानी रामदत्ताने धाय भेजकर मंत्रीके घरसे वह रत्नोंका पिटारा बुला लिया। [illegible] पिटारेमें और दूसरे रत्न डालकर भद्रमित्रको स्वयं एकान्तमें बुलाया और कहा कि क्या यह पिटारा तुम्हारा है ? ॥ १७० ॥ राजाके ऐसा कहने पर भद्रमित्रने कहा कि हे देव ! यह पिटरा तो हमारा ही है परन्तु इसमें कुछ दूसरे अमूल्य रत्न मिला दिये गये हैं ॥१७१॥ इनमें ये रत्न मेरे नहीं हैं और ये मेरे हैं इस तरह कहकर सच बोलनेवाले, शुद्धबुद्धिके धारक तथा सज्जनोंमें श्रेष्ठ भद्रमित्रने अपने ही रत्न ले लिये ॥ १७२ ॥ यह जानकर राजा बहुत ही संतुष्ट हुए और उन्होंने भद्रमित्रके लिए सत्यघोष नामके साथ अत्यन्त उत्कृष्ट सेठका पद दे दिया—भद्रमित्रको राजश्रेष्ठी बना दिया और उसका 'सत्यघोष' उपनाम रख दिया ॥ १७३ ॥ सत्यघोष मंत्री झूठ बोलनेवाला है, पापी है तथा इसने बहुत पाप किये हैं इसलिए इसे दण्डित किया जावे इस प्रकार धर्माधिकारियोंके कहे अनुसार राजाने उसे दण्ड दिये जानेकी अनुमति दे दी ॥ १७४ ॥ इस प्रकार राजाके द्वारा प्रेरित हुए नगरके रक्षकोंने श्रीभूति मंत्रीके लिए तीन दण्ड निश्चित किये—१ इसका सब धन छीन लिया जावे, २ वज्रमुष्टि पहलवानके मजबूत तीस घूंसे दिये जावें, और ३ कांसेकी तीन थालोंमें रखा हुआ नया गोबर खिलाया जावे, इस प्रकार नगरके रक्षकोंने उसे तीन प्रकारके दण्डोंसे दण्डित किया ॥ १७५-१७६ ॥ श्रीभूति राजाके साथ वैर बाँधकर आर्तध्यानसे दूषित होता हुआ मरा और मरकर राजाके भाण्डारमें अगन्धन नामका साँप हुआ ॥ १७७ ॥

अन्यायसे दूसरेका धन ले लेना चोरी कहलाती है वह दो प्रकारकी मानी गई है एक जो स्वभावसे ही होती और दूसरी किसी निमित्तसे ॥ १७८ ॥ जो चोरी स्वभावसे होती है वह जन्मसे ही लोभ कषायके निकृष्ट स्पर्द्धकोंका उदय होनेसे होती है। जिस मनुष्यके नैसर्गिक चोरी करनेकी आदत होती है उसके घरमें करोड़ोंका धन रहने पर भी तथा करोड़ोंका आय-व्यय होने पर भी चोरीके बिना उसे संतोष नहीं होता। जिस प्रकार सबको क्षुधा आदिकी बाधा होती है उसी प्रकार उसके चोरीका भाव होता है ॥ १७९-१८० ॥ जब घरमें स्त्री-पुत्र आदिका खर्च अधिक होता

---

१ धात्रीमानिधात्तदा (१) ल० । २ इत्युक्ते ख० । ३ निगृह्णन् ल० । ४ तदेव ल० । ५ क्षुधादिकाः ल० । ६ स्त्रीद्यूतादि क०, ख०, ग०, घ० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

द्वयेन तेन बध्नाति दुरायुर्दुष्टचेष्टया । दुर्गतौ तद्विरं दुःखं दुरन्तं ह्यनुभावयेत् ॥ १८२ ॥
सौजन्यं हन्यते भ्रंशो विश्रम्भस्य धनादिषु । विपत्तिः प्राणपर्यन्ता मित्रबन्ध्वादिभिः सह ॥ १८३ ॥
गुणप्रसवसन्दब्धा कीर्तिरम्लानमालिका । लतेव दावसंश्लिष्टा सद्यश्चौर्येण हन्यते ॥ १८४ ॥
इतीदं जानता सर्वं सत्यघोषेण दुर्धिया । आद्यांशकेन चौर्येण साहसं तदनुष्ठितम् ॥ १८५ ॥
सद्यो मन्त्रिपदाद् भ्रष्टो निग्रहं तादृशं गतः । दुर्गतिं च पुनः प्राप्तो महापापानुबन्धिनीम् ॥ १८६ ॥
इत्यमात्यस्य दुर्वृत्तं राजाऽऽत्मनि विचिन्तयन् । धर्मिलाख्याय विप्राय तत्साचिव्यपदं ददौ ॥ १८७ ॥
काले गच्छति सत्येवमन्येद्युरसनाटवी–। पर्यन्तविमलाद्युक्तिकान्तारक्ष्माभृति स्थितम् ॥ १८८ ॥
वरधर्मयतिं प्राप्य भद्रमित्रवणिग्वरः । श्रुत्वा धर्मं धनं दाने त्यजन्तमतिमात्रया ॥ १८९ ॥
तस्य माता सुमित्राख्यासहमानातिकोपिनी । काले मृत्वासनाटव्यां [1]शार्दूलीभूयमागता ॥ १९० ॥
यदृच्छया वनं यातमवलोक्य दुराशया । साऽखादत्स्वसुतं कोपाच्चित्रं[2] किं [3]नाश्यमङ्गिनाम् ॥ १९१ ॥
स स्नेहाद्रामदत्तायाः सिंहचन्द्रः सुतोऽभवत् । पूर्णचन्द्रोऽनुजस्तस्य भूपतेस्तावतिप्रियौ ॥ १९२ ॥
भाण्डागारावलोकार्थं कदाचिन्नृपतिं गतम् । दशति स्म निजक्रोधाच्चक्षुःश्रुतिरगन्धनः ॥ १९३ ॥
तदा गरुडदण्डेन सर्पानाहूय मन्त्रतः । निर्दोषोऽग्निं प्रविश्या मे निर्गतः शुद्धिमाप्नुयात् ॥ १९४ ॥
अन्यथा निग्रहीष्यामीत्युक्ता विषधराः परे । जलाशयादिवाक्लेशान्निर्यान्ति स्म हुताशनात् ॥ १९५ ॥

है और घरमें धनका अभाव होता है तब दूसरी तरहकी चोरी करनी पड़ती है वह भी लोभ कषाय अथवा किसी अन्य दुष्कर्मके उदयसे होती है ॥ १८१ ॥ यह जीव दोनों प्रकारकी चोरियोंसे अशुभ आयुका बन्ध करता है और अपनी दुष्ट चेष्टासे दुर्गतिमें चिरकाल तक भारी दुःख सहन करता है ॥ १८२ ॥ चोरी करनेवालेकी सज्जनता नष्ट हो जाती है, धनादिके विषयमें उसका विश्वास चला जाता है, और मित्र तथा भाई-बन्धुओंके साथ उसे प्राणान्त विपत्ति उठानी पड़ती है ॥१८३ ॥ जिस प्रकार दावानलसे छुई हुई लता शीघ्र ही नष्ट हो जाती है उसी प्रकार गुणरूपी फूलोंसे गुंथी हुई कीर्तिरूपी ताजी माला चोरीसे शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥ १८४ ॥ यह सब जानते हुए भी मूर्ख सत्यघोष (श्रीभूति)ने पहली नैसर्गिक चोरीके द्वारा यह साहस कर डाला ॥ १८५ ॥ इस चोरीके कारण ही वह मंत्री पदसे शीघ्र ही भ्रष्ट कर दिया गया, उसे पूर्वोक्त कठिन तीन दण्ड भोगने पड़े तथा बड़े भारी पापसे बँधी हुई दुर्गतिमें जाना पड़ा ॥ १८६ ॥ इस प्रकार अपने हृदयमें मंत्रीके दुराचारका चिन्तवन करते हुए राजा सिंहसेनने उसका मंत्रीपद धर्मिल नामक ब्राह्मणके लिए दे दिया ॥ १८७ ॥

इस प्रकार समय व्यतीत होने पर किसी दिन असना नामके वनमें विमलकान्तार नामके पर्वत पर विराजमान वरधर्म नामके मुनिराजके पास जाकर सेठ भद्रमित्रने धर्मका स्वरूप सुना और अपना बहुत-सा धन दानमें दे दिया। उसकी माता सुमित्रा इसके इतने दानको न सह सकी अतः अत्यन्त क्रुद्ध हुई और अन्त में मरकर उसी असना नामके वनमें व्याघ्री हुई ॥१८८–१९०॥ एक दिन भद्रमित्र अपनी इच्छासे असना वनमें गया था उसे देखकर दुष्ट अभिप्राय वाली व्याघ्रीने उस अपने ही पुत्रको खा लिया सो ठीक ही है क्योंकि क्रोधसे जीवोंका क्या भक्ष्य नहीं हो जाता ? ॥ १९१ ॥ वह भद्रमित्र मरकर स्नेहके कारण रानी रामदत्ताके सिंहचन्द्र नामका पुत्र हुआ तथा पूर्णचन्द्र उसका छोटा भाई हुआ। ये दोनों ही पुत्र राजाको अत्यन्त प्रिय थे॥१९२॥ किसी समय राजा सिंहसेन अपना भाण्डागार देखनेके लिए गये थे वहाँ सत्यघोषके जीव अगन्धन नामक सर्पने उसे स्वकीय क्रोधसे डस लिया ॥ १९३ ॥ उस गरुड़दण्ड नामक गारुड़ीने मन्त्रसे सब सर्पोंको बुलाकर कहा कि तुम लोगोंमें जो निर्दोष हो वह अग्निमें प्रवेश कर बाहर निकले और शुद्धता प्राप्त करे ॥ १९४ ॥ अन्यथा प्रवृत्ति करने पर मैं दण्डित करूँगा। इस प्रकार कहने पर अगन्धनको छोड़ बाकी सब सर्प उस अग्निसे क्लेशके बिना ही इस तरह बाहर निकल आये जिस तरह कि मानो किसी जलाशयसे ही बाहर निकल

---

१ सा व्यालीभूय–ल० । २ चिरं ख०, घ० । ३ आश्यं खाद्यम् ।

अगन्धनस्तु तद्वह्नौ भस्मितः कोपमानवान् । कालकाख्ये वने जज्ञे सलोभश्चमरो मृगः ॥ १९६ ॥
सिंहसेनोऽपि कालान्ते सामजः सल्लकीवने । सम्भूयाशनिघोषाख्यां समवाप मदोद्धुरः ॥ १९७ ॥
सिंहचन्द्रोऽभवद्राजा यौवराज्येऽजनीतरः । भुञ्जानयोस्तयोर्लक्ष्मीं काले क्षण इवायति ॥ १९८ ॥
कदाचित्सिंहसेनोपरतवार्ताश्रुतेरिते[1] । द्रष्टुं दान्तहिरण्यादिमती संयमसंयुते ॥ १९९ ॥
समीपे रामदत्तापि तयोः संयममाददौ । तच्छोकात्सिंहचन्द्रोऽपि पूर्णचन्द्रयतिं श्रितः ॥ २०० ॥
श्रुत्वा धर्ममिदं जन्म यदि याति वृथा नृणाम् । कुतः पुनरिहोत्पत्तिर्भ्रान्तिरेवेति चिन्तयन् ॥ २०१ ॥
कृत्वा राज्येऽनुजन्मानं द्वितीयं प्राप्य संयमे[2] । गुणस्थानं विशुद्धयन् [3]स [4]प्रमादपरिवर्जनात् ॥२०२॥
खचारणत्वं तुर्यावगमोत्कर्षं च लब्धवान् । रामदत्ता कदाचित्तं दृष्ट्वा सञ्जातसम्मदा ॥ २०३ ॥
मनोहरवनोद्याने वन्दित्वा विधिपूर्वकम् । तपोविघ्नसम्प्रश्नपर्यन्ते पुत्रवत्सला ॥ २०४ ॥
पूर्णचन्द्रः परित्यज्य धर्मं भोगे कृतादरः । प्रत्येत्युत न वा धर्ममसावित्यन्वयुङ्क्त सा ॥ २०५ ॥
प्रत्याह सिंहचन्द्रोऽपि युष्मद्धर्मं ग्रहीष्यति । मा भूत्खेदः कथां चास्य शृणुतान्यभवाश्रिताम् ॥ २०६ ॥
कौशले विषये वृद्धग्रामे नाम्ना मृगायणः । विप्रस्तस्याभवद्धर्मपत्नी च मधुराह्वया ॥ २०७ ॥
तत्सुता वारुणीसञ्ज्ञा जीवितान्ते मृगायणः । साकेताधीशिनो दिव्यबलस्य सुमतेश्च सः ॥ २०८ ॥
सुता हिरण्यवत्यासीत्सुरम्यविषये पुरे । पोदनेऽधीशिने पूर्णचन्द्रायाग्रादि सा सती ॥ २०९ ॥

आये हों ॥ १९५ ॥ परन्तु अगन्धन क्रोध और मानसे भरा था अतः उस अग्निमें जल गया और मरकर कालक नामक वनमें लोभ सहित चमरी जातिका मृग हुआ ॥ १९६ ॥ राजा सिंहसेन भी आयुके अन्तमें मरकर सल्लकी वनमें अशनिघोष नामका मदोन्मत्त हाथी हुआ ॥ १९७ ॥

इधर सिंहचन्द्र राजा हुआ और पूर्णचन्द्र युवराज बना । राज्यलक्ष्मीका उपभोग करते हुए उन दोनोंका बहुत भारी समय जब एक क्षणके समान बीत गया ॥ १९८ ॥ तब एक दिन राजा सिंहसेनकी मृत्युके समाचार सुननेसे दान्तमति और हिरण्यमति नामकी संयम धारण करनेवाली आर्यिकाएँ रानी रामदत्ताके पास आईं ॥ १९९ ॥ रामदत्ताने भी उन दोनोंके समीप संयम धारण कर लिया । इस शोकसे राजा सिंहचन्द्र पूर्णचन्द्र नामक मुनिराजके पास गया और धर्मोपदेश सुनकर यह विचार करने लगा कि यदि यह मनुष्य-जन्म व्यर्थ चला जाता है तो फिर इसमें उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है, इसमें उत्पत्ति होनेकी आशा रखना भ्रम मात्र है अथवा नाना योनियोंमें भटकना ही बाकी रह जाता है ॥ २००–२०१ ॥ इस प्रकार विचार कर उसने छोटे भाई पूर्णचन्द्रको राज्यमें नियुक्त किया और स्वयं दीक्षा धारण कर ली । वह प्रमादको छोड़कर विशुद्ध होता हुआ संयमके द्वितीय गुणस्थान अर्थात् अप्रमत्त विरत नामक सप्तम गुणस्थानको प्राप्त हुआ ॥ २०२ ॥ तपके प्रभावसे उसे आकाशचारण ऋद्धि तथा मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हुआ । किसी समय रामदत्ता सिंहचन्द्र मुनिको देखकर बहुत ही हर्षित हुई ॥ २०३ ॥ उसने मनोहरवन नामके उद्यानमें विधि पूर्वक उनकी वन्दना की, तपके निर्विघ्न होनेका समाचार पूछा और अन्तमें पुत्रस्नेह के कारण यह पूछा कि पूर्णचन्द्र धर्मको छोड़कर भोगोंका आदर कर रहा है वह कभी धर्मको प्राप्त होगा या नहीं ? ॥ २०४–२०५ ॥ सिंहचन्द्र मुनिने उत्तर दिया कि खेद मत करो, वह अवश्य ही तुमसे अथवा तुम्हारे धर्मको ग्रहण करेगा । मैं इसके अन्य भवसे सम्बन्ध रखने वाली कथा कहता हूँ सो सुनो ॥ २०६ ॥

कोशल देशके वृद्ध नामक ग्राममें एक मृगायण नामका ब्राह्मण रहता था । उसकी स्त्रीका नाम मधुरा था ॥ २०७ ॥ उन दोनोंके वारुणी नामकी पुत्री थी, मृगायण आयुके अन्तमें मरकर साकेत-नगरके राजा दिव्यबल और उसकी रानी सुमतिके हिरण्यवती नामकी पुत्री हुई । वह सती

---

१ मरणवार्ताश्रवणात् इते—प्राप्ते समागतवत्यौ इत्यर्थः । २ संयमम् क०, ग०, घ० । ३ सन् क०, ख०, ग०, घ०, स०, ञ० । ४ प्रमादपरिमार्जनात् क०, घ० ।

मधुराऽपि तयोर्जाता रामदत्ता त्वमुत्तमा । भद्रमित्रवणिक् सिंहचन्द्रस्ते स्नेहतोऽभवत् ॥ २१० ॥
वारुणी पूर्णचन्द्रोऽयं त्वत्पिता भद्रबाहुतः । गृहीतसंयमोऽद्यात्र संवृत्तो गुरुरावयोः ॥ २११ ॥
माता ते दान्तमत्यन्ते दीक्षिता क्षान्तिरद्य ते । सिंहसेनोऽहिना दष्टः करीन्द्रोऽशनिघोषकः ॥ २१२ ॥
भूत्वा वने भ्रमन्मत्तो मामालोक्य जिघांसया । धावति स्म मयाऽऽकाशे स्थित्वाऽसौ प्रतिबोधितः ॥२१३॥
पूर्वसम्बन्धमाख्याय सर्वं सम्यक् प्रबुद्धवान् । संयमासंयमं भव्यः स्वयं सद्यः समग्रहीत् ॥ २१४ ॥
शान्तचित्तः स निर्वेदो ध्यायन् कायाद्यसारताम्। कृत्वा मासोपवासादीन् शुष्कपत्राणि पारयन् ॥२१५॥
कुर्वन्धैर्यं महत्तच्चिरं घोरतरं तपः । [1]यूपकेसरिणीनामसरित्तीर्थे कृशो जलम्[2] ॥ २१६ ॥
पातुं प्रविष्टस्तं वीक्ष्य स सर्पश्चमरः पुनः[3] । जातः [4]कुक्कुटसर्पोऽत्र तदास्यारुह्य मस्तकम् ॥ २१७ ॥
दशति स्म गजोऽप्येतद्विषेण विगतासुकः । समाधिमरणाज्जज्ञे सहस्रारे रविप्रिये ॥ २१८ ॥
विमाने श्रीधरो देवो धर्मिलश्चायुषः क्षये । तत्रैव वानरः सोऽभूत्सख्या तेन गजेशिनः ॥ २१९ ॥
हतः [5]कुक्कुटसर्पोऽपि [6]तृतीयनरकेऽभवत् । गजस्य रदनौ मुक्ताश्चादायाभिकतेजसः ॥ २२० ॥
व्याधः शृगालवज्ञाम धनमित्राय दत्तवान् । राजश्रेष्ठी च तौ ताभ्यां पूर्णचन्द्रमहीभुजे ॥ २२१ ॥
ददौ दन्तद्वयेनासौ व्यधात्पादचतुष्टयम् । पल्यङ्कस्यात्मनो मुक्ताभिश्च हारमधाच्च तम् ॥ २२२ ॥
ईदृशं संसृतेर्भावं भावयन् को विधीर्न[7] चेत् । रतिं तनोति भोगेषु भवाभावमभावयन्[8] ॥ २२३ ॥

हिरण्यवती पोदनपुर नगरके राजा पूर्णचन्द्रके लिए दी गई—ब्याही गई ॥ २०८–२०९ ॥ मृगायण ब्राह्मणकी स्त्री मधुरा भी मर कर उन दोनों—पूर्णचन्द्र और हिरण्यवतीके तू रामदत्ता नामकी पुत्री हुई थी, सेठ भद्रमित्र तेरे स्नेहसे सिंहचन्द्र नामका पुत्र हुआ था और वारुणीका जीव यह पूर्णचन्द्र हुआ है। तुम्हारे पिताने भद्रबाहुसे दीक्षा ली थी और उनसे मैंने दीक्षा ली थी इस प्रकार तुम्हारे पिता हम दोनोंके गुरु हुए हैं ॥ २१०–२११ ॥ तेरी माताने दान्तमतीके समीप दीक्षा धारण की थी और फिर हिरण्यवती मातासे तूने दीक्षा धारण की है। आज तुझे सब प्रकारकी शान्ति है। राजा सिंहसेनको साँपने डस लिया था जिससे मर कर वह वनमें अशनिघोष नामका हाथी हुआ। एक दिन वह मदोन्मत्त हाथी वनमें घूम रहा था, वहीं मैं था, मुझे देखकर वह मारनेकी इच्छासे दौड़ा, मुझे आकाशचारण ऋद्धि थी अतः मैंने आकाशमें स्थित हो पूर्वभवका सम्बन्ध बताकर उसे समझाया। वह ठीक-ठीक सब समझ गया जिससे उस भव्यने शीघ्र ही संयमासंयम—देशव्रत ग्रहण कर लिया ॥ २१२–२१४ ॥ अब उसका चित्त बिलकुल शान्त है, वह सदा विरक्त रहता हुआ शरीर आदि की निःसारताका विचार करता रहता है, लगातार एक-एक माहके उपवास कर सूखे पत्तोंकी पारणा करता है ॥ २१५ ॥ इस प्रकार महान् धैर्यका धारक वह हाथी चिरकाल तक कठिन तपश्चरण कर अत्यन्त दुर्बल हो गया। एक दिन वह यूपकेसरिणी नामकी नदीके किनारे पानी पीनेके लिए घुसा। उसे देखकर श्रीभूति—सत्यघोषके जीवने जो मरकर चमरी मृग और बादमें कुर्कुट सर्प हुआ था उस हाथीके मस्तक पर चढ़कर उसे डस लिया। उसके विषसे हाथी मर गया, वह चूँकि समाधिमरणसे मरा था अतः सहस्रार स्वर्गके रविप्रिय नामक विमानमें श्रीधर नामका देव हुआ। धर्मिल ब्राह्मण, जिसे कि राजा सिंहसेनने श्रीभूतिके बाद अपना मन्त्री बनाया था आयुके अन्तमें मर कर उसी वनमें वानर हुआ था। उस वानरकी पूर्वोक्त हाथीके साथ मित्रता थी अतः उसने उस कुर्कुट सर्पको मार डाला जिससे वह मरकर तीसरे नरकमें उत्पन्न हुआ। इधर शृगालवान् नामके व्याधने उस हाथीके दोनों दाँत तोड़े और अत्यन्त चमकीले मोती निकाले तथा धनमित्र नामक सेठके लिए दिये। राजश्रेष्ठी धनमित्रने वे दोनों दाँत तथा मोती राजा पूर्णचन्द्रके लिए दिये ॥ २१६–२२१ ॥ राजा पूर्णचन्द्रने उन दोनों दाँतोंसे अपने पलंगके चार पाये बनवाये और मोतियोंसे हार बनवाकर पहिना ॥ २२२ ॥ वह मनुष्य सर्वथा बुद्धिरहित नहीं है अथवा

---

१ पयःकेसरिणी ख० । २ कृशोऽभूत् ख०, ल० । ३ पुरः ल० । ४ कुर्कुट ख०, ग० । ५ कुर्कुट ग० । ६ तृतीये नरके ख० । ७ विगता धीर्यस्य स विधीः मूर्ख इत्यर्थः । ८ अचिन्तयन् ।

इत्यसौ सिंहचन्द्रोक्तं रामदत्ताऽबुध्य तत् । पुत्रस्नेहात्स्वयं गत्वा पूर्णचन्द्रमजिज्ञपत् ॥ २२४ ॥
गृहीतधर्मतत्त्वोऽसौ चिरं राज्यमपालयत् । रामदत्तापि तत्स्नेहात्सनिदानायुषोऽवधौ ॥ २२५ ॥
महाशुक्रे विमानेऽभूद् भास्करे भास्वराह्वयः । दर्शकोऽपि तत्रैव वैडूर्ये तत्कृताह्वयः ॥ २२६ ॥
सिंहचन्द्रो मुनीन्द्रोऽपि सम्यगाराध्य शुद्धधीः । प्रीतिङ्करविमानेऽभूदूर्ध्वग्रैवेयकोर्ध्वके ॥ २२७ ॥
रामदत्ता ततश्च्युत्वा धरणीतिलके पुरे । अत्रैव दक्षिणश्रेण्यामतिवेगखगेशिनः ॥ २२८ ॥
श्रीधराख्या सुता जाता माताऽस्याः स्यात्सुलक्षणा । दत्तेयमलकाधीशे [1]दर्शकाय खगेशिने ॥ २२९ ॥
वैडूर्याधिपतिश्चायं दुहिताऽभूद्यशोधरा । [2]पुष्कराख्यपुरे सूर्यावर्तायादाय्यसावपि ॥ २३० ॥
[3]राजा श्रीधरदेवोऽपि रश्मिवेगस्तयोरभूत् । कदाचिन्मुनिचन्द्राख्यमुनिधर्मानुशासनात् ॥ २३१ ॥
सूर्यावर्ते [4]तपो याते श्रीधरा च यशोधरा । दीक्षां समग्रहीपातां गुणवत्यार्यिकान्तिके ॥ २३२ ॥
कदाचिद्रश्मिवेगोऽगात्सिद्धकूटजिनालयम् । हरिचन्द्राह्वयं [5]तत्र दृष्ट्वा चारणसंयतम्[6] ॥ २३३ ॥
श्रुत्वा धर्मं च सम्यक्त्वं संयमं प्रतिपद्य सः । चारणत्वं च सम्प्राप्तः सद्योगगनगोचरम्[7] ॥ २३४ ॥
काञ्चनाख्यगुहायां तं कदाचिदवलोक्य ते । वन्दित्वा तिष्ठतां तत्र श्रीधरा च यशोधरा ॥ २३५ ॥
प्राक्तनो तारकस्तस्माच्च्युत्याघविपाकतः । चिरं भ्रमित्वा संसारे महानजगरोऽभवत् ॥ २३६ ॥

संसारके अभावका विचार नहीं करता है तो संसारके ऐसे स्वभावका विचार करनेवाला कौन मनुष्य है जो विषय-भोगोंमें प्रीति बढ़ानेवाला हो ? ॥ २२३ ॥ इस तरह सिंहचन्द्र मुनिके समझाने पर रामदत्ताको बोध हुआ, वह पुत्रके स्नेहसे राजा पूर्णचन्द्रके पास गई और उसे सब बातें कहकर समझाया ॥ २२४ ॥ पूर्णचन्द्रने धर्मके तत्त्वको समझा और चिरकाल तक राज्यका पालन किया। रामदत्ताने पुत्रके स्नेहसे निदान किया और आयुके अन्तमें मरकर महाशुक्र स्वर्गके भास्कर नामक विमानमें देव पद प्राप्त किया। तथा पूर्णचन्द्र भी उसी स्वर्गके वैडूर्य नामक विमानमें वैडूर्य नामका देव हुआ ॥ २२५-२२६ ॥ निर्मल ज्ञानके धारक सिंहचन्द्र मुनिराज भी अच्छी तरह समाधिमरण कर नौवें ग्रैवेयकके प्रीतिंकर विमानमें अहमिन्द्र हुए ॥ २२७ ॥ रामदत्ताका जीव महाशुक्र स्वर्गसे चयकर इसी दक्षिण श्रेणीके धरणीतिलक नामक नगरके स्वामी अतिवेग विद्याधरके श्रीधरा नामकी पुत्री हुआ। वहाँ इसकी माताका नाम सुलक्षणा था। यह श्रीधरा पुत्री अलकानगरीके अधिपति दर्शक नामक विद्याधरके राजाके लिए दी गई। पूर्णचन्द्रका जीव जो कि महाशुक्र स्वर्गके वैडूर्य विमानमें वैडूर्य नामक देव हुआ था वहाँसे चयकर इसी श्रीधराके यशोधरा नामकी वह कन्या हुई जो कि पुष्करपुर नगरके राजा सूर्यावर्तके लिए दी गई थी ॥२२८-२३०॥ राजा सिंहसेन अथवा अशनिघोष हाथीका जीव श्रीधर देव उन दोनों—सूर्यावर्त और यशोधराके रश्मिवेग नामका पुत्र हुआ। किसी समय मुनिचन्द्र नामक मुनिसे धर्मोपदेश सुनकर राजा सूर्यावर्त तपके लिए चले गये और श्रीधरा तथा यशोधराने गुणवती आर्यिकाके पास दीक्षा धारण कर ली ॥ २३१-२३२ ॥ किसी समय रश्मिवेग सिद्धकूट पर विद्यमान जिन-मन्दिरके दर्शनके लिए गया था, वहाँ उसने चारण-ऋद्धि धारी हरिचन्द्र नामक मुनिराजके दर्शन कर उनसे धर्मका स्वरूप सुना, उन्हींसे सम्यग्दर्शन और संयम प्राप्त कर मुनि हो गया तथा शीघ्र ही आकाशचारण ऋद्धि प्राप्त कर ली ॥ २३३-२३४ ॥ किसी दिन रश्मिवेग मुनि काञ्चन नामकी गुहामें विराजमान थे, उन्हें देखकर श्रीधरा और यशोधरा आर्यिकाएँ उन्हें नमस्कार कर वहीं बैठ गईं ॥ २३५ ॥

इधर सत्यघोषका जीव जो तीसरे नरकमें नारकी हुआ था वहाँसे निकल कर पापके उदयसे चिरकाल तक संसारमें भ्रमण करता रहा और अन्तमें उसी वनमें महान् अजगर हुआ ॥ २३६ ॥

---

१ दर्शिताय ख० । २ भास्कराख्यपुरे सूर्यावर्तायादाय्यसावपि ख०, ग० । ३ गजः श्रीधर ख०, ग० । गजः पाठान्तरं इति क-पुस्तके सूचितम् । ४ तपो जाते क०, ग०, घ० । ५ यत्र क०, ख० । ६ चारणसंयमम् ख० । ७ गमनगोचरम् ल० ।

ते च तं च निरीक्ष्यैव स सूर्यप्रतिमं क्रुधा । सहागिलत् समाराध्य ते कापिष्ठे बभूवतुः ॥ २३७ ॥
रुचकाख्ये विमानेऽयं मुनिश्चार्कप्रभाह्वये । देवः पङ्कप्रभां प्रापत् पापादजगरोऽपि सः ॥ २३८ ॥
सिंहचन्द्रो दिवोऽभ्येत्य द्वीपेऽस्मिन् चक्रपुःपतेः । अपराजितराजस्य सुन्दर्याश्च सुतोऽभवत् ॥ २३९ ॥
चक्रायुधस्ततोऽस्यैव रश्मिवेगश्च्युतो दिवः । सञ्जातश्चित्रमालायां सुतो वज्रायुधाह्वयः ॥ २४० ॥
श्रीधरा चागता नाकात् पृथिवीतिलके पुरे । सुताऽभूत् प्रियकारिण्यामतिवेगमहीपतेः ॥ २४१ ॥
सर्वलक्षणसम्पूर्णा[1] रत्नमालातिविश्रुता । वज्रायुधस्य सा देवी समजायत [2]सम्मुदे ॥ २४२ ॥
यशोधरा तयो रत्नायुधः सूनुरजायत । एवमेते स्वपूर्वायफलमत्रापुरन्वहम् ॥ २४३ ॥
श्रुत्वाऽपराजितो धर्ममन्येद्युः पिहितास्रवात् । चक्रांयुधाय साम्राज्यं दत्वाऽदीक्षिष्ट धीरधीः ॥ २४४ ॥
वज्रायुधे समारोप्य राज्यं चक्रायुधो नृपः । प्राव्राजीत् स्वपितुः पार्श्वे स तज्जन्मनि मुक्तिभाक् ॥२४५॥
अधिरत्नायुधं राज्यं कृत्वा चक्रायुधान्तिके । वज्रायुधोऽप्यगाद्दीक्षां किं न कुर्वन्ति सात्त्विकाः ॥ २४६ ॥
सक्तो रत्नायुधो भोगे त्यक्त्वा धर्मकथामपि । सोऽन्वभूदति[3]गृध्नुत्वात्सुखानि चिरमन्यदा ॥ २४७ ॥
मनोरममहोद्याने वज्रदन्तमहामुनि । व्यावर्ण्यमानलोकानुयोगश्रवणबृद्धधीः ॥ २४८ ॥
पूर्वजन्मस्मृतेर्मेघविजयो [4]योगधारणः । मांसादिकवलं[5] नादाद् ध्यायन् संसृतिदुःस्थितिम् ॥ २४९ ॥
[6]राजाऽत्र व्याकुलीभूय मन्त्रिवैद्यवरान् स्वयम् । पप्रच्छ को विकारोऽस्य गजस्येत्याहितादरः ॥ २५०॥

उन श्रीधरा तथा यशोधरा आर्यिकाओंको और सूर्यके समान दीप्तिवाले उन रश्मिवेग मुनिराजको देखकर उस अजगरने क्रोधसे एक ही साथ निगल लिया। समाधिमरण कर आर्यिकाएँ तो कापिष्ठ नामक स्वर्गके रुचक नामक विमानमें उत्पन्न हुईं और मुनि उसी स्वर्गके अर्कप्रभ नामक विमानमें देव उत्पन्न हुए। वह अजगर भी पापके उदयसे पङ्कप्रभा नामक चतुर्थ पृथिवीमें पहुँचा ॥२३७–२३८॥ सिंहचन्द्रका जीव स्वर्गसे चय कर इसी जम्बूद्वीपके चक्रपुर नगरके स्वामी राजा अपराजित और उनकी सुन्दरी नामकी रानीके चक्रायुध नामका पुत्र हुआ ॥२३९॥ उसके कुछ समय बाद रश्मिवेगका जीव भी स्वर्गसे च्युत होकर इसी अपराजित राजाकी दूसरी रानी चित्रमालाके वज्रायुध नामका पुत्र हुआ ॥ २४० ॥ श्रीधरा आर्यिका स्वर्गसे चयकर धरणीतिलक नगरके स्वामी अतिवेग राजाकी प्रियकारिणी रानीके समस्त लक्षणोंसे सम्पूर्ण रत्नमाला नामकी अत्यन्त प्रसिद्ध पुत्री हुई। यह रत्नमाला आगे चलकर वज्रायुधके आनन्दको बढ़ानेवाली उसकी प्राणप्रिया हुई ॥ २४१–२४२ ॥ और यशोधरा आर्यिका स्वर्गसे चयकर इन दोनों—वज्रायुध और रत्नमालाके रत्नायुध नामका पुत्र हुई। इस प्रकारसे सब यहाँ प्रतिदिन अपने-अपने पूर्व पुण्यका फल प्राप्त करने लगे ॥ २४३ ॥

किसी दिन धीरबुद्धिके धारक राजा अपराजितने पिहितास्रव मुनिसे धर्मोपदेश सुना और चक्रायुधके लिए राज्य देकर दीक्षा ले ली ॥ २४४ ॥ कुछ समय बाद राजा चक्रायुध भी वज्रायुध पर राज्यका भार रखकर अपने पिताके पास दीक्षित हो गये और उसी जन्ममें मोक्ष चले गये ॥ २४५ ॥ अब वज्रायुधने भी राज्यका भार रत्नायुधके लिए सौंपकर चक्रायुधके समीप दीक्षा ले ली सो ठीक ही है क्योंकि सत्त्वगुणके धारक क्या नहीं करते ? ॥ २४६ ॥ रत्नायुध भोगोंमें आसक्त था। अतः धर्मकी कथा छोड़कर बड़ी लम्पटताके साथ वह चिरकाल तक राज्यके सुख भोगता रहा। किसी समय मनोरम नामके महोद्यानमें वज्रदन्त महामुनि लोकानुयोगका वर्णन कर रहे थे उसे सुनकर बड़ी बुद्धिवाले, राजाके मेघविजय नामक हाथीको अपने पूर्व भवका स्मरण हो आया जिससे उसने योग धारण कर लिया, मांसादि ग्रास लेना छोड़ दिया और संसारकी दुःखमय स्थितिका वह विचार करने लगा ॥ २४७–२४९ ॥ यह देख राजा घबड़ा गया, उसने बड़े बड़े मन्त्रवादियों तथा वैद्योंको बुलाकर स्वयं ही बड़े आदरसे पूछा कि इस हाथीको क्या विकार हो गया

---

१ संपूर्ण ख० । २ संपदे क०, ग०, घ० । संमदे ख० । ३–दतिगृध्नुत्वात् ग० । ४ योगधारणः ख० । यागधारणः ग० । जागधारणः क०, घ० । ५ मांसादिकबलान्नादाद् ग० । ६ राजा तु ख० ।

विचार्य ते त्रिदोषोत्थविकारानवलोकनात् । अनुमानादयं[1] धर्मश्रुतेर्जातिस्मरोऽभवत् ॥ २५१ ॥
इति सत्पात्रनिष्पन्नशुद्धाहारं घृतादिभिः । मिश्रितं न्यक्षिपल्लिप्सं तमभुङ्क्त द्विपोत्तमः ॥ २५२ ॥
तदा सविस्मयो राजा गत्वाऽवधिविलोचनम् । वज्रदन्तं तदाख्याय तद्धेतुं पृच्छति स्म सः ॥ २५३ ॥
मुनिर्बभाषे भो भूप शृणु तत्संविधानकम् । भरतेऽस्मिन्नृपः प्रीतिभद्रः छत्रपुराधिपः ॥ २५४ ॥
सुन्दर्यामभवत्तस्य सुतः प्रीतिङ्कराह्वयः । मन्त्री चित्रमतिस्तस्य कमला कमलोपमा ॥ २५५ ॥
गृहिणी तुम्बभूवास्या विचित्रमतिराख्यया । नृपमन्त्रिसुतौ श्रुत्वा धर्मं धर्मरुचेर्यतेः ॥ २५६ ॥
तदैव भोगनिर्विण्णौ द्वावप्यादत्तुस्तपः । क्षीरास्रवर्द्धिरुत्पन्ना प्रीतिङ्करमहामुनेः ॥ २५७ ॥
साकेतपुरमन्येद्युर्जग्मतुस्तौ यथाक्रमम् । विहरन्तावुपोष्यास्त[2] तत्र मन्त्रिसुतो यतिः ॥ २५८ ॥
प्रीतिङ्करः पुरे चर्यां यान्तं स्वगृहसन्निधौ । गणिका बुद्धिषेणाख्या प्रणम्य विनयान्विता ॥ २५९ ॥
दानयोग्यकुला नाहमस्मीत्यात्मानमुच्छुचा । निन्दन्ती बाढमप्राक्षीन्मुने कथय जन्मिनाम् ॥ २६० ॥
कुलरूपादयः केन जायन्ते संस्तुता इति । मद्यमांसादिकत्यागादित्युदीर्य मुनिश्च सः ॥ २६१ ॥
ततः प्रत्यागतः कस्मात् स्थितो हेतोश्चिरं पुरे । भवानिति तमप्राक्षीद्विचित्रमतिरादरात् ॥ २६२ ॥
सोऽपि तद्गणिकावार्तां यथावृत्तं न्यवेदयत् । परेद्युर्मन्त्रितुग् भिक्षावेलायां गणिकागृहम् ॥ २६३ ॥
प्राविशत्सापि तं दृष्ट्वा समुत्थाय ससम्भ्रमम् । वन्दित्वा पूर्ववद्धर्ममन्वयुङ्क्त कृतादरा ॥ २६४ ॥
कामरागकथामेव व्याजहार स दुर्मतिः । तदिङ्गितज्ञयावज्ञा तया तस्मिन्न्यधीयत ॥ २६५ ॥
प्राक्तापमानेन रुषा सूपशास्त्रोक्तिसंस्कृतात् । मांसाशगराधीशं गन्धमित्रमहीपतिम् ॥ २६६ ॥

है ? ॥ २५० ॥ उन्होंने जब वात, पित्त और कफसे उत्पन्न हुआ कोई विकार नहीं देखा तब अनुमानसे विचारकर कहा कि धर्मश्रवण करनेसे इसे जाति-स्मरण हो गया है इसलिए उन्होंने किसी अच्छे बर्तनमें बना तथा घृत आदिसे मिला हुआ शुद्ध आहार उसके सामने रक्खा जिसे उस गजराजने खा लिया ॥ २५१-२५२ ॥ यह देख राजा बहुत ही आश्चर्यको प्राप्त हुआ । वह वज्रदन्त नामक अवधिज्ञानी मुनिराजके पास गया और यह सब समाचार कहकर उनसे इसका कारण पूछने लगा ॥ २५३ ॥ मुनिराजने कहा कि हे राजन् ! मैं सब कारण कहता हूँ तू सुन । इसी भरतक्षेत्रमें छत्रपुर नगरका राजा प्रीतिभद्र था । उसकी सुन्दरी नामकी रानीसे प्रीतिङ्कर नामक पुत्र हुआ । राजाके एक चित्रमति नामक मंत्री था और लक्ष्मीके समान उसकी कमला नामकी स्त्री थी ॥ २५४-२५५ ॥ कमलाके विचित्रमति नामका पुत्र हुआ । एक दिन राजा और मंत्री दोनोंके पुत्रोंने धर्मरुचि नामके मुनिराजसे धर्मका उपदेश सुना और उसी समय भोगोंसे उदास होकर दोनोंने तप धारण कर लिया । महामुनि प्रीतिंकरको क्षीरास्रव नामकी ऋद्धि उत्पन्न हो गई ॥ २५६-२५७ ॥ एक दिन वे दोनों मुनि क्रम-क्रमसे विहार करते हुए साकेतपुर पहुँचे । उनमेंसे मंत्रिपुत्र विचित्रमति मुनि उपवासका नियम लेकर नगरके बाहर रह गये और राजपुत्र प्रीतिंकरमुनि चर्याके लिए नगरमें गये । अपने घरके समीप जाता हुआ देख बुद्धिषेणा नामकी वेश्याने उन्हें बड़ी विनयसे प्रणाम किया ॥ २५८-२५९ ॥ और मेरा कुल दान देने योग्य नहीं है इसलिए बड़े शोकसे अपनी निन्दा करती हुई उसने मुनिराजसे पूछा कि हे मुने, आप यह बताइये कि प्राणियोंको उत्तम कुल तथा रूप आदिकी प्राप्ति किस कारणसे होती है ? 'मद्य मांसादिके त्यागसे होती है' ऐसा कहकर वह मुनि नगरसे वापिस लौट आये । दूसरे विचित्रमति मुनिने उनसे आदरके साथ पूछा कि आप नगरमें बहुत देर तक कैसे ठहरे ? ॥ २६०-२६२ ॥ उन्होंने भी वेश्याके साथ जो बात हुई थी वह ज्यों की त्यों निवेदन कर दी । दूसरे दिन मंत्रिपुत्र विचित्रमति मुनिने भिक्षाके समय वेश्याके घरमें प्रवेश किया । वेश्या मुनिको देखकर एकदम उठी तथा नमस्कार कर पहलेके समान बड़े आदरसे धर्मका स्वरूप पूछने लगी ॥ २६३-२६४ ॥ परन्तु दुर्बुद्धि विचित्रमति मुनिने उसके साथ काम और राग सम्बन्धी कथाएँ ही कीं । वेश्या उनके अभिप्रायको समझ गई अतः उसने उनका तिरस्कार किया ॥ २६५ ॥ विचित्रमति

१-दर्थश्चर्म—ल० । २ 'आस्त' इति क्रियापदम् ।

वशीकृत्य ततो बुद्धिषेणा चात्मकृतामुना । स विचित्रमतिर्मृत्वा तवायमभवद्गजः ॥ २६७ ॥
अस्मिन् त्रिलोकप्रज्ञप्तिश्रवणाज्जातिसंस्मृतेः । निर्विण्णोऽयं समासन्नविनेयो नाग्रहीद्विधाम् ॥ २६८ ॥
त्यागो भोगाय धर्मस्य काचायैव महामणेः । जनन्या इव दास्यर्थं तस्मात्तादृक् त्यजेद् बुधः ॥ २६९ ॥
इति तद्भूभुगाकर्ण्य धिक्कामं धर्मदूषकम् । धर्म एव परं मित्रमिति धर्मरतोऽभवत् ॥ २७० ॥
तदैव दत्त्वा स्वं राज्यं स्वपुत्रायैत्य संयमम् । मात्रा सहायुषः प्रान्ते कल्पेऽन्तेऽनिमिषो[1]ऽभवत् ॥२७१॥
प्राक्तनो नारकः पङ्कप्रभाया निर्गतश्चिरम् । नानायोनिषु सम्भ्रम्य नानादुःखानि निर्विशन् ॥ २७२ ॥
इह क्षत्रपुरे दारुणाख्यस्य तनयोऽभवत् । मङ्ग्यां व्याधस्य पापेन प्राक्तनेनातिदारुणः ॥ २७३ ॥
वने प्रियङ्गुखण्डाख्ये प्रतिमायोगधारिणम् । वज्रायुधं खलस्तस्मिल्लोकान्तरमजीगमत् ॥ २७४ ॥
सोढ्वा व्याधकृतं तीव्रमुपसर्गमसौ मुनिः । धर्मध्यानेन सर्वार्थसिद्धिं संप्रापदिद्धधीः ॥ २७५ ॥
सप्तमीं पृथिवीं पापादध्युवासातिदारुणः । प्राग्भागे धातकीखण्डे विदेहे पश्चिमे महान् ॥ २७६ ॥
देशोऽस्ति गन्धिलस्तस्मिन्नयोध्यानगरे नृपः । अर्हद्दासोऽभवत्तस्य सुव्रता सुखदायिनी ॥ २७७ ॥
रत्नमाला तयोरासीत्सुतुर्वीतभयाह्वयः । तस्यैव जिनदत्तायामभूद्रत्नायुधः सुतः ॥ २७८ ॥
नाम्ना विभीषणो जातो तावुभौ रामकेशवौ । अविभज्य श्रियं दीर्घकालं भुक्त्वा यथोचितम् ॥ २७९ ॥
कालान्ते केशवोऽयासीद्वद्ध्वायुः शर्कराप्रभाम् । स हल्यपि निवृत्यन्तेवासित्वा लान्तवं ययौ ॥ २८० ॥
आदित्याभः स एवाहं द्वितीयपृथिवीस्थितम् । प्रविश्य नरकं स्नेहाद्विभीषणमबोधयत्[2] ॥ २८१ ॥

वेश्यासे अपमान पाकर बहुत ही क्रुद्ध हुआ। उसने मुनिपना छोड़ दिया और राजाकी नौकरी कर ली। वहाँ पाकशास्त्रके कहे अनुसार बनाये हुए मांससे उसने उस नगरके स्वामी राजा गन्धमित्रको अपने वश कर लिया और इस उपायसे उस बुद्धिषेणाको अपने आधीन कर लिया। अन्त में वह विचित्रमति मरकर तुम्हारा हाथी हुआ है ॥ २६६–२६७ ॥ मैं यहाँ त्रिलोकप्रज्ञप्तिका पाठ कर रहा था उसे सुनकर इसे जाति-स्मरण हुआ है। अब यह संसारसे विरक्त है, निकट भव्य है और इसीलिए इसने अशुद्ध भोजन करना छोड़ दिया है ॥ २६८ ॥ भोगके लिए धर्मका त्याग करना ऐसा है जैसा कि काचके लिए महामणिका और दासीके लिए माताका त्याग करना है इसलिए विद्वानोंको चाहिये कि वे भोगोंका सदा त्याग करें ॥ २६९ ॥ यह सुनकर राजा कहने लगा कि 'धर्मको दूषित करनेवाले कामको धिक्कार है, वास्तवमें धर्म ही परम मित्र है' ऐसा कहकर वह धर्ममें तत्पर हो गया ॥ २७० ॥ उसने उसी समय अपना राज्य पुत्रके लिए दे दिया और माताके साथ संयम धारण कर लिया। तपश्चरण कर मरा और आयुके अन्तमें सोलहवें स्वर्गमें देव हुआ ॥२७१॥

सत्यघोषका जीव जो पङ्कप्रभा नामक चौथे नरकमें गया था वहाँसे निकलकर चिरकाल तक नाना योनियोंमें भ्रमण करता हुआ अनेक दुःख भोगता रहा ॥ २७२ ॥ एक बार वह पूर्वकृत पापके उदयसे इसी क्षत्रपुर नगरमें दारुण नामक व्याधकी मंगी नामक स्त्रीसे अतिदारुण नामका पुत्र हुआ ॥ २७३ ॥ किसी एक दिन प्रियङ्गुखण्ड नामके वनमें वज्रायुध मुनि प्रतिमायोग धारण कर विराजमान थे उन्हें उस दुष्ट भीलके लड़केने परलोक भेज दिया—मार डाला ॥ २७४ ॥ तीक्ष्ण बुद्धिके धारक वे मुनि व्याधके द्वारा किया हुआ तीव्र उपसर्ग सहकर धर्मध्यानसे सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त हुए ॥ २७५ ॥ और अतिदारुण नामका व्याध मुनिहत्याके पापसे सातवें नरकमें उत्पन्न हुआ।

पूर्व धातकीखण्डके पश्चिम विदेहक्षेत्रमें गन्धिल नामक देश है उसके अयोध्या नगरमें राजा अर्हद्दास रहते थे, उनकी सुख देने वाली सुव्रता नामकी स्त्री थी। रत्नमालाका जीव उन दोनोंके वीतभय नामका पुत्र हुआ। और उसी राजाकी दूसरी रानी जिनदत्ताके रत्नायुधका जीव विभीषण नामका पुत्र हुआ। वे दोनों ही पुत्र बलभद्र तथा नारायण थे और दीर्घकाल तक विभाग किये बिना ही राजलक्ष्मीका यथायोग्य उपभोग करते रहे ॥ २७६–२७९ ॥ अन्तमें नारायण तो नरकायुका बंध कर शर्कराप्रभामें गया और बलभद्र अन्तिम समयमें दीक्षा लेकर लान्तव स्वर्गमें उत्पन्न हुआ ॥ २८० ॥ मैं वही आदित्याभ नामका देव हूँ, मैंने स्नेहवश दूसरे नरकमें जाकर वहाँ

---

१ अनिमिषो देवः । २–मबोधयम् म० ।

बुद्ध्वा ततः स निर्यातो द्वीपेऽस्मिन् विजये पुरे । ऐरावते महत्यासीदयोध्या तदधीश्वरः ॥ २८२ ॥
श्रीवर्माऽस्य सुसीमाख्या देवी तस्याः सुतोऽभवत् । [1]श्रीधर्मासावनन्ताख्यमुनेरादाय संयमम् ॥२८३॥
ब्रह्मकल्पेऽभवद् देवो दिव्याष्टगुणभूषितः । सर्वार्थसिद्धिजः संजयन्तो वज्रायुधोऽभवत् ॥ २८४ ॥
ब्रह्मकल्पादिहागत्य त्वं जयन्तो निदानतः । मोहाद्विलुप्तसम्यक्त्वोऽजनिष्ट नागनायकः ॥ २८५ ॥
प्राक्तनो नारकः प्रान्तपृथिवीतो विनिर्गतः । जघन्यायुरहिर्भूत्वा तृतीयां पृथिवीं गतः ॥ २८६ ॥
ततो निर्गत्य तिर्यक्षु त्रसेषु स्थावरेषु च । भ्रान्त्वाऽस्मिन् भरते भूतरमणाख्यवनान्तरे ॥ २८७ ॥
ऐरावतीनदीतीरे मृगशृङ्गसुतोऽभवत् । गोशृङ्गतापसार्याशाङ्किकायां विरक्तधीः ॥ २८८ ॥
स पञ्चाग्नितपः कुर्वन् दिव्यादितिलकाधिपम् । खगं वीक्ष्यांशुमालाख्यं निदानमकरोत्कुधीः ॥ २८९ ॥
मृत्वाऽत्र खगशैलोदक्श्रेण्यां गगनवल्लभे । वज्रदंष्ट्रखगेशस्य प्रिया विद्युत्प्रभा तयोः ॥ २९० ॥
विद्युद्दंष्ट्रः सुतो जातः सोऽयं वैरानुबन्धतः । बद्ध्वा कर्म चिरं दुःखमापदाप्स्यति चापरम् ॥२९१॥
एवं कर्मवशाज्जन्तुः संसारे परिवर्तते । पिता पुत्रः सुतो माता माता भ्राता स च स्वसा ॥ २९२ ॥
स्वसा नप्ता भवेत्का वा बन्धुसम्बन्धसंस्थितिः । कस्य को नापकर्ताऽत्र नोपकर्ता च कस्य कः ॥ २९३ ॥
तस्माद्वैरानुबन्धेन मा कृथाः पापबन्धनम् । मुञ्च वैरं महानाग ! विद्युद्दंष्ट्रश्च मुच्यताम् ॥ २९४ ॥
इति तद्देववाक्सौधवृष्ट्या सन्तर्पितोऽहिराट् । देवाहं त्वत्प्रसादेन सद्धर्मं श्रद्दधे स्म भोः ॥ २९५ ॥
किन्तु विद्याबलादेष विद्युद्दंष्ट्रोऽघमाचरत् । तस्मादस्यान्वयस्यैव महाविद्यां छिनद्म्यहम् ॥ २९६ ॥
इत्याहैतद्वचः श्रुत्वा देवो मदनुरोधतः । त्वया नैतद्विधातव्यमित्याख्यत्फणिनां पतिम् ॥ २९७ ॥

रहनेवाले विभीषणको सम्बोधा था ॥ २८१ ॥ वह प्रतिबोधको प्राप्त हुआ और वहाँसे निकलकर इसी जम्बूद्वीपके ऐरावत क्षेत्रकी अयोध्या नगरीके राजा श्रीवर्माकी सुसीमा देवीके श्रीधर्मा नामका पुत्र हुआ। और वयस्क होने पर अनन्त नामक मुनिराजसे संयम ग्रहण कर ब्रह्मस्वर्गमें आठ दिव्य गुणोंसे विभूषित देव हुआ। वज्रायुधका जीव जो सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ था वहाँसे आकर संजयन्त हुआ ॥ २८२–२८४ ॥ श्रीधर्माका जीव ब्रह्मस्वर्गसे आकर तू जयन्त हुआ था और निदान बाँधकर मोह-कर्मके उदयसे धरणीन्द्र हुआ ॥ २८५ ॥ सत्यघोषका जीव सातवीं पृथिवीसे निकल कर जघन्य आयुका धारक साँप हुआ और फिर तीसरे नरक गया ॥ २८६ ॥ वहाँसे निकल कर त्रस स्थावर रूप तिर्यंच गतिमें भ्रमण करता रहा। एक बार भूतरमण नामक वनके मध्यमें ऐरावती नदीके किनारे गोशृङ्ग नामक तापसकी शङ्किका नामक स्त्रीके मृगशृङ्ग नामका पुत्र हुआ। वह विरक्त होकर पञ्चाग्नि तप कर रहा था कि इतनेमें वहाँसे दिव्यतिलक नगरका राजा अंशुमाल नामका विद्याधर निकला उसे देखकर उस मूर्खने निदान बन्ध किया ॥ २८७–२८९ ॥ अन्तमें मर कर इसी भरतक्षेत्रके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणी-सम्बन्धी गगनवल्लभ नगरके राजा वज्रदंष्ट्र विद्याधरकी विद्युत्प्रभा रानीके विद्युद्दंष्ट्र नामका पुत्र हुआ। इसने पूर्व वैरके संस्कारसे कर्मबंध कर चिरकाल तक दुःख पाये और आगे भी पावेगा ॥ २९०–२९१ ॥ इस प्रकार कर्मके वश होकर यह जीव परिवर्तन करता रहता है। पिता पुत्र हो जाता है, पुत्र माता हो जाता है, माता भाई हो जाती है, भाई बहन हो जाता है और बहन नाती हो जाती है सो ठीक ही है क्योंकि इस संसारमें बन्धु-जनोंके सम्बन्धकी स्थिरता ही क्या है ? इस संसारमें किसने किसका अपकार नहीं किया और किसने किसका उपकार नहीं किया ? इसलिए वैर बाँधकर पापका बन्ध मत करो। हे नागराज—हे धरणेन्द्र ! वैर छोड़ो और विद्युद्दंष्ट्रको भी छोड़ दो ॥ २९२–२९४ ॥ इस प्रकार उस देवके वचनरूप अमृतकी वर्षासे धरणेन्द्र बहुत ही संतुष्ट हुआ। वह कहने लगा कि हे देव ! तुम्हारे प्रसादसे आज मैं समीचीन धर्मका श्रद्धान करता हूँ ॥ २९५ ॥ किन्तु इस विद्युद्दंष्ट्रने जो यह पापका आचरण किया है वह विद्याके बलसे ही किया है इसलिए मैं इसकी तथा इसके वंशकी महाविद्याको छीन लेता हूँ' यह कहा ॥ २९६ ॥ उसके वचन सुनकर वह देव धरणेन्द्रसे फिर कहने लगा कि आपको

---

१ श्रीधर्मास्य क०, ग०, घ० । श्रीधावा सा ल०, ख० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सोऽपि यद्येवमेतस्य वंशानां मासिधन् महा-। विद्याः पुंसां स्त्रियः सञ्जयन्तभट्टारकान्तिके ॥ २९८ ॥
साधयन्त्वन्यथा दर्पादिमे दुष्टाः कुचेष्टिताः। भविष्यतां च साधूनां पापाः कुर्वन्त्युपद्रवम् ॥ २९९ ॥
एषोऽपि पर्वतो विद्याधरह्रीक्रीडितः परः। ह्रीमन्नामेत्युदीर्यास्मिन् भ्रातृप्रतिनिधिं व्यधात् ॥ ३०० ॥
विद्युद्दंष्ट्रं च सामोक्तैर्धर्मन्यायानुयायिभिः। कृत्वा [1]प्रशान्तकालुष्यं देवं चाभ्यर्च्य यातवान् ॥३०१॥
देवोऽपि स्वायुरन्तेऽस्मिन्नुत्तरे मथुरापुरे। अनन्तवीर्यराड्मेरुमालिन्यां मेरुनामभाक् ॥ ३०२ ॥
तस्यैवामितवत्यां स धरणीन्द्रोऽपि मन्दरः। समभूतां सुतावेताविव शुक्रबृहस्पती ॥ ३०३ ॥
तावासन्नविनेयत्वात् श्रित्वा विमलवाहनम्। श्रुत्वा स्वभवसम्बन्धमजायेतां गणेशिनौ ॥ ३०४ ॥
इह प्रत्येकमेतेषां नामग्रहणपूर्वकम्। [2]गतिभेदावली व्याख्या सङ्कलश्राभिधीयते ॥ ३०५ ॥
सिंहसेनोऽशनिघोषप्रान्तः श्रीधरसञ्ज्ञकः। रश्मिवेगः प्रभातार्को वज्रायुधमहानृपः ॥ ३०६ ॥
सर्वार्थसिद्धौ देवेन्द्रः सञ्जयन्तः ततश्च्युतः। इत्यष्टजन्मभिः प्रापत्सिंहसेनः श्रियः पदम् ॥ ३०७ ॥
मधुरा रामदत्तानु भास्करः श्रीधरा सुरः। रत्नमालाऽच्युते देवस्ततो वीतभयाह्वयः ॥ ३०८ ॥
आदित्याभस्ततो मेरुर्गणेशो विमलेशिनः। सप्तर्द्धिसमवेतः सन् प्रायासीत्परमं पदम् ॥ ३०९ ॥
वारुणी पूर्णचन्द्राख्यो वैडूर्यास्माद्यशोधरा। कापिष्ठकल्पेऽनल्पर्द्धिर्देवोऽभूद्रुचकप्रभः ॥ ३१० ॥
रत्नायुधोऽन्त्यकल्पोत्थस्ततश्च्युत्वा विभीषणः। द्वितीये नरके पापी श्रीधर्मा ब्रह्मकल्पजः ॥ ३११ ॥
जयन्तो धरणाधीशो मन्दरो गणनायकः। चतुर्ज्ञानधरः पारमवापज्जन्मवारिधेः ॥ ३१२ ॥
श्रीभूतिसचिवो नागश्चमरः कुक्कुटाहिकः। तृतीये नरके दुःखी शयुः पङ्कप्रभोद्भवः ॥ ३१३ ॥

स्वयं नहीं तो मेरे अनुरोधसे ही ऐसा नहीं करना चाहिये ॥ २९७ ॥ धरणेन्द्रने भी उस देवके वचन सुनकर कहा कि यदि ऐसा है तो इसके वंशके पुरुषोंको महाविद्याएँ सिद्ध नहीं होंगी परन्तु इस वंशकी स्त्रियाँ संजयन्त स्वामीके समीप महाविद्याओंको सिद्ध कर सकती हैं। यदि इन अपराधियों को इतना भी दण्ड नहीं दिया जावेगा तो ये दुष्ट अहंकारसे खोटी चेष्टाएँ करने लगेंगे तथा आगे होने वाले मुनियों पर भी ऐसा उपद्रव करेंगे ॥ २९८–२९९ ॥ इस घटनासे इस पर्वत परके विद्याधर अत्यन्त लज्जित हुए थे इसलिए इसका नाम 'ह्रीमान्' पर्वत है ऐसा कहकर उसने उस पर्वत पर अपने भाई संजयन्त मुनिकी प्रतिमा बनवाई ॥ ३०० ॥ धर्म और न्यायके अनुसार कहे हुए शान्त वचनोंसे विद्युद्दंष्ट्रको कालुष्यरहित किया और उस देवकी पूजा कर अपने स्थान पर चला गया॥३०१॥ वह देव अपनी आयुके अन्तमें उत्तर मथुरा नगरीके अनन्तवीर्य राजा और मेरुमालिनी नामकी रानीके मेरु नामका पुत्र हुआ ॥ ३०२ ॥ तथा धरणेन्द्र भी उसी राजाकी अमितवती रानीके मन्दर नामका पुत्र हुआ। ये दोनों ही भाई शुक्र और बृहस्पतिके समान थे ॥ ३०३ ॥ तथा अत्यन्त निकट भव्य थे इसलिए विमलवाहन भगवान्के पास जाकर उन्होंने अपने पूर्वभवके सम्बन्ध सुने एवं दीक्षा लेकर उनके गणधर हो गये ॥ ३०४ ॥ अब यहाँ इनमेंसे प्रत्येकका नाम लेकर उनकी गति और भवोंके समूहका वर्णन करता हूँ—॥३०५ ॥

सिंहसेनका जीव अशनिघोष हाथी हुआ, फिर श्रीधर देव, रश्मिवेग, अर्कप्रभदेव, महाराज वज्रायुध, सर्वार्थसिद्धिमें देवेन्द्र और वहाँसे चयकर सञ्जयन्त केवली हुआ। इस प्रकार सिंहसेनने आठ भवमें मोक्षपद पाया ॥ ३०६–३०७ ॥ मधुराका जीव रामदत्ता, भास्करदेव, श्रीधरा, देव, रत्नमाला, अच्युतदेव, वीतभय और आदित्यप्रभदेव होकर विमलवाहन भगवान्का मेरु नामका गणधर हुआ और सात ऋद्धियोंसे युक्त होकर उसी भवसे मोक्षको प्राप्त हुआ ॥ ३०८–३०९ ॥ वारुणीका जीव पूर्णचन्द्र, वैडूर्यदेव, यशोधरा, कापिष्ठ स्वर्गमें बहुत भारी ऋद्धियोंको धारण करने-वाला रुचकप्रभ नामका देव, रत्नायुध देव, विभीषण पापके कारण दूसरे नरकका नारकी, श्रीधर्मा, ब्रह्मस्वर्गका देव, जयन्त, धरणेन्द्र और विमलनाथका मन्दर नामका गणधर हुआ और चार ज्ञानका धारी होकर संसारसागरसे पार हो गया ॥ ३१०–३१२ ॥ श्रीभूति—(सत्यघोष) मंत्रीका जीव

---

१ प्राशान्त क०, घ० । २ गतिर्भवावली व्याख्या ल० ।

त्रसस्थावरसम्भ्रान्तः पञ्चाजातोऽतिदारुणः । ततस्तमस्तमस्यासीत्सर्पस्तस्माच्च नारकः ॥ ३१४ ॥
बहुयोनिपरिभ्रान्तो मृगश्चक्षो मृतस्ततः । [1]विद्युद्दंष्ट्रः खगाधीशः पापी पश्चात् प्रसज्जवान् ॥ ३१५ ॥
भद्रमित्रवणिक् सिंहचन्द्रः प्रीतिङ्करः सुरः । चक्रायुधो विधूताष्टकर्मा निर्वाणमापिवान् ॥ ३१६ ॥

वसन्ततिलका

एवं त्रयस्तिपु ते त्रिदशुच्चनीच-स्थानानि कर्मपरिपाकवशात् प्रपद्य ।
सौख्यं क्वचित् क्वचिदयाचितमुग्रदुःख-
मापंस्त्रयोऽत्र परमात्मपदं [2]प्रसन्नाः ॥ ३१७ ॥

मालिनी

खलखगमकृतोग्रोपद्रवं कस्यचिद्वा
मनसि शमरसत्वान्मन्यमानो महेच्छः ।
शुचितरवरशुक्लध्यानमध्यास्य शुद्धिं
समगमदमलो यः सञ्जयन्तः स वोऽव्यात् ॥ ३१८ ॥

रथोद्धता

मेरुमन्दरमहाभिधानकौ स्तामिनेन्दुविजयाद्धृतौजसौ ।
पूजितौ मुनिगणाधिनायकौ नायकौ नयमयागमस्य वः ॥ ३१९ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे विमलतीर्थंकर-धर्म-स्वयम्भू-मधु-सञ्जयन्त-मेरुमन्दरपुराणं परिसमाप्तम् एकोनषष्टितमं पर्व ॥ ५९ ॥

—+-+-+—

सर्प, चमर, कुर्कुट सर्प, तीसरे नरकका दुःखी नारकी, अजगर, चौथे नरकका नारकी, त्रस और स्थावरोंके बहुत भव अति दारुण, सातवें नरकका नारकी, सर्प, नारकी, अनेक योनियोंमें भ्रमण कर मृगश्रृङ्ग और फिर मरकर पापी विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर हुआ एवं पीछेसे वैररहित-प्रसन्न भी हो गया था ॥ ३१३-३१५ ॥ भद्रमित्र सेठका जीव सिंहचन्द्र, प्रीतिकरदेव और चक्रायुधका भव धारण कर आठों कर्मोंको नष्ट करता हुआ निर्वाणको प्राप्त हुआ था ॥ ३१६ ॥

इस प्रकार कहे हुए तीनों ही जीव अपने-अपने कर्मोदयके वश चिरकाल तक उच्च-नीच स्थान पाकर कहीं तो सुखका अनुभव करते रहे और कहीं बिना माँगे हुए तीव्र दुःख भोगते रहे परन्तु अन्तमें तीनों ही निष्पाप होकर परमपदको प्राप्त हुए ॥ ३१७ ॥ जिन महानुभावने हृदयमें समता रसके विद्यमान रहनेसे दुष्ट विद्याधरके द्वारा किये हुए भयंकर उपसर्गको 'यह किसी विरले ही भाग्यवान्को प्राप्त होता है' इस प्रकार विचार कर बहुत अच्छा माना और अत्यन्त निर्मल शुक्ल-ध्यानको धारण कर शुद्धता प्राप्त की वे कर्ममल रहित संजयन्त स्वामी तुम सबकी रक्षा करें ॥३१८॥ जिन्होंने सूर्य और चन्द्रमाको जीतकर उत्कृष्ट तेज प्राप्त किया है, जो मुनियोंके समूहके स्वामी हैं, तथा नयोंसे परिपूर्ण जैनागमके नायक हैं ऐसे मेरु और मंदर नामके गणधर सदा आपलोगोंसे पूजित रहें—आपलोग सदा उनकी पूजा करते रहें ॥ ३१९ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुण भद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमें
विमलनाथ तीर्थंकर, धर्म, स्वयंभू, मधु, संजयन्त, मेरु और मंदर गणधरका
वर्णन करनेवाला उन- सठवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥

—+-+-+—

१ विद्युद्दंष्ट्रखगाधीशः क०, ख०, ग०, घ० । २ प्रपन्नाः ख० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

षष्टितमं पर्व

अनन्तोऽनन्तदोषाणां हन्ताऽनन्तगुणाकरः । हन्त्वन्तर्ध्वान्तसन्तानमनन्तातीतं जिनः स नः ॥ १॥
धातकीखण्डप्राग्भागमेरूदग्विषये महत् । रम्यं पुरमरिष्टाख्यमैकध्यमिव सम्पदाम्[1] ॥ २ ॥
[2]पतिः पद्मरथस्तस्य पद्मासद्म स्वयं गुणैः । यस्मिन् महीं चिरं पाति प्रापन्प्रीतिं परां प्रजाः ॥ ३ ॥
पुण्योदयात्सुरूपादिसामग्रीसुखसाधिनी । जन्तोस्तदुदयस्तस्मिन्पुष्कलोऽस्ति निरर्गलः ॥ ४ ॥
तदिन्द्रियार्थसान्निध्यसमुद्भूतसुखेन सः । शक्रवत्सुष्ठु [3]सन्तृप्यन्संसारसुखमन्वभूत् ॥ ५ ॥
अथान्यदा समासाद्य स्वयम्प्रभजिनाधिपम् । सप्रश्रयमभिष्टुत्य श्रुत्वा धर्मं सुनिर्मलम् ॥ ६ ॥
संयोगो देहिनां देहैरक्षाणां च स्वगोचरैः । अनित्योऽन्यतराभावे सर्वेषामाजवञ्जवे ॥ ७ ॥
आहितान्यमताः सन्तु देहिनो मोहिताशयाः । अहं [4]निहतमोहारिमाहात्म्याहँत्क्रमाश्रयः ॥ ८ ॥
करवाणि कथङ्कारं मतिमेतेषु निश्चलाम् । इति मोहमहाग्रन्थिमुद्भिद्यास्योद्यमौ मतिः ॥ ९ ॥
ततः परीतदावाग्निशिखासन्त्रासितैणवत् । चिरोषितां च संसारस्थलीं हातुं कृतोद्यमः ॥ १० ॥
सूनौ घनरथे राज्यं नियोज्यादाय संयमम् । एकादशाङ्गवाराशिपारगो बद्धतीर्थकृत् ॥ ११ ॥
प्रान्ते स्वाराधनां प्राप्य परित्यक्तशरीरकः । अभूत् पर्यन्तकल्पेन्द्रः पुष्पोत्तरविमानजः ॥ १२ ॥
द्वाविंशत्यब्धिमानायुर्हस्तार्द्धोनधनुस्तनुः । शुक्ललेश्यः श्वसन्नेकादशमासैस्तु सद्वयया ॥ १३ ॥

अथानन्तर जो अनन्त दोषोंको नष्ट करनेवाले हैं तथा अनन्त गुणोंकी खान-स्वरूप हैं ऐसे श्री अनन्तनाथ भगवान् हम सबके हृदयमें रहनेवाले मोहरूपी अन्धकारकी सन्तानको नष्ट करें ॥१॥ धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व मेरुसे उत्तरकी ओर विद्यमान किसी देशमें एक अरिष्ट नामका बड़ा सुन्दर नगर है जो ऐसा जान पड़ता है मानो समस्त सम्पदाओंके रहनेका एक स्थान ही हो ॥ २ ॥ उस नगरका राजा पद्मरथ था, वह अपने गुणोंसे पद्मा-लक्ष्मीका स्थान था, उसने चिरकाल तक पृथिवीका पालन किया जिससे प्रजा परम प्रीतिको प्राप्त होती रही ॥ ३ ॥ जीवोंको सुख देनेवाली उत्तम रूप आदिकी सामग्री पुण्योदयसे प्राप्त होती है और राजा पद्मरथके वह पुण्यका उदय बहुत भारी तथा बाधारहित था ॥ ४ ॥ इसलिए इन्द्रियोंके विषयोंके सान्निध्यसे उत्पन्न होने वाले सुखसे वह इन्द्रके समान संतुष्ट होता हुआ अच्छी तरह संसारके सुखका अनुभव करता था ॥ ५ ॥ किसी एक दिन वह स्वयंप्रभ जिनेन्द्रके समीप गया। वहाँ उसने विनयके साथ उनकी स्तुति की और निर्मल धर्मका उपदेश सुना ॥ ६ ॥ तदनन्तर वह चिन्तवन करने लगा कि 'जीवोंका शरीरके साथ और इन्द्रियोंका अपने विषयोंके साथ जो संयोग होता है वह अनित्य है क्योंकि इस संसारमें सभी जीवोंके आत्मा और शरीर तथा इन्द्रियाँ और उनके विषय इनमेंसे एकका अभाव होता ही रहता है ॥७॥ यदि अन्य मतावलम्बी लोगोंका आशय मोहित हो तो भले ही हो मैंने तो मोहरूपी शत्रुके माहात्म्यको नष्ट करनेवाले अर्हन्त भगवान्के चरण-कमलोंका आश्रय प्राप्त किया है। मैं इन विषयोंमें अपनी बुद्धि स्थिर कैसे कर सकता हूँ—इन विषयोंको नित्य किस प्रकार मान सकता हूँ' इस प्रकार इसकी बुद्धि मोहरूपी महागाँठको खोलकर उद्यम करने लगी ॥ ८-९ ॥ तदनन्तर जिस प्रकार चारों ओर लगी हुई वनाग्निकी ज्वालाओंसे भयभीत हुआ हरिण अपने बहुत पुराने रहनेके स्थानको छोड़नेका उद्यम करता है उसी प्रकार वह राजा भी चिरकालसे रहनेके स्थान-स्वरूप संसाररूपी स्थलीको छोड़नेका उद्यम करने लगा ॥ १० ॥ उसने घनरथ नामक पुत्रके लिए राज्य देकर संयम धारण कर लिया और ग्यारह अंगरूपी सागरका पारगामी होकर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया ॥ ११ ॥ अन्तमें सल्लेखना धारण कर शरीर छोड़ा और अच्युत स्वर्गके पुष्पोत्तर विमानमें इन्द्रपद प्राप्त किया ॥ १२ ॥ वहाँ उसकी आयु बाईस सागर थी, शरीर साढ़े तीन हाथका था, शुक्ललेश्या थी, वह

---

१ सम्पदा ग०, घ० । २ पतिपद्मरथस्तस्य ग० । ३ संतृप्य क०, ग०, घ० । ४ विहत क०, घ० ।

खत्रयायनपक्षोक्तवर्षैराहारमाहरत् । सुखी मनःप्रवीचारात्तमसः प्राग्गतावधिः ॥ १४ ॥
तत्प्राणबलस्तेजोविक्रियाभ्यां च तत्प्रभः । चिरं तत्र सुखं भुक्त्वा तस्मिन्नत्रागमिष्यति ॥ १५ ॥
द्वीपेऽस्मिन् दक्षिणे भागे साकेतनगरेश्वरः । इक्ष्वाकुः काश्यपः सिंहसेनो नाम महानृपः १६ ॥
जयश्यामा महादेवी तस्यास्या वेश्मनः पुरः । वसुधारां सुराः सारां मासषट्कीमपीपतन् ॥ १७ ॥
कार्तिके मासि रेवत्यां प्रभातेऽह्नि तदादिमे । निरीक्ष्य षोडश स्वप्नान् विशन्तं वाऽऽननं गजम् ॥ १८ ॥
अवगम्य फलं तेषां भूभुजोऽवधिलोचनात् । गर्भस्थिताच्युतेन्द्रासौ परितोषमगात्परम् ॥ १९ ॥
ततः स्वर्गावतरणकल्याणाभिषवं सुराः । सम्प्राप्य वस्त्रमाल्योरुभूषणैस्तावपूजयन् ॥ २० ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
सुखगर्भा जयश्यामा ज्येष्ठमास्यसिते सुतम् । द्वादश्यां [1]पूषयोगेऽसौ सपुण्यमुदपादयत् ॥ २१ ॥
तदागत्य मरुन्मुख्या [2]मेरुशैलेऽभिषिच्य तम् । अनन्तजिनमन्वर्थनामानं विदधुर्मुदा ॥ २२ ॥
नवाब्ध्युपमसन्ताने पल्यपादत्रये स्थिते । धर्मेऽतीतार्हतो ध्वस्ते तदभ्यन्तरजीवितः ॥ २३ ॥
त्रिंशल्लक्षसमायुः पञ्चाशच्चापसम्मितः । कनत्कनकसङ्काशः सर्वलक्षणलक्षितः ॥ २४ ॥
खचतुष्केन्द्रियद्वर्यब्देष्वतीतेष्वभिषेचनम् । राज्यस्यालभताभ्यर्च्यस्स[3] नृखेशमरुद्वरैः ॥ २५ ॥
खपञ्चकेन्द्रियैकोक्तवर्षे राज्यव्यतिक्रमे । कदाचिदुल्का[4]पतनहेतुनोत्पन्नबोधिकः ॥ २६ ॥
अज्ञानबीजसंरूढामसंयममहीधृताम् । प्रमादवारिसंसिक्तां कषायस्कन्धयष्टिकाम् ॥ २७ ॥
योगालम्बनसंवृद्धां तिर्यग्गतिपृथक्कृताम् । जराकुसुमसंछन्नां व्याधामयफलाशिकाम् ॥ २८ ॥

ग्यारह माहमें एक बार श्वास लेता था, बाईस हजार वर्ष बाद आहार ग्रहण करता था, मानसिक प्रवीचारसे सुखी रहता था, तमःप्रभा नामक छठवीं पृथिवी तक उसका अवधिज्ञान था और वहीं तक उसका बल, विक्रिया और तेज था। इस प्रकार चिरकाल तक सुख भोगकर वह इस मध्यम लोकमें आनेके लिए समुन्मुख हुआ ॥ १३–१५ ॥

उस समय इस जम्बूद्वीपके दक्षिण भरतक्षेत्रकी अयोध्या नगरीमें इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री महाराज सिंहसेन राज्य करते थे॥१६॥ उनकी महारानीका नाम जयश्यामा था। देवोंने उसके घरके आगे छह माह तक रत्नोंकी श्रेष्ठ धारा बरसाई ॥ १७ ॥ कार्तिक कृष्णा प्रतिपदाके दिन प्रातःकालके समय रेवती नक्षत्रमें उसने सोलह स्वप्न देखनेके बाद मुँहमें प्रवेश करता हुआ हाथी देखा ॥ १८ ॥ अवधिज्ञानी राजासे उन स्वप्नोंका फल जाना। उसी समय वह अच्युतेन्द्र उसके गर्भमें आकर स्थित हुआ जिससे वह बहुत भारी सन्तोषको प्राप्त हुई ॥ १९ ॥ तदनन्तर देवोंने गर्भकल्याणकका अभिषेक कर वस्त्र, माला और बड़े-बड़े आभूषणोंसे महाराज सिंहसेन और रानी जयश्यामाकी पूजा की ॥ २० ॥ जयश्यामाका गर्भ सुखसे बढ़ने लगा। नव माह व्यतीत होने पर उसने ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशीके दिन पूषायोगमें पुण्यवान् पुत्र उत्पन्न किया ॥ २१ ॥ उसी समय इन्द्रोंने आकर उस पुत्रका मेरु पर्वत पर अभिषेक किया और बड़े हर्षसे अनन्तजित् यह सार्थक नाम रखा ॥ २२ ॥ श्रीविमलनाथ भगवान्के बाद नौ सागर और पौन पल्य बीत जाने पर तथा अन्तिम समय धर्मका विच्छेद हो जाने पर भगवान् अनन्त जिनेन्द्र उत्पन्न हुए थे, उनकी आयु भी इसी अन्तरालमें शामिल थी ॥२३॥ उनकी आयु तीन लाख वर्षकी थी, शरीर पचास धनुष ऊँचा था, देदीप्यमान सुवर्णके समान रङ्ग था और वे सब लक्षणोंसे सहित थे ॥ २४ ॥ मनुष्य, विद्याधर और देवोंके द्वारा पूजनीय भगवान् अनन्तनाथने सात लाख पचास हजार वर्ष बीत जाने पर राज्याभिषेक प्राप्त किया था ॥ २५ ॥ और जब राज्य करते हुए उन्हें पन्द्रह लाख वर्ष बीत गये तब किसी एक दिन उल्कापात देखकर उन्हें यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो गया ॥ २६ ॥ वे सोचने लगे कि यह दुष्कर्मरूपी बेल अज्ञानरूपी बीजसे उत्पन्न हुई है, असंयमरूपी पृथिवीके द्वारा धारण की हुई है, प्रमादरूपी जलसे सींची गई है, कषाय ही इसकी स्कन्धयष्टि है—बड़ी मोटी शाखा है, योगके आलम्बनसे बढ़ी हुई है, तिर्यञ्च

---

१ पुष्य-ल० । २ मुख्यशैले ख०, ग०, ल० । ३–म्यर्च्यस्स नृपेशमरुद्वरैः ख० ।–म्यर्च्यस नृपेशमनुद्धरैः ल० । ४–दुल्कापातेन ग० ।

दुःखदुःफलसन्नद्धां दुष्कर्मविलतल्लरीम्। शुक्लध्यानासिनामूलं चिच्छित्सुः स्वात्मसिद्धये ॥ २९ ॥
लौकान्तिकैः समभ्येत्य प्रस्तुवद्भिः प्रपूजितः। अनन्तविजये राज्यं नियोज्य विजयी सुजि ॥ ३० ॥
सुरैस्तृतीयकल्याणपूजां प्राप्याधिरूढवान्। यानं सागरदत्ताख्यं सहेतुकवनान्तरे ॥ ३१ ॥
ज्येष्ठे षष्ठोपवासेन रेवत्यां द्वादशीदिने। सहस्रेणासिते राज्ञामदीक्षिष्टापराह्णके ॥ ३२ ॥
सम्प्राप्तोपान्त्यसंज्ञानः ससामायिकसंयमः। द्वितीयेऽह्नि स चर्यायै साकेतं समुपेयिवान् ॥ ३३ ॥
विशाखभूपतिस्तस्मै दत्त्वाऽन्नं कनकच्छविः। आश्चर्यपञ्चकं प्राप ज्ञापकं स्वर्गमोक्षयोः ॥ ३४ ॥
संवत्सरद्वये याते छाद्मस्थ्ये प्राक्तने वने। अश्वत्थपादपोपान्ते कैवल्यमुदपीपदत् ॥ ३५ ॥
चैत्रेऽमामास्यहःप्रान्ते रेवत्यां सुरसत्तमाः। तदैव तुर्यकल्याणपूजां च निरवर्तयन् ॥ ३६ ॥
जयाख्यमुख्यपञ्चाशद्गणभृद्वृंहितात्मवाक्। सहस्रपूर्वभृद्वन्द्यः खद्वयद्वयमिताधरीट् ॥ ३७ ॥
खद्वयेन्द्रियरन्ध्राग्निसङ्ख्यालक्षितशिक्षकः। शून्यद्वयाग्निवार्धृक्कृतीक्षज्ञानार्चितक्षितिः ॥ ३८ ॥
शून्यत्रयेन्द्रियप्रोक्तकेवलावगमान्वितः। शून्यत्रयवसूद्दिष्टविक्रियर्द्धिविभूषितः ॥ ३९ ॥
शून्यत्रयेन्द्रियप्रोक्तमनःपर्ययबोधनः[1]। पिण्डीकृतोक्तषट्षष्टिसहस्रमुनिमानितः[2] ॥ ४० ॥
सलक्षाष्टसहस्रोक्तसर्वश्र्याद्यार्यिकागणः। द्विलक्षश्रावकाभ्यर्च्यो द्विगुणश्राविकास्तुतः ॥ ४१ ॥
असङ्ख्यदेवदेवीड्यस्तिर्यक्सङ्ख्यातसेवितः। इति द्वादशविख्यातभव्यवृन्दारकाग्रणीः ॥ ४२ ॥
सदसद्वादसद्भावमाविष्कुर्वन्ननन्तजित्। विहृत्य विश्रुतान् देशान् विनेयान्योजयन् पथि ॥ ४३ ॥
सम्मेदगिरिमासाद्य विहाय विहृतिं स्थितः। मासं शताधिकैः षड्भिः सहस्रैः मुनिभिः सह ॥ ४४ ॥

गतिके द्वारा फैली हुई है, वृद्धावस्थारूपी फूलोंसे ढकी हुई है, अनेक रोग ही इसके पत्ते हैं, और दुःखरूपी दुष्ट फलोंसे झुक रही है। मैं इस दुष्ट कर्मरूपी वेलको शुक्ल ध्यानरूपी तलवारके द्वारा आत्म-कल्याणके लिए जड़-मूलसे काटना चाहता हूँ ॥ २७–२९ ॥ ऐसा विचार करते ही स्तुति करते हुए लौकान्तिक देव आ पहुँचे। उन्होंने उनकी पूजा की, विजयी भगवान्‌ने अपने अनन्तविजय पुत्रके लिए राज्य दिया; देवोंने तृतीय—दीक्षा-कल्याणककी पूजा की, भगवान् सागरदत्त नामक पालकी पर सवार होकर सहेतुक वनमें गये और वहाँ वेलाका नियम लेकर ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशीके दिन सायंकालके समय एक हजार राजाओंके साथ दीक्षित हो गये ॥ ३०–३२ ॥ जिन्हें मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हुआ है और जो सामायिक संयमसे सहित हैं ऐसे अनन्तनाथ दूसरे दिन चर्याके लिए साकेतपुरमें गये ॥ ३३ ॥ वहाँ सुवर्णके समान कान्ति वाले विशाख नामक राजाने उन्हें आहार देकर स्वर्ग तथा मोक्षकी सूचना देनेवाले पंचाश्चर्य प्राप्त किये ॥ ३४ ॥ इस प्रकार तपश्चरण करते हुए जब छद्मस्थ अवस्थाके दो वर्ष बीत गये तब पूर्वोक्त सहेतुक वनमें अश्वत्थ—पीपल वृक्षके नीचे चैत्र कृष्ण अमावस्याके दिन सायंकालके समय रेवती नक्षत्रमें उन्होंने केवलज्ञान उत्पन्न किया। उसी समय देवोंने चतुर्थ कल्याणककी पूजा की ॥ ३५–३६ ॥

जय आदि पचास गणधरोंके द्वारा उनकी दिव्य ध्वनिका विस्तार होता था, वे एक हजार पूर्वधारियोंके द्वारा वन्दनीय थे, तीन हजार दो सौ वाद करनेवाले मुनियोंके स्वामी थे, उनतालीस हजार पाँच सौ शिक्षक उनके साथ रहते थे, चार हजार तीन सौ अवधिज्ञानी उनकी पूजा करते थे, वे पाँच हजार केवलज्ञानियोंसे सहित थे, आठ हजार विक्रियाऋद्धिके धारकोंसे विभूषित थे, पाँच हजार मनःपर्ययज्ञानी उनके साथ रहते थे, इस प्रकार सब मिलाकर छयासठ हजार मुनि उनकी पूजा करते थे। सर्वश्रीको आदि लेकर एक लाख आठ हजार आर्यिकाओंका समूह उनके साथ था, दोलाख श्रावक उनकी पूजा करते थे और चार लाख श्राविकाएँ उनकी स्तुति करती थीं। वे असंख्यात देव-देवियोंके द्वारा स्तुत थे और संख्यात तिर्यञ्चोंसे सेवित थे। इस तरह बारह सभाओंमें विद्यमान भव्य समूहके अग्रणी थे ॥ ३७–४२ ॥ पदार्थ कथंचित् सद्रूप है और कथंचिद् असद्रूप है इस प्रकार विधि और निषेध पक्षके सद्भावको प्रकट करते हुए भगवान् अनन्तजित्‌ने प्रसिद्ध देशोंमें विहार कर भव्य जीवोंको सन्मार्गमें लगाया ॥ ४३ ॥ अन्तमें सम्मेद शिखर पर जाकर उन्होंने

---

१ संयुतः क०, घ० । २–मानतः क० ।

प्रतिमायोगधारी सन्नमावस्याम्ररात्रिभाक् । तुरीयध्यानयोगेन सम्प्रापत्परमं पदम् ॥ ४५ ॥
सधो[1] द्युसत्समूहोऽपि सम्प्राप्यान्त्येष्टिमादरात् । विधाय विधिवत्स्वौकः स्वर्लोकं सर्वतो ययौ ॥४६॥

मालिनी

कुनयघनतमोऽन्धं कुश्रुतोलूकविद्विट्
सुनयभयमयूखैः विश्वमाशु प्रकाश्य ।
प्रकटपरमदीप्तिर्बोधयन् भव्यपद्मान्
प्रदहतु स [2]जिनेनोऽनन्तजिद् दुष्कृतं वः[3] ॥ ४७ ॥

वसन्ततिलका

प्राक्पालकः प्रथितपद्मरथः पृथिव्याः[4]
पश्चाद्विनिश्चितमतिस्तपसाच्युतेन्द्रः ।
तस्माच्च्युतोऽभवदनन्तजिदन्तकान्तो
यः सोऽवताद् द्रुतमनन्तभवान्तकाद् वः ॥ ४८ ॥

तत्रैव सुप्रभो रामः केशवः पुरुषोत्तमः । ख्यावर्ण्यते भवेषूच्चैः त्रिषु वृत्तकमेतयोः ॥ ४९ ॥
एतस्मिन् भारते वर्षे पोदनाधिपतिः नृपः । वसुषेणो महादेवी तस्य नन्देत्यनिन्दिता ॥ ५० ॥
देवी पञ्चशतेऽप्यस्यां स राजा प्रेमनिर्भरः । रेमे वसन्तमञ्जर्यां चञ्चरीक इवोत्सुकः ॥ ५१ ॥
मलयाधीश्वरो नाम्ना कदाचिच्चण्डशासनः । आजगामं नृपं द्रष्टुं तत्पुरं मित्रतां गतः ॥ ५२ ॥
नन्दासन्दर्शनेनासौ मोहितः पापपाकवान् । आहृत्य तामुपायेन स्वदेशमगमत्कुधीः ॥ ५३ ॥
वसुषेणोऽप्यशक्तत्वात्पराभवदुःखितः । चिन्तान्तकसमाकृष्यमाणप्राणः स्मृतेर्बलात् ॥ ५४ ॥

विहार करना छोड़ दिया और एक माहका योग निरोध कर छह हजार एकसौ मुनियोंके साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया। तथा चैत्र कृष्ण अमावास्याके दिन रात्रिके प्रथम भागमें चतुर्थ शुक्ल ध्यानके द्वारा परमपद प्राप्त किया ॥ ४४-४५ ॥ उसी समय देवोंके समूहने आकर बड़े आदरसे विधिपूर्वक अन्तिम संस्कार किया और यह सब क्रिया कर वे सब ओर अपने-अपने स्थानों पर चले गये ॥ ४६ ॥ जिन्होंने मिथ्यानयरूपी सघन अन्धकारसे भरे हुए समस्त लोकको सम्यङ् नयरूपी किरणोंसे शीघ्र ही प्रकाशित कर दिया है, जो मिथ्या शास्त्ररूपी उल्लुओंसे द्वेष करनेवाले हैं, जिनकी उत्कृष्ट दीप्ति अत्यन्त प्रकाशमान है और जो भव्य जीवरूपी कमलोंको विकसित करनेवाले हैं ऐसे श्री अनन्तजित् भगवान्‌रूपी सूर्य तुम सबके पापको जलावें ॥ ४७ ॥ जो पहले पद्मरथ नामके प्रसिद्ध राजा हुए, फिर तपके प्रभावसे निःशङ्क बुद्धिके धारक अच्युतेन्द्र हुए और फिर वहाँसे चयकर मरण-को जीतनेवाले अनन्तजित् नामक जिनेन्द्र हुए वे अनन्त भवोंमें हानेवाले मरणसे तुम सबकी रक्षा करें ॥ ४८ ॥

अथानन्तर—इन्हीं अनन्तनाथके समयमें सुप्रभ बलभद्र और पुरुषोत्तम नामक नारायण हुए हैं इसलिए इन दोनोंके तीन भवोंका उत्कृष्ट चरित्र कहता हूँ ॥ ४९ ॥ इसी भरत क्षेत्रके पोदनपुर नगरमें राजा वसुषेण रहते थे उनकी महारानीका नाम नन्दा था जो अतिशय प्रशंसनीय थी ॥ ५० ॥ उस राजा के यद्यपि पाँच सौ स्त्रियाँ थी तो भी वह नन्दाके ऊपर ही विशेष प्रेम करता था सो ठीक ही है क्यों कि वसन्त ऋतु में अनेक फूल होने पर भी भ्रमर आम्रमंजरी पर ही अधिक उत्सुक रहता है ॥ ५१ ॥ मलय देशका राजा चण्डशासन, राजा वसुषेणका मित्र था इसलिए वह किसी समय उसके दर्शन करनेके लिए पोदनपुर आया ॥ ५२ ॥ पापके उदयसे प्रेरित हुआ चण्डशासन नन्दाको देखनेसे उसपर मोहित हो गया अतः वह दुर्बुद्धि किसी उपायसे उसे हरकर अपने देश ले गया ॥ ५३ ॥ राजा वसुषेण असमर्थ था अतः उस पराभवसे बहुत दुःखी हुआ, चिन्ता रूपी यमराज

---

१ दिवि स्वर्गे सीदन्तीति द्युसदस्तेषां समूहः देवसमूहः । २ जिनसूर्यः । ३ तत् क०, घ० । ४ पृथिव्यां ङ०, ख० ।

श्रेयोगणधरं प्राप्य प्रव्रज्यां प्रतिपद्य सः । सिंहनिःक्रीडितायुग्रं तपस्तप्त्वा महाबलः[1] ॥ ५५ ॥
यदि विद्येत चर्यायाः फलमन्यत्र जन्मनि । अलङ्घ्यशासनः कान्तो भवामीत्यकरोन्मतिम् ॥ ५६ ॥
ततो विहितसंन्यासः सहस्रारं जगाम सः । अष्टादशसमुद्रायुर्द्वादशं कल्पमुत्तमम् ॥ ५७ ॥
अथ जम्बूमति द्वीपे प्राग्विदेहे महर्द्धिके । नन्दनाख्ये पुरे प्राभून्नराधीशो महाबलः[1] ॥ ५८ ॥
प्रजानां पालको भोक्ता सुखानामतिधार्मिकः । श्रीमान् दिक्प्रान्तविश्रान्तकीर्तिरार्तिहरोऽर्थिनाम् ॥५९॥
कदाचिच्छरीरादिवस्तूपाख्यावगमोदयात् । विरक्तस्तपु निर्वाणपदवीप्रापणोत्सुकः ॥ ६० ॥
दत्वा राज्यं स्वपुत्राय प्रजापालार्हदन्तिके । गृहीतसंयमः सिंहनिःक्रीडिततपः श्रितः ॥ ६१ ॥
संन्यस्यन्ति सहस्रारं प्राप्याष्टादशसागर- । स्थिति भोगांश्चिरं भुक्त्वा तदन्ते शान्तमानसः ॥ ६२ ॥
अथेह भारते द्वारवत्यां सोमप्रभप्रभोः । जयवत्यामभूत्सूनुः सुरूपः सुप्रभाह्वयः ॥ ६३ ॥
महायतिः समुत्तुङ्गः सुरविद्याधराश्रयः । श्वेतिमानं दधत् सोऽभाद् विजयार्द्ध इवापरः ॥ ६४ ॥
कलङ्कविकलः कान्तः सन्ततं सर्वचित्तहृत् । पद्मानन्दविधायीत्थमतिशेते विधुं च सः ॥ ६५ ॥
तस्यैव सुषेणाख्यः सीतायां पुरुषोत्तमः । तोकोऽजनि जनानन्दविधायी विविधैर्गुणैः ॥ ६६ ॥

उसके प्राण खींच रहा था परन्तु उसे शास्त्रज्ञानका बल था अतः वह शान्त होकर श्रेय नामक गणधरके पास जाकर दीक्षित हो गया। उस महाबलवान्ने सिंहनिष्क्रीडित आदि कठिन तपकर यह निदान किया कि यदि मेरी इस तपश्चर्या का कुछ फल हो तो मैं अन्य जन्ममें ऐसा राजा होऊँ कि जिसकी आज्ञाका कोई भी उल्लंघन न कर सके ॥ ५४–५६ ॥ तदनन्तर संन्यासमरणकर वह सहस्रार नामक बारहवें स्वर्ग गया। वहाँ अठारह सागरकी उसकी आयु थी ॥ ५७ ॥

अथानन्तर-जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें एक सम्पत्तिसम्पन्न नन्दन नामका नगर है। उसमें महाबल नामका राजा राज्य करता था। वह प्रजाकी रक्षा करता हुआ सुखोंका उपभोग करता था, अत्यन्त धर्मात्मा था, श्रीमान् था, उसकी कीर्ति दिशाओंके अन्त तक फैली थी, और वह याचकोंकी पीड़ा दूर करनेवाला था—बहुत दानी था ॥ ५८–५९ ॥ एक दिन उसे शरीरादि वस्तुओंके यथार्थ स्वरूपका बोध हो गया जिससे वह उनसे विरक्त होकर मोक्ष प्राप्त करनेके लिए उत्सुक हो गया ॥ ६० ॥ उसने अपने पुत्रके लिए राज्य दिया और प्रजापाल नामक अर्हन्तके समीप संयम धारण कर सिंहनिष्क्रीडित नामका तप किया ॥ ६१ ॥ अन्तमें संन्यास धारण कर अठारह सागरकी स्थितिवाले सहस्रार स्वर्गमें उत्पन्न हुआ। वहाँ चिरकाल तक भोग भोगता रहा। जब अन्तिम समय आया तब शान्तचित्त होकर मरा ॥ ६२ ॥ और इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्रकी द्वारवती नगरके स्वामी राजा सोमप्रभकी रानी जयवन्तीके सुप्रभ नामका सुन्दर पुत्र हुआ ॥ ६३ ॥ वह सुप्रभ दूसरे विजयार्धके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिस प्रकार विजयार्ध महायति—बहुत लम्बा है उसी प्रकार सुप्रभ भी महायति—उत्तम भविष्यसे सहित था, जिस प्रकार विजयार्ध समुत्तुङ्ग—ऊँचा है उसी प्रकार सुप्रभ भी समुत्तुङ्ग—उदार प्रकृति का था, जिस प्रकार विजयार्ध देव और विद्याधरोंका आश्रय—आधार—रहनेका स्थान है उसी प्रकार सुप्रभ भी देव और विद्याधरोंका आश्रय—रक्षक था और जिस प्रकार विजयार्ध श्वेतिमा—शुक्लवर्णको धारण करता है उसी प्रकार सुप्रभ भी श्वेतिमा शुक्लवर्ण अथवा कीर्ति सम्बन्धी शुक्लताको धारण करता था ॥ ६४ ॥ यही नहीं, वह सुप्रभ चन्द्रमाको भी पराजित करता था क्योंकि चन्द्रमा कलङ्कसहित है परन्तु सुप्रभ कलङ्करहित था, चन्द्रमा केवल रात्रिके समय ही कान्त—सुन्दर दिखता है परन्तु सुप्रभ रात्रिदिन सदा ही सुन्दर दिखता था, चन्द्रमा सबके चित्तको हरण नहीं करता—चकवा आदिको प्रिय नहीं लगता परन्तु सुप्रभ सबके चित्तको हरण करता था—सर्वप्रिय था, और चन्द्रमा पद्मानन्दविधायी नहीं है—कमलोंको विकसित नहीं करता परन्तु सुप्रभ पद्मानन्दविधायी था—लक्ष्मीको आनन्दित करनेवाला था ॥ ६५ ॥ उसी राजाकी सीता नामकी रानीके वसुषेणका जीव पुरुषोत्तम नामका पुत्र

---

१ महाबलः ज० ।

सेव्यस्तेजस्विभिः सर्वैरविलङ्घ्यमहोन्नतिः । महारत्नसमुद्भासी सुमेरुरिव सुन्दरः ॥ ६७ ॥
शुक्लकृष्णत्विषौ लोकव्यवहारप्रवर्तकौ । पक्षाविव विभातः स्म युक्तौ तौ रामकेशवौ ॥ ६८ ॥
पञ्चाशद्धनुरुच्छ्रायौ त्रिंशल्लक्षसमायुषौ । समं समसुखौ कालं समजीगमतां चिरम् ॥ ६९ ॥
अथ भ्रान्त्वा भवे दीर्घं प्राक्तनश्चण्डशासनः । चण्डांशुरिव चण्डोऽभूद्दण्डितारातिमण्डलः ॥ ७० ॥
काशिदेशे नृपो वाराणसीनगरनायकः । मधुसूदनशब्दाख्यो विख्यातबलविक्रमः ॥ ७१ ॥
तौ तदोदयिनौ श्रुत्वा नारदादसहिष्णुकः । तव मे प्रेषय प्रार्घ्यगजरत्नादिकं करम् ॥ ७२ ॥
तदाकर्णनकालान्तवातोद्धूतमनोऽम्बुधिः । युगान्तान्तकदुःप्रेक्ष्यश्चुक्रोध पुरुषोत्तमः ॥ ७३ ॥
सुप्रभोऽपि प्रभाजालं विकिरन् दिक्षु चक्षुषोः । ज्वालावलिमिव क्रोधपावकार्चिस्तताशयः ॥ ७४ ॥
न ज्ञातः कः करो नाम किं करो येन भुज्यते । तं दास्यामः स्फुरत्खड्गं शिरसाऽसौ प्रतीच्छतु ॥ ७५ ॥
पतु गृह्णातु को दोष इत्याविष्कृततेजसौ । उभावबोचतामुच्चैर्नारदं परुषोक्तिभिः ॥ ७६ ॥
ततस्तदवगम्यायात् संक्रुद्धो मधुसूदनः । हन्तुं तौ तौ च हन्तुं तं रोषादगमतां प्रति ॥ ७७ ॥
सेनयोरुभयोरासीत्संग्रामः संहरन्निव । सर्वानहँस्तदारिस्तं चक्रेण पुरुषोत्तमः ॥ ७८ ॥

हुआ जो कि अनेक गुणोंसे मनुष्योंको आनन्दित करने वाला था ॥ ६६ ॥ वह पुरुषोत्तम सुमेरु पर्वतके समान सुन्दर था क्योंकि जिस प्रकार सुमेरुपर्वत समस्त तेजस्वियों—सूर्य चन्द्रमा आदि देवोंके द्वारा सेव्यमान है उसी प्रकार पुरुषोत्तम भी समस्त तेजस्वियों—प्रतापी मनुष्योंके द्वारा सेव्यमान था, जिस प्रकार सुमेरु पर्वतकी महोन्नत्ति—भारी ऊँचाईका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता उसी प्रकार पुरुषोत्तमकी महोन्नति—भारी श्रेष्ठता अथवा उदारताका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता और जिस प्रकार सुमेरु पर्वत महारत्नों—बड़े-बड़े रत्नोंसे सुशोभित है उसी प्रकार पुरुषोत्तम भी महारत्नों—बहुमूल्य रत्नों अथवा श्रेष्ठ पुरुषोंसे सुशोभित था ॥ ६७ ॥ वे बलभद्र और नारायण क्रमशः शुक्ल और कृष्ण कान्तिके धारक थे, तथा समस्त लोक-व्यवहारके प्रवर्तक थे अतः शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षके समान सुशोभित होते थे ॥ ६८ ॥ उन दोनोंका पचास धनुष ऊँचा शरीर था, तीस लाख वर्षकी दोनोंकी आयु थी और एक समान दोनोंको सुख था अतः साथ ही साथ सुखोपभोग करते हुए उन्होंने बहुत-सा समय बिता दिया ॥ ६९ ॥

अथानन्तर—पहले जिस चण्डशासनका वर्णन कर आये हैं वह अनेक भवोंमें घूमकर काशी देशकी वाराणसी नगरीका स्वामी मधुसूदन नामका राजा हुआ । वह सूर्यके समान अत्यन्त तेजस्वी था, उसने समस्त शत्रुओंके समूहको दण्डित कर दिया था तथा उसका बल और पराक्रम बहुत ही प्रसिद्ध था ॥ ७०-७१ ॥ नारदसे उस असहिष्णुने उन बलभद्र और नारायणका वैभव सुनकर उसके पास खबर भेजी कि तुम मेरे लिए हाथी तथा रत्न आदि कर स्वरूप भेजो ॥ ७२ ॥ उसकी खबर सुनकर पुरुषोत्तमका मनरूपी समुद्र ऐसा क्षुभित हो गया मानो प्रलय-कालकी वायुसे ही क्षुभित हो उठा हो, वह प्रलय कालके यमराजके समान दुष्प्रेक्ष्य हो गया और अत्यन्त क्रोध करने लगा ॥ ७३ ॥ बलभद्र सुप्रभ भी दिशाओंमें अपने नेत्रोंकी लाल-लाल कान्तिको इस प्रकार बिखेरने लगा मानो क्रोधरूपी अग्निकी ज्वालाओंके समूहको ही बिखेर रहा हो ॥ ७४ ॥ वह कहने लगा—'मैं नहीं जानता कि कर क्या कहलाता है ? क्या हाथ को कर कहते हैं ? जिससे कि खाया जाता है । अच्छा तो मैं जिसमें तलवार चमक रही है ऐसा कर—हाथ दूँगा वह सिरसे उसे स्वीकार करे ॥ ७५ ॥ वह आवे और कर ले जावे इसमें क्या हानि है ?' इस प्रकार तेज प्रकट करनेवाले दोनों भाइयोंने कटुक शब्दोंके द्वारा नारदको उच्च स्वरसे उत्तर दिया ॥ ७६ ॥ तदनन्तर यह समाचार सुनकर मधुसूदन बहुत ही कुपित हुआ और उन दोनों भाइयोंको मारनेके लिए चला तथा वे दोनों भाई भी क्रोधसे उसे मारनेके लिए चले ॥ ७७ ॥ दोनों सेनाओंका ऐसा संग्राम हुआ मानो सबका संहार ही करना चाहता हो । शत्रु—मधुसूदनने पुरुषोत्तमके ऊपर चक्र चलाया परन्तु वह चक्र पुरुषोत्तमका कुछ नहीं बिगाड़ सका । अन्तमें पुरुषोत्तमने उसी चक्रसे मधुसूदनको

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

त्रिखण्डाधिपतित्वं तौ चतुर्थौ रामकेशवौ । ज्योतिर्लोकाधिनाथत्वमन्वभूतामिवेन्द्विनौ[1] ॥ ७९ ॥
केशवो जीवितान्तेऽगादवधिस्थानमायुषाम्[2] । सुप्रभस्तद्वियोगोत्थशोकानलसमन्वितः ॥ ८० ॥
प्रबोधितः प्रसन्नात्मा सोमप्रभजिनेशिना । दीक्षित्वा श्रेणिमारुह्य स मोक्षमगमत्सुधीः ॥ ८१ ॥

वसन्ततिलका

सम्भूय पोदनपुरे वसुषेणनामा कृत्वा तपः सुरवरोऽजनि शुक्ललेश्यः ।
तस्माच्च्युतोऽर्द्धभरताधिपतिर्हतारिः प्रापान्तिमां क्षितिमधः पुरुषोत्तमाख्यः ॥ ८२ ॥

वियोगिनी

मलयाधिपचण्डशासनो नृपतिः[3] पापमतिर्भ्रमंश्चिरम् ।
भववारिनिधावभूदधः खलु गन्ता मधुसूदनाभिधः ॥ ८३ ॥

वंशस्थवृत्तम्

महाबलाख्यः पुरि नन्दने नृपः महातपा द्वादशकल्पजः सुरः ।
पुनर्बलः सुप्रभसंज्ञयाऽगमत् परं पदं प्रास्तसमस्तसङ्गकः ॥ ८४ ॥

आर्या

साम्राज्यसारसौख्यं सुप्रभपुरुषोत्तमौ समं भुक्त्वा ।
प्रथमो निर्वाणमगादपरोऽधो वृत्तिवैचित्र्यम् ॥ ८५ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे अनन्ततीर्थंकर-सुप्रभपुरुषोत्तम-मधुसूदनपुराणं समाप्तं षष्टितमं पर्व ॥ ६० ॥

मार डाला ॥ ७८ ॥ दोनों भाई चौथे बलभद्र और नारायण हुए तथा तीन खण्डके आधिपत्यका इस प्रकार अनुभव करने लगे जिस प्रकार कि सूर्य और चन्द्रमा ज्योतिर्लोकके आधिपत्यका अनुभव करते हैं ॥ ७९ ॥ आयुके अन्तमें पुरुषोत्तम नारायण छठवें नरक गया और सुप्रभ बलभद्र उसके वियोगसे उत्पन्न शोकरूपी अग्निसे बहुत ही संतप्त हुआ ॥ ८० ॥ सोमप्रभ जिनेन्द्रने उसे समझाया जिससे प्रसन्नचित्त होकर उसने दीक्षा ले ली और अन्तमें क्षपक श्रेणीपर आरूढ़ होकर उस बुद्धिमान्ने मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥ ८१ ॥

पुरुषोत्तम पहले पोदनपुर नगरमें वसुषेण नामका राजा हुआ, फिर तप कर शुक्ललेश्याका धारक देव हुआ, फिर वहाँसे चयकर अर्धभरतक्षेत्रका स्वामी, तथा शत्रुओंका नष्ट करनेवाला पुरुषोत्तम नामका नारायण हुआ एवं उसके बाद अधोलोकमें सातवीं पृथिवीमें उत्पन्न हुआ ॥ ८२ ॥ मलयदेशका अधिपति पापी राजा चण्डशासन चिरकाल तक भ्रमण करता हुआ मधुसूदन हुआ और तदनन्तर संसाररूपी सागरके अधोभागमें निमग्न हुआ ॥ ८३ ॥ सुप्रभ पहले नन्दन नामक नगरमें महाबल नामका राजा था फिर महान् तप कर बारहवें स्वर्गमें देव हुआ, तदनन्तर सुप्रभ नामका बलभद्र हुआ और समस्त परिग्रह छोड़कर उसी भवसे परमपदको प्राप्त हुआ ॥ ८४ ॥ देखो, सुप्रभ और पुरुषोत्तम एक ही साथ साम्राज्यके श्रेष्ठ सुखोंका उपभोग करते थे परन्तु उनमेंसे पहला—सुप्रभ तो मोक्ष गया और दूसरा—पुरुषोत्तम नरक गया, यह सब अपनी वृत्ति-प्रवृत्तिकी विचित्रता है ॥ ८५ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें अनन्तनाथ तीर्थंकर, सुप्रभ बलभद्र, पुरुषोत्तम नारायण और मधुसूदन प्रतिनारायणके पुराणका वर्णन करनेवाला साठवाँ पर्व पूर्ण हुआ ।

---

१ चन्द्रसूर्यौ । २-मायुषा ल० । ३ नृपतिं ल० ।

एकषष्टितमं पर्व

धर्मे यस्मिन् समुद्भूता धर्मा दश सुनिर्मलाः । स धर्मः शर्म मे दद्यादधर्ममपहृत्य नः ॥ १ ॥
धातकीखण्डप्राग्भागे प्राग्विदेहे सरित्तटे । दक्षिणे वत्सविषये सुसीमानगरं महत् ॥ २ ॥
पतिर्दशरथस्तस्य प्रज्ञाविक्रमदैववान् । स्ववशीकृतसर्वारिः निर्व्यायामः समे स्थितः ॥ ३ ॥
सुखानि धर्मसाराणि प्रजापालनलालसः । बन्धुभिश्च सुहृद्भिश्च सह विश्रब्धमन्वभूत् ॥ ४ ॥
माधवे शुक्लपक्षान्ते सम्प्रवृत्ताजनोत्सवे । चन्द्रोपरागमालोक्य सद्यो निर्विण्णमानसः ॥ ५ ॥
कान्तः कुवलयाह्लादी कलाभिः परिपूर्णवान् । ईदृशस्यापि चेदीदृगवस्थाऽन्यस्य का गतिः ॥ ६ ॥
इति मत्वा सुते राज्यभारं कृत्वा महारथे । नैःसङ्ग्याल्लाघवोपेतमङ्गीकृत्य स संयमम् ॥ ७ ॥
एकादशाङ्गधारी सन् भावितद्वयष्टकारणः । निबद्धतीर्थकृत्पुण्यः स्वाराध्यान्ते विशुद्धधीः ॥ ८ ॥
त्रयस्त्रिंशत्समुद्रायुः एकहस्ततनूच्छ्रितिः । पञ्चरन्ध्रचतुर्मानदिनैरुच्छ्वासवान् मनाक् ॥ ९ ॥
लोकनाल्यन्तरव्यापिविमलावधिबोधनः । तत्क्षेत्रविक्रियातेजोबलसम्पत्समन्वितः ॥ १० ॥
त्रिसहस्राधिकत्रिंशत्सहस्राब्दैः समाहरन् । मुहूर्ते मानसाहारं शुक्ललेश्याद्वयश्चिरम् ॥ ११ ॥
सर्वार्थसिद्धौ सत्सौख्यं निःप्रवीचारमन्वभूत् । ततो नृलोकमेतस्मिन् पुण्यभाज्यागमिष्यति ॥ १२ ॥
द्वीपेऽस्मिन्भारते रत्नपुराधीशो महीपतेः । कुरुवंशस्य गोत्रेण काश्यपस्य महौजसः ॥ १३ ॥
देव्या भानुमहाराजसंज्ञस्य विपुलश्रियः । सुप्रभायाः सुरानीतवसुधारादिसम्पदः ॥ १४ ॥

जिन धर्मनाथ भगवान्‌से अत्यन्त निर्मल उत्तमक्षमा आदि दश धर्म उत्पन्न हुए वे धर्मनाथ भगवान् हमलोगोंका अधर्म दूर कर हमारे लिए सुख प्रदान करें ॥ १ ॥ पूर्व धातकीखण्ड द्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें नदीके दक्षिण तट पर एक वत्स नामका देश है। उसमें सुसीमा नामका महानगर है ॥२॥ वहाँ राजा दशरथ राज्य करता था, वह बुद्धि, बल और भाग्य तीनोंसे सहित था। चूँकि उसने समस्त शत्रु अपने वश कर लिये थे इसलिए युद्ध आदिके उद्योगसे रहित होकर वह शान्तिसे रहता था ॥ ३ ॥ प्रजाकी रक्षा करनेमें सदा उसकी इच्छा रहती थी और वह बन्धुओं तथा मित्रोंके साथ निश्चिन्ततापूर्वक धर्म-प्रधान सुखोंका उपभोग करता था ॥ ४ ॥ एक बार वैशाख शुक्ल पूर्णिमा के दिन सबलोग उत्सव मना रहे थे उसी समय चन्द्र ग्रहण पड़ा उसे देखकर राजा दशरथका मन भोगोंसे एकदम उदास हो गया ॥ ५ ॥ यह चन्द्रमा सुन्दर है, कुवलयों—नीलकमलों (पक्षमें—महीमण्डल) को आनन्दित करनेवाला है और कलाओंसे परिपूर्ण है। जब इसकी भी ऐसी अवस्था हुई है तब अन्य पुरुषकी क्या अवस्था होगी ॥ ६ ॥ ऐसा मानकर उसने महारथ नामक पुत्रके लिए राज्यभार सौंपा और स्वयं परिग्रहरहित होनेसे भारहीन होकर संयम धारण कर लिया ॥ ७ ॥ उसने ग्यारह अङ्गोंका अध्ययन कर सोलह कारण-भावनाओंका चिन्तवन किया, तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृतिका बन्ध किया और आयुके अन्तमें समाधिमरण कर अपनी बुद्धिको निर्मल बनाया ॥ ८ ॥ अब वह सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ, तैंतीस सागर उसकी स्थिति थी, एक हाथ ऊँचा उसका शरीर था, चार सौ निन्यानवें दिन अथवा साढ़े सोलह माहमें एक बार कुछ श्वास लेता था ॥ ९ ॥ लोक नाड़ीके अन्त तक उसके निर्मल अवधिज्ञानका विषय था, उतनी ही दूर तक फलने-वाली विक्रिया तेज तथा बलरूप सम्पत्तिसे सहित था ॥ १० ॥ तीस हजार वर्षमें एक बार मानसिक आहार लेता था, द्रव्य और भाव सम्बन्धी दोनों शुक्ललेश्याओंसे युक्त था ॥११॥ इसप्रकार वह सर्वार्थ-सिद्धिमें प्रवीचार रहित उत्तम सुखका अनुभव करता था। वह पुण्यशाली जब वहाँसे चयकर मनुष्य लोकमें जन्म लेनेके लिए तत्पर हुआ ॥ १२ ॥ तब इस जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें एक रत्नपुर नामका नगर था उसमें कुरुवंशी काश्यपगोत्री महातेजस्वी और महालक्ष्मीसम्पन्न महाराज भानु राज्य करते थे उनकी महादेवीका नाम सुप्रभा था, देवोंने रत्नवृष्टि आदि सम्पदाओंके द्वारा उसका सम्मान

सितपक्षत्रयोदश्यां वैशाखे रेवतीविधौ । निशान्ते षोडशस्वप्नाः समभूवन् दृशोः स्फुटाः ॥ १५ ॥
सा [1]प्रबुध्य फलान्यात्मपतेरवधिलोचनात् । तेषां विज्ञाय सम्भूतसुतेवासीत्ससम्मदा ॥ १६ ॥
तदैतानुत्तरादन्त्यादस्या गर्भेऽभवद्विभुः । सुरेन्द्राश्चादिकल्याणमकुर्वत [2] समागताः ॥ १७ ॥
धवले नवमासान्ते गुरुयोगे त्रयोदशी । दिने माघे सुतं मासे साऽसूतावधिलोचनम् ॥ १८ ॥
तदैवानिमिषाधीशास्तं नीत्वाऽमरभूधरे । क्षीराब्धिवारिभिर्भूरिकार्तस्वरघटोद्धृतैः ॥ १९ ॥
अभिषिच्य विभूष्योच्चैर्धर्माख्यमगदन्मुदा । सर्वभूतहितश्रीमत्सद्धर्मपथदेशनात् ॥ २० ॥
अनन्तजिनसन्ताने चतुःसागरसम्मिते । काले पर्यन्तपल्योपमार्द्धे धर्मेऽस्तमीयुषि ॥ २१ ॥
तदभ्यन्तरवर्त्यायुर्धर्मनामोदयादि सः । दशलक्षसमाजीवी तप्तकाञ्चनसच्छविः ॥ २२ ॥
खाष्टैकहस्तसद्देहो [3]वयः कौमारमुद्वहन् । सार्द्धलक्षद्वयादन्ते लब्धराज्यमहोदयः ॥ २३ ॥
तुङ्गत्वादतिशुद्धत्वात्प्रेक्ष्यत्वात्स्वाश्रयात्ततः । अशेषपोषकत्वाच्च मेघान्तजलदोपमः ॥ २४ ॥
भद्रत्वात् बहुदानत्वात्सौलक्षण्यान्महत्त्वतः । सुकरत्वात्सुरेभत्वादपरो वा गजोत्तमः ॥ २५ ॥
निग्रहानुग्रहौ तस्य न द्वेषेच्छाप्रवर्तितौ । गुणदोषकृतौ तस्माद्विगृह्णन्नपि पूज्यते ॥ २६ ॥
कीर्तिस्तस्य लता सत्यं नो चेद्विश्वविसर्पिणी । कथं कविवचोवारिषेकादद्यापि वर्द्धते ॥ २७ ॥
धरित्री सुखसम्भोग्या तस्य स्वगुणरञ्जिता । नायिकेवोत्तमा काममभीष्टफलदायिनी ॥ २८ ॥

बढ़ाया था। रानी सुप्रभाने वैशाख शुक्ल त्रयोदशीके दिन रेवती नक्षत्रमें प्रातःकालके समय सोलह स्वप्न देखे ॥ १३-१५ ॥ जागकर उसने अपने अवधिज्ञानी पतिसे उन स्वप्नोंका फल मालूम किया और ऐसा हर्षका अनुभव किया मानो पुत्र ही उत्पन्न हो गया हो ॥ १६ ॥ उसी समय अन्तिम अनुत्तरविमानसे —सर्वार्थसिद्धिसे चयकर वह अहमिन्द्र रानीके गर्भमें अवतीर्ण हुआ। इन्द्रोंने आकर गर्भकल्याणकका उत्सव किया ॥ १७ ॥ नव माह बीत जाने पर माघ शुक्ला त्रयोदशीके दिन गुरुयोगमें उसने अवधिज्ञानरूपी नेत्रोंके धारक पुत्रको उत्पन्न किया ॥ १८ ॥ उसी समय इन्द्रोंने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर बहुत भारी सुवर्ण-कलशोंमें भरे हुए क्षीरसागरके जलसे उनका अभिषेक कर आभूषण पहिनाये तथा हर्षसे धर्मनाथ नाम रक्खा ॥ १९ ॥ जब अनन्तनाथ भगवान्के बाद चार सागर प्रमाण काल बीत चुका और अन्तिम प्रलयका आधा भाग जब धर्मरहित हो गया तब धर्मनाथ भगवान्का जन्म हुआ था, उनकी आयु भी इसी अन्तरालमें शामिल थी। उनकी आयु दशलाख वर्षकी थी, शरीरकी कान्ति सुवर्णके समान थी, शरीरकी ऊँचाई एक सौ अस्सी हाथ थी। जब उनके कुमारकालके अढ़ाईलाख वर्ष बीत गये तब उन्हें राज्यका अभ्युदय प्राप्त हुआ था ॥ २०-२३ ॥ वे अत्यन्त ऊँचे थे, अत्यन्त शुद्ध थे, दर्शनीय थे, उत्तम आश्रय देने वाले थे, और सबका पोषण करनेवाले थे अतः शरद्ऋतुके मेघके समान थे ॥ २४ ॥ अथवा किसी उत्तम हाथीके समान थे क्योंकि जिस प्रकार उत्तम हाथी भद्र जातिका होता है उसी प्रकार वे भी भद्र प्रकृति थे, उत्तम हाथी जिस प्रकार बहु दान—बहुत मदसे युक्त होता है उसी प्रकार वे भी बहु दान—बहुत दानसे युक्त थे, उत्तम हाथी जिस प्रकार सुलक्षण—अच्छे-अच्छे लक्षणोंसे सहित होता है उसी प्रकार वे भी सुलक्षण—अच्छे सामुद्रिक चिह्नोंसे सहित थे, उत्तम हाथी जिस प्रकार महान् होता है उसी प्रकार वे भी महान्—श्रेष्ठ थे, उत्तम हाथी जिस प्रकार सुकर—उत्तम सूँड़से सहित होता है उसी प्रकार वे भी सुकर—उत्तम हाथोंसे सहित थे, और उत्तम हाथी जिस प्रकार सुरेभ—उत्तम शब्दसे सहित होता है उसी प्रकार वे भी सुरेभ—उत्तम-मधुर शब्दोंसे सहित थे ॥ २५ ॥ वे दुर्जनोंका निग्रह और सज्जनोंका अनुग्रह करते थे सो द्वेष अथवा इच्छाके वश नहीं करते थे किन्तु गुण और दोषकी अपेक्षा करते थे अतः निग्रह करते हुए भी वे प्रजाके पूज्य थे ॥ २६ ॥ उनकी समस्त संसारमें फैलनेवाली कीर्ति यदि लता नहीं थी तो वह कवियोंके प्रवचनरूपी जलके सेकसे आज भी क्यों बढ़ रही है ॥ २७ ॥ सुखसे संभोग करनेके योग्य तथा अपने गुणोंसे अनुरक्त पृथिवी उनके लिए उत्तम

---

१ प्रबुध्या ल० । २-मकुर्वन्त ल० । ३ स्वयं ल० । वयं क०, ख०, ग० ।

धर्मादस्मादवाप्स्यन्ति कर्मारातिनिबर्हणात् । शर्म चेन्निर्मलं भव्याः शर्मास्य किमुवर्ण्यते ॥ २९ ॥
पञ्चलक्षसमाराज्यकालेऽतीते कदाप्यसौ । उल्कापातसमुद्भूतवैराग्यादित्यचिन्तयत् ॥ ३० ॥
कथं क्व कस्माज्जातो मे [1]किमयः कस्य [2]भाजनम्। किं भविष्यति कायोऽयमिति चिन्तामकुर्वता ॥३१॥
दुर्विदग्धेन साङ्गत्यमनेन सुचिरं कृतम् । अश्नता दुःखमावर्ज्य पापं पापविपाकतः ॥ ३२ ॥
दुःखमेव सुखं मत्वा दुर्मतिः कर्मचोदितः । शर्म शाश्वतमप्राप्य श्रान्तोऽहं जन्मसन्ततौ ॥ ३३ ॥
बोधादयो गुणाः स्वेऽमी ममैतदविकल्पयन् । रागादिकान् गुणान्मत्वा धिग्मां मतिविपर्यात् ॥ ३४ ॥
स्नेहमोहग्रहग्रस्तो मुहुर्बन्धुधनान्यलम्[3] । पोषयन्नर्जयन्पापसञ्चयाद् दुर्गतीर्गतः ॥ ३५ ॥
एवमेनं स्वयं बुद्धं मत्वा लौकान्तिकाः सुरः । दुर्दुतिस्तुतिभिर्हर्षाद्येत्यातिभक्तिकाः ॥ ३६ ॥
सुधर्मनाम्नि स ज्येष्ठे पुत्रे निहितराज्यकः । [4]प्राप्तनिष्क्रमणारम्भकल्याणाभिषवोत्सवः[5] ॥ ३७ ॥
शिबिकां नागदत्ताख्यामारुह्य सुरसत्तमैः । सह शालवनोद्यानं गत्वा षष्ठोपवासवान् ॥ ३८ ॥
माघज्योत्स्नात्रयोदश्यामपराह्णे नृपैः [6]समम् । सहस्रेण स पुष्यर्क्षे दीक्षां मौक्षीं समग्रहीत् ॥ ३९ ॥
चतुर्थज्ञानसम्पन्नो द्वितीयेऽह्नयविशत्पुरीम् । भोक्तुं पाटलिपुत्राख्यां समुन्नद्धपताकिकाम् ॥ ४० ॥
[7]धन्यषेणमहीपालो दत्वाऽस्मै कनकद्युतिः । दानमुत्तमपात्राय प्रापदाश्चर्यपञ्चकम् ॥ ४१ ॥
तथैकवर्षच्छद्मस्थकालेऽतीते पुरातने । वने सप्तच्छदस्याधः कृतषष्ठोपवासकः ॥ ४२ ॥
पूर्णमास्यां च पुष्यर्क्षे सायाह्ने प्राप केवलम् । आससाद च सत्पूजां तुर्यकल्याणसूचिनीम् ॥ ४३ ॥

नायिकाके समान इच्छानुसार फल देने वाली थी ॥ २८ ॥ जब अन्य भव्य जीव इन धर्मनाथ भगवान्‌के प्रभावसे अपने कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट कर निर्मल सुख प्राप्त करेंगे तब इनके सुखका वर्णन कैसे किया जा सकता है ? ॥ २९ ॥

जब पाँच लाख वर्ष प्रमाण राज्यकाल बीत गया तब किसी एक दिन उल्कापात देखनेसे इन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। विरक्त होकर वे इस प्रकार चिन्तवन करने लगे—'मेरा यह शरीर कैसे, कहाँ और किससे उत्पन्न हुआ है ? किमात्मक है, किसका पात्र है और आगे चलकर क्या होगा' ऐसा विचार न कर मुझ मूर्खने इसके साथ चिरकाल तक संगति की। पापका संचय कर उसके उदयसे मैं आज तक दुःख भोगता रहा। कर्मसे प्रेरित हुए मुझ दुर्मतिने दुःखको ही सुख मानकर कभी शाश्वत—स्थायी सुख प्राप्त नहीं किया। मैं व्यर्थ ही अनेक भवोंमें भ्रमण कर थक गया। ये ज्ञान दर्शन आदि मेरे गुण हैं यह मैंने कल्पना भी नहीं की किन्तु इसके विरुद्ध बुद्धिके विपरीत होनेसे रागादिको अपना गुण मानता रहा। स्नेह तथा मोहरूपी ग्रहोंसे ग्रसा हुआ यह प्राणी बार-बार परिवारके लोगों तथा धनका पोषण करता हुआ पाप उपार्जन करता है और पापके संचयसे अनेक दुर्गतियोंमें भटकता है'। इस प्रकार भगवान्‌को स्वयं बुद्ध जानकर लौकान्तिक देव आये और बड़ी भक्तिके साथ इस प्रकार स्तुति करने लगे कि हे देव ! आज आप कृतार्थ—कृतकृत्य हुए ॥ ३०–३६ ॥ उन्होंने सुधर्म नामके ज्येष्ठ पुत्रके लिए राज्य दिया, दीक्षा-कल्याणकके समय होने वाले अभिषेकका उत्सव प्राप्त किया, नागदत्ता नामकी पालकीमें सवार होकर ज्येष्ठ देवोंके साथ शालवनके उद्यानमें जाकर दो दिनके उपवासका नियम लिया और माघशुक्ला त्रयोदशीके दिन सायंकालके समय पुष्य नक्षत्रमें एकहजार राजाओंके साथ मोक्ष प्राप्त करानेवाली दीक्षा धारण कर ली ॥ ३७–३९ ॥ दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे दूसरे दिन आहार लेनेके लिए पताकाओंसे सजी हुई पाटलिपुत्र नामकी नगरीमें गये ॥ ४० ॥ वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले धन्यषेण राजाने उन उत्तम पात्रके लिए दान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ ४१ ॥ तदनन्तर छद्मस्थ अवस्थाका एक वर्ष बीत जाने पर उन्होंने उसी पुरातन वनमें सप्तच्छद वृक्षके नीचे दो दिनके उपवासका नियम लेकर योग धारण किया और पौषशुक्ल पूर्णिमाके दिन सायंकालके समय पुष्य

१ किमात्मकः । २ भाजनः क०, घ० । भाजने ख० । ३ धनाद्यलम् ल० । ४ प्राप्तः ल० । ५–सवम् ल० । ६ सह ख० । ७ धान्यषेण क०, घ० ।

अरिष्टसेनाद्यनलयुगमानगणाधिपः । शून्यद्वयनवप्रोक्तसर्वपूर्वधरावृतः ॥ ४४ ॥
शून्यद्वयद्विशून्याब्धिमितशिक्षकलक्षितः । षट्शतत्रिसहस्रोक्तत्रिविधावधिलोचनः ॥ ४५ ॥
शून्यद्वयेन्द्रियाम्भोधिप्रोक्तकेवलवीक्षणः । शून्यत्रिकमुनिज्ञातविक्रियर्द्धिविभूषितः ॥ ४६ ॥
केवलज्ञानिमानोक्तमनःपर्ययविद्वृतः[1] । खद्वयाष्टद्विविज्ञातवादिवृन्दाभिवन्दितः ॥ ४७ ॥
पिण्डीकृतचतुःषष्टिसहस्रमुनिसाधनः । खखाब्धिपक्षषट्प्रोक्तसुव्रताद्यार्यिकार्चितः ॥ ४८ ॥
द्विलक्षश्रावकोपेतो द्विगुणश्राविकावृतः । पूर्वोक्तदेवसन्दोहतिर्यक्संङ्ख्यातसंश्रितः ॥ ४९ ॥
इति द्वादशभेदोक्तगणसम्पत्समर्चितः[2] । धर्मो धर्ममुपादिक्षद्धर्मध्वजविराजितः ॥ ५० ॥
विहारमन्ते संहृत्य सम्मेदे गिरिसत्तमे । मासमेकमयोगः सन्नवाष्टशतसंयतैः ॥ ५१ ॥
शुचिशुक्लचतुर्थ्यन्त[3]रात्रौ ध्यातिं पृथग्द्वयीम् । आपूर्य पुष्यनक्षत्रे मोक्षलक्ष्मीमुपागमत् ॥ ५२ ॥
तदामृताशनाधीशाः सहसाऽऽगत्य सर्वतः । कृत्वा निर्वाणकल्याणमवन्दिषत तं जिनम् ॥ ५३ ॥

आर्या

निर्जित्य दशरथः स रिपून्नृपोन्त्याहमिन्द्रतां गत्वा ।
धर्मः स पातु पापैर्धर्मा युधि यस्य दशरथायन्ते ॥ ५४ ॥

मालिनी

निहतसकलघाती निश्चलाम्रावबोधो
गदितपरमधर्मो धर्मनामा जिनेन्द्रः ।
त्रितयतनुविनाशा[4]न्निर्मलः शर्मसारो
दिशतु सुखमनन्तं शान्तसर्वात्मको वः ॥ ५५ ॥

नक्षत्रमें केवलज्ञान प्राप्त किया। देवोंने चतुर्थ कल्याणककी उत्तम पूजा की ॥४२-४३॥ वे अरिष्टसेनको आदि लेकर तैंतालीस गणधरोंके स्वामी थे, नौ सौ ग्यारह पूर्वधारियोंसे आवृत थे, चालीस हजार सात सौ शिक्षकोंसे सहित थे, तीन हजार छह सौ तीन प्रकारके अवधिज्ञानियोंसे युक्त थे, चार हजार पाँच सौ केवलज्ञानी उनके साथ थे, सात हजार विक्रियाऋद्धिके धारक उनकी शोभा बढ़ा रहे थे, चार हजार पाँच सौ मनःपर्ययज्ञानी उन्हें घेरे रहते थे, दो हजार आठ सौ वादियोंके समूह उनकी वन्दना करते थे, इस तरह सब मिलाकर चौंसठ हजार मुनि उनके साथ रहते थे, सुव्रताको आदि लेकर बासठ हजार चार सौ आर्यिकाएँ उनकी पूजा करती थीं, वे दो लाख श्रावकोंसे सहित थे, चार लाख श्राविकाओंसे आवृत थे, असंख्यात देव-देवियों और संख्यात तिर्यञ्चोंसे सेवित थे ॥४४-४९॥ इस प्रकार बारह सभाओंकी सम्पत्तिसे सहित तथा धर्मकी ध्वजासे सुशोभित भगवान्ने धर्मका उपदेश दिया ॥५०॥ अन्तमें विहार बन्द कर वे पर्वतराज सम्मेदशिखर पर पहुँचे और एक माहका योग निरोध कर आठ सौ नौ मुनियोंके साथ ध्यानारूढ़ हुए। तथा ज्येष्ठशुक्ला चतुर्थीके दिन रात्रिके अन्त भागमें सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ती नामक शुक्लध्यानको पूर्ण कर पुष्य नक्षत्रमें मोक्ष-लक्ष्मीको प्राप्त हुए ॥ ५१-५२ ॥ उसी समय सब ओरसे देवोंने आकर निर्वाण कल्याणकका उत्सव किया तथा वन्दना की ॥ ५३ ॥ जो पहले भवमें शत्रुओंको जीतनेवाले दशरथ राजा हुए, फिर अहमिन्द्रताको प्राप्त हुए तथा जिनके द्वारा कहे हुए दश धर्म पापोंके साथ युद्ध करनेमें दश रथोंके समान आचरण करते हैं वे धर्मनाथ भगवान् तुम सबकी रक्षा करें ॥ ५४ ॥ जिन्होंने समस्त घातिया कर्म नष्ट कर दिये हैं, जिनका केवलज्ञान अत्यन्त निश्चल है, जिन्होंने श्रेष्ठ धर्मका प्रतिपादन किया है, जो तीनों शरीरोंके नष्ट हो जानेसे अत्यन्त निर्मल हैं, जो स्वयं अनन्त सुखसे सम्पन्न हैं और जिन्होंने समस्त आत्माओंको शान्त कर दिया है ऐसे धर्मनाथ जिनेन्द्र तुम सबके लिए अनन्त सुख प्रदान करें ॥ ५५ ॥

---

१ विवृतः ब० । २ समन्वितः ब० । ३-तुर्ष्यन्ते ब० । ४ विनाशो क०, घ० ।

अस्मिन्नेवाभवत्तीर्थे बलः श्रीमान् सुदर्शनः । केशवः सिंहशब्दान्तपुरुषः परिषद्बलः ॥ ५६ ॥
तयोराख्यानकं वक्ष्ये भवत्रयसमाश्रयम् । इह राजगृहे राजा सुमित्रो नाम गर्वितः ॥ ५७ ॥
[1]महामल्लो बहून् जित्वा लब्धपूजः परीक्षकैः । तृणायमन्यमानोऽन्यानमाद्यद् दुष्टदन्तिवत् ॥ ५८ ॥
कदाचिद्राजसिंहाख्यः महीनाथो मदोद्धतः । तद्गर्वशातनायागात्तां पुरीं मल्लयुद्धवित् ॥ ५९ ॥
सुमित्रस्तेन रङ्गस्थो निर्जितः सुचिराद्यथा । उत्खातदन्तदन्तीव तदास्थादतिदुःखितः ॥ ६० ॥
मानभङ्गेन भग्नः सन्नसौ राज्यभराक्षमः । नियुक्तवान् सुतं राज्ये मानप्राणा हि मानिनः ॥ ६१ ॥
कृष्णाचार्यं समासाद्य श्रुत्वा धर्मं [2]यथोदितम् । प्रवव्राजातिनिर्विण्णस्तद्धि योग्यं मनस्विनाम् ॥ ६२ ॥
क्रमेणोग्रं तपः कुर्वन् सिंहनिःक्रीडितादिकम् । स्वपराजयसंक्लेशादिति प्रान्ते व्यचिन्तयत् ॥ ६३ ॥
फलं चेदस्ति चर्यायास्तया सोऽन्यत्र जन्मनि । [3]मम स्तां विद्विषो जेतुं महाबलपराक्रमौ[4] ॥ ६४ ॥
तथैव संन्यस्यामूच्च माहेन्द्रे सप्तसागर- । स्थितिर्देवश्चिरं भोगान् भुञ्जानः सुखमास्थितः ॥ ६५ ॥
द्वीपेऽस्मिन् मन्दरप्राचि [5]वीतशोकापुरीपतिः । नरादिवृषभो राजाऽजनि जातमहोदयः ॥ ६६ ॥
भुक्त्वा कोपद्वयापेतं राज्यमूर्जितसौख्यभाक् । सद्यः सञ्जातनिर्वेदोऽत्यजद्दमवरान्तिके ॥ ६७ ॥
स घोरतपसा दीर्घं गमयित्वाऽऽयुरात्मनः । सहस्रारं जगामाष्टदशसागरसंस्थितिः[6] ॥ ६८ ॥
फलं [7]स्वानिमिषत्वस्य प्राप्यानारतलोकनात् । प्राणप्रियाणां पर्यन्ते शान्तवेगा विजहुषः ॥ ६९ ॥
अस्मिन् खगपुराधीशसिंहसेनमहीपतेः । इक्ष्वाकोर्विजयायाश्च तनूजोऽभूत्सुदर्शनः ॥ ७० ॥

अथानन्तर इन्हीं धर्मनाथ भगवान्के तीर्थमें श्रीमान् सुदर्शन नामका बलभद्र तथा सभामें सबसे बलवान् पुरुषसिंह नामका नारायण हुआ ॥ ५६ ॥ अतः यहाँ उनका तीन भवका चरित कहता हूँ । इसी राजगृह नगरमें राजा सुमित्र राज्य करता था, वह बड़ा अभिमानी था, बड़ा मल्ल था, उसने बहुत मल्लोंको जीत लिया था इसलिए परीक्षक लोग उनकी पूजा किया करते थे—उसे पूज्य मानते थे, वह सदा दूसरोंको तृणके समान तुच्छ मानता था, और दुष्ट हाथीके समान मदोन्मत्त था ॥ ५७–५८ ॥ किसी समय मदसे उद्धत तथा मल्लयुद्धको जानने वाला राजसिंह नामका राजा उसका गर्व शान्त करनेके लिए राजगृह नगरीमें आया ॥ ५९ ॥ उसने बहुत देर तक युद्ध करनेके बाद रङ्गभूमिमें स्थित राजा सुमित्र को हरा दिया जिससे वह दाँत उखाड़े हुए हाथीके समान बहुत दुःखी हुआ ॥ ६० ॥ मान भङ्ग होनेसे उसका हृदय एकदम टूट गया, वह राज्यका भार धारण करनेमें समर्थ नहीं रहा अतः उसने राज्य पर पुत्रको नियुक्त कर दिया सो ठीक ही है ; क्योंकि मान ही मानियोंके प्राण हैं ॥ ६१ ॥ निर्वेद भरा हुआ राजा सुमित्र कृष्णाचार्यके पास पहुँचा और उनके द्वारा कहे हुए धर्मोपदेशको सुनकर दीक्षित हो गया सो ठीक ही है क्योंकि मनस्वी मनुष्योंको यही योग्य है ॥ ६२ ॥ यद्यपि उसने क्रम-क्रमसे सिंहनिष्क्रीडित आदि कठिन तप किये तो भी उसके हृदयमें अपने पराजयका संक्लेश बना रहा अतः अन्तमें उसने ऐसा विचार किया कि यदि मेरी इस तपश्चर्याका फल अन्य जन्ममें प्राप्त हो तो मुझे ऐसा महान् बल और पराक्रम प्राप्त होवे जिससे मैं शत्रुओंको जीत सकूँ ॥ ६३–६४ ॥ ऐसा निदान कर वह संन्याससे मरा और माहेन्द्र स्वर्गमें सात सागरकी स्थिति वाला देव हुआ । वह वहाँ भोगोंको भोगता हुआ चिरकाल तक सुखसे स्थित रहा ॥ ६५ ॥ तदनन्तर इसी जम्बूद्वीपमें मेरुपर्वतके पूर्वकी ओर वीतशोकापुरी नामकी नगरी है उसमें ऐश्वर्यशाली नरवृषभ नामका राजा राज्य करता था । उसने बाह्याभ्यन्तर प्रकृतिके कोपसे रहित राज्य भोगा, बहुत भारी सुख भोगे और अन्तमें विरक्त होकर समस्त राज्य त्याग दिया और दमवर मुनिराजके पास दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली ॥ ६६–६७ ॥ अपनी विशाल आयु कठिन तपसे बिताकर वह सहस्रार स्वर्गमें अठारह सागरकी स्थितिवाला देव हुआ ॥ ६८ ॥ प्राणप्रिय देवाङ्गनाओंको निरन्तर देखनेसे उसने अपने टिपकार रहित नेत्रोंका फल प्राप्त किया

---

१ महाबलो ग० । २ यथोचितम् ख० । ३ समस्तान् ख० । ४ पराक्रमे ख० । ५ हतशोकपुरीपतिः ग० । ६ संस्थितः क०, घ० । ७ फलं स्वनिमिषत्वस्य ख० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अम्बिकायां सुतोऽस्यैव सुमित्रः केशवोऽभवत् । पञ्चाब्धिधनुरुत्सेधौ दशलक्षासमायुषौ ॥ ७१ ॥
परस्परानुकूल्येन मतिरूपबलान्वितौ । परानाक्रम्य सर्वान् स्वान् रञ्जयामासतुर्गुणैः ॥ ७२ ॥
अविभक्तापि दोषाय भुज्यमाना तयोरभूत् । न लक्ष्मीः शुद्धचित्तानां शुद्धयै निखिलमप्यलम् ॥ ७३ ॥
अथाभूज्जारते क्षेत्रे [1]विषये कुरुजाङ्गले । हास्तिनाख्यपुराधीशो मधुक्रीडो महीपतिः ॥ ७४ ॥
राजसिंहचरो लब्धिताखिलारातिसंहतिः । असहँस्तौ [2]समुद्यन्तौ तेजसा बलकेशवौ ॥ ७५ ॥
करं परार्घ्यरत्नानि याचित्वा प्राहिणोद्बली । दण्डगर्भाभिधानाभिशालिनं सचिवाग्रिमम् ॥ ७६ ॥
तद्वचःश्रवणात्तौ च गजकण्ठरवश्रुतेः । कण्ठीरवौ वा संक्रुद्धौ रुद्ध्वाऽहर्पतितेजसौ ॥ ७७ ॥
क्रीडितुं याचते मूढो गर्भंग्याले जडः करम् । समीपवर्ती चेदस्य समवर्ते तु दीयते ॥ ७८ ॥
इत्युक्तवन्तौ तत्कोपकठोरोक्त्या स सत्वरम् । गत्वा तत्कार्यपर्यायमधुक्रीडमजिज्ञपत् ॥ ७९ ॥
सोऽपि तद्दुर्वचः श्रुत्वा कोपारुणितविग्रहः । विग्रहाय सहैताभ्यां प्रतस्थे बहुसाधनः ॥ ८० ॥
अभिगम्य तमाक्रम्य युद्ध्वा युद्धविशारदः । अच्छिनत्तस्य चक्रेण शिरः सद्यः स केशवः ॥ ८१ ॥
तौ त्रिखण्डाधिपत्येन लक्ष्मीमनुबभूवतुः । अवधिस्थानमापन्नः केशवो जीवितावधौ ॥ ८२ ॥
हलायुधोऽपि तच्छोकाद्धर्मतीर्थंकरं श्रितः । प्रव्रज्य प्रोद्धुताघौघः प्राप्नोति स्म परं पदम् ॥ ८३ ॥

मालिनी

प्रतिहतपरसैन्यौ मानशोण्डौ प्रचण्डौ
फलितसुकृतसारौ तावखण्डत्रिखण्डौ ।

और आयुके अन्तमें शान्तचित्त होकर इसी जम्बूद्वीपके खगपुर नगरके इक्ष्वाकुवंशी राजा सिंहसेनकी विजया रानीसे सुदर्शन नामका पुत्र हुआ ॥ ६६–७० ॥ इसी राजाकी अम्बिका नामकी दूसरी रानीके सुमित्रका जीव नारायण हुआ । वे दोनों भाई पैंतालीस धनुष ऊँचे थे और दश लाख वर्षकी आयुके धारक थे ॥ ७१ ॥ एक दूसरेके अनुकूल बुद्धि, रूप और बलसे सहित उन दोनों भाइयोंने समस्त शत्रुओं पर आक्रमण कर आत्मीय लोगोंको अपने गुणोंसे अनुरक्त बनाया था ॥ ७२ ॥ यद्यपि उन दोनोंकी लक्ष्मी अविभक्त थी—परस्पर बाँटी नहीं गई थी तो भी उनके लिए कोई दोष उत्पन्न नहीं करती थी सो ठीक ही है क्योंकि जिनका चित्त शुद्ध है उनके लिए सभी वस्तुएँ शुद्धताके लिए ही होती हैं ॥ ७३ ॥

अथानन्तर इसी भरतक्षेत्रके कुरुजांगल देशमें एक हस्तिनापुर नामका नगर है उसमें मधुक्रीड़ नामका राजा राज्य करता था । वह सुमित्रको जीतनेवाले राजसिंहका जीव था। उसने समस्त शत्रुओं के समूहको जीत लिया था, वह तेजसे बढ़ते हुए बलभद्र और नारायणको नहीं सह सका इसलिए उस बलवान्ने कर-स्वरूप अनेकों श्रेष्ठ रत्न माँगनेके लिए दण्डगर्भ नामका प्रधानमंत्री भेजा ॥ ७४–७६ ॥ जिस प्रकार हाथीके कण्ठका शब्द सुनकर सिंह क्रुद्ध हो जाते हैं उसी प्रकार सूर्यके समान तेजके धारक दोनों भाई प्रधानमंत्रीके शब्द सुनकर क्रुद्ध हो उठे ॥ ७७ ॥ और कहने लगे कि वह मूर्ख खेलनेके लिए साँपों भरा हुआ कर माँगता है सो यदि वह पास आया तो उसके लिए वह कर अवश्य दिया जावेगा ॥ ७८ ॥ इस प्रकार क्रोधसे वे दोनों भाई कठोर शब्द कहने लगे और उस मंत्रीने शीघ्र ही जाकर राजा मधुक्रीड़को इसकी खबर दी ॥ ७९ ॥ राजा मधुक्रीड़ भी उनके दुर्वचन सुनकर क्रोधसे लाल शरीर हो गया और उनके साथ युद्ध करनेके लिए बहुत बड़ी सेना लेकर चला ॥ ८० ॥ युद्ध करनेमें चतुर नारायण भी उसके सामने आया, उसपर आक्रमण किया, चिरकाल तक उसके साथ युद्ध किया और अन्तमें उसीके चलाये हुए चक्रसे शीघ्र ही उसका शिर काट डाला ॥ ८१ ॥ दोनों भाई तीन खण्डके अधीश्वर बनकर राज्यलक्ष्मीका उपभोग करते रहे। उनमें नारायण, आयुका अन्त होने पर सातवें नरक गया ॥ ८२ ॥ उसके शोकसे बलभद्रने धर्मनाथ तीर्थंकरकी शरणमें जाकर दीक्षा ले ली और पापोंके समूहको नष्ट कर परम पद प्राप्त किया

---

१ विजये ल० । २ समुद्योतौ ख० ।

किल खलविधिनैवं पश्य विश्लेषितौ धिग्
दुरितपरवशत्वं केशवस्यैव मोहात् ॥ ८४ ॥

वसन्ततिलका

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्राग्भूभुजः (?) प्रथितराजगृहे सुमित्रा
माहेन्द्रकल्पजसुरश्च्युतवाँस्ततोऽस्मिन् ।
भूपोऽभवत्खगपुरे पुरुषादिसिंहः
पश्चात्ससप्तममहीं च जगाम भीमाम् ॥ ८५ ॥
प्रोद्दर्पदन्तिदमनोऽजनि राजसिंहो
भ्रान्त्वा चिरं भवबनेषु विनष्टमार्गः ।
दृष्टानुमार्गमजनिष्ट स हास्तिनाख्ये
क्रीडाक्षरान्तमधुराप गतिं दुरन्ताम् ॥ ८६ ॥

पृथ्वी

नरादिवृषभः पुरे विदितवीतशोके महीट्
तपश्चिरमुपास्य घोरमभवत्सहस्रारके ।
ततः खगपुरे बलः क्षयितशत्रुपक्षोऽगमत्
क्षमैकनिलयो विलीनविलयः सुखं क्षायिकम् ॥ ८७ ॥

तत्तीर्थस्यान्तरे चक्री तृतीयो मघवानभूत् । आतृतीयभवाद्यस्य पुराणं प्रणिगद्यते ॥ ८८ ॥
वासुपूज्यजिनेशस्य तीर्थेऽभून्नृपतिर्महान् । नाम्ना नरपतिर्भुक्त्वा भोगान् भाग्यसमर्पितान् ॥ ८९ ॥
वैराग्यकाष्ठामारुह्य कृतोत्कृष्टतपा [1]व्यसुः । ग्रैवेयकेऽभवत्पुण्यादहमिन्द्रेषु मध्यमे ॥ ९० ॥
सप्तविंशतिवाद्ध्यायुर्दिव्यभोगान्मनोहरान् । अनुभूय ततश्च्युत्वा धर्मतीर्थंकरान्तरे ॥ ९१ ॥
कोशले विषये रम्ये साकेतनगरीपतेः । इक्ष्वाकोः स सुमित्रस्य भद्रायाश्च सुतोऽभवत् ॥ ९२ ॥
मघवान्नाम पुण्यात्मा भविष्यन् भरताधिपः । पञ्चलक्षसमाजीवी कल्याणपरमायुषा ॥ ९३ ॥

॥ ८३ ॥ देखो, दोनों ही भाई शत्रुसेनाको नष्ट करने वाले थे, अभिमानी थे, शूर वीर थे, पुण्यके फलका उपभोग करनेवाले थे, और तीन खण्डके स्वामी थे फिर भी इस तरह दुष्ट कर्मके द्वारा अलग-अलग कर दिये गये। मोहके उदयसे पापका फल नारायणको ही प्राप्त हुआ इसलिए पापोंकी अधीनताको धिक्कार है ॥ ८४ ॥ पुरुषसिंह नारायण, पहले प्रसिद्ध राजगृह नगरमें सुमित्र नामका राजा था, फिर माहेन्द्र स्वर्गमें देव हुआ, वहाँसे च्युत होकर इस खगपुर नगरमें पुरुषसिंह नामका नारायण हुआ और उसके पश्चात् भयंकर सातवें नरकमें नारकी हुआ ॥ ८५ ॥ मधुक्रीड़ प्रतिनारायण पहले मदोन्मत्त हाथियोंको वश करने वाला राजसिंह नामका राजा था, फिर मार्गभ्रष्ट होकर चिरकाल तक संसाररूपी वनमें भ्रमण करता रहा, तदनन्तर धर्ममार्गका अवलम्बन कर हस्तिनापुर नगरमें मधुक्रीड हुआ और उसके पश्चात् दुर्गतिको प्राप्त हुआ ॥ ८६ ॥ सुदर्शन बलभद्र, पहले प्रसिद्ध वीतशोक नगरमें नरवृषभ नामक राजा था, फिर चिरकाल तक घोर तपश्चरण कर सहस्रार स्वर्गमें देव हुआ, फिर वहाँसे चय कर खगपुर नगरमें शत्रुओंका पक्ष नष्ट करनेवाला बलभद्र हुआ और फिर क्षमाका घर होता हुआ मरणरहित होकर क्षायिक सुखको प्राप्त हुआ ॥ ८७ ॥

इन्हीं धर्मनाथ तीर्थंकरके तीर्थमें तीसरे मघवा चक्रवर्ती हुए इसलिए तीसरे भवसे लेकर उनका पुराण कहता हूँ ॥ ८८ ॥ श्रीवासुपूज्य तीर्थंकरके तीर्थमें नरपति नामका एक बड़ा राजा था वह भाग्योदयसे प्राप्त हुए भोगोंको भोग कर विरक्त हुआ और उत्कृष्ट तपश्चरण कर मरा। अन्तमें पुण्योदयसे मध्यम ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुआ ॥८९-९०॥ सत्ताईस सागर तक मनोहर दिव्य भोगोंको भोगकर वह वहाँसे च्युत हुआ और धर्मनाथ तीर्थंकरके अन्तरालमें कोशल नामक मनोहर

---

१ विगता असवः प्राणा यस्य सः ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सार्द्धद्विचत्वारिंशच्चापोच्छ्रितिः कनकद्युतिः । षट्खण्डमण्डितां पृथ्वीं प्रतिपाल्य प्रतापवान् ॥ ९४ ॥
चतुर्दशमहारत्नभूषणो विधिनायकः । नृखेचरसुराधीशान्नमयन् क्रमयोर्युगम् ॥ ९५ ॥
स्वोक्तप्रमाणदेवीभिरनुभूय यथेप्सितम् । दशाङ्गभोगान् भूयिष्ठान् सुनिष्ठितमनोरथः ॥ ९६ ॥
सुधीर्मनोहरोद्याने स कदाचिद्यदृच्छया । विलोक्याभयघोषाख्यं केवलावगमद्युतिम् ॥ ९७ ॥
त्रिःपरीत्याभिवन्द्यैनं श्रुत्वा धर्मं तदन्तिके । विदित्वा तत्त्वसद्भावं विरज्य विषयेष्वलम् ॥ ९८ ॥
प्रियमित्राय पुत्राय दत्त्वा साम्राज्यसम्पदम् । स बाह्याभ्यन्तरग्रन्थाँस्त्यक्त्वा संयममाददौ ॥ ९९ ॥
शुद्धश्रद्धानचारित्रः श्रुतसम्पत्समन्वितः । द्वितीयशुक्लध्यानेन घातित्रयविघातकृत् ॥ १०० ॥
नवकेवललब्धीशो धर्मवद्धर्मदेशनात् । विनेयनायकान्नीत्वा निर्वाणपदवीं पराम् ॥ १०१ ॥
ध्यानद्वयसमुन्मूर्छिताघातिकचतुष्कः । पुण्यापुण्यविनिर्मोक्षादक्षयं मोक्षमाक्षिपत् ॥ १०२ ॥

मालिनी

नरपतिरिह नाम्ना वासुपूज्यस्य तीर्थे
सशमगुरुचरित्रेणाहमिन्द्रो महर्द्धिः ।
अभवदखिलपुण्यश्चक्रवर्ती तृतीय-
स्तदनु च मघवाख्यो मुख्यसौख्यं समापत् ॥ १०३ ॥

समनन्तरमेवास्य विनीतानगरेशिनः । नृपस्यानन्तवीर्यस्य सूर्यवंशशिखामणेः ॥ १०४ ॥
सहदेव्याश्च सम्भूतः कल्पादागत्य षोडशात् । सूनुः सनत्कुमाराख्यः प्रियश्चक्राङ्कितश्रियः ॥ १०५ ॥
लक्षत्रयायुःपूर्वोक्तचक्रवर्तिसमुच्छ्रितिः । चामीकरच्छविः स्वेच्छावशीकृतवसुन्धरः ॥ १०६ ॥

देशकी अयोध्यापुरीके स्वामी इक्ष्वाकुवंशी राजा सुमित्रकी भद्रारानीसे मघवान् नामका पुण्यात्मा पुत्र हुआ। यही आगे चलकर भरत क्षेत्रका स्वामी चक्रवर्ती होगा। उसने पाँच लाख वर्षकी कल्याणकारी उत्कृष्ट आयु प्राप्त की थी। साढ़े चालीस धनुष ऊँचा उसका शरीर था, सुवर्णके समान शरीरकी कान्ति थी। वह प्रतापी छह खण्डोंसे सुशोभित पृथिवीका पालनकर चौदह महारत्नोंसे विभूषित एवं नौ निधियोंका नायक था। वह मनुष्य, विद्याधर और इन्द्रोंको अपने चरण-युगलमें झुकाता था। चक्रवर्तियोंकी विभूतिके प्रमाणमें कही हुई—छयानवे हजार देवियोंके साथ इच्छानुसार दश प्रकारके भोगोंको भोगता हुआ वह अपने मनोरथ पूर्ण करता था। किसी एक दिन मनोहर नामक उद्यानमें अकस्मात् अभयघोष नामक केवली पधारे। उस बुद्धिमान्ने उनके दर्शन कर तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, वन्दना की, धर्मका स्वरूप सुना, उनके समीप तत्त्वोंके सद्भावका ज्ञान प्राप्त किया, विषयोंसे अत्यन्त विरक्त होकर प्रियमित्र नामक पुत्रके लिए साम्राज्य पदकी विभूति प्रदान की और बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्यागकर संयम धारण कर लिया ॥ ९१–९९ ॥ वह शुद्ध सम्यग्दर्शन तथा निर्दोष चरित्रका धारक था, शास्त्रज्ञान रूपी सम्पत्तिसे सहित था, उसने द्वितीय शुक्लध्यानके द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंका विघात कर दिया था ॥ १०० ॥ अब वे नौ केवललब्धियोंके स्वामी हो गये तथा धर्मनाथ तीर्थंकरके समान धर्मका उपदेश देकर अनेक भव्य जीवोंको अतिशय श्रेष्ठ मोक्ष पदवी प्राप्त कराने लगे ॥ १०१ ॥ अन्तमें शुक्लध्यानके तृतीय और चतुर्थ भेदके द्वारा उन्होंने अघाति चतुष्कका क्षय कर दिया और पुण्य-पाप कर्मोंसे विनिर्मुक्त होकर अविनाशी मोक्ष प्राप्त किया ॥ १०२ ॥ तीसरा चक्रवर्ती मघवा पहले वासुपूज्य स्वामीके तीर्थमें नरपति नामका राजा था, फिर उत्तम शान्तिसे युक्त श्रेष्ठ चारित्रके प्रभावसे बड़ी ऋद्धिका धारक अहमिन्द्र हुआ, फिर समस्त पुण्यसे युक्त मघवा नामका तीसरा चक्रवर्ती हुआ और तत्पश्चात् मोक्षके श्रेष्ठ सुखको प्राप्त हुआ ॥ १०३ ॥

अथानन्तर—मघवा चक्रवर्तीके बाद ही अयोध्या नगरीके अधिपति, सूर्य वंशके शिरोमणि राजा अनन्तवीर्यकी सहदेवी रानीके सोलहवें स्वर्गसे आकर सनत्कुमार नामका पुत्र हुआ। वह चक्रवर्तीकी लक्ष्मीका प्रिय वल्लभ था ॥ १०४–१०५ ॥ उसकी आयु तीन लाख वर्षकी थी, और

दशाङ्गभोगसम्भोगयोगसन्तर्पितेन्द्रियः । [1]समर्थितार्थिसङ्कल्पोऽनल्पकल्पमहीरुहः ॥ १०७ ॥
हिमवत्सागराघाटमहीमध्यमहीभुजाम् । आधिपत्यं समातन्वन्नन्वभूदधिकां श्रियम् ॥ १०८ ॥
प्रपात्येवं सुखेनास्य काले सौधर्मसंसदि । सनत्कुमारदेवेन्द्ररूपस्यास्त्यत्र जित्वरः ॥ १०९ ॥
कोऽपीति देवैः सम्पृष्टः सौधर्मेन्द्रोऽब्रवीदिदम् । सनत्कुमारश्चक्रेशो वर्तते सर्वाङ्गसुन्दरः ॥ ११० ॥
स्वप्नेऽपि केनचित्तादृग्दृष्टपूर्वः कदाचन । नास्तीति तद्वचः श्रुत्वा सद्यः सञ्जातकौतुकौ ॥ १११ ॥
द्वौ देवौ भुवमागत्य तद्रूपालोकनेच्छया । दृष्ट्वा तं शक्रसम्प्रोक्तं सत्यमित्यात्तसम्मदौ ॥ ११२ ॥
सनत्कुमारचक्रेशं निजागमनकारणम् । बोधयित्वा सुधीश्चक्रिन् शृणु चित्तं समादधन् ॥ ११३ ॥
यदि रोगजरादुःखमृत्यवो न स्युरत्र ते । सौन्दर्येण [2]त्वमत्रैवमतिशेषे जिनानपि ॥ ११४ ॥
इत्युक्त्वा तौ सुरौ सूक्तं [3]स्वधाम सहसा गतौ । काललब्ध्येव तद्वाचा प्रबुद्धो भूभुजां पतिः ॥११५॥
रूपयौवनसौन्दर्यसम्पत्सौख्यादयो नृणाम् । विद्युल्लतावितानाच्च मन्ये प्रागेव नश्वराः ॥ ११६ ॥
इत्वरीः सम्पदस्त्यक्त्वा जित्वरोऽहमिहैनसाम् । सत्वरं तनुमुज्झित्वा गत्वरोऽस्मीत्यकायताम् ॥ ११७ ॥
स्मरन् देवकुमाराख्ये सुते राज्यं नियोज्य सः । शिवगुप्तजिनोपान्ते दीक्षां बहुभिराददे ॥ ११८ ॥
पञ्चभिः सद्व्रतैः पूज्यः पालितेर्यादिपञ्चकः । षडावश्यकवश्यात्मानिरुद्धेन्द्रियसन्ततिः ॥ ११९ ॥
निश्चेलः कृतभूवासो दन्तधावनवर्जितः । उत्थायैकभुगेकाभोजी स्फुरन्मूलगुणैरलम् ॥ १२० ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शरीरकी ऊँचाई पूर्व चक्रवर्तीके शरीरकी ऊँचाईके समान साढ़े व्यालीस धनुष थी। सुवर्णके समान कान्तिवाले उस चक्रवर्तीने समस्त पृथिवीको अपने अधीन कर लिया था॥१०६॥ दश प्रकारके भोगके समागमसे उसकी समस्त इन्द्रियाँ सन्तृप्त हुई थीं। वह याचकोंके संकल्पको पूर्ण करनेवाला मानो बड़ा भारी कल्पवृक्ष ही था॥ १०७॥ हिमवान् पर्वतसे लेकर दक्षिण समुद्र तककी पृथिवीके बीच जितने राजा थे उन सबके ऊपर आधिपत्यको विस्तृत करता हुआ वह बहुत भारी लक्ष्मीका उपभोग करता था॥ १०८॥

इस प्रकार इधर इनका समय सुखसे व्यतीत हो रहा था उधर सौधर्म इन्द्रकी सभामें देवोंने सौधर्मेन्द्रसे पूछा कि क्या कोई इस लोकमें सनत्कुमार इन्द्रके रूपको जीतनेवाला है? सौधर्मेन्द्रने उत्तर दिया कि हाँ, सनत्कुमार चक्रवर्ती सर्वाङ्ग सुन्दर हैं। उसके समान रूपवाला पुरुष कभी किसीने स्वप्नमें भी नहीं देखा है। सौधर्मेन्द्रके वचन सुनकर दो देवोंको कौतूहल उत्पन्न हुआ और वे उसका रूप देखनेकी इच्छासे पृथिवीपर आये। जब उन्होंने सनत्कुमार चक्रवर्तीको देखा तब 'सौधर्मेन्द्रका कहना ठीक है' ऐसा कहकर वे बहुत ही हर्षित हुए॥ १०९–११२॥ उन देवोंने सनत्कुमार चक्रवर्तीको अपने आनेका कारण बतलाकर कहा कि हे बुद्धिमन्! चक्रवर्तिन्! चित्तको सावधानकर सुनिये—यदि इस संसारमें आपके लिए रोग, बुढ़ापा, दुःख तथा मरणकी सम्भावना न हो तो आप अपने सौन्दर्यसे तीर्थङ्करको भी जीत सकते हैं–११३–११४॥ ऐसा कहकर वे दोनों देव शीघ्र ही अपने स्थानपर चले गये। राजा सनत्कुमार उन देवोंके वचनोंसे ऐसा प्रतिबुद्ध हुआ मानो काललब्धिने ही आकर उसे प्रतिबुद्ध कर दिया हो॥ ११५॥ वह चिन्तवन करने लगा कि मनुष्योंके रूप, यौवन, सौन्दर्य, सम्पत्ति और सुख आदि बिजलीरूप लताके विस्तारसे पहले ही नष्ट हो जानेवाले हैं॥ ११६॥ मैं इन नश्वर सम्पत्तियोंको छोड़कर पापोंका जीतनेवाला बनूँगा और शीघ्र ही इस शरीरको छोड़कर अशरीर अवस्थाको प्राप्त होऊँगा॥ ११७॥ ऐसा विचारकर उन्होंने देवकुमार नामक पुत्रके लिए राज्य देकर शिवगुप्त जिनेन्द्रके समीप अनेक राजाओंके साथ दीक्षा ले ली॥ ११८॥ वे अहिंसा आदि पाँच महाव्रतोंसे पूज्य थे, ईर्या आदि पाँच समितियोंका पालन करते थे, छह आवश्यकोंसे उन्होंने अपने आपको वश कर लिया था, इन्द्रियोंकी सन्ततिको रोक लिया था, वस्त्रका त्यागकर रखा था, वे पृथिवीपर शयन करते थे, कभी दातौन नहीं करते थे; खड़े-खड़े एक बार भोजन करते थे। इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुणोंसे अत्यन्त शोभायमान थे॥११९–१२०॥

---

१ सङ्कल्पोऽनल्प ख०। २ धात ल०। ३ त्वमद्यैव क०, ख०, ग०, घ०। ४ सुधाम क०, ख०, घ०।

त्रिकालयोगवीरासनैकपार्श्वादिभाषितैः । उत्तरैश्च गुणैर्नित्यं यथायोग्यं समाचरन् ॥ १२१ ॥
क्षमावान् क्षमाविभागो वा वारि वा श्रिततापनुत् । [1]गिरीश इव निःकम्पो निःसङ्गः परमाणुवत् ॥१२२॥
निर्लेपोऽम्बुदमार्गो[2] वा गम्भीरो वाऽऽपगापतिः । शशीव सर्वसंह्लादी भानुमानिव [3]भास्वरः ॥ १२३ ॥
बाह्याभ्यन्तरसंशुद्धः सुधौतकलधौतवत् । आदर्शवत्समादर्शी सङ्कोची कूर्मसन्निभः ॥ १२४ ॥
[4]अहिर्वा स्वाकृतावासः करीवाशब्दयानकः । शृगालवत्पुरालोकी स शूरो राजसिंहवत् ॥ १२५ ॥
सदा विनिद्रो मृगवत्सोढाशेषपरीषहः । उपसर्गसहो विक्रियाद्युक्तविविधर्द्धिकः ॥ १२६ ॥
क्षपकश्रेणिमारुह्य ध्यानद्वयसुसाधनः । घातिकर्माणि निर्धूय कैवल्यमुदपादयन् ॥ १२७ ॥
पुनर्विहृत्य सद्धर्मदेशनाद्विपथान् बहून् । विनेयान् मुक्तिसन्मार्गं दुर्गं दुर्मार्गवर्तिनाम् ॥ १२८ ॥
पश्चादन्तर्मुहूर्तायुर्योगं रुद्ध्वा त्रिभेदकम् । सर्वकर्मक्षयावाप्यमवापन्मोक्षमक्षयम् ॥ १२९ ॥

वसन्ततिलका

जित्वा जिनेन्द्रवपुषेन्द्रसनत्कुमार-
माक्रम्य विक्रमबलेन दिशां च चक्रम् ।
चक्रेण धर्मविहितेन हताघचक्रो
दिश्यात्स वः श्रियमिहाशु सनत्कुमारः ॥ १३० ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे धर्मतीर्थकर-सुदर्शन-पुरुषसिंहमधु-क्रीडमघवत्सनत्कुमारपुराणं परिसमाप्तम् एकषष्टितमं पर्व ॥ ६१ ॥

—+-+-+-+—

तीन कालमें योगधारण करना, वीरासन आदि आसन लगाना तथा एक करवटसे सोना आदि शास्त्रोंमें कहे हुए उत्तरगुणोंका निरन्तर यथायोग्य आचरण करते थे ॥ १२१ ॥ वे पृथिवीके समान क्षमाके धारक थे, पानीके समान आश्रित मनुष्योंके सन्तापको दूर करते थे, पर्वतके समान अकम्प थे, परमाणुके समान निःसङ्ग थे, आकाशके समान निर्लेप थे, समुद्रके समान गम्भीर थे, चन्द्रमाके समान सबको आह्लादित करते थे, सूर्यके समान देदीप्यमान थे, तपाये हुए सुवर्णके समान भीतर-बाहर शुद्ध थे, दर्पणके समान समदर्शी थे, कछुवेके समान सङ्कोची थे, साँपके समान कहीं अपना स्थिर निवास नहीं बनाते थे, हाथीके समान चुपचाप गमन करते थे, शृगालके समान सामने देखते थे, उत्तम सिंहके समान शूरवीर थे और हरिणके समान सदा विनिद्र-जागरूक रहते थे। उन्होंने सब परिषह जीत लिये थे, सब उपसर्ग सह लिये थे और विक्रिया आदि अनेक ऋद्धियां प्राप्त कर ली थीं ॥ १२२-१२६ ॥ उन्होंने क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होकर दो शुक्लध्यानोंके द्वारा घातिया कर्मोंको नष्टकर केवलज्ञान उत्पन्न किया था ॥ १२७ ॥ तदनन्तर अनेक देशोंमें विहारकर अनेक भव्य जीवोंको समीचीन धर्मका उपदेश दिया और कुमार्गमें चलनेवाले मनुष्योंके लिए दुर्गम मोक्षका समीचीन मार्ग सबको बतलाया ॥ १२८ ॥ जब उनकी आयु अन्तर्मुहूर्तकी रह गई तब तीनों योगोंका निरोध कर उन्होंने समस्त कर्मोंके क्षयसे प्राप्त होनेवाला अविनाशी मोक्षपद प्राप्त किया ॥ १२९ ॥ जिन्होंने अपने जिनेन्द्रके समान शरीरसे सनत्कुमार इन्द्रको जीत लिया, जिन्होंने अपने पराक्रमके बलसे दिशाओंके समूह पर आक्रमण किया और धर्मचक्र द्वारा पापोंका समूह नष्ट किया वे श्रीसनत्कुमार भगवान् तुम सबके लिए शीघ्र ही लक्ष्मी प्रदान करें ॥ १३० ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमें तीर्थंकर, सुदर्शन बलभद्र, पुरुषसिंह नारायण, मधुक्रीड़ प्रतिनारायण, मघवा और सनत्कुमार चक्रवर्ती के पुराणका वर्णन करनेवाला इकसठवाँ पर्व समाप्त हुआ।

—+-+-+-+—

१ गिरीन्द्र क०, घ० । २ आकाश इव । ३ भास्करः ख० । ४ अहिर्वा स्वकृता ख० ।

द्विषष्टितमं पर्व

बुध्वा सपर्यायं सर्वं बोध्याभावाज्जवच्छिदः । यस्याववोधो विश्रान्तः स शान्तिः शान्तयेऽस्तु वः ॥ १ ॥
वक्तृश्रोतृकथाभेदान् वर्णयित्वा पुरा बुधः । पश्चाद्धर्मकथां ब्रूयाद् गम्भीरार्थां यथार्थदृक् ॥ २ ॥
विद्वत्त्वं सच्चरित्रत्वं दयालुत्वं प्रगल्भता । वाक्सौभाग्येङ्गितज्ञत्वे प्रश्नक्षोदसहिष्णुता ॥ ३ ॥
सौमुख्यं लोकविज्ञानं ख्यातिपूजाद्यभीक्षणम् । मिताभिधानमित्यादि गुणा धर्मोपदेष्टरि ॥ ४ ॥
तत्त्वज्ञेऽप्यपचारित्रे वक्तर्येतत्कथं स्वयम् । न चरेदिति तद्योक्तं न गृह्णन्ति पृथग्जनाः ॥५ ॥
सच्चारित्रेऽप्यशास्त्रज्ञे वक्तर्यल्पश्रुतोद्धता- । सहासयुक्तं सन्मार्गे विदधत्यवधीरणाम् ॥ ६ ॥
विद्वत्त्वसच्चरित्रत्वे मुख्यं वक्तरि लक्षणम् । अबाधितस्वरूपं वा जीवस्य ज्ञानदर्शने ॥ ७ ॥
युक्तमेतदयुक्तं चेत्युक्तं सम्यग्विचारयन् । स्थाने कुर्वन्नुपालम्भं भक्त्या सूक्तं समाददन् ॥८॥
असारप्राग्गृहीतार्थविशेषाविहितादरः । अहसन्स्खलितस्थाने गुरुभक्तः क्षमापरः ॥ ९ ॥
संसारभीरुराप्रोक्तवाग्धारणपरायणः । [1]शुकमृद्धंससंप्रोक्तगुणः श्रोता निगद्यते ॥ १० ॥
जीवाजीवादितत्त्वार्थो यत्र सम्यग्निरूप्यते । तनुसंसृतिभोगेषु निर्वेदश्च हितैषिणाम् ॥ ११ ॥
दानपूजातपःशीलविशेषाश्च विशेषतः । बन्धमोक्षौ तयोर्हेतुफलं वाऽसुभृतां पृथक् ॥ १२ ॥
घटामटति युक्त्यैव सदसत्त्वादिकल्पना । ख्याता प्राणिदया यत्र मातेव हितकारिणी ॥ १३ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सविधिसागर जी महाराज

संसारको नष्ट करनेवाले जिन शान्तिनाथ भगवान्का ज्ञान, पर्याय सहित समस्त द्रव्योंको जानकर आगे जानने योग्य द्रव्य न रहनेसे विश्रान्त हो गया वे शान्तिनाथ भगवान् तुम सबकी शान्तिके लिए हों ॥ १ ॥ पदार्थके यथार्थस्वरूपको देखनेवाला विद्वान् पहले वक्ता, श्रोता तथा कथाके भेदोंका वर्णन कर पीछे गम्भीर अर्थसे भरी हुई धर्मकथा कहे ॥ २ ॥ विद्वान् होना, श्रेष्ठ चारित्र धारण करना, दयालु होना, बुद्धिमान् होना, बोलनेमें चतुर होना, दूसरोंके इशारेको समझ लेना, प्रश्नोंके उपद्रवको सहन करना, मुख अच्छा होना, लोक-व्यवहारका ज्ञाता होना, प्रसिद्धि तथा पूजासे युक्त होना और थोड़ा बोलना, इत्यादि धर्मोपदेश देने वालेके गुण हैं ॥ ३-४ ॥ यदि वक्ता तत्त्वोंका जानकार होकर भी चारित्रसे रहित होगा तो यह कहे अनुसार स्वयं आचरण क्यों नहीं करता ऐसा सोचकर साधारण मनुष्य उसकी बातको ग्रहण नहीं करेंगे ॥ ५ ॥ यदि वक्ता सम्यक् चारित्रसे युक्त होकर भी शास्त्रका ज्ञाता नहीं होगा तो वह थोड़ेसे शास्त्र ज्ञानसे उद्धत हुए मनुष्योंके हास्ययुक्त वचनोंसे समीचीन मोक्षमार्गकी हँसी करावेगा ॥ ६ ॥ जिस प्रकार ज्ञान और दर्शन जीवका अबाधित स्वरूप है उसी प्रकार विद्वत्ता और सच्चरित्रता वक्ताका मुख्य लक्षण है ॥ ७ ॥ 'यह योग्य है ? अथवा अयोग्य है ?' इस प्रकार कही हुई बातका अच्छी तरह विचार कर सकता हो, अवसर पर अयोग्य बातके दोष कह सकता हो, उत्तम बातको भक्तिसे ग्रहण करता हो, उपदेश-श्रवणके पहले ग्रहण किये हुए असार उपदेशमें जो विशेष आदर अथवा हठ नहीं करता हो, भूल हो जाने पर जो हँसी नहीं करता हो, गुरुभक्त हो, क्षमावान् हो, संसारसे डरनेवाला हो, कहे हुए वचनोंको धारण करनेमें तत्पर हो, तोता मिट्टी अथवा हंसके गुणोंसे सहित हो वह श्रोता कहलाता है ॥ ८-१० ॥ जिसमें जीव अजीव आदि पदार्थोंका अच्छी तरह निरूपण किया जाता हो, हितेच्छु मनुष्योंको शरीर, संसार और भोगोंसे वैराग्य प्राप्त कराया जाता हो, दान पूजा तप और शीलकी विशेषताएँ विशेषताके साथ बतलाई जाती हों, जीवोंके लिए बन्ध, मोक्ष तथा उनके कारण और फलोंका पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता हो, जिसमें सत् और असत्की कल्पना युक्तिसे की जाती हो, जहाँ माताके समान हित करनेवाली दयाका खूब वर्णन हो और जिसके सुननेसे प्राणी सर्वपरि-

१ पशु क०, ग०, घ० ।

सर्वसङ्गपरित्यागाद्यत्र यान्त्यङ्गिनः शिवम् । तत्त्वधर्मकथा सा स्याद्गाम्ना धर्मकथापरा ॥ १४ ॥
एवं पृथग्विनिर्दिश्य वक्त्रादित्रयलक्षणम् । अतः परं प्रवक्ष्यामि शान्तीशचरितं महत् ॥ १५ ॥
अथास्य द्वीपनाथस्य जम्बूद्वीपमहीपतेः । लवणाम्भोधिनीलाम्भो लसद्विपुलवाससः ॥ १६ ॥
वक्त्रलीलां दधद्राष्ट्रमभीष्टं भरताह्वयम् । षट्खण्डमण्डितं वार्द्धिहिमवन्मध्यसंश्रितम् ॥ १७ ॥
भोगभूभूतभोगादिर्दशाङ्गश्चक्रिणामपि । तत्र तीर्थकृतां [1]वैश्यं सिद्धिश्चाघातिसंक्षयात् ॥ १८ ॥
तस्मात्तच्चाकलोकाच्च वरिष्ठं वर्ण्यते बुधैः । ऐरावतसमं वृद्धिह्रासाभ्यां परिवर्तनात् ॥ १९ ॥
मध्ये तस्य गिरिर्भाति भरतार्द्धविभागकृत् । पूर्वापरायतस्तुङ्गो यशोराशिरिवोज्ज्वलः ॥ २० ॥
स्वर्गलोकजयाज्जाततोषाया वसुधास्त्रियः । पुञ्जीभूतः प्रहासो वा राजते राजताचलः ॥ २१ ॥
सफला सर्वदा वृष्टिर्ममोपरि न जातुचित् । युष्माकमिति शैलेन्द्रान् हसतीव स्वतेजसा ॥ २२ ॥
चलस्वभावे कुटिले जलाढ्ये जलधिप्रिये । [2]गुहास्यादिति नद्यौ योऽवमीदिति जुगुप्सया ॥ २३ ॥
देवविद्याधरैः सेव्यः सदा स्वाश्रयवर्तिभिः । सर्वेन्द्रियसुखस्थानमेष चक्रिणमन्वगात् ॥ २४ ॥
अपाच्यां चक्रवालान्तं पूःश्रेण्यां रथनूपुरम् । [3]सबलाकमिव व्योम कुर्वती तत्र केतुभिः ॥ २५ ॥
वेष्टिता रत्नशालेन या पयोधरचुम्बिना । रत्नवेदिकयेवेयं जम्बूद्वीपवसुन्धरा ॥ २६ ॥
वर्द्धन्ते यत्र धर्मार्थकामाः संहर्षणादिव । यस्यां दरिद्रशब्दस्य बहिरर्थनिह्नुतिः ॥ २७ ॥

ग्रहका त्याग कर मोक्ष प्राप्त करते हों वह तत्त्वधर्म कथा कहलाती है इसका दूसरा नाम धर्मकथा भी है ॥ ११-१४ ॥ इस प्रसार वक्ता, श्रोता और धर्मकथाके पृथक् पृथक् लक्षण कहे । अब इसके आगे शान्तिनाथ भगवान्का विस्तृत चरित्र कहता हूँ ॥ १५ ॥

अथानन्तर—जो समस्त द्वीपोंका स्वामी है और लवणसमुद्रका नीला जल ही जिसके बड़े शोभायमान वस्त्र हैं ऐसे जम्बूद्वीपरूपी महाराजके मुखकी शोभाको धारण करनेवाला, छह खण्डों से सुशोभित, लवणसमुद्र तथा हिमवान् पर्वतके मध्यमें स्थित भरत नामका एक अभीष्ट क्षेत्र है ॥ १६-१७ ॥ वहाँ भोगभूमिमें उत्पन्न होने वाले भोगोंको आदि लेकर चक्रवर्ती दश प्रकारके भोग, तीर्थंकरोंका ऐश्वर्य और अघातिया कर्मोंके भयसे प्रकट होनेवाली सिद्धि-मुक्ति भी प्राप्त होती है इसलिए विद्वान् लोग उसे स्वर्गलोकसे भी श्रेष्ठ कहते हैं । उस क्षेत्रमें ऐरावत क्षेत्रके समान वृद्धि और ह्रासके द्वारा परिवर्तन होता रहता है ॥ १८-१९ ॥ उसके ठीक बीचमें भरतक्षेत्रका आधा विभाग करनेवाला, पूर्वसे पश्चिम तक लम्बा तथा ऊँचा विजयार्ध पर्वत सुशोभित होता है जो कि उज्ज्वल यशके समूहके समान जान पड़ता है ॥ २० ॥ अथवा चाँदीका बना हुआ वह विजयार्ध-पर्वत ऐसा जान पड़ता है कि स्वर्ग लोकको जीतनेसे जिसे संतोष उत्पन्न हुआ है ऐसी पृथिवी रूपी स्त्रीका इकट्ठा हुआ मानो हास्य ही हो ॥ २१ ॥ हमारे ऊपर पड़ी हुई वृष्टि सदा सफल होती है और तुम लोगोंके ऊपर पड़ी हुई वृष्टि कभी सफल नहीं होती इस प्रकार वह पर्वत अपने तेजसे सुमेरु पर्वतोंकी मानो हँसी ही करता रहता है ॥२२॥ ये नदियाँ चञ्चल स्वभाववाली हैं, कुटिल हैं, जलसे (पक्षमें जड़-मूर्खोंसे) आढ्य-सहित हैं, और जलधि-समुद्र (पक्षमें जडधि-मूर्ख) को प्रिय हैं इसलिए घृणासे ही मानो उसने गङ्गा-सिन्धु इन दो नदियोंको अपने गुहारूपी मुखसे वमन कर दिया था ॥ २३ ॥ वह पर्वत चक्रवर्तीका अनुकरण करता था क्योंकि जिस प्रकार चक्रवर्ती अपने आश्रयमें रहनेवाले देव और विद्याधरोंके द्वारा सदा सेवनीय होता है और समस्त इन्द्रिय-सुखोंका स्थान होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी अपने-अपने आश्रयमें रहनेवाले देव और विद्याधरोंसे सदा सेवित था और समस्त इन्द्रिय-सुखोंका स्थान था ॥ २४ ॥ उस विजयार्ध पर्वत-की दक्षिण श्रेणीमें रथनूपुर चक्रवाल नामकी नगरी है जो अपनी पताकाओंसे आकाशको मानो बलाकाओंसे सहित ही करती रहती है ॥ २५ ॥ वह मेघोंको चूमने वाले रत्नमय कोटसे घिरी हुई है इसलिए ऐसी जान पड़ती है मानो रत्नकी वेदिकासे घिरी हुई जम्बूद्वीपकी भूमि ही हो ॥२६॥ वहाँ धर्म, अर्थ और काम ये तीन पुरुषार्थ हर्षसे बढ़ रहे थे और दरिद्र शब्द कहीं बाहरसे भी नहीं

१ वा ऐश्यं ऐश्वर्यम् । २ गुहास्यादिति ख० । ३ स्वर्गलोक ख० ।

प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगैरन्यदुर्गमैः । पदार्थानां परीक्षेव गोपुरैर्यावभासते ॥ २८ ॥
अशीलभूषणा यत्र न सन्ति कुलयोषितः । वाचो जिनेन्द्रविद्यायामिवाचारित्रदेशिकाः ॥ २९ ॥
ज्वलनादिजटी तस्याः पतिः खगपतिः कृती । मणीनामिव वाराशिर्गुणिनामाकरोऽभवत् ॥ ३० ॥
प्रतापाद्विद्विषो यस्य मम्लुर्वार्कस्य पल्लवाः । वृष्ट्याऽवर्द्धन्त वल्लर्यो वा नीत्या सफलाः प्रजाः ॥ ३१ ॥
तेन स्थाने यथाकालं शालयो वा सुयोजिताः । सामादयः सदोपायाः प्राफलन् बहुभोगतः ॥ ३२ ॥
अतीतान् विश्वभूपेशान् सङ्ख्या भेदानिवोत्तरः । गुणस्थानकवृद्धिभ्यां विजित्य स महानभूत् ॥ ३३ ॥
उभयायत्तसिद्धित्वाद् दैवपौरुषयोगतः । [1]कोपोदयव्यपेतत्वात्तत्रावापावमर्शनात् ॥ ३४ ॥
शक्तिसिद्धयनुगामित्वात्तद्योगक्षेमसमागमात् । षड्गुणानुगुणत्वाच्च तद्राज्यमुदितोदितम् ॥ ३५ ॥
तिलकान्तदिवीत्यासीत्पुरं तत्र महीपतिः । चन्द्राभस्तत्प्रिया नाम्ना सुभद्रेति तयोः सुता ॥ ३६ ॥
वायुवेगाजिताशेषवेगिविद्याधराधिपा । स्ववेगविद्यया प्रोद्यद्विद्युद्द्योतजिद्द्युतिः ॥ ३७ ॥
तस्य त्रिवर्गनिष्पत्त्यै सा विश्वगुणभूषणा । भूता पुरुषकारस्य सदैवस्येव शेमुषी ॥ ३८ ॥
प्रतिपच्चन्द्ररेखेव सा सर्वजनसंस्तुता । द्वितीयेव धरारक्ता भोग्या तेन स्वपौरुषात् ॥ ३९ ॥
लक्ष्मीः परिकरस्तस्या व्यधायि विविधर्द्धिका । तत्प्रेमप्रेरणात्तेन वा लभ्ये न करोति किम् ॥ ४० ॥

दिखाई देता था—सदा छुपा रहता था ॥ २७ ॥ जिस प्रकार अन्य मतावलम्बियोंके लिए दुर्गम—कठिन प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोग इन चार उपायोंके द्वारा पदार्थोंकी परीक्षा सुशोभित होती है उसी प्रकार शत्रुओंके लिए दुर्गम–दुःखसे प्रवेश करनेके योग्य चार गोपुरोंसे वह नगरी सुशोभित हो रही थी ॥ २८ ॥ जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्की विद्यामें अचारित्र—असंयमका उपदेश देनेवाले वचन नहीं हैं उसी प्रकार उस नगरीमें शीलरूपी आभूषणसे रहित कुलवती स्त्रियाँ नहीं थीं ॥ २९ ॥ ज्वलनजटी विद्याधर उस नगरीका राजा था, जो अत्यन्त कुशल था और जिस प्रकार मणियोंका आकर–खान समुद्र है उसी प्रकार वह गुणी मनुष्योंका आकर था ॥ ३० ॥ जिस प्रकार सूर्यके प्रतापसे नये पत्ते मुरझा जाते हैं उसी प्रकार उसके प्रतापसे शत्रु मुरझा जाते थे—कान्ति हीन हो जाते थे और जिस प्रकार वर्षासे लताएँ बढ़ने लगती हैं उसी प्रकार उसकी नीतिसे प्रजा सफल होकर बढ़ रही थी ॥ ३१ ॥ जिस प्रकार यथा समय यथा स्थान बोये हुए धान उत्तम फल देते हैं उसी प्रकार उसके द्वारा यथा समय यथा स्थान प्रयोग किये हुए साम आदि उपाय बहुत फल देते थे ॥ ३२ ॥ जिस प्रकार आगेकी संख्या पिछली संख्याओंसे बड़ी होती है उसी प्रकार वह राजा पिछले समस्त राजाओंको अपने गुणों और स्थानोंसे जीतकर बड़ा हुआ था ॥ ३३ ॥ उसकी समस्त सिद्धियाँ देव और पुरुषार्थ दोनोंके आधीन थीं, वह मंत्री आदि मूल प्रकृति तथा प्रजा आदि बाह्य प्रकृतिके क्रोधसे रहित होकर स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्रका विचार करता था, उत्साह शक्ति, मन्त्र शक्ति और प्रभुत्व शक्ति इन तीन शक्तियों तथा इनसे निष्पन्न होने वाली तीन सिद्धियोंकी अनुकूलतासे उसे सदा योग और क्षेमका समागम होता रहता था, साथ ही वह सन्धि विग्रह यान आदि छह गुणोंकी अनुकूलता रखता था इसलिए उसका राज्य निरन्तर बढ़ता ही रहता था ॥ ३४–३५ ॥

उसी विजयार्ध पर द्युतिलक नामका दूसरा नगर था। राजा चन्द्राभ उसमें राज्य करता था, उसकी रानीका नाम सुभद्रा था। उन दोनोंके वायुवेगा नामकी पुत्री थी। उसने अपनी वेग विद्याके द्वारा समस्त वेगशाली विद्याधर राजाओंको जीत लिया था। उसकी कान्ति चमकती हुई बिजलीके प्रकाशको जीतने वाली थी ॥ ३६–३७ ॥ जिस प्रकार भाग्यशाली पुरुषार्थी मनुष्यकी बुद्धि उसकी त्रिवर्ग सिद्धिका कारण होती है उसी प्रकार समस्त गुणोंसे विभूषित वह वायुवेगा राजा ज्वलनजटीकी त्रिवर्गसिद्धिका कारण हुई थी ॥ ३८ ॥ प्रतिपदाके चन्द्रमाकी रेखाके समान वह सब मनुष्योंके द्वारा स्तुत्य थी। तथा अनुरागसे भरी हुई द्वितीय भूमिके समान वह अपने ही पुरुषार्थसे राजा ज्वलनके भोगने योग्य हुई थी ॥ ३९ ॥ वायुवेगाके प्रेमकी प्रेरणासे ज्वलन-

---

१ कोपोदयव्यपेतत्वात्तत्रा–ख० ।

कौलीन्यादनुरक्तत्वादभूत्सैकपतिः सती । भूपतेश्चैकभार्यत्वं प्रेमाधिक्याज्जगुर्जनाः ॥ ४१ ॥
रूपादिगुणसम्पत्तिस्तस्याः किं कथ्यते पृथक् । तस्य चेच्छक्रवच्छच्यां तस्यां प्रीतिरमानुषी ॥ ४२ ॥
दयाबबोधयोर्मोक्ष इव सूनुस्तयोरभूत् । अर्ककीर्तिः स्वकीर्त्याभाप्रभासितजगत्त्रयः[1] ॥ ४३ ॥
नीतिविक्रमयोर्लक्ष्मीरिव सर्वमनोहरा । स्वयम्प्रभाभिधानाऽऽसीत्प्रभेव विधुना सह ॥ ४४ ॥
मुखेनाम्भोजमक्षिभ्यामुत्पलं मणिदर्पणम् । त्विषा कान्त्या विधुं जित्वा बभौ सा भ्रूपताकया ॥ ४५ ॥
उत्पन्नं यौवनं तस्यां लतिकायां प्रसूनवत् । खगकामिषु पुष्पेषुज्वरश्चोत्थापितस्तया ॥ ४६ ॥
आपाण्डुगण्डभाभासिवक्त्रलोलविलोचना । मध्याङ्गकार्श्यसम्भूतसम्भ्रान्त्येव स्वयम्प्रभा ॥ ४७ ॥
तन्व्या रोमावली तन्वी हरिनीलरुचिर्न्यभात् । आरुरुक्षुरिवोद्धत्या तुङ्गपीनघनस्तनौ ॥ ४८ ॥
अनालीढमनोजापि व्यक्तद्विक्रियेव सा । सम्पन्नयौवनेनैव जनानामगमद्दृशम् ॥ ४९ ॥
अथान्येद्युर्जगन्नन्दनाभिनन्दनचारणौ । स्थितौ मनोहरोद्याने ज्ञात्वा पतिनिवेदकात् ॥ ५० ॥
चतुरङ्गबलोपेतः सपुत्रोऽन्तःपुराहृतः । गत्वाभिवन्द्य सद्धर्मश्रवणानन्तरं परम् ॥ ५१ ॥
सम्यग्दर्शनमादाय दानशीलादि बादरात् । प्रणम्य चारणौ भक्त्या प्रत्येत्य प्राविशत्पुरम् ॥ ५२ ॥
स्वयम्प्रभापि सद्धर्मं तत्रादायैकदा मुदा । पर्वोपवासप्रम्लानतनुरभ्यर्च्य वार्हतः ॥ ५३ ॥

जटीने अनेक ऋद्धियोंसे युक्त राजलक्ष्मीको उसका परिकर–दासी बना दिया था सो ठीक ही है क्योंकि अलभ्य वस्तुके विषयमें मनुष्य क्या नहीं करता है ? ॥ ४० ॥ बड़े कुलमें उत्पन्न होनेसे तथा अनुरागसे युक्त होनेके कारण उस पतिव्रताके एक पतिव्रत था और प्रेमकी अधिकतासे उस राजाके एकपत्नीव्रत था ऐसा लोग कहते हैं ॥ ४१ ॥ जिस प्रकार इन्द्राणीमें इन्द्रकी लोकोत्तर प्रीति होती है उसी प्रकार उसमें ज्वलनजटीकी लोकोत्तर प्रीति थी फिर उसके रूपादि गुणोंका पृथक् पृथक् क्या वर्णन किया जावे ॥ ४२ ॥ जिस प्रकार दया और सम्यग्ज्ञानके मोक्ष होता है उसी प्रकार उन दोनोंके अपनी कीर्तिकी प्रभासे तीनों लोकोंको प्रकाशित करने वाला अर्ककीर्ति नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ४३ ॥ जिस प्रकार नीति और पराक्रमके लक्ष्मी होती है उसी प्रकार उन दोनोंके सबका मन हरनेवाली स्वयंप्रभा नामकी पुत्री भी उत्पन्न हुई जो अर्ककीर्तिके साथ इस प्रकार बढ़ने लगी जिस प्रकार कि चन्द्रमाके साथ उसकी प्रभा बढ़ती है ॥ ४४ ॥ वह मुखसे कमलको, नेत्रोंसे उत्पलको, आभासे मणिमय दर्पणको और कान्तिसे चन्द्रमाको जीतकर ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो भौंहरूप पताका ही फहरा रही हो ॥ ४५ ॥ लतामें फूलके समान ज्योंही उसके शरीरमें यौवन उत्पन्न हुआ त्योंही उसने कामी विद्याधरोंमें कामज्वर उत्पन्न कर दिया ॥ ४६ ॥ कुछ कुछ पीले और सफेद कपोलोंकी कान्तिसे सुशोभित मुखमण्डल पर उसके नेत्र बड़े चञ्चल हो रहे थे जिनसे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कमरको पतली देख उसके टूट जानेके भयसे ही नेत्रोंको चञ्चल कर रही हो ॥ ४७ ॥ उस दुबली पतली स्वयम्प्रभाकी इन्द्रनील मणि के समान कान्तिवाली पतली रोमावली ऐसी जान पड़ती थी मानो उछलकर ऊँचे स्थूल और निविड़ स्तनों पर चढ़ना ही चाहती हो ॥ ४८ ॥ यद्यपि कामदेवने उसका स्पर्श नहीं किया था तथापि प्राप्त हुए यौवनसे ही वह कामदेवके विकारको प्रकट करती हुई-सी मनुष्योंके दृष्टिगोचर हो रही थी ॥ ४९ ॥

अथानन्तर किसी एक दिन जगन्नन्दन और नाभिनन्दन नामके दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज मनोहर नामक उद्यानमें आकर विराजमान हुए। उनके आगमनकी खबर देनेवाले वनपालसे यह समाचार जानकर राजा चतुरङ्ग सेना, पुत्र तथा अन्तःपुरके साथ उनके समीप गया। वहाँ वन्दना कर उसने श्रेष्ठ धर्मका स्वरूप सुना, बड़े आदरसे सम्यग्दर्शन तथा दान शील आदि व्रत ग्रहण किये, तदनन्तर भक्तिपूर्वक उन चारणऋद्धिधारी मुनियोंको प्रणाम कर वह नगरमें वापिस आ गया ॥ ५०–५२ ॥ स्वयंप्रभाने भी वहाँ समीचीन धर्म ग्रहण किया। एक दिन उसने पर्वके समय

---

१ दिगन्तरः ख० ।

तत्पादपङ्कजश्लेषपवित्रां पापहां स्रजम् । चित्रां पित्रेऽदित द्वाभ्यां हस्ताभ्यां विनयानता ॥ ५४ ॥
तामादाय महीनाथो भक्त्यापश्यत्स्वयम्प्रभाम् । उपवासपरिश्रान्तां पारयेति विसर्ज्य ताम् ॥ ५५ ॥
यौवनापूर्णसर्वाङ्गरमणीया प्रियात्मजा । कस्मै देयेयमित्येवमात्मन्येव वितर्कयन् ॥ ५६ ॥
[1]मन्त्रिवर्गं समाहूय प्रस्तुतार्थं न्यवेदयत् । श्रुत्वा तत्सुश्रुतः प्राह परीक्ष्यात्मनि निश्चितम् ॥ ५७ ॥
अमुस्मिन्नुत्तरश्रेण्यामलकाख्यापुरेशितुः । मयूरग्रीवसंज्ञस्य प्रिया नीलाञ्जना तयोः ॥ ५८ ॥
अश्वग्रीवोऽग्रिमो नीलरथः कण्ठान्तनीलसु । वज्राख्याताश्चयः सर्वेऽप्यभूवन् पञ्च सूनवः ॥ ५९ ॥
अश्वग्रीवस्य कनकचित्रा देवी सुतास्तयोः । ते ग्रीवाङ्गदचूडान्तरत्ना रत्नरथादिभिः ॥ ६० ॥
शतानि पञ्च मन्त्र्यस्य हरिश्मश्रुः श्रुताम्बुधिः । शतबिन्दुश्च नैमित्तिकोऽष्टाङ्गनिपुणो महान् ॥ ६१ ॥
इति सम्पूर्णराज्याय खगश्रेणीद्वयेशिने । अश्वग्रीवाय दातव्या कन्येत्येतद्विचारयन् ॥ ६२ ॥
अस्येव सुश्रुताख्यातं सर्वमित्यवनीपतिम् । इदं बहुश्रुतोऽवोचदुत्तरं स्वमनोगतम् ॥ ६३ ॥
स्वाभिजात्यमरोगत्वं वयः शीलं श्रुतं वपुः । लक्ष्मीः पक्षः परीवारो वरे नव गुणाः स्मृताः ॥ ६४ ॥
अश्वग्रीवे त एतेऽपि सन्ति किन्तु वयोऽधिकम् । तस्मात्कोऽपि वरोऽन्योऽस्तु सवयास्तद्गुणान्वितः ॥ ६५ ॥
राजा सिंहरथः ख्यातः पुरे गगनवल्लभे । परः पद्मरथो मेघपुरे चित्रपुराधिराट् ॥ ६६ ॥
अरिञ्जयाख्यखिपुरे खगेशो ललिताङ्गदः । कनकादिरथो विद्याकुशलोऽश्वपुरेश्वरः ॥ ६७ ॥
महारत्नपुरे विश्वखगाधीशो धनञ्जयः । कन्यैष्वेकतमायेयं दातव्येति विनिश्चितम् ॥ ६८ ॥
अवधार्य वचस्तस्य विचार्य श्रुतसागरः । स्मृतिचक्षुरिमां वाचं व्याजहार मनोहराम् ॥ ६९ ॥

उपवास किया जिससे उसका शरीर कुछ म्लान हो गया। उसने अर्हन्त भगवान्‌की पूजा की तथा उनके चरण-कमलोंके संपर्कसे पवित्र पापहारिणी विचित्र माला विनयसे झुककर दोनों हाथोंसे पिताके लिए दी ॥ ५३–५४ ॥ राजाने भक्ति पूर्वक वह माला ले ली और उपवाससे थकी हुई स्वयंप्रभाकी ओर देख, 'जाओ पारण करो' यह कर उसे विदा किया ॥ ५५ ॥ पुत्रीके चले जाने पर राजा मन ही मन विचार करने लगा कि जो यौवनसे परिपूर्ण समस्त अङ्गोंसे सुन्दर है ऐसी यह पुत्री किसके लिए देनी चाहिये ॥ ५६ ॥ उसने उसी सयय मन्त्रिवर्गको बुलाकर प्रकृत बात कही, उसे सुनकर सुश्रुत नामका मंत्री परीक्षा कर तथा अपने मनमें निश्चय कर बोला ॥ ५७ ॥ कि इसी विजयार्धकी उत्तर श्रेणीमें अलका नगरीके राजा मयूरग्रीव हैं, उनकी स्त्रीका नाम नीलाञ्जना है, उन दोनोंके अश्वग्रीव, नीलरथ, नीलकण्ठ, सुकण्ठ और वज्रकण्ठ नामके पाँच पुत्र हैं। इनमें अश्वग्रीव सबसे बड़ा है ॥ ५८–५९ ॥ अश्वग्रीवकी स्त्रीका नाम कनकचित्रा है उन दोनोंके रत्न-ग्रीव, रत्नाङ्गद, रत्नचूड तथा रत्नरथ आदि पाँच सौ पुत्र हैं। शास्त्रज्ञानका सागर हरिश्मश्रु इसका मंत्री है तथा शतबिन्दु निमित्तज्ञानी है—पुरोहित है जो कि अष्टाङ्ग निमित्तज्ञानमें अतिशय निपुण है ॥ ६०–६१ ॥ इस प्रकार अश्वग्रीव सम्पूर्ण राज्यका अधिपति है और दोनों श्रेणियोंका स्वामी है अतः इसके लिए ही कन्या देनी चाहिये ॥ ६२ ॥ इसके बाद सुश्रुत मंत्रीके द्वारा कही हुई बातका विचार करता हुआ बहुश्रुत मंत्री राजासे अपने हृदयकी बात कहने लगा। वह बोला कि सुश्रुत मंत्रीने जो कुछ कहा है वह यद्यपि ठीक है तो भी निम्नाङ्कित बात विचारणीय है। कुलीनता, आरोग्य, अवस्था, शील, श्रुत, शरीर, लक्ष्मी, पक्ष और परिवार, वर के ये नौ गुण कहे गये हैं। अश्वग्रीवमें यद्यपि ये सभी गुण विद्यमान हैं किन्तु उसकी अवस्था अधिक है, अतः कोई दूसरा वर जिसकी अवस्था कन्याके समान हो और गुण अश्वग्रीवके समान हों, खोजना चाहिये ॥ ६३–६५ ॥ गगनवल्लभपुरका राजा चित्ररथ प्रसिद्ध है, मेघपुरमें श्रेष्ठ राजा पद्मरथ रहता है, चित्रपुरका स्वामी अरिञ्जय है। त्रिपुरनगरमें विद्याधरोंका राजा ललिताङ्गद रहता है, अश्व-पुरका राजा कनकरथ विद्यामें अत्यन्त कुशल है, और महारत्नपुरका राजा धनञ्जय समस्त विद्याधरोंका स्वामी है। इनमेंसे किसी एकके लिए कन्या देनी चाहिये यह निश्चय है ॥ ६६–६८ ॥ बहुश्रुतके

---

१ नृपवर्गं ग० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कुलारोग्यवयोरूपाद्युपेताय यदीष्यते । दातुं कन्या मया किञ्चिदुच्यते श्रूयतां मनाक् ॥ ७० ॥
पुरं सुरेन्द्रकान्तारमुदक्श्रेण्यां तदीश्वरः । मेघवाहननामास्य प्रियाभून्मेघमालिनी ॥ ७१ ॥
तयोर्विद्युत्प्रभः सूनुर्ज्योतिर्मालामला सुता । खगाधीशो ननन्दाभ्यामिवायेन धिया च सः ॥ ७२ ॥
सिद्धकूटमगात्स्तोतुं कदाचिन्मेघवाहनः । तत्र दृष्ट्वाऽवधिज्ञानं वरधर्माख्यचारणम् ॥ ७३ ॥
वन्दित्वा धर्ममाकर्ण्य स्वसूनोः प्राक्तनं भवम् । पप्रच्छ शृणु विद्याभृत्प्रणिधायेति सोऽब्रवीत् ॥ ७४ ॥
द्वीपेऽस्मिन् प्राग्विदेहेऽस्ति विषयो वत्सकावती । पुरी प्रभाकरी राजा नन्दनः सुन्दराकृतिः ॥ ७५ ॥
सूनुर्विजयभद्रोऽस्य जयसेनोदरोदितः । सोऽन्यदा फलितं चूतं वने वीक्ष्य मनोहरे ॥ ७६ ॥
विफलं तत्समुद्भूतवैराग्यः पिहिताश्रवात् । गुरोःसहस्रैर्भूपालैश्चतुर्भिः संयमं ययौ ॥ ७७ ॥
प्रान्ते माहेन्द्रकल्पेऽभूद्विमाने चक्रकाह्वये । सप्ताब्धिजीवितो दिव्यभोगांस्तत्रान्वभूच्चिरम् ॥ ७८ ॥
ततः प्रच्युत्य सूनुस्तेऽजायतायं प्रयाति च । निर्वाणमिति संस्तोतुं मया यातेन तच्छ्रुतम् ॥ ७९ ॥
तस्मै वरगुणैः सर्वैः पूर्णायेयं प्रदीयताम् । ज्योतिर्मालां च गृह्णीम सपुण्यामर्ककीर्तये ॥ ८० ॥
इति तद्वचनं श्रुत्वा सुमतिर्मंतिवरामः । कन्यां सम्प्रार्थयन्तेऽमी खगाधीशाः पृथक् पृथक् ॥ ८१ ॥
तस्मान्नास्मै प्रदातव्या बहुवैरं भवेत्ततः । स्वयंवरविधिः श्रेयानित्युक्त्वा विरराम सः ॥ ८२ ॥
तदेवानुमतं सर्वैस्ततः सम्पूज्य मन्त्रिणः । विसर्ज्य खेचराधीशः सम्भिन्नश्रोतृसंज्ञकम् ॥ ८३ ॥

वचन हृदयमें धारण कर तथा विचार कर स्मृतिरूपी नेत्रको धारण करनेवाला श्रुत नामका तीसरा मन्त्री निम्नाङ्कित मनोहर वचन कहने लगा ॥ ६९ ॥ यदि कुल, आरोग्य, वय और रूप आदिसे सहित वर के लिए कन्या देना चाहते हों तो मैं कुछ कहता हूं उसे थोड़ा सुनिये ॥ ७० ॥

इसी विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें सुरेन्द्रकान्तार नामका नगर है उसके राजाका नाम मेघवाहन है। उसके मेघमालिनी नामकी वल्लभा है। उन दोनोंके विद्युत्प्रभ नामका पुत्र और ज्योतिर्माला नामकी निर्मल पुत्री है। खगेन्द्र मेघवाहन इन दोनों पुत्र-पुत्रियोंसे ऐसा समृद्धिमान-सम्पन्न हो रहा था जैसा कि कोई पुण्य कर्म और सुबुद्धिसे होता है। अर्थात् पुत्र पुण्यके समान था और पुत्री बुद्धिके समान थी ॥७१-७२॥ किसी एक दिन मेघवाहन स्तुति करनेके लिए सिद्धकूट गया था। वहाँ वरधर्म नामके अवधिज्ञानी चारणऋद्धिधारी मुनिकी बन्दना कर उसने पहले तो धर्मका स्वरूप सुना और बादमें अपने पुत्रके पूर्व भव पूछे। मुनिने कहा कि हे विद्याधर! चित्त-लगाकर सुनो, मैं कहता हूँ ॥ ७३-७४ ॥

जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें वत्सकावती नामका देश है उसमें प्रभाकरी नामकी नगरी है वहाँ सुन्दर आकार वाला नन्दन नामका राजा राज्य करता था ॥ ७५ ॥ जयसेना स्त्रीके उदरसे उत्पन्न हुआ विजयभद्र नामका इसका पुत्र था। उस विजयभद्रने किसी दिन मनोहर नामक उद्यान-में फला हुआ आमका वृक्ष देखा फिर कुछ दिन बाद उसी वृक्षको फलरहित देखा। यह देख उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया और पिहितास्रव गुरुसे चार हजार राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया ॥ ७६-७७ ॥ आयुके अन्तमें माहेन्द्र स्वर्गके चक्रक नामक विमानमें सातसागर की आयु-वाला देव हुआ। वहाँ चिरकाल तक दिव्यभोगोंका उपभोग करता रहा ॥ ७८ ॥ वहाँसे च्युत-होकर यह तुम्हारा पुत्र हुआ है और इसी भवसे निर्वाणको प्राप्त होगा। श्रुतसागर मन्त्री कहने लगा कि मैं भी स्तुति करनेके लिए सिद्धकूट जिनालयमें वरधर्म नामक चारण मुनिके पास गया था वहीं यह सब मैंने सुना है ॥ ७९ ॥ इस प्रकार विद्युत्प्रभ वरके योग्य समस्त गुणोंसे सहित है उसे ही यह कन्या दी जावे और उसकी पुण्यशालिनी बहिन ज्योतिर्मालाको हमलोग अर्ककीर्तिके लिए स्वीकृत करें ॥ ८० ॥ इस प्रकार श्रुतसागरके वचन सुनकर विद्वानोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ सुमति नामका मन्त्री बोला कि इस कन्याको पृथक्-पृथक् अनेक विद्याधर राजा चाहते हैं इसलिए विद्युत्प्रभको कन्या नहीं देनी चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे बहुत राजाओंके साथ वैर हो जानेकी सम्भावना है मेरी समझसे तो स्वयंवर करना ठीक होगा। ऐसा कहकर वह चुप हो गया ॥ ८१-८२ ॥ सब लोगोंने यही बात स्वीकृत कर ली, इसलिए विद्याधर राजाने सब मन्त्रियोंको विदा कर दिया और संभिन्नश्रोतृ नामक

मार्गदर्शक ... आचार्य श्री ... विद्यासागर ... महाराज

स्वयम्प्रभायाः कश्चेतःवल्लभो भवतीति तम् । अपृच्छत् स पुराणार्थवेदीत्थं प्रत्युवाच तम् ॥ ८४ ॥
गुरुः प्रथमचक्रेशं प्राक्पुराणनिरूपणे । आदिकेशवसम्बद्धमित्यवोचत्कथान्तरम् ॥ ८५ ॥
द्वीपेऽस्मिन् पुष्कलावत्यां विषये प्राग्विदेहजे । समीपे पुण्डरीकिण्या नगर्यां मधुके वने ॥ ८६ ॥
पुरूरवा वनाधीशो मार्गभ्रष्टस्य दर्शनात् । मुनेः सागरसेनस्य पथः सञ्चितपुण्यकः ॥ ८७ ॥
मद्यमांसनिवृत्तोश्च कृतसौधर्मसम्भवः । ततः प्रच्युत्य तेऽनन्तसेनायाश्च सुतोऽभवत् ॥ ८८ ॥
मरीचिरेष दुर्मार्गदेशनानिरतश्चिरम् । भ्रान्त्वा संसारचक्रेऽस्मिन् सुरम्यविषये पुरम् ॥ ८९ ॥
पोदनाख्यं पतिस्तस्य प्रजापतिमहानृपः । स तनूजो मृगावत्यां त्रिपृष्टोऽस्य भविष्यति ॥ ९० ॥
अग्रजोऽस्यैव भद्राया विजयो भविता सुतः । तावेतौ श्रेयसस्तीर्थे हत्वाऽश्वग्रीवविद्विषम् ॥ ९१ ॥
त्रिखण्डराज्यभागेशौ प्रथमौ बलकेशवौ । त्रिपृष्टः संसृतौ भ्रान्त्वा भावी तीर्थंकरोऽन्तिमः ॥ ९२ ॥
भवतोऽपि नमेः कच्छसुतस्यान्वयसम्भवात् । वंशजे नास्ति सम्बन्धस्तेन बाहुबलीशितुः ॥ ९३ ॥
त्रिपृष्ठाय प्रदातव्या त्रिखण्डश्रीसुखेशिने । अस्तु तस्य मनोहर्त्री कन्या कल्याणभागिनी ॥ ९४ ॥
तेनैव भवतो भावि विश्वविद्याधरेशिता । निश्चित्येतदनुष्ठेयमादितीर्थंकरोदितम् ॥ ९५ ॥
इति तद्वचनं चित्ते विधाय तमसौ मुदा । नैमित्तिकं समापूज्य रथनूपुरभूपतिः ॥ ९६ ॥
सुदूतमिन्दुनामानं सुलेखोपायनान्वितम् । प्रजापतिमहाराजं प्रतिसम्प्राहिणोत्तदा ॥ ९७ ॥
स्वयम्प्रभापतिर्भावी त्रिपृष्ठ इति भूपतिः । नैमित्तिकाद्विदित्वैतज्जयगुप्तात्पुरैव सः ॥ ९८ ॥
खचराधिपदूतं खादवतीर्णं महोत्सवः । प्रतिगृह्य ससन्मानं वने पुष्पकरण्डके ॥ ९९ ॥

निमित्तज्ञानीसे पूछा कि स्वयंप्रभाका हृदयवल्लभ कौन होगा ? पुराणोंके अर्थको जाननेवाले निमित्तज्ञानीने राजाके लिए निम्नप्रकार उत्तर दिया ॥ ८३–८४ ॥ वह कहने लगा कि भगवान् ऋषभदेवने पहले पुराणोंका वर्णन करते समय प्रथम चक्रवर्तीसे, प्रथम नारायणसे सम्बन्ध रखनेवाली एक कथा कही थी । जो इस प्रकार है—

इसी जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें एक पुष्कलावती नामका देश है उसकी पण्डरीकिणी नगरीके समीप ही मधुक नामके वनमें पुरूरवा नामका भीलोंका राजा रहता था । किसी एक दिन मार्ग भूल जानेसे इधर-उधर घूमते हुए सागरसेन मुनिराजके दर्शन कर उसने मार्गमें ही पुण्यका संचय किया तथा मद्य मांस मधुका त्याग कर दिया । इस पुण्यके प्रभावसे वह सौधर्म स्वर्गमें उत्पन्न हुआ और वहांसे च्युत होकर तुम्हारी अनन्तसेना नामकी स्त्रीके मरीचि नामका पुत्र हुआ है । यह मिथ्या मार्गके उपदेश देनेमें तत्पर है इसलिए चिरकाल तक इस संसाररूपी चक्रमें भ्रमण कर सुरम्यदेशके पोदनपुर नगरके स्वामी प्रजापति महाराजकी मृगावती रानीसे त्रिपृष्ठ नामका पुत्र होगा ॥ ८५–९० ॥ उन्हीं प्रजापति महाराजकी दूसरी रानी भद्राके एक विजय नामका पुत्र होगा जो कि त्रिपृष्ठका बड़ा भाई होगा । ये दोनों भाई श्रेयान्सनाथ तीर्थंकरके तीर्थमें अश्वग्रीव नामक शत्रुको मार कर तीन खण्डके स्वामी होंगे और पहले बलभद्र नारायण कहलावेंगे । त्रिपृष्ठ संसारमें भ्रमण कर अन्तिम तीर्थंकर होगा ॥ ९१–९२ ॥ आपका भी जन्म राजा कच्छके पुत्र नमिके वंशमें हुआ है अतः बाहुबली स्वामीके वंशमें उत्पन्न होनेवाले उस त्रिपृष्ठके साथ आपका सम्बन्ध है ही ॥ ९३ ॥ इसलिए तीन खण्डकी लक्ष्मी और सुखके स्वामी त्रिपृष्ठके लिए यह कन्या देनी चाहिये, यह कल्याण करने वाली कन्या उसका मन हरण करनेवाली हो ॥ ९४ ॥ त्रिपृष्ठको कन्या देनेसे आप भी समस्त विद्याधरोंके स्वामी हो जावेंगे इसलिए भगवान् आदिनाथके द्वारा कही हुई इस बातका निश्चय कर आपको यह अवश्य ही करना चाहिये ॥ ९५ ॥ इस प्रकार निमित्तज्ञानीके वचनोंको हृदयमें धारण करण कर रथनूपुर नगरके राजाने बड़े हर्षसे उस निमित्तज्ञानीकी पूजाकी ॥ ९६ ॥ और उसी समय उत्तम लेख और भेंटके साथ इन्दु नामका एक दूत प्रजापति महाराजके पास भेजा ॥ ९७ ॥ 'यह त्रिपृष्ठ स्वयंप्रभाका पति होगा' यह बात प्रजापति महाराजने जयगुप्त नामक निमित्तज्ञानीसे पहले ही जान ली थी इसलिये उसने आकाशसे उतरते हुए विद्याधरराजके दूतका, पुष्पकरण्डक

स दूतो राजगेहं स्वं सम्प्रविश्य सभागृहे । निजासने समासीनः प्राभृतं सचिवार्पितम् ॥ १०० ॥
विलोक्य रागाद् भूपेन स्वानुरागः समर्पितः । प्राभृतेनैव तुष्टाः स्म इति दूतं प्रतोषयन् ॥ १०१ ॥
श्रीत्रिपृष्ठः कुमाराणां वरिष्ठः कन्ययाऽनया । स्वयम्प्रभाख्यया लक्ष्म्येवाद्यालङ्क्रियतामिति ॥ १०२ ॥
श्रुत्वा यथार्थमस्याविर्भूतद्विगुणसम्मदः । वाचिकं च समाकर्ण्य भुजाप्राक्रान्तमस्तकः ॥ १०३ ॥
स्वयमेव खगाधीशः स्वजामातुर्महोदयम् । इमं विधातुमन्यच्च[1] सचिन्तस्तत्र के वयम् ॥ १०४ ॥
इति दूतं तदायातं कार्यसिद्ध्या प्रसाधयन् । प्रपूज्य प्रतिदत्तं च प्रदायाशु व्यसर्जयत् ॥ १०५ ॥
स दूतः सत्वरं गत्वा रथनूपुरगोपुरम् । प्रणम्य प्रणता कल्याणकार्यसिद्धिं व्यजिज्ञपत् ॥ १०६ ॥
तच्छ्रुत्वा खेचराधीशः प्रप्रमोदप्रचोदितः । न कालहरणं कार्यमिति कन्यासमन्वितः ॥ १०७ ॥
महाविभूत्या सम्प्राप्य नगरं पोदनाह्वयम् । उद्बद्धतोरणं दत्तचन्दनच्छदमुत्सुकम् ॥ १०८ ॥
केतुमालाचलद्दोर्भिराह्वयद्वातिसम्भ्रमात् । प्रतिपातः स्वसम्पत्त्या महीशः प्राविशन्मुदा ॥ १०९ ॥
प्रविश्य स्वोचितस्थाने तेनैव विनिवेशितः । प्राप्तप्राघूर्णकाचारप्रसन्नहृदयाननः ॥ ११० ॥
विवाहोचितविन्यासैस्तर्पिताशेषभूतलः । स्वयम्प्रभां प्रभां वान्यां त्रिपृष्ठाय प्रदाय ताम् ॥ १११ ॥
सिंहाहिविद्विट्वाहिन्यौ विद्ये साधयितुं ददौ । ते तत्र सर्वे सम्भूय व्यगाहन्त सुखाम्बुधिम् ॥ ११२ ॥
इतोऽश्वग्रीवचक्रेशो विनाशपिशुनः पुरे । उत्पातस्त्रिविधः प्रोक्तः सद्यः समसुदुद्ययौ ॥ ११३ ॥
अभूतपूर्वं तं दृष्ट्वा सहसा भीतिमान् जनः । पल्योपमाष्टभागावशेषे वा भोगभूभुवः ॥ ११४ ॥

नामके वनमें बड़े उत्सवसे स्वागत-सत्कार किया ॥ ९८-९९ ॥ महाराज उस दूतके साथ अपने राजभवनमें प्रविष्ट होकर जब सभागृहमें राजसिंहासन पर विराजमान हुए तब मन्त्रीने दूतके द्वारा लाई हुई भेंट समर्पित की। राजाने उस भेंटको बड़े प्रेमसे देखकर अपना अनुराग प्रकट किया और दूतको सन्तुष्ट करते हुए कहा कि हम तो इस भेंटसे ही सन्तुष्ट हो गये ॥ १००-१०१ ॥ तदनन्तर दूतने सन्देश सुनाया कि यह श्रीमान् त्रिपृष्ठ समस्त कुमारोंमें श्रेष्ठ है अतः इसे लक्ष्मीके समान स्वयम्प्रभा नामकी इस कन्यासे आज सुशोभित किया जावे। इस यथार्थ सन्देशको सुनकर प्रजापति महाराजका हर्ष दुगुना हो गया। वे मस्तक पर भुजा रखते हुए बोले कि जब विद्याधरोंके राजा स्वयं ही अपने जमाईका यह तथा अन्य महोत्सव करनेके लिए चिन्तित हैं तब हमलोग क्या चीज हैं ? ॥ १०२-१०४ ॥ इस प्रकार उस समय आये हुए दूतको महाराज प्रजापतिने कार्यकी सिद्धिसे प्रसन्न किया, उसका सम्मान किया और बदलेकी भेंट देकर शीघ्र ही विदा कर दिया ॥ १०५ ॥ वह दूत भी शीघ्र ही जाकर रथनूपुरनगरके राजाके पास पहुँचा और प्रणाम कर उसने कल्याणकारी कार्य सिद्ध होनेकी खबर दी ॥ १०६ ॥ यह सुनकर विद्याधरोंका राजा बहुत भारी हर्षसे प्रेरित हुआ और सोचने लगा कि 'इस कार्यमें विलम्ब करना योग्य नहीं है' यह विचार कर वह कन्या सहित बड़े ठाट-बाटसे पोदनपुर पहुँचा। उस समय उस नगरमें जगह-जगह तोरण बांधे गये थे, चन्दनका छिड़काव किया था, सब जगह उत्सुकता ही उत्सुकता दिखाई दे रही थी, और पताकाओंकी पंक्ति रूप चञ्चल भुजाओंसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो बुला ही रहा हो। महाराज प्रजापतिने अपनी सम्पत्तिके अनुसार उसकी अगवानी की। इस प्रकार उसने बड़े हर्षसे नगरमें प्रवेश किया ॥ १०७-॥ १०९ ॥ प्रवेश करनेके बाद महाराज प्रजापतिने उसे स्वयं ही योग्य स्थान पर ठहराया और पाहुनेके योग्य उसका सत्कार किया। इस सत्कारसे उसका हृदय तथा मुख दोनों ही प्रसन्न हो गये ॥ ११० ॥ विवाहके योग्य सामग्रीसे उसने समस्त पृथिवी तलको सन्तुष्ट किया और दूसरी प्रभाके समान अपनी स्वयंप्रभा नामकी पुत्री त्रिपृष्ठके लिए देकर सिद्ध करनेके लिए सिंहवाहिनी और गरुड़वाहिनी नामकी दो विद्याएँ दीं। इस तरह वे सब मिलकर सुखरूपी समुद्रमें गोता लगाने लगे ॥१११-११२॥ इधर अश्वग्रीव प्रतिनारायणके नगरमें विनाशको सूचित करनेवाले तीन प्रकारके उत्पात बहुत शीघ्र साथ ही साथ होने लगे ॥ ११३ ॥ जिस प्रकार तीसरे कालके अन्तमें पल्यका

१—मन्यन्त ख० ।-मन्यच्च क०, ग०, घ० ।

अश्वग्रीवश्च सम्भ्रान्तः समन्त्रं पृष्टवान् पृथक् । शतबिन्दुं निमित्तज्ञं किमेतदिति तत्फलम् ॥ ११५ ॥
येन सिंहो हतः सिन्धुदेशे रूढपराक्रमः । अहारि प्राभृतं येन त्वां प्रति प्रहितं हठात् ॥ ११६ ॥
रथनूपुरनाथेन भवद्योग्यं प्रदायि च । यस्मै स्त्रीरत्नमेतस्मात्संक्षोभस्ते भविष्यति ॥ ११७ ॥
तत्सूचकमिदं सर्वं कुर्येतास्य प्रतिक्रियाम् इति नैमित्तिकेनोक्तं कृत्वा हृदि खगाधिपः ॥ ११८ ॥
अरेर्गदस्य चात्मज्ञः प्रादुर्भावनिषेधनम् । विदधाति तदस्माभिर्विस्मृतं सस्मयैर्वृथा ॥ ११९ ॥
इदानीमप्यसौ दुष्टो युष्माभिरविलम्बितम् । विषाङ्कुरवदुच्छेद्य इत्यवादीत्स्वमन्त्रिणः ॥ १२० ॥
तेऽपि तत्सर्वमन्विष्य स्वगूढप्रहितैश्चरैः । नैमित्तिकोक्तं निश्चित्य तस्य सिंहवधादिकम् ॥ १२१ ॥
त्रिपृष्ठो नाम दर्पिष्ठः प्रजापतिसुतः क्षितौ । विश्वक्षितीशानाक्रम्य विक्रमाद्विजिगीषते ॥ १२२ ॥
परीक्षितव्यः सोऽस्मासु कीदृश इति दक्षिणैः । दूतैरिति खगाधीशमवोचन्मन्त्रिणः पृथक् ॥ १२३ ॥
तदाकर्ण्य तदैवासौ चिन्तागतिमनोगती । दूतौ सम्प्रेषयामास त्रिपृष्ठं प्रति विद्वरौ ॥ १२४ ॥
गत्वा तौ स्वागतिं पूर्वं निवेद्यानुमतौ नृपम् । दृष्ट्वा यथोचितं दत्वा प्राभृतं विनयान्वितौ ॥ १२५ ॥
अश्वग्रीवेण देवेन त्वमत्राज्ञापितोऽस्यहम् । रथावर्त्ताद्रिमेष्यामि तमायातु भवानिति ॥ १२६ ॥
आवां त्वामागतौ नेतुमाज्ञामारोप्य मस्तकम् । आगन्तव्यं त्वयेत्युच्चैरूचतुः सोऽपि कोपवान् ॥ १२७ ॥
अश्वग्रीवाः खरग्रीवाः क्रौञ्चग्रीवास्तथापरे । दृष्टाः क्रमेलकग्रीवा नापूर्वो नः[1] स पश्यताम् ॥ १२८ ॥
इत्याह तौ च किं युक्तमवमन्तुं खगेश्वरम् । विश्वरूपसमभ्यर्च्यं तं भवत्पक्षपातिनम् ॥ १२९ ॥

आठवाँ भाग बाकी रहने पर नई नई बातोंको देखकर भोगभूमिके लोग भयभीत होते हैं उसी प्रकार उन अभूतपूर्व उत्पातोंको देखकर वहांके मनुष्य सहसा भयभीत होने लगे ॥ ११४ ॥ अश्वग्रीव भी घबड़ा गया। उसने सलाह कर एकान्तमें शतबिन्दु नामक निमित्तज्ञानीसे 'यह क्या है ?' इन शब्दों द्वारा उनका फल पूछा ॥ ११५ ॥ शतबिन्दुने कहा कि जिसने सिन्धु देशमें पराक्रमी सिंह मारा है, जिसने तुम्हारे प्रति भेजी हुई भेंट जबर्दस्ती छीन ली और रथनूपुर नगरके राजा ज्वलनजटीने जिसके लिए आपके योग्य स्त्रीरत्न दे दिया है उससे आपको क्षोभ होगा ॥११६–११७॥ ये सब उत्पात उसीके सूचक हैं। तुम इसका प्रतिकार करो। इस प्रकार निमित्तज्ञानीके द्वारा कही बातको हृदयमें रखकर अश्वग्रीव अपने मन्त्रियोंसे कहने लगा कि आत्मज्ञानी मनुष्य शत्रु और रोगको उत्पन्न होते ही नष्ट कर देते हैं परन्तु हमने व्यर्थ ही अहंकारी रहकर यह बात भुला दी ११८–११९ ॥ अब भी यह दुष्ट आप लोगोंके द्वारा विषके अंकुरके समान शीघ्र ही छेदन कर देनेके योग्य है ॥ १२० ॥ उन मन्त्रियोंने भी गुप्त रूपसे भेजे हुए दूतोंके द्वारा उन सबकी खोज लगा ली और निमित्तज्ञानीने जिन सिंहवध आदिकी बातें कही थीं उन सबका पता चला कर निश्चय कर लिया कि इस पृथिवी पर प्रजापतिका पुत्र त्रिपृष्ठ ही बड़ा अहंकारी है। वह अपने पराक्रमसे सब राजाओं पर आक्रमणकर उन्हें जीतना चाहता है ॥ १२१–१२२ ॥ वह हम लोगोंके विषयमें कैसा है ?—अनुकूल प्रतिकूल कैसे विचार रखता है इस प्रकार सरल चित्त—निष्कपट दूत भेजकर उसकी परीक्षा करनी चाहिये' मन्त्रियोंने ऐसा पृथक्-पृथक् राजासे कहा ॥ १२३ ॥ उसी समय उसने उक्त बात सुनकर चिन्तागति और मनोगति नामके दो विद्वान् दूत त्रिपृष्ठके पास भेजे ॥ १२४ ॥ उन दूतोंने जाकर पहले अपने आनेकी राजाके लिए सूचना दी, फिर राजाके दर्शन किये, अनन्तर विनयसे नम्रीभूत होकर यथा योग्य भेंट दी ॥ १२५ ॥ फिर कहने लगे कि राजा अश्वग्रीवने आज तुम्हें आज्ञा दी है कि मैं रथावर्त नामके पर्वत पर जाता हूँ आप भी आइये ॥ १२६ ॥ हम दोनों तुम्हें लेनेके लिए आये हैं। आपको उसकी आज्ञा मस्तक पर रखकर आना चाहिये। ऐसा उन दोनोंने जोरसे कहा। यह सुनकर त्रिपृष्ठ बहुत क्रुद्ध हुआ और कहने लगा कि अश्वग्रीव (घोड़े जैसी गर्दनवाले) खरग्रीव, (गधे जैसी गर्दन वाले) क्रौञ्चग्रीव (क्रौञ्च पक्षी जैसीगर्दन वाले) और क्रमेलक ग्रीव (ऊँट जैसी गर्दनवाले) ये सब मैंने देखे हैं। हमारे लिए वह अपूर्व आदमी नहीं जिससे कि देखा जावे ॥१२७–१२८॥ जब वह त्रिपृष्ठ कह चुका तब दूतोंने फिरसे कहा कि वह अश्वग्रीव सब विद्याधरोंका स्वामी है, सबके

---

१ कुरु एतस्य । २ तः ख० । अस्माकम् ।

इत्याहतुः खगेशोऽस्तु पक्षपाती न वार्यते । नाहमेष्यामि तं द्रष्टुमिति प्रत्यब्रवीदसौ ॥ १३० ॥
दर्पादिदं न वक्तव्यमदृष्ट्वा चक्रवर्तिनम् । देहेऽपि न स्थितिर्भूमौ कः पुनः स्थातुमर्हति ॥ १३१ ॥
इति श्रुत्वा वचो राज्ञा तयोश्चक्रेण वर्तितुम् । शीलोऽसौ किं घटादीनां कारकः कारकाग्रणीः ॥ १३२ ॥
तस्य किं प्रेक्ष्यमित्युक्तौ तौ सकोपावोचताम् । कन्यारत्नमिदं चक्रिभोग्यं किं तेऽद्य जीर्यते ॥ १३३ ॥
रथनूपुरराजाऽसौ ज्वलनादिजटी कथम् । प्रजापतिश्च नामापि सन्धत्ते चक्रिणि द्विषि ॥ १३४ ॥
इति सद्यस्ततो दूतौ निर्एत्य[1] द्रुतगामिनौ । प्राप्याश्वग्रीवमानम्य प्रोचतुस्तद्विजृम्भणम् ॥ १३५ ॥
खगेश्वरोऽपि तच्छ्रन्तुमक्षमो रूक्षवीक्षणः । भेरीमास्फालयामास रणप्रारम्भसूचिनीम् ॥ १३६ ॥
तद्ध्वनिर्व्याप दिक्प्रान्तान् हत्वा दिग्दन्तिनां मदम् । चक्रवर्तिनि संक्रुद्धे महान्तः के न बिभ्यति॥१३७॥
चतुरङ्गबलेनासौ रथावर्तमगात् गिरिम् । पेतुरुल्काश्चचालैला दिक्षु दाहा जजृम्भिरे ॥ १३८ ॥
प्रजापतिसुतौ चैतद्विदित्वा विततौजसौ । प्रतीयतुः प्रतापाग्निभस्मितारीन्धनोच्चयौ ॥ १३९ ॥
उभयोः सेनयोस्तत्र संग्रामः समभून्महान् । समक्षयात्तयोः प्रापदन्तकः समवर्तिताम् ॥ १४० ॥
युद्ध्वा चिरं पदातीनां वृथा किं क्रियते क्षयः । इति त्रिपृष्ठो युद्धार्थमभ्यश्वग्रीवमेयिवान् ॥ ॥ १४१ ॥
हयग्रीवोऽपि जन्मान्तरानुबद्धोरुवैरतः । आच्छादयदतिक्रुद्धः शरवर्षैर्विरोधिनम् ॥ १४२ ॥
द्वन्द्वयुद्धेन तौ जेतुमक्षमावितरेतरम् । मायायुद्धं समारब्धौ महाविद्याबलोद्धतौ ॥ १४३ ॥
युद्ध्वा चिरं हयग्रीवश्चक्रं न्यक्षिपदभ्यरिम् । तदैवादाय तद्ग्रीवामच्छिदत् केशवः क्रुधा ॥ १४४ ॥

द्वारा पूजनीय है और आपका पक्ष करता है इसलिए उसका अपमान करना उचित नहीं है ॥१२९॥ यह सुनकर त्रिपृष्ठने कहा कि वह खग अर्थात् पक्षियोंका ईश है—स्वामी है इसलिए पक्ष अर्थात् पंखोंसे चले इसके लिए मनाई नहीं है परन्तु मैं उसे देखनेके लिए नहीं जाऊंगा ॥ १३० ॥ यह सुनकर दूतोंने फिर कहा कि अहंकारसे ऐसा नहीं कहना चाहिये। चक्रवर्तीके देखे विना शरीरमें भी स्थिति नहीं हो सकती फिर भूमि पर स्थिर रहनेके लिए कौन समर्थ है ? ॥ १३१ ॥ दूतोंके वचन सुनकर त्रिपृष्ठने फिर कहा कि तुम्हारा राजा चक्र फिराना जानता है सो क्या वह घट आदिको बनाने वाला (कुम्भकार) कर्ता कारक है, उसका क्या देखना है ? यह सुनकर दूतोंको क्रोध आ गया। वे कुपित होकर बोले कि यह कन्यारत्न जो कि चक्रवर्तीके भोगने योग्य है क्या अब तुम्हें हजम हो जावेगा ? और चक्रवर्तीके कुपित होने पर रथनूपुरका राजा ज्वलनजटी तथा प्रजापति अपना नाम भी क्या सुरक्षित रख सकेगा। इतना कह वे दूत वहाँसे शीघ्र ही निकल कर अश्वग्रीवके पास पहुँचे और नमस्कार कर त्रिपृष्ठके वैभवका समाचार कहने लगे ॥ १३२-१३५ ॥ अश्वग्रीव यह सब सुननेके लिए असमर्थ हो गया, उसकी आंखें रूखी हो गई और उसी समय उसने युद्ध प्रारम्भकी सूचना देने वाली भेरी बजवा दी ॥ १३६ ॥ उस भेरीका शब्द दिग्गजोंका मद नष्टकर दिशाओंके अन्त तक व्याप्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि चक्रवर्तीके कुपित होने पर ऐसे कौन महापुरुष हैं जो भयभीत नहीं होते हों ॥ १३७ ॥ वह अश्वग्रीव चतुरङ्ग सेनाके साथ रथावर्त पर्वत पर जा पहुँचा, वहाँ उल्काएँ गिरने लगीं, पृथिवी हिलने लगी और दिशाओंमें दाह दीप होने लगे ॥ १३८ ॥ जिनका ओज चारों ओर फैल रहा है और जिन्होंने अपने प्रतापरूपी अग्निके द्वारा शत्रुरूपी इन्धनकी राशि भस्म कर दी है ऐसे प्रजापतिके दोनों पुत्रोंको जब इस बातका पता चला तो इसके संमुख आये ॥ १३९ ॥ वहाँ दोनों सेनाओंमें महान् संग्राम हुआ । दोनों सेनाओंका समान क्षय हो रहा था इसलिए यमराज सचमुच ही समवर्तिता—मध्यस्थताको प्राप्त हुआ था ॥ १४० ॥ चिरकाल तक युद्ध करनेके बाद त्रिपृष्ठने सोचा कि सैनिकोंका व्यर्थ ही क्षय क्यों किया जाता है। ऐसा सोचकर वह युद्धके लिए अश्वग्रीवके सामने आया ॥ १४१ ॥ जन्मान्तरसे बँधे हुए भारी वैरके कारण अश्वग्रीव बहुत क्रुद्ध था अतः उसने बाण-वर्षाके द्वारा शत्रुको आच्छादित कर लिया ॥ १४२ ॥ जब वे दोनों द्वन्द्व युद्धसे एक दूसरेको जीतनेके लिए समर्थ न हो सके तब महा-विद्याओंके बलसे उद्धत हुए दोनों मायायुद्ध करनेके लिए तैयार हो गये ॥ १४३ ॥ अश्वग्रीवने

---

१ निर्गम्य ।

तावर्कविधुसङ्काशौ त्रिपृष्टविजयौ हरी । भरतार्द्धविजित्वेन भातः स्म व्यस्तविद्विषौ ॥१४५॥
नृपेन्द्रैः खेचराधीशैर्व्यन्तरैर्मागधादिभिः । कृताभिषेकः सम्प्राप त्रिपृष्ठः पृष्ठतां क्षितेः ॥ १४६ ॥
आधिपत्यं द्वयोः श्रेण्योर्विततारादिकेशवः । हृष्टः स्वयम्प्रभापित्रे न स्यात्किं श्रीमदाश्रयात् ॥१४७॥
असिः शङ्खो धनुश्चक्रं शक्तिर्दण्डो गदाभवन् । रत्नानि सप्त चक्रेशो रक्षितानि मरुद्गणैः ॥ १४८ ॥
रत्नमाला हलं भास्वद्रामस्य मुशलं गदा । महारत्नानि चत्वारि बभूवुर्भाविनिर्वृतेः ॥ १४९ ॥
देव्यः स्वयंप्रभामुख्याः सहस्राण्यस्य षोडश । बलस्याष्टसहस्राणि कुलरूपगुणान्विताः ॥ १५० ॥
अर्ककीर्तेः कुमारस्य ज्योतिर्मालां खगाधिपः । प्राजापत्यविवाहेन महत्या सम्पदाग्रहीत् ॥ १५१ ॥
तयोरमिततेजाश्च सुतारा चाभवत्सुता । प्रतिपच्चन्द्रयोः शुक्लपक्षरेखेव चैन्दवी ॥ १५२ ॥
विष्णोः स्वयम्प्रभायां च सुतः श्रीविजयोऽजनि । ततो विजयभद्राख्यः सुता ज्योतिःप्रभाह्वया ॥१५३ ॥
प्रजापतिमहाराजः [1]भूरिप्राप्तमहोदयः । कदाचिज्जातसंवेगः सम्प्राप्य पिहिताश्रवम् ॥ १५४ ॥
आदाज्जैनेश्वरं रूपं त्यक्त्वाऽशेषपरिग्रहम् । येन सम्प्राप्यते भावः सुखात्मपरमात्मनः ॥ १५५ ॥
बाह्येतरद्विषड्भेदतपस्यविरतोद्यमः । चिरं तपस्यन् सञ्चित्तमायुरन्ते समादधत् ॥ १५६ ॥
मिथ्यात्वं संयमाभावं प्रमादं सकषायताम् । [2]कैवल्यं स सयोगत्वं त्यक्त्वाऽभूत्परमः क्रमात् ॥ १५७ ॥
खेचरेशोऽपि तच्छ्रुत्वा राज्यं दत्त्वाऽर्ककीर्तये । निर्ग्रन्थरूपमापन्नो जगन्नन्दनसन्निधौ ॥१५८ ॥
अयाचितमनादानमार्जवं त्यागमस्पृहाम् । क्रोधादिहापनं ज्ञानाभ्यासं ध्यानं च सोऽन्वयात्॥१५९॥

चिरकाल तक युद्धकर शत्रुके सन्मुख चक्र फेंका और नारायण त्रिपृष्ठने वही चक्र लेकर क्रोधसे उसकी गर्दन छेद डाली ॥ १४४ ॥ शत्रुओंके नष्ट करने वाले त्रिपृष्ठ और विजय आधे भरत क्षेत्रका आधिपत्य पाकर सूर्य और चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १४५ ॥ भूमिगोचरी राजाओं, विद्याधर राजाओं और मागधादि देवोंके द्वारा जिनका अभिषेक किया गया था ऐसे त्रिपृष्ठ नारायण पृथिवीमें श्रेष्ठताको प्राप्त हुए ॥ १४६ ॥ प्रथम नारायण त्रिपृष्ठने हर्षित होकर स्वयंप्रभाके पिताके लिए दोनों श्रेणियोंका आधिपत्य प्रदान किया सो ठीक ही है क्योंकि श्रीमानोंके आश्रयसे क्या नहीं होता है ? ॥ १४७ ॥ असि, शङ्ख, धनुष, चक्र, शक्ति, दण्ड और गदा ये सात नारायणके रत्न थे। देवोंके समूह इनकी रक्षा करते थे ॥ १४८ ॥ रत्नमाला, देदीप्यमान हल, मुसल और गदा ये चार मोक्ष प्राप्त करने वाले बलभद्रके महारत्न थे ॥ १४९ ॥ नारायणकी स्वयंप्रभाको आदि लेकर सोलह हजार स्त्रियाँ थीं और बलभद्रकी कुलरूप तथा गुणोंसे युक्त आठ हजार रानियाँ थीं ॥ १५० ॥ ज्वलनजटी विद्याधरने कुमार अर्ककीर्तिके लिए ज्योतिर्माला नामकी कन्या बड़ी विभूतिके साथ प्राजापत्य विवाहसे स्वीकृत की ॥ १५१ ॥ अर्ककीर्ति और ज्योतिर्मालाके अमिततेज नामका पुत्र तथा सुतारा नामकी पुत्री हुई। ये दोनों भाई-बहिन ऐसे सुन्दर थे मानो शुक्लपक्षके पडिवाके चन्द्रमाकी रेखाएँ ही हों ॥ १५२ ॥ इधर त्रिपृष्ठ नारायणके स्वयंप्रभा रानीसे पहिले श्रीविजय नामका पुत्र हुआ, फिर विजयभद्र पुत्र हुआ फिर, ज्योतिप्रभा नामकी पुत्री हुई ॥ १५३ ॥ महान् अभ्युदयको प्राप्त हुए प्रजापति महाराजको कदाचित् वैराग्य उत्पन्न हो गया जिससे पिहितास्रव गुरुके पास जाकर उन्होंने समस्त परिग्रहका त्याग कर दिया और श्रीजिनेन्द्र भगवान्का वह रूप धारण कर लिया जिससे सुख स्वरूप परमात्माका स्वभाव प्राप्त होता है ॥ १५४-१५५ ॥ छह बाह्य और छह आभ्यन्तरके भेदसे बारह प्रकारके तपश्चरणमें निरन्तर उद्योग करनेवाले प्रजापति मुनिने चिरकाल तक तपस्या की और आयुके अन्तमें चित्तको स्थिर कर क्रम से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, सकषायता तथा सयोगकेवली अवस्थाका त्याग कर परमोत्कृष्ट अवस्था—मोक्ष पद प्राप्त किया ॥ १५६-१५७ ॥ विद्याधरोंके राजा ज्वलनजटीने भी जब यह समाचार सुना तब उन्होंने अर्ककीर्तिके लिए राज्य देकर जगन्नन्दन मुनिके समीप दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली ॥ १५८ ॥ याचना नहीं करना, बिना दिये कुछ ग्रहण नहीं करना, सरलता रखना, त्याग करना, किसी चीजकी इच्छा नहीं रखना,

---

१ परिप्राप्त क०, ख०, ग०, घ० । २ आ कैवल्यं सयोगत्वं क०, ख० ।

ततो निःशेषमंहांसि निहत्य निरुपोपधिः । निराकारोऽपि साकारो निर्वाणमगमत्परम् ॥ १६० ॥
त्रिपृष्ठो निष्ठुरारातिविजयो विजयानुगः । त्रिखण्डाखण्डगोमिन्याः कामं कामान्समन्वभूत् ॥१६१॥
स कदाचित्स्वजामातुः सुतयाऽमिततेजसः । स्वयंवरविधानेन मालामासज्जयद्गले ॥ १६२ ॥
अनेनैव विधानेन सुतारा चानुरागिणी । स्वयं श्रीविजयस्यासीद्वक्षस्थलनिवासिनी ॥ १६३ ॥
इत्यन्योन्यान्वितापत्यसम्बन्धाः सर्वबान्धवाः । स्वच्छाम्भःपूर्णसम्फुल्लसरसः श्रियमभ्ययुः ॥ १६४ ॥
आयुरन्तेऽवधिस्थानप्राप्तेऽर्द्धभरतेशिनि । विजयो राज्यमादाय सुते श्रीविजये स्वयम् ॥ १६५ ॥
दत्त्वा विजयभद्राय यौवराज्यपदं च सः । चक्रिशोकसमाक्रान्तस्वान्तो हन्तुमघद्विषम् ॥ १६६॥
सहस्रैः सप्तभिः सार्द्धं राजभिः संयमं ययौ । सुवर्णकुम्भमभ्येत्य मुनिमभ्यर्णनिर्वृतिः ॥ १६७ ॥
घातिकर्माणि निर्मूल्य कैवल्यं चोदपादयत् । अभून्निलिम्पसम्पूज्यो व्यपेतागारकेवली ॥ १६८ ॥
तदाकर्ण्यार्ककीर्तिश्च निधायामिततेजसम् । राज्ये विपुलमत्याख्याचारणादगमत्तपः ॥ १६९ ॥
नष्टकर्माष्टकोऽभीष्टामसावापाष्टमीं महीम् । अनाप्यं नाम किं लोके व्यक्तमाशावधीरिणाम् ॥१७०॥
तयोरविकलप्रीत्या याति काले निराकुलम् । सुखेनामिततेजःश्रीविजयाख्ययोः ॥ १७१ ॥
कश्चिच्छ्रीविजयाधीशं साशीर्वादः कदाचन । उपेत्य राजंश्चित्तं त्वं प्रणिधेहि ममोदिते ॥ १७२ ॥
पोदनाधिपतेर्मूर्ध्नि पतितेऽतोऽद्रि सप्तमे । महाशनिस्ततश्चिन्त्यः प्रतीकारोऽस्य सत्वरम् ॥१७३ ॥
इत्यब्रवीत्तदाकर्ण्य युवराजोऽरुणेक्षणः । वद किं पतिता सर्वविदस्ते मस्तके तदा ॥ १७४ ॥
इति नैमित्तिकं दृष्ट्वा प्राक्षीत्सोऽप्याह मूर्ध्नि मे । रत्नवृष्टिः पतेत्साकमभिषेकेण हीत्यदः ॥ १७५ ॥

क्रोधादिका त्याग करना, ज्ञानाभ्यास करना और ध्यान करना—इन सब गुणोंको वे प्राप्त हुए थे ॥ १५६ ॥ वे समस्त पापोंका त्याग कर निर्द्वन्द्व हुए। निराकार होकर भी साकार हुए तथा उत्तम निर्वाण पदको प्राप्त हुए ॥ १६० ॥

इधर विजय बलभद्रका अनुगामी त्रिपृष्ठ कठिन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता हुआ तीन खण्डकी अखण्ड पृथिवीके भोगोंका इच्छानुसार उपभोग करता रहा ॥ १६१ ॥ किसी एक दिन त्रिपृष्ठने स्वयंवरकी विधिसे अपनी कन्या ज्योतिःप्रभाके द्वारा जामाता अमिततेजके गलेमें वरमाला डलवाई ॥ १६२ ॥ अनुरागसे भरी सुतारा भी इसी स्वयंवरकी विधिसे श्रीविजयके वक्षःस्थल पर निवास करनेवाली हुई ॥ १६३ ॥ इस प्रकार परस्परमें जिन्होंने अपने पुत्र-पुत्रियोंके सम्बन्ध किये हैं ऐसे ये समस्त परिवारके लोग स्वच्छन्द जलसे भरे हुए प्रफुल्लित सरोवरकी शोभाको प्राप्त हो रहे थे ॥ १६४ ॥ आयुके अन्तमें अर्धचक्रवर्ती त्रिपृष्ठ तो सातवें नरक गया और विजय बलभद्र श्री-विजय नामक पुत्रके लिए राज्य देकर तथा विजयभद्रको युवराज बनाकर पापरूपी शत्रुको नष्ट करनेके लिए उद्यत हुए। यद्यपि उनका चित्त नारायणके शोकसे व्याप्त था तथापि निकट समयमें मोक्षगामी होनेसे उन्होंने सुवर्णकुम्भ नामक मुनिराजके पास जाकर सात हजार राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया ॥ १६५–१६७ ॥ घातिया कर्म नष्ट कर केवलज्ञान उत्पन्न किया और देवोंके द्वारा पूज्य अनगारकेवली हुए ॥ १६८ ॥ यह सुनकर अर्ककीर्तिने अमित-तेजको राज्यपर बैठाया और स्वयं विपुलमति नामक चारणमुनिसे तप धारण कर लिया ॥ १६९ ॥ कुछ समय बाद उसने अष्ट कर्मोंको नष्ट कर अभिवांछित अष्टम पृथिवी प्राप्त कर ली सो ठीक ही है क्योंकि इस संसारमें जिन्होंने आशाका त्याग कर दिया है उन्हें कौन-सी वस्तु अप्राप्य है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥ १७० ॥ इधर अमिततेज और श्रीविजय दोनोंमें अखण्ड प्रेम था, दोनोंका काल विना किसी आकुलताके सुखसे व्यतीत हो रहा था ॥ १७१ ॥ किसी दिन कोई एक पुरुष श्रीविजय राजाके पास आया और आशीर्वाद देता हुआ बोला कि हे राजन् ! मेरी बात पर चित्त लगाइये ॥ १७२ ॥ आज से सातवें दिन पोदनपुरके राजाके मस्तक पर महावज्र गिरेगा, अतः शीघ्र ही इसके प्रतीकारका विचार कीजिये ॥ १७३ ॥ यह सुनकर युवराज कुपित हुआ, उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो गईं। वह उस निमित्तज्ञानीसे बोला कि यदि तू सर्वज्ञ है तो बता कि उस समय तेरे मस्तक पर क्या पड़ेगा ? ॥ १७४ ॥ निमित्तज्ञानीने भी कहा कि उस समय मेरे मस्तक पर अभि-

सावष्टम्भं वचः श्रुत्वा तस्य राजा सविस्मयः । भद्र त्वयाऽऽस्यतामस्मिन्नासने किञ्चिदुच्यते ॥ १७६ ॥
किंगोत्रः किंगुरुर्ब्रूहि किंशास्त्रः किंनिमित्तकः । किंनाम किंनिमित्तोऽयमादेश इति पृष्टवान् ॥ १७७ ॥
कुण्डलाख्यपुरे राजा नाम्ना सिंहरथो महान् । पुरोहितः सुरगुरुस्तस्य शिष्यो विशारदः ॥ १७८ ॥
तच्छिष्येण निमित्तानि प्रव्रज्य हलिना सह । मयाऽष्टाङ्गान्यधीतानि सोपदेशश्रुतानि च ॥ १७९ ॥
अष्टाङ्गानि निमित्तानि कानि किंलक्षणानि चेत् । शृणु श्रीविजयायुष्मन् यथाप्रश्नं ब्रवीमि ते ॥१८०॥
अन्तरिक्षसभौमाङ्गस्वरव्यञ्जनलक्षणः । छिन्नस्वप्नविभेदेन प्रोक्तान्यागमवेदिभिः ॥ १८१ ॥
तात्स्थ्यात्साहचर्याद्वा ज्योतिषामन्तरिक्षवाक् । चन्द्रादिपञ्चभेदानामुदयास्तमयादिभिः ॥ १८२ ॥
जयः पराजयो हानिर्वृद्धिर्मन्युः सजीवितः । लाभालाभौ निरूप्यन्ते यत्रान्यानि च तत्त्वतः ॥१८३॥
भूमिस्थानादिभेदेन हानिवृद्ध्यादिबोधनम् । भूम्यन्तः स्थितरत्नादिकथनं भौममिष्यते ॥ १८४ ॥
अङ्गप्रत्यङ्गसंस्पर्शदर्शनादिभिरङ्गिनाम् । अङ्गकालत्रयोत्पन्नशुभाशुभनिरूपणम् ॥ १८५ ॥
मृदङ्गादिगजेन्द्रादिचेतनेतरसुस्वरैः । दुःस्वरैश्च स्वरोऽभीष्टानिष्टप्रापणसूचनः ॥ १८६ ॥
शिरोमुखादिसंजाततिललक्ष्मव्रणादिभिः । व्यञ्जनं स्थानमानैश्य लाभालाभादिवेदनम् ॥ १८७ ॥
श्रीवृक्षस्वस्तिकाद्यष्टशताङ्गगतलक्षणैः । भोगैश्वर्यादिसम्प्राप्तिकथनं लक्षणं मतम् ॥ १८८ ॥
देवमानुषरक्षोविभागैर्वस्त्रायुधादिषु । मूषकादिकृतच्छेदैः छिन्नं तत्फलभाषणम् ॥ १८९ ॥
शुभाशुभविभागोक्तस्वप्नसन्दर्शनान्नृणम् । स्वप्नो वृद्धिविनाशादियाथात्म्यकथनं मतः ॥ १९० ॥

धेकके साथ रत्नवृष्टि पड़ेगी ॥ १७५ ॥ उसके अभिमानपूर्ण वचन सुनकर राजाको आश्चर्य हुआ। उसने कहा कि हे भद्र ! तुम इस आसन पर बैठो, मैं कुछ कहता हूँ ॥ १७६ ॥ कहो तो सही, आपका गोत्र क्या है ? गुरु कौन है, क्या-क्या शास्त्र आपने पढ़े हैं, क्या-क्या निमित्त आप जानते हैं, आपका क्या नाम है ? और आपका यह आदेश किस कारण हो रहा है ? यह सब राजाने पूछा ॥ १७७ ॥ निमित्तज्ञानी कहने लगा कि कुण्डलपुर नगरमें सिंहरथ नामका एक बड़ा राजा है। उसके पुरोहितका नाम सुरगुरु है और उसका एक शिष्य बहुत ही विद्वान् है ॥ १७८ ॥ किसी एक दिन बलभद्रके साथ दीक्षा लेकर मैंने उसके शिष्यके साथ अष्टाङ्ग निमित्तज्ञानका अध्ययन किया है और उपदेशके साथ उनका श्रवण भी किया है ॥ १७९ ॥ अष्टाङ्ग निमित्त कौन हैं और उनके लक्षण क्या हैं ? यदि यह आप जानना चाहते हैं तो हे आयुष्मन् विजय ! तुम सुनो, मैं तुम्हारे प्रश्नके अनुसार सब कहता हूँ ॥ १८० ॥ आगमके जानकार आचार्योंने अन्तरिक्ष, भौम, अङ्ग, स्वर, व्यञ्जन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न इनके भेदसे आठ तरहके निमित्त कहे हैं ॥ १८१ ॥ चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे ये पाँच प्रकारके ज्योतिषी आकाशमें रहते हैं अथवा आकाशके साथ सदा उनका साहचर्य रहता है इसलिए इन्हें अन्तरिक्ष-आकाश कहते हैं। इनके उदय अस्त आदिके द्वारा जो जय-पराजय, हानि, वृद्धि, शोक, जीवन, लाभ, अलाभ तथा अन्य बातोंका यथार्थ निरूपण होता है उसे अन्तरिक्षनिमित्त कहते हैं ॥ १८२-१८३ ॥ पृथिवीके जुदे-जुदे स्थान आदिके भेदसे किसीकी हानि वृद्धि आदिका बतलाना तथा पृथिवीके भीतर रखे हुए रत्न आदिका कहना सो भौमनिमित्त है ॥ १८४ ॥ अङ्ग-उपाङ्गके स्पर्श करने अथवा देखनेसे जो प्राणियोंके तीन कालमें उत्पन्न होनेवाले शुभ-अशुभका निरूपण होता है वह अङ्ग-निमित्त कहलाता है ॥ १८५ ॥

मृदङ्ग आदि अचेतन और हाथी आदि चेतन पदार्थोंके सुस्वर तथा दुःस्वरके द्वारा इष्ट-अनिष्ट पदार्थकी प्राप्तिकी सूचना देनेवाला ज्ञान स्वर-निमित्त ज्ञान है ॥ १८६ ॥ शिर मुख आदिमें उत्पन्न हुए तिल आदि चिह्न अथवा घाव आदिसे किसीका लाभ अलाभ आदि बतलाना सो व्यञ्जन-निमित्त है ॥ १८७ ॥ शरीरमें पाये जानेवाले श्रीवृक्ष तथा स्वस्तिक आदि एक सौ आठ लक्षणोंके द्वारा भोग ऐश्वर्य आदिकी प्राप्तिका कथन करना लक्षण-निमित्त ज्ञान है ॥ १८८ ॥ वस्त्र तथा शस्त्र आदिमें मूषक आदि जो छेद कर देते हैं वे देव, मानुष और राक्षसके भेदसे तीन प्रकारके होते हैं उनसे जो फल कहा जाता है उसे छिन्न-निमित्त कहते हैं ॥ १८९ ॥ शुभ-अशुभके भेदसे स्वप्न दो प्रकारके कहे गये हैं उनके देखनेसे मनुष्यों की वृद्धि तथा हानि आदि का यथार्थ कथन करना

इत्युक्त्वा क्षुत्पिपासादिद्वाविंशतिपरीषहैः । पीडितोऽसहमानोऽहं पद्मिनीखेटमाययौ ॥ १९१ ॥
तत्र तन्मातुलः सोमशर्मा चन्द्राननां [1]सुताम् । हिरण्यलोमासम्भूतां प्रीत्या मह्यं प्रदत्तवान् ॥ १९२ ॥
द्रव्यार्जनं परित्यज्य निमित्ताभ्यासतत्परम् । सा मां निरीक्ष्य निर्विण्णा पितृदत्तधनक्षयात् ॥ १९३ ॥
भोजनावसरेऽन्येद्युर्धनमेतत्त्वदर्जितम् । इति पात्रेऽक्षिपद्दोषान्मद्वराटकसञ्चयम् ॥ १९४ ॥
रञ्जितस्फटिके तत्र तप्ताभीषुसन्निधिम् (?) । कान्ताक्षिसकरक्षालनाम्बुधारां च पश्यता ॥ १९५ ॥
मयाऽर्थलाभं निश्चित्य तोषाभिषवपूर्वकम् । अमोघजिह्वनाम्नाऽऽपमादेशस्तेऽधुना कृतः ॥१९६ ॥
इत्यन्वाख्यत् स तच्छ्रुत्वा [2]चुक्षिप्तमनसौ नृपः । चिन्ताकुलो विसर्ज्यैनमुक्तवानिति मन्त्रिणः ॥ १९७ ॥
इदं प्रत्येयमस्योक्तं विचिन्त्येत्प्रतिक्रियाः । अभ्यर्णे मूलनाशे कः कुर्यात् कालविलम्बनम् ॥ १९८ ॥
तच्छ्रुत्वा सुमतिः प्राह त्वामम्भोधिजलान्तरे । लोहमञ्जूषिकान्तस्थं स्थापयामेति रक्षितुम् ॥ १९९ ॥
मकरादिभयं तत्र विजयार्द्धगुहान्तरे । निदधाम इति श्रुत्वा स सुबुद्धिरभाषत ॥ २०० ॥
तद्वचोऽवसितौ प्राज्ञः पुरावित्तकवित्तदा । अथाख्यानकमित्याख्यत्प्रसिद्धं बुद्धिसागरः ॥ २०१ ॥
दुःशास्त्रश्रुतिदर्पिष्ठः सोमः सिंहपुरे वसन् । परिव्राट् स विवादार्थे जिनदासेन निर्जितः ॥ २०२ ॥
मृत्वा [3]तत्रैव कालान्ते सम्भूय महिषो महान् । वणिग्लवणदुर्भारचिरवाहवशीकृतः ॥ २०३ ॥
प्राक् पोषयन्निनिःशक्तिरिति पश्चादुपेक्षितः । जातिस्मरः पुरे बद्धवैरोऽप्यपगतासुकः ॥ २०४ ॥

स्वप्ननिमित्त कहलाता है ॥ १९० ॥ यह कहकर वह निमित्तज्ञानी कहने लगा कि क्षुधा प्यास आदि बाईस परिषहोंसे मैं पीडित हुआ, उन्हें सह नहीं सका इसलिए मुनिपद छोड़कर पद्मिनीखेट नामके नगरमें आ गया ॥ १९१ ॥ वहाँ सोमशर्मा नामके मेरे मामा रहते थे। उनके हिरण्यलोमा नामकी स्त्रीसे उत्पन्न चन्द्रमाके समान मुख वाली एक चन्द्रानना नामकी पुत्री थी। वह उन्होंने मुझे दी ॥ १९२ ॥ मैं धन कमाना छोड़कर निरन्तर निमित्तशास्त्रके अध्ययनमें लगा रहता था अतः धीरे-धीरे चन्द्राननाके पिताके द्वारा दिया हुआ धन समाप्त हो गया। मुझे निर्धन देख वह बहुत विरक्त अथवा खिन्न हुई ॥ १९३ ॥ मैंने कुछ कौड़ियां इकट्ठी कर रक्खी थीं। दूसरे दिन भोजनके समय 'यह तुम्हारा दिया हुआ धन है' ऐसा कह कर उसने क्रोधवश वे सब कौड़ियां हमारे पात्रमें डाल दीं ॥ १९४ ॥ उनमेंसे एक अच्छी कौड़ी स्फटिक-मणिके बने हुए सुन्दर थालमें जा गिरी, उसपर जलाई हुई अग्निके फुलिङ्गे पड़ रहे थे (?) उसी समय मेरी स्त्री मेरे हाथ धुलानेके लिए जलकी धारा छोड़ रही थी उसे देख कर मैंने निश्चय कर लिया कि मुझे संतोष पूर्वक अवश्य ही धनका लाभ होगा। आपके लिए यह आदेश इस समय अमोघजिह्व नामक मुनिराजने किया है। इसप्रकार निमित्तज्ञानीने कहा। उसके युक्तिपूर्ण वचन सुन कर राजा चिन्तासे व्यग्र हो गया। उसने निमित्तज्ञानीको तो विदा किया और मन्त्रियोंसे इस प्रकार कहा—कि इस निमित्तज्ञानीकी बात पर विश्वास करो और इसका शीघ्र ही प्रतिकार करो क्योंकि मूलका नाश उपस्थित होने पर विलम्ब कौन करता है ? ॥ १९५-१९८ ॥ यह सुनकर सुमति मन्त्री बोला कि आपकी रक्षा करनेके लिए आपको लोहेकी सन्दूकके भीतर रखकर समुद्रके जलके भीतर बैठाये देते हैं ॥ १९९ ॥ यह सुनकर सुबुद्धि नामका मंत्री बोला कि नहीं, वहाँ तो मगरमच्छ आदिका भय रहेगा इसलिए विजयार्ध पर्वतकी गुफामें रख देते हैं ॥ २०० ॥ सुबुद्धिकी बात पूरी होते ही बुद्धिमान् तथा प्राचीन वृत्तान्तको जानने वाला बुद्धिसागर नामका मन्त्री यह प्रसिद्ध कथानक कहने लगा ॥ २०१ ॥

इस भरत क्षेत्रके सिंहपुर नगरमें मिथ्याशास्त्रोंके सुननेसे अत्यन्त घमण्डी सोम नामका परिव्राजक रहता था। उसने जिनदासके साथ वादविवाद किया परन्तु वह हार गया ॥ २०२ ॥ आयुके अन्तमें मर कर उसी नगरमें एक बड़ा भारी भैंसा हुआ। उसपर एक वैश्य चिरकाल तक नमकका बहुत भारी बोझ लादता रहा ॥ २०३ ॥ जब वह बोझ ढोनेमें असमर्थ हो गया तब उसके

---

१ शुभाम् ल० । २ कांक्षिप्तं ल० । ३ तथैव ग० । तवैव ल० ।

श्मशाने राक्षसः पापी तस्मिन्नेवोपपद्यत । तत्पुराधीशिनौ कुम्भभीमौ कुम्भस्य पाचकः ॥ २०५ ॥
रसायनादिपाकाख्यस्तद्भोग्यपिशितेऽसति । शिशोर्ध्वंसोस्तदा मांसं स कुम्भस्य न्ययोजयत् ॥ २०६ ॥
तत्स्वादलोलुपः पापी तदाप्रभृति खादितुम् । मनुष्यमांसमारब्ध सम्प्रेप्सुर्नारकीं गतिम् ॥ २०७ ॥
प्रजानां पालको राजा तावत्तिष्ठतु पालने । खाद्त्ययमिति त्यक्तः स त्याज्यः सचिवादिभिः २०८ ॥
तन्मांसजीवितः क्रूरः कदाचिद्विजपाचकम् । हत्वा साधिततद्विद्यः संक्रान्तप्रोक्तराक्षसः ॥ २०९ ॥
प्रजाः स भक्षयामास प्रत्यहं परितो भ्रमन् । ततः सर्वेऽपि सन्त्रस्ताः पौराः सन्त्यज्य तत्पुरम् ॥ २१० ॥
नगरं प्राविशन् कारकटं नाम महाभिया । तत्राप्यागत्य पापिष्ठः कुम्भाख्योऽभक्षयत्तराम् ॥ २११ ॥
[1]ततः प्रभृति तत्प्राहुः कुम्भकारकटं पुरम् । यथादृष्टनृभक्षित्वाद्भीत्वैकशकटौदनम् ॥ २१२ ॥
खादैकमानुषं चेति प्रजास्तस्य स्थितिं व्यधुः । तत्रैव नगरे चण्डकौशिको नाम विप्रकः ॥ २१३ ॥
सोमश्रीस्तत्प्रिया भूतसमुपासनतश्चिरम् । मौण्डकौशिकनामानं तनयं तावापतुः ॥ २१४ ॥
कुम्भाहाराय यातं तं कदाचिन्मुण्डकौशिकम् । शकटस्योपरि क्षिप्तं नीत्वा भूतैः प्रयायिभिः ॥ २१५ ॥
कुम्भेनानुयता दण्डहस्तेनाक्रम्य तर्जितैः । भयाद्विले विनिक्षिप्तं जगाराजगरो द्विजम् ॥ २१६ ॥
विजयार्द्धगुहायां तन्निक्षेपणमयुक्तकम् । पथ्यं तद्वचनं श्रुत्वा सूक्ष्मधीर्मतिसागरः ॥ २१७ ॥
भूपतेरशनेः पातो नोक्तो नैमित्तिकेन तत् । पोदनाधिपतिः कश्चिदन्योऽवस्थाप्यतामिति ॥ २१८ ॥

पालकोंने उसकी उपेक्षा कर दी—खाना-पीना देना भी बन्द कर दिया। कारण वश उसे जाति-स्मरण हो गया और वह नगर भरके साथ वैर करने लगा। अन्तमें मर कर वहींके श्मशानमें पापी राक्षस हुआ। उस नगरके कुम्भ और भीम नामके दो अधिपति थे। कुम्भके रसोइयाका नाम रसायनपाक था, राजा कुम्भ मांसभोजी था, एक दिन मांस नहीं था इसलिए रसोइयाने कुम्भको मरे हुए बच्चेका मांस खिला दिया ॥ २०४–२०६ ॥ वह पापी उसके स्वादसे लुभा गया इसलिए उसी समयसे उसने मनुष्यका मांस खाना शुरू कर दिया, वह वास्तवमें नरक गति प्राप्त करनेका उत्सुक था ॥ २०७ ॥ राजा प्रजाका रक्षक है इसलिए जब तक प्रजाकी रक्षा करनेमें समर्थ है तभी तक राजा रहता है परन्तु यह तो मनुष्योंको खाने लगा है अतः त्याज्य है ऐसा विचार कर मन्त्रियोंने उस राजाको छोड़ दिया ॥ २०८ ॥ उसका रसोइया उसे नर-मांस देकर जीवित रखता था परन्तु किसी समय उस दुष्टने अपने रसोइयाको ही मारकर विद्या सिद्ध कर ली और उस राक्षसको वश कर लिया ॥ २०९ ॥ अब वह राजा प्रतिदिन चारों ओर घूमता हुआ प्रजाको खाने लगा जिससे समस्त नगरवासी भयभीत हो उस नगरको छोड़कर बहुत भारी भयके साथ कारकट नामक नगरमें जा पहुँचे परन्तु अत्यन्त पापी कुम्भ राजा उस नगरमें भी आकर प्रजाको खाने लगा ॥२१०–२११॥ उसी समयसे लोग उस नगरको कुम्भकारकटपुर कहने लगे। मनुष्योंने देखा कि यह नरभक्षी है इसलिए डर कर उन्होंने उसकी व्यवस्था बना दी कि तुम प्रति दिन एक गाड़ी भात और एक मनुष्यको खाया करो। उसी नगरमें एक चण्डकौशिक नामका ब्राह्मण रहता था। सोमश्री उसकी स्त्री थी, चिरकाल तक भूतोंकी उपासना करनेके बाद उन दोनोंने मौण्डकौशिक नामका पुत्र प्राप्त किया ॥ २१२–२१४ ॥ किसी एक दिन कुम्भके आहारके लिए मौण्डकौशिककी बारी आई। लोग उसे गाड़ी पर डाल कर ले जा रहे थे कि कुछ भूत उसे ले भागे, कुम्भने हाथमें दण्ड लेकर उन भूतोंका पीछा किया, भूत उसके आक्रमणसे डर गये, इसलिए उन्होंने मुण्डकौशिकको भयसे एक बिलमें डाल दिया परन्तु एक अजगरने वहाँ उस ब्राह्मणको निगल लिया ॥ २१५–२१६ ॥ इसलिए महाराजको विजयार्धकी गुहामें रखना ठीक नहीं है। बुद्धिसागरके ये हितकारी वचन सुनकर सूक्ष्म बुद्धिका धारी मतिसागर मंत्री कहने लगा कि निमित्तज्ञानीने यह तो कहा नहीं है कि महाराजके ऊपर ही वज्र गिरेगा। उसका तो कहना है कि जो पोदनपुरका राजा होगा उस पर वज्र गिरेगा इसलिए किसी दूसरे मनुष्यको पोदनपुरका राजा बना देना

---

१ तत्प्रभृति तत्प्राहुः ब्र० ।

जगाद भवता प्रोक्तं युक्तमित्यभ्युपेत्य ते । सम्भूय मन्त्रिणो यक्षप्रतिबिम्बं नृपासने ॥ २१९ ॥
निवेश्य पोदनाधीशस्त्वमित्येनमपूजयत् । महीशोऽपि परित्यक्तराज्यभोगोपभोगकः ॥ २२० ॥
प्रारब्धपूजादानादिर्निजप्रकृतिमण्डलः । जिनचैत्यालये शान्तिकर्म कुर्वन्नुपाविशत् ॥ २२१ ॥
सप्तमेऽहनि यक्षस्य प्रतिमायां महाध्वनिः । न्यपतच्छिष्टुरं मूर्ध्नि सहसा भीषणोऽशनिः ॥ २२२ ॥
तस्मिन्नुपद्रवे शान्ते पुरोद्यानपुरवासिनः । तदैसानानकध्वानैरकुर्वन्नुत्सवं परम् ॥ २२३ ॥
[illegible]
[1]नैमित्तिकं समाहूय राजा सम्पूज्य दत्तवान् । तस्मै ग्रामशतं पद्मिनीखेटेन ससम्मदः ॥ २२४ ॥
विधाय विधिवद्भक्त्या शान्तिपूजापुरस्सरम् । महाभिषेकं लोकेशामर्हतां सचिवोत्तमाः ॥ २२५ ॥
अष्टापदमयैः कुम्भैरभिषिच्य महीपतिम् । सिंहासनं समारोप्य सुराज्ये प्रत्यतिष्ठपत् ॥ २२६ ॥
एवं सुखसुखेनैव काले गच्छति सोऽन्यदा । विद्यां स्वमातुरादाय संसाध्याकाशगामिनीम् ॥ २२७ ॥
सुतारया सह ज्योतिर्वनं गत्वा रिरंसया । यथेष्टं विहरंस्तत्र सलीलं कान्तया स्थितः ॥ २२८ ॥
इतश्चमरचञ्चाख्यपुरेशोऽशनिघोषकः । आसुर्याश्च सुतो लक्ष्म्या महानिन्द्राशनेः खगः ॥ २२९ ॥
विद्यां स भ्रामरीं नाम्ना प्रसाध्यायान्पुरं स्वकम् । सुतारां वीक्ष्य जातेच्छस्तामादातुं कृतोद्यमः ॥२३०॥
कृत्रिमैणच्छलात्तस्मादपनीय महीपतिम् । तद्रूपेण निवृत्यैत्य सुतारां दुरिताशयः ॥ २३१ ॥
मृगोऽगाद् वायुवेगेन तं ग्रहीतुमवारयन् । आगतोऽहं प्रयात्यस्तमर्को यावः पुरं प्रति ॥ २३२ ॥
इत्युक्त्वाऽऽरोप्य तां खेटो विमानमगमत्[2] शठः । गत्वाऽन्तरे स्वसौरूप्यशालिना दर्शितं निजम्॥२३३॥
रूपमालोक्य तत्कोऽयमिति सा विह्वलाऽभवत् । इतस्तत्प्रोक्तवैतालीं सुतारारूपधारिणीम् ॥२३४॥

चाहिये ॥ २१७–२१८ ॥ उसकी यह बात सबने मान ली और कहा कि आपका कहना ठीक है। अनन्तर सब मन्त्रियोंने मिलकर राजाके सिंहासन पर एक यक्षका प्रतिबिम्ब रख दिया और 'तुम्हीं पोदनपुरके राजा हो' यह कहकर उसकी पूजा की। इधर राजाने राज्यके भोग उपभोग सब छोड़ दिये, पूजा दान आदि सत्कार्य प्रारम्भ कर दिये और अपने स्वभाव वाली मण्डलीको साथ लेकर जिन-चैत्यालयमें शान्ति कर्म करता हुआ बैठ गया ॥ २१९–२२१ ॥ सातवें दिन उस यक्षकी मूर्ति पर बड़ा भारी शब्द करता हुआ भयंकर वज्र अकस्मात् बड़ी कठोरतासे आ पड़ा ॥ २२२ ॥ उस उपद्रव-के शान्त होने पर नगरवासियोंने बड़े हर्षसे बढ़ते हुए नगाड़ोंके शब्दोंसे बहुत भारी उत्सव किया ॥ २२३ ॥ राजाने बड़े हर्षके साथ उस निमित्तज्ञानीको बुलाकर उसका सत्कार किया और पद्मिनी-खेटके साथ-साथ उसे सौ गाँव दिये ॥ २२४ ॥ श्रेष्ठ मंत्रियोंने तीन लोकके स्वामी अरहन्त भगवान्-की विधि-पूर्वक भक्तिके साथ शान्तिपूजा की, महाभिषेक किया और राजाको सिंहासन पर बैठा कर सुवर्णमय कलशोंसे उनका राज्याभिषेक किया तथा उत्तम राज्यमें प्रतिष्ठित किया ॥ २२५–२२६ ॥ इसके बाद उसका काल बहुत भारी सुखसे बीतने लगा। किसी एक दिन उसने अपनी मातासे आकाशगामिनी विद्या लेकर सिद्ध की और सुताराके साथ रमण करनेकी इच्छासे ज्योतिर्वनकी ओर गमन किया। वह वहाँ अपनी इच्छानुसार लीला-पूर्वक विहार करता हुआ रानीके साथ बैठा था, यहाँ चमरचंचपुरका राजा इन्द्राशनि, रानी आसुरीका लक्ष्मीसम्पन्न अशनिघोष नामका विद्या-धरपुत्र भ्रामरी विद्याको सिद्ध कर अपने नगरको लौट रहा था। बीचमें सुताराको देख कर उसपर उसकी इच्छा हुई और उसे हरण करनेका उद्यम करने लगा ॥ २२७–२३० ॥ उसने एक कृत्रिम हरिण-के छलसे राजाको सुताराके पाससे अलग कर दिया और वह दुष्ट श्रीविजयका रूप बनाकर सुतारा-के पास लौट कर वापिस आया ॥ २३१ ॥ कहने लगा कि हे प्रिये! वह मृग तो वायुके समान वेग-से चला गया। मैं उसे पकड़नेके लिए असमर्थ रहा अतः लौट आया हूँ, अब सूर्य अस्त हो रहा है इसलिए हम दोनों अपने नगरकी ओर चलें ॥ २३२ ॥ इतना कहकर उस धूर्त विद्याधरने सुताराको विमान पर बैठाया और वहाँसे चल दिया। बीचमें उसने अपना रूप दिखाया जिसे देख कर 'यह कौन है' ऐसा कहती हुई सुतारा बहुत ही विह्वल हुई। इधर उसी अशिनघोष विद्याधरके

---

१ निमित्तकं ग० । २–मगमत्ततः ल० ।

स्थितां कुक्कुटसर्पेण दष्टाहमिति सम्भ्रमात् । म्रियमाणामिवालोक्य विनिवृत्यागतः स्वयम् ॥२३५॥
अहार्यं तद्विषं ज्ञात्वा मणिमन्त्रौषधादिभिः । सस्निग्धः पोदनाधीशो मर्तुं सह तयोत्सुकः ॥२३६॥
सूर्यकान्तसमुद्भूतदहनज्वलितेन्धनः । चितिकां कान्तया सार्द्धमारुरोह शुचाकुलः ॥ २३७ ॥
तदैव खेचरौ कौचित् तत्र सन्निहितौ तयोः । विद्याविच्छेदिनीं विद्यां स्मृत्वैकेन महौजसा ॥२३८ ॥
हताऽसौ भीतवैताली वामपादेन दर्शित- । स्वरूपास्य पुरः स्थातुमशक्ताऽगाददृश्यताम् ॥ २३९ ॥
तद्विलोक्य महीपालो नितरां विस्मयं गतः । किमेतदित्यवोचत्तं खचरश्चाह तत्कथाम् ॥ २४० ॥
द्वीपेऽस्मिन् दक्षिणश्रेण्यां भरते खचराचले । ज्योतिःप्रभुधराधीशः सम्भिन्नोऽहं मम प्रिया ॥ २४१ ॥
संज्ञया सर्वकल्याणी सूनुर्द्वीपशिखाह्वयः । एष मे स्वामिना गत्वा रथनूपुरभूभुजा ॥ २४२ ॥
विहर्तुं विपुलोद्याने नलान्तशिखरश्रुते । ततो निवर्तमानः सन् स्वयानकविमानगाम्[1] ॥ २४३ ॥
क्व मे श्रीविजयः स्वामी रथनूपुरभूपते । क्व मां पाहीति साक्रोशस्वनितां करुणस्वनम् ॥ २४४ ॥
श्रुत्वाहं तत्र गत्वाऽऽख्यं कस्त्वं कां वा हरस्यमूम् । इत्यसौ चाह सक्रोधं चक्रान्तचमराधिपः ॥२४५॥
खगेशोऽशनिघोषाख्यो हठादेनां नयाम्यहम् । भवतो यदि सामर्थ्यमस्येह्येहीति मोचय ॥२४६ ॥
तच्छ्रुत्वा मत्प्रभोरेषा नीयते तेन सानुजा । सामान्यवत्कथं यामि हन्म्येनमिति निश्चयात् ॥२४७॥
योद्धुं प्रक्रममाणं मां निवार्यानेन मा कृथाः । वृथेति युद्धं निर्बन्धात्पोदनाख्यपुराधिपः ॥ २४८ ॥
ज्योतिर्वने वियोगेन मम शोकानलाहतः । वर्तते तत्र गत्वा तं मदवस्थां निवेदय ॥ २४९ ॥

द्वारा प्रेरित हुई वैताली विद्या सुताराका रूप रखकर बैठ गई ॥ २३३–२३४ ॥ जब श्रीविजय वापिस लौटकर आया तब उसने कहा कि मुझे कुक्कुटसर्पने डस लिया है। इतना कह कर उसने बड़े संभ्रमसे ऐसी चेष्टा बनाई जैसे मर रही हो। उसे देख राजाने जाना कि इसका विष मणि, मन्त्र तथा औषधि आदिसे दूर नहीं हो सकता। अन्तमें निराश होकर स्नेहसे भरा पोदनाधिपति उस कृत्रिम सुताराके साथ मरनेके लिए उत्सुक हो गया। उसने एक चिता बनाई, सूर्यकान्तमणिसे उत्पन्न अग्निके द्वारा उसका इन्धन प्रज्वलित किया और शोकसे व्याकुल हो उस कपटी सुताराके साथ चिता पर आरूढ़ हो गया ॥ २३५–२३७ ॥ उसी समय वहाँसे कोई दो विद्याधर जा रहे थे उनमें एक महा तेजस्वी था उसने विद्याविच्छेदिनी नामकी विद्याका स्मरण कर उस भयभीत वैतालीको बायें पैरसे ठोकर लगाई जिससे उसने अपना असली रूप दिखा दिया। अब वह श्रीविजयके सामने खड़ी रहनेके लिए भी समर्थ न हो सकी अतः अदृश्यताको प्राप्त हो गई ॥ २३८–२३९ ॥ यह देख राजा श्रीविजय बहुत भारी आश्चर्यको प्राप्त हुए। उन्होंने कहा कि यह क्या है ? उत्तरमें विद्याधर उसकी कथा इस प्रकार कहने लगा ॥ २४० ॥

इस जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्रके विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें एक ज्योतिःप्रभ नामका नगर है। मैं वहाँका राजा संभिन्न हूँ, यह सर्वकल्याणी नामकी मेरी स्त्री है और यह दीपशिख नामका मेरा पुत्र है। मैं अपने स्वामी रथनूपुर नगरके राजा अमिततेजके साथ शिखरनल नामसे प्रसिद्ध विशाल उद्यानमें विहार करनेके लिए गया था। वहाँसे लौटते समय मैंने मार्गमें सुना कि एक स्त्री अपने विमान पर बैठी हुई रो रही है और कह रही है कि 'मेरे स्वामी श्रीविजय कहाँ हैं ? हे रथनूपुरके नाथ ! कहाँ हो ? मेरी रक्षा करो।' इस प्रकार उसके करुण शब्द सुनकर मैं वहाँ गया और बोला कि तू कौन है ? तथा किसे हरण कर ले जा रहा है ? मेरी बात सुन कर वह बोला कि मैं चमरचञ्च नगरका राजा अशनिघोष नामका विद्याधर हूँ। इसे जबर्दस्ती लिए जा रहा हूँ, यदि आप में शक्ति है तो आओ और इसे छुड़ाओ ॥ २४१–२४६ ॥ यह सुनकर मैंने निश्चय किया कि यह तो मेरे स्वामी अमिततेजकी छोटी बहिनको ले जा रहा है। मैं साधारण मनुष्यकी तरह कैसे चला जाऊँ ? इसे अभी मारता हूँ। ऐसा निश्चय कर मैं उसके साथ युद्ध करनेके लिए तत्पर हुआ ही था कि उस स्त्रीने मुझे रोककर कहा कि आग्रह वश वृथा युद्ध मत करो, पोदनपुरके राजा ज्योतिर्वनमें

---

१ विमानके क०, घ० । विमानगे ग० । विमानगा ख० ।

इति त्वत्कान्तया राजन् प्रेषितोऽहमिहागतः । इयं त्वद्वैरिनिर्दिष्टदेवतेत्यादराद्धितः ॥ २५० ॥
श्रुत्वा तत्पोदनाधीशो सत्कृतं कथ्यतामिदम् । वृत्तान्तं सत्वरं गत्वा सन्मित्रेण त्वयाऽधुना ॥ २५१ ॥
मज्जनन्यनुजादीनामित्युक्तोऽसौ नभश्चरः । सुतं द्वीपशिखं सद्यः प्राहिणोत्पोदनं प्रति ॥ २५२ ॥
अभवत्पोदनाख्येऽपि बहूत्पातविजृम्भणम् । तद्दृष्ट्वाऽमोघजिह्वाख्यो जयगुप्तश्च सम्भ्रमात् ॥ २५३ ॥
उत्पन्नं स्वामिनः किञ्चिद् भयं तदपि निर्गतम् । आगमिष्यति चाद्यैव कश्चित्कुशलवार्तया ॥ २५४ ॥
स्वस्थास्तिष्ठन्तु तत्रभवन्तो मा गमन् भयम् । इति स्वयम्प्रभादींस्तानाधासं नयतः स्म तान् ॥२५५॥
तथैव गगनाद्दीपशिखोऽप्यागम्य भूतलम् । स्वयम्प्रभां सुतं चास्याः प्रणम्य विविधवत्सुधीः ॥२५६॥
क्षेमं श्रीविजयाधीशो भवद्भिस्त्यज्यतां भयम् । इति तद्वृत्तकं[1] सर्वं यथावस्थं न्यवेदयत् ॥ २५७ ॥
तद्वार्ताकर्णनाद्दावपरिम्लानलतोपमा । निर्वाणाभ्यर्णदीपस्य शिखेव विगतप्रभा ॥ २५८ ॥
श्रुतप्रावृड्घनध्वानकलहंसीव शोकिनी । स्याद्वाद्यादिविध्वस्तदुःश्रुतिर्वाकुलाकुला ॥ २५९ ॥
तदानीमेव निर्गत्य चतुरङ्गबलान्विता । स्वयम्प्रभाऽगात् सखगा ससुता तद्वनान्तरम् ॥ २६० ॥
आयान्तीं दूरतो दृष्ट्वा मातरं स्वानुजानुगाम् । प्रतिगत्यानमत्तस्याः पादयोः पोदनाधिपः ॥ २६१ ॥
स्वयम्प्रभा च तं दृष्ट्वा वाष्पाविलविलोचना । उत्तिष्ठ पुत्र दृष्टोऽसि मत्पुण्याच्चिरजीवितः ॥ २६२॥
इति श्रीविजयं दोर्भ्यामुत्थाप्यास्पृश्य तोषिणी । सुखासीनमथापृच्छत्सुताराहरणादिकम् ॥ २६३ ॥
खगः सम्भिन्ननामाऽयं सेवकोऽमिततेजसः । अनेनोपकृतिर्याऽद्य कृता साऽम्ब त्वयापि न ॥२६४॥

मेरे वियोगके कारण शोकाग्निसे पीड़ित हो रहे हैं तुम वहाँ जाकर उनसे मेरी दशा कह दो। इस प्रकार हे राजन्, मैं तुम्हारी स्त्रीके द्वारा भेजा हुआ यहाँ आया हूँ। यह तुम्हारे वैरीकी आज्ञा-कारिणी वैताली देवी है। ऐसा उस हितकारी विद्याधरने बड़े आदरसे कहा। इस प्रकार संभिन्न विद्याधरके द्वारा कही हुई बातको पोदनपुरके राजाने बड़े आदरसे सुना और कहा कि आपने यह बहुत अच्छा किया। आप मेरे सन्मित्र हैं अतः इस समय आप शीघ्र ही जाकर यह समाचार मेरी माता तथा छोटे भाई आदिसे कह दीजिये। ऐसा कहनेपर उस विद्याधरने अपने दीपशिख नामक पुत्रको शीघ्र ही पोदनपुरकी ओर भेज दिया ॥ २४७–२५२ ॥ उधर पोदनपुरमें भी बहुत उत्पातोंका विस्तार हो रहा था, उसे देखकर अमोघजिह्व और जयगुप्त नामके निमित्तज्ञानी बड़े संयमसे कह रहे थे कि स्वामीको कुछ भय उत्पन्न हुआ था परन्तु अब वह दूर हो गया है, उनका कुशल समाचार लेकर आज ही कोई मनुष्य आवेगा। इसलिए आप लोग स्वस्थ रहें, भयको प्राप्त न हों। इस प्रकार वे दोनों ही विद्याधर, स्वयंप्रभा आदिको धीरज बँधा रहे थे ॥ २५३–२५५ ॥ उसी समय दीपशिख नामका बुद्धिमान् विद्याधर आकाशसे पृथिवी-तलपर आया और विधि-पूर्वक स्वयंप्रभा तथा उसके पुत्रको प्रणाम कर कहने लगा कि महाराज श्रीविजयकी सब प्रकारकी कुशलता है, आप लोग भय छोड़िये, इस प्रकार सब समाचार ज्योंके त्यों कह दिये ॥ २५६–२५७ ॥ उस बातको सुननेसे, जिस प्रकार दावानलसे लता म्लान हो जाती है, अथवा बुझनेवाले दीपककी शिखा जिस प्रकार प्रभाहीन हो जाती है, अथवा वर्षा ऋतुके मेघका शब्द सुननेवाली कलहंसी जिस प्रकार शोक-युक्त हो जाती है अथवा जिस प्रकार किसी स्याद्वादी विद्वान्के द्वारा विध्वस्त हुई दुःश्रुति (मिथ्या-शास्त्र) व्याकुल हो जाती है उसी प्रकार स्वयंप्रभा भी म्लान शरीर, प्रभारहित, शोकयुक्त तथा अत्यन्त आकुल हो गई थी ॥ २५८–२५९ ॥ वह उस विद्याधरको तथा पुत्रको साथ लेकर उस वनके बीच पहुँच गई ॥ २६० ॥ पोदनाधिपतिने छोटे भाईके साथ आती हुई माताको दूरसे ही देखा और सामने जाकर उसके चरणोंमें नमस्कार किया ॥ २६१ ॥ पुत्रको देखकर स्वयंप्रभाके नेत्र हर्षाश्रुओंसे व्याप्त हो गये। वह कहने लगी कि 'हे पुत्र! उठ, मैंने अपने पुण्योदयसे तेरे दर्शन पा लिये, तू चिरंजीव रह' इस प्रकार कहकर उसने श्रीविजयको अपनी दोनों भुजाओंसे उठा लिया, उसका स्पर्श किया और बहुत भारी संतोषका अनुभव किया। अथानन्तर—जब श्रीविजय सुखसे बैठ गये तब उसने सुताराके हरण आदिका समाचार पूछा ॥ २६२–२६३ ॥ श्री विजयने कहा कि यह संभिन्न

१–न्नवृत्तकं ब० ।

ममेति शेषमप्याह ततोऽसावप्यनूद्भवम्[1] । तनूजं पुररक्षायै निर्वर्त्याप्रजान्विता ॥ २६५ ॥
रथनूपुरमुद्दिश्य गता गगनवर्त्मना । स्वदेशचरचारोक्त्या विदितामिततेजसा ॥ २६६ ॥
महाविभूत्या प्रत्येत्य भामिका परितुष्यता । प्रवेशिता सकेतूच्चैः पुरमाबद्धतोरणम् ॥ २६७ ॥
प्राघूर्णकविधिं वित्तं विधाय विधिवत्तयोः । तदागमनकार्यं च ज्ञात्वा विद्याधराधिपः ॥ २६८ ॥
दूतं मरीचिनामानमिन्द्राशनिसुतं प्रति । प्रहित्य तन्मुखात्तस्य विदित्वा दुस्सहं वचः ॥ २६९ ॥
आलोच्य मन्त्रिभिः सार्द्धमुच्छेत्तुं तं मदोद्धतम् । मैथुनाय महेच्छाय निजायात्र समागतम् ॥ २७० ॥
युद्धवीर्यं प्रहरणावरणं बधमोचनम् । इति विद्यात्रयं शत्रुध्वंसार्थमदितादरात् ॥ २७१ ॥
रश्मिवेगसुवेगादिसहस्राद्धात्मजैः सह । पोदनेशं व्रजेत्युक्त्वा शत्रोरुपरि दर्पिणः ॥ २७२ ॥
सहस्ररश्मिना सार्द्धं ज्यायसा स्वात्मजेन सः । महाज्वालाह्वयां [2]सर्वविद्याच्छेदनसंयुताम् ॥२७३॥
सञ्जयन्तमहाचैत्यमूले साधयितुं गतः । ह्रीमन्तं पर्वतं विद्यां विद्यानां साधनास्पदम् ॥ २७४ ॥
रश्मिवेगादिभिः सार्द्धं श्रुत्वा श्रीविजयागमम् । युद्धायाशनिघोषेण प्रेषिताः स्वसुताः क्रुधा ॥ २७५ ॥
सुघोषः शतघोषाख्याः स सहस्रादिघोषकः । युद्ध्वाऽन्येऽपि च मासार्द्धं सर्वे भङ्गमुपागमन् ॥२७६॥
तद् बुद्ध्वा क्रोधसन्तप्तो योद्धुं स्वयमुपेयिवान् । स्वनाशपिशुनाशेषघोषणोऽशनिघोषकः ॥ २७७॥
युद्धे श्रीविजयोऽप्येनं विधातुं प्राहरद् द्विधा । भ्रामरी विद्यया सोऽपि द्विरूपः समजायत ॥ २७८॥
चतुर्गुणत्वमायातौ पुनस्तौ तेन खण्डितौ । संग्रामोऽशनिघोषैकमायाऽभूदिति खण्डनात् ॥ २७९ ॥

नामक विद्याधर अमिततेजका सेवक है। हे माता ! आज इसने मेरा जो उपकार किया है वह तुमने भी नहीं किया ॥ २६४ ॥ ऐसा कहकर उसने जो-जो बात हुई थी वह सब कह सुनाई। तदनन्तर स्वयंप्रभाने छोटे पुत्रको तो नगरकी रक्षाके लिए वापिस लौटा दिया और बड़े पुत्रको साथ लेकर वह आकाशमार्गसे रथनूपुर नगरको चली। अपने देशमें घूमनेवाले गुप्तचरोंके कहनेसे अमिततेजको इस बातका पता चल गया जिससे उसने बड़े वैभवके साथ उसकी अगवानी की तथा संतुष्ट होकर जिसमें बड़ी ऊँची पताकाएँ फहरा रही हैं और तोरण बाँधे गये हैं ऐसे अपने नगरमें उसका प्रवेश कराया ॥ २६५–२६७ ॥ उस विद्याधरोंके स्वामी अमिततेजने उनका पाहुनेके समान सम्पूर्ण स्वागत-सत्कार किया और उनके आनेका कारण जानकर इन्द्राशनिके पुत्र अशनिघोषके पास मरीचि नाम-का दूत भेजा। उसने दूतसे असह्य वचन कहे। दूतने वापिस आकर वे सब वचन अमिततेजसे कहे। उन्हें सुनकर अमिततेजने मन्त्रियोंके साथ सलाह कर मदसे उद्धत हुए उस अशनिघोषको नष्ट करने-का दृढ़ निश्चय कर लिया। उच्च अभिप्राय वाले अपने बहनोईको उसने शत्रुओंका विध्वंस करनेके लिए वंशपरम्परागत युद्धवीर्य, प्रहरणावरण और बन्धमोचन नामकी तीन विद्याएँ बड़े आदरसे दीं ॥ २६८–२७१ ॥ तथा रश्मिवेग सुवेग आदि पाँचसौ पुत्रोंके साथ-साथ पोदनपुरके राजा श्रीविजयसे अहंकारी शत्रुपर जानेके लिए कहा ॥ २७२ ॥ और स्वयं सहस्ररश्मि नामक अपने बड़े पुत्रके साथ समस्त विद्याओंको छेदनेवाली महाज्वाला नामकी विद्याको सिद्ध करनेके लिए विद्याएँ सिद्ध करनेकी जगह ह्रीमन्त पर्वत पर श्री सञ्जयन्त मुनिकी विशाल प्रतिमाके समीप गया ॥ २७३–२७४ ॥ इधर जब अशनिघोषने सुना कि श्रीविजय युद्धके लिए रश्मिवेग आदिके साथ आ रहा है तब उसने क्रोधसे सुघोष, शतघोष, सहस्रघोष आदि अपने पुत्र भेजे। उसके वे समस्त पुत्र तथा अन्य लोग पन्द्रह दिन तक युद्ध कर अन्तमें पराजित हुए। जिसकी समस्त घोषणाएँ अपने नाशको सूचित करनेवाली हैं ऐसे अशनिघोषने जब यह समाचार सुना तब वह क्रोधसे सन्तप्त होकर स्वयं ही युद्ध करनेके लिए गया ॥ २७५–२७७ ॥ इधर युद्धमें श्रीविजयने अशनिघोषके दो टुकड़े करनेके लिए प्रहार किया उधर भ्रामरी विद्यासे उसने दो रूप बना लिये। श्रीविजयने नष्ट करनेके लिए उन दोनोंके दो-दो टुकड़े किये तो उधर अशनिघोषने चार रूप बना लिये। इस प्रकार वह सारी

---

१ अनु पश्चाद् उद्भवतीति अनूद्भवस्तम् अनुजमिति यावत्। २ साव–ख०।

तदा साधितविद्यः सन् रथनूपुरनायकः । ए-(इ)-त्यादिशन्महाज्वालविद्यां तां सोढुमक्षमः ॥२८०॥
मासार्द्धकृतसंग्रामो विजयाख्यजिनेशिनः । नाभेयसीमनामाद्रिगजध्वजसमीपगाम् ॥ २८१ ॥
सभां भीत्वा खगेशोऽगात्कोपात्तेप्यनुयायिनः । मानस्तम्भं निरीक्ष्यासन् प्रशान्तधियस्तदा ॥२८२॥
जिनं प्रदक्षिणीकृत्य त्रिः प्रणम्य जगत्पतिम् । वान्तवैरविषाः सर्वे तत्रासिषत ते समम् ॥ २८३ ॥
तदागत्यासुरी देवी सती शीलवती स्वयम् । सुतारां द्रुतमानीय परिम्लानलतोपमाम् ॥ २८४॥
मत्पुत्रस्य युवां क्षन्तुमपराधनमर्हतः । इत्युदीर्यार्पयत्सा श्रीविजयामिततेजसोः ॥ २८५ ॥
तिरश्चामपि चेद्वैरमहार्यं जातिहेतुकम् । विनश्यति जिनाभ्याशे मनुष्याणां किमुच्यते ॥ २८६ ॥
कर्माण्यनादिबद्धानि मुच्यन्ते यदि संस्मृतेः । जिनानां सन्निधौ तेषां नाश्चर्यं वैरमोचनम् ॥ २८७ ॥
अन्तको दुर्निवारोऽत्र वार्यते सोऽपि हेलया । जिनस्मरणमात्रेण न वार्योऽन्यः स को रिपुः ॥ २८८ ॥
तदन्तकप्रतीकारे स्मरणीयो मनीषिभिः । [1]जगत्त्रयैकनाथोऽर्हन् पुरेह च हितावहः ॥ २८९ ॥
अथ विद्याधराधीशः प्रणम्य प्राञ्जलिर्जिनम् । भक्त्या सद्धर्ममप्राक्षीत्स तत्त्वार्थबुभुत्सया ॥ २९० ॥
महादुःखोर्मिसङ्कीर्णदुःसंसारपयोनिधेः । स्फुरत्कषायनक्रस्य पारः केनाप्यते जिनः ॥ २९१ ॥
प्रष्टव्यो नापरः कोऽपि तीर्णसंसारसागरः । त्वमेवैको जगद्बन्धो विनेयाननुशाधि नः[2] ॥ २९२ ॥
भवद्भारापतद्ग्राहा रत्नत्रयमहाधनाः । [3]स्वस्थानं जन्मवाराशे[4]रवापन्सुखसाधनम् ॥२९३॥

सेना अशनिघोषकी मायासे भर गई ॥ २७८-२७९ ॥ इतनेमें ही रथनूपरका राजा अमिततेज विद्या सिद्ध कर आ गया और आते ही उसने महाज्वाला नामकी विद्याको आदेश दिया। अशनिघोष उस विद्याको सह नहीं सका ॥ २८० ॥ इसलिए पन्द्रह दिन तक युद्ध कर भागा और भयसे नाभेयसीम नामके पर्वत पर गजध्वजके समीपवर्ती विजय तीर्थंकरके समवसरणमें जा घुसा। अमिततेज तथा श्रीविजय आदि भी क्रोधित हो उसका पीछा करते-करते उसी समवसरणमें जा पहुँचे। वहाँ मानस्तम्भ देखकर उन सबकी चित्त-वृत्तियाँ शान्त हो गईं। सबने जगत्पति जिनेन्द्र भगवान्की तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, उन्हें प्रणाम किया और वैररूपी विषको उगलकर वे सब वहाँ साथ-साथ बैठ गये ॥ २८१-२८३ ॥ उसी समय शीलवती आसुरीदेवी मुरझाई हुई लताके समान सुताराको शीघ्र ही लाई और श्रीविजय तथा अमिततेजको समर्पित कर बोली कि आप दोनों हमारे पुत्रका अपराध क्षमा कर देनेके योग्य हैं ॥ २८४-२८५ ॥ तिर्यञ्चोंका जो जन्मजात वैर छूट नहीं सकता वह भी जब जिनेन्द्र भगवान्के समीप आकर छूट जाता है तब मनुष्योंकी तो बात ही क्या कहना है ? ॥ २८६ ॥ जब जिनेन्द्र भगवान्के स्मरणसे अनादि कालके बँधे हुए कर्म छूट जाते हैं तब उनके समीप वैर छूट जावे इसमें आश्चर्य ही क्या है ? ॥ २८७ ॥ जो बड़े दुःखसे निवारण किया जाता है ऐसा यमराज भी जब जिनेन्द्र भगवान्के स्मरण मात्रसे अनायास ही रोक दिया जाता है तब दूसरा ऐसा कौन शत्रु है जो रोका न जा सके ? ॥ २८८ ॥ इसलिए बुद्धिमानोंको यमराजका प्रतिकार करनेके लिए तीनों लोकोंके नाथ अर्हन्त भगवान्का ही स्मरण करना चाहिये। वही इस लोक तथा परलोकमें हितके करनेवाले हैं ॥ २८९ ॥

अथानन्तर विद्याधरोंके स्वामी अमिततेजने हाथ जोड़कर बड़ी भक्तिसे भगवान्को नमस्कार किया और तत्त्वार्थको जाननेकी इच्छासे सद्धर्मका स्वरूप पूछा ॥ २९० ॥ जिसमें कषायरूपी मगरमच्छ तैर रहे हैं और जो अनेक दुःखरूपी लहरोंसे भरा हुआ है ऐसे संसाररूपी विकराल सागरका पार कौन पा सकता है ? यह बात जिनेन्द्र भगवान्से ही पूछी जा सकती है किसी दूसरे से नहीं क्योंकि उन्होंने ही संसाररूपी सागरको पार कर पाया है। हे भगवन् ! एक आप ही जगत्के बन्धु हैं अतः हम सब शिष्योंको आप सद्धर्मका स्वरूप बतलाइये ॥ २९१-२९२ ॥ रत्नत्रय रूपी महाधनको धारण करनेवाले पुरुष आपकी दिव्यध्वनि रूपी बड़ी भारी नावके द्वारा ही इस संसार-

---

१ जगत्त्रैलोक्यनाथोऽर्हन् ग० । २-ननु शास्मि नः ग० ।-ननुसाधि नः ल० । ३ सस्थानं ल० । ४-रावापत् ल० ।

मार्गदर्शक : श्री ऋषिपुत्र जी महाराज

वृत्तिर्ते च तदा देवो वाचा प्रावर्त दिव्यया। सन्तर्प्यन्ते यया भव्याः प्राच्या वृष्ट्येव चातकाः ॥२९४॥
शृणु भव्य भवस्यास्य कारणं कर्म कर्मणः। हेतवो हे खगाधीश मिथ्यात्वासंयमादयः ॥ २९५ ॥
मिथ्यात्वोदयसम्भूतपरिणामो विपर्ययम्। ज्ञानस्य जनयन् विद्धि मिथ्यात्वं बन्धकारणम् ॥ २९६ ॥
अज्ञानसंशयैकान्तविपरीतविकल्पनम्। विनयैकान्तजं चेति तज्ज्ञस्तत्पञ्चधा मतम् ॥ २९७ ॥
पापधर्माभिधानावबोधदूरेषु जन्तुषु। मिथ्यात्वोदयपर्यायो मिथ्यात्वं स्यात्तदादिमम् ॥ २९८ ॥
[1]आप्तागमादिनानात्वात्तत्त्वे दोलायमानता। येन संशयमिथ्यात्वं तद्विद्धि बुधसत्तम[2] ॥ २९९ ॥
द्रव्यपर्यायरूपेऽर्थे अङ्गे चाक्षयसाधने। तत्स्यादेकान्तमिथ्यात्वं येनैकान्तावधारणम् ॥ ३०० ॥
यो ज्ञानज्ञायकज्ञेययाथात्म्ये निर्णयोऽन्यथा। स येनात्मनि तद्विद्धि मिथ्यात्वं विपरीतजम् ॥ ३०१ ॥
मनोवाक्कायवृत्तेनप्रणतौ सर्ववस्तुषु। मुक्त्युपायमतिर्येन मिथ्यात्वं स्यात् तदन्तिमम् ॥ ३०२ ॥
अव्रतस्य मनःकायवचोवृत्तिरसंयमः। तज्ज्ञैः सोऽपि द्विधा प्रोक्तः प्राणीन्द्रियसमाश्रयात् ॥ ३०३॥
अप्रत्याख्यानमोहानामुदयो यावदङ्गिनाम्। आ चतुर्थगुणस्थानात्तावत्स बन्धकारणम् ॥ ३०४॥
कायवाक्चेतसां वृत्तिर्व्रतानां मलकारिणी। या सा षष्ठगुणस्थाने प्रमादो बन्धवृत्तये ॥ ३०५ ॥
प्रोक्ताः पञ्चदशैतस्य भेदाः संज्वलनोदयात्। चारित्रत्रययुक्तस्य प्रायश्चित्तस्य हेतवः ॥ ३०६ ॥
यः संज्वलनसंज्ञस्य चतुष्कस्योदयाद्भवेत्। गुणस्थानचतुष्के स कषायो बन्धहेतुकः ॥ ३०७ ॥
स यः षोडशभेदेन कषायः कथितो जिनैः। उपशान्तादितो हेतुर्बन्धे स्थित्यनुभागयोः ॥ ३०८ ॥

रूपी समुद्रसे निकल कर सुख देने वाले अपने स्थानको प्राप्त करते हैं ॥ २९३ ॥ ऐसा विद्याधरोंके राजाने भगवान्‌से पूछा। तदनन्तर भगवान् दिव्यध्वनिके द्वारा कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार पूर्व वृष्टिके द्वारा चातक पक्षी संतोषको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार भव्य जीव दिव्यध्वनिके द्वारा संतोषको प्राप्त होते हैं ॥ २९४ ॥ हे विद्याधर भव्य ! सुन, इस संसारके कारण कर्म हैं और कर्मके कारण मिथ्यात्व असंयम आदि हैं ॥ २९५ ॥ मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ जो परिणाम ज्ञानको भी विपरीत कर देता है उसे मिथ्यात्व जानो। यह मिथ्यात्व बन्धका कारण है ॥ २९६ ॥ अज्ञान, संशय, एकान्त, विपरीत और विनयके भेदसे ज्ञानी पुरुष उस मिथ्यात्वको पांच प्रकारका मानते हैं ॥२९७॥ पाप और धर्मके नामसे दूर रहनेवाले जीवोंके मिथात्व कर्मके उदयसे जो परिणाम होता है वह अज्ञान मिथ्यात्व है ॥ २९८ ॥ आप्त तथा आगम आदिके नाना होनेके कारण जिसके उदयसे तत्त्वके स्वरूपमें दोलायमानता—चञ्चलता बनी रहती है उसे हे श्रेष्ठ विद्वान् ! तुम संशय मिथ्यात्व जानो ॥ २९९ ॥ द्रव्य पर्यायरूप पदार्थमें अथवा मोक्षका साधन जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है उसमें किसी एकका ही एकान्त रूपसे निश्चय करना एकान्त मिथ्यादर्शन है ॥ ३०० ॥ आत्मामें जिसका उदय रहते हुए ज्ञान ज्ञायक और ज्ञेयके यथार्थ स्वरूपका विपरीत निर्णय होता है उसे .विपरीत मिथ्यादर्शन जानो ॥ ३०१ ॥ मन, वचन और कायके द्वारा जहाँ सब देवोंको प्रणाम किया जाता है और समस्त पदार्थोंको मोक्षका उपाय माना जाता है उसे विनय मिथ्यात्व कहते हैं ॥ ३०२ ॥ व्रतरहित पुरुषकी जो मन वचन कायकी क्रिया है उसे असंयम कहते हैं। इस विषयके जानकार मनुष्योंने प्राणी-असंयम और इन्द्रिय-असंयमके भेदसे असंयमके दो भेद कहे हैं ॥ ३०३ ॥ जब तक जीवोंके अप्रत्याख्यानावरण चारित्र मोहका उदय रहता है तब तक अर्थात् चतुर्थगुणस्थान तक असंयम बन्धका कारण माना गया है ॥ ३०४ ॥ छठवें गुणस्थानोंमें व्रतोंमें संशय उत्पन्न करनेवाली जो मन वचन कायकी प्रवृत्ति है उसे प्रमाद कहते हैं। यह प्रमाद छठवें गुणस्थान तक बन्धका कारण होता है ॥ ३०५ ॥ प्रमादके पन्द्रह भेद कहे गये हैं। ये संज्वलन कषायका उदय होनेसे होते हैं तथा सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि इन तीन चारित्रोंसे युक्त जीवके प्रायश्चित्तके कारण बनते हैं ॥ ३०६ ॥ सातवेंसे लेकर दशवें तक चार गुणस्थानों में संज्वलन क्रोध मान माया लोभके उदयसे जो परिणाम होते हैं उन्हें कषाय कहते हैं। इन चार गुणस्थानों यह कषाय ही बन्धका कारण है ॥ ३०७ ॥ जिनेन्द्र

---

१ आत्मागमादि ज० । २ बुधसत्तमम् ज० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आत्मप्रदेशसञ्चारो योगो बन्धविधायकः । गुणस्थानत्रये ज्ञेयः सद्वेद्यस्य स एककः ॥ ३०९ ॥
मानसः स चतुर्भेदस्तावानेव वचःस्थितः । काये सप्तविधः सर्वो यथास्वं द्वयबन्धकृत् ॥ ३१० ॥
पञ्चभिर्बध्यते मिथ्यावादिभिर्वर्णितैः सदा । स विंशतिशतेनार्यकर्मणां स्वोचिते पदे ॥ ३११ ॥
जन्तुस्तैर्भ्रम्यते भूयो भूयो गत्यादिपर्ययः । आश्रितादिगुणस्थानसर्वजीवसमासकः ॥ ३१२ ॥
त्र्यज्ञानदर्शनोपेतस्त्रिभावो वीतसंयमः । भव्योऽभव्यश्च संसारचक्रकावर्तगर्तगः ॥ ३१३ ॥
जन्ममृत्युजरारोगसुखदुःखादिभेदभाक् । अतीतानादिकालेऽत्र कश्चित्कालादिलब्धितः ॥ ३१४ ॥
करणत्रयसंशान्तसप्तप्रकृतिसञ्चयः । प्राप्तविच्छिन्नसंसारः शमसम्भूतदर्शनः ॥ ३१५ ॥
अप्रत्याख्यानमिश्राख्यभावाप्तद्वादशव्रतः । प्रत्याख्यानाख्यमिश्राख्यभावावाप्तमहाव्रतः ॥ ३१६ ॥
सप्तप्रकृतिनिर्नाशलब्धक्षायिकदर्शनः । मोहारातिविधानोत्थक्षायिकाचारभूषितः ॥ ३१७ ॥
द्वितीयशुक्लसद्ध्यानो [1]घातित्रितयघातकः । नवकेवलभावाप्त्या स्नातकः सर्वैपूजितः ॥ ३१८ ॥
तृतीयशुक्लसद्ध्याननिरुद्धाशेषयोगकः । समुच्छिन्नक्रियायोगाद्विच्छिन्नाशेषबन्धकः ॥ ३१९ ॥
एवं त्रिरूपसन्मार्गात् क्रमाप्तार्यववारिधिम् । भव्यो भवादृशो भव्य समुत्तीर्येधते सदा ॥ ३२० ॥
इति तां जन्मनिर्वाणप्रक्रियां जिनभाषिताम् । श्रुत्वा पीतामृतो वाऽसौ विश्वविद्याधरेश्वरः ॥ ३२१॥

भगवान्ने इस कषायके सोलह भेद कहे हैं। यह कषाय उपशान्तमोह गुणस्थानके इसी ओर स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्धका कारण माना गया है॥ ३०८॥ आत्माके प्रदेशोंमें जो संचार होता है उसे योग कहते हैं। यह योग ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें इन तीन गुणस्थानोंमें सातावेदनीयके बन्धका कारण माना गया है। इन गुणस्थानोंमें यह एक ही बन्धका कारण है ॥ ३०९ ॥ मनोयोग चार प्रकारका है, वचन योग चार प्रकारका है और काय-योग सात प्रकारका है। ये सभी योग यथायोग्य जहाँ जितने संभव हो उतने प्रकृति और प्रदेश बन्धके कारण हैं। हे आर्य! जिनका अभी वर्णन किया है ऐसे इन मिथ्यात्व आदि पाँचके द्वारा यह जीव अपने अपने योग्य स्थानोंमें एक सौ बीस कर्मप्रकृतियोंसे सदा बँधता रहता है ॥३१०-३११॥ इन्हीं प्रकृतियोंके कारण यह जीव गति आदि पर्यायोंमें बार बार घूमता रहता है, प्रथम गुणस्थानमें इस जीवके सभी जीव समान होते हैं, वहाँ यह जीव तीन अज्ञान और तीन अदर्शनोंसे सहित होता है, उसके औदयिक, क्षायापशमिक और पारिणामिक ये तीन भाव होते हैं, संयमका अभाव होता है, कोई जीव भव्य रहता है और कोई अभव्य होता है। इस प्रकार संसारचक्रके भँवररूपी गड्ढेमें पड़ा हुआ यह जीव जन्म जरा मरण रोग सुख दुःख आदि विविध भेदोंको प्राप्त करता हुआ अनादि कालसे इस संसारमें निवास कर रहा है। इनमेंसे कोई जीव कालादि लब्धियोंका निमित्त पाकर अधःकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप परिणामोंसे मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियोंका उपशम करता है तथा संसारकी परिपाटीका विच्छेद कर उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। तदनन्तर अप्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशमसे श्रावकके बारह व्रत ग्रहण करता है। कभी प्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशमसे महाव्रत प्राप्त करता है। कभी अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ तथा मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन सात प्रकृतियोंके क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। कभी मोहकर्मरूपी शत्रुके उच्छेदसे उत्पन्न हुए क्षायिक चारित्रसे अलंकृत होता है। तदनन्तर द्वितीय शुक्लध्यानका धारक होकर तीन घातिया कर्मोंका क्षय करता है, उस समय नव केवललब्धियोंकी प्राप्तिसे अर्हन्त होकर सबके द्वारा पूज्य हो जाता है। कुछ समय बाद तृतीय शुक्ल ध्यानके द्वारा समस्त योगोंको रोक देता है और समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नामक चौथे शुक्ल ध्यानके प्रभावसे समस्त कर्मबन्धको नष्ट कर देता है। इस प्रकार हे भव्य! तेरे समान भव्य प्राणी क्रम-क्रमसे प्राप्त हुए तीन प्रकारके सन्मार्गके द्वारा संसार-समुद्रसे पार होकर सदा सुखसे बढ़ता रहता है॥ ३१२-३२०॥ इस प्रकार समस्त विद्याधरोंका स्वामी अमिततेज, श्रीजिनेन्द्र भगवान्के द्वारा

---

१ घातित्रय-ख० ।

कालाद्युक्तचतुर्भेदप्रायोग्यप्रापणादरा । सम्यक्श्रद्धानसंशुद्धः श्रावकव्रतभूषितः ॥ ३२२ ॥
भगवन् किञ्चिदिच्छामि प्रष्टुमन्यच्च चेतसि । स्थितं मेऽशनिघोषोऽयं प्रभावं तन्वतोऽवयन् ॥ ३२३ ॥
सुतारां मेऽनुजामेव हृतवान् केन हेतुना । इत्यब्राक्षीज्जिनेन्द्रोऽपि हेतुं तस्यैवमब्रवीत् ॥ ३२४ ॥
जम्बूपलक्षिते द्वीपे विषये मगधाह्वये । अचलग्रामवास्तव्यो ब्राह्मणो धरणीजटः[1] ॥ ३२५ ॥
अग्निला गृहिणी तोकौ भूत्यन्तेद्राग्निसंज्ञकौ । कपिलस्तस्य दासेरस्तद्वेदाध्ययने स्वयम् ॥ ३२६ ॥
वेदान्स सूक्ष्मबुद्धित्वादज्ञासीद् ग्रन्थतोऽर्थतः। तं ज्ञात्वा ब्राह्मणः क्रुद्ध्वा त्वयाऽयोग्यमिदं कृतम्॥३२७॥
इति दासीसुतं गेहात्तदैव निरजीगमत्। कपिलोऽपि विषण्णत्वात्तस्माद्रत्नं पुरं ययौ ॥ ३२८ ॥
श्रुत्वाऽध्ययनसम्पन्नं योग्यं तं वीक्ष्य सत्यकः । विप्रः स्वतनुजां जम्बूसमुत्पन्नां समर्पयत् ॥३२९ ॥
स राजपूजितस्तत्र सर्वशास्त्रार्थसारवित् । व्याख्यामखण्डितां कुर्वन्नयत्कतिचित्समाः ॥ ३३० ॥
तस्य विप्रकुलायोग्यदुश्चरित्रविमर्शनात् । तद्भार्या सत्यभामाऽयं [2]कस्येत्यायत्तसंशया ॥३३१ ॥
वार्तापरम्पराज्ञातस्वकीयप्राभवं [3]द्विजम् । स्वदारिद्र्यापनोदार्थं स्वान्तिकं समुपागतम् ॥ ३३२ ॥
दूरात् कपिलको दृष्ट्वा दुष्टात्मा धरिणीजटम्[4] । कुपितोऽपि मनस्यस्मै प्रत्युत्थायाभिवाद्य च ॥३३३॥
समुच्चासनमारोप्य मातुर्भ्रातॄश्च किं मम । कुशलं ब्रूत मद्भाग्याद्यूयमत्रैवमागताः ॥ ३३४ ॥

कही हुई जन्मसे लेकर निर्वाण पर्यन्तकी प्रक्रियाको सुनकर ऐसा संतुष्ट हुआ मानो उसने अमृतका ही पान किया हो ॥ ३२१ ॥ ऊपर कही हुई कालादि चार लब्धियोंकी प्राप्तिसे उस समय उसने सम्यग्दर्शनसे शुद्ध होकर अपने आपको श्रावकोंके व्रतसे विभूषित किया ॥ ३२२ ॥ उसने भगवान्से पूछा कि हे भगवन् ! मैं अपने चित्तमें स्थित एक दूसरी बात आपसे पूछना चाहता हूँ। बात यह है कि इस अशनिघोषने मेरा प्रभाव जानते हुए भी मेरी छोटी बहिन सुताराका हरण किया है सो किस कारणसे किया है ? उत्तरमें जिनेन्द्र भगवान् भी उसका कारण इस प्रकार कहने लगे ॥ ३२३-३२४ ॥

जम्बुद्वीपके मगध देशमें एक अचल नामका ग्राम है । उसमें धरणीजट नामका ब्राह्मण रहता था ॥ ३२५ ॥ उसकी स्त्रीका नाम अग्निला था और उन दोनोंके इन्द्रभूति तथा अग्निभूति नामके दो पुत्र थे । इनके सिवाय एक कपिल नाम दासीपुत्र भी था । जब वह ब्राह्मण अपने पुत्रोंको वेद पढ़ाता था तब कपिलको अलग रखता था परन्तु कपिल इतना सूक्ष्मबुद्धि था कि उसने अपने आप ही शब्द तथा अर्थ-दोनों रूपसे वेदोंको जान लिया था । जब ब्राह्मणको इस बातका पता चला तब उसने कुपित होकर 'तूने यह अयोग्य किया' यह कहकर उस दासी-पुत्रको उसी समय घरसे निकाल दिया । कपिल भी दुःखी होता हुआ वहाँसे रत्नपुर नामक नगरमें चला गया ॥ ३२६-३२८ ॥ रत्नपुरमें एक सत्यक नामक ब्राह्मण रहता था। उसने कपिलको अध्ययनसे सम्पन्न तथा योग्य देख जम्बू नामक स्त्रीसे उत्पन्न हुई अपनी कन्या समर्पित कर दी ॥ ३२९ ॥ इस प्रकार राजपूज्य एवं समस्त शास्त्रोंके सारपूर्ण अर्थके ज्ञाता कपिलने जिसको कोई खण्डन न कर सके ऐसी व्याख्या करते हुए रत्नपुर नगरमें कुछ वर्ष व्यतीत किये ॥ ३३० ॥ कपिल विद्वान् अवश्य था परन्तु उसका आचरण ब्राह्मण कुलके योग्य नहीं था अतः उसकी स्त्री सत्यभामा उसके दुश्चरितका विचार कर सदा संशय करती रहती थी कि यह किसका पुत्र है ? ॥ ३३१ ॥ इधर धरिणीजट दरिद्र हो गया। उसने परम्परासे कपिलके प्रभावकी सब बातें जान लीं इसलिए वह अपनी दरिद्रता दूर करनेके लिए कपिलके पास गया । उसे आया देख कपिल मन ही मन बहुत कुपित हुआ परन्तु बाह्यमें उसने उठकर अभिवादन-प्रणाम किया । उच्च आसन पर बैठाया और कहा कि कहिये मेरी माता तथा भाइयोंकी कुशलता तो है न ? मेरे सौभाग्यसे आप यहाँ पधारे यह

---

१ धरणीजड़ः ख०, ल० । २ कस्येत्यायत्तसंशयम् क०, घ० । कस्येत्यायत्तसंशयः ल० । ३ द्विजः ग० । ४ धरिडीजडं ल० ।

इति पृष्ट्वा प्रतोष्यैनं स्नानवस्त्रासनादिभिः । स्वजात्युद्भेदभीतत्वात् सम्यक् तस्य मनोऽग्रहीत् ॥३३५॥
सोऽपि विप्रोऽतिदारिद्र्याभिद्रुतः पुत्रमेव तम् । प्रतिपद्याचरत्यायो नार्थिनां स्थितिपालनम् ॥३३६॥
दिनानि कानिचिद्यातान्येवं संवृतवृत्तयोः । तयोः कदाचित् विप्रं सत्यभामाधनार्चितम् ॥ ३३७ ॥
अप्राक्षीत्परोक्षेऽयं किं सत्यं ब्रूत वः सुतः । एतत्कुत्सितचारित्रान्न प्रत्येमीति पुत्रताम् ॥ ३३८॥
स सुवर्णवसुर्गेहं यियासुश्चेतसा द्विषन्[1] । गदित्वाऽगाद्यथावृत्तं दुष्टानां नास्ति दुष्करम् ॥ ३३९॥
अथ तन्नगराधीशः श्रीषेणः सिंहनन्दिताऽ- । निन्दिता च प्रिये तस्य तयोरिन्द्रेन्दुसन्निभौ ॥ ३४० ॥
इन्द्रोपेन्द्रादिसेनान्तौ तनूजौ मनुजोत्तमौ । ताभ्यामतिविनीताभ्यां पितरः प्रीतिमागमन् ॥ ३४१ ॥
पापस्वपतिना सत्यभामा सान्वयमानिनी । सहवासमनिच्छन्ती भूपतिं शरणं गता ॥ ३४२ ॥
ततः [2]कापिलकं शोकान्मस्तकन्यस्तहस्तकम् । स्वोपान्तोपेतमन्यायघोषणं कृतकद्विजम् ॥ ३४३ ॥
वीक्ष्य [3]विज्ञातवृत्तान्तं स श्रीषेणमहीपतिः । पापिष्ठानां विजातीनां नाकार्यं नाम किञ्चन ॥ ३४४ ॥
एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वन्ति संग्रहम् । आदिमध्यावसानेषु न ते यास्यन्ति विक्रियाम् ॥ ३४५ ॥
स्वयंरक्तो विरक्तायां योऽनुरागं प्रयच्छति । [4]हरिनीलमणौ वासौ तेजः काङ्क्षन्ति लोहितम् ॥ ३४६ ॥
इत्यादि चिन्तयन् सद्यस्तं दुराचारमात्मनः । देशाद्विराजरक्षार्थं धर्म्या न सहन्ते स्थितिक्षतिम् ॥ ३४७ ॥
कदाचिच्च महीपालः चारणद्वन्द्वमागतम् । प्रतीच्यादित्यगत्याख्यमरिञ्जयमपि स्वयम् ॥ ३४८ ॥

अच्छा किया इस प्रकार पूजकर स्नान वस्त्र आसन आदिसे उसे संतुष्ट किया और कहीं हमारी जातिका भेद खुल न जावे इस भयसे उसने उसके मनको अच्छी तरह ग्रहण कर लिया ॥ ३३२-३३५ ॥ दरिद्रतासे पीड़ित हुआ पापी ब्राह्मण भी कपिलको अपना पुत्र कहकर उसके साथ पुत्र जैसा व्यवहार करने लगा सो ठीक है क्योंकि स्वार्थी मनुष्योंकी मर्यादाका पालन नहीं होता ॥ ३३६ ॥ इस प्रकार अपने समाचारोंको छिपाते हुए उन पिता-पुत्रके कितने ही दिन निकल गये। एक दिन कपिलके परोक्षमें सत्यभामाने ब्राह्मणको बहुत-सा धन देकर पूछा कि आप सत्य कहिये। क्या यह आपका ही पुत्र है ? इसके दुश्चरित्रसे मुझे विश्वास नहीं होता कि यह आपका ही पुत्र है। धरिणीजट हृदयमें तो कपिलके साथ द्वेष रखता ही था और इधर सत्यभामाके दिये हुए सुवर्ण तथा धनको साथ लेकर घर जाना चाहता था इसलिए सब वृत्तान्त सच-सच कहकर घर चला गया सो ठीक ही है क्योंकि दुष्ट मनुष्योंके लिए कोई भी कार्य दुष्कर नहीं हैं ॥ ३३७-३३९ ॥

अथानन्तर उस नगरका राजा श्रीषेण था। उसके सिंहनन्दिता और अनिन्दिता नामकी दो रानियां थीं। उन दोनोंके इन्द्र और चन्द्रमाके समान सुन्दर मनुष्योंमें उत्तम इन्द्रसेन और उपेन्द्रसेन नामके दो पुत्र थे। वे दोनों ही पुत्र अत्यन्त नम्र थे अतः माता-पिता उनसे बहुत प्रसन्न रहते थे ॥ ३४०-३४१ ॥ सत्यभामाको अपने वंशका अभिमान था अतः वह अपने पापी पतिके साथ सहवासकी इच्छा न रखती हुई राजाकी शरण गई ॥ ३४२ ॥ उस समय अन्यायकी घोषणा करने वाला वह बनावटी ब्राह्मण कपिल राजाके पास ही बैठा था, शोकके कारण उसने अपना हाथ अपने मस्तक पर लगा रक्खा था, उसे देखकर और उसका सब हाल जानकर श्रीषेण राजाने विचार किया कि पापी विजातीय मनुष्योंको संसारमें न करने योग्य कुछ भी कार्य नहीं है। इसीलिए राजा लोग ऐसे कुलीन मनुष्योंका संग्रह करते हैं जो आदि मध्य और अन्तमें कभी भी विकारको प्राप्त नहीं होते ॥ ३४३-३४५ ॥ जो स्वयं अनुरक्त हुआ पुरुष विरक्त स्त्रीमें अनुरागकी इच्छा करता है वह इन्द्रनील मणिमें लाल तेजकी इच्छा करता है ॥ ३४६ ॥ इत्यादि विचार करते हुए राजाने उस दुराचारीको शीघ्र ही अपने देशसे निकाल दिया सो ठीक ही है क्योंकि धर्मात्मा पुरुष मर्यादाकी हानिको सहन नहीं करते ॥ ३४७ ॥ किसी एक दिन राजाने घर पर आये हुए आदित्यगति और अरिञ्जय नामके दो चारण मुनियोंको पडिगाह कर स्वयं आहार दान दिया, पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये

---

१ द्विषं ग०, ल० । २ कपिलकं क०, ख०, ग०, घ०, । ३ विज्ञान ल० । ४ हरिन्नील ल० ।

दत्वाऽनदानमेताभ्यामवाप्याश्चर्यपञ्चकम् । उदक्कुर्वायुरग्रन्थात्[1] दशाङ्गतरुभागदम् ॥ ३४९॥
देव्यौ दानानुमोदेन सत्यभामा च सक्रिया । तदेवायुरबापुस्ताः किं न स्यात्साधुसङ्गमात् ॥ ३५० ॥
अथ कौशाम्ब्यधीशस्य महाबलमहीपतेः । श्रीमत्याश्च सुता नाम्ना श्रीकान्ता कान्ततावधिः ॥३५१ ॥
राजा तामिन्द्रसेनस्य विवाहविधिना ददौ । तया सहागतानन्तमतिः सामान्यकामिनी ॥ ३५२ ॥
एतयोपेन्द्रसेनस्य साङ्गत्यं स्नेहनिर्भरम् । अभूदभूच्च तद्वेतोस्तयोरुद्यानवर्तिनोः ॥ ३५३ ॥
युद्धोद्यमस्तदाकर्ण्य तौ निवारयितुं नृपः । गत्वा कामातुरौ क्रुद्धावसमर्थः प्रियात्मजः ॥३५४ ॥
सोढुं तनुजयोर्दुःखमार्द्राशयतया स्वयम् । अशक्नुवन् समाघ्राय विषपुष्पं मृतिं ययौ ॥ ३५५ ॥
तदेव पुष्पमाघ्राय [2]समीयुर्विगतासुताम् । तद्देव्यौ सत्यभामा च विचित्रा विधिचोदना ॥ ३५६ ॥
धातकीखण्डपूर्वार्द्धकुरुपूत्तरनामसु । दम्पती नृपतिः सिंहनन्दिता च बभूवतुः ॥ ३५७ ॥
अभूदनिन्दिताऽऽर्योऽयं सत्यभामा च वल्लभा । तस्थुः सर्वेऽपि ते तत्र भोगभूभोगभागिनः ॥३५८॥
अथ कश्चित्खगो मध्ये प्रविश्य नृपपुत्रयोः । वृथा किमिति युद्धयेतामनुजा युवयोरियम् ॥ ३५९ ॥
इत्याह तद्वचः श्रुत्वा कुमाराभ्यां सविस्मयम् । कथं तदिति सम्पृष्टः प्रत्याह गगनेचरः ॥ ३६० ॥
धातकीखण्डप्राग्भाग[3]मन्दरप्राच्यपुष्कला-। वती खगाद्र्यपाक्श्रेणीगतादित्याभपूर्भुजः ॥ ३६१ ॥
तनूजो मित्रसेनायां सुकुण्डलिखगेशिनः । मणिकुण्डलनामाहं कदाचित्पुण्डरीकिणीम् ॥ ३६२ ॥
गतोऽमितप्रभार्हद्भ्यः श्रुत्वा धर्मं सनातनम् । मत्पूर्वं भवसम्बन्धमप्राक्षमवदंश्च ते ॥ ३६३ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

और दश प्रकारके कल्पवृक्षोंके भोग प्रदान करने वाली उत्तरकुरुकी आयु बांधी। राजाकी दोनों रानियोंने तथा उत्तम कार्य करनेवाली सत्यभामाने भी दानकी अनुमोदनासे उसी उत्तरकुरुकी आयुका बन्ध किया सो ठीक ही है क्योंकि साधुओंके समागमसे क्या नहीं होता ? ॥ ३४८–३५० ॥

अथानन्तर कौशाम्बी नगरी में राजा महाबल राज्य करते थे, उनकी श्रीमती नामकी रानी थी और उन दोनोंके श्रीकान्ता नामकी पुत्री थी। वह श्रीकान्ता मानो सुन्दरताकी सीमा ही थी ॥ ३५१ ॥ राजा महाबलने वह श्रीकान्ता विवाहकी विधिपूर्वक इन्द्रसेनके लिए दी थी। श्रीकान्ताके साथ अनन्तमति नामकी एक साधारण स्त्री भी गई थी। उसके साथ उपेन्द्रसेनका स्नेहपूर्ण समागम हो गया और इस निमित्तको लेकर बगीचामें रहनेवाले दोनों भाइयोंमें युद्ध होनेकी तैयारी हो गई। जब राजाने यह समाचार सुना तब वे उन्हें रोकनेके लिए गये परन्तु वे दोनों ही कामी तथा क्रोधी थे अतः राजा उन्हें रोकनेमें असमर्थ रहे। राजाको दोनों ही पुत्र अत्यन्त प्रिय थे। साथ ही उनके परिणाम अत्यन्त आर्द्र–कोमल थे अतः वे पुत्रोंका दुःख सहनमें समर्थ नहीं हो सके। फल यह हुआ कि वे विष-पुष्प सूँघ कर मर गये ॥ ३५२–३५५ ॥ वही विष-पुष्प सूँघकर राजाकी दोनों स्त्रियाँ तथा सत्यभामा भी प्राणरहित हो गईं सो ठीक ही है क्योंकि कर्मोंकी प्रेरणा विचित्र होती है ॥ ३५६ ॥ धातकीखण्डके पूर्वार्ध भागमें जो उत्तरकुरु नामका प्रदेश है उसमें राजा तथा सिंहनन्दिता दोनों दम्पती हुए और अनिन्दिता नामकी रानी आर्य तथा सत्यभामा उसकी स्त्री हुई। इस प्रकार वे सब वहाँ भोगभूमिके भोग भोगते हुए सुखसे रहने लगे ॥ ३५७–३५८ ॥

अथानन्तर कोई एक विद्याधर युद्ध करनेवाले दोनों भाइयोंके बीच प्रवेश कर कहने लगा कि तुम दोनों व्यर्थ ही क्यों युद्ध करते हो ? यह तो तुम्हारी छोटी बहिन है। उसके वचन सुनकर दोनों कुमारोंने आश्चर्यके साथ पूछा कि यह कैसे ? उत्तरमें विद्याधरने कहा ॥ ३५९–३६० ॥ कि धातकीखण्ड द्वीपके पूर्वभागमें मेरुपर्वतसे पूर्वकी ओर एक पुष्कलावती नामका देश है। उसमें विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणी पर आदित्याभ नामका नगर है। उसमें सुकुण्डली नामका विद्याधर राज्य करता है। सुकुण्डलीकी स्त्रीका नाम मित्रसेना है। मैं उन दोनोंका मणिकुण्डल नामका पुत्र हूँ। मैं किसी समय पुण्डरीकिणी नगरी गया था, वहाँ अमितप्रभ जिनेन्द्रसे सनातनधर्मका स्वरूप

१ –ग्रन्थत् ग०।–ग्रस्थान् ल० । २ समापुर्विगतासुताम् ख० । समीयुर्विगतासुकाम् ल० । ३ प्राग्भागे ख० ।

तृतीये पुष्कराख्यातद्वीपऽपरसुराचलात् । प्रतीच्यां वीतशोकाख्यं सरिद्विषयमध्यगम् ॥ ३६४ ॥
पुरं चक्रध्वजस्तस्य पतिः कनकमालिका । देवी कनकपद्माद्यिलते जाते तयोः सुते ॥ ३६५ ॥
विद्युन्मत्याश्च तस्यैव देव्याः पद्मावती सुता । याति काले सुखं तेषां कदाचित्काललब्धितः ॥ ३६६ ॥
प्रपीतामितसेनाख्यागणिनीवाग्रसायना । सुते कनकमाला च कल्पेऽजनिषतादिमे ॥ ३६७ ॥
सुराः पद्मावती वीक्ष्य गणिकां कामुकद्वयम् । प्रसाध्यमानां तच्चित्ताऽभूत्तत्र सुरलज्जिका ॥ ३६८॥
ततः कनकमालैत्य त्वमभूर्मणिकुण्डली । सुताद्वयं च तद्रत्नपुरेऽभूतां नृपात्मजौ ॥ ३६९ ॥
स्वश्च्युत्वाऽनन्तमत्याख्या सुतेनाद्याजायत । तद्धेतोर्वर्तते युद्धमद्य तद्राजसुतयोः ॥ ३७० ॥
इति जैनीमिमां वाणीमाकर्ण्यान्यायकारिणौ । युवामज्ञातधर्माणौ निषेद्धुमहमागतः ॥ ३७१ ॥
इति तद्वचनाद्गीतकलहौ जातसंविदौ । सद्यः सम्भूतनिर्वेगौ सुधर्मगुरुसन्निधौ ॥ ३७२ ॥
दीक्षामादाय निर्वाणमार्गपर्यन्तगामिनौ । क्षायिकानन्तबोधादिगुणौ निर्वृतिमापतुः ॥ ३७३ ॥
तदानन्तमतिश्चान्तः[1] सम्पूर्णश्रावकव्रता । नाकलोकमवापाप्यं न किं वा सदनुग्रहात् ॥ ३७४ ॥
सौधर्मकल्पे श्रीषेणो विमाने श्रीप्रभोऽ[2]भवत् । देवी श्रीनिलयेऽविद्युत्प्रभाऽभूत् सिंहनन्दिता ॥ ३७५ ॥
ब्राह्मण्यनिन्दिते चास्तां विमाने विमलप्रभे । देवी शुक्लप्रभा नाम्ना देवोऽत्र विमलप्रभः ॥ ३७६ ॥
पञ्चपल्योपमप्रान्ते श्रीषेणः प्रच्युतस्ततः । अर्ककीर्तेः सुतः श्रीमानजनिष्टा[3]स्वमीदृशः ॥ ३७७ ॥
[4]तव ज्योतिःप्रभा कान्ताऽजनि सा सिंहनन्दिता । आसीदनिन्दिता चायं देवी श्रीविजयाह्वयः ॥३७८॥

सुनकर मैंने अपने पूर्वभव पूछे। उत्तरमें वे कहने लगे—॥ ३६१–३६३ ॥ कि तीसरे पुष्करवर द्वीपमें पश्चिम मेरुपर्वतसे पश्चिमकी ओर सरिद् नामका एक देश है। उसके मध्यमें वीतशोक नामका नगर है। उसके राजाका नाम चक्रध्वज था, चक्रध्वजकी स्त्रीका नाम कनकमालिका था। उन दोनोंके कनकलता और पद्मलता नामकी दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं ॥ ३६४–३६५ ॥ उसी राजाकी एक विद्युन्मति नामकी दूसरी रानी थी उसके पद्मावती नामकी पुत्री थी। इस प्रकार इन सबका समय सुखसे बीत रहा था। किसी दिन काललब्धिके निमित्तसे रानी कनकमाला और उसकी दोनों पुत्रियोंने अमितसेना नामकी गणिनीके वचनरूपी रसायनका पान किया जिससे वे तीनों ही मरकर प्रथम स्वर्गमें देव हुए। इधर पद्मावतीने देखा कि एक वेश्या दो कामियोंको प्रसन्न कर रही है उसे देख पद्मावतीने भी वैसे ही होनेकी इच्छा की। मरकर वह स्वर्गमें अप्सरा हुई ॥ ३६६–३६८ ॥ तदनन्तर कनकमालाका जीव, वहाँसे चयकर मणिकुण्डली नामका राजा हुआ है और दोनों पुत्रियोंके जीव रत्नपुर नगरमें राजपुत्र हुए हैं। जिस अप्सराका उल्लेख ऊपर आ चुका है वह स्वर्गसे चय कर अनन्तमति हुई है। इसी अनन्तमतिको लेकर आज तुम दोनों राजपुत्रोंका युद्ध हो रहा है ॥ ३६९–॥ ३७० ॥ इस प्रकार जिनेन्द्रदेवकी कही हुई वाणी सुनकर, अन्याय करने वाले और धर्मको न जाननेवाले तुम लोगोंको रोकनेके लिए मैं यहाँ आया हूँ ॥ ३७१ ॥ इस प्रकार विद्याधरके वचनोंसे दोनोंका कलह दूर हो गया, दोनोंको आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया, दोनोंको शीघ्र ही वैराग्य उत्पन्न हो गया, दोनोंने सुधर्मगुरुके पास दीक्षा ले ली, दोनों ही मोक्षमार्गके अन्त तक पहुँचे, दोनों ही क्षायिक अनन्तज्ञानादि गुणोंके धारक हुए और दोनों ही अन्तमें निर्वाणको प्राप्त हुए ॥३७२–३७३॥ तथा अनन्तमतिने भी हृदयमें श्रावकके सम्पूर्ण व्रत धारण किये और अन्तमें स्वर्गलोक प्राप्त किया सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंके अनुग्रहसे कौन सी वस्तु नहीं मिलती ? ॥ ३७४ ॥ राजा श्रीषेणका जीव भोगभूमिसे चलकर सौधर्म स्वर्गके श्रीप्रभ विमानमें श्रीप्रभ नामका देव हुआ, रानी सिंहनन्दिताका जीव उसी स्वर्गके श्रीनिलय विमानमें विद्युत्प्रभा नामकी देवी हुई ॥ ३७५ ॥ सत्यभामा ब्राह्मणी और अनिन्दिता नामकी रानीके जीव क्रमशः विमलप्रभ विमानमें शुक्लप्रभा नामकी देवी और विमलप्रभ नामके देव हुए ॥३७६॥ राजा श्रीषेणका जीव पांच पल्य प्रमाण आयुके अन्तमें वहाँसे चय कर इस तरहकी लक्ष्मीसे सम्पन्न तू अर्ककीर्तिका पुत्र हुआ है ॥ ३७७ ॥ सिंहनन्दिता तुम्हारी

---

१ तदानन्तमतिश्चाऽ ख०, ग० । २ श्रीप्रभेऽभवत् ङ० । ३–नजनिष्ट–ङ० । ४ तव द्योतिः क०, घ०, । भवज्ज्योतिः ङ० ।

सत्यभामा सुतारोऽभूत्प्राक्तनः कपिलः खलः । सुचिरं दुर्गतिं भ्रात्वा संभूतरमणे वने ॥ ३७९ ॥
ऐरावतीनदीतीरे समभूत्तापसाश्रमे । सुतश्चपलवेगायां कौशिकान्मृगशृङ्गवाक् ॥ ३८० ॥
कुतापसव्रतं दीर्घमनुष्ठाय दुराशयः । श्रियं चपलवेगस्य विलोक्य खचरेशिनः ॥ ३८१ ॥
निदानं मनसा मूढो विधाय बुधनिन्दितम् । जनित्वाऽशनिघोषोऽयं सुतारां स्नेहतोऽग्रहीत् ॥३८२॥
भवे भाव्यत्र नवमे पञ्चमश्चक्रवर्तिनाम् । [1]तीर्थेशां षोडशः शान्तिर्भवान् शान्तिप्रदः सताम् ॥३८३॥
इति जिनेशशीतांशुवचोज्योत्स्नासरत्प्रभाप्राग्भारादभ्यकसत्खेचरेन्द्रहृत्कुमुदाकरः ॥ ३८४ ॥
तदैवाशनिघोषाख्यो माता चास्य स्वयम्प्रभा । सुतारा च परे [2]वापन्निर्विण्णाः संयमं परम् ॥ ३८५ ॥
अभिनन्द्य जिनं सर्वे त्रिःपरीत्य यथोचितम् । जग्मुश्चक्रितनूजाद्यास्ते सहामिततेजसा ॥ ३८६ ॥
अर्ककीर्तिसुतः कुर्वन्नभुक्तिं सर्वपर्वसु । स्थितिभेदे च तद्योग्यं प्रायश्चित्तं समाचरन् ॥ ३८७ ॥
महापूजां सदा कुर्वन् पात्रदानादि चादरात् । दद्धर्मकथां शृण्वन् भव्यान् धर्मं प्रबोधयन् ॥ ३८८ ॥
निःशङ्कादिगुणांस्तन्वन्दृष्टिमोहानपोहयन् । [3]इनो वाऽमिततेजाः सन् सुखप्रेक्ष्योऽमृतांशुवत् ॥३८९॥
संयमीव शमं यातः पालकः पितृवत्प्रजाः । लोकद्वयहितं धर्म्यं कर्म प्रावर्तयत्सदा ॥ ३९० ॥
प्रज्ञप्तिकामरूपिण्यावथाग्निस्तम्भिनी परा । उदकस्तम्भिनी विद्या विद्या विश्वप्रवेशिनी ॥ ३९१ ॥
अप्रतीघातगामिन्या सहान्याकाशगामिनी । उत्पादिनी पराविद्या सा वशीकरणी श्रुता[4] ॥३९२॥
आवेशिनी दशम्यन्या मान्या प्रस्थापनीति च । प्रमोहनी प्रहरणी संग्रामण्याख्ययोदिता ॥३९३॥
आवर्तनी संग्रहणी भञ्जनी च विपाटनी । प्रावर्तनी प्रमोदिन्या सहान्यापि प्रहापणी ॥३९४॥

ज्योतिःप्रभा नामकी स्त्री हुई है, देवी अनिन्दिताका जीव श्रीविजय हुआ है, सत्यभामा सुतारा हुई है और पहलेका दुष्ट कपिल चिरकाल तक दुर्गतियोंमें भ्रमण कर संभूतरमण नामके वनमें ऐरावती नदीके किनारे तापसियोंके आश्रममें कौशिक नामक तापसकी चपलवेगा स्त्रीसे मृगशृङ्ग नामका पुत्र हुआ है ॥ ३७८–३८० ॥ वहाँ पर उस दुष्टने बहुत समय तक खोटे तापसियोंके व्रत पालन किये । किसी एक दिन चपलवेग विद्याधरकी लक्ष्मी देखकर उस मूर्खने मनमें, विद्वान् जिसकी निन्दा करते हैं ऐसा निदान बन्ध किया । उसीके फलसे यह अशनिघोष हुआ है और पूर्व स्नेहके कारण ही इसने सुताराका हरण किया है ॥ ३८१–३८२ ॥ तेरा जीव आगे होनेवाले नौवें भवमें सज्जनोंको शान्ति देनेवाला पाँचवाँ चक्रवर्ती और शान्तिनाथ नामका सोलहवाँ तीर्थंकर होगा ॥ ३८३ ॥ इस प्रकार जिनेन्द्ररूपी चन्द्रमाकी फैली हुई वचनरूपी चाँदनीकी प्रभाके सम्बन्धसे विद्याधरोंके इन्द्र अमिततेजका हृदयरूपी कुमुदोंसे भरा सरोवर खिल उठा ॥ ३८४ ॥ उसी समय अशनिघोष, उसकी माता स्वयम्प्रभा, सुतारा तथा अन्य कितने ही लोगोंने विरक्त होकर श्रेष्ठ संयम धारण किया ॥ ३८५ ॥ चक्रवर्तीके पुत्रको आदि लेकर बाकीके सब लोग जिनेन्द्र भगवान्की स्तुति कर तथा तीन प्रदक्षिणाएँ देकर अमिततेजके साथ यथायोग्य स्थान पर चले गये ॥ ३८६ ॥ इधर अर्ककीर्तिका पुत्र अमिततेज समस्त पर्वोंमें उपवास करता था, यदि कदाचित् ग्रहण किये हुए व्रतकी मर्यादाका भंग होता था तो उसके योग्य प्रायश्चित्त लेता था, सदा महापूजा करता था, आदरसे पात्रदानादि करता था, धर्म-कथा सुनता था, भव्योंको धर्मोपदेश देता था, निःशङ्कित आदि गुणोंका विस्तार करता था, दर्शनमोहको नष्ट करता था, सूर्यके समान अपरिमित तेजका धारक था और चन्द्रमाके समान सुखसे देखने योग्य था ॥ ३८७–३८९ ॥ वह संयमीके समान शान्त था, पिताकी तरह प्रजाका पालन करता था और दोनों लोकोंके हित करनेवाले धार्मिक कार्योंकी निरन्तर प्रवृत्ति रखता था ॥ ३९० ॥ प्रज्ञप्ति, कामरूपिणी, अग्निस्तम्भिनी, उदकस्तम्भिनी, विश्वप्रवेशिनी, अप्रतिघातगामिनी, आकाशगामिनी, उत्पादिनी, वशीकरणी, दशमी, आवेशिनी, माननीयप्रस्थापिनी, प्रमोहनी, प्रहरणी, संक्रामणी, आवर्तनी, संग्रहणी, भंजनी, विपाटिनी, प्रावर्तकी, प्रमोदिनी,

---

१ तीर्थेशः ख० । २ चापन्निर्विण्णाः ख०, ग० । ३ सूर्य इव । ४ स्तुता ख० ।

प्रभावती प्रलापिन्या निक्षेपिण्या च या स्मृता । [1]शबरी परा चाण्डाली मातङ्गीति च कीर्तिता ॥३९५॥
गौरी षडङ्गिका श्रीमत्कन्या च शतसंकुला । कुभाण्डीति च विख्याता तथा विरलवेगिका ॥३९६॥
रोहिण्यतो मनोवेगा महावेगाह्वयापि च । चण्डवेगा सचपलवेगा लघुकरीति च ॥ ३९७ ॥
पर्णलघ्वाख्यका वेगावतीति प्रतिपादिता । शीतोष्णदे च वेताल्यौ महाज्वालाभिधानिका ॥३९८॥
छेदनी सर्वविद्यानां युद्धवीर्येति चोदिता । बन्धानां मोचनी चोक्ता [2]प्रहारावरणी तथा ॥३९९॥
भ्रामर्यां भोगिनीत्यादिकुलजातिप्रसाधिता । विद्यास्तासामयं पारं गत्वा योगीव निर्बभौ ॥४००॥
श्रेणीद्वयाधिपत्येन विद्याधरधराधिपः । प्राप्य तच्चक्रवर्तित्वं चिरं भोगानभुङ्क्त सः ॥ ४०१ ॥
कदाचित्खचराधीशश्चारणाय यथाविधि । दानं दमवराख्याय दत्वाऽऽपाश्चर्यपञ्चकम् ॥ ४०२ ॥
अन्यदाऽमिततेजःश्रीविजयौ विनताननौ । नत्वाऽमरगुरुं देवगुरुं च मुनिपुङ्गवम्[3] ॥ ४०३ ॥
दृष्ट्वा धर्मस्य याथात्म्यं[4] पीत्वा तद्वचनामृतम् । अजरामरतां प्राप्ताविव तोषमुपेयतुः ॥ ४०४ ॥
पुनः श्रीविजयोऽप्राक्षीद्भवसम्बन्धमात्मनः । पितुः स भगवान् प्राह प्रथमः[5] प्रास्तकल्मषः ॥४०५॥
साकल्येन तदाख्यातं विश्वनन्दिभवादितः । समाकर्ण्य तदाख्यानं भोगे कृतनिदानकः॥ ४०६ ॥
किञ्चित्कालं समासाद्य खभूचरसुखामृतम् । विपुलादिमतेः पार्श्वे विमलादिमतेश्च तौ ॥ ४०७ ॥
महीभुजा निशम्यैकमासमात्रात्मजीवितम् । दत्त्वाऽर्कतेजसे राज्यं श्रीदत्ताय च सादरम् ॥ ४०८ ॥
कृताष्टाह्निकसत्पूजौ मुनीशश्चन्दने वने । समीपे नन्दनाख्यस्य त्यक्त्वा सङ्गं तयोः खगेट् ॥४०९॥
प्रायोपगमसंन्यासविधिनाराध्य शुद्धधीः । नन्द्यावर्तेऽभवत्कल्पे रविचूलस्त्रयोदशे ॥ ४१० ॥
अभूच्छ्रीविजयोऽप्यत्र स्वस्तिके मणिचूलकः । विंशत्यब्ध्युपमायुष्यौ जीवितावसितौ ततः ॥ ४११ ॥

प्रहापणी, प्रभावती, प्रलापिनी, निक्षेपणी, शबरी, चांडाली, मातङ्गी, गौरी, षडङ्गिका, श्रीमत्कन्या, शतसंकुला, कुभाण्डी, विरलवेगिका, रोहिणी, मनोवेगा, महावेगा, चण्डवेगा, चपलवेगा, लघुकरी, पर्णलघु, वेगावती, शीतदा, उष्णदा, वेताली, महाज्वाला, सर्वविद्याछेदिनी, युद्धवीर्या, बन्धमोचनी, प्रहारावरणी, भ्रामरी, अभोगिनी इत्यादि कुल और जातिमें उत्पन्न हुई अनेक विद्याएँ सिद्ध कीं। उन सब विद्याओंका पारगामी होकर वह योगीके समान सुशोभित हो रहा ॥ ३९१–४०० ॥ दोनों श्रेणियोंका अधिपति होनेसे वह सब विद्याधरोंका राजा था और इसप्रकार विद्याधरोंका चक्रवर्तीपना पाकर वह चिरकाल तक भोग भोगता रहा ॥ ४०१ ॥ किसी एक दिन विद्याधरोंके अधिपति अमिततेजने दमवर नामक चारण ऋद्धिधारी मुनिको विधिपूर्वक आहार दान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ ४०२ ॥ किसी एक दिन अमिततेज तथा श्रीविजयने मस्तक झुकाकर अमरगुरु और देवगुरु नामक दो श्रेष्ठ मुनियोंको नमस्कार किया, धर्मका यथार्थ स्वरूप देखा, उनके वचनामृतका पान किया और ऐसा संतोष प्राप्त किया मानो अजर-अमरपना ही प्राप्त कर लिया हो ॥ ४०३–४०४ ॥ तदनन्तर श्रीविजयने अपने तथा पिताके पूर्वभवोंका सम्बन्ध पूछा जिससे समस्त पापोंको नष्ट करनेवाले पहले भगवान् अमरगुरु कहने लगे ॥ ४०५ ॥ उन्होंने विश्वनन्दीके भवसे लेकर समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। उसे सुनकर अमिततेजने भोगोंका निदानबन्ध किया ॥ ४०६ ॥ अमिततेज तथा श्रीविजय दोनोंने कुछ काल तक विद्याधरों तथा भूमि-गोचरियोंके सुखामृतका पान किया। तदनन्तर दोनोंने विपुलमति और विमलमति नामके मुनियोंके पास 'अपनी आयु एक मास मात्रकी रह गई है' ऐसा सुनकर अर्कतेज तथा श्रीदत्त नामके पुत्रोंके लिए राज्य दे दिया, बड़े आदरसे आष्टाह्निक पूजा की तथा नन्दन नामक मुनिराजके समीप चन्दनवनमें सब परिग्रहका त्याग कर प्रायोपगमन संन्यास धारण कर लिया। अन्तमें समाधिमरण कर शुद्ध बुद्धिका धारक विद्याधरोंका राजा अमिततेज तेरहवें स्वर्गके नन्द्यावर्त विमानमें रविचूल नामका देव हुआ और श्रीविजय भी इसी स्वर्गके स्वस्तिक विमानमें मणिचूल नामका देव हुआ। वहाँ दोनोंकी आयु बीस सागरकी थी। आयु समाप्त होने पर वहाँसे च्युत हुए ॥ ४०७–४११ ॥

---

१ शबरीया च ल० । २ प्रहाराचरणी ल० । ३ मुनिपुङ्गवौ ग० । ४ माहात्म्यं ल० । ५ प्रथमं ग० ।

द्वीपेऽस्मिन् प्राग्विदेहस्थविलसद्वत्सकावती । देशे प्रभाकरीपुर्यां पतिस्तिमितसागरः ॥ ४१२ ॥
देवी वसुन्धरा जातस्तयोरादित्यचूलवाक् । देवोऽपराजितः सूनुर्नन्द्यावतांद् दिवश्च्युतः ॥ ४१३ ॥
तस्यैवानुमतौ देव्यां मणिचूलोऽप्यभूत्सुतः । श्रीमाननन्तवीर्याख्यो दिविजः स्वस्तिकाच्च्युतः ॥ ४१४ ॥
कान्त्या कुवलयाह्लादात्तृष्णातापापनोदनात् । कलाधरत्वाज्जातः स्म जम्बूद्वीपविधूपमौ ॥ ४१५ ॥
पद्मानन्दकरौ [1]भास्वद्वपुषौ ध्वस्ततामसौ । नित्योदयौ जगन्नेत्रे तावास्तां वा दिवाकरौ ॥ ४१६ ॥
न वञ्चकौ कलावन्तौ सप्रतापौ न दाहकौ । करद्वयव्यपेतौ तौ सत्करौ रेजतुस्तराम् ॥ ४१७ ॥
नोपमानस्तयोः कामो रूपेणानङ्गतां गतः । नीत्या नान्योन्यजेतारौ गुरुशुक्रौ च तत्समौ ॥ ४१८ ॥
हीयते वर्द्धते चापि भास्करेण विनिर्मिता । वर्द्धते तत्कृता छाया वर्द्धमानस्य वा तरोः ॥ ४१९ ॥
न तयोर्विग्रहो यानं तथाप्यरिमहीभुजः । तत्प्रतापभयात्ताभ्यां स्वयं सन्धातुमुत्सुकाः ॥ ४२० ॥

उनमेंसे रविचूल नामका देव नन्द्यावर्त विमानसे च्युत होकर जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें स्थित वत्सकावती देशकी प्रभाकरी नगरीके राजा स्तिमितसागर और उनकी रानी वसुन्धराके अपराजित नामका पुत्र हुआ॥ मणिचूल देव भी स्वस्तिक विमानसे च्युत होकर उसी राजाकी अनुमति नामकी रानीसे अनन्तवीर्य नामका लक्ष्मीसम्पन्न पुत्र हुआ॥ ४१२–४१४॥ वे दोनों ही भाई जम्बूद्वीपके चन्द्रमाओंके समान सुशोभित होते थे क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा कान्तिसे युक्त होता है उसी प्रकार वे भी उत्तम कान्तिसे युक्त थे, जिस प्रकार चन्द्रमा कुवलय–नील कमलोंको आह्लादित करता है उसी प्रकार वे भी कुवलय–पृथिवी-मण्डलको आह्लादित करते थे, जिस प्रकार चन्द्रमा तृष्ण–तृषा और आतापको दूर करता है। उसी प्रकार वे भी तृष्णा रूपी आताप–दुःखको दूर करते थे और जिस प्रकार चन्द्रमा कलाधर–सोलह कलाओंका धारक होता है उसी प्रकार वे भी अनेक कलाओं—अनेक चतुराइयोंके धारक थे॥४१५॥ अथवा वे दोनों भाई बालसूर्यके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार बालसूर्य पद्मानन्दकर–कमलोंको आनन्दित करनेवाला होता है उसी प्रकार वे दोनों भाई भी पद्मानन्दकर–लक्ष्मीको आनन्दित करनेवाले थे, जिस प्रकार बालसूर्य भास्वद्वपु—देदीप्यमान शरीरका धारक होता है उसी प्रकार वे दोनों भाई भी देदीप्यमान शरीरके धारक थे, जिस प्रकार बालसूर्य ध्वस्ततामस–अन्धकारको नष्ट करनेवाला होता है उसी प्रकार वे दोनों भाई भी ध्वस्ततामस–अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाले थे, जिस प्रकार बालसूर्य नित्योदय होते हैं—उनका उद्गमन निरन्तर होता रहता है उसी प्रकार वे दोनों भाई भी नित्योदय थे—उनका ऐश्वर्य निरन्तर विद्यमान रहता था और जिस प्रकार बालसूर्य जगन्नेत्र–जगच्चक्षु नामको धारण करनेवाले हैं उसी प्रकार वे दोनों भाई भी जगन्नेत्र–जगत्के लिए नेत्रके समान थे॥ ४१६॥ वे दोनों भाई कलावान् थे परन्तु कभी किसीको ठगते नहीं थे, प्रताप सहित थे परन्तु किसीको दाह नहीं पहुँचाते थे, दोनों करों—दोनों प्रकार के टैक्सोंसे (आयात और निर्यात करोंसे) रहित होनेपर भी सत्कार-उत्तम कार्य करनेवाले अथवा उत्तम हाथोंसे सहित थे इस प्रकार वे अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे॥ ४१७॥ रूपकी अपेक्षा उन्हें कामदेवकी उपमा नहीं दी जा सकती थी क्योंकि वह अशरीरताको प्राप्त हो चुका था तथा नीतिकी अपेक्षा परस्पर एक दूसरेको जीतनेवाले गुरु तथा शुक्र उनके समान नहीं थे। भावार्थ—लोकमें सुन्दरताके लिए कामदेवकी उपमा दी जाती है परन्तु उन दोनों भाइयोंके लिए कामदेवकी उपमा संभव नहीं थी क्योंकि वे दोनों शरीरसे सहित थे और कामदेव शरीरसे रहित था। इसी प्रकार लोकमें नीतिविज्ञताके लिए गुरु—बृहस्पति और शुक्र–शुक्राचार्यकी उपमा दी जाती है परन्तु उन दोनों भाइयोंके लिए उनकी उपमा लागू नहीं होती थी क्योंकि गुरु और शुक्र परस्पर एक दूसरेको जीतनेवाले थे परन्तु वे दोनों परस्परमें एकदूसरेको नहीं जीत सकते थे॥४१८॥ सूर्यके द्वारा रची हुई छाया कभी घटती है तो कभी बढ़ती है परन्तु उन दोनों भाइयोंके द्वारा की हुई छाया बढ़ते हुए वृक्षकी छायाके समान निरन्तर बढ़ती ही रहती है॥ ४१९॥ वे न कभी युद्ध

---

१ ताम्यद्वपुषौ ब०।

अवर्द्धियातां तावेवं राज्यलक्ष्मीकटाक्षगौ । नवं वयः समासाद्य शुक्लाष्टम्यसृतांशुवत् ॥ ४२१ ॥
पर्यायो राज्यभोग्यस्य योग्ययोर्मत्तनूजयोः । इतीव रतिमच्छैत्सीद्भोगेष्वेतत्पिताऽन्यदा ॥४२२ ॥
तदैव तौ समाहूय कुमारावमरोपमौ । अभिषिच्यार्पयद्राज्यं यौवराज्यं च सोऽस्पृहः ॥ ४२३ ॥
स्वयं स्वयम्प्रभाख्यानजिनपादोपसेवनम् । संयमेन समासाद्य धरणेन्द्रर्द्धिदर्शनात् ॥ ४२४ ॥
निदानदूषितो बालतपा लोलुतया सुखे । स्वकालान्ते विशुद्धात्मा जगाम धरणेशिताम् ॥ ४२५ ॥
[1]तत्पदे तौ समासाद्य बीजमूलाङ्कराविव । नीतिवारीपरीषेकात्सुभूमौ वृद्धिमीयतुः ॥ ४२६ ॥
अभ्युद्यतास्तयोः पूर्वं सप्रतापनयांशवः । आक्रम्य मस्तके चक्रुरास्पदं सर्वभूभृताम् ॥ ४२७ ॥
लक्ष्म्यौ नवे युवानौ यौ तत्प्रीतिः समसंगमात् । भोगासक्तिं व्यधाद्गाढं तयोरुद्भूतपुण्ययोः ॥४२८॥
नर्तकी बर्बरीत्येका ख्यातान्या च चिलातिका । नृत्यविद्येव सामर्थ्याद् रूपद्वयमुपागता ॥ ४२९ ॥
भूपती तौ तयोर्नृत्यं कदाचिज्जातसम्मदौ । विलोकमानावासीनावागमन्नारदस्तदा ॥ ४३० ॥
सूर्याचन्द्रमसौ तौहिकेतो वा जनिताशुभः । तत्रासक्तकुमाराभ्यां क्रूरः सोऽविहितादरः ॥ ४३१ ॥
जाज्वल्यमानकोपाग्निशिखासंसमातसः । चण्डांशुरिव [2]मध्याह्ने जज्वाल शुचिसङ्गमात् ॥ ४३२ ॥
स तदैव सभामध्यान्निर्गत्य कलहप्रियः । द्राक्प्रापत्कोपवेगेन नगरे शिवमन्दिरे ॥ ४३३ ॥

करते थे और न कभी शत्रुओं पर चढ़ाई ही करते थे फिर भी शत्रु राजा उन दोनोंके साथ सदा सन्धि करनेके लिए उत्सुक बने रहते थे ॥ ४२० ॥ इस तरह जिन्हें राज्य-लक्ष्मी अपने कटाक्षोंका विषय बना रही है ऐसे वे दोनों भाई नवीन अवस्थाको पाकर शुक्लपक्षकी अष्टमीके चन्द्रमाके समान बढ़ते ही रहते थे ॥ ४२१ ॥ 'अब मेरे दोनों योग्य पुत्रोंकी अवस्था राज्यका उपभोग करनेके योग्य हो गई, ऐसा विचार कर किसी एक दिन इनके पिताने भोगोंमें प्रीति करना छोड़ दिया ॥ ४२२ ॥ उसी समय इच्छा रहित राजाने देव तुल्य दोनों भाइयोंको बुलाकर उनका अभिषेक किया तथा एकको राज्य देकर दूसरेको युवराज बना दिया ॥ ४२३ ॥ तथा स्वयं, स्वयंप्रभ नामक जिनेन्द्र-के चरणोंके समीप जाकर संयम धारण कर लिया। धरणेन्द्रकी ऋद्धि देखकर उसने निदान बन्ध किया। उससे दूषित होकर बालतप करता रहा। वह सांसारिक सुख प्राप्त करनेका इच्छुक था। आयुके अन्तमें विशुद्ध परिणामोंमें मरा और धरणेन्द्र अवस्थाको प्राप्त हुआ ॥ ४२४-४२५ ॥

इधर जिस प्रकार उत्तम भूमिमें बीज तथा उससे उत्पन्न हुए अंकुर जलके सिंचनसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार वे दोनों भाई राज्य तथा युवराजका पद पाकर नीति रूप जलके सिंचनसे वृद्धिको प्राप्त हुए ॥ ४२६ ॥ जिस प्रकार सूर्यकी तेजस्वी किरणें प्रकट होकर सबसे पहले समस्त पर्वतोंके मस्तकों-शिखरों पर अपना स्थान जमाती हैं उसी प्रकार उन दोनों भाइयोंकी प्रकट हुई प्रतापपूर्ण नीतिकी किरणोंने आक्रमण कर सर्व-प्रथम समस्त राजाओंके मस्तकों पर अपना स्थान जमाया था ॥ ४२७ ॥ जिनका पुण्य प्रकट हो रहा है ऐसे दोनों भाइयोंकी राजलक्ष्मियाँ नई थीं और स्वयं भी दोनों तरुण थे इसलिए सदृश समागमके कारण उनमें जो प्रीति उत्पन्न हुई थी उसने उनकी भोगासक्तिको ठीक ही बढ़ा दिया था ॥ ४२८ ॥ उनके बर्बरी और चिलातिका नामकी दो नृत्यकारिणी थीं जो ऐसी जान पड़ती थीं मानों नृत्य-विद्याने ही अपनी सामर्थ्यसे दो रूप धारण कर लिये हों ॥ ४२९ ॥ किसी एक दिन दोनों राजा बड़े हर्षके साथ उन नृत्यकारिणियोंका नृत्य देखते हुए सुखसे बैठे थे कि उसी समय नारदजी आ गये ॥ ४३० ॥ दोनों भाई नृत्य देखनेमें आसक्त थे अतः नारदजीका आदर नहीं कर सके। वे क्रूर तो पहलेसे ही थे इस प्रकरणसे उनका अभिप्राय और भी खराब हो गया। वे उन दोनों भाइयोंके समीप आते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो सूर्य और चन्द्रमाके समीप राहु आ रहा हो। अत्यन्त जलती हुई क्रोधाग्निकी शिखाओंसे उनका मन संतप्त हो गया। जिस प्रकार जेठके महीनेमें दोपहरके समय सूर्य जलने लगता है उसी प्रकार उस समय नारदजी जल रहे थे—अत्यन्त कुपित हो रहे थे। कलहप्रेमी नारदजी उसी समय सभाके

---

१ तत्पदं क०, । २ मध्येह्नि ख० ।

दमितारिं [1]सभामध्ये सन्निविष्टं स्वविष्टरे । [2]अस्तमस्तकभास्वन्तमिव प्रपतनोन्मुखम् ॥ ४३४ ॥
सद्यो विलोक्य सोऽप्याशु प्रत्युत्थानपुरस्सरम् । प्रतिगृह्य प्रणम्योच्चैर्विष्टरे सन्निवेश्य तम् ॥ ४३५ ॥
दत्ताशिषं किमुद्दिश्य भवन्तो मामुपागताः । सम्पदं किं ममादेष्टुं प्राप्ताः किं वा महापदम् ॥ ४३६ ॥
इत्यप्राक्षीदसौ वास्य विकासिवदनाम्बुजः । सम्मदं जनयन् वाचमवोचत्प्रीतिवर्द्धिनीम् ॥ ४३७ ॥
सारभूतानि वस्तूनि तवान्वेष्टुं परिश्रमन् । नर्तकीद्वयमद्राक्षं प्रेक्षायोग्यं तवैव तत् ॥ ४३८ ॥
अस्थानस्थं समीक्ष्यैवमनिष्टं सोढुमक्षमः । आगतोऽहं कथं सह्यां पादे चूडामणिस्थितिः ॥ ४३९ ॥
सम्प्रत्यप्रतिमल्लौ वा नूतनश्रीमदोद्धतौ । प्रभाकरीपुराधीशौ व्यलीकविजिगीषुकौ ॥ ४४० ॥
सप्तव्यसनसंसक्तौ सुखोच्छेद्यौ प्रमादिनौ । तयोर्गृहे सुखग्राह्यं जगत्सारमवस्थितम् ॥ ४४१ ॥
तद्दूतप्रेषणादेव तवाद्यायाति हेलया । कालहानिर्न कर्तव्या हस्तासन्नेऽतिदुर्लभे ॥ ४४२॥
इत्येवं प्रेरितस्तेन सपापेन यमेन वा । दमितारिः समासन्नमरणः श्रवणं ददौ ॥ ४४३ ॥
तदैव नर्तकीवार्ताश्रुतिव्यामुग्धचेतनः । दूतं सोपायनं प्रस्तुतार्थसम्बन्धवेदिनम् ॥ ४४४ ॥
प्राहिणोद्वत्सकावत्याः महीशौ शौर्यशालिनौ । प्रति सोऽपि नृपादेशादन्तरेऽह्नान्यहापयन् ॥ ४४५ ॥
गत्वा जिनगृहे प्रोषधोपवाससमन्वितम् । अपराजितराजं च युवराजं च सुस्थितम् ॥ ४४६ ॥
दृष्ट्वाऽमात्यमुखाद्दूतो निवेदितनिजागमः । यथोचितं प्रदायाभ्यां स्वानीतोपायनं सुधीः ॥ ४४७॥
ज्वलत्यस्य प्रतापाग्निर्दिव्यायस्पिण्डभास्वरः । कृतदोषान् व्यलीकाभिमानिनो दहति द्रुतम् ॥४४८॥

बीचसे बाहर निकल आये और क्रोधजन्य वेगसे शीघ्र ही शिवमन्दिरनगर जा पहुँचे ॥४३१–४३३॥ वहाँ सभाके बीचमें राजा दमितारि अपने आसनपर बैठा था और ऐसा जान पड़ता था मानो अस्ताचलकी शिखरपर स्थित पतनोन्मुख सूर्य ही हो ॥ ४३४ ॥ उसने नारदजीको आता हुआ देख लिया अतः शीघ्र ही उठकर उनका पडिगाहन किया, प्रणाम किया और ऊँचे सिंहासनपर बैठाया ॥ ४३५ ॥ जब नारदजी आशीर्वाद देकर बैठ गये तब उसने पूछा कि आप क्या उद्देश्य लेकर हमारे यहाँ पधारे हैं ? क्या मुझे सम्पत्ति देनेके लिए पधारे हैं अथवा कोई बड़ा भारी पद प्रदान करनेके लिए आपका समागम हुआ है ? यह सुनकर नारदजीका मुखकमल खिल उठा। वे राजाको हर्ष उत्पन्न करते हुए प्रीति बढ़ानेवाले वचन कहने लगे ॥ ४३६–४३७ ॥ उन्होंने कहा कि हे राजन् ! मैं तुम्हारे लिए सारभूत वस्तुएँ खोजनेके लिए निरन्तर घूमता रहता हूँ। मैंने आज दो नृत्यकारिणी देखी हैं जो आपके ही देखने योग्य हैं ॥ ४३८ ॥ वे इस समय ठीक स्थानोंमें स्थित नहीं हैं। मैं ऐसी अनिष्ट बात सहनेके लिए समर्थ नहीं हूँ इसीलिए आपके पास आया हूँ, क्या कभी चूड़ामणिकी स्थिति चरणोंके बीच सहन की जा सकती है ? ॥ ४३९ ॥ इस समय जिनसे कोई लड़नेवाला नहीं है, जो नवीन लक्ष्मीके मदसे उद्धत हो रहे हैं और जो झूठमूठके ही विजिगीषु बने हुए हैं ऐसे प्रभाकरी नगरीके स्वामी राजा अपराजित तथा अनन्तवीर्य हैं। वे सप्त-व्यसनोंमें आसक्त होकर प्रमादी हो रहे हैं इसलिए सरलतासे नष्ट किये जा सकते हैं। संसारका सारभूत वह नृत्यकारिणियोंका जोड़ा उन्हींके घरमें अवस्थित है। उसे आप सुखसे ग्रहण कर सकते हैं, दूत भेजनेसे वह आज ही लीलामात्रमें तुम्हारे पास आ जावेगा इसलिए अत्यन्त दुर्लभ वस्तु जब हाथके समीप ही विद्यमान है तब समय बिताना अच्छा नहीं ॥ ४४०–४४२ ॥ इस प्रकार यमराजके समान पापी नारदने जिसे प्रेरणा दी है तथा जिसका मरण अत्यन्त निकट है ऐसा दमितारि नारदकी बातमें आ गया ॥ ४४३॥ नृत्यकारिणीकी बात सुनते ही उसका चित्त मुग्ध हो गया। उसने उसी समय वत्सकावती देशके पराक्रमी राजा अपराजित और अनन्तवीर्यके पास प्रकृत अर्थको निवेदन करनेवाला दूत भेंटके साथ भेजा। वह दूत भी राजाकी आज्ञासे बीचमें दिन नहीं बिताता हुआ—शीघ्र ही प्रभाकरीपुरी पहुँचा। उस समय दोनों ही भाई प्रोषधोपवासका व्रत लेकर जिनमंदिरमें बैठे हुए थे। उन्हें देखकर बुद्धिमान् दूतने मन्त्रीके मुखसे अपने आनेका समाचार भेजा और अपने साथ लाई हुई भेंट दोनों भाइयोंके लिए यथायोग्य समर्पण की ॥ ४४४–४४७ ॥ वह कहने लगा कि दिव्य लोहेके पिण्डके

---

१ सभास्थाने क०, ग० । २ अस्ताचलशिखरस्थितसूर्यमिव ।

तस्य नाम्नैव निर्भिन्नहृदयाः प्राकृतद्विषः । वमन्ति वैरमस्त्रं वा विनम्रा भयविह्वलाः ॥ ४४९ ॥
न सन्ति सहजास्तस्य शत्रवः शुद्धचेतसः । विभज्यान्वयजैर्विश्वैस्तद्राज्यं भुज्यते यतः ॥ ४५० ॥
कृत्रिमाः केन जायन्ते रिपवस्तस्य भूभुजः । मालेवाज्ञा हतावज्ञैरुह्यते यदि मूर्द्धभिः ॥ ४५१ ॥
विनम्रविश्वविद्येशमुकुटाग्रमणिस्विषा । स पादपीठपर्यन्ते विधत्ते धनुरामरम् ॥ ४५२ ॥
यशः कुन्देन्दुनिर्भासि तस्यारातिजयार्जितम् । कन्या गायन्ति दिग्दन्तिदन्तपर्यन्तके कलम् ॥ ४५३ ॥
दुर्दमा विद्विषस्तेन [1]दान्ता यन्त्रेव दन्तिनः । दमितारिति ख्यातिं सन्धत्तेऽन्वर्थपेशलम् ॥ ४५४ ॥
तस्य शौर्यानलो भस्मिताखिलारातिरिन्धनः । जाज्वलीति तथाप्यग्निकुमारामरभीषणः ॥ ४५५ ॥
प्रेषितः श्रीमता तेन देवेनाहं युवां प्रति । प्रीतये याचितुं तस्मादातव्यं नर्तकीद्वयम् ॥ ४५६ ॥
युष्मदीयं भुवि ख्यातं योग्यं तस्यैव तद्यतः । युवयोः स हि तद्दानात्सुप्रसन्नः फलिष्यति ॥ ४५७ ॥
इत्यब्रवीददः श्रुत्वा तमावासं प्रहित्य तौ । किं कार्यमिति पृच्छन्तौ स्थितावाहूय मन्त्रिणः ॥४५८॥
तयोः पुण्योदयात्सद्यस्तृतीयभवदेवताः । सुनिरूप्य स्वरूपाणि [2]ताः स्वयं समुपाश्रयन् ॥ ४५९ ॥
वयं युवाभ्यां संयोज्या [3]निजाभिप्रेतकर्मणि । [4]अस्थाने माकुलीभूतामित्याहुश्चाहितादराः ॥ ४६० ॥
श्रुत्वैतद्राज्यभारं स्वं निधाय निजमन्त्रिषु । नर्तकीवेषमादाय राज्ञाऽऽवां प्रेषिते ततः ॥ ४६१ ॥

समान देदीप्यमान राजा दमितारिकी प्रतापरूपी अग्नि निरन्तर जलती रहती है, वह अपराधी तथा झूठमूठके अभिमानी मनुष्योंको शीघ्र ही जला डालती है ॥ ४४८ ॥ उसका नाम लेते ही स्वभावसे बैरी मनुष्योंका हृदय फट जाता है। वे भयसे इतने विह्वल हो जाते हैं कि विनम्र होकर शीघ्र ही वैर तथा अस्त्र दोनों ही छोड़ देते हैं ॥ ४४९ ॥ उसका चित्त बड़ा निर्मल है, वह अपने वंशके सब लोगोंके साथ विभाग कर राज्यका उपभोग करता है इसलिए परिवारमें उत्पन्न हुए शत्रु उसके हैं ही नहीं ॥ ४५० ॥ जब तिरस्कारको न चाहनेवाले लोग उसकी आज्ञाको मालाके समान अपने मस्तक पर धारण करते हैं तब उस राजाके कृत्रिम शत्रु तो हो ही कैसे सकते हैं ? ॥ ४५१ ॥ वह अपने चरणपीठके समीप नम्रीभूत हुए समस्त विद्याधरोंके मुकुटके अग्रभागमें मणियोंकी किरणोंसे इन्द्र-धनुष बनाया करता है ॥ ४५२ ॥ शत्रुओंको जीतनेसे उत्पन्न हुआ उसका यश कुन्द पुष्प तथा चन्द्रमाके समान शोभायमान है, उसके ऐसे मनोहर यशको कन्याएँ दिग्गजोंके दाँतोंके समीप निरन्तर गाती रहती हैं ॥ ४५३ ॥ जिस प्रकार महावतोंके द्वारा बड़े-बड़े दुर्जेय हाथी वश कर लिये जाते हैं उसी प्रकार उसके द्वारा भी बड़े-बड़े दुर्जेय राजा वश कर लिये गये थे इसलिए उसका 'दमितारि' यह नाम सार्थक प्रसिद्धिको धारण करता है ॥ ४५४ ॥ यद्यपि उसकी प्रतापरूपी अग्निने समस्त शत्रुरूपी इन्धनको जला डाला है तो भी अग्निकुमारदेवके समान भयंकर दिखनेवाली उसकी प्रतापरूपी अग्नि निरन्तर जलती रहती है ॥ ४५५ ॥ उसी श्रीमान् दमितारि राजाने दोनों नृत्यकारिणियाँ माँगनेके लिए मुझे आपके पास भेजा है सो प्रीति बढ़ानेके लिए आपको अवश्य देना चाहिए ॥ ४५६ ॥ आपकी नृत्यकारिणियाँ पृथिवीमें प्रसिद्ध हैं अतः उसीके योग्य हैं। नृत्यकारिणियोंके देनेसे वह तुम दोनोंपर प्रसन्न होगा और अच्छा फल प्रदान करेगा। इस प्रकार उस दूतने कहा। राजाने उसे सुनकर दूतको तो विश्राम करनेके लिए भेजा और मन्त्रियोंको बुलाकर पूछा कि इस परिस्थितिमें क्या करना चाहिए ? ॥ ४५७-४५८ ॥ उनके पुण्य कर्मके उदयसे तीसरे भवकी विद्यादेवताएँ शीघ्र ही आ पहुँचीं और अपना स्वरूप दिखाकर स्वयं ही कहने लगीं कि हमलोग आपके द्वारा अपने इष्ट कार्यमें लगानेके योग्य हैं। आप लोग अस्थानमें व्यर्थ ही व्याकुल न हों—ऐसा उन्होंने बड़े आदरसे कहा ॥ ४५९-४६० ॥ देवताओंकी बात सुन दोनों भाइयोंने अपना राज्यका भार अपने मन्त्रियोंपर रखकर नर्तकियोंका वेष धारण किया और दूतसे कहा कि चलो चलें,

---

१ दाता यन्तेव (?) ल० । २ तौ ल० । ३ निजाभिप्रेम-ल० । ४ आस्थाने ख० ।

यामेति [1]दूतेनालप्य सम्प्राप्य शिवमन्दिरम् । समालोचितगूढार्थौ प्रविश्य नृपमन्दिरम् ॥४६२॥
दृष्टवन्तौ खगाधीशं [2]यथौचित्यं प्रतुष्य सः । सम्भाष्य सामवाक्सारः पूजयित्वा दिने परे ॥४६३॥
अङ्गहारैः सकरणैः रसैर्भावैर्मनोहरैः । नृत्यं तयोर्विलोक्याप्तसम्मदः परितोषितः ॥ ४६४ ॥
भवन्नृत्यकलां [3]कल्यां वासु[4] शिक्षयतां सुताम् । मदीयामित्यदात्कन्यामेताभ्यां कनकश्रियम् ॥४६५॥
[5]आदाय तां यथायोग्यं[6]नर्तयन्तौ नृपात्मजाम् । पेठतुर्गुणसंदब्ध[7]मिति ते भाविचक्रिणः ॥४६६॥

पृथ्वीच्छन्दः

गुणैः कुलबलादिभिर्भुवि विजित्य विश्वान् नृपान्–
मनोजमपि लज्जयन् भववरो वपुःसम्पदा ।
विदग्धवनितविलासललितावलोकालयः
क्षितेः पतिरनन्तवीर्य इति विश्रुतः पातु वः ॥ ४६७ ॥

अनुष्टुप्

तदा तच्छ्रुतिमात्रेण मदनाविष्टविग्रहा । स्तूयते यः स को वृतमित्यप्राक्षीन्नृपात्मजा ॥ ४६८ ॥
प्रभाकरीपुराधीशोऽजनिस्तिमितसागरात् । महामणिरिव क्ष्माभृन्मौलिचूडामणीयितः ॥ ४६९ ॥
कान्ताकल्पलतारोहरम्यकल्पमहीरुहः । कामिनीभ्रमरीभोग्यमुखाम्भोजविराजितः ॥ ४७० ॥
इति [8]तद्द्वयतद्रूपलावण्याद्यनुवर्णनात् । द्विगुणीभूतसम्प्रीतिरित्युवाच खगात्मजा ॥ ४७१ ॥
किमसौ लभ्यते द्रष्टुं कन्यके सुष्ठु लभ्यते । त्वयेत्यनन्तवीर्यस्य रूपं साक्षात्प्रदर्शितम् ॥ ४७२ ॥

राजाने हम दोनोंको भेजा है। इस प्रकार दूतके साथ वार्तालाप कर वे दोनों शिवमन्दिरनगर पहुँचे और किसी गूढ़ अर्थकी आलोचना करते हुए राजभवनमें प्रविष्ट हुए ॥ ४६१–४६२ ॥ वहाँ उन्होंने विद्याधरोंके राजा दमितारिके यथायोग्य दर्शन किये। राजा दमितारिने संतुष्ट होकर उनके साथ शान्तिपूर्ण शब्दोंमें संभाषण किया, उनका आदर-सत्कार किया, दूसरे दिन मनको हरण करनेवाले अङ्गहार, करण, रस और भावोंसे परिपूर्ण उनका नृत्य देखकर बहुत ही हर्ष तथा संतोषका अनुभव किया ॥ ४६३–४६४ ॥ एक दिन उसने उन दोनोंसे कहा कि 'हे सुन्दरियो ! आप अपनी सुन्दर नृत्यकला हमारी पुत्रीको सिखला दीजिये' यह कहकर उसने अपनी कनकश्री नामकी पुत्री उन दोनोंके लिए सौंप दी ॥ ४६५ ॥ वे दोनों उस राजपुत्रीको लेकर यथायोग्य नृत्य कराने लगे। एक दिन उन्होंने भावी चक्रवर्तीके गुणोंसे गुम्फित निम्न प्रकारका गीत गाया ॥ ४६६ ॥ 'जिसने अपने कुल बल आदि गुणोंके द्वारा पृथिवी पर समस्त राजाओंको जीत लिया है, जो अपनी शरीरकी सम्पत्तिसे कामदेवको भी लज्जित करता है, संसारमें अत्यन्त श्रेष्ठ है, और जो सुन्दर स्त्रियोंके विलास तथा मनोहर चितवनोंका घर है, ऐसा अनन्तवीर्य इस नामसे प्रसिद्ध पृथिवीका स्वामी तुम सबकी रक्षा करें' ॥ ४६७ ॥ उस गीतके सुनते ही जिसके शरीरमें कामदेवने प्रवेश किया है ऐसी राजपुत्रीने उन दोनोंसे पूछा कि 'जिसकी स्तुति की जा रही है वह कौन है ?' यह कहिये ॥ ४६८ ॥ उत्तरमें उन्होंने कहा कि 'वह प्रभाकरीपुरीका अधिपति है, राजा स्तिमितसागरसे उत्पन्न हुआ है, महामणिके समान राजाओंके मस्तक पर स्थित चूड़ामणिके समान जान पड़ता है, स्त्रीरूपी कल्पलताके चढ़नेके लिए मानो कल्पवृक्ष ही है, और स्त्रीरूपी भ्रमरीके उपभोग करनेके योग्य मुखकमलसे सुशोभित है' ॥४६९–४७०॥ इस प्रकार उन दोनोंके द्वारा अत्यन्तवीर्यके रूप तथा लावण्य आदिका वर्णन सुनकर जिसकी प्रीति दूनी हो गई है ऐसी विद्याधरकी पुत्री कनकश्री बोली 'क्या वह देखनेको मिल सकता है ?'। उत्तरमें उन्होंने कहा कि 'हे कन्ये ! तुझे अच्छी तरह मिल सकता है'। ऐसा

---

१ दूतमालप्य ख०, ग०, ल० । २ यथोचितं ल० । ३ कल्यामाशु शिष्यतां सुताम् ख०, म०, घ०, म० । कुलाकल्यामाशु क० । ४ हे सुन्दर्यौ ! ५ आदीय ल० । ६ नृत्तयन्तौ ल० । ७ संदग्ध ख० । संदोह ल० । ८ तयोर्द्वयं तद्द्वयं तेन तस्य रूपलावण्याद्यनुवर्णनात् ।

तद्दर्शनसमुद्भूतमदनज्वरविह्वलाम् । नर्तक्यौ तां समादाय जग्मतुर्मरुतः पथा ॥ ४७३ ॥
तद्वार्तां खेचराधीशः श्रुत्वाऽन्तर्वंशिकोदितात् । स्वभटान्प्रेषयामास तद्द्वयानयनं प्रति ॥ ४७४ ॥
तदागमनमालोक्य स निवर्त्य हली बली । न्ययुध्यतानुजं दूरे स्थापयित्वा सकन्यकम् ॥ ४७५ ॥
ते तेन सुचिरं युद्ध्वा कृतान्तोपान्तमाश्रिताः। दमितारिः पुनः क्रुद्ध्वा युद्धशौण्डान् समादिशत् ॥४७६॥
तेऽपि तत्खड्गधारोरुवारिराशाविवाद्रयः । निमज्जन्ति स्म तच्छ्रुत्वा खगाधीशः सविस्मयः ॥ ४७७ ॥
नर्तक्योर्न प्रभावोऽयं किमेतद् ब्रूत मन्त्रिणः । इत्याह ते च तत्तत्त्वं स्वयं ज्ञात्वा न्यवेदयन् ॥ ४७८ ॥
तदा लब्धेन्धनो वाग्निः क्रुद्धो वा गजविद्विषः । दमितारिः स्वयं योद्धुं चचाल स्वबलान्वितः ॥ ४७९ ॥
एककोऽपि हली सर्वान् विद्याविक्रमसाधनः । दमितारिं विमुच्यैतान् देहशेषांश्चकार सः ॥ ४८० ॥
दमितारिं यमं वैकं हन्तुमायान्तमग्रजम् । अनन्तवीर्यस्तं दृष्ट्वा केसरीव मदद्विपम् ॥ ४८१ ॥
अभ्येत्यानेकधा युद्ध्वा विद्याबलमदोद्धतम् । विमदीकृत्य निस्पन्दं व्यधादधिकविक्रमः ॥ ४८२ ॥
खगेशश्चक्रमादाय क्षिपति स्माभिभूभुजम् । दक्षिणाग्रकराभ्यर्णे तस्थिवत्तत्परीत्य तम् ॥ ४८३ ॥
मृत्युं वा धर्मचक्रेण योगी तं [1]खेचराधिपम् । अहँस्तेनैव चक्रेण विक्रमी भाविकेशवः ॥ ४८४ ॥
इति युद्धान्तमासाद्य गगने गच्छतोस्तयोः । पूज्यातिक्रमभीत्येव विमाने सहसा स्थिते ॥ ४८५ ॥
केनचित् कीलितो वेतो न यातः केन हेतुना । इति तौ परितो वीक्ष्य सदो दिव्यं व्यलोक्यत ॥ ४८६ ॥

कहकर उन्होंने अनन्तवीर्यका साक्षात् रूप दिखा दिया ॥ ४७१–४७२ ॥ उसे देखकर कनकश्री कामज्वरसे विह्वल हो गई और उसे लेकर वे दोनों नृत्यकारिणी आकाशमार्गसे चली गईं ॥ ४७३ ॥ विद्याधरोंके स्वामी दमितारिने यह बात अन्तःपुरके अधिकारियोंके कहनेसे सुनी और उन दोनोंको वापिस लानेके लिए अपने योद्धा भेजे ॥ ४७४ ॥ बलवान् बलभद्रने योद्धाओंका आगमन देख, कन्या सहित छोटे भाईको दूर रक्खा और स्वयं लौटकर युद्ध किया ॥ ४७५ ॥ जब बलभद्रने चिरकाल तक युद्ध कर उन योद्धाओंको यमराजके पास भेज दिया तब दमितारिने कुपित होकर युद्ध करनेमें समर्थ दूसरे योद्धाओंको आज्ञा दी ॥ ४७६ ॥ वे योद्धा भी, जिस प्रकार समुद्रमें पहाड़ डूब जाते हैं उसी प्रकार बलभद्रकी खड्गधाराके विशाल पानीमें डूब गये । यह सुनकर दमितारिको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ४७७ ॥ उसने मन्त्रियोंको बुलाकर कहा कि 'यह प्रभाव नृत्यकारिणियोंका नहीं हो सकता, ठीक बात क्या है ? आप लोग कहें ? मन्त्रियोंने सब बात ठीक-ठीक जानकर राजासे कहीं ॥ ४७८ ॥ उस समय जिस प्रकार इन्धन पाकर अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, अथवा सिंहका क्रोध भड़क उठता है उसी प्रकार राजा दमितारि भी कुपित हो स्वयं युद्ध करनेके लिए अपनी सेना साथ लेकर चला ॥ ४७९ ॥ परन्तु विद्या और पराक्रमसे युक्त एक बलभद्रने ही उन सबको मार गिराया सिर्फ दमितारिको ही बाकी छोड़ा ॥ ४८० ॥ इधर जिस प्रकार मदोन्मत्त हाथीके ऊपर सिंह आ टूटता है उसी प्रकार बड़े भाईको मारनेके लिए आते हुए यमराजके समान दमितारिको देखकर अनन्तवीर्य उस पर टूट पड़ा ॥ ४८१ ॥ अधिक पराक्रमी अनन्तवीर्यने उसके साथ अनेक प्रकारका युद्ध किया, तथा विद्या और बलके मदसे उद्धत उस दमितारिको मद रहित कर निश्चेष्ट बना दिया था ॥ ४८२ ॥ अबकी बार विद्याधरोंके राजा दमितारिने चक्र लेकर राजा अनन्तवीर्यके सामने फेंका परन्तु वह चक्र उनकी प्रदक्षिणा देकर उनके दाहिने कन्धेके समीप ठहर गया ॥ ४८३ ॥ जिस प्रकार योगिराज धर्मचक्रके द्वारा मृत्युको नष्ट करते हैं उसी प्रकार पराक्रमी भावी नारायणने उसी चक्रके द्वारा दमितारिको नष्ट कर दिया—मार डाला ॥ ४८४ ॥ इस तरह युद्ध समाप्त कर दोनों भाई आकाशमें जा रहे थे कि पूज्य पुरुषोंका कहीं उल्लंघन न हो जावे इस भयसे ही मानो उनका विमान सहसा रुक गया ॥ ४८५ ॥ यह विमान किसीने कील दिया है अथवा किसी अन्य कारणसे आगे नहीं जा रहा है ऐसा सोचकर वे दोनों भाई चारों ओर देखने लगे । देखते ही उन्हें समवसरण

---

१ खचराधिपम् ल० ।

मानस्तम्भा सरांस्येतान्येतद्वनचतुष्टयम् । मध्येगन्धकुटी नूनं जिनेन्द्रः कोऽपि तिष्ठति ॥ ४८७ ॥
इति तत्रावतीर्यैव शिवमन्दिरनायकः । सुतः कनकपुङ्खस्य जयदेव्याश्च निश्चितः ॥ ४८८ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज
दमितारेः पिता कीर्तिधरा नाम्ना विरक्तवान् । प्राप्य शान्तिकराभ्यासे प्रव्रज्यां पारमेश्वरीम् ॥ ४८९ ॥
[1]संवत्सरं समादाय प्रतिमायोगमागमन् । केवलावगमं भक्त्या सुनासीरादिपूजितः ॥ ४९० ॥
इत्युक्त्वैव परीत्य त्रिः प्रप्रणम्य जिनेश्वरम् । श्रुतधर्मकथौ तत्र तस्थतुर्ध्वस्तकल्मषौ ॥ ४९१ ॥
कनकश्रीः सहाभ्येत्य ताभ्यां भक्त्या पितामहम् । वन्दित्वा घातिहन्तारमप्राक्षीत्स्वभवान्तरम् ॥४९२॥
इति पृष्टो जिनाधीशो निजवागमृताम्बुभिः । तां तर्पयितुमित्याह परार्थैकफले हितः ॥ ४९३ ॥
अत्र जम्बूद्रुमालक्ष्यद्वीपेऽस्यां भरतावनौ । शङ्खाख्यनगरे वैश्यो देविलस्तत्सुताभवः ॥ ४९४ ॥
बन्धुश्रियां [2]त्वमेवैका श्रीदत्ता ज्यायसी सती । सुताः पराः कनीयस्यः कुटी पङ्गू कुणी[3] तथा ॥४९५॥
बधिरा कुब्जका काणा खञ्जा पोषिका स्वयम् । स्वं कदाचिन्मुनिं सर्वयशसं सर्वशैलगम् ॥ ४९६ ॥
अभिवन्द्य शमं याता हिंसाविरमणव्रतम् । गृहीत्वा धर्मचक्राख्यमुपवासं च शुद्धधीः ॥ ४९७ ॥
अन्यदा सुव्रताख्यायै गणिन्यै विधिपूर्वकम् । दत्वाऽन्नदानमेतस्या वमने सत्युपोषितात् ॥ ४९८ ॥
सम्यक्त्वाभावतस्तत्र विचिकित्सामगात्ततः । सौधर्मे जीवितस्यान्ते भूत्वा सामानिकामरी ॥ ४९९ ॥
ततो मन्दरमालिन्यां दमितारेः सुताभवः । पुण्याद् व्रतोपवासान्ताद्विचिकित्साफलं त्विदम् ॥ ५०० ॥
सबलं पितरं हत्वा धृत्वा नीतासि दुःखिनी । विचिकित्सां न कुर्वन्ति तस्मात्साधौ सुधीधनाः ॥५०१॥

दिखाई दिया ॥ ४८६ ॥ 'ये मानस्तम्भ हैं, ये सरोवर हैं, ये चार वन हैं और ये गन्धकुटीके बीचमें कोई जिनराज विराजमान हैं' ऐसा कहते हुए अनन्तवीर्य और उनके भाई बलदेव वहाँ उतरे। उतरते ही उन्हें मालूम हुआ कि ये जिनराज, शिवमन्दिरनगरके स्वामी हैं, राजा कनकपुङ्ख और रानी जयदेवीके पुत्र हैं, दमितारिके पिता हैं और कीर्तिधर इनका नाम है। इन्होंने विरक्त होकर शान्तिकर मुनिराजके समीप पारमेश्वरी दीक्षा धारण की थी। एक वर्षका प्रतिमायोग धारण कर जब इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ तब इन्द्र आदि देवोंने बड़ी भक्तिसे इनकी पूजा की थी। ऐसा कह कर उन दोनों भाइयोंने जिनराजकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, बार बार नमस्कार किया, धर्मकथाएँ सुनीं और अपने पापोंको नष्ट कर दोनों ही भाई वहाँ पर बैठ गये ॥ ४८७-४९१ ॥ कनकश्री भी उनके साथ गई थी। उसने अपने पितामहको भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और घातिया कर्मोंको नष्ट करनेवाले उक्त जिनराजसे अपने भवान्तर पूछे ॥ ४९२ ॥ ऐसा पूछने पर परोपकार करना ही जिनकी समस्त चेष्टाओंका फल है ऐसे जिनेन्द्रदेव अपने वचनामृत रूप जलसे कनकश्रीको संतुष्ट करनेके लिए इस प्रकार कहने लगे ॥ ४९३ ॥

इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रकी भूमि पर एक शङ्ख नामका नगर था। उसमें देविल नामका वैश्य रहता था। उसकी बन्धुश्री नामकी स्त्रीसे तू श्रीदत्ता नामकी बड़ी और सती पुत्री हुई थी। तेरी और भी छोटी बहिनें थीं जो कुष्ठी, लँगड़ी, टोंटी, बहरी, कुबड़ी, कानी और खंजी थीं। तू इन सबका पालन स्वयं करती थी। तूने किसी समय सर्वशैल नामक पर्वत पर स्थित सर्वयश मुनिराजकी वन्दना की, शान्ति प्राप्त की, अहिंसा व्रत लिया, और परिणाम निर्मल कर धर्मचक्र नामका उपवास किया ॥ ४९४-४९७ ॥ किसी दूसरे दिन तूने सुव्रता नामकी आर्यिकाके लिए विधिपूर्वक आहार दिया, उन आर्यिकाने पहले उपवास किया था इसलिए आहार लेनेके बाद उन्हें वमन हो गया और सम्यग्दर्शन न होनेसे तूने उन आर्यिकासे घृणा की। तूने जो अहिंसा व्रत तथा उपवास धारण किया था उसके पुण्यसे तू आयुके अन्तमें मर कर सौधर्म स्वर्गमें सामानिक जातिकी देवी हुई और वहांसे चय कर राजा दमितारिकी मन्दरमालिनी नामकी रानीसे कनकश्री नामकी पुत्री हुई है। तूने आर्यिकासे जो घृणा की थी उसका फल यह हुआ कि ये लोग तेरे बलवान् पिताको मारकर तुझे जबर्दस्ती ले आये तथा तूने दुःख उठाया। यही कारण है कि बुद्धिमान् लोग कभी

---

१ सांवत्सरं ध० । २ त्वमेकैव क०, घ०, ग० । त्वमेवैक-ख० । ३ कुणिस्तथा क०, ख०, घ० । कुणीस्तथा ग० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

[1]श्रुत्वैतदतिशोकार्ता वन्दित्वा जिनपुङ्गवम् । प्रभाकरीमगात्ताभ्यां सह सा खेचरात्मजा ॥ ५०२ ॥
सुघोषविद्युद्दंष्ट्राख्यौ भ्रातरौ कनकश्रियः । तत्पुरेऽनन्तसेनेन युध्यमानौ बलोद्धतौ ॥ ५०३ ॥
विलोक्य विहितक्रोधौ बध्नतुर्बलकेशवौ । तन्निशम्य खगाधीशतनूजा सोढुमक्षमा ॥ ५०४ ॥
प्रवृद्धतेजसा यूना भानुनेव हतद्युतिः । [2]युताऽसाविन्दुरेखेव क्षीणा पक्षबलाद्विना ॥ ५०५ ॥
शोकदावानलम्लाना दूनेव बनवल्लरी । व्युच्छिन्नकामभोगेच्छा चिच्छित्सुर्दुःखसन्ततिम् ॥ ५०६ ॥
मोचयित्वानुबुध्यैतौ सम्प्रार्थ्य बलकेशवौ । स्वयम्प्रभाख्यतीर्थेशात्पीतधर्मरसायना ॥ ५०७ ॥
सुप्रभागणिनीपार्श्वे दीक्षित्वा जीवितावधौ । सौधर्मकल्पे देवोऽभूच्चित्रं विलसितं विधेः ॥ ५०८ ॥

हरिणी

सुविहितमहोपायौ विद्याबलाद्बहुपुण्यकौ
बुधजननुतौ सुप्रारम्भौ परस्परसङ्गतौ ॥
हतपृथुरिपुशान्तात्मनौ यथानयविक्रमौ
सममविशतां सिद्धार्थौ तौ पुरीं परमोत्सवाम् ॥ ५०९ ॥

वसन्ततिलका

जित्वा प्रसिद्धखचरान् खचराधिभर्तुं–
रभ्यास्य तद्बलधरत्वमलङ्घ्यशक्तिः ।
व्यक्तीचकार सुचिरादपराजितत्वं
भावेन चैतदिति नैव निजेन नाम्ना ॥ ५१० ॥
चक्रेण तस्य युधि तं दमितारिशक्तिं
हत्वा त्रिखण्डपतितां [3]समवाप्य तस्मात् ।

साधुओंमें घृणा नहीं करते हैं ॥ ४९८–५०१ ॥

यह सुनकर विद्याधरकी पुत्री शोकसे बहुत ही पीड़ित हुई । अनन्तर जिनेन्द्रदेवकी वन्दना कर नारायण और बलभद्रके साथ प्रभाकरीपुरीको चली गई ॥ इधर सुघोष और विद्युदंष्ट्र कनकश्रीके भाई थे । वे बलसे उद्धत थे और शिवमन्दिरनगरमें ही नारायण तथा बलभद्रके द्वारा भेजे हुए अनन्तसेनके साथ युद्ध कर रहे थे । यह देख कर बलभद्र तथा नारायणको बहुत क्रोध आया, उन्होंने उन दोनोंको बाँध लिया । यह सुनकर कनकश्री उनके दुःखको सहन नहीं कर सकी और जिस प्रकार बढ़ते हुए तेजवाले तरुण सूर्यसे युक्त चन्द्रमाकी रेखा कान्तिहीन तथा क्षीण हो जाती है उसी प्रकार वह भी पक्षबलके बिना कान्तिहीन तथा क्षीण हो गई ॥ ५०२–५०५ ॥ शोकरूपी दावानलसे मुरझाकर वह वनलताके समान दुःखी हो गई । उसने काम-भोगकी सब इच्छा छोड़ दी, वह केवल भाइयों का दुःख दूर करना चाहती थी । उसने दोनों भाइयोंको समझाया तथा बलभद्र और नारायणको प्रार्थना कर उन्हें बन्धनसे छुड़वाया । स्वयंप्रभनामक तीर्थंकरसे धर्म रूपी रसायन का पान किया और सुप्रभ नामकी गणिनीके समीप दीक्षा धारण कर ली । अन्तमें आयु समाप्त होने पर सौधर्मस्वर्गमें देव पद प्राप्त किया सो ठीक ही है क्योंकि कर्मका उदय बड़ा विचित्र है ॥ ५०६–५०८ ॥ जिन्होंने विद्याके बलसे बड़े-बड़े उपाय किये हैं, जो बहुत पुण्यवान हैं, विद्वान लोग जिनकी स्तुति करते हैं, जो अच्छे कार्य ही प्रारम्भ करते हैं, परस्पर मिले रहते हैं, बड़े-बड़े शत्रुओंको मारकर जिनकी आत्माएं शान्त हैं और नीतिके अनुसार ही जो पराक्रम दिखाते हैं ऐसे उन दोनों भाइयोंने कृतकृत्य हो कर बहुत भारी उत्सवोंसे युक्त नगरीमें एक साथ प्रवेश किया ॥ ५०९ ॥ अलंघ्य शान्तिको धारण करने वाले अपराजितने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्याधरोंको जीत कर विद्याधरोंके स्वामीका पद तथा बलभद्रका पद प्राप्त किया और इस तरह केवल नामसे ही नहीं किन्तु भावसे भी अपना अपराजित नाम चिरकाल तक प्रकट किया ॥ ५१० ॥ शत्रुओंकी शक्ति

---

१ श्रुत्वा तदति ल० । २ सुतासाविन्दु–ख०, क० । प्लुतासा–ग० । युक्तासा-म० । ३ समवाप ख० ।

वीर्येण सूर्यविजयीत्थमनन्तवीर्यो
धुर्योऽभवद् भुवि स शौर्यपरेषु शूरः ॥ ५११ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

नित्यालोचितमन्त्रशक्त्यनुगतः स्फूर्जत्प्रतापानल-
ज्वालाभस्मितवैरिवंशगहनस्त्वं चक्रिणामग्रणीः ।
यस्त्वां कोपयति क्षणादरिरसौ कालज्वलज्ज्वालिना
लीढो लिह्यत एव लक्ष्यत इति स्तुत्यस्तदा[1] वन्दिभिः ॥ ५१२ ॥

मालिनीच्छन्दः

गतघनरिपुरोधः स्वाग्रजोद्दिष्टमार्गः
समुपगतविशुद्धिः काललब्ध्या स वक्री ।
रविरिव निजदीप्त्या व्याप्तदिक्चक्रवालः
शरदमिव पुरीं स्वामध्युवासोग्रतेजाः ॥ ५१३ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे अपराजितानन्तवीर्याभ्युदयवर्णनं
नाम द्विषष्टितमं पर्व ॥ ६२ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

को दमन करने वाले दमितारिको जिसने युद्धमें उसीके चक्रसे मारकर उससे तीन खण्डका राज्य प्राप्त किया, जो अपने वीर्यसे सूर्यको जीतता था तथा शूरवीरोंमें अत्यन्त शूर था ऐसा अनन्तवीर्य पृथिवी में सर्व श्रेष्ठ था ॥ ५११ ॥ वन्दी जन उस अनन्तवीर्य नारायणकी उस समय इस प्रकार स्तुति करते थे कि तू निरन्तर आलोचना की हुई मन्त्रशक्तिके अनुसार चलता है, देदीप्यमान प्रतापाग्निकी ज्वालाओंसे तूने शत्रुओंके वंश रूपी बांसोंके वनको भस्म कर डाला है, तू सब नारायणोंमें श्रेष्ठ नारायण है; जो शत्रु तुझे कुपित करता है वह क्षणभरमें यमराजकी जलती हुई ज्वालाओंसे आलीढ—व्याप्त हुआ दिखाई देता है ॥ ५१२ ॥ जिसके शत्रु रूपी बादलोंका उपरोध नष्ट हो गया है, जो सदा अपने बड़े भाईके बतलाये हुए मार्गपर चलता है, काललब्धिसे जिसे विशुद्धता प्राप्त हुई है, जिसने अपनी दीप्तिसे समस्त दिङ्मण्डलको व्याप्त कर लिया है और जिसका तेज अत्यन्त उग्र है ऐसा वह नारायण अपनी नगरीमें उस प्रकार निवास करता था जिस प्रकार कि सूर्य शरद्ऋतु में निवास करता है ॥ ५१३ ॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत, त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें
अपराजित बलभद्र और अनन्तवीर्य नारायणके अभ्युदयका वर्णन करने वाला
बासठवां पर्व समाप्त हुआ ।

---

१ सदा ल० ।

त्रिषष्टितमं पर्व

सिंहासने समासीनो [1]वीज्यमानप्रकीर्णकः । अर्द्धचक्री व्यराजिष्ट यथा षट्खण्डमण्डितः ॥ १ ॥
तथापराजितोऽनल्पयोग्यराज्यादिनायकः । बलदेवपदं प्राप्य प्रत्यहं वृद्धिमातनोत् ॥ २ ॥
एवं भवान्तराबद्धविशुद्धस्नेहयोस्तयोः । काले गच्छत्यविच्छिन्नस्वच्छन्दसुखसारयोः ॥ ३ ॥
विजयायां हलेशस्य बभूव सुमतिः सुता । ज्योत्स्नेव प्रीणिताशेषा शुक्लपक्षेन्दुरेखयोः ॥ ४ ॥
सान्वहं कुर्वती वृद्धिं स्वस्याः पित्रोरपि स्वयम् । गुणैराह्लादनैः प्रीतिं व्यधात्कुवलयेप्सिताम् ॥ ५ ॥
दानाद्दमवराख्याय चारणाय यथोचितम् । साश्चर्यपञ्चकं प्राप तत्र दृष्ट्वा निजात्मजाम् ॥ ६ ॥
रूपेण केवलेनेयं भूषिता यौवनेन च । वरं प्रार्थयते बाला संश्रिता कालदेवताम् ॥ ७ ॥
इति सञ्चिन्त्य तौ श्रावितस्वयंवरघोषणौ । कृत्वा स्वयंवृतेः शालां प्रवेश्यात्र वरोत्तमान् ॥ ८ ॥
सुतां च स्यन्दनारूढां सुप्रीतौ तस्थतुस्तदा । काचिद्विमानमारुह्य [2]खागता सुरसुन्दरी ॥ ९ ॥
अभिजानासि किं देवलोकेऽहं त्वं च कन्यके । [3]वत्स्यावस्तत्र संज्ञानात्समभूत् स्थितिरावयोः ॥१०॥
या प्रागवतरद्धात्रीं तामन्या बोधयत्विति । ब्रवे नौ भवसम्बन्धं सन्निधाय मनः शृणु ॥ ११ ॥
पुष्करद्वीपपूर्वार्द्धभरते नन्दने पुरे । नयविक्रमसम्पन्नो महीशोऽमितविक्रमः ॥ १२ ॥
एतस्यानन्दमत्याश्च धनानन्तश्रियौ सुते । भूत्वा वां सिद्धकूटस्थनन्दनाख्ययतीश्वरात् ॥ १३ ॥

जिसपर चमर ढुर रहे हैं ऐसा सिंहासनपर बैठा हुआ अर्द्धचक्री-नारायण अनन्तवीर्य इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो छह खण्डोंसे सुशोभित पूर्ण चक्रवर्ती ही हो ॥१॥ इसी प्रकार अपराजित भी अपने योग्य रज्य आदिका स्वामी हुआ था और बलभद्रका पद प्राप्तकर प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त होता रहता था ॥ २ ॥ जिनका स्नेह दूसरे भवोंसे सम्बद्ध होनेके कारण निरन्तर बढ़ता रहता है और जो स्वच्छन्द रीतिसे अखण्ड श्रेष्ठ सुखका अनुभव करते हैं ऐसे उन दोनों भाइयोंका काल क्रमसे व्यतीत हो रहा था ॥ ३ ॥ कि बलभद्रकी विजया रानीसे सुमति नामकी पुत्री उत्पन्न हुई। वह शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी रेखाओंसे उत्पन्न चांदनीके समान सबको प्रसन्न करती थी ॥ ४ ॥ वह कन्या प्रतिदिन अपनी वृद्धि करती थी और आह्लादकारी गुणोंके द्वारा माता-पिताके भी कुवलयेप्सित—पृथिवीमण्डलमें इष्ट अथवा कुमुदोंको इष्ट प्रेमको बढ़ाती थी ॥ ५ ॥ किसी एक दिन राजा अपराजितने दमवरनामक चारणऋद्धिधारी मुनिको आहार दान दे कर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये। उसी समय उन्होंने अपनी पुत्रीको देखा और विचार किया कि अब यह न केवल रूपसे ही विभूषित है किन्तु यौवनसे भी विभूषित हो गई है। इस समय यह कन्या कालदेवताका आश्रय पाकर वरकी प्रार्थना कर रही है अर्थात् विवाहके योग्य हो गई है ॥ ६–७ ॥ ऐसा विचार कर उन दोनों भाइयोंने स्वयंवरकी घोषणा सबको सुनवाई और स्वयंवरशाला बनवा कर उसमें अच्छे-अच्छे मनुष्योंका प्रवेश कराया ॥ ८ ॥ पुत्रीको रथपर बैठा कर स्वयंवरशालामें भेजा और आप दोनों भाई भी वहीं बैठ गये। कुछ समय बाद एक देवी विमानमें बैठ कर आकाशमार्गसे आई और सुमति कन्यासे कहने लगी ॥ ९ ॥ क्यों याद है हम दोनों कन्याएं स्वर्गमें रहा करती थीं। उस समय हम दोनोंके बीच यह प्रतिज्ञा हुई थी कि जो पृथिवीपर पहले अवतार लेगी उसे दूसरी कन्या समझावेगी। मैं दोनोंके भवोंका सम्बन्ध कहती हूं सो तुम चित्त स्थिर कर सुनो ॥ १०-११ ॥

पुष्कर द्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्रके नन्दनपुर नामक नगरमें नय और पराक्रमसे सुशोभित एक अमितविक्रम नामका राजा राज्य करता था। उसकी आनन्दमती नामकी रानीसे हम दोनों धनश्री

---

१ वीज्यमानः प्रकीर्णकैः ख०, ग०, म० । २ खगता ख०, ग० ।–मारुह्य गता ल० । ३ वस्यावः ल० ।

श्रुत्वा धर्मं व्रतैः सार्द्धमुपवासांश्च संविदा । समग्रहीष्टां नौ दृष्ट्वा कदाचित् त्रिपुराधिपः ॥ १४ ॥
मनोहरवनेऽगच्छत् सहवज्राङ्गदः खगः । कान्तया वज्रमालिन्या समासक्तमतिस्तदा ॥ १५ ॥
पुरीं प्रापय्य कान्तां स्वां सहसा पुनरागतः । गृहीत्वाऽऽवां व्रजन्नाशु निजाभिप्रायवेदिनीम् ॥ १६ ॥
आगतामन्तरे दृष्ट्वा दूरात्तां वज्रमालिनीम् । त्यक्त्वा वेणुवने भीत्या तस्याः स्वपुरमीयिवान् ॥१७॥
आवां संन्यस्य तत्रैव सौधर्मेन्द्रस्य शुद्धधीः । व्रतोपवासपुण्येन देवी नवमिकाभवम् ॥ १८ ॥
त्वं च देवी कुबेरस्य रत्याख्या समजायथाः । अन्योन्यमवगत्यैत्य नन्दीश्वरमहामहम् ॥ १९ ॥
अथ मन्दरपर्यन्तवने निर्जन्तुके स्थितम् । चारणं धृतिषेणाख्यं समाश्रित्य प्रणम्य [1]तम् ॥ २० ॥
आवामप्रश्नयावेदं कदा स्यान्मुक्तिरावयोः । इत्यथो मुनिरप्याह जन्मनीतश्चतुर्थके ॥ २१ ॥
अवश्यं युवयोर्मुक्तिरिति तस्मान्महामते । सुमते नाकिनां लोकात्वां बोधयितुमागता ॥ २२ ॥
इत्यवोचत्तदाकर्ण्य सुमतिर्नाम सार्थकम् । कुर्वती पितृनिर्मुक्ता [2]प्राव्राजीत्सुव्रतान्तिके ॥ २३ ॥
[3]कन्यकाभिः शतैः सार्द्धं सप्तभिः सा महातपाः । त्यक्तप्राणानते कल्पे देवोऽभवदनूदिशे ॥ २४ ॥
आधिपत्यं त्रिखण्डस्य विधाय विविधैः सुखैः । प्राविशल्केशवः पापात् प्रान्ते रत्नप्रभां क्षितिम् ॥२५॥
तच्छोकात्सीरपाणिश्च राज्यलक्ष्मीं प्रबुद्धधीः । प्रदायानन्तसेनाय यशोधरमुनीश्वरात् ॥ २६ ॥
आदाय संयमं प्राप्य तृतीयावगमं शमी । त्रिंशद्दिवससंन्यासादच्युताधीश्वरोऽभवत् ॥ २७ ॥
धरणेन्द्रात् पितु[4]र्बुध्वा प्राप्तसम्यक्त्वरत्नकः । संख्यातवर्षैः प्रच्युत्य नरकाद् दुरितच्युतेः ॥ २८ ॥

तथा अनन्तश्री नामकी दो पुत्रियां उत्पन्न हुई थीं। किसी एक दिन हम दोनोंने सिद्धकूटमें विराजमान नन्दन नामके मुनिराजसे धर्मका स्वरूप सुना, व्रत ग्रहण किये तथा सम्यग्ज्ञानके साथ-साथ अनेक उपवास किये। किसी दिन त्रिपुरनगरका स्वामी वज्राङ्गद विद्याधर अपनी वज्रमालिनी स्त्रीके साथ मनोहर नामक वनमें जा रहा था कि वह हम दोनोंको देखकर आसक्त हो गया। वह उसी समय लौटा और अपनी स्त्रीको अपनी नगरीमें भेजकर शीघ्र ही वापिस आ गया। इधर वह हम दोनोंको पकड़कर शीघ्र ही जाना चाहता था कि उधरसे उसका अभिप्राय जाननेवाली वज्रमालिनी आ धमकी। उसे दूरसे ही आती देख वज्राङ्गद डर गया अतः वह हम दोनोंको वंश-वनमें छोड़कर अपने नगरकी ओर चला गया॥ १२–१७॥ हम दोनोंने उसी वनमें संन्यासमरण किया। जिससे शुद्ध बुद्धिको धारण करने वाली मैं तो व्रत और उपवासके पुण्यसे सौधर्मेन्द्रकी नवमिका नामकी देवी हुई और तू कुबेरकी रति नामकी देवी हुई। एक बार हम दोनों परस्पर मिलकर नन्दीश्वर द्वीपमें महामह यज्ञ देखनेके लिए गई थीं वहाँ से लौटकर मेरुपर्वतके निकटवर्ती जन्तुरहित वनमें विराजमान धृतिषेण नामक चारणमुनिराजके पास पहुँची थीं और उनसे हम दोनोंने यह प्रश्न किया था कि हे भगवन्! हम दोनोंकी मुक्ति कब होगी? हम लोगोंका प्रश्न सुननेके बाद मुनिराजने उत्तर दिया था कि इस जन्मसे चौथे जन्ममें तुम दोनोंकी अवश्य ही मुक्ति होगी। हे बुद्धिमती सुमते! मैं इस कारण ही तुम्हें समझानेके लिए स्वर्गलोकसे यहाँ आई हूं॥ १८–२२॥ इस प्रकार उस देवीने कहा। उसे सुन कर सुमति अपना नाम सार्थक करती हुई पितासे छुट्टी पाकर सुव्रता नामकी आर्यिकाके पास सात सौ कन्याओंके साथ दीक्षित हो गई। दीक्षित हो कर उसने बड़ा कठिन तप किया और आयुके अन्तमें मर कर आनत नामक तेरहवें स्वर्गके अनुदिश विमान में देव हुई॥ २३–२४॥

इधर अनन्तवीर्य नारायण, अनेक प्रकारके सुखोंके साथ तीन खण्डका राज्य करता रहा और अन्तमें पापोदयसे रत्नप्रभा नामकी पहिली पृथिवीमें गया॥ २५॥ उसके शोकसे बलभद्र अपराजित, पहले तो बहुत दुःखी हुए फिर जब प्रबुद्ध हुए तब अनन्तसेन नामक पुत्रके लिए राज्य देकर यशोधर मुनिराजसे संयम धारण कर लिया। वे तीसरा अवधिज्ञान प्राप्तकर अत्यन्त शान्त हो गये और तीस दिनका संन्यास लेकर अच्युत स्वर्गके इन्द्र हुए॥ २६–२७॥ अपराजित और

---

१ ताम् ल०। २ प्रव्राजीत् ल०। ३ कन्यकालिशतैः ल०। ४ लब्ध्वा म०, ल०।

द्वीपेऽस्मिन्भारते खेचराद्रयुदक्श्रेणिविश्रुते । मेघवाहनविद्याधरेशो गगनवल्लभे ॥ २९ ॥
देव्यां तुग्मेघमालिन्यां मेघनादः खगाधिपः । श्रेणीद्वयाधिपत्येन भोगांश्चिरमभुङ्क्त सः ॥ ३० ॥
कदाचिन्मन्दरे विद्यां प्रज्ञप्तिं नन्दने वने । साधयन्मेघनादोऽयमच्युतेशेन बोधितः ॥ ३१ ॥
लब्धबोधिः समाश्रित्य [1]सुरामरगुरुं यमम् । [2]सुगुप्तिसमितीः सम्यगादाय चिरमाचरन् ॥ ३२ ॥
अन्येद्युर्नन्दना[3]ख्याद्रौ प्रतिमायोगमागमत् । अश्वग्रीवानुजो भ्रान्त्वा सुकण्ठाख्यो भवार्णवे ॥३३॥
असुरत्वं समासाद्य दृष्ट्वैनं मुनिसत्तमम् । विधाय बहुधा क्रोधादुपसर्गानवारयन् ॥ ३४ ॥
महायोगात्प्रतिज्ञातात्[4] स्थिरं चालयितुं खलः । [5]लज्जातिरस्करिण्येव सोऽन्तर्धानमुपागतः ॥३५॥
मुनिः संन्यस्य कालान्ते सोऽच्युतेऽगात्प्रतीन्द्रताम् । इन्द्रेण सह सम्प्रीत्या सप्रवीचारभोगभाक् ॥३६॥
प्राक्प्रच्युत्याच्युताधीशो द्वीपेऽस्मिन् प्राग्विदेहके । विषये मङ्गलावत्यां स्थानीये रत्नसञ्चये ॥ ३७ ॥
राज्ञः क्षेमकराख्यस्य कृतपुण्योऽभवत्सुतः । श्रीमान् कनकचित्रायां भासो वा मेघविद्युतोः ॥ ३८ ॥
आधानप्रीतिसुप्रीतिधृतिमोदप्रियोद्भव । प्रभृत्युक्तक्रियोपेतो धीमान् वज्रायुधाह्वयः ॥ ३९ ॥
तन्मातरीव तज्जन्मतोषः सर्वेष्वभूद् बहुः । भवेच्छचीशदित्येव किं प्रकाशोंऽशुमालिनः ॥ ४० ॥
अवर्धिष्ट वपुस्तस्य सार्द्धं रूपादिसम्पदा । भूषितोऽ[6]निमिषो वासौ भूषणैः सहजैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

अनन्तवीयका जीव मरकर धरणेन्द्र हुआ था। उसने नरकमें जाकर अनन्तवीर्यको समझाया जिससे प्रतिबुद्ध हो कर उसने सम्यग्दर्शन रूपी रत्न प्राप्त कर लिया। संख्यात वर्षकी आयु पूरी कर पापका उदय कम होनेके कारण वह वहाँसे च्युत हुआ और जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्रके विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में प्रसिद्ध गगनवल्लभ नगरके राजा मेघवाहन विद्याधरकी मेघमालिनी नामकी रानीसे मेघनाद नामका विद्याधर पुत्र हुआ। वह दोनों श्रेणियोंका आधिपत्य पाकर चिरकालतक भोगोंको भोगता रहा ॥ २८–३० ॥ किसी समय यह मेघनाद मेरु पर्वतके नन्दन वनमें प्रज्ञप्ति नामकी विद्या सिद्ध कर रहा था, वहाँ अपराजितके जीव अच्युतेन्द्रने उसे समझाया ॥ ३१ ॥ जिससे उसे आत्मज्ञान हो गया। उसने सुरामरगुरु नामक मुनिराजके पास जाकर दीक्षा धारण कर ली तथा उत्तम गुप्तियों और समितियोंको लेकर चिर कालतक उनका आचरण करता रहा ॥ ३२ ॥ किसी एक दिन यही मुनिराज नन्दन नामक पर्वतपर प्रतिमा योग धारण कर विराजमान थे। अश्वग्रीव का छोटा भाई सुकण्ठ संसार रूपी समुद्रमें चिर काल तक भ्रमणकर असुर अवस्था को प्राप्त हुआ था। वह वहाँसे निकला और इन श्रेष्ठ मुनिराजको देखकर क्रोधके वश अनेक प्रकारके उपसर्ग करता रहा ॥३३–३४ ॥ परन्तु वह दुष्ट उन दृढ़प्रतिज्ञ मुनिराजको ग्रहण किये हुए व्रतसे रंच मात्र भी विचलित करनेमें जब समर्थ नहीं हो सका तब लज्जारूपी परदाके द्वारा ही मानो अन्तर्धानको प्राप्त हो गया—छिप गया ॥ ३५ ॥ वे मुनिराज संन्यासमरणकर आयुके अन्तमें अच्युतस्वर्गके प्रतीन्द्र हुए और इन्द्रके साथ उत्तम प्रीति रखकर प्रवीचार सुखका अनुभव करने लगे ॥ ३६ ॥ अपराजित का जीव जो इन्द्र हुआ था वह पहले च्युत हुआ और इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी पूर्वविदेहक्षेत्रके रत्नसंचय नामक नगरमें राजा क्षेमंकरकी कनकचित्रा नामकी रानीसे मेघकी बिजलीसे प्रकाशके समान पुण्यात्मा श्रीमान् तथा बुद्धिमान् वज्रायुध नामका पुत्र हुआ। जब यह उत्पन्न हुआ था तब आधान प्रीति सुप्रीति धृति-मोह प्रियोद्भव आदि क्रियाएं की गई थीं ॥ ३७ –३९ ॥ उसके जन्मसे उसकी माताके ही समान सबको बहुत भारी संतोष हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि सूर्यका प्रकाश क्या केवल पूर्व दिशा में ही होता है ? भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य पूर्व दिशासे उत्पन्न होता है परन्तु उसका प्रकाश सब दिशाओंमें फैल जाता है उसी प्रकार पुत्रकी उत्पत्ति यद्यपि रानी कनकचित्राके ही हुई थी परन्तु उससे हर्ष सभीको हुआ था ॥ ४० ॥ रूप आदि सम्पदाके साथ उसका शरीर बढ़ने लगा और जिस प्रकार स्वाभाविक आभूषणोंसे देव सुशोभित होता है उसी प्रकार स्वाभाविक

---

१ सुरामरगुरूपमात् क०, ख०, घ० । सुरामरगुरुं पुमान् ग० । २ सुसुप्तिसुमिति म० । सुगुप्तिं समितिं ङ० । ३ नन्दनाख्येऽद्रौ ङ०, म० । ४ प्रतिज्ञानात् ख०, म०, घ० । ५ त्रपानेपथ्येन । ६ देव इव ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जनानुरागः प्रागेव तस्मिंस्तस्योदयादभूत् । सन्ध्याराग इवार्कस्य महाभ्युदयसूचनः ॥ ४२ ॥
विश्वाशा व्यानशे तस्य यशो विशदयद् भृशम् । काशप्रसवसङ्काशमाश्वासितजनश्रुति ॥ ४३ ॥
राज्यलक्ष्म्या व्यभाल्लक्ष्मीमत्या चाप्यनवं वयः । असौ पक्षान्तरं कान्त्या ज्योत्स्नयावाप्य वा विधुः ॥४४॥
सुनुस्तयोः प्रतीन्द्रोऽभूत्सहस्रायुधनामभाक् । [1]वासरादेः प्रतीच्यां वा घर्मदीप्तिः कनद्द्युतिः ॥४५॥
श्रीषेणायां सुतस्तस्य शान्तान्तकनकोऽजनि । एवं क्षेमङ्करः पुत्रपौत्रादिपरिवारितः ॥ ४६ ॥
अप्रतीपप्रतापोऽयं नतभूपकदम्बकः । कदाचिद्वीज्यमानोऽस्थाद्वामरैः सिंहविष्टरे ॥ ४७ ॥
तदामरसदस्यासीदीशानस्तुतिगोचरः । वज्रायुधो महासम्यग्दर्शनाधिक्यतः कृती ॥ ४८ ॥
देवो विचित्रचूलाख्यस्तत् स्तवं सोढुमक्षमः । अभिवज्रायुधं प्रापत्खलो ह्यन्यस्तवासहः ॥ ४९ ॥
दृष्ट्वा रूपपरावृत्त्या महीनाथं यथोचितम् । वादकण्डूयया ऽवोचत्सौत्रान्तिकमते स्थितः ॥ ५० ॥
त्वं जीवादिपदार्थानां विद्वान् किल विचारणे । वद पर्यायिणो भिन्नः पर्यायः किं विपर्ययः ॥ ५१ ॥
भिन्नश्चेच्छून्यताप्राप्तिस्तयोराधारहानितः । तथा चाव्यपदेशत्वान्नायं पक्षो घटामटेत् ॥ ५२ ॥
एकत्वसङ्करेऽप्येतन्न युक्तिपदवीं व्रजेत् । अन्योन्यगोचरैकत्वनानात्वाद्यन्तसङ्करात् ॥ ५३ ॥
अस्ति चेद् द्रव्यमेकं ऽन्ते पर्यायाः बहवो मताः । एकात्मकमपीत्येष सङ्गरो भङ्गमाप्नुयात् ॥ ५४ ॥
नित्यत्वेऽपि तयोः पुण्यपापपाकात्मताच्युतेः । तद्धेतुबन्धनाभावान्मोक्षाभावो न वार्यते ॥ ५५ ॥

गुणोंसे वह सुशोभित होने लगा ॥ ४१ ॥ जिस प्रकार सूर्यके महाभ्युदयको सूचित करने वाली उषाकी लालिमा सूर्योदयके पहले ही प्रकट हो जाती है उसी प्रकार उस पुत्रके महाभ्युदयको सूचित करने वाला मनुष्योंका अनुराग उसके जन्मके पहले ही प्रकट हो गया था ॥ ४२ ॥ सब लोगोंके कानोंको आश्वासन देने वाला और काशके फूलके समान फैला हुआ उसका उज्ज्वल यश समस्त दिशाओंमें फैल गया था ॥ ४३ ॥ जिस प्रकार चन्द्रमा शुक्लपक्ष को पाकर कान्ति तथा चन्द्रिकासे सुशोभित होता है उसी प्रकार वह वज्रायुध भी नूतन-तरुण अवस्था पाकर राज्यलक्ष्मी तथा लक्ष्मीमती नामक स्त्रीसे सुशोभित हो रहा था ॥ ४४ ॥ जिस प्रकार प्रातःकालके समय पूर्व दिशासे देदीप्यमान सूर्यका उदय होता है उसी प्रकार उन दोनों—वज्रायुध और लक्ष्मीमतीके अनन्तवीर्य अथवा प्रतीन्द्रका जीव सहस्रायुध नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ४५ ॥ सहस्रायुधके श्रीषेणा स्त्रीसे कनकशान्त नामका पुत्र हुआ । इस प्रकार राजा क्षेमंकर पुत्र पौत्र आदि परिवारसे परिवृत हो कर राज्य करते थे । उनका प्रताप प्रतिद्वन्द्वीसे रहित था, और अनेक राजाओंके समूह उन्हें नमस्कार करते थे। किसी एक दिन वे सिंहासन पर विराजमान थे, उनपर चमर ढोले जा रहे थे॥ ४६-४७॥ ठीक उसी समय देवोंकी सभामें ऐशान स्वर्गके इन्द्रने वज्रायुधकी इस प्रकार स्तुति की—इस समय वज्रायुध महासम्यग्दर्शनकी अधिकतासे अत्यन्त पुण्यवान् है ॥ ४८ ॥ विचित्रचूल नामका देव इस स्तुति को नहीं सह सका अतः परीक्षा करनेके लिए वज्रायुधकी ओर चला सो ठीक ही है क्योंकि दुष्ट मनुष्य दूसरेकी स्तुतिको सहन नहीं कर सकता ॥ ४९ ॥ उसने रूप बदल कर राजाके यथायोग्य दर्शन किये और शास्त्रार्थ करनेकी खुजलीसे सौत्रान्तिक मतका आश्रय ले इस प्रकार कहा ॥ ५० ॥ हे राजन् ! आप जीव आदि पदार्थोंके विचार करनेमें विद्वान् हैं इसलिए कहिये कि पर्याय पर्यायीसे भिन्न है कि अभिन्न ? ॥ ५१ ॥ यदि पर्यायीसे पर्याय भिन्न है तो शून्यताकी प्राप्ति होती है क्योंकि दोनोंका अलग-अलग कोई आधार नहीं है और यह पर्यायी है यह इसका पर्याय है इस प्रकारका व्यवहार भी नहीं बन सकता अतः यह पक्ष संगत नहीं बैठता ॥ ५२ ॥ यदि पर्यायी और पर्यायको एक माना जावे तो यह मानना भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि परस्पर एकपना और अनेकपना दोनोंके मिलनेसे संकर दोष आता है ॥ ५३ ॥ 'यदि द्रव्य एक है और पर्यायें बहुत हैं 'ऐसा आपका मत है तो 'दोनों एक स्वरूप भी हैं' इस प्रतिज्ञाका भङ्ग हो जावेगा ॥ ५४ ॥ यदि द्रव्य और पर्याय दोनोंको नित्य मानेंगे तो फिर नित्य होनेके कारण पुण्य पापरूप कर्मोंका उदय नहीं हो सकेगा, कर्मोंके उदयके विना बन्धके कारण राग द्वेष आदि परिणाम नहीं हो सकेंगे, उनके अभावमें कर्मोंका

१ 'वासरादेरिव प्राच्यां' इति पाठः सुष्ठु प्रतिभाति ।

अगत्या क्षणिकत्वं चेत्तयोरभ्युपगम्यते । तवाभ्युपगमत्यागः पक्षसिद्धिश्च मे भवेत् ॥ ५६ ॥
ततो भवन्मतं भद्र बौद्धकैः परिकल्पितम् । [1]कल्पनामात्रमत्रस्थं मा कृथास्त्वं वृथा श्रमम् ॥५७॥
इत्याकर्ण्य तदोक्तं तद्बुधो वज्रायुधोऽभणत् । शृणु चित्तं निधायोच्चैर्माध्यस्थं प्राप्य सौगत[2] ॥ ५८ ॥
जिनेन्द्रवदनेन्दूत्थस्याद्वादामृतपायिनाम् । स्वकर्मफलभोगादिव्यवहारविरोधिनम् ॥ ५९ ॥
क्षणिकैकान्तदुर्वादमवलम्ब्य प्ररूपितः । त्वया दोषो न बाधायै कल्पते धर्मधर्मिणोः ॥ ६० ॥
संज्ञाप्रज्ञास्वचिह्नादिभेदैर्भिन्नत्वमेतयोः । एकत्वं चापृथक्त्वार्पणनयैकावलम्बनात् ॥ ६१ ॥
कार्यकारणभावेन कालत्रितयवर्तिनाम् । स्कन्धानामव्यवच्छेदसन्तानोऽभ्युपगम्यते ॥ ६२ ॥
स्कन्धानां क्षणिकत्वेऽपि [3]सद्भावात्कृतकर्मणः । युक्तः फलोपभोगादिरस्माकमिति ते गतिः ॥ ६३ ॥
एतेन परिहारेण भवतः पक्षरक्षणम् । वातारितरुबन्धेन रोधो वा मत्तदन्तिनः ॥ ६४ ॥
सन्तानिभ्यः ससन्तानः पृथक् किंवाऽपृथग्मतः । पृथक्त्वे किं न पश्यामः सन्तानिभ्यः पृथक् न तत्॥६५॥
अथेष्टोऽव्यतिरेकेण सन्तानिभ्यः स्वकल्पितः । सन्तानः शून्यतां तस्य सुगतोऽपि न वारयेत् ॥६६॥

बन्ध नहीं हो सकेगा और जब बन्ध नहीं होगा तब मोक्षके अभावको कौन रोक सकेगा ? ॥५५॥ यदि कुछ उपाय न देख पर्याय-पर्यायीको क्षणिक मानना स्वीकृत करते हैं तो आपके गृहीत पक्षका त्याग और हमारे पक्षकी सिद्धि हो जावेगी ॥ ५६ ॥ इसलिए हे भद्र ! आपका मत नीच बौद्धोंके द्वारा कल्पित है तथा कल्पना मात्र है इसमें आप व्यर्थ ही परिश्रम न करें ॥ ५७ ॥

इस प्रकार उसका कहा सुनकर विद्वान् वज्रायुध कहने लगा कि हे सौगत ! चित्तको ऊंचा रखकर तथा माध्यस्थ्य भावको प्राप्त होकर सुन ॥ ५८ ॥ अपने द्वारा किया हुआ कर्म और उसके फलको भोगना आदि व्यवहारसे विरोध रखने वाले क्षणिकैकान्तरूपी मिथ्यामतको लेकर तूने जो दोष बतलाया है वह जिनेन्द्र भगवान्के मुखरूपी चन्द्रमासे निकले हुए स्याद्वाद रूपी अमृतका पान करने वाले जैनियोंको कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकता। क्योंकि धर्म और धर्मीमें—गुण और गुणीमें संज्ञा-नाम तथा बुद्धि आदि चिह्नोंका भेद होनेसे भिन्नता है और 'गुण गुणी कभी अलग नहीं हो सकते' इस एकत्व नयका अवलम्बन लेनेसे दोनोंमें अभिन्नता है—एकता है। भावार्थ—द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा गुण और गुणी, अथवा पर्याय और पर्यायीमें अभेद है—एकता है परन्तु व्यवहार नयकी अपेक्षा दोनोंमें भेद है। अनेकता है ॥ ५९–६१ ॥ भूत भविष्यत् वर्तमान रूप तीनों कालोंमें रहने वाले स्कन्धोंमें परस्पर कारण-कार्य भाव रहता है अर्थात् भूत कालके स्कन्धोंसे वर्तमान कालके स्कन्धोंकी उत्पत्ति है इसलिए भूत कालके स्कन्ध कारण हुए और वर्तमान कालके स्कन्ध कार्य हुए। इसी प्रकार वर्तमान कालके स्कन्धोंसे भविष्यत् काल सम्बन्धी स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है अतः वर्तमान काल सम्बन्धी स्कन्ध कारण हुए और भविष्यत् कालसम्बन्धी स्कन्ध कार्य हुए। इस प्रकार कार्य-कारण भाव होनेसे इनमें एक अखण्ड सन्तान मानी जाती है। स्कन्धोंमें यद्यपि क्षणिकता है तो भी सन्तानकी अपेक्षा किये हुए कर्मका सद्भाव रहता है। जब उसका सद्भाव रहता है तब उसके फलका उपभोग भी हमारे मतमें सिद्ध हो जाता है'। ऐसा यदि आपका मत है तो इस परिहारसे आपको अपने पक्षकी रक्षा करना एरण्डके वृक्षसे मत्त हाथीके बांधनेके समान है। भावार्थ—जिस प्रकार एरण्डके वृक्षसे मत्त हाथी नहीं बांधा जा सकता उसी प्रकार इस परिहारसे आपके पक्षकी रक्षा नहीं हो सकती ॥ ६२–६४ ॥ हम पूछते हैं कि जो संतान स्कन्धोंसे उत्पन्न हुई है वह संतान संतानीसे भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो हम उसे सन्तानीसे पृथक् क्यों नहीं देखते हैं ? चूंकि वह हमें पृथक् नहीं दिखाई देती है इसलिए संतानीसे भिन्न नहीं है ॥ ६५ ॥ यदि आप अपनी कल्पित संतानको संतानीसे अभिन्न मानते हैं तो फिर उसकी शून्यताको बुद्ध भी नहीं रोक सकते; क्योंकि संतानी क्षणिक है अतः उससे अभिन्न रहने वाली संतान भी क्षणिक ही

---

१ कल्पनामात्रमात्रास्थं ख०, ग० । २ सौगतः ख०, ग० । ३ तद्भावात् ख० (?)।

प्रध्वंसान्नास्त्यतिक्रान्तः क्षणो भाव्यप्यनुद्भवात् । भवत्क्षणस्वरूपास्त्विष्यान्नो नाम्नोति सन्ततिम् ॥६७॥
यदि कश्चिच्चतुर्थोऽस्ति सन्तानस्य तवास्तु सः । ततः सन्तानवादोऽयं भवव्यसनसन्ततिः ॥६८॥
इति देवोऽप्यसौ तस्य वाग्वज्रेण विचूर्णितम् । वचो विचिन्त्य स्वं भग्नमानः कालादिलब्धितः ॥६९॥
सद्यः सम्यक्त्वमादाय सम्पूज्य धरणीश्वरम् । निजागमनवृत्तान्तमभिधाय दिवं गतः ॥ ७० ॥
अथ क्षेमङ्करः पृथ्व्याः क्षेमं योगं च सन्दधत् । लब्धबोधिर्मतिज्ञानक्षयोपशमनावृतः ॥ ७१ ॥
वज्रायुधकुमारस्य कृत्वा राज्याभिषेचनम् । प्राप्तलौकान्तिकस्तोत्रः परिनिष्क्रम्य गेहतः ॥ ७२ ॥
अनावरणमस्थानमप्रमादमनुक्रमम् । असङ्गमकृताहारम[1]नाहार्यमनेकधा ॥ ७३ ॥
अकषायमनारम्भमनवद्यमखण्डितम् । अनारतश्रुताभ्यासं प्रकुर्वन् स तपश्चिरम् ॥ ७४ ॥
निर्ममं निरहङ्कारं निःशाठ्यं निर्जितेन्द्रियम् । निःक्रोधं निश्चलं चित्तं निर्वृत्यै निर्मलं व्यधात् ॥७५॥
क्रमात्कैवलमप्याप्य व्याहूतपुरुहूतकम् । गणान् द्वादश वाऽऽत्मीयान् वाग्विसर्गादतीतृपत् ॥ ७६ ॥
वज्रायुधेऽथ भूनाथे सुपुण्यफलितां महीम् । पात्यागमन्मधुर्मासो मदनोन्माददीपनः ॥ ७७ ॥
कोकिलानां कलालापो ध्वनिश्च मधुरोऽलिनाम् । अहरत्काममन्त्रो[2] वा प्राणान् प्रोषितयोषिताम् ॥७८॥

रहेगी। इस तरह अभेदवादमें सन्तानकी शून्यता बलात् सिद्ध होती है। जो क्षण बीत चुका है उसका अभाव हो गया है जो आगे आने वाला है उसका अभी उद्भव नहीं हुआ है और जो वर्तमान क्षण है वह अपने स्वरूपमें ही अतिव्याप्त है अतः इन तीनों क्षणोंसे सन्तानकी उत्पत्ति संभव नहीं है। यदि इनके सिवाय कोई चौथा क्षण माना जावे तो उससे संतानकी सिद्धि हो सकती है परन्तु चौथा क्षण आप मानते नहीं हैं क्योंकि चौथा क्षण माननेसे तीन क्षण तक स्कन्धकी सत्ता माननी पड़ेगी और जिससे क्षणिकवाद समाप्त हो जावेगा। इस प्रकार आपका यह सन्तानवाद संसारके दुःखोंकी सन्तति मालूम होती है ॥ ६६–६८ ॥

इस प्रकार उस देवने जब विचार किया कि हमारे वचन वज्रायुधके वचनरूपी वज्रसे खण्ड-खण्ड हो गये हैं तब उसका समस्त मान दूर हो गया। उसी समय कालादि लब्धियोंकी अनुकूलतासे उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया। उसने राजाकी पूजा की, अपने आनेका वृत्तान्त कहा और फिर वह स्वर्ग चला गया ॥ ६९–७० ॥ अथानन्तर क्षेमंकर महाराज योग और क्षेमका समन्वय करते हुए चिरकाल तक पृथिवीका पालन करते रहे। तदनन्तर किसी दिन उन्होंने मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे युक्त होकर आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लिया ॥ ७१ ॥ वज्रायुधकुमारका राज्याभिषेक किया, लौकान्तिक देवोंके द्वारा स्तुति प्राप्त की और घरसे निकल कर दीक्षा धारण कर ली ॥ ७२ ॥ उन्होंने निरन्तर शास्त्रका अभ्यास करते हुए चिरकाल तक अनेक प्रकारका तपश्चरण किया। वे तपश्चरण करते समय किसी प्रकारका आवरण नहीं रखते थे, किसी स्थान पर नियमित निवास नहीं करते थे, कभी प्रमाद नहीं करते थे, कभी शास्त्रविहित क्रमका उल्लंघन नहीं करते थे, कोई परिग्रह पास नहीं रखते थे, लम्बे-लम्बे उपवास रखकर आहारका त्याग कर देते थे, किसी प्रकारका आभूषण नहीं पहिनते थे, कभी कषाय नहीं करते थे, कोई प्रकारका आरम्भ नहीं रखते थे, कोई पाप नहीं करते थे, और गृहीत प्रतिज्ञाओंको कभी खण्डित नहीं करते थे, उन्होंने निर्वाण प्राप्त करनेके लिए अपना चित्त ममतारहित, अहंकाररहित, शठतारहित, जितेन्द्रिय, क्रोधरहित, चञ्चलतारहित, और निर्मल बना लिया था ॥ ७३–७५ ॥ क्रम-क्रम से उन्होंने केवलज्ञान भी प्राप्त कर लिया, इन्द्र आदि देवता उनके ज्ञान-कल्याणकके उत्सवमें आये और दिव्यध्वनिके द्वारा उन्होंने अपनी बारहों सभाओंको संतुष्ट कर दिया ॥ ७६ ॥

इधर राजा वज्रायुध उत्तम पुण्यसे फली हुई पृथिवीका पालन करने लगे। धीरे-धीरे कामके उन्मादको बढ़ाने वाला चैतका महीना आया। कोयलोंका मनोहर आलाप और भ्रमरोंका मधुर शब्द कामदेवके मंत्रके समान विरहिणी स्त्रियोंके प्राण हरण करने लगा। समस्त प्रकारके फूल

१–मकृत्वाहार-क०, घ० । २ प्राणमन्त्रो वा ख० ।

वनान्यपि मनोजाय त्रिजगद्विजिगीषवे । यस्मिन् पुष्पकरे स्वैरं ददुः सर्वस्वमात्मनः ॥७९॥
तस्मिन् काले वने रन्तुं [1]स्वदेवरमणे मतिम् । ज्ञात्वा सुदर्शनावक्त्राद्धारिण्याद्यात्मयोषिताम् ॥८०॥
औत्सुक्याद्वनं गत्वा सुदर्शनसरोवरे । जलक्रीडां स्वदेवीभिः प्रवर्तयति भूभुजि[2] ॥ ८१ ॥
अपिधाय सरः सद्यः कश्चिद्विद्याधरः खलः । शिलया नागपाशेन तमबध्नान्नृपोऽप्यसौ ॥ ८२ ॥
शिलां हस्ततलेनाहत्सा गता शतखण्डताम् । विद्याधरोऽपि दुष्टात्मा तदानीं प्रपलायितः ॥८३॥
एष पूर्वभवे शत्रुर्विद्युद्दंष्ट्राभिधानकः । वज्रायुधोऽपि देवीभिः सह स्वपुरमागमत् ॥ ८४ ॥
एवं सुखेन भूभर्तुः काले गच्छत्ययोदयात्[3] । निधयो नव रत्नानि चतुर्दश तदाऽभवन् ॥८५॥
चक्रवर्तिश्रियं[4] प्राप्य निविष्टं सिंहविष्टरे । कश्चिद्विद्याधरो भीतः शरणं तमुपागतः ॥ ८६ ॥
तस्यैवानुपदं काचिदुत्खातासिलता खगी । क्रोधानलशिखेवागात् द्योतयन्ती [5]सभावनीम् ॥८७॥
तस्याश्चानुपदं कश्चित्स्थविरः स गदांधरः । समागत्य महाराज दुरात्मैष खगाधमः ॥ ८८ ॥
त्वं दुष्टनिग्रहे शिष्टपालने च निरन्तरम् । [6]जागर्सि निग्रहः कार्यस्त्वयास्यान्यायकारिणः ॥ ८९ ॥
कोऽसावन्याय इत्येतत् ज्ञातुमिच्छा तवास्ति चेत् । वदामि देव सम्यक् त्वं प्रणिधाय मनः शृणु ॥९०॥
[7]जम्बूद्वीपसुकच्छाख्यविषये [8]खचराचले । श्रेण्यामुत्तरदिग्जायां शुक्रप्रभपुराधिपः ॥ ९१ ॥
खगाधीड्डिन्द्रदत्ताख्यः प्रिया तस्य यशोधरा । तयोरहं सुतो वायुवेगो विद्याधरैर्मतः ॥ ९२ ॥
तत्र किन्नरगीताख्यनगराधिपतिः खगः । [9]चित्रचूलः सुता तस्य सुकान्ता मे प्रियाऽभवत्[10] ॥९३॥

उत्पन्न करनेवाले उस चैत्रके महीनेमें फूलोंसे लदे हुए वन ऐसे जान पड़ते थे मानो त्रिजगद्विजयी कामदेवके लिए अपना सर्वस्व ही दे रहे हों ॥ ७७–७९ ॥ उस समय उसने सुदर्शना रानीके मुखसे तथा धारिणी आदि अपनी स्त्रियोंकी उत्सुकतासे यह जान लिया कि इस समय इनकी अपने देव-रमण नामक वनमें क्रीड़ा करनेकी इच्छा है इसलिए वह उस वनमें जाकर सुदर्शन नामक सरोवरमें अपनी रानियोंके साथ जलक्रीड़ा करने लगा ॥ ८०–८१ ॥ उसी समय किसी दुष्ट विद्याधरने आकर उस सरोवरको शीघ्र ही एक शिलासे ढक दिया और राजाको नागपाशसे बाँध लिया। राजा वज्रायुधने भी अपने हाथकी हथेलीसे उस शिला पर ऐसा आघात किया कि उसके सौ टुकड़े हो गये। दुष्ट विद्याधर उसी समय भाग गया। यह विद्याधर और कोई नहीं था—पूर्वभवका शत्रु विद्युद्दंष्ट्र था। वज्रायुध अपनी रानियोंके साथ अपने नगरमें वापिस आ गया। इस प्रकार पुण्योदयसे राजाका काल सुखसे बीत रहा था। कुछ समय बाद नौ निधियाँ और चौदह रत्न प्रकट हुए ॥ ८२–८५ ॥ वह चक्रवर्तीकी विभूति पाकर एक दिन सिंहासन पर बैठा हुआ था कि उस समय भयभीत हुआ एक विद्याधर उसकी शरणमें आया ॥ ८६ ॥ उसके पीछे ही एक विद्याधरी हाथमें तलवार लिये क्रोधाग्निकी शिखाके समान सभाभूमिको प्रकाशित करती हुई आई ॥ ८७ ॥ उस विद्याधरीके पीछे ही हाथमें गदा लिये एक वृद्ध विद्याधर आकर कहने लगा कि हे महाराज! यह विद्याधर दुष्ट नीच है, आप दुष्ट मनुष्योंके निग्रह करने और सत्पुरुषोंके पालन करनेमें निरन्तर जागृत रहते हैं इसलिए आपको इस अन्याय करने वालेका निग्रह अवश्य करना चाहिये ॥ ८८–८९ ॥ इसने कौन-सा अन्याय किया है यदि आपको यह जाननेकी इच्छा है तो हे देव! मैं कहता हूँ, आप चित्तको अच्छी तरह स्थिर कर सुनें ॥ ९० ॥

जम्बूद्वीपके सुकच्छ देशमें जो विजयार्ध पर्वत है उसकी उत्तरश्रेणीमें एक शुक्रप्रभ नामका नगर है। वहाँ विद्याधरोंके राजा इन्द्रदत्त राज्य करते थे। उनकी रानीका नाम यशोधरा था। मैं उन दोनोंका पुत्र हूँ, वायुवेग मेरा नाम है और सब विद्याधर मुझे मानते हैं ॥ ९१–९२ ॥ उसी देश में किन्नरगीत नामका एक नगर है। उसके राजाका नाम चित्रचूल है। चित्रचूलकी पुत्री सुकान्ता

---

१ स्वे देव-क०, ख०, ग०, घ०, म०, । २ भूभुजे ल०। ३ पुण्योदयात् । ४ चक्रवर्तिश्रियः म०, ल० । ५ सभावनिम् ग० । सभापतिम् ल० । ६ जागर्ति ल० । ७ जम्बूद्वीपे क०, ख०, ग०, घ०, म० । ८ खेचराचले ख०, ग०, म० । खेचरालये ल० । ९ चित्रसेनः म०, ल० । १० भवेत् क०, ग०, घ० ।

सुता मम सुकान्तायाश्चैषा शान्तिमतिः सती । विद्याः साधयितुं याता मुनिसागरपर्वतम् ॥९४॥
विद्यासाधनविघ्नार्थं पापोऽयं समुपस्थितः । पुण्योदयात्तदैवास्या विद्या सिद्धिमुपागता ॥९५॥
तद्भयात्त्वामयं पापकर्मकृत्समुपाश्रयत् । [1]विद्यापूजां समादाय तदैवाहं समागमम् ॥ ९६ ॥
अदृष्ट्वा मत्सुतां तत्र तन्मार्गं क्षिप्रमन्वितः । इत्यवादीत्स तत्सर्वं श्रुत्वाऽवधिविलोचनः ॥ ९७ ॥
जानाम्यहं महच्चास्य विद्याया विघ्नकारणम् । इति वज्रायुधो व्यक्तमेवं प्रोवाच तां कथाम् ॥ ९८ ॥
अस्मिन्नैरावतेऽख्याते गान्धारविषये नृपः । विन्ध्यसेनः पतिर्विन्ध्यपुरस्य विलसन् गुणैः ॥९९॥
सुलक्षणायां तस्याभूत्सूनुर्नलिनकेतुकः । तत्रैव धनमित्रस्य श्रीदत्तायां सुतो वणिक् ॥ १००॥
सुदत्तो नाम तस्यासीद्भार्या प्रीतिङ्करास्त्रियात् । दृष्ट्वा नलिनकेतुस्तां क्वचिद्वनविहारिणीम् ॥१०१॥
मदनानलसन्तप्ततद्दाहं[2] सोढुमक्षमः । न्यायवृत्तिं समुल्लङ्घ्य बलादहृत दुर्मतिः ॥१०२॥
सुदत्तस्तेन निर्विण्णः सुव्रताख्यजिनान्तिके । प्रव्रज्य सुचिरं घोरं तपः कृत्वाऽऽयुषोऽवधौ ॥१०३॥
संन्यस्येशानकल्पेऽभूदेकसागरजीवितः । तत्र भोगाँश्चिरं भुक्त्वा ततः प्रच्युत्य पुण्यभाक् ॥१०४॥
जम्बूद्वीपसुकच्छाख्यविजयार्द्धाचलोत्तर–। श्रेण्यां पुरेऽभवत्काञ्चनाद्यन्ततिलकाह्वये ॥ १०५ ॥
महेन्द्रविक्रमस्येष्टतनूजोऽजितसेनवाक् । [3]अभवन्नीलवेगायां विद्याविक्रमदुर्गतः ॥ १०६ ॥
इतो नलिनकेतुश्च वीक्ष्योल्कापातमात्मवान् । निर्विद्य प्राक्तनात्मीयं दुश्चरित्रं विनिन्दयन् ॥१०७॥
सीमङ्करमुनिं श्रित्वा दीक्षामादाय शुद्धधीः । क्रमात्कैवल्यमुत्पाद्य सम्प्रापत्क्षितिमष्टमीम् ॥१०८॥

मेरी स्त्री है ॥ ९३ ॥ मेरे तथा सुकान्ताके यह शान्तिमती नामकी सती पुत्री उत्पन्न हुई है। यह विद्या सिद्ध करनेके लिए मुनिसागर नामक पर्वतपर गई थी ॥ ९४ ॥ उसी समय यह पापी इसकी विद्या सिद्ध करनेमें विघ्न करनेके लिए उपस्थित हुआ था परन्तु पुण्यकर्मके उदयसे इसकी विद्या सिद्ध हो गई ॥ ९५ ॥ यह पापी विद्याके भयसे ही आपके शरण आया है। मैं विद्याकी पूजाकी सामग्री ले कर उसी समय वहाँ आया था परन्तु वहाँ अपनी पुत्रीको न देख शीघ्र ही उसी मार्गसे इनके पीछे आया हूँ। इस प्रकार उस वृद्ध विद्याधरने कहा। यह सब सुनकर अवधिज्ञानरूपी नेत्रको धारण करने वाले राजा वज्रायुध कहने लगे। कि 'इसकी विद्यामें विघ्न होनेका जो बड़ा भारी कारण है उसे मैं जानता हूँ' ऐसा कहकर वे स्पष्ट रूपसे उसकी कथा कहने लगे ॥ ९६–९८ ॥

उन्होंने कहा कि 'इसी जम्बूद्वीपके ऐरावत क्षेत्रमें एक गान्धार नामका देश है उसके विन्ध्यपुर नगरमें गुणोंसे सुशोभित राजा विन्ध्यसेन राज्य करता था। उसकी सुलक्षणा रानीसे नलिनकेतु नामका पुत्र हुआ था। उसी नगरमें एक धनमित्र नामका वणिक् रहता था। उसकी श्रीदत्ता स्त्रीसे सुदत्त नामका पुत्र हुआ था। सुदत्तकी स्त्रीका नाम प्रीतिंकरा था। एक दिन प्रीतिंकरा किसी वनमें विहार कर रही थी। उसी समय राजपुत्र नलिनकेतुने उसे देखा और देखते ही कामाग्निसे ऐसा संतप्त हुआ कि उसकी दाह सहन करनेमें असमर्थ हो गया। उस दुर्बुद्धिने न्यायवृत्तिका उल्लङ्घन कर बलपूर्वक प्रीतिंकराका हरण कर लिया ॥ ९९–१०२ ॥ सुदत्त इस घटनासे बहुत ही विरक्त हुआ। उसने सुव्रत नामक जिनेन्द्रके समीप दीक्षा ले ली और चिर काल तक घोर तपश्चरण कर आयुके अन्तमें संन्यासमरण किया जिससे ऐशान स्वर्गमें एक सागरकी आयुवाला देव हुआ। वह पुण्यात्मा चिर काल तक भोग भोग कर वहाँसे च्युत हुआ और इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी सुकच्छ देशके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीपर काञ्चनतिलक नामक नगरमें राजा महेन्द्रविक्रम और नीलवेगा नामकी रानीके अजितसेन नामका प्यारा पुत्र हुआ। यह विद्या और पराक्रमसे दुर्जेय है ॥१०३–१०६॥

इधर नलिनकेतुको उल्कापात देखनेसे आत्मज्ञान हो गया। उसने विरक्त हो कर अपने पिछले दुश्चरित्रकी निन्दा की, सीमंकर मुनिके पास जाकर दीक्षा ली, बुद्धिको निर्मल बनाया, क्रम क्रमसे केवलज्ञान उत्पन्न किया और अन्तमें अष्टम भूमि—मोक्ष स्थान प्राप्त कर लिया ॥१०७–१०८॥

---

१ विद्यां पूजां क०, घ०। २ तं दाहं ल०। ३ अभूदनिलवेगायां म०, ल०।

प्रीतिङ्करापि [1]निर्वेगात्संश्रिता सुव्रतान्तिकम् । गृहसङ्गपरित्यागात्कृत्वा चान्द्रायणं परम् ॥१०९॥
प्रान्ते संन्यस्य सा प्रायात्कल्पमीशाननामकम् । तत्र स्वायुः स्थितिं नीत्वा दिव्यैर्भोगैस्ततश्च्युता ॥११०॥
[2]तवाजनि तनूजेयमयं विद्याविघातकृत् । तत्सम्बन्धादिति प्रोक्तं सर्वमाकर्ण्य भूभुजा ॥१११॥
निर्विद्य संसृतेः शान्तिमती क्षेमङ्कराह्वयात् । तीर्थेशाद्धर्ममासाद्य सद्यः प्राप्य सुलक्षणाम् ॥११२॥
गणिनीं संयमं श्रित्वा संन्यस्येशानसंज्ञके । नाके निलिम्पो भूत्वा स्वकायपूजार्थमागमत् ॥११३॥
तदानीमेव कैवल्यं प्रापत् पवनवेगवाक् । सहैवाजितसेनेन कृत्वा पूजां तयोरयात् ॥ ११४ ॥
तथा चक्रधरे राज्यलक्ष्म्यालिङ्गितविग्रहे । दशाङ्गभोगसाद्भूते पाति षट्खण्डमण्डलम् ॥११५॥
विद्याधराद्रयपाग्भागे शिवमन्दिरभूपतिः । मेघवाहननामास्य विमलाख्या प्रिया तयोः ॥११६॥
सुता कनकमालेति कल्याणविधिपूर्वकम् । जाता कनकशान्तेः सा क्षपकेतुं सुखावहा ॥ ११७ ॥
तथा [3]वस्त्वोकसाराख्यपुराधीशखगेशिनः । सुता समुद्रसेनस्य जयसेनोदरोदिता ॥११८॥
प्रिया वसन्तसेनाऽपि बभूवास्य कनीयसी । ताभ्यां निर्वृतिमापासौ दृष्टिचर्याद्वयेन वा ॥११९॥
[4]कोकिलाप्रथमालापैराहूत इव कौतुकात् । अयाद्वनविहाराय कदाचित्स सहप्रियः ॥ १२० ॥
कन्दमूलफलान्वेषी निधिं वा सुकृतोदयात् । कुमारो मुनिमद्राक्षीद्विपिने विमलप्रभम् ॥१२१॥
तं त्रिः परीत्य वन्दित्वा ततस्तत्त्वं प्रबुद्धवान् । मनोरजः समुद्धूय शुद्धिं बुद्धेरुपासदत् ॥१२२॥
तदानीमेवा[5]दीक्षालक्ष्मीश्च स्वयं [illegible] तपःश्रियः ॥१२३॥

प्रीतिंकरा भी विरक्त हो कर सुव्रता आर्यिकाके पास गई और घर तथा परिग्रहका त्याग कर चान्द्रायण नामक श्रेष्ठ तप करने लगी। अन्तमें संन्यासमरण कर ऐशान स्वर्गमें देवी हुई। वहाँ दिव्य भोगोंके द्वारा अपनी आयु पूरी कर वहाँसे च्युत हुई और अब तुम्हारी पुत्री हुई है। पूर्व पर्यायके सम्बन्धसे ही इस विद्याधरने इसकी विद्यामें विघ्न किया था। इस प्रकार राजा वज्रायुधके द्वारा कही हुई सब बात सुनकर शान्तिमती संसारसे विरक्त हो गई। उसने क्षेमंकर नामक तीर्थंकरसे धर्म श्रवण किया और शीघ्र ही सुलक्षणा नामकी आर्यिकाके पास जा कर संयम धारण कर लिया। अन्तमें संन्यास मरण कर वह ऐशान स्वर्गमें देव हुई। वह अपने शरीरकी पूजाके लिए आई थी उसी समय पवनवेग और अजितसेन मुनिको केवलज्ञान प्राप्त हुआ सो उनकी पूजा कर वह अपने स्थान पर चली गई ॥ १०९–११४ ॥ इस प्रकार जिनका शरीर राज्यलक्ष्मीसे आलिङ्गित हो रहा है ऐसे चक्रवर्ती वज्रायुध दश प्रकारके भोगोंके आधीन होकर जब छहो खण्ड पृथिवी का पालन करते थे ॥ ११५ ॥ तब विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीके शिवमन्दिर नगरमें राजा मेघवाहन राज्य करते थे उनकी स्त्रीका नाम विमला था। उन दोनोंके कनकमाला नामकी पुत्री हुई थी। उसके जन्मकालमें अनेक उत्सव मनाये गये थे। तरुणी होनेपर वह राजा कनकशान्तिको कामसुख प्रदान करने वाली हुई थी अर्थात् उसके साथ विवाही गई थी ॥ ११६–११७ ॥ इसके सिवाय वस्त्वोकसार नगरके स्वामी समुद्रसेन विद्याधरकी जयसेना रानीके उदरसे उत्पन्न हुई वसन्तसेना भी कनकशान्तिकी छोटी स्त्री थी। जिसप्रकार दृष्टि और चर्या—सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे निर्वृति–निर्वाण–मोक्ष प्राप्त होता है उसी प्रकार उन दोनों स्त्रियोंसे राजा कनकशान्ति निर्वृति–सुख प्राप्त कर रहा था ॥ ११८–११९ ॥ किसी समय राजा कनकशान्ति कोयलोंके प्रथम आलापसे बुलाये हुएके समान कौतुक वश अपनी स्त्रियोंके साथ वनविहारके लिए गया था ॥ १२० ॥ जिस प्रकार कन्दमूल फल ढूंढने वालेको पुण्योदयसे खजाना मिल जाय उसी प्रकार उस कुमारको वनमें विमलप्रभ नामके मुनिराज दीख पड़े ॥ १२१ ॥ उसने उनकी तीन प्रदक्षिणाएं दीं, वन्दना की, उनसे तत्त्वज्ञान प्राप्त किया और अपने मनकी धूलि उड़ाकर बुद्धिको शुद्ध किया ॥ १२२ ॥ उसी समय दीक्षा-लक्ष्मीने उसे अपने वश कर लिया अर्थात् उसने दीक्षा धारण कर ली इसलिए कहना पड़ता है कि वसन्त-लक्ष्मी मानो तपोलक्ष्मीकी दूती ही थी। भावार्थ—जिसप्रकार दूती, पुरुषका स्त्रीके साथ समागम

---

१ प्रीतिंकरातिनिर्वेगात् ख० । प्रीतिंकरापि संवेगात् म०, ल० । २ तदाजनि म० । ३ वास्त्वोकसाराख्य–क०, ग०, घ०, वस्त्वौक-म० । ४ कोकिलप्रयमा–क०, ख०, घ० । ५ तपःश्रियम् क०, घ० ।

देव्यौ विमलमत्याख्यगणिनीं ते समाश्रिते । अदीक्षेतां सहैतेन युक्तं तत्कुलयोषिताम् ॥१२४॥
सिद्धाचले कदाचित्तं प्रतिमायोगधारिणम् । खगो वसन्तसेनाया बद्धवैरेण मैथुनः ॥१२५॥
विलोक्य चित्रचूलाख्यः कोपारुणितवीक्षणः । प्रारिप्सुरुपसर्गाय तर्जितः[1] खेचरेश्वरैः[2] ॥१२६॥
अन्यदा रत्नसेनाख्यो नृपो रत्नपुराधिपः । दत्त्वाऽऽप पञ्चकाश्चर्यं भिक्षां कनकशान्तये ॥१२७॥
[3]चित्रचूलः पुनश्चास्य प्रतिमायोगधारिणः । वने सुरनिपाताख्ये विघातं कर्तुमुद्यतः ॥१२८॥
तस्मिन् कोपं परित्यज्य घातिघाता यतीश्वरः । केवलावगमं प्राप्तस्ताऽपि कोपो न हीदृशाम् ॥१२९॥
देवागमनमालोक्य भीत्वा स खगपापकः । तमेव शरणं यातो नीचायां वृत्तिरीदृशी ॥१३०॥
अथ वज्रायुधाधीशो [4]नप्तृकैवल्यदर्शनात् । लब्धबोधिः सहस्रायुधाय राज्यं प्रदाय तत् ॥१३१॥
दीक्षां क्षेमङ्कराख्यान[5]तीर्थकर्तुरुपान्तगः । प्राप्य सिद्धिगिरौ वर्षप्रतिमायोगमास्थितः ॥१३२॥
तस्य पादौ समालम्ब्य वाल्मीकं बह्ववर्तत । वर्द्धयन्ति महात्मानः पादलग्नानपि द्विषः ॥१३३॥
व्रतिनं तं व्रतत्योऽपि मार्दवं वा समीप्सवः । गाढं रूढाः समासेदुराकण्ठमभितस्तनुम् ॥१३४॥
अश्वग्रीवसुतौ रत्नकण्ठरत्नायुधाभिधौ । भ्रान्त्वा [6]जन्मन्यतिबलमहाबलसमाख्यया ॥१३५॥
भूत्वाऽसुरौ तमभ्येत्य तद्विघातं चिकीर्षुकौ । रम्भातिलोत्तमे दृष्ट्वा तर्जयित्वाऽतिभक्तितः ॥१३६॥

करा देती है उसी प्रकार वसन्तलक्ष्मीने राजा कनकशान्तिका तपोलक्ष्मीके साथ समागम करा दिया था ॥ १२३ ॥ इसीके साथ इसकी दोनों स्त्रियोंने भी विमलमती आर्यिकाके पास जाकर दीक्षा धारण कर ली सो ठीक ही है क्योंकि कुलीन स्त्रियोंको ऐसा करना उचित ही है ॥ १२४ ॥ किसी समय कनकशान्ति मुनिराज सिद्धाचलपर प्रतिमायोगसे विराजमान थे वहीं पर उनकी स्त्री वसन्तसेनाका भाई चित्रचूल नामका विद्याधर आया। पूर्वजन्मके बंधे हुए वैरके कारण उसकी आँखे क्रोधसे लाल हो गईं। वह उपसर्ग प्रारम्भ करना ही चाहता था कि विद्याधरोंके अधिपतिने ललकार कर उसे भगा दिया ॥ १२४-१२६ ॥ किसी एक दिन रत्नपुरके राजा रत्नसेनने मुनिराज कनकशान्तिके लिए आहार देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ १२७ ॥ किसी दूसरे दिन वही मुनिराज सुरनिपात नामके वनमें प्रतिमायोग धारणकर विराजमान थे। वह चित्रचूल नामका विद्याधर फिरसे उपसर्ग करनेके लिए तत्पर हुआ ॥ १२८ ॥ परन्तु उन मुनिराजने उसपर रंचमात्र भी क्रोध नहीं किया बल्कि घातिया कर्मोंका नाशकर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमानोंको किसी पर क्रोध करना उचित नहीं है ॥ १२९ ॥ केवलज्ञानका उत्सव मनानेके लिए देवोंका आगमन हुआ। उसे देख वह पापी विद्याधर डरकर उन्हीं केवली भगवान्की शरणमें पहुंचा सो ठीक ही है क्योंकि नीच मनुष्योंकी प्रवृत्ति ऐसी ही होती है ॥ १३० ॥

अथानन्तर नातीके केवलज्ञानका उत्सव देखनेसे वज्रायुध महाराजको भी आत्मज्ञान हो गया जिससे उन्होंने सहस्रायुधके लिए राज्य दे दिया और क्षेमंकर तीर्थंकरके पास पहुँचकर दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेनेके बाद ही उन्होंने सिद्धिगिरि नामक पर्वतपर एक वर्षके लिए प्रतिमायोग धारण कर लिया ॥ १३१-१३२ ॥ उनके चरणोंका आश्रय पाकर बहुतसे बमीठे तैयार हो गये सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुष चरणोंमें लगे शत्रुओंको भी बढ़ाते हैं ॥ १३३ ॥ उनके शरीरके चारों ओर सघन रूपसे जमी हुई लताएं भी मानो उनके परिणामोंकी कोमलता प्राप्त करनेके लिए ही उन मुनिराजके पास तक जा पहुँची थीं ॥ १३४ ॥ अश्वग्रीवके रत्नकण्ठ और रत्नायुध नामके जो दो पुत्र थे वे चिरकाल तक संसारमें भ्रमण कर अतिबल और महाबल नामके असुर हुए। वे दोनों ही असुर उन मुनिराजका विघात करनेकी इच्छासे उनके सम्मुख गये परन्तु रम्भा और तिलोत्तमा नामकी देवियोंने देख लिया अतः डांटकर भगा दिया तथा दिव्य गन्ध आदिके द्वारा बड़ी भक्तिसे उनकी पूजा की। पूजाके बाद वे देवियां स्वर्ग चली गईं। देखो कहाँ दो स्त्रियाँ और

---

१ तर्जितं ख० । २ खचरेश्वरैः ल० । ३ रत्नचूलः ख० । ४ नप्तृकेवल-ल० । ५-ख्यात-ख० । ६ जन्मानि ल० ।

गन्धादिभिर्यतिं दिव्यैरभ्यर्च्यं दिवमीयतुः । क्व वा ते क्वाऽसुरौ पुण्ये सति किं न घटामटेत् ॥१३७॥
किञ्चित्कारणमुद्दिश्य वज्रायुधसुतोऽपि तत् । राज्यं शतबलिन्युच्चैर्निधाय निहतस्पृहः ॥१३८॥
संयमं सम्यगादाय मुनीन्द्रात् पिहितास्रवात् । योगावसाने स प्रापद्वज्रायुधमुनीश्वरम् ॥१३९॥
तावुभौ सुचिरं कृत्वा प्रव्रज्यां सह दुःस्सहाम् । वैभारपर्वतस्याग्रे विग्रहेऽप्यकृताग्रहौ ॥१४०॥
ऊर्ध्वग्रैवेयकस्याधोऽभूतां सौमनसाह्वये । एकान्नत्रिंशदब्ध्यायुषौ विमाने महर्द्धिकौ ॥१४१॥
ततोऽवज्रायुधश्च्युत्वा द्वीपेऽस्मिन् प्राग्विदेहगे । विषये पुष्कलावत्यां नगरी पुण्डरीकिणी ॥१४२॥
पतिर्घनरथस्तस्य देवी कान्ता मनोहरा । तयोर्मेघरथाख्योऽभूदाधानाद्यासत्क्रियः ॥१४३॥
तस्यैवान्योऽहमिन्द्रोऽपि सुतो दृढरथाह्वयः । जातो मनोरमायां तावि व चन्द्रदिवाकरौ ॥१४४॥
तयोः पराक्रमप्रज्ञाप्रश्रयप्राभवक्षमाः । सत्यत्यागादयोऽन्ये च प्रादुरासन् गुणाः स्थिराः ॥१४५॥
सुतौ तौ यौवनापूर्णौ प्राप्तैश्वर्याविव द्विपौ । विलोक्य तद्विवाहार्थं महीशो विहितस्मृतिः ॥१४६॥
ज्येष्ठसूनोर्विवाहेन प्रियमित्रामनोरमे । कनीयसोऽपि सुमतिं विदधे चिरवल्लभाम् ॥१४७॥
अभवत्प्रियमित्रायां तनूजो नन्दिवर्द्धनः । सुमत्यां वरसेनाख्यः सुतो दृढरथस्य च ॥१४८॥
इति स्वपुत्रपौत्रादिसुखसाधनसंयुतः । सिंहविष्टरमभ्यास्य शक्रलीलां समावहन् ॥१४९॥
तदात्र प्रियमित्रायाः सुषेणा नाम चेटिका । कृकवाकुं समानीय [1]घनतुण्डाभिधानकम् ॥१५०॥
दर्शयित्वाऽऽह यद्येनं जयेयुः कृकवाकुकाः । परेषां प्रददे तेभ्यो दीनाराणां सहस्रकम् ॥१५१॥
इति देव्या कनीयस्याः श्रुत्वा तद्वणिकाऽऽनयत् । काञ्चना वज्रतुण्डाख्यं कुक्कुटं योधने तयोः ॥१५२॥

कहाँ दो असुर फिर भी उन स्त्रियोंने असुरोंको भगा दिया सो ठीक है क्योंकि पुण्यके रहते हुए कौनसा कार्य सिद्ध नहीं हो सकता ? ॥ १३५–१३७ ॥

इधर वज्रायुधके पुत्र सहस्रायुधको भी किसी कारणसे वैराग्य हो गया, उन्होंने अपना राज्य शतबलीके लिए दे दिया, सब प्रकारकी इच्छाएं छोड़ दीं और पिहितास्रव नामके मुनिराजसे उत्तम संयम प्राप्त कर लिया। जब एक वर्षका योग समाप्त हुआ तब वे अपने पिता-वज्रायुध मुनिराजके समीप जा पहुँचे ॥ १३८–१३९ ॥ पिता पुत्र दोनोंने चिरकाल तक दुःसह तपस्या की, अन्तमें वे वैभार पर्वतके अग्रभागपर पहुँचे। वहाँ उन्होंने शरीरमें भी अपना आग्रह छोड़ दिया अर्थात् शरीरसे स्नेहरहित हो कर संन्यासमरण किया और ऊर्ध्वग्रैवेयकके नीचेके सौमनस नामक विमान में बड़ी ऋद्धिके धारक अहमिन्द्र हुए, वहाँ उनतीस सागरकी उनकी आयु थी ॥ १४०–१४१ ॥

इसी जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें पुष्कलावती नामका देश है। उसकी पुण्डरीकिणी नामकी नगरीमें राजा घनरथ राज्य करते थे। उनकी मनोहरा नामकी सुन्दर रानी थी। वज्रायुधका जीव ग्रैवेयकसे च्युत होकर उन्हीं दोनोंके मेघरथ नामका पुत्र हुआ। उसके जन्मके पहले गर्भाधान आदि क्रियाएं हुई थीं ॥ १४२–१४३ ॥ उन्हीं राजा घनरथकी दूसरी रानी मनोरमा थी। दूसरा अहमिन्द्र (सहस्रायुध का जीव) उसीके गर्भसे दृढरथ नामका पुत्र हुआ। ये दोनों ही पुत्र चन्द्र और सूर्यके समान जान पड़ते थे ॥ १४४ ॥ उन दोनोंमें पराक्रम, बुद्धि, विनय, प्रभाव, क्षमा, सत्य, त्याग आदि अनेक स्थायी गुण प्रकट हुए थे ॥ १४५ ॥ दोनों ही पुत्र पूर्ण युवा हो गये और ऐश्वर्य प्राप्त गजराजके समान सुशोभित होने लगे। उन्हें देख राजाका ध्यान उनके विवाहकी ओर गया ॥ १४६ ॥ उन्होंने बड़े पुत्रका विवाह प्रियमित्रा और मनोरमाके साथ किया था तथा सुमतिको छोटे पुत्रकी हृदय-वल्लभा बनाया था ॥ १४७ ॥ कुमार मेघरथकी प्रियमित्रा स्त्रीसे नन्दिवर्धन नामका पुत्र हुआ और दृढरथकी सुमति नामकी स्त्रीसे वरसेन नामका पुत्र हुआ ॥ १४८ ॥ इस प्रकार पुत्र पौत्र आदि सुखके समस्त साधनोंसे युक्त राजा घनरथ सिंहासन पर बैठकर इन्द्रकी लीला धारण करता था ॥ १४९ ॥ उसी समय प्रियमित्राकी सुषेणा नामकी दासी घनतुण्ड नामका मुर्गा लाकर दिखलाती हुई बोली कि यदि दूसरोंके मुर्गे इसे जीत लें तो मैं एक हजार दीनार दूँगी। यह सुनकर छोटी स्त्रीकी काञ्चना नामकी दासी एक वज्रतुण्ड नामका मुर्गा ले आई। दोनोंका युद्ध होने लगा, वह युद्ध

---

१ वज्रतुण्डाभिधानकं क०, ख०, ग०, घ० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अन्योन्यदुःखहेतुत्वादेतयोः पश्यतामपि । हिंसानन्दादिकं द्रष्टुमयोग्यं धर्मवेदिनाम् ॥१५३॥
इति स्मरंश्च भव्यानां बहूनामुपशान्तये । स्वकीयपुत्रमाहात्म्यप्रकाशनधिया च तत् ॥ १५४ ॥
युद्धं धनरथाधीशो लोकमानो दृढक्रुधोः । स मेघरथमप्राक्षीत् बलमेतत्कुतोऽनयोः ॥१५५॥
इति तेन स पृष्टः सन् विशुद्धावधिलोचनः । तयोस्तादृशयुद्धस्य हेतुमेवमुदाहरत् ॥१५६॥
अस्मिन्नैरावते रत्नपुरे शाकटिकौ क्रुधा । सोदर्यौ भद्रधन्याख्यौ बलीवर्दनिमित्ततः ॥१५७॥
पापिष्ठौ [1]श्रीनदीतीरे हत्वा मृत्वा परस्परम् । काञ्चनाख्यसरित्तीरे श्वेतताम्रादिकर्णकौ ॥१५८॥
स्वपूर्वजन्मपापेन जायेतां वनवारणौ । तत्रापि भवसम्बद्धक्रोधायुध्वा मृतिं गतौ ॥१५९॥
अयोध्यापुरवास्तव्यो नन्दिमित्रोऽस्ति [2]बल्लवः । महिषीमण्डले तस्य जज्ञाते गवलोत्तमौ ॥१६०॥
दृप्तौ तत्रापि संरम्भसम्भृतौ तौ परस्परम् । बभूवतुश्चिरं युद्ध्वा शृङ्गाग्राकृष्टजीवितौ ॥१६१॥
तस्मिन्नेव पुरे शक्तिवरशब्दादिसेनयोः । मेषावभूतां तौ राजपुत्रयोर्वज्रमस्तकौ ॥१६२॥
युद्ध्वाऽन्योन्यं गतप्राणौ सञ्जातौ कुक्कुटाविमौ । स्वविद्याध्यासितावेतौ गूढौ योधयतः खगौ ॥१६३॥
कारणं किं तयोः कौ च तौ चेच्छृणु महीपते । जम्बूपलक्षिते द्वीपे भरते खचराचले ॥१६४॥
पुरेऽभूदुत्तरश्रेण्यां कनकादिनि भूपतिः । खगो गरुडवेगाख्यो धृतिषेणास्य वल्लभा ॥ १६५॥
तिलकान्तदिविश्चन्द्रतिलकश्च सुतौ तयोः । सिद्धकूटे समासीनं चारणद्वन्द्वमाश्रितौ ॥१६६॥
स्तुत्वा स्वजन्मसम्बन्धं सप्रश्रयमपृच्छताम् । ज्येष्ठो मुनिस्तयोरेवं तत्प्रपञ्चमभाषत ॥१६७॥

दोनों मुर्गोंके लिए दुःखका कारण था तथा देखने वालोंके लिए भी हिंसानन्द आदि रौद्रध्यान करने वाला था अतः धर्मात्माओंके देखने योग्य नहीं है ॥ १५०–१५३ ॥ ऐसा विचार कर बहुतसे भव्य जीवोंको शान्ति प्राप्त कराने तथा अपने पुत्रका माहात्म्य प्रकाशित करनेकी बुद्धिसे राजा घनरथ उन दोनों क्रोधी मुर्गोंका युद्ध देखते हुए मेघरथसे पूछने लगे कि इनमें यह बल कहाँसे आया ? ॥ १५४–१५५ ॥ इस प्रकार घनरथके पूछने पर विशुद्ध अवधिज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करने वाला मेघरथ, उन दोनों मुर्गोंके वैसे युद्धका कारण कहने लगा ॥ १५६ ॥ उसने इस प्रकार कहना शुरू किया कि इसी जम्बूद्वीपके ऐरावत क्षेत्रमें एक रत्नपुर नामका नगर है उसमें भद्र और धन्य नामके दो सगे भाई थे। दोनों ही गाड़ी चलानेका कार्य करते थे। एक दिन वे दोनों ही पापी श्रीनदीके किनारे बैलके निमित्तसे लड़ पड़े और परस्पर एक दूसरेको मार कर मर गये। अपने पूर्व जन्मके पापसे मर कर वे दोनों काञ्चन नदीके किनारे श्वेतकर्ण और ताम्रकर्ण नामके जंगली हाथी हुए। वहाँपर भी वे दोनों पूर्व भवके बँधे हुए क्रोधसे लड़कर मर गये ॥ १५७–१५९ ॥ मर कर अयोध्या नगरमें रहने वाले नन्दिमित्र नामक गोपालकी भैंसोंके झुण्डमें दो उत्तम भैंसे हुए ॥ १६० ॥ दोनों ही अहंकारी थे अतः परस्परमें बहुत ही कुपित हुए और चिरकाल तक युद्धकर सींगोंके अग्रभाग की चोटसे दोनोंके प्राण निकल गये ॥ १६१ ॥ अबकी बार वे दोनों उसी अयोध्या नगरमें शक्तीवरसेन और शब्दवरसेन नामक राजपुत्रोंके मेढा हुए। उनके मस्तक वज्रके समान मजबूत थे। मेढ़े भी परस्परमें लड़े और मर कर ये मुर्गे हुए हैं। अपनी अपनी विद्याओंसे युक्त हुए दो विद्याधर छिप कर इन्हें लड़ा रहे हैं ॥ १६२ – १६३ ॥ उन विद्याधरोंके लड़ानेका कारण क्या है ? और वे कौन हैं ? हे राजन्, यदि यह आप जानना चाहते हैं तो सुनें। इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्रके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणी पर एक कनकपुर नामका नगर है। उसमें गरुडवेग नामका राजा राज्य करता था। धृतिषेणा उसकी स्त्रीका नाम था। उन दोनोंके दिवितिलक और चन्द्रतिलक नामके दो पुत्र थे। एक दिन ये दोनों ही पुत्र सिद्धकूट पर विराजमान चारणयुगलके पास पहुँचे ॥ १६४–१६६ ॥ और स्तुति कर बड़ी विनयके साथ अपने पूर्वभवके सम्बन्ध पूछने लगे। उनमें जो बड़े मुनि थे वे इस प्रकार विस्तारसे कहने लगे ॥ १६७ ॥

---

१ नदीतीर्थे ख० । गोपालः ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

धातकीखण्डप्राग्भागे पुरमैरावते भुवि । तिलकाख्यं पतिस्तस्य बभूवाभयघोषवाक् ॥१६८॥
सुवर्णतिलका तस्य देवी जातौ सुतौ तयोः । विजयोऽन्यो जयन्तश्च सम्पन्ननयविक्रमौ ॥१६९॥
खगाद्रिदक्षिणश्रेणीमन्दाराख्यपुरेशिनः । शङ्खस्य जयदेव्याश्च पृथिवीतिलका सुता ॥१७०॥
तस्य त्वभयघोषस्य साऽभवत्प्राणवल्लभा । [1]एकं संवत्सरं तस्यामेवासक्तेऽन्यदा विभौ ॥१७१॥
सुवर्णतिलका सार्द्धं विहर्तुं भवता वनम् । [2]वष्टीति नृपतिं चञ्चत्कान्त्यादितिलकोऽवदत् ॥१७२॥
तच्चेटिकावचः श्रुत्वा तदेप्सुमभिधाय तम्[3] । पृथिवीतिलका रम्यं वनमत्रैव दर्शये ॥१७३॥
इति तत्कालजं सर्वं वनवस्तु प्रदर्श्य सा । तेन शक्नुवती रोद्धुं मानभङ्गेन पीडिता ॥१७४॥
सुमतिं गणिनीं प्राप्य प्रव्रज्यामाददे सती । हेतुरासन्नभव्यानां मानश्च हितसिद्धये ॥१७५॥
भक्त्या दमवराख्याय दत्वा दानं महीपतिः । आश्चर्यपञ्चकं प्राप्य कदाचिदभयाह्वयः ॥१७६॥
अवाप्य सह सूनुभ्यामनन्तगुरुसन्निधिम् । लब्धबोधिः समादत्त दुस्सहं स महाव्रतम् ॥१७७॥
कारणं तीर्थकृन्नाम्नो भावयित्वाऽऽयुषोऽवधौ । सम्यगाराध्य पुत्राभ्यामच्युतं कल्पमात्मवान् ॥१७८॥
द्वाविंशत्यब्धिमानायुर्भुक्त्वा भोगांश्च तौ ततः । जीवितान्ते भवन्तौ तौ जातौ नृपकुमारकौ ॥१७९॥
इति तत्सम्यगाकर्ण्य भगवन्नावयोः पिता । क्वेति पृष्टो मुनिस्ताभ्यामब्रवीदिति तत्कथाम् ॥ १८० ॥
ततः प्रच्युत्य [4]कल्पान्ताद् हेमाङ्गदमहीपतेः । सुतोऽभून्मेघमालिन्यां देव्यां घनरथाह्वयः ॥ १८१ ॥
इदानीं पुण्डरीकिण्यां युद्धं कुक्कुटयोरसौ । [5]प्रेक्षमाणः स्थितः श्रीमान् देवीसुतसमन्वितः ॥ १८२ ॥

धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व भागमें जो ऐरावत क्षेत्र है उसकी भूमिपर एक तिलक नामका नगर है। उसके स्वामीका नाम अभयघोष था और उनकी स्त्रीका नाम सुवर्णतिलक था। उन दोनोंके विजय और जयन्त नामके दो पुत्र थे। वे दोनों ही पुत्र नीति और पराक्रमसे सम्पन्न थे। इसी क्षेत्रके विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें स्थित मन्दारनगरके राजा शङ्ख और उनकी रानी जयदेवीके पृथिवीतिलका नामकी पुत्री थी ॥ १६८–१७० ॥ वह राजा अभयघोषकी प्राणवल्लभा हुई थी। राजा अभयघोष उसमें आसक्त होनेसे एक वर्ष तक उसीके यहाँ रहे आये ॥ १७१ ॥ एकदिन चञ्चत्कान्तितिलका नामकी दासी आकर राजासे कहने लगी कि रानी सुवर्णतिलका आपके साथ वनमें विहार करना चाहती हैं ॥ १७२ ॥ चेटीके वचन सुनकर राजा वहाँ जाना चाहता था परन्तु पृथिवीतिलका राजासे मनोहर वचन बोली और कहने लगी कि वह यहीं दिखलाये देती हूँ ॥ १७३ ॥ ऐसा कह कर उसने उस समयमें होनेवाली वनकी सब वस्तुएँ दिखला दीं और इस कारण वह राजाको रोकनेमें समर्थ हो सकी। रानी सुवर्णतिलका इस मानभङ्गसे बहुत दुःखी हुई। अन्तमें उस सतीने सुमति नामक आर्यिकाके पास दीक्षा ले ली सो ठीक ही है क्योंकि निकट भव्यजीवोंका मानहित सिद्धिका कारण हो जाता है ॥ १७४–१७५ ॥ अभयघोष राजाने किसी दिन दमवर नामक मुनिराजके लिए भक्ति-पूर्वक दान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ १७६ ॥ वह एक दिन अपने दोनों पुत्रोंके साथ अनन्त नामक गुरुके समीप गया था वहाँ उसे आत्मज्ञान हो गया जिससे उसने कठिन महाव्रत धारण कर लिये ॥ १७७ ॥ तीर्थंकर नामकर्मके बन्धमें कारणभूत सोलह कारण भावनाओंका चिन्तवन किया और आयुके अन्तमें समाधिमरण कर अपने दोनों पुत्रोंके साथ अच्युतस्वर्गमें देव हुआ ॥ १७८ ॥ बाईस सागरकी आयु पाकर वे तीनों वहाँ मनोवाञ्छित भोग भोगते रहे। आयुके अन्तमें वहाँसे च्युत होकर दोनों ही विजय और जयन्त राजकुमारके जीव तुम दोनों उत्पन्न हुए हो ॥ १७९ ॥ यह सब अच्छी तरह सुनकर वे दोनों ही फिर पूछने लगे—कि हे भगवन्! हमारे पिता कहाँ हैं? ऐसा पूछे जानेपर वे पिताकी कथा इस प्रकार कहने लगे—॥ १८० ॥ उन्होंने कहा कि तुम्हारे पिताका जीव अच्युतस्वर्गसे च्युत होकर हेमाङ्गद राजाकी मेघमालिनी नामकी रानीके घनरथ नामका पुत्र हुआ है वह श्रीमान् इस समय रानियों तथा पुत्रोंके साथ पुण्डरीकिणी नगरीमें मुर्गोंका युद्ध

---

१ एक म०, ल० । २ वश् कान्तौ कामयते इच्छतीत्यर्थः । ३ ताम् क०, ल०, ग०, घ०, म०, ख० । ४ कल्पान्ते ल० । ५ प्रेक्ष्यमाणः ख० ।

तदाकर्ण्य भवत्प्रीत्या खगौ तावागताविमौ । इति मेघरथात्सर्वमाकर्ण्यात्मीयविग्रहम् ॥ १८३ ॥
प्रकटीकृत्य तौ भूपं कुमारं चाभिपूज्य तम् । गत्वा गोवर्द्धनोपान्ते दीक्षासिद्धिमवापताम् ॥ १८४ ॥
स्वपूर्वभवसम्बन्धं विदित्वा कुक्कुटौ च तौ । मुक्त्वा परस्पराबद्धवैरं संन्यस्य साहसात् ॥ १८५ ॥
अभूतां भूतदेवादिरमणान्तवनद्वये । ताम्रादिचूलचूलान्तकनकौ भूतजातिजौ ॥ १८६ ॥
तदैवागत्य तौ देवौ प्रीत्या मेघरथाह्वयम् । सम्पूज्याख्याय सम्बन्धं स्वजन्मान्तरजं स्फुटम् ॥ १८७ ॥
मानुषोत्तरमभ्रान्तर्वर्त्ति विश्वं विलोकय । एष एव तवायाभ्यामुपकारो विधीयताम्[1] ॥ १८८ ॥
इत्युदीर्य कुमारं तं स्वात्तथेति प्रतिश्रुतम् । सार्द्धं स्वाप्तैः समारोप्य विमानं विविधर्द्धिकम् ॥ १८९ ॥
सम्प्राप्य गगनाभोगं मेघमालाविभूषितम् । दर्शयामास तुर्यान्तौ कान्तान् देशान्यथाक्रमम् ॥ १९० ॥
भरतः प्रथमो देशस्ततो हैमवतः परः । हरिवर्षो विदेहश्च रम्यकः पञ्चमो मतः ॥ १९१ ॥
हैरण्यवतसंज्ञश्च परश्चैरावताह्वयः । पश्यैते सप्त भूभृद्भि[2]र्विभक्ताः सप्तभिर्विभो ॥ १९२ ॥
हिमवान् महाहिमवान् निषधो मन्दरो महान् । नीलो रुक्मी शिखर्याख्यो विख्याताः कुलपर्वताः॥१९३॥
इमा रम्या महानद्यश्चतुर्दशसमुद्गगाः । पद्मादिह्रदसम्भूता नानास्रोतस्विनीयुताः ॥ १९४ ॥
गङ्गा सिन्धुश्च रोहिच्च रोहितास्या[3] हरित्परा । हरिकान्ता परा सीता सीतोदा चाष्टमी नदी ॥ १९५ ॥
नारी च नरकान्ता च कूलान्ता [4]स्वर्णसंज्ञिका । ततोऽन्या रूप्यकूलाख्या रक्ता रक्तोदया सह ॥ १९६॥
ह्रदाः षोडशसङ्ख्याः स्युः कुशेशयविभूषिताः । पश्य पद्मो महापद्मस्तिगञ्छः केसरी महा–॥ १९७ ॥
पुण्डरीकस्तथा पुण्डरीको निषधनामकः । परो देवकुरुः सूर्यः [5]सुलसो दशमः स्मृतः ॥ १९८ ॥
विद्युत्प्रभाह्वयः ख्यातो नीलवान् कुरुरुत्तरः । चन्द्रश्चैरावतो माल्यवांश्च विख्यातसंज्ञकः ॥ १९९ ॥
तेषामाद्येषु षट्सु स्युस्ताः श्रीह्रीधृतिकीर्तयः । बुद्धिर्लक्ष्मीश्च शक्रस्य व्यन्तर्यो वल्लभाङ्गनाः ॥ २०० ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सविधिसागर जी महाराज

देखता हुआ बैठा है ॥ १८१–१८२ ॥ उन मुनिराजसे ये सब बातें सुनकर ये दोनों ही विद्याधर आपके प्रेमसे यहाँ आये हैं । इस तरह मेघरथसे सब समाचार सुनकर उन विद्याधरोंने अपना स्वरूप प्रकट किया, राजा घनरथ और कुमार मेघरथकी पूजा की तथा गोवर्धन मुनिराजके समीप जाकर दीक्षा प्राप्त कर ली ॥ १८३–१८४ ॥ उन दोनों मुर्गोंने भी अपना पूर्वभवका सम्बन्ध जानकर परस्पर का बँधा हुआ वैर छोड़ दिया और अन्तमें साहसके साथ संन्यास धारण कर लिया । और भूतरमण तथा देवरमण नामक वनमें ताम्रचूल और कनकचूल नामके भूतजातीय व्यन्तर हुए ॥ १८५–१८६ ॥ उसी समय वे दोनों देव पुण्डरीकिणी नगरीमें आये और बड़े प्रेमसे मेघरथकी पूजा कर अपने पूर्व जन्मका सम्बन्ध स्पष्ट रूपसे कहने लगे ॥ १८७ ॥ अन्तमें उन्होंने कहा कि आप मानुषोत्तर पर्वतके भीतर विद्यमान समस्त संसारको देख लीजिये । हमलोगोंके द्वारा आपका कमसे कम यही उपकार हो जावे ॥ १८८ ॥ देवोंके ऐसा कहनेपर कुमारने जब तथास्तु कहकर उनकी बात स्वीकृत कर ली तब देवोंने कुमारको उसके आप्तजनोंके साथ अनेक ऋद्धियोंसे युक्त विमानपर बैठाया और मेघमालासे विभूषित आकाशमें ले जाकर यथाक्रमसे चलते चलते, सुन्दर देश दिखलाये ॥ १८९–१९० ॥ वे बतलाते जाते थे कि यह पहला भरतक्षेत्र है, यह उसके आगे हैमवत क्षेत्र है, यह हरिवर्ष क्षेत्र है, यह विदेह क्षेत्र है, यह पाँचवाँ रम्यक क्षेत्र है, यह हैरण्यवत क्षेत्र है और यह ऐरावत क्षेत्र है। इस प्रकार हे स्वामिन् ! सातके कुलाचलोंसे विभाजित ये सात क्षेत्र हैं ।॥ १९१–१९२ ॥ हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, महामेरु, नील, रुक्मी और शिखरी ये सात प्रसिद्ध कुलाचल हैं १९३ ॥ ये पद्मआदि सरोवरोंसे निकलने वाली, समुद्रकी ओर जानेवाली, अनेक नदियोंसे युक्त, मनोहर चौदह महानदियाँ हैं, ॥ १९४ ॥ गङ्गा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा ये उनके नाम हैं ॥ १९५–१९६ ॥ देखो, कमलोंसे सुशोभित ये सोलह ह्रद-सरोवर हैं । पद्म, महापद्म, तिगञ्छ, केसरी, महा-पुण्डरीक, पुण्डरीक, निषध, देवकुरु, सूर्य, दशवाँ सुलस, विद्युत्प्रभ, नीलवान्, उत्तरकुरु, चन्द्र, ऐरावत और माल्यवान् ये उन सोलह ह्रदोंके नाम हैं ॥१९७–१९९॥ इनमेंसे आदिके छह ह्रदोंमें क्रमसे श्री,

१ विधीयते ल० । २ विभुक्ताः ल० । ३ रोहितास्या ल० । ४ सुवर्ण ल० । ५ सुलभोः ल० ।

नागाः शेषेषु तत्तत्ताः सरस्वत्यभिधानिकाः। गुहवती च सहस्रनाग ह्रदस्था वक्षारपर्वताः ॥ २०१ ॥
चित्रपद्मादिकूटाख्यौ कूटान्तनलिनः परः। एकशैलस्त्रिकूटश्च कूटो वैश्रवणादिक[1]: ॥ २०२ ॥
अञ्जनात्माञ्जनौ श्रद्धावांश्च विजया[2]वती। आशीविषाभिधानश्च सुखावहसमाह्वयः ॥ २०३ ॥
चन्द्रमालस्तथा सूर्यमालो नागादिमालवाक्। देवमालः परो गन्धमादनो माल्यवानपि ॥ २०४ ॥
विद्युत्प्रभः सौमनसः प्रलयोत्पत्तिदूरगाः। विभङ्गनद्यो ह्येताश्च स्वच्छाम्बुपरिपूरिताः ॥ २०५ ॥
ह्रदाह्रदवतीसंज्ञे परा पङ्कवतीति च। तप्तमत्तजलाभ्याञ्च सहोन्मत्तजलाह्वया ॥ २०६ ॥
क्षीरोदा च सशीतोदा स्रोतोऽन्तर्वाहिनी परा। [3]गन्धादिमालिनी फेनमालिन्यूर्म्यादिमालिनी ॥ २०७ ॥
अमी च विषयाः कच्छसुकच्छपरिभाषितौ। महाकच्छा तथा कच्छकावत्यावर्तलाङ्गलाः ॥ २०८ ॥
पुष्कला पुष्कलावत्यो वत्सा नाम्ना च कीर्तिता। सुवत्सा च महावत्सा विख्याता वत्सकावती ॥२०९॥
रम्या च रम्यकाख्या रमणीया मङ्गलावती। पद्मा सुपद्मा महापद्मा [4]पद्मावत्यभिख्यया ॥ २१० ॥
शङ्खा च नलिनान्या[5] च कुमुदा सरिता परा। वप्रा सुवप्रा च महावप्रया वप्रकावती ॥ २११ ॥
गन्धा सुगन्धा [6]गन्धावत् सुगन्धा गन्धमालिनी। एताश्च राजधान्योऽत्र कुमारालोकयस्फुटम् ॥२१२॥
क्षेमा क्षेमपुरी चान्याऽरिष्टाऽरिष्टपुरी परा। खड्गाख्यया च मञ्जूषा [7]चौषधी पुण्डरीकिणी ॥ २१३ ॥
सुसीमा कुण्डला सार्द्धमपराजितसंज्ञया। प्रभङ्कराङ्कवत्याख्या पद्मावत्यभिधोदिता ॥ २१४ ॥
शुभा[8] शब्दाभिधाना च नगरी रत्नसञ्चया। अश्वसिंहमहापुर्यौ विजयादिपुरी परा ॥ २१५ ॥
अरजा विरजाश्चैवमशोका वीतशोकवाक्। विजया वैजयन्ती च जयन्ती चापराजिता ॥ २१६ ॥
अथ चक्रपुरी खड्गपुर्ययोध्या च वर्णिता। अवध्येत्यथ सीतोत्तराभागान्मेरुसन्निधेः ॥ २१७ ॥
प्रादक्षिण्येन वक्षाराद्र[9]दीश्च प्रतिपादितान्। समुद्रादिवनादीनि भूतोद्दिष्टानि भुभुजा ॥ २१८ ॥

ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये इन्द्रकी वल्लभा व्यन्तर देवियाँ रहती हैं ॥ २०० ॥ बाकीके दश ह्रदोंमें उसी नामके नागकुमारदेव सदा निवास करते हैं। हे महाभाग! इधर देखो, ये देखने योग्य वक्षार पर्वत हैं ॥ २०१ ॥ चित्रकूट, पद्मकूट, नलिनकूट, एकशैल, त्रिकूट, वैश्रवणकूट, अञ्जनात्म, अञ्जन, श्रद्धावान्, विजयावती, आशीविष, सुखावह, चन्द्रमाल, सूर्यमाल, नागमाल और देवमाल ये सोलह इनके नाम हैं। इनके सिवाय गन्धमादन, माल्यवान्, विद्युत्प्रभ और सौमनस्य ये चार गजदन्त हैं। ये सब पर्वत उत्पत्ति तथा विनाशसे दूर रहते हैं—अनादिनिधन हैं। इधर स्वच्छ जलसे भरी हुई ये विभङ्ग नदियाँ हैं ॥ २०२–२०५ ॥ ह्रदा, ह्रदवती, पङ्कवती, तप्तजला, मत्तजला, उन्मत्तजला, क्षीरोदा, शीतोदा, स्रोतोऽन्तर्वाहिनी, गन्धमालिनी, फेनमालिनी और ऊर्मिमालिनी ये बारह इनके नाम हैं ॥२०६–२०७॥ हे कुमार! स्पष्ट देखिये, कच्छा, सुकच्छा, महाकच्छा, कच्छकावती, आवर्ता, लाङ्गला, पुष्कला, पुष्कलावती, वत्सा, सुवत्सा, महावत्सा, वत्सकावती, रम्या, रम्यका, रमणीया, मङ्गलावती, पद्मा, सुपद्मा, महापद्मा, पद्मावती, शङ्खा, नलिना, कुमुदा, सरिता, वप्रा, सुवप्रा, महावप्रा, वप्रकावती, गन्धा, सुगन्धा, गन्धावत्सुगन्धा और गन्धमालिनी ये बत्तीस विदेहक्षेत्रके देश हैं। तथा क्षेमा, क्षेमपुरी, अरिष्टा, अरिष्टपुरी, खड्ग, मञ्जूषा, औषधी, पुण्डरीकिणी, सुसीमा, कुण्डला, अपराजिता, प्रभंकरा, अंकवती, पद्मावती, शुभा, रत्नसञ्चया, अश्वपुरी, सिंहपुरी, महापुरी, विजयपुरी, अरजा, विरजा, अशोका, वीतशोका, विजया, वैजयन्ती, जयंती, अपराजिता, चक्रपुरी, खड्गपुरी, अयोध्या और अवध्या ये बत्तीस नगरियाँ उन देशोंकी राजधानियाँ हैं। ये वक्षार पर्वत, विभंग नदी और देश आदि सब सीता नदीके उत्तरकी ओर मेरु पर्वतके समीपसे प्रदक्षिणा रूपसे वर्णन किये हैं। इनके सिवाय उन व्यन्तर देवोंने समुद्र, वन आदि जो जो दिखलाये थे वे सब राजकुमारने देखे। इच्छानुसार मानुषोत्तर पर्वत देखा और उसके बीचमें रहनेवाले समस्त प्रिय स्थान देखे। अपना तेज प्रकट करनेवाले राजकुमारने बड़ी

१ वैश्रवणादिमः ल०। २ विकटावती ग०। विजयावता ल०। ३ गम्भीरमालिनी ग०, ल०, म०। ४ पद्मकावत्यभिख्यया ख०। पद्मावत्यभिधोदिताम् ग०। ५ नलिनाख्या च ल०। ६ गन्धवती शन्दा ल०। ७ बौधधी ख०।–न्यौषधी घ०। बौषाधि म०। ८ शुभशब्दाभिधाना च ख०, ग०।

पश्यतान्यानि च स्वैरं मानुषोत्तरभूभृतः । मध्यवर्तीनि सर्वाणि प्रीत्याविष्कृततेजसा ॥ २१९ ॥
अकृत्रिमजिनागाराण्यभ्यर्च्य स्तुतिभिश्चिरम् । [1]स्तुत्वाऽर्थ्याभिर्निवृत्यापि स्वपुरं परमोत्सवम् ॥ २२०॥
दिव्याभरणदानेन परिपूज्य महीपतिम् । सामोक्तिभिश्च तौ व्यन्तरेशौ स्वावासमीयतुः ॥ २२१ ॥
यः कर्मव्यतिहारेण नोपकारार्णवं तरेत् । स जीवन्नपि निर्जीवो [2]निर्गन्धप्रसवोपमः ॥ २२२ ॥
कृकवाकू च चेदेवमुपकारविदौ कथम् । मनुष्यो जरयत्यङ्गे न चेदुपकृतं खलः ॥ २२३ ॥
कदाचित्काललाभेन नृपो घनरथाह्वयः । चोदितः स्वगतं धीमानिति देहादिचिन्तयत् ॥ २२४ ॥
धिक्कष्टमिष्टमित्येतत् शरीरं जन्तुरावसेत् । [3]अवस्करगृहाच्चैनं नापैत्यतिजुगुप्सितम् ॥ २२५ ॥
तर्पकाणि सुखान्याहुः कानि तान्यत्र देहिनाम् । मोहः कोऽयमतिदुःखेषु सुखास्था यत्परेद्युः ॥ २२६ ॥
जन्माद्यन्तर्मुहूर्तं चेज्जीवितं निश्चितं ततः । न क्षणे च कुतो जन्मी जायेत न हिते रतः ॥ २२७ ॥
बन्धवो बन्धनान्येते सम्पदो विपदोऽङ्गिनाम्[4] । न चेदेवं कुतः सन्तो वनान्तं[5] प्राक्तनाः गताः ॥२२८॥
वितर्कयन्तमित्येनं प्राप्य लौकान्तिकामराः । विज्ञायावधिविज्ञानादनुवक्तुं तदीप्सितम् ॥ २२९ ॥
देव देवस्य को वक्ता देव एवावगच्छति । साधु हेयमुपादेयं चार्थमित्यादिसंस्तवैः ॥ २३० ॥
स्तुत्वा सतामभिष्टुत्यमभ्यर्च्य प्रसवैर्निजैः । नियोगमनुपाल्य स्वं स्वं धामैतुं नभोऽगमन् ॥ २३१ ॥
ततो मेघ[6]रथो राज्यमभिषेकपुरस्सरम् । नियोज्याभिषवं देवैः स्वयं चाप्याप संयमम् ॥ २३२ ॥

प्रीतिसे अकृत्रिम जिन-मन्दिरोंकी पूजा की, अर्थपूर्ण स्तुतियोंसे स्तुति की और तदनन्तर बड़े उत्सवोंसे युक्त अपने नगरमें वापिस आ गये ॥ २०८–२२० ॥ वहाँ आकर उन व्यन्तर देवोंने दिव्य आभरण देकर तथा शान्तिपूर्ण शब्द कहकर राजाकी पूजा की और उसके बाद वे निवासस्थान पर चले गये ॥ २२१ ॥ जो मनुष्य बदलेके कार्यसे उपकार रूपी समुद्रको नहीं तिरता है अर्थात् उपकारी मनुष्यका प्रत्युपकार नहीं करता है वह गन्ध रहित फूलके समान जीता हुआ भी मरेके समान है ॥ २२२ ॥ जब ये दो मुर्गे इस प्रकार उपकार मानने वाले हैं तब फिर मनुष्य अपने शरीरमें जीर्ण क्यों होता है ? यदि उसने उपकार नहीं किया तो वह दुष्ट ही है ॥ २२३ ॥

किसी एक दिन काललब्धिसे प्रेरित हुए बुद्धिमान् राजा घनरथ अपने मनमें शरीरादिका इस प्रकार विचार करने लगे ॥ २२४ ॥इस जीवको धिक्कार है। बड़े दुःखकी बात है कि यह जीव शरीरको इष्ट समझकर उसमें निवास करता है परन्तु यह इस शरीरको विष्ठाके घरसे भी अधिक घृणास्पद नहीं जानता ॥२२५॥ जो संतोष उत्पन्न करनेवाले हों उन्हें सुख कहते हैं। परन्तु ऐसे सुख इस संसारमें प्राणियोंको मिलते ही कहाँ हैं ? यह कोई मोहका ही उदय समझना चाहिए कि जिसमें यह प्राणी पापके कारणभूत दुःखोंको सुख समझने लगता है ॥ २२६ ॥ जन्मसे लेकर अन्तमुहूर्त पर्यन्त यदि जीवके जीवित रहनेका निश्चय होता तो भी ठीक है परन्तु यह क्षणभर भी जीवित रहेगा जब इस बातका भी निश्चय नहीं है तब यह जीव आत्महित करनेमें तत्पर क्यों नहीं होता ? ॥ २२७ ॥ ये भाई-बन्धु एक प्रकारके बन्धन हैं और सम्पदाएँ भी प्राणियोंके लिए विपत्ति रूप हैं। यदि ऐसा न होता तो पहलेके सज्जन पुरुष जङ्गलके मध्य क्यों जाते ? ॥ २२८ ॥ इधर महाराज घनरथ ऐसा चिन्तवन कर रहे थे कि उसी समय अवधिज्ञानसे जानकर लौकान्तिक देव उनके इष्ट पदार्थका समर्थन करनेके लिए आ पहुँचे ॥ २२९ ॥ वे कहने लगे कि हे देव ! आपके लिए हितका उपदेश कौन दे सकता है ? आप स्वयं ही हेय उपादेय पदार्थको जानते हैं। इस प्रकार सज्जनोंके द्वारा स्तुति करने योग्य भगवान् घनरथकी लौकान्तिक देवोंने स्तुति की। स्वर्गीय पुष्पोंसे उनकी पूजा की, अपना नियोग पालन किया और यह सब कर वे अपने-अपने स्थान पर जानेके लिए आकाशमें जा पहुँचे ॥ २३०–२३१ ॥ तदनन्तर भगवान् घनरथने अभिषेक-पूर्वक मेघरथके लिए राज्य दिया, देवोंने उनका अभिषेक किया और इस तरह उन्होंने स्वयं संयम धारण कर लिया

---

१ स्तुत्वार्घ्याभिर्निवृत्याविशत्पुरं ल० । २ निर्गन्धकुसुमोपमः ल० । ३ अवास्करगृहाच्चैतन्नानेत्यति–ख० । ४ विपदाङ्गिनाम् ल० । ५ वनान्ते ख०, ग० । ६ मेघरथे ल० ।

मनोवाक्कायसंशुद्धि विदधद्विजितेन्द्रियः । कषायविषम[1]स्वन्तमव[2]मोहं वमन् सुधीः ॥ २३३ ॥
[3]आद्यश्रेणीं समारुह्य क्रमात्कर्माणि निर्ममः । निर्मूल्य निर्मलं भावमवापावगमस्य सः ॥ २३४ ॥
तदा कैवल्यसम्प्राप्ति[4]प्रभावात्कम्पितासनाः । निलिम्पाः सर्वसम्पत्त्या पत्युः पूजामकुर्वत ॥ २३५ ॥
स देवरमणोद्याने समं मेघरथोऽन्यदा । स्वदेवीभिर्विहृत्यास्थाच्चन्द्रकान्तशिलातले ॥२३६॥
निविष्टं तं समाक्रम्य गच्छन्कश्चिन्नभश्चरः । गण्डोपल इव व्योम्नि सरुद्धसुविमानकः ॥२३७॥
शिलां रुष्ट्वा[5] नृपारूढामुत्थापयितुमुद्यतः । नृपाङ्गुष्ठाग्रनिर्भुग्नशिलाभारप्रपीडितः ॥२३८॥
उत्तोलुमक्षमो भूयो भूमाक्रन्दाकुलध्वनम्[6] । तदा तत्खचरी प्राप्य नाथानाथाऽस्मि [7]नाथ्यसे ॥२३९॥
पतिभिक्षां ददस्वेति [8]प्राह प्रोत्थापितक्रमः । किमेतदिति भूनाथ संस्पृष्टः प्रियमित्रया ॥२४०॥
विजयाद्रालकाख्येशो विद्युद्दंष्ट्रखगाधिपः । प्राणेशाऽनिलवेगाऽस्य सुतः सिंहरथस्तयोः ॥२४१॥
अभिवन्द्य जिनाधीशमायन्नमितवाहनः[9] । ममोपरि विमाने स्वे रुद्धे नायाति केनचित् ॥२४२॥
[10]दिशो विलोक्य मां दृष्ट्वा स्वदर्पात् कोपवेपितः । [11]अस्मान् शिलातलेनामा[12] प्रोत्थापयितुमुद्यमी ॥
पीडितोऽयं मदङ्गुष्ठेनैषाप्यस्य[13] मनोरमा । इत्यब्रवीत्तदाकर्ण्य किं कोपस्यास्य कारणम् ॥२४४॥

॥ २३२ ॥ उन्होंने मन-वचन कायको शुद्ध बना लिया था, इन्द्रियोंको जीत लिया था, जिसका फल अच्छा नहीं ऐसे नीच कहे जानेवाले कषाय रूपी विषको उगल दिया था, उत्तम बुद्धि प्राप्त की थी, सब ममता छोड़ दी थी, क्षपकश्रेणीपर चढ़कर क्रम-क्रमसे सब कर्मोंको उखाड़ कर दूर कर दिया था और केवलज्ञान प्राप्त करनेके योग्य निर्मल भाव प्राप्त किये थे ॥ २३३–२३४ ॥ उस समय भगवान्‌को केवलज्ञान प्राप्त होनेसे देवोंके आसन कम्पित हो गये । उन्होंने आकर सर्व वैभवके साथ उनकी पूजा की ॥ २३५ ॥

किसी एक समय राजा मेघरथ अपनी रानियोंके साथ विहारकर देवरमण नामक उद्यानमें चन्द्रकान्त मणिके शिलातलपर बैठ गया ॥ २३६ ॥ उसी समय उसके ऊपरसे कोई विद्याधर जा रहा था । उसका विमान आकाशमें ऐसा रुक गया जैसा कि मानो किसी बड़ी चट्टानमें अटक गया हो ॥ २३७ ॥ विमान रुक जानेसे वह बहुत ही कुपित हुआ । राजा मेघरथ जिस शिलापर बैठे थे वह उसे उठानेके लिए उद्यत हुआ परन्तु राजा मेघरथने अपने पैरके अंगूठासे उस शिलाको दबा दिया जिससे वह शिलाके भारसे बहुत ही पीड़ित हुआ ॥ २३८ ॥ जब वह शिलाका भार सहन करनेमें असमर्थ हो गया तब करुण शब्द करता हुआ चिल्लाने लगा । यह देख, उसकी स्त्री विद्याधरी आई और कहने लगी कि हे नाथ ! मैं अनाथ हुई जाती हूं, मैं याचना करती हूं, मुझे पति-भिक्षा दीजिये । ऐसी प्रार्थना की जानेपर मेघरथने अपना पैर ऊपर उठा लिया । यह सब देख प्रियमित्राने राजा मेघरथसे पूछा कि हे नाथ ! यह सब क्या है ? ॥ २३९–२४० ॥ यह सुन राजा मेघरथ कहने लगा कि विजयार्धपर्वतपर अलका नगरीका राजा विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर है । अनिलवेगा उसकी स्त्रीका नाम है । यह उन दोनोंका सिंहरथ नामका पुत्र है । यह जिनेन्द्र भगवान्‌की वन्दनाकर अमित नामक विमानमें बैठा हुआ आ रहा था कि इसका विमान किसी कारणसे मेरे ऊपर रुक गया, आगे नहीं जा सका । जब उसने सब दिशाओंकी ओर देखा तो मैं दिख पड़ा । मुझे देख अहंकारके कारण उनका शरीर क्रोधसे काँपने लगा । वह शिलातलके साथ हम सब लोगोंको उठानेके लिए उद्यम करने लगा । मैंने पैरका अँगूठा दबा दिया जिससे यह पीड़ित हो उठा । यह उसकी मनोरमा नामकी स्त्री है । राजा मेघरथने यह कहा । इसे सुनकर प्रियमित्रा रानीने फिर पूछा कि इसके इस क्रोधका

---

१ न विद्यते सुष्ठु अन्तो यस्य तत् अस्वन्तम् । २ नीचैरिति निगाद्यमानम् । ३ क्षपकश्रेणीम् । ४ प्राभवात् क०, घ० । ५ दृष्ट्वा ल० । ६ करुणस्वरम् ल० । ७ नाथसे घ० । नार्थ्यसे ख० । ८ प्राहाथोत्थापित–ख० । ९ वाहनम् ल० । १० दिशां ख० । ११ अस्मिन् क०, ख०, घ० । १२ शिलातलेन अमा सह इति पदच्छेदः । १३ नैषोऽप्यस्य ल० ।

इदमेव किमस्त्यन्यदन्नान्यत्रापि [1]नेत्यसौ । तयोक्तो नान्यदित्यस्य प्राग्जन्मेत्युपदिष्टवान् ॥२४५॥
द्वीपे द्वितीये पूर्वस्मिन्नैरावतसमाह्वये । देशे शङ्खपुरे राजा [2]राजगुप्तोऽस्य शङ्खिका ॥२४६॥
भार्या तौ शङ्खशैलस्थात्सर्वगुप्तमुनीश्वरात् । आप्तौ जिनगुणख्यातिमुपोषितविधिं समम् ॥२४७॥
भिक्षाचरमथान्येद्युर्धृतिषेणयतीश्वरम् । निरीक्ष्य भिक्षां दत्वाऽस्मै वसुधाराद्यवापताम् ॥२४८॥
समाधिगुप्तमासाद्य संन्यस्याभूत्स भूपतिः । ब्रह्मेन्द्रः स्वायुषोत्कृष्टः तस्मात् सिंहरथोऽजनि ॥२४९॥
शङ्खिका च परिभ्रम्य संसारे तपसाऽगमत् । देवलोकं ततश्च्युत्वा खगभूभृदपाकृतटे ॥२५०॥
वस्वालयपुरे सेन्द्रकेतोरासीदियं सुता । सती मदनवेगाख्या सुप्रभाया स तच्छ्रुतेः ॥२५१॥
परितुष्य नृपं श्रित्वा पूजयित्वा यथोचितम् । सुवर्णतिलके राज्यं नियोज्य बहुभिः सह ॥२५२॥
दीक्षां घनरथाभ्यर्णे जैनीं सिंहरथोऽग्रहीत् । प्रियमित्राभिधां प्राप्य गणिनीं गुणसन्निधिम् ॥२५३॥
सुधीर्मदनवेगा च कृच्छ्रमुच्चाचरत्तपः । कोपोऽपि क्वाऽपि कोपोपलेपनापनुदे मतः ॥२५४॥
अथ स्वपुण्यकर्मोक्षप्राज्यराज्यमहोदयात् । त्रिवर्गफलपर्यन्तपरिपूर्णमनोरथम् ॥२५५॥
शुद्धश्रद्धानसम्पन्नं [3] व्रतशीलगुणान्वितम् ।।सप्रश्रयं श्रुताभिज्ञं प्रगल्भं वल्भभाषिणम्[4] ॥२५६॥
सुसप्तपरमस्थानभागिनं भव्यभास्करम् । नृपं मेघरथं दारदारकादिनिषेवितम् ॥२५७॥
कृत्वा नान्दीश्वरीं पूजां जैनधर्मोपदेशिनम्[5] । सोपवासमवाप्यैकः कपोतः तं सवेपथुः ॥२५८॥

कारण क्या है ॥ २४१–२४४ ॥ यही है कि और कुछ है ? इस जन्म सम्बन्धी या अन्य जन्म सम्बन्धी ? प्रियमित्राके ऐसा पूछनेपर मेघरथने कहा कि यही कारण है । अन्य नहीं है, इतना कहकर वह उसके पूर्वभव कहने लगा ॥ २४५ ॥

दूसरे धातकीखण्डद्वीपके पूर्वार्धभागमें जो ऐरावत क्षेत्र है, उसके शङ्खपुर नगरमें राजा राजगुप्त राज्य करता था । उसकी स्त्रीका नाम शङ्खिका था । एक दिन इन दोनों ही पति-पत्नियोंने शङ्खशैल नामक पर्वतपर स्थित सर्वगुप्त नामक मुनिराजसे जिनगुणख्याति नामक उपवास साथ-साथ ग्रहण किया । किसी दूसरे दिन धृतिषेण नामके मुनिराज भिक्षाके लिए घूम रहे थे । उन्हें देख दोनों दम्पतियोंने उनके लिए भिक्षा देकर रत्नवृष्टि आदि पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ २४६–२४८ ॥ तदनन्तर राजा राजगुप्तने समाधिगुप्त मुनिराजके पास संन्यास धारण किया जिससे उत्कृष्ट आयुका धारक ब्रह्मेन्द्र हुआ । वहाँसे चयकर सिंहरथ हुआ है । शङ्खिका भी संसारमें भ्रमणकर तपके द्वारा स्वर्ग गई। वहाँसे च्युत होकर विजयार्धपर्वतके दक्षिण तटपर वस्त्वालय नामके नगरमें राजा सेन्द्रकेतु और उसकी सुप्रभा नामकी स्त्रीसे मदनवेगा नामकी पुत्री उत्पन्न हुई है ॥ २४९–२५१ ॥ यह सुनकर राजा सिंहरथ बहुत ही सन्तुष्ट हुआ । उसने पास जाकर यथायोग्य रीतिसे राजा मेघरथकी पूजा की, सुवर्णतिलक नामक पुत्रके लिए राज्य दिया और बहुतसे राजाओंके साथ घनरथ तीर्थंकरके समीप जैनी दीक्षा ग्रहण कर ली । इधर बुद्धिमती मदनवेगा भी गुणोंकी भाण्डार स्वरूप प्रियमित्रा नामकी आर्यिकाके पास जाकर कठिन तपश्चरण करने लगी । सो ठीक ही है क्योंकि कहींपर क्रोध भी क्रोधका उपलेप दूर करनेवाला माना गया है ॥ २५२–२५४ ॥

अथानन्तर—अपने पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुए श्रेष्ठ राज्यके महोदयसे त्रिवर्गके फलकी प्राप्ति पर्यन्त जिसके समस्त मनोरथ पूर्ण हो चुके हैं, जो शुद्ध सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न है, व्रतशील आदि गुणोंसे युक्त है, विनय सहित है, शास्त्रको जाननेवाला है, गम्भीर है, सत्य बोलनेवाला है, सात परम स्थानोंको प्राप्त है, भव्य जीवोंमें देदीप्यमान है तथा स्त्री पुत्र आदि जिसकी सेवा करते हैं ऐसा राजा मेघरथ किसी दिन आष्टाह्निक पूजाकर जैनधर्मका उपदेश दे रहा था और स्वयं उपवासका नियम लेकर बैठा था कि इतनेमें काँपता हुआ एक कबूतर आया और उसके पीछे ही बड़े वेगसे चलनेवाला एक गीध आया । वह राजाके सामने खड़ा होकर बोला कि हे देव ! मैं बहुत भारी भूखकी वेदनासे पीड़ित हो रहा हूं इसलिए आप, आपकी शरणमें आया हुआ यह मेरा भक्ष्य

१ चैत्यसौ ख० । २ रतिगुप्तोऽस्य ग० । ३ सम्पन्नव्रतशील ग० । ४ वल्भभाषितम् ख० । ५ देशिनीम् ख० ।

तस्यानुपदमेवान्यो गृध्रो बद्धजवः पुरः । स्थित्वा नृपस्य [1]देवाहं महाक्षुद्वेदनातुरः ॥२५९॥
ततः कपोतमेतं मे भक्ष्यं त्वच्छरणागतम् । ददस्व दानशूर त्वं न चेद्विद्धयत्र मां मृतम् ॥२६०॥
इत्यवादीत्तदाकर्ण्य युवा दृढरथोऽब्रवीत् । पूज्य ब्रूहि वदत्येषे गृध्रः केनास्मि विस्मितः ॥२६१॥
इति स्वानुजसम्प्रश्नादित्यवोचन्महीपतिः । [2]इह जम्बूद्रुमद्वीपे क्षेत्रे मेरोरुदग्गते ॥२६२॥
नगरे पद्मिनीखेटे वणिक् सागरसेनवाक् । तस्यामितमतिः प्रीता तयोर्लघुतरौ सुतौ ॥२६३॥
धनमित्रोऽभवन्नन्दिषेणः स्वधनहेतुना । हत्वा परस्परं मृत्वा खगावेतौ बभूवतुः ॥२६४॥
देवः सन्निहितः कश्चित् गृध्रस्योपरि कः स चेत् । त्वया हेमरथो नाम्ना दमितारिरणे हतः ॥२६५॥
परिभ्रम्य भवे भूयः कैलासाद्रितटेऽभवत् । [3]पर्णकान्तानदीतीरे धीमांश्चन्द्राभिधानकः ॥२६६॥
श्रीदत्तायां कुशास्त्रज्ञस्तनूजः सोमतापसात् । [4]तपः पञ्चाग्नि सन्तप्य [5]द्योतिर्लोकेऽमरोऽजनि ॥२६७॥
स कदाचिद्दिवं गत्वा द्वितीयेन्द्रसभासदैः । दाता मेघरथान्यः क्षितावस्तीति संस्तुतम् ॥२६८॥
श्रुत्वा प्रोद्यदमर्षेण मां परीक्षितुमागतः । शृणु चेतः समाधाय भातर्दानादिलक्षणम् ॥२६९॥
अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं विदोऽवदन् । अनुग्रहोऽपि स्वान्योपकारित्वमभिधीयते ॥२७०॥
दाता च शक्तिविज्ञानश्रद्धादिगुणलक्षितः । देयं वस्त्वप्यपीडाभाक् तद्द्वयोर्गुणवर्द्धनम् ॥२७१॥
साधनं क्रमशो मुक्तेराहारो भेषजं श्रुतम् । सर्वप्राणिदया शुद्धं देयं सर्वज्ञभाषितम् ॥२७२॥
मोक्षमार्गे स्थितः पाता स्वस्यान्येषां च संसृतेः । पात्रं दानस्य सोऽभीष्टो निष्ठितार्थैर्निरञ्जनैः ॥२७३॥
कृतार्थः [6]सन् जगत्त्रातुं निरवद्यं वचोऽवदत् । भव्येभ्यः स हि दाता तद्देयं तत्पात्रमुत्तमम् ॥२७४॥

कबूतर मुझे दे दीजिये । हे दानवीर ! यदि आप यह कबूतर मुझे नहीं देते हैं तो बस, मुझ मरा ही समझिये ॥ २५५–२६० ॥ गीधके यह वचन सुनकर युवराज दृढ़रथ कहने लगा कि हे पूज्य ! कहिये तो, यह गीध इस प्रकार क्यों बोल रहा है, इसकी बोली सुनकर तो मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है । अपने छोटे भाईका यह प्रश्न सुनकर राजा मेघरथ इस प्रकार कहने लगा कि इस जम्बूद्वीपमें मेरुपर्वतके उत्तरकी ओर स्थित ऐरावत क्षेत्रके पद्मिनीखेट नामक नगरमें सागरसेन नामका वैश्य रहता था । उसकी स्त्रीका नाम अमितमति था । उन दोनोंके सबसे छोटे पुत्र धनमित्र और नन्दिषेण थे । अपने धनके निमित्तसे दोनों लड़ पड़े और एक दूसरेको मारकर ये कबूतर तथा गीध नामक पक्षी हुये हैं ॥ २६१–२६४ ॥ गीधके ऊपर कोई एक देव स्थित है । वह कौन है ? यदि यह जानना चाहते हो तो मैं कहता हूँ । दमितारिके युद्धमें तुम्हारे द्वारा जो हेमरथ मारा गया था वह संसारमें भ्रमणकर कैलाश पर्वतके तटपर पर्णकान्ता नदीके किनारे सोम नामक तापस हुआ । उसकी श्रीदत्ता नामकी स्त्रीके मिथ्याशास्त्रोंको जाननेवाला चन्द्र नामका पुत्र हुआ । वह पञ्चाग्नि तप तपकर ज्योतिर्लोकमें देव उत्पन्न हुआ ॥ २६५–२६७ ॥ वह किसी समय स्वर्ग गया हुआ था वहाँ ऐशानेन्द्रके सभासदोंने स्तुति की कि इस समय पृथिवीपर मेघरथसे बढ़कर दूसरा दाता नहीं है । मेरी इस स्तुतिको सुनकर इसे बड़ा क्रोध आया । यह उसी क्रोधवश मेरी परीक्षा करनेके लिए यहाँ आया है । हे भाई ! चित्तको स्थिरकर दान आदिका लक्षण सुनो ॥ २६८–२६९ ॥ अनुग्रह करनेके लिए जो कुछ अपना धन या अन्य कोई वस्तु दी जाती है उसे ज्ञानी पुरुषोंने दान कहा है और अनुग्रह शब्दका अर्थ भी अपना और दूसरेका उपकार करना बतलाया जाता है ॥ २७० ॥ जो शक्ति विज्ञान श्रद्धा आदि गुणोंसे युक्त होता है वह दाता कहलाता है और जो वस्तु देनेवाले तथा लेनेवाले दोनोंके गुणोंको बढ़ानेवाली है तथा पीड़ा उत्पन्न करनेवाली न हो उसे देय कहते हैं ॥ २७१ ॥ सर्वज्ञ देवने यह देय चार प्रकारका बतलाया है आहार, औषधि, शास्त्र तथा समस्त प्राणियोंपर दया करना । ये चारों ही शुद्ध देय हैं तथा क्रम-क्रमसे मोक्षके साधन हैं ॥ २७२ ॥ जो मोक्षमार्गमें स्थित है और अपने आपकी तथा दूसरोंकी संसार भ्रमणसे रक्षा करता है वह पात्र है ऐसा कर्ममल रहित कृतकृत्य जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ २७३ ॥ अथवा जो कृतकृत्य होकर जगत्की रक्षा करनेके लिए भव्य जीवोंको

१ देवाह ल० । २ अत्र जम्बूमति द्वीपे ख० । ३ पर्णकाशनदी ल०, ग०, म० । ४ ततः ख । ५ ज्योतिर्लोकेऽमरो म०, ल० । ६ स ल० ।

न तु मांसादिकं देयं पात्रं नास्य प्रतीच्छकः । तद्दातापि न दातेमौ ज्ञेयौ नरकनायकौ ॥ २७५ ॥
ततो गृध्रो न तत्पात्रं नायं [1]देयः कपोतकः । तथा मेघरथीं वाणीमाकर्ण्य ज्यौतिषामरः[2] ॥२७६॥
असि दानविभागज्ञो दानशूरश्च पार्थिव । इति स्तुत्वा प्रदर्श्यं स्वं तं [3]प्रपूज्य जगाम सः ॥२७७॥
द्विजद्वयमपि ज्ञात्वा तदुक्तं त्यक्तदेहकम् । अरण्ये देवरमणे स्तां सुरूपातिरूपकौ ॥ २७८ ॥
देवौ मेघरथं पश्चात्त्वत्प्रसादात्कुयोनितः । निरगाव नृपेत्युक्त्वा पूज्यं सम्पूज्य जग्मतुः ॥२७९॥
कदाचित्स नृपो दानं दत्त्वा दमवरेशिने[4] । चारणाय परिप्राप्तपञ्चाश्चर्यविधिः सुधीः ॥२८०॥
नन्दीश्वरे[5] महापूजां विधायोपोषितं श्रितः । निशायां प्रतिमायोगे ध्यायन्नस्थादिवाद्रिराट् ॥२८१॥
ईशानेन्द्रो [6]विदित्वैतन्मरुत्सदसि शुद्धदृक् । धैर्यसारस्त्वमेवाद्य चित्रमित्यब्रवीन्मुदा ॥२८२॥
स्वगतं तं स्तवं श्रुत्वा देवैः कस्य स्तुतिः सतः । त्वयाऽकारीत्यसौ पृष्टः प्रत्याहेति सुरान् प्रति॥२८३॥
धीरो मेघरथो नाम शुद्धदृक् पार्थिवाग्रणीः । प्रतिमायोगधार्यद्य तस्य भक्त्या स्तुतिः कृता ॥२८४॥
तदुदीरितमाकर्ण्य तत्परीक्षातिदक्षिणे । अतिरूपासुरूपाख्ये देव्यावागत्य भूपतिम् ॥२८५॥
विलासैर्विभ्रमैर्भावैर्गीतैः प्रजल्पितैः । अन्यैश्च मदनोन्मादहेतुभिस्तन्मनोबलम् ॥ २८६ ॥
विद्युल्लतेव देवाद्रिं ते चालयितुमक्षमे । सत्यमीशानसम्प्रोक्तमिति स्तुत्वा [7]स्वरीयतुः ॥ २८७ ॥

निर्दोष वचन कहते हैं वही उत्तम दाता हैं, वही उत्तम देय हैं और वही उत्तम पात्र हैं ॥ २७४ ॥ मांस आदि पदार्थ देय नहीं है, इनकी इच्छा करनेवाला पात्र नहीं है, और इनका देनेवाला दाता नहीं है । ये दोनों तो नरकके अधिकारी हैं ॥ २७५ ॥ कहनेका सारांश यह है कि यह गीध दानका पात्र नहीं है और यह कबूतर देने योग्य नहीं है । इस प्रकार मेघरथकी वाणी सुनकर वह ज्योतिषी देव अपना असली रूप प्रकटकर उसकी स्तुति करने लगा और कहने लगा कि हे राजन् ! तुम अवश्य ही दानके विभागको जाननेवाले हो तथा दानके शूर हो । इस तरह पूजाकर चला गया ॥ २७६–२७७ ॥ उन गीध और कबूतर दोनों पक्षियोंने भी मेघरथकी कही सब बातें समझीं और अन्तमें शरीर छोड़कर वे दोनों देवरमण नामक वनमें सुरूप तथा अतिरूप नामके दो व्यन्तर देव हुए ॥ २७८ ॥ तदनन्तर राजा मेघरथके पास आकर वे देव इस प्रकार स्तुति करने लगे कि हे राजन् ! आपके प्रसादसे ही हम दोनों कुयोनिसे निकल सके हैं । ऐसा कहकर तथा पूज्य मेघरथकी पूजाकर वे दोनों देव यथास्थान चले गये ॥ २७९ ॥

किसी समय उस बुद्धिमान् राजाने चारण ऋद्धिधारी दमवर स्वामीके लिए दान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ २८० ॥ किसी दूसरे दिन राजा मेघरथ नन्दीश्वर पर्वमें महापूजा कर और उपवास धारण कर रात्रिके समय प्रतिमायोग द्वारा ध्यान करता हुआ सुमेरु पर्वतके समान विराजमान था ॥ २८१ ॥ उसी समय देवोंकी सभामें ईशानेन्द्रने यह सब जानकर बड़े हर्षसे कहा कि अहा ? आश्चर्य है आज संसारमें तू ही शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और तू ही धीर-वीर है ॥ २८२ ॥ इस तरह अपने आप की हुई स्तुतिको सुनकर देवोंने ईशानेन्द्रसे पूछा कि आपने किस सज्जनकी स्तुति की है ? उत्तरमें इन्द्र देवोंसे इस प्रकार कहने लगा कि राजाओंमें अग्रणी मेघरथ अत्यन्त धीरवीर है, शुद्ध सम्यग्दृष्टि है, आज वह प्रतिमायोग धारण कर बैठा है । मैंने उसीकी भक्तिसे स्तुति की है ॥ २८३–२८४ ॥ ईशानेन्द्रकी उक्त बातको सुनकर उसकी परीक्षा करनेमें अत्यन्त चतुर अतिरूपा और सुरूपा नामकी दो देवियाँ राजा मेघरथके पास आईं और विलास, विभ्रम, हाव-भाव, गीत, बातचीत तथा कामके उन्मादको बढ़ानेवाले अन्य कारणोंसे उसके मनोबलको विचलित करनेका प्रयत्न करने लगीं परन्तु जिस प्रकार बिजलीरूपी लता सुमेरु पर्वतको विचलित नहीं कर सकती उसी प्रकार वे देवियाँ राजा मेघरथके मनोबलको विचलित नहीं कर सकीं । अन्तमें वे 'ईशानेन्द्रके द्वारा कहा हुआ सच है' इस प्रकार स्तुति कर स्वर्ग चली गईं ॥ २८५–२८७ ॥

---

१ देयं कपोतकम् घ० । देयं कपोतकः ल० । २ ज्योतिषोऽमरः म०, ल० । ३ संपूज्य क०, ख०, घ० । ४ दमवरेशिनः ख० । ५ नन्दीश्वर ख०, ल० । ६ विदित्वैनं ग० । ७ स्वः स्वर्गं ईयतुः जग्मतुः ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

[1]अन्यदैशानकल्पेशो मरुन्मध्ये यदृच्छया । समस्तौत्प्रियमित्राया रूपमाकर्ण्य तत्स्तवम् ॥२८८॥
रतिषेणा रतिश्चैत्य देव्यौ तद्रूपमीक्षितुम् । ऐतां मज्जनवेलायां गन्धतैलाक्तदेहिकाम् ॥२८९॥
निरूप्येन्द्रवचः सम्यक् श्रद्धायाप्यभिभाषितुम् । तया सहैत्य कन्याकृती धृत्वा तां समूचतुः ॥२९०॥
त्वामिभ्यकन्यके[2] द्रष्टुमैतामिति सखीमुखात् । ताभ्यामुक्तं समाकर्ण्य प्रमदादस्तु तिष्ठताम् ॥२९१॥
तावदित्यात्मसंस्कारं कृत्वाऽऽह्वयाभ्यदर्शयत् । तां निशम्याहतुस्ते च प्राग्वत्कान्तिर्न चाधुना ॥२९२॥
इति सा तद्वचः श्रुत्वा प्रियमित्रा महीपतेः । वक्त्रं व्यलोकयत् प्राह सोऽपि कान्ते तथेति ताम् ॥२९३॥
देव्यौ [3]स्वं रूपमादाय निजागमनवृत्तकम् । निवेद्य रूपमस्याश्च धिग्विलक्षणभङ्गुरम् ॥२९४॥
अत्र नाभङ्गुरं किञ्चिदिति निर्विद्य चेतसा । तां सम्पूज्येयतुः स्वर्गं स्वदीप्तिव्याप्तदिक्तटे ॥२९५॥
[4]देवीं तद्धेतुना [5]खिन्नां नित्यानित्यात्मकं जगत् । सर्वमन्तः शुचं मा गा इत्याश्वास्य महीपतिः॥२९६॥
राज्यभोगैः स्वकान्ताभिर्निताम्तं निर्वृतिं व्रजन् । गत्वा मनोहरोद्यानमन्येद्युः स्वगुरुं जिनम् ॥२९७॥
सिंहासने समासीनं सुरासुरपरिष्कृतम् । समस्तपरिवारेण त्रिःपरीत्याभिवन्द्य च ॥२९८॥
सर्वभव्यहितं वाञ्छन् पप्रच्छोपासकक्रियाम्[6] । [7]प्रायः कल्पद्रुमस्येव परार्थं चेष्टितं सताम् ॥२९९॥
प्रागुक्तैकादशोपासकस्थानानि विभागतः । उपासकक्रियाबद्धोपासकाध्ययनाह्वयम् ॥३००॥
[8]अङ्गं सप्तममाख्येयं श्रावकाणां हितैषिणाम् ।।इति व्यावर्णयामास तीर्थकृत्प्रार्थितार्थकृत् ॥३०१॥
गर्भान्वयक्रियाः पूर्वं ततो दीक्षान्वयक्रियाः । कर्मान्वयक्रियाश्चान्या स्तत्सङ्ख्याश्चानु[9] तत्त्वतः ॥३०२॥

किसी दूसरे दिन ऐशानेन्द्रने देवोंकी सभामें अपनी इच्छासे राजा मेघरथकी रानी प्रियमित्राके रूपकी प्रशंसा की। उसे सुनकर रतिषेणा और रति नामकी दो देवियाँ उसका रूप देखनेके लिए आईं। वह स्नानका समय था अतः प्रियमित्राके शरीरमें सुगन्धित तेलका मर्दन हो रहा था। उस समय प्रियमित्राको देखकर देवियोंने इन्द्रके वचन सत्य समझे। अनन्तर उसके साथ बातचीत करनेकी इच्छासे उन देवियोंने कन्याका रूप धारण कर सखीके द्वारा कहला भेजा कि दो धनिक कन्याएँ—सेठकी पुत्रियाँ आपके दर्शन करना चाहती हैं। उनका कहा सुनकर प्रियमित्राने हर्षसे कहा कि 'बहुत अच्छा, ठहरें' इस प्रकार उन्हें ठहराकर रानी प्रियमित्राने अपनी सजावट की। फिर उन कन्याओंको बुलाकर अपने आपको दिखलाया—उनसे भेंट की। रानीको देखकर दोनों देवियाँ कहने लगी कि 'जैसी कान्ति पहले थी अब वैसी नहीं है'। कन्याओंके वचन सुनकर प्रियमित्रा राजाका मुख देखने लगी। उत्तरमें राजाने भी कहा कि हे प्रिये! बात ऐसी ही है ॥ २८८–२९३ ॥ तदनन्तर देवियोंने अपना असली रूप धारण कर अपने आनेका समाचार कहा और इसके विलक्षण किन्तु नश्वर रूपको धिक्कार हो। इस संसारमें कोई भी वस्तु अभङ्गुर नहीं है इस प्रकार हृदय से विरक्त हो रानी प्रियमित्राकी पूजा कर वे देवियाँ अपनी दीप्तिसे दिशाओंके तटको व्याप्त करती हुई स्वर्गको चली गईं ॥ २९४–२९५ ॥ इस कारणसे रानी प्रियमित्रा खिन्न हुई परन्तु 'यह समस्त संसार ही नित्यानित्यात्मक है अतः हृदयमें कुछ भी शोक मत करो' इस प्रकार राजाने उसे समझा दिया ॥ २९६ ॥ इस तरह अपनी स्त्रियोंके साथ राज्यका उपभोग करते हुए राजा मेघरथ बहुत ही आनन्दको प्राप्त हो रहे थे। किसी दूसरे दिन वे मनोहर नामक उद्यानमें गये। वहाँ उन्होंने सिंहासन पर विराजमान तथा देव और धरणेन्द्रोंसे परिवृत अपने पिता घनरथ तीर्थंकरके दर्शन किये। समस्त परिवारके साथ उन्होंने तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, वन्दना की और समस्त भव्य जीवोंके हितकी इच्छा करते हुए श्रावकोंकी क्रिया पूछी सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंकी चेष्टा कल्पवृक्षके समान प्रायः परोपकारके लिए ही होती है ॥ २९७–२९९ ॥ हे देव! जिन श्रावकोंके ग्यारह स्थान पहले विभाग कर बतलाये हैं उन्हीं श्रावकोंकी क्रियाओंका निरूपण करनेवाला उपासकाध्ययन नामका सातवाँ अङ्ग, हितकी इच्छा करनेवाले श्रावकोंके लिए कहिए। इस प्रकार राजा मेघरथके पूछने पर मनोरथको पूर्ण करनेवाले घनरथ तीर्थंकर निम्न प्रकार वर्णन करने लगे ॥ ३००–३०१ ॥ उन्होंने कहा

---

१ अन्यदेशान–ख०, ग०, म० । २ धनाढ्यकन्यके । ३ स्वरूप-ल० । ४ देवी ल० । ५ खिन्ना ल० । ६ क्रियाः म०, ल० । ७ प्राप्य ल० । ८ अङ्गसप्तम ल० । ९ तत्संख्यास्य तु ल० ।

गर्भाधानादिनिर्वाणपर्यन्ताः प्रथमक्रियाः । श्रोक्ताः [1]प्राक्त्रिपञ्चाशत्सम्यग्दर्शनशुद्धिषु ॥ ३०३ ॥
दीक्षान्वयक्रियाश्चाष्टचत्वारिंशत् प्रकीर्तिता । अवतारादिक[2]निर्वृत्यन्ता निर्वाणसाधिकाः ॥ ३०४ ॥
सद्गृहि[3]त्वादिसिद्ध्यन्ताः सप्त कर्त्रन्वयक्रियाः । सम्यक् स्वरूपमेतासां विधानं फलमप्यदः ॥३०५॥
तमुपासकसद्धर्मं श्रुत्वा घनरथोदितम् । नत्वा मेघरथो भक्त्या मुक्त्यै शान्तान्तरङ्गकः ॥ ३०६ ॥
शरीरभोगसंसारदौःस्थित्यं चिन्तयन्मुहुः । संयमाभिमुखो राज्ये तिष्ठेत्य[4]नुजमादिशत् ॥ ३०७ ॥
त्वया राज्यस्य यो दोषो दृष्टोऽदर्शि मयाऽप्यसौ । त्याज्यं तच्चेद् गृहीत्वाऽपि प्रागेवाग्रहणं वरम्॥३०८॥
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं [5]वरम् । इति तस्मिंस्तदादानविमुखत्वमुपागते ॥ ३०९ ॥
सुताय मेघसेनाय दत्त्वा राज्यं यथाविधि । सहस्रैः सप्तभिः सार्द्धं सानुजो जगतीपतिः ॥ ३१० ॥
नृपैः दीक्षां समादाय क्रमादेकादशाङ्गवित् । प्रत्ययास्तीर्थकृन्नाम्नः षोडशैतान[6]भावयत् ॥ ३११ ॥
जिनोपदिष्टनिर्ग्रन्थमोक्षमार्गे रुचिर्मता । निःशङ्कतादिकाष्टाङ्गा विशुद्धिर्दर्शनस्य सा ॥ ३१२ ॥
मार्गेऽस्मिन्वर्तमानस्य यदुक्तं तद्भवेन्न वा । इति शङ्कापरित्यागं[7] शङ्कारहिततां विदुः ॥ ३१३ ॥
द्विलोकभोगमिथ्यादृक्काङ्क्षान्यावृत्तिरागमे । द्वितीयमङ्गमाख्यातं वि[8]शुद्धिर्दर्शनाश्रिता ॥ ३१४ ॥
देहाद्यशुचिसद्भावमवगम्य शुचीति यः । सङ्कल्पस्तस्य सन्त्यागः सा स्यान्निर्विचिकित्सता ॥ ३१५ ॥

कि 'श्रावकोंकी क्रियाएँ गर्भान्वय, दीक्षान्वय और क्रियान्वयकी अपेक्षा तीन प्रकारकी हैं इनकी संख्या इस प्रकार है ॥ ३०२ ॥ पहली गर्भान्वय क्रियाएँ गर्भाधानको आदि लेकर निर्वाण पर्यन्त होती हैं इनकी संख्या त्रेपन है, ये सम्यग्दर्शनकी शुद्धताको धारण करनेवाले जीवोंके होती हैं तथा इनका वर्णन पहले किया जा चुका है ॥ ३०३ ॥ अवतारसे लेकर निर्वाण पर्यन्त होनेवाली दीक्षान्वय क्रियाएँ अड़तालीस कही गई हैं । ये मोक्ष प्राप्त कराने वाली हैं ॥ ३०४ ॥ और सद्गृहित्वको आदि लेकर सिद्धि पर्यन्त सात कर्त्रन्वय क्रियाएँ हैं । इन सबका ठीक-ठीक स्वरूप यह है, करनेकी विधि यह है तथा फल यह है । इस प्रकार घनरथ तीर्थंकरने विस्तारसे इन सब क्रियाओंका वर्णन किया । इस तरह राजा मेघरथने घनरथ तीर्थंकरके द्वारा कहा हुआ श्रावक धर्मका वर्णन सुन कर उन्हें भक्ति-पूर्वक नमस्कार किया और मोक्ष प्राप्त करनेके लिए अपने हृदयको अत्यन्त शान्त बना लिया ॥ ३०५-३०६ ॥ शरीर, भोग और संसारकी दुर्दशाका बार-बार विचार करते हुए वे संयम धारण करनेके सम्मुख हुए । उन्होंने छोटे भाई दृढ़रथसे कहा कि तुम राज्य पर बैठो । परन्तु दृढ़रथने उत्तर दिया कि आपने राज्यमें जो दोष देखा है वही दोष मैं भी तो देख रहा हूँ । जब कि यह राज्य ग्रहण कर बादमें छोड़नेके ही योग्य है तब उसका पहलेसे ही ग्रहण नहीं करना अच्छा है । लोकमें कहावत है कि कीचड़को धोनेकी अपेक्षा उसका दूरसे ही स्पर्श नहीं करना अच्छा है । ऐसा कह कर जब दृढ़रथ राज्य ग्रहण करनेसे विमुख हो गया तब उन्होंने मेघसेन नामक अपने पुत्रके लिए विधिपूर्वक राज्य दे दिया और छोटे भाई तथा सात हजार अन्य राजाओंके साथ दीक्षा धारण कर ली । वे क्रम-क्रमसे ग्यारह अङ्गके जानकार हो गये । उसी समय उन्होंने तीर्थंकर नामकर्मके बन्धमें कारणभूत निम्नांकित सोलह कारण भावनाओंका चिन्तवन किया ॥ ३०७-३११ ॥ जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए निर्ग्रन्थ मोक्षमार्गमें रुचि होना सो दर्शनविशुद्धि है । उसके निःशङ्कता आदि आठ अङ्ग हैं ॥ ३१२ ॥ मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करनेवाले मनुष्यके लिए जो फल बतलाया है वह होता है या नहीं इस प्रकारकी शंकाका त्याग निःशङ्कता कहलाती है ॥ ३१३ ॥ मिथ्यादृष्टि जीव इस लोक और पर-लोक सम्बन्धी भोगोंकी जो आकांक्षा करता है उसका त्याग करना आगममें निःकांक्षित नामका दूसरा अङ्ग बतलाया है । इससे सम्यग्दर्शनकी विशुद्धता होती है ॥ ३१४ ॥ शरीर आदिमें अशुचि-अपवित्र पदार्थोंका सद्भाव है ऐसा जानते हुए भी 'मैं पवित्र हूँ' ऐसा जो संकल्प होता है उसका त्याग

---

१ प्रोक्ताः सत्यस्त्रिपञ्चाशत् म०, ल० । २ अवतारादिका निर्वृत्यन्ता क०, ख०, घ०, म०, । ३ सद्गृहीशादि । ४ तिष्ठत्वनुज-ख० । ५ यथा ल०, क०, ग०, घ० । ६-नभाषयत् ल० । ७ परित्यागः ख० । ८ विशुद्धेर्दर्शनश्रियः म० ।

अथवाऽर्हन्मते नेदं चेत्सर्वं युक्तमित्यसत्[1] । आग्रहः क्वापि तत्त्यागः सा स्यान्निर्विचिकित्सता ॥ ३१६॥
तत्त्ववद्भासमानेषु बहुदुर्णयवर्त्मसु । युक्ति[2]भावाद्विमोहत्वमाहुर्दृष्टेरमूढताम् ॥ ३१७ ॥
वृद्धिक्रियात्मधर्मस्य भावनाभिः क्षमादिभिः । अभीष्टं दर्शनस्याङ्गं सुदृग्भिरुपबृंहणम् ॥ ३१८ ॥
धर्मध्वंसनिमित्तेषु या [3]कषायोदयादिषु । धर्मव्यवनसंरक्षा स्वान्ययोः सा स्थितिक्रिया ॥ ३१९ ॥
जिनप्रणीतसद्धर्मामृतनित्यानुरागता । वात्सल्यं मार्गमाहात्म्यभावना[4]स्यात्प्रभावना ॥ ३२० ॥
ज्ञानादिषु च तद्वत्सु चादरो निःकषायता । तद्द्वयं विनयस्याहुः सन्तः सम्पन्नतां स्फुटम् ॥ ३२१ ॥
व्रतशील[5]निविष्टेषु भेदेषु निरवद्यता । शीलव्रतानतीचारः [6]प्रोक्तः सूक्तविदां वरैः ॥ ३२२ ॥
ज्ञानोपयोगाऽभीक्ष्णोऽसौ या नित्यश्रुतभावना । संवेगः संसृतेर्दुःखाद् दुस्सहान्नित्यभीरुता ॥३२३ ॥
आहारादित्रयोत्सर्गः पात्रेभ्यस्त्याग इष्यते । यथागमं यथावीर्यं कायक्लेशस्तपो भवेत् ॥ ३२४ ॥
कदाचिन्मुनिसङ्घस्य बाह्याभ्यन्तरहेतुभिः । सन्धारणं समाधिः स्यात्प्रत्यूहे तपसः सति ॥ ३२५ ॥
गुणिनां निरवद्येन विधिना दुःखनिर्वृतिम् । वैयावृत्य क्रिया प्रायः साधनं तपसः परम् [7] ३२६ ॥
जिनेषु गणनाथेषु बहुशास्त्रेषु चागमे । भाव[8]शुद्धयानुरागः स्याद्भक्तिः कायादिगोचरा ॥ ३२७ ॥
सामायिकादिषट्कस्य यथाकालं प्रवर्तनम् । भवेदावश्यकाहानिर्यथोक्तविधिना मुनेः ॥ ३२८ ॥
[9]ज्ञानेन तपसा जैनपूजयाऽन्येन चापि वा । धर्मप्रकाशनं प्राज्ञाः प्राहुर्मार्गप्रभावनाम् ॥ ३२९ ॥

करना निर्विचिकित्सा नामका अङ्ग है ॥३१५॥ यदि यह बात अर्हन्तके मनमें न होती तो सब ठीक होता इस प्रकारका आग्रह मिथ्या आग्रह है उसका त्याग करना सो निर्विचिकित्सा अङ्ग है ॥३१६॥ जो वास्तवमें तत्त्व नहीं है किन्तु तत्त्वकी [illegible] मार्गोंमें 'यह ठीक है' इस प्रकार मोहका नहीं होना अमूढ दृष्टि अङ्ग कहलाता है ॥ ३१७ ॥ क्षमा आदिकी भावनाओंसे आत्म धर्मकी वृद्धि करना सो सम्यग्दृष्टियोंको प्रिय सम्यग्दर्शनका उपबृंहण नामका अङ्ग है ॥ ३१८ ॥ कषायका उदय आदि होना धर्मनाशका कारण है । उसके उपस्थित होनेपर अपनी या दूसरेकी रक्षा करना अर्थात् दोनोंको धर्मसे च्युत नहीं होने देना सो स्थितिकरण अङ्ग है ॥ ३१९ ॥ जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए समीचीन धर्मरूपी अमृतमें निरन्तर अनुराग रखना सो वात्सल्य अङ्ग है और मार्गके माहात्म्यकी भावना करना—जिन-मार्गका प्रभाव फैलाना सो प्रभावना अङ्ग है ॥ ३२० ॥ सम्यग्ज्ञानादि गुणों तथा उनके धारकोंका आदर करना और कषाय रहित परिणाम रखना इन दोनोंको सज्जन पुरुष विनयसम्पन्नता कहते हैं ॥ ३२१ ॥ व्रत तथा शीलसे युक्त चारित्रके भेदोंमें निर्दोषता रखना—अतिचार नहीं लगाना, शास्त्रके उत्तमज्ञाता पुरुषोंके द्वारा शीलव्रतानतीचार नामकी भावना कही गई है ॥ ३२२ ॥ निरन्तर शास्त्रकी भावना रखना सो अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है । संसारके दुःसह दुःखसे निरन्तर डरते रहना संवेग कहलाता है ॥ ३२३ ॥ पात्रोंके लिए आहार, अभय और शास्त्रका देना त्याग कहलाता है । आगमके अनुकूल अपनी शक्तिके अनुसार कायक्लेश करना तप कहलाता है ॥ ३२४ ॥ किसी समय बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे मुनिसंघके तपश्चरणमें विघ्न उपस्थित होनेपर मुनिसंघकी रक्षा करना साधुसमाधि है ॥ ३२५ ॥ निर्दोष विधिसे गुणियोंके दुख दूर करना यह तपका श्रेष्ठ साधन वैयावृत्त्य है ॥ ३२६ ॥ अरहन्त देव, आचार्य, बहुश्रुत तथा आगममें मन वचन कायसे भावोंकी शुद्धतापूर्वक अनुराग रखना क्रमसे अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनभक्ति भावना है ॥ ३२७ ॥ मुनिके जो सामायिक आदि छह आवश्यक बतलाये हैं उनमें यथा समय आगमके कहे अनुसार प्रवृत्ति होना सो आवश्यकापरिहाणि नामक भावना है ॥ ३२८ ॥ ज्ञानसे, तपसे, जिनेन्द्रदेवकी पूजासे, अथवा अन्य किसी उपायसे धर्मका प्रकाश फैलानेको विद्वान् लोग मार्गप्रभावना कहते हैं ॥ ३२९ ॥

१-मित्ययम् ख०, ग० । २ युक्तिर्भवे- म० । ३ कषायोपपादिषु ल० । ४ भावनं क०, घ०, म० । ५ निबद्धेषु ल० । ६ प्राहुः ल० । ७ भावः शुद्धयानु-ख० । ८ दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः । आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपायेऽमृतचन्द्रसूरेः ।

वत्से धेनोरिव स्नेहो यः सधर्मण्यकृत्रिमः । तद्वात्सल्यं प्रशंसन्ति प्रशंसापारमाश्रिताः ॥ ३३० ॥
इत्येतानि समस्तानि व्यस्तानि च जिनेश्वराः । कारणान्यामनन्त्यन्त्यनाम्नः षोडश बन्धने ॥३३१॥
एतद्भावनया बद्ध्वा तीर्थकृन्नाम निर्मलम् । येन त्रैलोक्यसङ्क्षोभस्तत् स मेघरथो मुनिः ॥ ३३२ ॥
क्रमेण विहरन्देशान् प्राप्तवान् श्रीपुराह्वयम् । श्रीषेणस्तत्पतिस्तस्मै दत्त्वा भिक्षां यथोचितम्[1] ॥ ३३३॥
पश्चा[2]न्नन्दपुरे नन्दनाभिधानश्च भक्तिमान् । तथैव पुण्डरीकिण्यां सिंहसेनश्च शुद्धदृक् ॥ ३३४ ॥
ज्ञानदर्शनचारित्रतपसां पर्ययान् बहून् । सम्यग्वर्द्धयते प्रापुः[3] पञ्चाश्चर्याणि पार्थिवाः ॥ ३३५ ॥
संयमस्य परां कोटिमारुह्य स मुनीश्वरः । दृढो दृढरथेनामा[4] नभस्तिलकपर्वते ॥ ३३६ ॥
मासमात्रं परित्यज्य शरीरं शान्तकल्मषः । प्रायोपगमनेनासः प्राणान्तेनाहमिन्द्रताम् ॥ ३३७ ॥
एतौ तत्र त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमजीवितौ । विधूज्ज्वलतरारत्निशरीरौ शुक्ललेश्यकौ ॥ ३३८ ॥
मासैः षोडशभिः सार्द्धमा[5]सैर्निःश्वासमीयुषौ । त्रयस्त्रिंशत्सहस्राब्दैराहृतामृतभोजनौ ॥ ३३९ ॥
निःप्रवीचारसौख्याढ्यौ लोकनाड्यन्तराश्रित-। स्वगोचरपरिच्छेदप्रमाणावधिलोचनौ ॥ ३४० ॥
तत्क्षेत्रमितवीर्याभाविक्रियौ सुचिरं स्थितौ । समनन्तरजन्माप्य मोक्षलक्ष्मीसमागमौ ॥ ३४१ ॥
अथास्मिन् भारते वर्षे[6] विषयः कुरुजाङ्गलः । आर्यक्षेत्रस्य मध्यस्थः सर्वधान्याकरो महान् ॥३४२॥
तत्र ताम्बूलवल्यन्ताः सफलाः क्रमुकद्रुमाः । पुन्दारदारकाश्लेषसुखं प्रख्यापयन्ति वा ॥ ३४३ ॥
महाफलप्रदास्तुङ्गा बद्धमूला मनोहराः । सुराजवद्विराजन्ते सत्पत्राश्चोचभूरुहाः ॥ ३४४ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

और बछड़ेमें गायके समान सहधर्मी पुरुषमें जो स्वाभाविक प्रेम है उसे प्रशंसाके पारगामी पुरुष वात्सल्य भावना कहते हैं ॥ ३३० ॥ श्री जिनेन्द्रदेव इन सोलह भावनाओंको सब मिलकर अथवा अलग अलग रूपसे तीर्थंकर नामकर्मके बन्धका कारण मानते हैं ॥ ३३१ ॥ मेघरथ मुनिराजने इन भावनाओंसे उस निर्मल तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध किया था कि जिससे तीनों लोकोंमें क्षोभ हो जाता है ॥ ३३२ ॥ वे क्रम-क्रमसे अनेक देशोंमें विहार करते हुए श्रीपुर नामक नगरमें गये । वहाँके राजा श्रीषेणने उन्हें योग्य विधिसे आहार दिया । इसके पश्चात् नन्दपुर नगरमें नन्दन नामके भक्तिवान् राजाने आहार दिया और तदनन्तर पुण्डरीकिणी नगरीमें निर्मल सम्यग्दृष्टि सिंहसेन राजाने आहार कराया । वे मुनिराज ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपकी अनेक पर्यायोंको अच्छी तरह बढ़ा रहे थे । उन्हें दान देकर उक्त सभी राजाओंने पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ ३३३–३३५ ॥ अत्यन्त धीर वीर मेघरथने दृढ़रथके साथ-साथ नभस्तिलक नामक पर्वतपर श्रेष्ठ संयम धारणकर एक महीने तक प्रायोपगमन संन्यास धारण किया और अन्तमें शान्त परिणामोंसे शरीर छोड़कर अहमिन्द्र पद प्राप्त किया ॥ ३३६–३३७ ॥ वहाँ इन दोनोंकी तैंतीस सागरकी आयु थी । चन्द्रमाके समान उज्ज्वल एक हाथ ऊँचा शरीर था, शुक्ल लेश्या थी, वे साढ़े सोलह माहमें एक बार श्वास लेते थे, तैंतीस हजार वर्ष बाद एक बार अमृतमय आहार ग्रहण करते थे, प्रवीचाररहित सुखसे युक्त थे, उनके अवधिज्ञान रूपी नेत्र लोकनाडीके मध्यवर्ती योग्य पदार्थोंको देखते थे, उनकी शक्ति दीप्ति तथा विक्रियाका क्षेत्र भी अवधिज्ञानके क्षेत्रके बराबर था । इस प्रकार वे वहाँ चिरकालतक स्थित रहे । वहाँसे च्युत हो एक जन्म धारणकर वे नियमसे मोक्षलक्ष्मीका समागम प्राप्त करेंगे ॥ ३३८–३४१ ॥

अथानन्तर–भरत क्षेत्रमें एक कुरुजाङ्गल नामका देश है, जो आर्य क्षेत्रके ठीक मध्यमें स्थित है, सब प्रकार के धान्योंका उत्पत्तिस्थान है और सबसे बड़ा है ॥ ३४२ ॥ वहाँ पर पानकी बेलोंसे लिपटे एवं फलोंसे युक्त सुपारीके वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानो पुरुष और बालकोंके आलिंगनका सुख ही प्रकट कर रहे हों ॥ ३४३ ॥

वहाँ चोच जातिके वृक्ष किसी उत्तम राजाके समान सुशोभित होते हैं क्योंकि जिस प्रकार उत्तम राजा महाफल—भोगोपभोगके उत्तम पदार्थ प्रदान करता है उसी प्रकार चोच जातिके वृक्ष महा

---

१ यथोचिताम् ल०, ख०, म० । २–दत्तपुरे म० ल० । ३ प्रापन् क०, ख०, घ० । ४ दृढरथेनाम। -दृढरथेन अमा सह । दृढरथो नामा ल० । ५ सार्द्धमासनिःश्वास ल० । ६ क्षेत्रे ख०, ग० ।

सद्दृष्ट्या सौकुमार्येण छायया रसवत्तया । कदल्यः सर्वसौन्दर्याः सम्प्रीत्यै रमणीसमाः ॥ ३४५ ॥
आम्राः कम्राः फलैर्नम्राः पल्लवप्रसवोज्ज्वलाः । कोकिलालापवाचाला लोलालिकुलसङ्कुलाः ॥३४६ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
स्थूलपक्वफलाः प्रोद्यद् गन्धान्धीकृतषट्पदाः । पनसाः प्रचुरा रेजुरामूलात्फलदायिनः ॥ ३४७ ॥
गुल्मवल्लीद्रुमाः सर्वे प्रसूनभरभङ्गुराः । क्रीडागारनिभाः भान्ति कामनाममहीभुजः ॥ ३४८ ॥
निर्भूमिच्छिद्रमच्छिद्रं निःपाषाणं निरूसरम् । निर्नष्टाष्टभयं भूरिभूतलं सफलं सदा ॥ ३४९ ॥
अप्रमादोरुचारित्राः प्रायश्चित्तमिव द्विजाः । न दण्डभयमृच्छन्ति प्रजाः स्वस्थितिपालनात् ॥ ३५० ॥
महाजलाशया नित्यमच्छाः स्वच्छाम्बुसम्भृताः । नानाप्रसवसंछन्ना जह्रुर्ज्योतिर्जगच्छ्रियम् ॥ ३५१ ॥
पुष्पनेत्राः समुत्तुङ्गा विटपायतबाहवः । भूरुहा भूमिपायन्ते सदा चारुफलावहाः[1] ॥ ३५२ ॥
पल्लवोष्ठाः प्रसूनाढ्यास्तन्व्योऽलिकुलालकाः । सत्पत्राश्चित्रवल्ल्यो रमण्य इव रेजिरे ॥ ३५३ ॥

फल—बड़े-बड़े फल प्रदान करते हैं, जिस प्रकार उत्तम राजा तुङ्ग—उदारचित्त होता है उसी प्रकार चोच जातिके वृक्ष तुङ्ग—ऊँचे थे, जिस प्रकार राजा बद्धमूल—पक्की जड़ वाले होते हैं उसी प्रकार चोच जातिके वृक्ष भी बद्धमूल—पक्की जड़ वाले थे। जिस प्रकार उत्तम राजा मनोहर—अत्यन्त सुन्दर होते हैं उसी प्रकार चोच जातिके वृक्ष भी मनोहर—अत्यन्त सुन्दर थे, और जिस प्रकार उत्तम राजा सत्पत्र—अच्छी अच्छी सवारियोंसे युक्त होते हैं उसी प्रकार चोच जातिके वृक्ष भी सत्पत्र—अच्छे अच्छे पत्तोंसे युक्त थे ॥ ३४४ ॥ वहाँके केलेके वृक्ष स्त्रियोंके समान उत्तमप्रीति करनेवाले थे क्योंकि जिस प्रकार केलेके वृक्ष सद्दृष्टि—देखने में अच्छे लगते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी सद्दृष्टि—अच्छी आँखों वाली थीं, जिस प्रकार केलेके वृक्ष सुकुमार होते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी सुकुमार थीं, जिस प्रकार केलेके वृक्ष छाया—अनातपसे युक्त होते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी छाया—कान्तिसे युक्त थीं, जिस प्रकार केलेके वृक्ष रसीले होते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी रसीली—शृङ्गारसे युक्त थीं, और केलेके वृक्ष जिस प्रकार सबसे अधिक सुन्दर होते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ सबसे अधिक सुन्दर थीं ॥ ३४५ ॥ वहाँके सुन्दर आमके वृक्ष फलोंसे झुक रहे थे, नई नई कोंपलों तथा तथा फूलोंसे उज्ज्वल थे, कोकिलाओंके वार्तालापसे मुखरित थे, और चञ्चल भ्रमरोंके समूहसे व्याप्त थे ॥ ३४६ ॥ जिनमें बड़े-बड़े पके फल लगे हुए हैं, जिनकी निकलती हुई गन्धसे भ्रमर अंधे हो रहे थे, और जो मूलसे ही लेकर फल देनेवाले थे ऐसे कटहलके वृक्ष वहाँ अधिक सुशोभित होते थे ॥ ३४७ ॥ फूलोंके भारसे झुकी हुई वहाँकी झाड़ियाँ, लताएँ और वृक्ष सभी ऐसे जान पड़ते थे मानो कामदेव रूपी राजाके क्रीड़ाभवन ही हों ॥ ३४८ ॥ वहाँकी भूमिमें गड्ढे नहीं थे, छिद्र नहीं थे, पत्थर नहीं थे, ऊपर जमीन नहीं थी, आठ भय नहीं थे किन्तु इसके विपरीत वहाँकी भूमि सदा फल देती रहती थी ॥ ३४९ ॥ जिस प्रकार प्रमादरहित श्रेष्ठ चारित्रको पालन करनेवाले द्विज कभी प्रायश्चित्त नहीं प्राप्त करते उसी प्रकार वहाँकी प्रजा अपनी-अपनी मर्यादाका पालन करनेसे कभी दण्डका भय नहीं प्राप्त करती थी ॥ ३५० ॥ जिनमें निरन्तर मच्छ—जलचर जीव रहते हैं, जो स्वच्छ जलसे भरे हुए हैं, और अनेक प्रकारके फूलोंसे आच्छादित हैं ऐसे वहाँके सरोवर ज्योतिर्लोककी शोभा हरण करते हैं ॥ ३५१ ॥ वहाँके वृक्ष ठीक राजाओंके समान आचरण करते थे क्योंकि जिस प्रकार राजा पुष्पनेत्र—कमलपुष्पके समान नेत्रोंवाले होते हैं उसी प्रकार वहाँके वृक्ष भी पुष्पनेत्र—पुष्प रूपी नेत्रोंसे युक्त थे, जिस प्रकार राजा समुत्तुङ्ग—उदाराशय होते हैं उसी प्रकार वहाँके वृक्ष भी समुत्तुङ्ग—बहुत ऊँचे थे, जिस प्रकार राजा विटपायतबाहु होते हैं—शाखाओंके समान लम्बी भुजाओंसे युक्त होते हैं उसी प्रकार वहाँके वृक्ष भी विटपायतबाहवः—शाखाएँ ही जिनकी लम्बी भुजाएँ हैं ऐसे थे और जिस प्रकार राजा सदा उत्तमफल प्रदान करते हैं उसी प्रकार वहाँ के वृक्ष भी सदा सुन्दर फलोंको धारण करनेवाले थे ॥ ३५२ ॥ वहाँकी अनेक प्रकारकी लताएँ स्त्रियोंके समान सुशोभित हो रही थीं क्योंकि जिस प्रकार स्त्रियोंके लाल लाल ओठ होते हैं उसी प्रकार वहाँकी

---

१ सदाचारफलावहाः ।

आमध्यं रसिकामूलात्पर्यन्ते विरसास्ततः । पीड्यन्ते सुतरां यन्त्रैरिक्षवो जितदुर्जनाः ॥ ३५४ ॥
शब्दनिष्पादने लोपः प्रध्वंसः पापवृत्तिषु । दाहो विरहिवर्गेषु वेधः[1] श्रवणयोर्द्वये ॥ ३५५ ॥
दण्डो दारुषु शस्त्रेषु निस्त्रिंशोक्तिस्तपस्विषु । निर्धनत्वं विदानत्वं महापाये न दन्तिषु ॥ ३५६ ॥
सुरतेषु विलज्जत्वं कान्तकन्यासु याचनम् । तापोऽनलोपजीवेषु मारणं रसवादिषु ॥ ३५७ ॥
नाकाण्डमृत्यवः सन्ति नापि दुर्मार्गगामिनः । मुक्त्वा विग्रहिणो मुक्तमारणान्तिकविग्रहात् ॥ ३५८ ॥
प्राच्यवृत्तिविपर्यासः संयमग्राहिणोऽ[2]भवत् । न षट्कर्मसु कस्यापि वर्णानां दुर्णयद्विषाम् ॥ ३५९ ॥
शालयो लीलया वृद्धिमुपेताः सर्वतर्पिणः । विनम्राः फलसम्प्राप्तौ भेजुः सद्भूमिपोपमाम् ॥ ३६० ॥
क्षरन्ति वारिदाः काले दुहते धेनवः सदा । फलन्ति भूरुहाः सर्वे पुष्पन्ति च लतास्ततः ॥ ३६१ ॥
नित्योत्सवाः निरातङ्का निर्बन्धा धनिकाः प्रजाः । निर्मला[3] नित्यकर्माणो नियुक्ताः स्वासु वृत्तिषु ॥३६२॥

लताओंमें लाल पल्लव थे, जिस प्रकार स्त्रियाँ मन्द मन्द मुसकानसे सहित होती हैं उसी प्रकार वहाँकी लताएँ फूलोंसे सहित थीं, जिस प्रकार स्त्रियाँ तन्वङ्गी-पतली होती हैं उसी प्रकार वहाँकी लताएँ भी तन्वङ्गी–पतली थीं, जिस प्रकार स्त्रियाँ काले काले केशोंसे युक्त होती हैं उसी प्रकार वहाँकी लताएँ भी काले काले भ्रमरोंसे युक्त थीं, और जिस प्रकार स्त्रियाँ सत्पत्र-उत्तमोत्तम पत्र-रचनाओंसे सहित होती हैं उसी प्रकार वहाँकी लताएँ भी उत्तमोत्तम पत्रोंसे युक्त थी ॥ ३५३ ॥ जो मूलसे लेकर मध्यभाग तक रसिक हैं और अन्तमें नीरस हैं ऐसे दुर्जनोंको जीतनेवाले ईख ही वहाँपर यन्त्रों द्वारा अच्छी तरह पीडे जाते थे ॥ ३५४ ॥ वहाँपर लोप–अनुबन्ध आदिका अदर्शन शब्दोंके सिद्ध करनेमें होता था अन्य दूसरेका लोप–नाश नहीं होता था, नाश पापरूप प्रवृत्तियोंका होता था, दाह विरही मनुष्योंमें होता था और वेध अर्थात् छेदना दोनों कानोंमें होता था, दूसरी जगह नहीं ॥ ३५५ ॥ दण्ड केवल लकड़ियोंमें था । वहाँके प्रजामें दण्ड अर्थात् जुर्माना नहीं था, निस्त्रिंशता अर्थात् तीक्ष्णता केवल शस्त्रोंमें थी वहाँकी प्रजामें निस्त्रिंशता अर्थात् दुष्टता नहीं थी, निर्धनता अर्थात् निष्परिग्रहता तपस्वियोंमें ही थी वहाँके मनुष्योमें निर्धनता अर्थात् गरीबी नहीं थी और विदानत्व अर्थात् मदका अभाव, मद सूख जानेपर केवल हाथियोंमें ही था वहाँकी प्रजामें विदानत्व अर्थात् दान देनेका अभाव नहीं था ॥ ३५६ ॥ निर्लज्जपना केवल संभोग क्रियाओंमें था, याचना केवल सुन्दर कन्याओंकी होती थी, ताप केवल अग्निसे आजीविका करनेवालों में था और मारण केवल रसवादियोंमें था—रसायन आदि बनानेवालोंमें था ॥ ३५७ ॥ वहाँ कोई असमयमें नहीं मरते थे, कोई कुमार्गमें नहीं चलते थे और मुक्त जीवों तथा मारणान्तिक समुद्घात करनेवालोंको छोड़कर अन्य कोई विग्रही–शरीर रहित तथा मोड़ासे रहित नहीं थे ॥ ३५८ ॥ मिथ्या नयसे द्वेष रखनेवाले चारों ही वर्णवाले जीवोंके देवपूजा आदि छह कर्मोंमें कहीं प्राचीन प्रवृत्तिका उल्लंघन नहीं था अर्थात् देवपूजा आदि प्रशस्त कार्योंकी जैसी प्रवृत्ति पहलेसे चली आई थी उसीके अनुसार सब प्रवृत्ति करते थे । यदि प्राचीन प्रवृत्तिके क्रमका उल्लंघन था तो संयम ग्रहण करनेवालेके ही था अर्थात् संयमी मनुष्य ही पहलेसे चली आई असंयमरूप प्रवृत्तिका उल्लंघनकर संयमकी नई प्रवृत्ति स्वीकृत करता था ॥ ३५९ ॥ लीलापूर्वक वृद्धिको प्राप्त हुए एवं सबको सन्तुष्ट करनेवाले धान्यके पौधे, फल लगनेपर अत्यन्त नम्र हो गये थे–नीचेको झुक गये थे अतः किसी अच्छे राजाकी उपमाको धारण कर रहे थे ॥ ३६० ॥ वहाँ मेघ समयपर पानी बरसाते थे, गायें सदा दूध देती थीं, सब वृक्ष फलते थे और फैली हुई लताएँ सदा पुष्पोंसे युक्त रहती थीं ॥ ३६१ ॥ वहाँकी प्रजा नित्योत्सव थी अर्थात् उसमें निरन्तर उत्सव होते रहते थे, निरातङ्क थी उसमें किसी प्रकारकी बीमारी नहीं होती थी, निर्बन्ध थी हठ रहित थी, धनिक थी, निर्मल थी, निरन्तर उद्योग करती थी और अपने अपने कर्मोंमें लगी रहती थी ॥ ३६२ ॥

---

१ वेधं ख० । २ भवेत् ख०, ल० । ३ निर्मंदा क०, ख०, घ० ।

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

हास्तिनाख्या पुरी तस्य शुभा नाभिरिवाबभौ । भृशं देशस्य देहस्य महती मध्यवर्तिनी ॥ ३६३॥
भूरिनीरभवानेकप्रसूनोदितभूतिभिः । तिसृभिः परिखाभिस्तन्नगरं परिवेष्टितम् ॥ ३६४ ॥
विभाति गोपुरोपेतद्वाराट्टालकपङ्क्तिभिः । वप्रप्राकारदुर्लङ्घ्यं मुरजैः कपिशीर्षकैः ॥ ३६५ ॥
इन्द्रकोशैर्बृहद्यन्त्रैर्युक्तं देवपथादिभिः । [1]महाक्षुद्राग्रिमद्वारैर्वीथिभिर्बहुभिश्च तत् ॥ ३६६ ॥
राजमार्गा विराजन्ते सारवस्तुसमन्विताः । स्वर्गापवर्गमार्गाभाः सञ्चरच्चारुवृत्तयः ॥ ३६७ ॥
न नेपथ्यादिभिर्भेदस्तद्भुवां सारवस्तुजैः । कुलजातिवयोवर्णवचोबोधादिभिर्भिदा ॥ ३६८ ॥
तत्पुर्यां सौधकूटाग्रबद्धध्वजनिरोधनात् । नातपस्य प्रवेशोऽस्ति [2]विघनार्कदिनेष्वपि ॥ ॥ ३६९ ॥
पुष्पाङ्गरागधूपादिसौगन्ध्यान्धीकृतालिभिः । भ्रमद्भिस्तत्र खे प्रावृट्शङ्का गृहशिखण्डिनाम् ॥ ३७० ॥
रूपलावण्यकान्त्यादिगुणैर्युवतिभिर्युताः । युवानस्तैश्च तास्तत्र [3]तदन्योन्यसुखावहाः ॥ ३७१ ॥
मदनोद्दीपनद्रव्यैर्निसर्गप्रेमतो गुणैः । कान्त्यादिभिश्च दम्पत्योः प्रीतिस्तत्र निरन्तरम् ॥ ३७२ ॥
अहिंसालक्षणो धर्मो यतयो विगतस्पृहाः । देवोऽर्हन्नेव निर्दोषस्तत्सर्वेऽप्यत्र धार्मिकाः ॥ ३७३ ॥
यत्किञ्चित् सञ्चितं पापं पञ्चसूनादिवृत्तिभिः । पात्रदानादिभिः सद्यस्तत्तिलम्पन्त्युपासकाः ॥ ३७४ ॥
न्याय्यो नृपः प्रजा धर्म्या [4]निर्जन्तु क्षेत्रमन्वहम् । स्वाध्यायस्तत्पुरं तस्मान्न त्यजन्ति यतीश्वराः॥३७५॥
नानापुष्प[5]फलानम्रमहीजैर्नन्दनैर्वनैः । नन्दनं च विजीयेत तत्पुरोपान्तवर्तिभिः ॥ ३७६ ॥

जिस प्रकार शरीरके मध्यमें बड़ी प्यारी नाभि होती है उसी प्रकार इस कुरुजांगल देशके मध्यमें एक हस्तिनापुर नामकी नगरी है ॥ ३६३ ॥ अगाध जलमें उत्पन्न हुए अनेक पुष्पों-द्वारा जिनकी शोभा बढ़ रही है ऐसी तीन परिखाओंसे वह नगर घिरा हुआ था ॥ २६४ ॥ धूलिके ढेर और कोटकी दीवारोंसे दुर्लङ्घ्य वह नगर गोपुरोंसे युक्त दरवाजों, अट्टालिकाओंकी पंक्तियों तथा बन्दरोंके शिर जैसे आकारवाले बुरजोंसे बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥ ३६५ ॥ वह नगर, राजमार्गमें ही मिलने वाले डरानेके लिए बनाये हुए हाथी, घोड़े आदिके चित्रों तथा बहुत छोटे दरवाजों वाली बहुत-सी गलियोंसे युक्त था ॥ ३६६ ॥ जो सार वस्तुओंसे सहित हैं तथा जिनमें सदाचारी मनुष्य इधरसे उधर टहला करते हैं ऐसे वहाँके राजमार्ग स्वर्ग और मोक्षके मार्गके समान सुशोभित होते थे ॥ ३६७ ॥ वहाँ उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंमें श्रेष्ठ वस्तुओंसे उत्पन्न हुए नेपथ्य—वस्त्राभूषणादि से कुछ भी भेद नहीं था केवल कुल, जाति, अवस्था, वर्ण, वचन और ज्ञानकी अपेक्षा भेद था ॥३६८॥ उस नगरमें राजभवनोंके शिखरोंके अग्रभाग पर जो ध्वजाएँ फहरा रही थीं उनसे रुक जानेके कारण जब सूर्यपर बादलोंका आवरण नहीं रहता उन दिनोंमें भी धूपका प्रवेश नहीं हो पाता था ॥ ३६९ ॥ पुष्प, अङ्गराग तथा धूप आदिकी सुगन्धिसे अन्धे होकर जो भ्रमर आकाशमें इधर-उधर उड़ रहे थे उनसे घरके मयूरोंको वर्षाऋतुकी शङ्का हो रही थी ॥ ३७० ॥ वहाँ रूप, लावण्य तथा कान्ति आदि गुणोंसे युक्त युवक युवतियोंके साथ और युवतियाँ युवकोंके साथ रहती थीं तथा परस्पर एक दूसरेको सुख पहुँचाती थीं ॥ ३७१ ॥ वहाँ कामको उद्दीपित करनेवाले पदार्थ, स्वाभाविक प्रेम, तथा कान्ति आदि गुणोंसे स्त्री-पुरुषोंमें निरन्तर प्रीति बनी रहती थी ॥ ३७२ ॥ वहाँ धर्म अहिंसा रूप माना जाता था, मुनि इच्छारहित थे, और देव रागादि दोषोंसे रहित अर्हन्त ही माने जाते थे इसलिए वहाँके सभी मनुष्य धर्मात्मा थे ॥ ३७३ ॥ वहाँके श्रावक, चक्की चूला आदि पाँच कार्योंसे जो थोड़ा-सा पाप संचित करते थे उसे पात्रदान आदिके द्वारा शीघ्र ही नष्ट कर डालते थे ॥ ३७४ ॥ वहाँका राजा न्यायी था, प्रजा धर्मात्मा थी, क्षेत्र जीवरहित—प्रासुक था, और प्रतिदिन स्वाध्याय होता रहता था इसलिए मुनिराज उस नगरको कभी नहीं छोड़ते थे ॥ ३७५ ॥ जिनके वृक्ष अनेक पुष्प और फलोंसे नम्र हो रहे हैं तथा जो सबको आनन्द देनेवाले हैं ऐसे उस नगरके समीपवर्ती

---

१ महाक्षुद्रापि सद्द्वारैः ख० । महाक्षुद्राणि मद्द्वारैः म०, ग० । महाक्षुद्रादिसद्द्वारैः क०, घ० । २ विघ्नार्कदिनेष्वपि (?) ख० । ३ तत्तेऽन्योन्यसुखावहाः क०,घ०,म० । धत्तेऽन्योऽन्यसुखावहः ग० । सुखावहं ख० । ४ निर्जन्तुः ख० । ५ लतानम्र–ख० ।

निष्पन्नसारवस्तूनां निःशेषाणां निजोद्भव-। स्थानेष्वनुपभोग्यत्वात्तद्देवायान्ति सर्वतः ॥ ३७७ ॥
तत्रस्थैरेव भुज्यन्ते तानि दानेन चेद्बहिः । निर्यान्ति यान्तु तत्ताद्दक् त्यागिभोगिजनैश्चितम् ॥ ३७८ ॥
तत्र तादात्विकाः सर्वे तच्च दोषाय कल्पते । तत्पण्यात् सर्ववस्तूनि वर्द्धन्ते प्रत्यहं यतः ॥ ३७९ ॥
ब्रह्मस्थानोत्तरे भागे भुवोऽभूद्राजमन्दिरम् । महामेरुनिभं भास्वद्भद्रशालादिभूषितम् ॥ ३८० ॥
यथास्थाननिवेशेन परितो राजमन्दिरम् । उद्भूनि वो ज्वलद्भव्यहर्म्याण्यन्यानि वा बभुः ॥ ३८१ ॥
तद्राजधानीनाथस्य काश्यपान्वयभास्वतः । भूपस्याजितसेनस्य चित्तनेत्रप्रियप्रदा ॥ ३८२ ॥
[1]बालचन्द्रादिसुस्वप्नदर्शिनी प्रियदर्शना । ब्रह्मकल्पच्युतं सूनुं विश्वसेनमजीजनत् ॥ ३८३ ॥
गन्धारविषयेशात[2]गान्धारनगरेशिनः। अजितंजयभूभर्तुरजितायां सुता गता ॥ ३८४ ॥
सनत्कुमारादैराख्या विश्वसेनप्रियाऽभवत् । श्रीह्रीधृत्यादिसंसेव्या नभस्ये कृष्ण[3]सप्तमी ॥ ३८५ ॥
दिने भरणिनक्षत्रे यामिनीतुर्यभागगा । स्वप्नान् षोडश साऽऽद्राक्षीत्साक्षात्पुत्र[4]फलप्रदान् ॥ ३८६ ॥
दरनिद्रासमुद्भूतबोधा शुद्धसुवासना । तदनन्तरमैक्षिष्ट प्रविष्टं वदनं[5] गजम् ॥ ३८७ ॥
तदैवासौ दिवो देवस्ततो मेघरथाभिधः । तस्यागवतरद् गर्भे शुक्तौ[6] मुक्तोदबिन्दुवत् ॥ ३८८ ॥
तदैव यामभेरी च तत्स्वप्नशुभसूचिनी । जजृम्भे मधुरं सुप्तां बोधयन्तीव सुन्दरीम् ॥ ३८९ ॥
पद्मिनीव तदाकर्ण्य विकसन्मुखपङ्कजा । शय्यागृहात्समुत्थाय कृतमङ्गलमज्जना ॥ ३९० ॥

वनोंसे इन्द्रका नन्दनवन भी जीता जाता था ॥ ३७६ ॥ संसारमें जितनी श्रेष्ठ वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं उन सबका अपनी उत्पत्तिके स्थानमें उपभोग करना अनुचित है इसलिए सब जगहकी श्रेष्ठ वस्तुएँ उसी नगरमें आती थीं और वहाँके रहनेवाले ही उनका उपभोग करते थे। यदि कोई पदार्थ वहाँसे बाहर जाते थे तो दानसे ही बाहर जा सकते थे इस तरह वह नगर पूर्वोक्त त्यागी तथा भोगी जनोंसे व्याप्त था ॥ ३७७-३७८ ॥ उस नगरके सब लोग तादात्विक थे—सिर्फ वर्तमानकी ओर दृष्टि रखकर जो भी कमाते थे उसे खर्च कर देते थे। उनकी यह प्रवृत्ति दोषाधायक नहीं थी क्योंकि उनके पुण्यसे सभी वस्तुएँ प्रतिदिन बढ़ती रहती थीं ॥ ३७९ ॥ उस नगरमें ब्रह्मस्थानके उत्तरी भूभागमें राजमन्दिर था जो कि देदीप्यमान भद्रशाल—उत्तमकोट आदिसे विभूषित था और भद्रशाल आदि वनोंसे सुशोभित महामेरुके समान जान पड़ता था ॥ ३८० ॥ उस राजमन्दिरके चारों ओर यथा-योग्य स्थानों पर जो अन्य देदीप्यमान सुन्दर महल बने हुए थे वे मेरुके चारों ओर स्थित नक्षत्रोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ३८१ ॥ उस हस्तिनापुर राजधानीमें काश्यपगोत्री देदीप्यमान राजा अजितसेन राज्य करते थे। उनके चित्त तथा नेत्रोंको आनन्द देनीवाली प्रियदर्शना नामकी स्त्री थी। उसने बालचन्द्रमा आदि शुभ स्वप्न देखकर ब्रह्मस्वर्गसे च्युत हुए विश्वसेन नामक पुत्रको उत्पन्न किया था ॥ ३८२-३८३ ॥ गन्धार देशके गान्धार नगरके राजा अजितञ्जयके उनकी अजिता रानीसे सनत्कुमार स्वर्गसे आकर ऐरा नामकी पुत्री हुई थी और यही ऐरा राजा विश्वसेनकी प्रिय रानी हुई थी। श्री ह्री धृति आदि देवियाँ उसकी सेवा करती थीं। भादों बदी सप्तमीके दिन भरणी नक्षत्रमें रात्रिके चतुर्थ भागमें उसने साक्षात् पुत्र रूप फलको देनेवाले सोलह स्वप्न देखे ॥ ३८४-३८६ ॥ अल्पनिद्राके बीच जिसे कुछ-कुछ ज्ञान प्राप्त हो रहा है तथा जिसके मुखसे शुद्ध सुगन्धि प्रकट हो रही है ऐसी रानी ऐराने सोलह स्वप्न देखनेके बाद अपने मुखमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा ॥ ३८७ ॥ उसी समय मेघरथका जीव स्वर्गसे च्युत होकर रानी ऐराके गर्भमें आकर उस तरह अवतीर्ण हो गया जिस तरह कि शुक्तिमें मोती रूप परिणमन करनेवाली पानीकी बूँद अवतीर्ण होती है ॥ ३८८ ॥ उसी समय सोती हुई सुन्दरीको जगानेके लिए ही मानो उसके शुभ स्वप्नोंको सूचित करनेवाली अन्तिम पहरकी भेरी मधुर शब्द करने लगी ॥ ३८९ ॥ उस भेरीको सुनकर रानी ऐराका मुख-कमल, कमलिनीके समान खिल उठा। उसने शय्यागृहसे उठकर मङ्गल-स्नान किया,

---

१ बाला चन्द्रादि-ल० । २ गन्धार क०, ग०, म०, ल० । ३ सप्तमे ल० । ४ साक्षात्सत्य—ल०, ख०, ग०, म० । ५ वदने ख० । ६ स्वातौ ल० ।

तत्कालोचितनेपथ्या कल्पवल्लीव जङ्गमा । सितातपत्रविन्यासितार्कबालांशुमालिका ॥ ३९१ ॥
प्रकीर्णकपरिक्षेपप्रपञ्चितमहोदया । जनैः कतिपयैरेव प्रत्यासन्नैः परिष्कृता ॥ ३९२ ॥
साऽविशच्चन्द्ररेखाभा सभामिव विभावरीम् । कृतोपचारविनयां [1]तामार्द्धासनमापयत् ॥ ३९३ ॥
नृपं साभिनिवेद्यात्मदृष्ट[2]स्वप्नावलीं क्रमात् । तत्फलान्यप्यबोधिष्ट राज्ञः सावधिलोचनात् ॥३९४॥
स्वर्गात्तदैव देवेन्द्राः सह देवैश्चतुर्विधैः । स्वर्गावतारकल्याणं सम्प्राप्य समुपादयन् ॥ ३९५ ॥
त्रिविष्टपेश्वरे गर्भे वर्द्धमाने[3] महोदयैः । अभ्येत्य नवमं मासं माता त्रिजगदीशितुः ॥ ३९६ ॥
मासान् पञ्चदश प्राप्तरत्नवृष्ट्याऽमरार्चना । शुचौ कृष्णचतुर्दश्यां याम्ययोगे निशात्यये ॥ ३९७ ॥
नन्दनं जगदानन्दसन्दोहमिव सुन्दरम् । असूतामलसद्बोधत्रितयोज्ज्वललोचनम् ॥ ३९८ ॥
शङ्खभेरीगजारातिघण्टारावावबोधिताः । जैनं[4] जन्मोत्सवं देवाः सम्भूय समवर्द्धयन् ॥ ३९९ ॥
तदा शची महादेवी प्रद्योतितदिगन्तरा । गर्भगेहं प्रविश्योच्चैर्मायानिद्रावशीकृताम् ॥ ४०० ॥
जिनेन्द्रजननीमैरां कुमारसहितां [5]सतीम् । [6]परीत्य प्रप्रणम्याच्यां मायाविष्कृतबालका॥ ४०१ ॥
त्रिलोकमातुः पुरतो निवेश्य परमेश्वरम् । कुमारवरमादाय विश्वामरनमस्कृतम् ॥ ४०२ ॥
मृदुबाहुयुगान्नीत्वा स्वपतेरकरोत्करे । ऐरावतगजस्कन्धमारोप्य मरुतां पतिः ॥ ४०३ ॥
पुरेव पुरुदेवं तं सुराद्रेर्मस्तकार्पितम् । अभिषिच्याम्बुभिः क्षीरमहाम्भोनिधिसम्भवैः ॥ ४०४ ॥

उस समयके योग्य वस्त्राभूषण पहने और [illegible] कल्पलताके समान राजसभाको प्रस्थान किया। उस समय वह अपने ऊपर लगाये हुए सफेद छत्रसे बालसूर्यकी किरणोंके समूहको भयभीत कर रही थी, ढुरते हुए चमरोंसे अपना बड़ा भारी अभ्युदय प्रकट कर रही थी, और पासमें रहनेवाले कुछ लोगोंसे सहित थी। जिस प्रकार रात्रिमें चन्द्रमाकी रेखा प्रवेश करती है उसी प्रकार उसने राजसभामें प्रवेश किया। औपचारिक विनय करनेवाली उस रानीको राजाने अपना आधा आसन दिया ॥ ३९०–३९३ ॥ उसने अपने द्वारा देखी हुई स्वप्नावली क्रम-क्रमसे राजाको सुनाई और अवधिज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले राजासे उनका फल मालूम किया ॥ ३९४ ॥ उसी समय चतुर्णिकायके देवोंके साथ स्वर्गसे इन्द्र आये और आकर गर्भावतारकल्याणक करने लगे ॥ ३९५ ॥ उधर रानीके गर्भमें इन्द्र बड़े अभ्युदयके साथ बढ़ने लगा और इधर त्रिलोकीनाथकी माता रानी पन्द्रह माह तक देवोंके द्वारा की हुई रत्नवृष्टि आदि पूजा प्राप्त करती रही। जब नवाँ माह आया तब उसने ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशीके दिन याम्ययोगमें प्रातःकालके समय पुत्र उत्पन्न किया। वह पुत्र ऐसा सुन्दर था मानो समस्त संसारके आनन्दका समूह ही हो। साथ ही अत्यन्त निर्मल मति-श्रुत-अवधिज्ञानरूपी तीन उज्ज्वल नेत्रोंका धारक भी था ॥ ३९६–३९८ ॥ शङ्खनाद, भेरीनाद, सिंहनाद और घंटानादसे जिन्हें जिन-जन्मकी सूचना दी गई है ऐसे चारों निकायोंके देवोंने मिल कर जिनेन्द्र भगवान्का जन्मोत्सव बढ़ाया ॥ ३९९ ॥ उस समय दिशाओंके मध्यको प्रकाशित करने-वाली महादेवी इन्द्राणीने गर्भ-गृहमें प्रवेश किया और कुमारसहित पतिव्रता जिनमाता ऐराको मायामयी निद्राने वशीभूत कर दिया। उसने पूजनीय जिनमाताको प्रदक्षिणा देकर प्रणाम किया और एक मायामयी बालक उसके सामने रख कर जिन्हें सर्वदेव नमस्कार करते हैं ऐसे श्रेष्ठ कुमार जिन-बालकको उठा लिया तथा अपनी दोनों कोमल भुजाओंसे ले जाकर इन्द्रके हाथोंमें सौंप दिया। इन्द्रने उन्हें ऐरावत हाथीके कन्धे पर विराजमान किया और पहले जिस प्रकार भगवान् आदिनाथको सुमेरु पर्वतके मस्तक पर विराजमान कर क्षीर-महासागरके जलसे उनका अभिषेक किया था इसी प्रकार इन्हें भी सुमेरु पर्वतके मस्तक पर विराजमान कर क्षीर-महासागरके जलसे इनका अभिषेक

---

१ वामार्धासन–ल० । २ दृष्टां स्वप्नावलीं ग०, ख०, म०, ल० । ३ वर्धमानमहोदयैः क०, घ० । ४ जैनजन्मोत्सवं क०, घ०, ख० । जिनजन्मोत्सवं ग० । ५ शची ल०, म०, क०, घ० । ६ परीत्य त्रिः प्रणम्यान्यं मायाविष्कृतबालकम् ल० ।

प्रसाधनविशेषाणामपि चैकं प्रसाधनम् । आचारपालनायैव भूषयित्वा विभूषणैः ॥ ४०५ ॥
[1]सर्वशान्तिप्रदो देवः शान्तिरित्यस्तु नामभाक् । इति तस्याभिषेकान्ते नामासौ निरवर्तयत् ॥ ४०६ ॥
प्रीत्या सुरवरैः सार्द्धं मन्दरादेत्य मन्दिरम् । जनन्याः सर्वमावेद्य जगदीशं समर्पयत् ॥ ४०७ ॥
अनृत्यद्योदितानन्दो[2] बहुभावरसोदयः । सम्मदश्चेदमर्यादः सरागं कं न नर्तयेत् ॥ ४०८ ॥
लोकपालांस्त्रिलोकानां पालकस्य महात्मनः । बालकस्यास्य कल्पेशः पालकान्पर्यकल्पयत् ॥ ४०९ ॥
इति द्वितीयकल्याणसाकल्यसमनन्तरम् । सशक्राः सर्वगीर्वाणाः स्वं स्वमोकः समं ययुः ॥ ४१० ॥
चतुर्विंशकपल्योपमन्यूंशोनत्रिसागरे । धर्मतीर्थस्य सन्ताने पल्यतुर्यांशशेषिते ॥ ४११ ॥
व्युच्छिन्ने युक्तिसन्मार्गे तदभ्यन्तरजीवितः । शान्तिः समुदपाद्यानमन्नरामरनायकः ॥ ४१२ ॥
लक्षासमायुश्चत्वारिंशच्चापाङ्गः सुवर्णरुक् । ध्वजतोरणसूर्येन्दुशङ्खचक्रादिलक्षणः ॥ ४१३ ॥
पुण्याद् दृढरथो दीर्घमनुभूयाहमिन्द्रताम् । विश्वसेनाद्यशस्वत्यां सुतश्चक्रायुधोऽभवत् ॥ ४१४ ॥
महामणिरिवाम्भोधौ गुणानां वा गणो मुनौ । तत्र शान्तिरगाद् वृद्धिं [3]प्रमदो वोदितोदिते ॥ ४१५ ॥
वर्द्धन्ते स्म गुणास्तस्मिन् स्पर्द्धेनावयवैः क्रमात् । [4]तथा विधाय सौन्दर्यं कीर्तिर्लक्ष्मीः सरस्वती ॥४१६॥
अभात्तस्यात्तसौन्दर्यं रूपमापूर्णयौवने । विधोर्विधूतवैकल्यमिव पर्वणि मण्डलम् ॥ ४१७ ॥
मृदवस्तनवः स्निग्धाः कृष्णाः केशाः [5]सुकुञ्चिताः । प्राञ्जिताश्चञ्चरीकाभाः शुभास्तन्मस्तकस्थिताः ॥४१८॥
शिरो विराजते तस्य शिखरं वा मरुन्मरोः । ललाटात्पट्टभाजोऽस्मादहमेवोपरीति वा ॥ ४१९ ॥

किया ॥ ३९९–४०४ ॥ यद्यपि भगवान् स्वयं उत्तमोत्तम आभूषणोंमेंसे एक आभूषण थे तथापि इन्द्रने केवल आचारका पालन करनेके लिए ही उन्हें आभूषणोंसे विभूषित किया था ॥ ४०५ ॥ 'ये भगवान् सबको शान्ति देनेवाले हैं इसलिए 'शान्ति' इस नामको प्राप्त हों' ऐसा सोच कर इन्द्रने अभिषेकके बाद उनका शान्तिनाथ नाम रक्खा ॥ ४०६ ॥ तदनन्तर धर्मेन्द्र सब देवोंके साथ बड़े प्रेमसे सुमेरु पर्वतसे राजमन्दिर आया और मातासे सब समाचार कह कर उसने वे त्रिलोकीनाथ माताको सौंप दिये ॥ ४०७ ॥ जिसे आनन्द प्रकट हो रहा है तथा जिसके अनेक भावों और रसोंका उदय हुआ है ऐसे इन्द्रने नृत्य किया सो ठीक ही है क्योंकि जब हर्ष मर्यादाका उल्लंघन कर जाता है तो किस रागी मनुष्यको नहीं नचा देता ? ॥ ४०८ ॥ यद्यपि भगवान् तीन लोकके रक्षक थे तो भी इन्द्रने उन बालक रूपधारी महात्माकी रक्षा करनेके लिए लोकपालोंको नियुक्त किया था ॥ ४०९ ॥ इस प्रकार जन्मकल्याणकका उत्सव पूर्ण कर समस्त देव इन्द्रके साथ अपने-अपने स्थान पर चले गये ॥ ४१० ॥

धर्मनाथ तीर्थंकरके बाद पौन पल्य कम तीन सागर बीत जाने तथा पाव पल्य तक धर्मका विच्छेद हो लेनेपर जिन्हें मनुष्य और इन्द्र नमस्कार करते हैं ऐसे शान्तिनाथ भगवान् उत्पन्न हुए थे। उनकी आयु भी इसीमें सम्मिलित थी ॥ ४११–४१२ ॥ उनकी एक लाख वर्षकी आयु थी, चालीस धनुष ऊँचा शरीर था, सुवर्णके समान कान्ति थी, ध्वजा, तोरण, सूर्य, चन्द्र, शङ्ख और चक्र आदिके चिह्न उनके शरीरमें थे ॥ ४१३ ॥ पुण्यकर्मके उदयसे दृढ़रथ भी दीर्घकाल तक अहमिन्द्रपनेका अनुभवकर राजा विश्वसेनकी दूसरी रानी यशस्वतीके चक्रायुध नामका पुत्र हुआ ॥ ४१४ ॥ जिस प्रकार समुद्रमें महामणि बढ़ता है, मुनिमें गुणोंका समूह बढ़ता है और प्रकट हुए अभ्युदयमें हर्ष बढ़ता है उसी प्रकार वहाँ बालक शान्तिनाथ बढ़ रहे थे ॥ ४१५ ॥ उनमें अनेक गुण, अवयवोंके साथ स्पर्धा करके ही मानो क्रम-क्रमसे बढ़ रहे थे और कीर्ति, लक्ष्मी तथा सरस्वती इस प्रकार बढ़ रही थीं मानो सगी बहिन ही हों ॥ ४१६ ॥ जिस प्रकार पूर्णिमाके दिन विकलता-खण्डावस्थासे रहित चन्द्रमाका मण्डल सुशोभित होता है उसी प्रकार पूर्ण यौवन प्राप्त होनेपर उनका रूप सौन्दर्य प्राप्तकर अधिक सुशोभित हो रहा था ॥ ४१७ ॥ उनके मस्तकपर इकट्ठे हुए भ्रमरोंके समान, कोमल पतले, चिकने, काले और घुँघरवाले शुभ बाल बड़े ही अच्छे जान पड़ते थे ॥ ४१८ ॥ उनका शिर

---

१ अथ शान्ति म०, ल० । २ चोद्भतानन्दो ल० । ३ प्रमोदो ल० । ४ यथा विधाय क०, ख०, ग०, घ०, म०, । ५ सकुञ्चिताः ग०, म०, ल०, ।

लक्ष्मीर्ललाटपट्टेऽस्मिंस्तस्य पट्टद्वयार्चिता । राजतामिति वा तुङ्गं विस्तीर्णं च व्यधाद्विधिः ॥,४२० ॥
सुरूपे कुटिले चास्य भ्रुवौ वेश्येव रेजतुः । कुटिलेति न रेखा किं पीयूषांशोर्विराजते ॥ ४२१ ॥
आधिक्यं चक्षुषोः प्राहुः शुभावयवचिन्तका । वीक्ष्य तच्चक्षुषी व्यक्तमितीयमनयोः स्तुतिः ॥ ४२२ ॥
कर्णौ तस्य न वर्ण्येते निःशेषश्रुतपात्रताम् । यातौ चेद् दुर्लभं तत्तु शोभान्यत्रापि विद्यते ॥ ४२३ ॥
अयं विनिर्जिताशेषं मोहमल्लं विजेष्यते । भाव्यत्रैवेति वा तुङ्गा सङ्गता नासिका कृता ॥ ४२४ ॥
मार्गदर्शकः- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
कपोलफलकौ श्लक्ष्णौ धात्रा वा विपुलौ कृतौ । तद्वक्त्रजसरस्वत्या विनोदेन विलेखितुम् ॥ ४२५ ॥
स्मितभेदाः सरस्वत्याः किं किं शुद्धाक्षरावलिः । शङ्कामिति सिताः स्निग्धाः घनास्तेनुद्विजाः समाः ४२६
वटबिम्बप्रवालादि परेषां भवतूपमा । नास्याधरस्य तेनायं स्मर्यते नाधरोऽधरः ॥ ४२७ ॥
भवेच्चिबुकमन्येषां भाविश्मश्रु।किमप्यदः । सदा दृश्यमिदं भावादित्यकारीव शोभनम् ॥ ४२८ ॥
क्षयी कलङ्की पङ्कोत्थं रजसा दूषितं ततः । नैतद्वक्त्रस्य साधर्म्यं धत्तः स्मेन्दुसरोरुहे ॥ ४२९ ॥
ध्वनिश्चेन्निर्गतस्तस्माद्दिव्यो विश्वार्थदर्पणः । पृथक् सुकण्ठता तस्य कण्ठस्य किमु वर्ण्यते ॥ ४३० ॥
स्पर्द्धमानभुजाग्राभ्यां तौङ्ग्येन शिरसा समम् । त्रिकूटहाटकाद्रिर्यां सोऽभात्त्रिभुवनप्रभुः ॥ ४३१ ॥
बाहू बहुतरं तस्य भातः स्माजानुलम्बिनौ[1] । धात्रीं सन्धर्तुकामौ वा केयूरादिविभूषणौ ॥ ४३२ ॥
व्यधायि वेधसा तस्य विस्तीर्णं वक्षसः स्थलम् । असम्बाधं वसन्त्वस्मिन्निति वा बहवः श्रियः ॥४३३॥

मेरुपर्वतके शिखरके समान सुशोभित होता था अथवा इस विचारसे ही ऊँचा उठ रहा था कि यद्यपि इनका ललाट राज्यपट्टको प्राप्त होगा परन्तु उससे ऊँचा तो मैं ही हूँ ॥ ४१९ ॥ उनके इस ललाटपट्टपर धर्मपट्ट और राज्यपट्ट दोनोंसे पूजित लक्ष्मी सुशोभित होगी इस विचारसे ही मानो विधाताने उनका ललाट ऊँचा तथा चौड़ा बनाया था ॥ ४२० ॥ उनकी सुन्दर तथा कुटिल भौंहें वेश्याके समान सुशोभित हो रही थीं। 'कुटिल हैं' इसलिए क्या चन्द्रमाकी रेखा सुशोभित नहीं होती अर्थात् अवश्य होती है ॥ ४२१ ॥ शुभ अवयवोंका विचार करनेवाले लोग नेत्रोंकी दीर्घताको अच्छा कहते हैं सो मालूम पड़ता है कि भगवान्के नेत्र देखकर ही उन्होंने ऐसा विचार स्थिर किया होगा। यही उनके नेत्रोंकी स्तुति है ॥ ४२२ ॥ यदि उनके कान समस्त शास्त्रोंकी पात्रताको प्राप्त थे तो उनका वर्णन ही नहीं किया जा सकता क्योंकि संसारमें यही एक बात दुर्लभ है। शोभा तो दूसरी जगह भी हो सकती है ॥ ४२३ ॥ 'ये भगवान्, सबको जीतनेवाले मोहरूपी मल्लको जीतेंगे इसलिए ऊँची नाक इन्हींमें शोभा दे सकेगी' ऐसा विचारकर ही मानो विधाताने उनकी नाक कुछ ऊँची बनाई थी ॥ ४२४ ॥ उनके मुखसे उत्पन्न हुई सरस्वती विनोदसे कुछ लिखेगी यह विचार कर ही मानो विधाताने उनके कपोलरूपी पटिये चिकने और चौड़े बनाये थे ॥ ४२५ ॥ उनके सफेद चिकने सघन और एक बराबर दांत यही शङ्का उत्पन्न करते थे कि क्या ये सरस्वतीके मन्द हास्यके भेद हैं अथवा क्या शुद्ध अक्षरोंकी पंक्ति ही हैं ॥ ४२६ ॥ बरगदका पका फल, बिम्बफल और मूंगा आदि दूसरोंके ओठोंकी उपमा भले ही हो जावें परन्तु उनके ओठकी उपमा नहीं हो सकते इसीलिए इनका अधर—ओंठ अधर—नीच नहीं कहलाता था ॥ ४२७ ॥ अन्य लोगोंका चिबुक तो आगे होने वाली डाढ़ीसे ढक जाता है परन्तु इनका चिबुक सदा दिखाई देता था इससे जान पड़ता है कि वह केवल शोभाके लिए ही बनाया गया था ॥ ४२८ ॥ चन्द्रमा क्षयी है तथा कलङ्कसे युक्त है और कमल कीचड़से उत्पन्न है तथा रजसे दूषित है इसलिए दोनों ही उनके मुखकी सदृशता नहीं धारण कर सकते ॥ ४२९ ॥ यदि उनके कण्ठसे दर्पणके समान सब पदार्थोंको प्रकट करने वाली दिव्यध्वनि प्रकट होगी तो फिर उस कण्ठकी सुकण्ठताका अलग वर्णन क्या करना चाहिए ? ॥ ४३० ॥ वे त्रिलोकीनाथ ऊंचाईके द्वारा शिरके साथ स्पर्धा करनेवाले अपने दोनों कन्धोंसे ऐसे सुशोभित होते थे मानो तीन शिखरोंवाला सुवर्णगिरि ही हो ॥ ४३१ ॥ घुटनों तक लम्बी एवं केयूर आदि आभूषणोंसे विभूषित उनकी दोनों भुजाएँ बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानो पृथिवीको उठाना ही चाहती हों ॥ ४३२ ॥ बहुत-सी लक्ष्मियाँ

१–लम्बितौ ल० ।

व्यासमध्यमणिच्छायाहारं वक्षो व्यधात्तराम् । मध्यीकृतार्कसन्ध्याभहेमाद्रितटसन्निभम् ॥ ४३४ ॥
तन्मध्यं मुष्टिसम्मायि बिभर्त्यूर्ध्वतनोर्भरम् । गुरु निराकुलं तस्य तानवं तेन शोभते ॥ ४३५ ॥
गम्भीरा दक्षिणावर्ता तस्याभ्युदयसूचिनी । नाभिः सपद्मा मध्यस्था स्यात्पदं न स्तुतेः कुतः ॥४३६॥
कटीतटी कटीसूत्रधारिणी हारिणी भृशम् । सवेदिकास्थली वास्य जम्बूद्वीपस्य भासते ॥ ४३७ ॥
वृते श्लक्ष्णे सुखस्पर्शे [illegible] सदादत्तफले गुरुभरक्षमे ॥ ४३८ ॥
मर्यादाकारि यत्तस्मात्तदेतस्योरुजङ्घयोः । शस्यं जानुद्वयं सद्भिः सक्रियं किन्न शस्यते ॥ ४३९ ॥
नमिताशेषदेवेन्द्रौ पादपद्मौ श्रिया श्रितौ । तयोरुपरि चेज्जङ्घे तस्य का वर्णना परा ॥ ४४० ॥
गुल्फयोरिव मन्त्रस्य गूढतेव गुणोऽभवत् । फलदा सा ततः सर्वं फलकृत्त्वाद् गुणि स्मृतम् ॥ ४४१ ॥
कूर्मपृष्ठौ क्रमौ तस्य श्रित्वा तौ सुस्थिता धरा । धृता कूर्मेण धात्रीति ध्रुवं रुढिस्ततोऽभवत् ॥४४२॥
पीनावप्रोन्नतौ सुस्थौ तस्यांगुष्ठौ सुखाकरौ । रेजतुर्दर्शयन्तौ वा मार्गं स्वर्गापवर्गयोः ॥ ४४३ ॥
अष्टावंगुलयस्तस्य बभुः श्लिष्टाः परस्परम् । कर्माण्यष्टापह्नोतुं निर्गता एव शक्तयः ॥ ४४४ ॥
दशधर्माः पुरैवैनं तद्व्याजेनेव सेवितुम् । क्रमौ समाश्रितास्तस्य व्यराजन्त नखाः सुखाः ॥ ४४५ ॥
अस्यावयवभावात्ते वासवाद्या नमन्ति नौ । इतीव रागिणौ तस्य पादौ पल्लवसन्निभौ ॥ ४४६ ॥

एक दूसरेकी बाधाके बिना ही इसमें निवास कर सकें यह सोचकर ही मानो विधाताने उनका वक्षःस्थल बहुत चौड़ा बनाया था ॥ ४३३ ॥ जिसके मध्यमें मणियोंकी कान्तिसे सुशोभित हार पड़ा हुआ है ऐसा उनका वक्षःस्थल, जिसके मध्यमें संध्याके लाल लाल बादल पड़ रहे हैं ऐसे हिमाचलके तटके समान जान पड़ता था ॥ ४३४ ॥ मुट्ठीमें समानेके योग्य उनका मध्यभाग चूंकि उपरिवर्ती शरीरके बहुत भारी बोझको बिना किसी आकुलताके धारण करता था अतः उसका पतलापन ठीक ही शोभा देता था ॥ ४३५ ॥ उनकी नाभि चूँकि गम्भीर थी, दक्षिणावर्तसे सहित थी। अभ्युदय, को सूचित करने वाली थी, पद्मचिह्नसे सहित थी और मध्यस्थ थी अतः स्तुतिका स्थान—प्रशंसाका पात्र क्यों नहीं होती ? अवश्य होती ॥ ४३६ ॥ करधनीको धारण करनेवाली उनकी सुन्दर कमर बहुत ही अधिक सुशोभित होती थी और जम्बूद्वीपकी वेदीसहित जगतीके समान जान पड़ती थी ॥ ४३७ ॥ उनके ऊरु केलेके स्तम्भके समान गोल, चिकने तथा स्पर्श करने पर सुख देने वाले थे अन्तर केवल इतना था कि केलेके स्तम्भ एक बार फल देते हैं परन्तु वे बारबार फल देते थे और केलेके स्तम्भ बोझ धारण करनेमें समर्थ नहीं हैं परन्तु वे बहुत भारी बोझ धारण करनेमें समर्थ थे ॥ ४३८ ॥ चूंकि उनके घुटनोंने ऊरु और जंघा दोनोंके बीच मर्यादा कर दी थी—दोनोंकी सीमा बांध दी थी इसलिए वे सत्पुरुषोंके द्वारा प्रशंसनीय थे सो ठीक ही है क्योंकि जो अच्छा कार्य करता है उसकी प्रशंसा क्यों नहीं की जावे ? अवश्य की जावे ॥ ४३९ ॥ उनके चरणकमल समस्त इन्द्रोंको नमस्कार कराते थे तथा लक्ष्मी उनकी सेवा करती थी। जब उनके चरणकमलोंका यह हाल था तब जङ्घाएँ तो उनके ऊपर थीं इसलिए उनका और वर्णन क्या किया जाय ? ॥ ४४० ॥ जिस प्रकार मन्त्रमें गूढ़ता गुण रहता है उसी प्रकार उनके दोनों गुल्फों—एड़ीके ऊपरकी गांठोंमें गूढ़ता गुण रहता था परन्तु उनकी यह गुणता फल देने वाली थी सो ठीक ही है क्योंकि सभी पदार्थ फलदायी होनेसे ही गुणी कहलाते हैं ॥ ४४१ ॥ उनके दोनों चरणोंका पृष्ठभाग कछुएके समान था और यह पृथिवी उन्हींका आश्रय पा कर निराकुल थी। जान पड़ता है कि 'पृथिवी कछुएके द्वारा धारण की गई है, यह रूढि उसी समयसे प्रचलित हुई है ॥ ४४२ ॥ उनके दोनों अंगूठे स्थूल थे, आगेको उठे हुए थे, अच्छी तरह स्थित थे, सुखकी खान थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो स्वर्ग तथा मोक्षका मार्ग ही दिखला रहे हों ॥ ४४३ ॥ परस्परमें एक दूसरेसे सटी हुई उनकी आठों अँगुलियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो आठों कर्मोंका अपह्नव करनेके लिए आठ शक्तियाँ ही प्रकट हुई हों ॥ ४४४ ॥ उनके चरणोंका आश्रय लेनेवाले सुखकारी दश नख ऐसे सुशोभित होते थे मानो उन नखोंके बहाने उत्तम क्षमा आदि दशधर्म उनकी सेवा करनेके लिए पहलेसे ही आ गये हों ॥ ४४५ ॥ हम भगवान्के शरीरके अवयव हैं इसीलिए इन्द्र आदि देव हम दोनोंको नमस्कार

नासृतांशोर्निशासङ्गादुष्णत्वाद्भास्करस्य च । तेजस्तस्योपमानं स्याद् [1]भूषणङ्गमाजतेजसः ॥४४७॥
कान्तेः का वर्णना तस्य यदि शक्रः सहस्रदृक् । शचीवदनपङ्केजविमुखस्तं निरीक्षते ॥ ४४८ ॥
भूषणानां कुलं लेभे शोभां तस्याङ्गसङ्गमात् । महामणिनिबद्धेद्धसुधौतकलधौतवत् ॥ ४४९ ॥
स्वनामश्रुतिसंशुष्यन्मदारिकरिसंहतेः । रवोऽराजत राजेशो राजकण्ठीरवस्य वा ॥ ४५० ॥
कीर्तिवल्ली जगत्प्रान्तं प्राप्य प्रागेव जन्मनः । तदीयालम्बनाभावादिव तावति सुस्थिता ॥ ४५१ ॥
कुलरूपवयःशीलकलाकान्त्यादिभूषणाः । कन्यकास्तत्पिता तेनायोजयद्रतिदायिनीः ॥ ४५२ ॥
कामिनीनीलनीरेजलोज्वलविलोचनैः । प्रेमामृतारुद्रसिक्तैर्मुहुरासादिताशयः ॥ ४५३ ॥
वल्लभावलितालोललीलालसविलोकनैः । स्वमनोधनलुण्टाकैरखण्डं स शमेयिवान्[2] ॥ ४५४ ॥
[3]पञ्चवर्गसहस्राब्दकाले गतवतीशितुः । कौमारेण सुखैरेव दिव्यमानुषगोचरैः ॥ ४५५ ॥
ततोऽनु तत्प्रमाणेन विश्वसेनसमर्पिते । राज्येऽप्यच्छिन्नभोगस्य काले विगलिते तदा ॥ ४५६ ॥
साम्राज्यसन्धनान्यस्य चक्रादीनि चतुर्दश । रत्नानि निधयोऽभूवन्नव चाविष्कृतौजसः ॥ ४५७ ॥
तेषु चक्रातपत्रासिदण्डाः शस्त्रगृहेऽभवन् । काकिणी चर्मचूलादिमणिश्च श्रीनिकेतने ॥ ४५८ ॥
पुरोधाः स्थपतिः सेनापतिर्गृहपतिश्च ते । हास्तिनाख्यपुरे कन्यागजाश्वाः खगभूधरे ॥ ४५९ ॥
नवापि निधयः पूज्या नदीसागरसङ्गमे । तदानीमेव देवेशैरानीताः पुण्यचोदितैः ॥ ४६० ॥
इत्याधिपत्यमासाद्य दशभोगाङ्गसङ्गतः । तावत्येव गते काले स्वालङ्कारालयान्तरे ॥ ४६१ ॥

करते हैं यह सोचकर ही मानो नवीन पत्तोंके समान उनके दोनों पैर रागी—रागसहित अथवा लालरंगके हो रहे थे ॥ ४४६ ॥ चन्द्रमाके साथ रात्रिका समागम रहता है और सूर्य उष्ण है अतः ये दोनों ही उनके तेजकी उपमा नहीं हो सकते। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि उनका तेज भूषणांग जातिके कल्पवृक्षके तेजके समान था ॥ ४४७ ॥ जब कि हजार नेत्रवाला इन्द्र इन्द्राणीके मुखकमलसे विमुख होकर उनकी ओर देखता रहता है तब उनकी कान्तिका क्या वर्णन किया जावे ? ॥ ४४८ ॥ जिस प्रकार महामणियोंसे निबद्ध देदीप्यमान उज्वल सुवर्ण सुशोभित होता है उसी प्रकार उनके शरीरके समागमसे आभूषणोंका समूह सुशोभित होता था ॥ ४४९ ॥ अपने नामके सुनने मात्रसे ही जिन्होंने शत्रुरूपी हाथियोंके समूहका मद सुखा दिया है ऐसे राजाधिराज भगवान् शान्तिनाथका शब्द सिंहके शब्दके समान सुशोभित होता था ॥ ४५० ॥ उनकी कीर्तिरूपी लता जन्मसे पहले ही लोकके अन्त तक पहुँच चुकी थी परन्तु उसके आगे आलम्बन न मिलने से वह वहीं पर स्थित रह गई ॥ ४५१ ॥ उनके पिताने कुल, रूप, अवस्था, शील, कला, कान्ति आदिसे विभूषित सुख देनेवाली अनेक कन्याओंका उनके साथ समागम कराया था—अनेक कन्याओंके साथ उनका विवाह कराया था ॥ ४५२ ॥ प्रेमामृतरूपी जलसे सींचे हुए स्त्रियोंके नीलकमलदलके समान नेत्रोंसे वे अपना हृदय बार-बार प्रसन्न करते थे ॥ ४५३ ॥ अपने मनरूपी धनको लूटनेवाली स्त्रियोंकी तिरछी चञ्चल लीलापूर्वक और आलसभरी चितवनोंसे वे पूर्ण सुखको प्राप्त होते थे ॥ ४५४ ॥ इस तरह देव और मनुष्योंके सुख भोगते हुए भगवान्के जब कुमारकालके पचीस हजार वर्ष बीत गये तब महाराज विश्वसेनने उन्हें अपना राज्य समर्पण कर दिया। क्रम-क्रमसे अखण्ड भोग भोगते हुए जब उनके पच्चीस हजार वर्ष और व्यतीत हो गये तब तेजको प्रकट करनेवाले भगवान्के साम्राज्यके साधन चक्र आदि चौदह रत्न और नौ निधियाँ प्रकट हुईं ॥ ४५५–४५७ ॥ उन चौदह रत्नोंमेंसे चक्र, छत्र, तलवार और दण्ड, ये आयुधशालामें उत्पन्न हुए थे, काकिणी, चर्म और चूड़ामणि श्रीगृहमें प्रकट हुए थे, पुरोहित, स्थपति, सेनापति और गृहपति हस्तिनापुरमें मिले थे और कन्या गज तथा अश्व विजयार्ध पर्वत पर प्राप्त हुए थे ॥ ४५८–४५९ ॥ पूजनीय नौ निधियाँ भी पुण्यसे प्रेरित हुए इन्द्रोंके द्वारा नदी और सागरके समागम पर लाकर दी गई थीं ॥ ४६० ॥ इस प्रकार चक्रवर्तीका साम्राज्य पाकर दश प्रकारके भोगोंका उपभोग करते हुए जब

---

१ भूषणाङ्गकल्पवृक्षतेजसः । २ शम् सुखम् एयिवान् प्राप्तवान् । ३ पञ्चविंशत् ल० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अलङ्कुर्वन्निजच्छायाद्वयमालोक्य दर्पणे । साश्चर्यं चिन्तयन्नेतत्किमित्यन्तर्गतं कृती ॥ ४६२ ॥
लब्धबोधिर्मतिज्ञानक्षयोपशमसम्पदा । स्वजन्मान्तर[1]सन्तानं स्मृत्वा निर्वेदमाप्तवान् ॥४६३॥
घनच्छायासमाः सर्वसम्पदः सशराहति- । विद्युद्द्युतिवल्लक्ष्मीः कायो मायामयोऽपि वा ॥ ४६४ ॥
प्रातःछायायुरात्मीयाः परकीया वियोगवत् । संयोगो हानिवद्वृद्धिर्जन्मेदं पूर्वजन्मवत् ॥ ४६५ ॥
इति चेतसि सम्पश्यन् सर्वमेतन्महीपतिः । निर्गन्तुमुद्ययौ गेहाद् दूरीकृतदुराशयः ॥ ४६६ ॥
तदा लौकान्तिकाः प्राप्य धर्मतीर्थस्य वर्द्धने । कालोऽयं तव देवस्य चिरविच्छिन्नसन्ततेः ॥ ४६७ ॥
इत्यवोचन्वचस्तेषामनुमत्य महामतिः । नारायणाय तद्राज्यं सूनवेऽश्राणयन्मुदा ॥ ४६८ ॥
ततः सुरगणाधीशविहिताभिषवोत्सवः । युक्तिमद्वचनैर्बन्धून् मोचयित्वाग्रणीः सताम् ॥ ४६९ ॥
सर्वार्थसिद्धिं शिबिकामारुह्य स मरुद्धृताम् । सहस्राम्रवनं प्राप्य कमनीयशिलातले ॥ ४७० ॥
कुबेरदिङ्मुखो बद्धपल्यङ्कासनसुस्थितः । ज्येष्ठ्ये मास्यसिते पक्षे [2]चतुर्दश्यपराह्णके ॥ ४७१ ॥
कृक्षे षष्ठोपवासेन भरण्यां प्रणिधानवान्[3] । कृतसिद्धनमस्कारस्त्यक्तवस्त्राद्युपच्छदः ॥ ४७२ ॥
पञ्चमुष्टिभिरुल्लुञ्च्य केशान् क्लेशानिवायतान् । जातरूपं हसन् दीप्त्या जातरूपमवाप्य सः ॥४७३॥
सद्यः सामयिकीं शुद्धिं समनःपर्ययामगात् । केशांस्तदैव देवेशो ज्वलत्पटलिकाश्रितान् ॥४७४॥
यथा बहुगुणीभूतानामोदमिलितालिभिः । पञ्चमाब्धितरङ्गाणां [4]परभागे व्यधात्तराम् ॥ ४७५ ॥
चक्रायुधादि तद्राज्ञां सहस्रं सह संयमम् । शान्तिनाथेन सम्प्रापदापदामन्तकारिणा ॥ ४७६ ॥

उनके पचीस हजार वर्ष और व्यतीत हो गये तब एक दिन वे अपने अलंकार-गृहके भीतर अलंकार धारण कर रहे थे उसी समय उन्हें दर्पणमें अपने दो प्रतिबिम्ब दिखे। वे बुद्धिमान् भगवान् आश्चर्यके साथ अपने मनमें विचार करने लगे कि यह क्या है ? ॥ ४६१-४६२ ॥ उसी समय उन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया और मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूप सम्पदासे वे पूर्व जन्मकी सब बातें जान कर वैराग्यको प्राप्त हो गये ॥ ४६३ ॥ वे विचार करने लगे कि समस्त सम्पदाएँ मेघोंकी छायाके समान हैं, लक्ष्मी इन्द्रधनुष और बिजलीकी चमकके समान हैं, शरीर मायामय है, आयु प्रातःकालकी छायाके समान है—उत्तरोत्तर घटती रहती है, अपने लोग परके समान हैं, संयोग वियोगके समान है, वृद्धि हानिके समान है और यह जन्म पूर्व जन्मके समान है ॥४६४-४६५॥ ऐसा विचार करते हुए चक्रवर्ती शान्तिनाथ अपने समस्त दुर्भाव दूर कर घरसे बाहर निकलनेका उद्योग करने लगे ॥ ४६६ ॥ उसी समय लौकान्तिक देवोंने आकर कहा कि हे देव ! जिसकी चिरकालसे सन्तति टूटी हुई है ऐसे इस धर्मरूप तीर्थके प्रवर्तनका आपका यह समय है ॥ ४६७ ॥ महाबुद्धिमान् शान्तिनाथ चक्रवर्तीने लौकान्तिक देवोंकी वाणीका अनुमोदन कर अपना राज्य बड़े हर्षसे नारायण नामक पुत्रके लिए दे दिया ॥ ४६८ ॥ तदनन्तर देवसमूहके अधिपति इन्द्रने उनका दीक्षाभिषेक किया। इस प्रकार सज्जनोंमें अग्रेसर भगवान् युक्तिपूर्ण वचनोंके द्वारा समस्त भाई-बन्धुओंको छोड़कर देवताओंके द्वारा उठाई हुई सर्वार्थसिद्धि नामकी पालकीमें आरूढ़ हुए और सहस्राम्रवनमें जाकर सुन्दर शिलातल पर उत्तरकी ओर मुख कर पर्यंकासनसे विराजमान हो गये। उसी समय ज्येष्ठकृष्ण चतुर्दशीके दिन शामके वक्त भरणी नक्षत्रमें बेलाका नियम लेकर उन्होंने अपना उपयोग स्थिर किया, सिद्ध भगवान्को नमस्कार किया, वस्त्र आदि समस्त उपकरण छोड़ दिये, पञ्चमुट्ठियोंके द्वारा लम्बे क्लेशोंके समान केशोंको उखाड़ डाला। अपनी दीप्तिसे जातरूप—सुवर्णकी हँसी करते हुए उन्होंने जातरूप—दिगम्बर मुद्रा प्राप्त कर ली, और शीघ्र ही सामायिक चारित्र सम्बन्धी विशुद्धता तथा मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त कर लिया। इन्द्रने उनके केशोंको उसी समय देदीप्यमान पिटारेमें रख लिया। सुगन्धिके कारण उन केशों पर आकर बहुतसे भ्रमर बैठ गये थे जिससे ऐसा जान पड़ता था कि वे कई गुणित हो गये हों। इन्द्रने उन केशोंको क्षीरसागरकी तरङ्गोंके उस ओर क्षेप दिया ॥ ४६६-४७५ ॥ चक्रायुधको आदि लेकर एक हजार राजाओंने भी विपत्तिको अन्त करनेवाले श्री

---

१ संजातं म० । २ चतुर्दश्यां पराह्णके म०, । चतुर्थ्यामपराह्णके ल० । ३ प्रणिप्रणिधानवत् ल० । ४ परं भागं ख० ।

भूयादस्माकमप्येवमित्याशासनतत्पराः । [1]पुण्यपण्यं समादाय [2]भक्तिमौल्येन भक्तिकाः ॥ ४७७ ॥
पाकशासनमुख्यास्ते सकलोकोत्सुका[3] [4]विश्वलोकेशो विशन्नं मन्दरं पुरम् ॥४७८॥
प्रविष्टाय प्रदायान्नं प्रासुकं परमोत्सवात् । सुमित्राख्यमहीपालः प्रापदाश्चर्यपञ्चकम् ॥४७९॥
क्रमादेवं तपः कुर्वन्नुर्वीं सर्वां पवित्रयन् । तनूकृतकषायः सन् मोहारातिजिगीषया ॥ ४८० ॥
बहुभिर्मुनिभिः सार्द्धं श्रीमान् चक्रायुधादिभिः । सहस्राम्रवनं प्राप्य नन्द्यावर्ततरोरधः ॥ ४८१ ॥
श्रेष्ठः षष्ठोपवासेन धवले दशमीदिने । पौषे मासि दिनस्यान्ते पल्यङ्कासनमास्थितः ॥ ४८२ ॥
प्राङ्मुखो बाह्यसामग्रीं नैर्ग्रन्थ्यादिमवाप्तवान् । कारणत्रयसम्प्राप्त[5]क्षपकश्रेणिमध्यगः ॥ ४८३ ॥
आरूढतुर्यचारित्ररथो [6]धर्म्याभिधानभाक् । ध्यानासिहतमोहारिर्वीतरागोऽन्त्यसंयमः ॥ ४८४ ॥
द्वितीयशुक्लसद्ध्यानचक्रविच्छिन्नघातिकः । एवं षोडशवर्षाणि छाद्मस्थ्यं भावमाश्रितः ॥ ४८५ ॥
निर्ग्रन्थो नीरजा वीतविघ्नो विश्वैकबान्धवः । केवलज्ञानसाम्राज्यश्रियं शान्तामशिश्रियत् ॥४८६॥
तदा तीर्थंकराख्योरुपुण्यकर्ममहामरुत् । संक्षोभितचतुर्भेदसुराम्भोधिर्विजृम्भितः ॥ ४८७ ॥
स्वसमुद्भूतसद्भक्तितरङ्गानीतपूजनः । रत्नावलीभिरित्येतं प्रार्थयत्प्राणभृत्पतिम् ॥ ४८८ ॥
चक्रायुधादयश्चास्य षट्त्रिंशद्गणनायकाः । शतान्यष्टौ समाख्याताः पूर्वाणां पारदर्शिनः ॥ ४८९ ॥
शून्यद्वितयवस्वेकचतुर्निमितशिक्षकाः । त्रिसहस्रावधिज्ञानसमुज्ज्वलविलोचनाः ॥ ४९० ॥

शान्तिनाथ भगवान्के साथ संयम धारण किया था ॥ ४७६ ॥ हमारे भी ऐसा ही संयम हो इस प्रकारकी इच्छा करते हुए इन्द्रादि भक्त देव, भक्तिरूपी मूल्यके द्वारा पुण्य रूपी सौदा खरीद कर स्वर्गलोकके सन्मुख चले गये ॥ ४७७ ॥

इधर आहार करनेकी इच्छासे समस्त लोकके स्वामी श्री शान्तिनाथ भगवान् मन्दिरपुर नगरमें प्रविष्ट हुए । वहाँ सुमित्र राजाने बड़े उत्सवके साथ उन्हें प्रासुक आहार देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ ४७८-४७९ ॥ इस प्रकार अनुक्रमसे तपश्चरण करते हुए उन्होंने समस्त पृथिवीको पवित्र किया और मोहरूपी शत्रुको जीतनेकी इच्छासे कषायोंको कृश किया ॥ ४८० ॥ चक्रायुध आदि अनेक मुनियोंके साथ श्रीमान् भगवान् शान्तिनाथने सहस्राम्रवनमें प्रवेश किया और नन्द्यावर्त वृक्षके नीचे तेलाके उपवासका नियम लेकर वे विराजमान हो गये । अत्यन्त श्रेष्ठ भगवान् पौष शुक्ल दशमीके दिन सायंकालके समय पर्यंकासनसे विराजमान थे । पूर्वकी ओर मुख था, निर्ग्रन्थता आदि समस्त बाह्य सामग्री उन्हें प्राप्त थी, अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणोंसे प्राप्त हुई क्षपक श्रेणीके मध्यमें वे अवस्थित थे, सूक्ष्मसाम्पराय नामक चतुर्थ चारित्ररूपी रथ पर आरूढ़ थे, प्रथम शुक्लध्यानरूपी तलवारके द्वारा उन्होंने मोहरूपी शत्रुको नष्ट कर दिया, अब वे वीतराग होकर यथाख्यातचारित्रके धारक हो गये। अन्तर्मुहूर्त बाद उन्होंने द्वितीय शुक्लध्यानरूपी चक्रके द्वारा घातिया कर्मोंको नष्ट कर दिया, इस तरह वे सोलह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्थाको प्राप्त रहे । मोहनीय कर्मका क्षय होनेसे वे निर्ग्रन्थ हो गये, ज्ञानावरण, दर्शनावरणका अभाव होनेसे नीरज हो गये, अन्तरायका क्षय होनेसे वीतविघ्न हो गये और समस्त संसारके एक बान्धव होकर उन्होंने अत्यन्त शान्त केवलज्ञानरूपी साम्राज्यलक्ष्मीको प्राप्त किया ॥ ४८१-४८६ ॥ उसी समय तीर्थंकर नामका बड़ा भारी पुण्यकर्मरूपी महावायु, चतुर्णिकायके देवरूपी समुद्रको क्षुभित करता हुआ बड़े वेगसे बढ़ रहा था ॥ ४८७ ॥ अपने आपमें उत्पन्न हुई सद्भक्ति रूपी तरङ्गोंसे जो पूजनकी सामग्री लाये हैं ऐसे सब लोग रत्नावली आदिके द्वारा, सब जीवोंके नाथ श्री शान्तिनाथ भगवान्की पूजा करने लगे ॥ ४८८ ॥

उनके समवसरणमें चक्रायुधको आदि लेकर छत्तीस गणधर थे, आठ सौ पूर्वोंके पारदर्शी थे, इकतालीस हजार आठ सौ शिक्षक थे, और तीन हजार अवधिज्ञानरूपी निर्मल नेत्रोंके धारक थे

---

१ पुण्यं पण्यं ख० । २ भक्तिमूल्येन ग० । ३ लोकोत्सुका म०,ख० । ४ स्वाश्रमान् विश्वलोकेशः ख० । ५ सम्प्राप्ति म०, ख० । ६ श्रेण्यां धर्म्यध्यानं न भवति, अतः 'शुक्लाभिधानभाग्' इति पाठः सुष्ठु प्रतिभाति ।

चतुःसहस्रसङ्ख्योक्तकेवलावगमेश्वराः । षट्सहस्राणि सम्प्रोक्तविक्रियांद्धावभूषिताः ॥ ४९१ ॥
मनःपर्ययसद्बोधसहस्राणां चतुष्टयम् । शून्यद्वयचतुःपक्षलक्षिताः पूज्यवादिनः ॥ ४९२ ॥
ते द्विषष्टिसहस्राणि सर्वेऽपि मुनयो मताः । आर्यिका हरिषेणाद्याः खद्वयत्रिखषड्मिताः ॥ ४९३ ॥
श्रावकाः सुरकीर्त्याद्या लक्षद्वयनिरूपिताः । अर्हद्दास्यादिकाः प्रोक्ताः श्राविका द्विगुणास्ततः ॥४९४॥
देवा देव्योऽप्यसङ्ख्यातास्तिर्यक्जाः[1] सङ्ख्ययामिताः । इति द्वादशभिः सार्द्धं गणैः सद्धर्ममादिशत् ४९५
विहरन्मासमात्रायुः सम्मेदाचलमागतः । व्यपेतव्याहृतिर्योगमास्थायाचलितं विभुः ॥ ४९६ ॥
ज्येष्ठकृष्णचतुर्दश्यां पूर्वरात्रेः कृतक्रियः । तृतीयशुक्लध्यानेन रुद्धयोगो विबन्धनः ॥ ४९७ ॥
[2]अकारपञ्चकोच्चारमात्रकाले वियोगकः । चतुर्थशुक्लध्यानेन निराकृततनुत्रयः ॥ ४९८ ॥
अगाद्भरणिनक्षत्रे लोकाग्रं गुणविग्रहः । अतीतकाले ताः सिद्धा यत्रानन्ता निरञ्जनाः ॥ ४९९ ॥
चतुर्विधामराः सेन्द्राः निस्तन्द्रा रुन्द्रभक्तयः । कृत्वान्त्येष्टिं तदागत्य स्वं स्वमावासमाश्रयन् ॥५००॥
चक्रायुधादयोप्येवमाध्यायान्त्यतनुत्रयम् । हित्वा नव सहस्राणि निर्वृतिं यतयोऽगमन् ॥ ५०१ ॥

मालिनी

इति परममवाप्य ज्ञानदृक्सौख्यवीर्य–
स्फुरिततनुनिवासव्याहृतिस्थानमुच्चैः ।
सुरपतिदृढपूज्यः शान्तिभट्टारको वो
दिशतु परमसप्तस्थानसम्प्राप्तिमाप्तः ॥ ५०२ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

कर्माण्यष्ट सकारणानि [3]सकलान्युन्मूल्य नैर्मल्यवान्
सम्यक्त्वादिगुणाष्टकं निरजनः स्वीकृत्य कृत्यान्तगः ।

मुनिसुविधिसागर जी महाराज

॥ ४८६–४९० ॥ वे चार हजार केवलज्ञानियोंके स्वामी थे और छह हजार विक्रियाऋद्धिके धारकोंसे सुशोभित थे ॥ ४९१ ॥ चार हजार मनःपर्यय ज्ञानी और दो हजार चार सौ पूज्यवादी उनके साथ थे ॥ ४९२ ॥ इस प्रकार सब मिलाकर बासठ हजार मुनिराज थे, इनके सिवाय साठ हजार तीन सौ हरिषेणा आदि आर्यिकाएँ थीं, सुरकीर्तिको आदि लेकर दो लाख श्रावक थे, अर्हद्दासीको आदि लेकर चार लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव-देवियाँ थीं और संख्यात तिर्यञ्च थे। इस प्रकार बारह गणोंके साथ-साथ वे समीचीन धर्मका उपदेश देते थे ॥ ४९३–४९५ ॥ विहार करते-करते जब एक माहकी आयु शेष रह गई तब वे भगवान् सम्मेदशिखर पर आये और विहार बन्द कर वहाँ अचल योगसे विराजमान हो गये ॥ ४९६ ॥ ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशीके दिन रात्रिके पूर्व भागमें उन कृतकृत्य भगवान् शांतिनाथने तृतीय शुक्लध्यानके द्वारा समस्त योगोंका निरोध कर दिया, बन्धका अभाव कर दिया और अकार आदि पाँच लघु अक्षरोंके उच्चारणमें जितना काल लगता है उतने समय तक अयोगकेवली अवस्था प्राप्त की। वहीं चतुर्थ शुक्लध्यानके द्वारा वे तीनों शरीरोंका नाश कर भरणी नक्षत्रमें लोकके अग्रभाग पर जा विराजे। उस समय गुण ही उनका शरीर रह गया था। अतीत कालमें गये हुए कर्ममलरहित अनंत सिद्ध जहाँ विराजमान थे वहीं जाकर वे विराजमान हो गये ॥ ४९७–४९९ ॥ उसी समय इन्द्र सहित, आलस्यरहित और बड़ी भक्तिको धारण करनेवाले चार प्रकारके देव आये और अन्तिम संस्कार–निर्वाणकल्याणककी पूजा कर अपने-अपने स्थान पर चले गये ॥ ५०० ॥ चक्रायुधको आदि लेकर अन्य नौ हजार मुनिराज भी इस तरह ध्यान कर तथा औदारिक तैजस और कार्मण इन तीन शरीरोंको छोड़ कर निर्वाणको प्राप्त हो गये॥ ५०१ ॥

इस प्रकार जिन्होंने उत्तम ज्ञान दर्शन-सुख और वीर्यसे सुशोभित परमौदारिक शरीरमें निवास तथा परमोत्कृष्ट विहारके स्थान प्राप्त किये, जो अरहन्त कहलाये और इन्द्रने जिनकी दृढ़ पूजा की ऐसे श्री शान्तिनाथ भट्टारक तुम सबके लिए सात परम स्थान प्रदान करें ॥ ५०२ ॥ जो

१ तिर्यक्काः ल० । २ इकार ख०, म०, ल० । ३ सफलान्यु-ख०, ग०, म०, ल०, ।

स्वाकारं विगतादिभूतसमये नेष्टं समाप्य स्फुटं
शान्तीशस्त्रिजगच्छिखामणिरभूदाविर्भवत्प्राभवः ॥ ५०३ ॥
श्रीषेणः कुरुजः सुरः खगपतिर्देवो हलेशोऽमरो
यो वज्रायुधचक्रभृत्सुरपतिः [1]प्राप्याहमेन्द्रं पदम् ।
पश्चान्मेघरथो मुनीन्द्रमहितः सर्वार्थसिद्धिं श्रितः
शान्तीशो जगदेकशान्तिरतुलां दिश्याच्छ्रियं वश्चिरम् ॥ ५०४ ॥
आदावनिन्दिताभोगभूमिजो विमलप्रभः । ततः श्रीविजयो देवोऽनन्तवीर्योऽनु नारकः ॥ ५०५ ॥
मेघनादः प्रतीन्द्रोऽभूत्सहस्रायुधोऽजनि । ततोऽहमिन्द्रकल्पेशोऽनल्पर्द्धिरभवत्ततः ॥ ५०६ ॥
च्युतो दृढरथो जज्ञे प्राज्ञो मेघरथानुजः । अन्त्यानुत्तरजश्चक्रायुधो गणधरोऽक्षरः ॥ ५०७ ॥

मालिनी

इति हितकृतवेदी बद्धसौहार्दभावः
सकलजगदधीशा शान्तिनाथेन सार्द्धम्
परमसुखपदं सम्प्राप चक्रायुधाह्वो[2]
भवति किमिह नेष्टं सम्प्रयोगान्महद्भिः ॥ ५०८ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

अन्ये तावदिहासतां भगवता मन्येऽपि तीर्थेशिना
कोऽसौ द्वादशजन्मसु प्रतिभवं प्रापत्प्रवृद्धिं पराम् ।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कारणोंसे सहित समस्त आठों कर्मोंको उखाड़ कर अत्यन्त निर्मल हुए थे, जो सम्यक्त्व आदि आठ आत्मीय गुणोंको स्वीकार कर जन्म-मरणसे रहित तथा कृतकृत्य हुए थे, एवं जिनके अष्ट महाप्रातिहार्यरूप वैभव प्रकट हुआ था वे शान्तिनाथ भगवान् अनादि भूतकालमें जो कभी प्राप्त नहीं हो सका ऐसा स्वस्वरूप प्राप्त कर स्पष्ट रूपसे तीनों लोकोंके शिखामणि हुए थे ॥ ५०३ ॥ जो पहले राजा श्रीषेण हुए, फिर उत्तम भोगभूमिमें आर्य हुए, फिर देव हुए, फिर विद्याधर हुए, फिर देव हुए, फिर बलभद्र हुए, फिर देव हुए, फिर वज्रायुध चक्रवर्ती हुए, फिर अहमिन्द्र पद पाकर देवोंके स्वामी हुए, फिर मेघरथ हुए, फिर मुनियोंके द्वारा पूजित होकर सर्वार्थसिद्धि गये, और फिर वहाँसे आकर जगत्को एक शान्ति प्रदान करनेवाले श्री शान्तिनाथ भगवान् हुए वे सोलहवें तीर्थंकर तुम सबके लिए चिरकाल तक अनुपम लक्ष्मी प्रदान करते रहें ॥ ५०४ ॥ जो पहले अनिन्दिता रानी हुई थी, फिर उत्तम भोगभूमिमें आर्य हुआ था, फिर विमलप्रभ देव हुआ, फिर श्रीविजय राजा हुआ, फिर देव हुआ, फिर अनन्तवीर्य नारायण हुआ, फिर नारकी हुआ, फिर मेघनाद हुआ, फिर प्रतीन्द्र हुआ, फिर सहस्रायुध हुआ, फिर बहुत भारी ऋद्धिका धारी अहमिन्द्र हुआ, फिर वहाँसे च्युत होकर मेघरथका छोटा भाई बुद्धिमान् दृढरथ हुआ, फिर अन्तिम अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र हुआ, फिर वहाँसे आकर चक्रायुध नामका गणधर हुआ, फिर अन्तमें अक्षर—अविनाशी-सिद्ध हुआ ॥ ५०५–५०७ ॥ इस प्रकार अपने हित और किये हुए उपकारको जाननेवाले चक्रायुधने अपने भाईके साथ सौहार्द धारण कर समस्त जगत्के स्वामी श्री शान्तिनाथ भगवान्के साथ-साथ परमसुख देनेवाला मोक्ष पद प्राप्त किया सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंकी संगतिसे इस संसारमें कौन-सा इष्ट कार्य सिद्ध नहीं होता ? ॥ ५०८ ॥ इस संसारमें अन्य लोगोंकी तो बात जाने दीजिये श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्रको छोड़कर भगवान् तीर्थंकरोंमें भी ऐसा कौन है जिसने बारह भवोंमें से प्रत्येक भवमें बहुत भारी वृद्धि प्राप्त की हो ? इसलिए हे विद्वान् लोगो, यदि तुम शान्ति चाहते हो

१–पतिर्व्याप्याहमिन्द्रं ल० । २ चक्रायुधांको ल० ।

मुक्त्वा शान्तिजिनं ततो बुधजनाः ध्यायन्तु सर्वोत्तरं[1]
[2]सार्वं शान्तिजिनेन्द्रमेव सततं शान्ति स्वयं प्रेप्सवः ॥५०९॥
ध्वस्तो मुक्तिपथः पुरुप्रभृतिभिर्देवैः पुनर्दर्शितः
किन्त्वन्तं प्रथितावधेर्गमयितुं कोऽपि प्रभुर्नाभवत् ।
देवेनाभिहितस्वनेन समगादव्याहतः स्वावधिं
तच्छान्तिं समुपेत तत्रभवतामार्यं गुरुं धीधनाः ॥५१०॥
इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे शान्तिचक्रधरतीर्थंकरपुराणं
परिसमाप्तं त्रिषष्टितमं पर्व ॥ ६३ ॥

—+++—

तो सबसे उत्तम और सबका भला करनेवाले श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्रका ही निरन्तर ध्यान करते रहो । ॥ ५०९ ॥ भोगभूमि आदिके कारण नष्ट हुआ मोक्षमार्ग यद्यपि ऋषभनाथ आदि तीर्थंकरोंके द्वारा फिर-फिरसे दिखलाया गया था तो भी उसे प्रसिद्ध अवधिके अन्त तक ले जानेमें कोई भी समर्थ नहीं हो सका। तदनन्तर भगवान् शान्तिनाथने जो मोक्षमार्ग प्रकट किया वह बिना किसी बाधाके अपनी अवधिको प्राप्त हुआ। इसलिए हे बुद्धिमान् लोगो ! तुम लोग भी आद्यगुरु श्री शान्तिनाथ भगवान्की शरण लो। भावार्थ—शान्तिनाथ भगवान्ने जो मोक्षमार्ग प्रचलित किया था वही आज तक अखण्ड रूपसे चला आ रहा है इसलिए इस युगके आद्यगुरु श्री शान्तिनाथ भगवान् ही हैं। उनके पहले पन्द्रह तीर्थंकरोंने जो मोक्षमार्ग चलाया था वह बीच-बीचमें विनष्ट होता जाता था ॥ ५१० ॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें शान्तिनाथ तीर्थंकर तथा चक्रवर्तीका पुराण वर्णन करनेवाला त्रेसठवाँ पर्व समाप्त हुआ।

—+++—

१ सर्वोत्तमम् क०, ख०, ग०, घ०, । २ सर्वं ख० ।

अनुवादक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चतुःषष्टितम पर्व

ग्रन्थान् कन्थामिव त्यक्त्वा सद्ग्रन्थान् मोक्षगामिनः ।
रक्षन् सूक्ष्मांश्च कुन्थुभ्यः कुन्थुः पान्थान् स पातु वः ॥ १ ॥
द्वीपेऽस्मिन् प्राग्विदेहस्य सीतादक्षिणकूलगे । वत्साख्यविषये[1] राजा सुसीमानगराधिपः ॥ २ ॥
अभूत् सिंहरथो नाम श्रीमान् सिंहपराक्रमः । संहतानपि विद्विष्टान् महिम्नैव वशं नयन् ॥ ३ ॥
भयादिव तमंहोऽरिर्हितन्यायवृत्तकम् । [2]दण्डिताखिलभूचक्रं नाडौकिप्टातिदूरतः ॥ ४ ॥
भोगानुभव एवास्मै शास्त्रमार्गानुसारिणे । [3]अदितामुत्रिकीं सिद्धिमैहिकीं चास्तविद्विषे ॥ ५ ॥
स कदाचिद् दिवोल्कायाः पातमालोक्य कल्पयन् । इयं मोहमहारातिं विघातायेति चेतसा ॥ ६ ॥
तदैवापेत्य [4]नत्वार्षिवृषभं यतिपूर्वकम् । श्रुत्वा तदुदितं भक्त्या [5]धर्मतत्त्वस्य विस्तरम् ॥ ७ ॥
स्यां समाहितमोहोऽहं यदुल्कासूचितापदः[6] । ममैवेति विचिन्त्याशु सुधीर्मोहजिहासया ॥ ८ ॥
राज्यभारं समारोप्य सुते सह महीभुजैः (?) । बहुभिः संयमं प्राप्य विबुद्धैकाङ्गदशाङ्गकः ॥ ९ ॥
बद्ध्वा तत्कारणैस्तीर्थकरनामादिकं शुभम् । स्वायुरन्ते समाराध्य प्रापान्तिममनुत्तरम् ॥ १० ॥
अन्वभूदप्रवीचारं सुखं [7]तत्राप्तकौतुकम् । मानसं माननीयं यन्मुनीनां चापरागजम् ॥ ११ ॥
इह जम्बूमति द्वीपे भरते कुरुजाङ्गले । [8]हस्तिनाख्यपुराधीशः कौरवः काश्यपान्वयः ॥ १२ ॥

जिन्होंने कन्थाके समान सब परिग्रहोंका त्याग कर मोक्ष प्राप्त करानेवाले सद्ग्रन्थोंकी तथा कुन्थुसे अधिक सूक्ष्म जीवोंकी रक्षा की वे कुन्थुनाथ भगवान् मोक्ष नगर तक जानेवाले तुम सब पथिकोंकी रक्षा करें ॥ १ ॥ इसी जम्बूद्वीपके पूर्वविदेहक्षेत्रमें सीता नदीके दक्षिण तट पर एक वत्स नामका देश है । उसके सुसीमा नगरमें राजा सिंहरथ राज्य करता था। वह श्रीमान् था, सिंहके समान पराक्रमी था और बहुतसे मिले हुए शत्रुओंको अपनी महिमासे ही वश कर लेता था ॥ २-३ ॥ न्यायपूर्ण आचारकी वृद्धि करनेवाले एवं समस्त पृथिवीमण्डलको दण्डित करनेवाले उस राजाके सम्मुख पापरूपी शत्रु मानो भयसे नहीं पहुँचते थे—दूर-दूर ही बने रहते थे ॥ ४ ॥ शास्त्रमार्गके अनुसार चलनेवाले और शत्रुओंको नष्ट करनेवाले उस राजाके लिए जो भोगानुभव प्राप्त था वही उसकी इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी सिद्धिको प्रदान करता था ॥ ५ ॥ वह राजा किसी समय आकाशमें उल्कापात देखकर चित्तमें विचार करने लगा कि यह उल्का मेरे मोहरूपी शत्रुको नष्ट करनेके लिए ही मानो गिरी है ॥ ६ ॥ उसने उसी समय यतिवृषभ नामक मुनिराजके समीप जाकर उन्हें नमस्कार किया और उनके द्वारा कहे हुए धर्मतत्त्वके विस्तारको बड़ी भक्तिसे सुना ॥ ७ ॥ वह बुद्धिमान् विचार करने लगा कि मैं मोहसे जकड़ा हुआ था, इस उल्काने ही मुझे आपत्ति की सूचना दी है ऐसा विचार कर मोहको छोड़नेकी इच्छासे उसने अपना राज्यभार शीघ्र ही पुत्रके लिए सौंप दिया और बहुतसे राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया । संयमी होकर उसने ग्यारह अंगोंका ज्ञान प्राप्त किया तथा सोलह कारण भावनाओंके द्वारा तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृतिका बन्ध किया । आयुके अन्तमें समाधिमरण कर वह अन्तिम अनुत्तर विमान—सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न हुआ ॥ ८-१० ॥ वहाँ उसने बड़े कौतुकके साथ प्रवीचाररहित उस मानसिक सुखका अनुभव किया जो मुनियोंको भी माननीय था तथा वीतरागतासे उत्पन्न हुआ था ॥ ११ ॥

इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी कुरुजांगल देशमें हस्तिनापुर नामका नगर है उसमें

---

१ वत्साख्यविजये (?) ग०, । वत्साख्यनगरे (?) ख० । २ दर्पिताखिल—क०, ख०, घ० । काङ्क्षिताखिल—म० । ३ आदिता-क०, घ० । ४ नत्वर्षि ख०, ग० । नन्वर्षि ल० । ५ धर्मतीर्थस्य ख० । ६ सूचितापहः ल० । ७ तत्रास्तकौतुकम् ख० । ८ हास्तिनाख्य ख०, ग०, ल० ।

सूरसेनो महाराजः श्रीकान्ताऽस्याग्रवल्लभा । देवेभ्यो वसुधारादिपूजामाप्तवती सती ॥ १३ ॥
[1]भागे मनोहरे यामे दशम्यां निशि पश्चिमे । श्रावणे बहुले पक्षे नक्षत्रे कृत्तिकाह्वये ॥ १४ ॥
सर्वार्थसिद्धिदेवस्य स्वर्गावतरणक्षणे । दृष्टषोडशसुस्वप्ना गजं वक्त्रप्रवेशिनम् ॥ १५ ॥
निशम्य यामभेर्यादिमङ्गलध्वनिबोधिता । कृतनित्यक्रिया स्नात्वा धृतमङ्गलमण्डना ॥ १६ ॥
आप्तैः कतिपयैरेव वृत्ता विद्युद्विलासिनी । द्योतयन्ती सदोव्योम साक्षाल्लक्ष्मीरिवापरा ॥ १७ ॥
कृतानुरूपविनया भर्तुरर्द्धासने स्थिता । स्वप्नावलीं निवेद्यास्माद्विदित्वावधिवीक्षणात् ॥ १८ ॥
फलान्यनुक्रमात्तेषां विकसद्वदनाम्बुजा । नलिनीवांशुसंस्पर्शाद्दुष्णांशोरतुषत्तराम् ॥ १९ ॥
तदैवानिमषाधीशाः कल्याणाभिषवं तयोः । विधाय बहुधाभ्यर्च्य तोषयित्वा ययुर्दिवम् ॥ २० ॥
शुक्तिर्मुक्ताविशेषेण नाभूत्सा तेन गर्भिणी । क्रोडीकृता मृताभीषुमेधरेखेव चाबभौ ॥ २१ ॥
नवमे मासि वैशाखशुक्लपक्षादिमे दिने । साऽसूताग्नेययोगे वा[2] विधुं तमपरा दिशा ॥ २२ ॥
तुरासहं पुरोधाय समभ्येत्य सुरासुराः । सुमेरुमर्भकं नीत्वा क्षीरसैन्धववारिभिः ॥ २३ ॥
अभिषिच्य विभूष्यैनं कुन्थुमाह्वय संज्ञया । समानीय समर्प्यायन् पित्रोरावासमात्मनः ॥ २४ ॥
शान्तीशतीर्थसन्तानकालेऽजनि जिनेश्वरः । पल्योपमार्द्धे पुण्याब्धिस्तदभ्यन्तरजीवितः ॥ २५ ॥
समाः पञ्चसहस्रानलक्षाः सवत्सरास्थितिः । पञ्चत्रिंशद्धनुः कायो निष्टप्ताष्टापदद्युतिः ॥ २६ ॥
खपञ्चमुनिवह्निद्विप्रमसंवत्सरान्तरे । नीत्वा कौमारमेतावत्येव काले च राजताम् ॥ २७ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज

कौरववंशी काश्यपगोत्री महाराज सूरसेन राज्य करते थे। उनकी पट्टरानीका नाम श्रीकान्ता था। उस पतिव्रताने देवोंके द्वारा की हुई रत्नवृष्टि आदि पूजा प्राप्त की थी ॥ १२–१३ ॥ श्रावण कृष्ण दशमीके दिन रात्रिके पिछले भाग सम्बन्धी मनोहर पहर और कृत्तिका नक्षत्रमें जब सर्वार्थसिद्धिके उस अहमिन्द्रकी आयु समाप्त होनेको आई तब उसने सोलह स्वप्न देखकर अपने मुँहमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा ॥ १४–१५ ॥ प्रातःकाल भेरी आदिके माङ्गलिक शब्द सुनकर जगी, नित्य कार्यकर स्नान किया, माङ्गलिक आभूषण पहिने और कुछ प्रामाणिक लोगोंसे परिवृत होकर बिजलीके समान सभारूपी आकाशको प्रकाशित करती हुई दूसरी लक्ष्मीके समान राजसभामें पहुँची। वहाँ वह अपनी योग्यताके अनुसार विनयकर पतिके अर्धासनपर विराजमान हुई। अवधि-ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले पतिको सब स्वप्न सुनाये और उनसे उनका फल मालूम किया। अनुक्रमसे स्वप्नोंका फल जानकर उसका मुखकमल इस प्रकार खिल उठा जिस प्रकार कि सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे कमलिनी खिल उठती है ॥ १६–१९ ॥ उसी समय देवोंने महाराज शूरसेन और महारानी श्रीकान्ताका गर्भकल्याणक सम्बन्धी अभिषेक किया, बहुत प्रकारकी पूजा की और सन्तुष्ट होकर स्वर्गकी ओर प्रयाण किया ॥ २० ॥ जिस प्रकार मुक्ताविशेषसे सीप गर्भिणी होती है उसी प्रकार उस पुत्रसे रानी श्रीकान्ता गर्भिणी हुई थी और जिस प्रकार चन्द्रमाको गोदीमें धारण करनेवाली मेघोंकी रेखा सुशोभित होती है उसी प्रकार उस पुत्रको गर्भमें धारण करती हुई रानी श्रीकान्ता सुशोभित हो रही थी ॥ २१ ॥ जिस प्रकार पश्चिम दिशा चन्द्रमाको उदित करती है उसी प्रकार रानी श्रीकान्ताने नव मास व्यतीत होने पर वैशाख शुक्ल प्रतिपदाके दिन आग्नेय योगमें उस पुत्रको उदित किया—जन्म दिया ॥ २२ ॥ उसी समय इन्द्रको आगे कर समस्त देव और धरणेन्द्र आये, उस बालकको सुमेरु पर्वत पर ले गये, क्षीर-सागरके जलसे उनका अभिषेक किया, अलंकारोंसे अलंकृत किया, कुन्थु नाम रखा, वापिस लाये, माता-पिताको समर्पण किया और अन्तमें सब अपने स्थान पर चले गये ॥ २३–२४ ॥ श्रीशान्तिनाथ तीर्थंकरके मोक्ष जानेके बाद जब आधा पल्य बीत गया तब पुण्यके सागर श्रीकुन्थु-नाथ भगवान् उत्पन्न हुए थे, उनकी आयु भी इसी अन्तरालमें सम्मिलित थी ॥ २५ ॥ पञ्चानवे हजार वर्षकी उनकी आयु थी, पैंतीस धनुष ऊँचा शरीर था और तपाये हुए सुवर्णके समान कान्ति थी ॥ २६ ॥ तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष कुमारकालके बीत जानेपर उन्हें राज्य प्राप्त हुआ था

१ भोगे ल० । २ च ल० ।

निजजन्मदिने [1]चक्रिलक्ष्मीं सम्प्राप्य सम्मदात् । दशाङ्गभोगान्निर्विश्य निःप्रतीपं[2] निरन्तरम् ॥२८॥
षडङ्गबलसंयुक्तः कदाचित्क्रीडितुं वनम् । गत्वा रंत्वा चिरं स्वैरं निवृत्यायन्पुनः पुरम् ॥ २९ ॥
मुनिमातपयोगेन स्थितं कञ्चिन्निरूपयन् । मन्त्रिणं प्रति तर्जिन्या पश्य पश्येति चक्रभृत् ॥ ३० ॥
स तं निरीक्ष्य तत्रैव भक्त्यावनतमस्तकः । देवैवं दुष्करं कुर्वंस्तपः किं फलमाप्स्यति ॥ ३१ ॥
इत्यप्राक्षान्नृपोऽप्यस्य भूयः स्मेरमुखोऽवदत् । भवेऽस्मिन्नैव निर्मूल्य कर्माण्याप्नोति निर्वृतिम् ॥३२॥
न चेदेवं सुरेन्द्रत्वचक्रवर्तित्वगोचरम् । सुखमभ्युदयं भुक्त्वा क्रमाच्छाश्वतमेष्यति ॥ ३३ ॥
अपरित्यक्तसङ्गस्य भवे पर्यटनं भवेत् । इत्युचैर्मुक्तिसंसारकारणं[3] परमार्थवित् ॥ ३४ ॥
कालो माण्डलिकत्वेन यावान्नीतः सुखायुषा । तावत्येव समानीय महेच्छश्चक्रवर्तिताम् ॥ ३५ ॥
विरज्य राज्यभोगेषु निर्वाणसुखलिप्सया । स्वातीतभवबोधेन लब्धबोधिर्बुधोत्तमः ॥ ३६ ॥
सारस्वतादिसंस्तोत्रमपि सम्भाव्य सादरम् । स्वजे नियोज्य राज्यस्य भारं निष्क्रमणोत्सवम् ॥३७॥
स्वयं सम्प्राप्य देवेन्द्रैः शिबिकां विजयाभिधाम् । आरुह्यामरसंवाह्यां सहेतुकवनं प्रति ॥ ३८ ॥
गत्वा षष्ठोपवासेन संयमं प्रत्यपद्यत । जन्ममासःपक्षदिवसे कृत्तिकायां नृपोत्तमैः ॥ ३९ ॥
सहस्रेणाप तुर्यावबोधं च दिवसात्यये । पुरं हास्तिनमन्येद्युस्तस्मै गतवतेऽदित ॥ ४० ॥
आहारं धर्ममित्राख्यः प्राप चाश्चर्यपञ्चकम् । कुर्वन्नेवं तपो घोरं नीत्वा षोडशवत्सरान् ॥ ४१ ॥
[4]निजदीक्षावने षष्ठेनोपवासेन शुद्धिभाक् । तिलकद्रुममूलस्थश्चैत्रज्योत्स्नापराह्णके ॥ ४२ ॥

और इतना ही समय बीत जानेपर उन्हें अपनी जन्मतिथिके दिन चक्रवर्तीकी लक्ष्मी मिली थी। इसप्रकार वे बड़े हर्षसे बाधारहित, निरन्तर दश प्रकारके भोगोंका उपभोग करते थे ॥ २७–२८ ॥ किसी समय वे षडङ्ग सेनासे संयुक्त होकर क्रीडा करनेके लिए वनमें गये थे वहाँ चिरकाल तक इच्छानुसार क्रीडाकर वे नगरको वापिस लौट रहे थे ॥ २९ ॥ कि मार्गमें उन्होंने किसी मुनिको आतप योगसे स्थित देखा और देखते ही मन्त्रीके प्रति तर्जनी अंगुलीसे इशारा किया कि देखो, देखो। मन्त्री उन मुनिराजको देखकर वहींपर भक्तिसे नतमस्तक हो गया और पूछने लगा कि हे देव ! इस तरहका कठिन तप तपकर ये क्या फल प्राप्त करेंगे ? ॥ ३०–३१ ॥ चक्रवर्ती कुन्थुनाथ हँसकर फिर कहने लगे कि ये मुनि इसी भवमें कर्मोंको नष्टकर निर्वाण प्राप्त करेंगे। यदि निर्वाण न प्राप्तकर सकेंगे तो इन्द्र और चक्रवर्तीके सुख तथा ऐश्वर्यका उपभोगकर क्रमसे शाश्वतपद–मोक्ष स्थान प्राप्त करेंगे ॥,३२–३३ ॥ जो परिग्रहका त्याग नहीं करता है उसीका संसारमें परिभ्रमण होता है। इस प्रकार परमार्थको जाननेवाले भगवान् कुन्थुनाथने मोक्ष तथा संसारके कारणोंका निरूपण किया ॥ ३४ ॥ उन महानुभावने सुखपूर्वक आयुका उपभोग करते हुए जितना समय मण्डलेश्वर रहकर व्यतीत किया था उतना ही समय चक्रवर्तीपना प्राप्तकर व्यतीत किया था ॥ ३५ ॥ तदनन्तर, अपने पूर्वभवका स्मरण होनेसे जिन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया है ऐसे विद्वानोंमें श्रेष्ठ भगवान् कुन्थुनाथ निर्वाण-सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे राज्यभोगोंमें विरक्त हो गये ॥ ३६ ॥ सारस्वत आदि लौकान्तिक देवोंने आकर बड़े आदरसे उनका स्तवन किया। उन्होंने अपने पुत्रको राज्यका भार देकर इन्द्रोंके द्वारा किया हुआ दीक्षा-कल्याणकका उत्सव प्राप्त किया। तदनन्तर देवोंके द्वारा ले जाने योग्य विजया नामकी पालकीपर सवार होकर वे सहेतुक वनमें गये। वहाँ तेलाका नियम लेकर जन्मके ही मास पक्ष और दिनमें अर्थात् वैशाखशुक्ल प्रतिपदाके दिन कृत्तिका नक्षत्रमें सायंकालके समय एक हजार राजाओंके साथ उन्होंने दीक्षा धारण कर ली। उसी समय उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। दूसरे दिन वे हस्तिनापुर गये वहाँ धर्ममित्र राजाने उन्हें आहार दान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये। इस प्रकार घोर तपश्चरण करते हुए उनके सोलह वर्ष बीत गये ॥ ३७–४१ ॥ किसी एक दिन

---

१ चक्रिलक्ष्मीं इति पाठः शुद्धो भाति। २ निःप्रतीपं इति पाठो भवेत्। ३ कारणं ल०। ४ जिनदीक्षा ल०।

कृत्तिकायां तृतीयायां कैवल्यमुदपादयत्[1] । मुदा तत्कालसम्प्राप्तसर्वामरसमर्थितम्[2] ॥ ४३ ॥
प्रार्च्य चतुर्थकल्याणपूजाविधिमवाप सः । तस्य स्वयम्भूनामाद्याः पञ्चत्रिंशद्गणेशिनः ॥ ४४ ॥
शतानि सप्त पूर्वाणां संविदो मुनिसत्तमाः । खपञ्चैकत्रिवाद्यर्युक्ताः शिक्षकाः लक्षिताशयाः ॥ ४५ ॥
खद्वयेन्द्रियपक्षोक्तास्तृतीयावगमामलाः । शून्यद्वयद्विवह्नयुक्ताः केवलज्ञानभास्वराः[3] ॥ ४६ ॥
खद्वयैकेन्द्रियज्ञातविक्रियर्द्धिविभूषणाः । त्रिंशतत्रिसहस्राणि चतुर्थज्ञानधारिणः ॥ ४७ ॥
पञ्चाशद्द्विसहस्राणि ख्यातानुत्तरवादिनः । सर्वे ते पिण्डिताः षष्टिसहस्राणि यमेश्वराः ॥ ४८ ॥
भाविताद्यार्यिकाः शून्यपञ्चवह्निखषण्मिताः । त्रिलक्षाः श्राविका लक्षद्वयं सर्वेऽप्युपासकाः ॥ ४९ ॥
[4]देवदेव्यस्त्वसङ्ख्यातास्तिर्यञ्चः[5] सङ्ख्यया मिताः । दिव्यध्वनिनामीषां कुर्वन्धर्मोपदेशनाम् ॥ ५० ॥
देशान् विहृत्य मासायुः सम्मेदाचलमास्थितः । प्रतिमायोगमादाय सहस्रमुनिभिः सह ॥ ५१ ॥
वैशाखज्यौत्स्नपक्षादिदिने रात्रेः पुरातने । भागे कर्माणि निर्मूल्य कृत्तिकायां निरञ्जनः ॥५२॥
प्राप्तगीर्वाणनिर्वाणपूजः प्रापत्परं पदम् । संशुद्धज्ञानवैराग्यसाबाधमविनश्वरम् ॥ ५३ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

आसीत् सिंहरथो नृपः पृथुतपाः सर्वार्थसिद्धीश्वरः
कल्याणद्वयभाक् षडङ्गशिविरस्त्रैलोक्यमुख्यार्चितः ।
प्राप्तात्माष्टगुणस्त्रिविष्टपशिखाप्रोद्भासिचूडामणि–
र्दिश्याद्वः श्रियमप्रतीपमहिमा कुन्थुर्जिनः शास्वतीम् ॥ ५४ ॥

विशुद्धताको धारण करनेवाले भगवान् तेलाका नियम लेकर अपने दीक्षा लेनेके वनमें तिलकवृक्षके नीचे विराजमान हुए। वहीं चैत्रशुक्ला तृतीयाके दिन सायंकालके समय कृत्तिका नक्षत्रमें उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। उसी समय हर्षके साथ सब देव आये। सबने प्रार्थनाकर चतुर्थकल्याणककी पूजा की। उनके स्वयंभूको आदि लेकर पैंतीस गणधर थे, सात सौ मुनिराज पूर्वोंके जानकार थे, तैंतालीस हजार एक सौ पचास मर्मवेदी शिक्षक थे, दो हजार पाँच सौ निर्मल अवधिज्ञानके धारक थे तीन हजार दो सौ केवलज्ञानसे देदीप्यमान थे, पाँच हजार एक सौ विक्रियाऋद्धिके धारक थे, तीन हजार तीन सौ मनःपर्ययज्ञानी थे, दो हजार पचास प्रसिद्ध एवं सर्वश्रेष्ठ वादी थे, इस तरह सब मिलाकर साठ हजार मुनिराज उनके साथ थे ॥४२–४८॥ भाविताको आदि लेकर साठ हजार तीन सौ पचास आर्यिकाएँ थीं, तीनलाख श्राविकाएँ थीं, दो लाख श्रावक थे, असंख्यात देव-देवियाँ थीं और संख्यात तिर्यञ्च थे। भगवान्, दिव्यध्वनिके द्वारा इन सबके लिए धर्मोपदेश देते हुए विहार करते थे ॥ ४९–५० ॥ इस प्रकार अनेक देशोंमें विहारकर जब उनकी आयु एक मासकी बाकी रह गई तब वे सम्मेदशिखरपर पहुंचे। वहाँ एक हजार मुनियोंके साथ उन्होंने प्रतिमा योग धारण कर लिया और वैशाख शुक्ल प्रतिपदाके दिन रात्रिके पूर्वभागमें कृत्तिका नक्षत्रका उदय रहते हुए समस्त कर्मोंको उखाड़कर परमपद प्राप्त कर लिया। अब वे निरञ्जन–कर्मकलङ्कसे रहित हो गये। देवोंने उनके निर्वाण-कल्याणक की पूजा की। उनका वह परमपद अत्यन्त शुद्ध ज्ञान और वैराग्यसे परिपूर्ण तथा अविनाशी था ॥ ५१–५३ ॥

जो पहले भवमें राजा सिंहरथ थे, फिर विशाल तपश्चरणकर सर्वार्थसिद्धिके स्वामी हुए, फिर तीर्थंकर और चक्रवर्ती इसप्रकार दो पदोंको प्राप्त हुए, जो छह प्रकारकी सेनाओंके स्वामी थे, तीनों लोकोंके मुख्य पुरुष जिनकी पूजा करते थे, जिन्हें सम्यक्त्व आदि आठ गुण प्राप्त हुए थे, जो तीन लोकके शिखरपर चूड़ामणिके समान देदीप्यमान थे और जिनकी महिमा बाधासे रहित थी ऐसे

१–मुपपादयत् ख० । २ समर्थितः ख० । ३ भास्कराः ख० । ४ देव्यस्त्वसंख्याता म०, घ०, देवादेव्योऽप्यसंख्या–ख० । ५ तिर्यग्जाः ग०, ख०, म०, तिर्यक्काः ख० ।

देहज्योतिषि यस्य शक्रसहिताः सर्वेऽपि मग्नाः सुरा
ज्ञानज्योतिषि पञ्चतत्त्वसहितं लग्नं नभश्चाखिलम् ।
लक्ष्मीधामदधद्विधूतविततध्वान्तः स धामद्वय-
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
पन्थानं कथयत्वनन्तगुणभृत्कुन्थुर्भवान्तस्य वः ॥ ५५ ॥

इत्यार्षे त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते कुन्थुचक्रधरतीर्थंकरपुराणं परिसमाप्तं चतुःषष्टितमं पर्व ॥ ६४ ॥

श्रीकुन्थुनाथ भगवान् तुम सबके लिए अविनाशी–मोक्षलक्ष्मी प्रदान करें ॥ ५४ ॥ जिनके शरीरकी कान्तिमें इन्द्र सहित समस्त देव निमग्न हो गये, जिनकी ज्ञानरूप ज्योतिमें पञ्चतत्त्व सहित समस्त आकाश समा गया, जो लक्ष्मीके स्थान हैं, जिन्होंने फैला हुआ अज्ञानान्धकार नष्ट कर दिया, और जो अनन्तगुणोंके धारक हैं ऐसे श्रीकुन्थुनाथ भगवान् तुम सबके लिए मोक्षका निश्चय और व्यवहार मार्ग प्रदर्शित करें ॥ ५५ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें कुन्थुनाथ तीर्थंकर और चक्रवर्तीका वर्णन करनेवाला चौसठवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमं पर्व

सरतारं परं सारं [1]नरनाथकृतानतिम् । अगाधासारसंसारसागरोत्तारकारणम् ॥ १ ॥
द्वीपे जम्बूद्रुमख्याते सीतोत्तरतटाश्रिते । कच्छाख्यविषये क्षेमपुराधीशो महीपतिः ॥ २ ॥
नाम्ना धनपतिः पाता प्रजानां जनताप्रियः । धात्री धेनुः स्वयं तस्य दुग्धे स्म प्रस्नुतानिशम् ॥३॥
विनार्थिभिरपि त्यागी विनाप्यरिभिरुद्यमी । तर्पितार्थिनि भूतारौ तस्मिंस्तौ सहजौ गुणौ ॥ ४ ॥
[2]स्ववृत्त्यनुगमेनैव वर्गत्रयनिषेविणः । राजा प्रजाश्च राज्येऽस्मिंस्तत्र धर्मव्यतिक्रमः ॥ ५ ॥
कदाचिद्धरणीधर्ता पीत्वार्हन्नन्दतीर्थकृद् । दिव्यध्वनिसमुद्भूतं[3] धर्मसाररसायनम् ॥ ६ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
विरज्य राज्यभोगेभ्यस्तद्राज्यं निजात्मजे । नियोज्य मंक्षु प्रव्रज्यां जैनीं जन्मान्तकारिणीम् ॥ ७ ॥
आसाद्यैकादशाङ्गोरुपारावारस्य पारगः । द्वयष्टकारणसम्बद्धतीर्थकृन्नामपुण्यकृत् ॥ ८ ॥
[4]प्रायोपगमनेनापत्स जयन्तेऽहमिन्द्रताम् । त्रयस्त्रिंशत्समुद्रोपमायुर्हस्ततनुप्रमः ॥ ९ ॥
शुक्ललेश्याद्वयः सार्द्धैर्मासैः षोडशभिः श्वसन् । त्रयस्त्रिंशत्सहस्रोक्तवर्षैर्मानसमाहरन् ॥ १० ॥
अमृतं निःप्रवीचारसुखसागरपारगः । स्वावधिज्ञाननिर्णीतलोकनाड्यर्थविस्तृतिः ॥ ११ ॥
स्वावधिक्षेत्रनिर्णीतप्रकाशबलविक्रियः । अतिप्रशान्तरागादिरासन्नीकृतनिर्वृतिः ॥ १२ ॥
सद्वेद्योदयसम्भूतमन्वभूत् भोगमुत्तमम् । उदितोदितपर्याप्तिपर्यन्तोपान्तमास्थितः ॥ १३ ॥

अथानन्तर जो अगाध और असार संसाररूपी सागरसे पार कर देनेमें कारण हैं, अनेक राजा जिन्हें नमस्कार करते हैं और जो अत्यन्त श्रेष्ठ हैं ऐसे अरनाथ तीर्थंकरकी तुम सब लोग सेवा करो—उनकी शरणमें जाओ ॥ १ ॥ इस जम्बूद्वीपमें सीता नदीके उत्तर तटपर एक कच्छ नामका देश है । उसके क्षेमपुर नगरमें धनपति नामका राजा राज्य करता था । वह प्रजाका रक्षक था और लोगोंको अत्यन्त प्यारा था । पृथिवीरूपी धेनु सदा द्रवीभूत होकर उसके मनोरथ पूर्ण किया करती थी ॥ २-३ ॥ याचकोंको संतुष्ट करनेवाले और शत्रुओंको नष्ट करनेवाले उस राजामें ये दो गुण स्वाभाविक थे कि वह याचकोंके विना भी त्याग करता रहता था और शत्रुओंके न रहने पर भी उद्यम किया करता था ॥४॥ उसके राज्यमें राजा-प्रजा सब लोग अपनी-अपनी वृत्तिके अनुसार त्रिवर्ग-का सेवन करते थे इसलिए धर्मका व्यतिक्रम कभी नहीं होता था ॥ ५ ॥ किसी एक दिन उस राजा-ने अर्हन्नन्दन तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिसे उत्पन्न हुए श्रेष्ठधर्मरूपी रसायनका पान किया जिससे राज्य-सम्बन्धी भोगोंसे विरक्त होकर उसने अपना राज्य अपने पुत्रके लिए दे दिया और शीघ्र ही जन्म-मरणका अन्त करनेवाली जैनी दीक्षा धारण कर ली ॥ ६-७ ॥ ग्यारह अङ्गरूपी महासागरके पार-गामी होकर उसने सोलह कारणभावनाओंके द्वारा तीर्थंकर नामक पुण्य कर्मका बन्ध किया । अन्तमें प्रायोपगमन संन्यासके द्वारा उसने जयन्त विमानमें अहमिन्द्र पद प्राप्त किया । वहाँ तैंतीस सागर प्रमाण उसकी आयु थी, एक हाथ ऊँचा शरीर था, द्रव्य और भावके भेदसे दोनों प्रकारकी शुक्ल लेश्याएँ थीं, वह साढ़े सोलह माहमें एक बार श्वास लेता था, और तैंतीस हजार वर्षमें एक बार मानसिक अमृतमय आहार ग्रहण करता था । प्रवीचाररहित सुखरूपी सागरका पारगामी था, अपने अवधिज्ञानके द्वारा वह लोकनाड़ीके भीतर रहने वाले पदार्थोंके विस्तारको जानता था । ॥ ८-११ ॥ उसके अवधिज्ञानका जितना क्षेत्र था उतने ही क्षेत्र तक उसका प्रकाश, बल और विक्रिया ऋद्धि थी । उसके राग-द्वेष आदि अत्यन्त शान्त हो गये थे और मोक्ष उसके निकट आ चुका था ॥ १२ ॥ वह साता वेदनीयके उदयसे उत्पन्न हुए उत्तम भोगोंका उपभोग करता था ।

---

१ नरनाथाकृतानतिम् घ० । २ स्ववृत्त्यानु-ख० । ३ समुद्भूत-ख० । ४ प्रायोपगमनादापत् म०, ख० ।

द्वीपेऽस्मिन् भारते क्षेत्रे देशोऽस्ति कुरुजाङ्गलः । [1]हस्तिनाख्यं पुरं तस्य पतिर्गोत्रेण काश्यपः ॥१४॥
सोमवंशसमुद्भूतः[2] सुदर्शनसमाह्वयः । मित्रसेना महादेवी प्राणेभ्योऽप्यस्य वल्लभा ॥ १५ ॥
मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
रत्नधारादिकां पूजां प्राप्य [3]प्रीत्यानुफलाने । मासेऽसिततृतीयायां रेवत्यां निशि पश्चिमे ॥ १६ ॥
भागे जयन्तदेवस्य स्वर्गावतरणक्षणे । दृष्टषोडशसुस्वप्ना फलं तेषु निजाधिपम् ॥ १७ ॥
अनुयुज्यावधिज्ञानतदुक्तफलसंश्रुतेः । प्राप्तत्रैलोक्यराज्येव [4]प्रासीदत्परमोदया ॥ १८ ॥
[5]तदा गतामराधीशकृतकल्याणसम्मदा । निर्वृता निर्मदा नित्यरम्या सौम्याननाः शुचिः ॥ १९ ॥
संवाद्यमाना देवीभिस्तत्कालोचित[6]वस्तुभिः । मेघमालेव सद्गर्भमुद्वहन्ती जगद्धितम् ॥ २० ॥
मार्गशीर्षे सिते पक्षे पुष्ययोगे चतुर्दशी । तिथौ त्रिविधसद्बोधं तनूजमुदपीपदत्[7] ॥ २१ ॥
तस्य जन्मोत्सवस्यालं वर्णनाय मरुद्वराः । यदि स्वर्गं समुद्वास्य[8] सर्वेऽप्यत्र सजानयः ॥ २२ ॥
अत्यल्पं तृप्तिमापन्ना दीनानाथवनीपकाः । इतीदमिह सम्प्राप्तं यदि तृप्तिं जगत्त्रयम् ॥ २३ ॥
कुन्थुतीर्थेशसन्ताने पल्ये तुर्यांशसम्मिते । सहस्रकोटिवर्षोने तदभ्यन्तरजीवितः ॥ २४ ॥
अरो जिनोऽ[9]जनि श्रीमानशीतिं चतुरुत्तराम् । वत्सराणां सहस्राणि परमायुः समुद्वहन् ॥ २५ ॥
त्रिंशच्चापतनूत्सेधः चारुचामीकरच्छविः । लावण्यस्य परा कोटिः सौभाग्यस्याकरः परः ॥ २६ ॥
सौन्दर्यस्य समुद्रोऽयमालयो रूपसम्पदः । गुणाः किमस्मिन् सम्भूताः किं गुणेष्वस्य सम्भवः ॥ २७ ॥

इस तरह प्राप्त हुए भोगोंका उपभोग करता हुआ आयुके अन्तिम भागको प्राप्त हुआ—वहाँसे च्युत होनेके सम्मुख हुआ ॥ १३ ॥

अथानन्तर इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें कुरुजांगल नामका देश है। उसके हस्तिनापुर नगरमें सोमवंशमें उत्पन्न हुआ काश्यप गोत्रीय राजा सुदर्शन राज्य करता था। उसकी प्राणोंसे भी अधिक प्यारी मित्रसेना नामकी रानी थी ॥ १४–१५ ॥ जब धनपतिके जीव जयन्त विमानके अहमिन्द्रका स्वर्गसे अवतार लेनेका समय आया तब रानी मित्रसेनाने रत्नवृष्टि आदि देवकृत सत्कार पाकर बड़ी प्रसन्नतासे फाल्गुन कृष्ण तृतीयाके दिन रेवती नक्षत्रमें रात्रिके पिछले प्रहर सोलह स्वप्न देखे। सवेरा होते ही उसने अपने अवधिज्ञानी पतिसे उन स्वप्नोंका फल पूछा। तदनन्तर परम वैभवको धारण करनेवाली रानी पतिके द्वारा कहे हुए स्वप्नका फल सुनकर ऐसी प्रसन्न हुई मानो उसे तीन लोकका राज्य ही मिल गया हो ॥ १६–१८ ॥ उसी समय इन्द्रादि देवोंने जिसके गर्भकल्याणकका उत्सव किया है, जो अत्यन्त संतुष्ट है, मद रहित है, निरन्तर रमणीक है, सौम्य मुखवाली है, पवित्र है, उस समयके योग्य स्तुतियोंके द्वारा देवियां जिसकी स्तुति किया करती हैं, और जो मेघमालाके समान जगत्का हित करनेवाला उत्तम गर्भ धारण करती है ऐसी रानी मित्रसेनाने मगसिर शुक्ल चतुर्दशीके दिन पुष्य नक्षत्रमें तीन ज्ञानोंसे सुशोभित उत्तम पुत्र उत्पन्न किया ॥ १९–२१ ॥ उनके जन्मके समय जो उत्सव हुआ था उसका वर्णन करनेके लिए इतना लिखना ही बहुत है कि उसमें शामिल होनेके लिए अपनी-अपनी देवियों सहित समस्त उत्तम देव स्वर्ग खालीकर यहाँ आये थे ॥ २२ ॥ उस समय दीन अनाथ तथा याचक लोग सन्तोषको प्राप्त हुए थे यह कहना बहुत छोटी बात थी क्योंकि उस समय तो तीनों लोक अत्यन्त सन्तोषको प्राप्त हुए थे ॥ २३ ॥ श्रीकुन्थुनाथ तीर्थंकरके तीर्थके बाद जब एक हजार करोड़ वर्ष कम पल्यका चौथाई भाग बीत गया था तब श्रीअरनाथ भगवान्का जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसी अन्तरालमें शामिल थी। भगवान् अरनाथकी उत्कृष्ट-श्रेष्ठतम आयु चौरासी हजार वर्षकी थी, तीस धनुष ऊँचा उनका शरीर था, सुवर्णके समान उनकी उत्तम कान्ति थी, वे लावण्यकी अन्तिम सीमा थे, सौभाग्यकी श्रेष्ठ खान थे, भगवान्को देखकर शङ्का होती थी कि ये सौन्दर्यके सागर हैं या सौन्दर्य सम्पत्तिके घर हैं, गुण इनमें उत्पन्न हुए हैं या इनकी गुणोंमें उत्पत्ति हुई है अथवा ये स्वयं गुणमय हैं—गुणरूप

---

१ हास्तिनाख्यं ख०, ग० । २ समुदभूतसु-ख० । ३ प्रीत्यानु-घ०, ङ० । ४ प्रसीदत् ङ० । ५ ततो गता ङ० । ६ संस्तुभिः ङ० । ७-मुदयीयपत् ङ० । ८ समुद्वास्य क०, ख०, ग०, घ० । ९-जिनश्री-ख० ।

अभूद्गुणमयः किं वेत्याशङ्कां [1]स[न]यन् जनान् । अवर्द्धत समं लक्ष्म्या बालकल्पद्रुमोपमः ॥ २८ ॥
तस्य शून्यत्रिकैकद्विप्रमाणामितवत्सरैः । गते कुमारकालेऽभूद्राज्यं माण्डलिकोचितम् ॥ २९ ॥
तावत्येव गते काले तस्मिन् सकलचक्रिता । भोगान्समन्वभूज्जागे तृतीये स निजायुषः ॥ ३० ॥
कदाचिच्छारदाम्भोदविलय[2]प्रतिलोकनात् । [illegible] ॥ ३१ ॥
प्रबोधितोऽनुवादेन दत्वा राज्यं स्वसूनवे । अरविन्दकुमाराय सुरैरूढामधिष्ठितः ॥ ३२ ॥
शिबिकां वैजयन्त्याख्यां सहेतुकवनं गतः । दीक्षां षष्ठोपवासेन रेवत्यां दशमीदिने ॥ ३३ ॥
शुक्लेऽगान्मार्गशीर्षस्य सायाह्ने भूभुजां[3] सह । सहस्रेण चतुर्ज्ञानधारी च समजायत ॥ ३४ ॥
सम्यगेवं तपः कुर्वन् कदाचित्पारणादिने । प्रायाच्चक्रपुरं तस्मै दत्वान्नमपराजितः ॥ ३५ ॥
महीपतिः सुवर्णाभः प्रापदाश्चर्यपञ्चकम् । छाद्मस्थ्येनागमंस्तस्य मुनेर्वर्षाणि षोडश ॥ ३६ ॥
ततो दीक्षावने मासे कार्तिके द्वादशीदिने । रेवत्यां शुक्लपक्षेऽपराह्णे चूततरोरधः ॥ ३७ ॥
षष्ठोपवासेनाहत्य घातीन्याहेन्त्यमासदत् । सुराश्चतुर्थकल्याणे सम्भूयैनमपूजयन्[4] ॥ ३८ ॥
कुम्भार्यार्या गणेशोऽस्य त्रिंशत्पूर्वाङ्गवेदिनः । शून्यैकषट्मिताः[5] ज्ञेया शिक्षकाः सूक्ष्मबुद्धयः ॥ ३९ ॥
पञ्चद्वयष्टपञ्चाग्निमिताश्चिज्ज्ञानधारिणः । शून्यद्वयाष्टपक्षोक्ताः केवलज्ञानलोचनाः ॥ ४० ॥
तावन्तः खद्वयाग्न्यब्धिनिमिता[5] विक्रियर्द्धिकाः । करणेन्द्रियखद्वयुक्ता मनःपर्ययबोधनाः ॥ ४१ ॥
शतानि षट्सहस्रं च तत्रानुत्तरवादिनः । सर्वे ते सञ्चिताः पञ्चाशत् सहस्राणि संयताः ॥ ४२ ॥
ज्ञेयाः षष्टिसहस्राणि यक्षिलाप्रमुखार्यिकाः । लक्षाः षष्टिसहस्राणि श्रावका श्राविकाश्च ताः ॥ ४३ ॥

ही हैं । इस प्रकार लोगोंको शङ्का उत्पन्न करते हुए, बाल कल्पवृक्षकी उपमा धारण करनेवाले भगवान् लक्ष्मीके साथ-साथ वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे ॥ २४–२८ ॥ इस प्रकार कुमार अवस्थाके इक्कीस हजार वर्ष बीत जानेपर उन्हें मण्डलेश्वरके योग्य राज्य प्राप्त हुआ था और इसके बाद जब इतना ही काल और बीत गया तब पूर्ण चक्रवर्तीपद प्राप्त हुआ था । इस तरह भोग भोगते हुए जब आयुका तीसरा भाग बाकी रह गया तब किसी दिन उन्हें शरद्ऋतुके मेघोंका अकस्मात् विलय हो जाना देखकर अपने जन्मको सार्थक करनेवाला आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया । उसी समय लौकान्तिक देवोंने उनके विचारोंका समर्थनकर उन्हें प्रबोधित किया और वे अरविन्दकुमार नामक पुत्रके लिए राज्य देकर देवोंके द्वारा उठाई हुई वैजयन्ती नामकी पालकीपर सवार हो सहेतुक वनमें चले गये । वहाँ तेलाका नियम लेकर उन्होंने मगसिर शुक्ला दशमीके दिन रेवती नक्षत्रमें सन्ध्याके समय एक हजार राजाओंके साथ दीक्षा धारण कर ली । दीक्षा धारण करते ही वे चार ज्ञानके धारी हो गये ॥ २९–३४ ॥ इस प्रकार तपश्चरण करते हुए वे किसी समय पारणाके दिन चक्रपुर नगरमें गये वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले राजा अपराजितने उन्हें आहार देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये । इस तरह मुनिराज अरनाथके जब छद्मस्थ अवस्थाके सोलह वर्ष व्यतीत हो गये ॥ ३५–३६ ॥ तब वे दीक्षावनमें कार्तिक शुक्ल द्वादशीके दिन रेवती नक्षत्रमें सायंकालके समय आम्रवृक्षके नीचे तेलाका नियम लेकर विराजमान हुए । उसी समय घातिया कर्म नष्टकर उन्होंने अर्हन्तपद प्राप्त कर लिया । देवोंने मिलकर चतुर्थ कल्याणकमें उनकी पूजा की ॥ ३७–३८ ॥ कुम्भार्यको आदि लेकर उनके तीस गणधर थे, छहसौ दश ग्यारह अंग चौदह पूर्वके जानकार थे, पैंतीस हजार आठ सौ पैंतीस सूक्ष्म बुद्धिको धारण करनेवाले शिक्षक थे ॥ ३९ ॥ अट्ठाईस सौ अवधिज्ञानी थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, तैंतालीस सौ विक्रिया-ऋद्धिको धारण करनेवाले थे, बीस सौ पचपन मनःपर्ययज्ञानी थे ॥ ४०–४१ ॥ और सोलह सौ श्रेष्ठ-वादी थे । इस तरह सब मिलाकर पचासहजार मुनिराज उनके साथ थे ॥ ४२ ॥ यक्षिलाको आदि लेकर साठ हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख साठ हजार श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव थे और संख्यात तिर्यञ्च थे । इस प्रकार इन बारह सभाओंसे घिरे हुए अतिशय बुद्धिमान् भगवान्

---

१ जनयन् ल० ।-मानयत् ख० । २ विलायप्रतिलोकनात् ग० । विलासप्रविलोनात् म० । ३ भूभुजैः ल० । ४-मपूपुजत् ख०, ग० । ५ प्रमिता म० ।

लक्षं त्रयं विनिर्दिष्टा देवाः पूर्वोक्तमानकाः । तिर्यग्भेदाश्च सङ्ख्याता[1]वृतो द्वादशभिर्गणैः ॥ ४४ ॥
पृभिर्धर्मोपदेशार्थं व्यहरद्विषयान् [2]सुधीः । मासमात्रावशेषायुः सम्मेदगिरिमस्तके ॥ ४५ ॥
सहस्रमुनिभिः सार्द्धं प्रतिमायोगमास्थितः । चैत्रकृष्णान्तरेवत्यां पूर्वरात्रेऽगमच्छिवम् ॥ ४६ ॥
तदाऽऽगत्य सुराधीशाः कृतनिर्वाणपूजनाः । स्तुत्वा स्तुतिशतैर्भक्त्या स्वं स्वमोकः समं ययुः ॥ ४७ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

त्यक्तं येन कुलालचक्रमिव तच्चक्रं धराचक्रचित्,
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
श्रीश्चासौ घटदासिकेव परमश्रीधर्मचक्रेप्सया ।
युष्मान्भक्तिभरानतान्स दुरितारातेरवध्वंसकृत्,
पायान्नव्यजनानरो जिनपतिः संसारभीरून् सदा ॥ ४८ ॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

क्षुत्तृट्भयादिगुरुकर्मकृतोरुदोषा–
नष्टादशापि सनिमित्तमपास्य शुद्धिम् ।
यो लब्धवांस्त्रिभुवनैकगुरुर्गरीया–
नष्टादशो दिशतु शीघ्रमरः शिवं वः ॥ ४९ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

प्राग्योऽभून्नृपतिर्महान् धनपतिः पश्चाद्व्रतानां पतिः,
स्वर्गाग्रे विलसज्जयन्तजपतिः प्रोद्यत्सुखानां पतिः ।
षट्खण्डाधिपतिश्चतुर्दशलसद्रत्नैर्निधीनां पतिः,
त्रैलोक्याधिपतिः पुनात्वरपतिः सन् स श्रितान् वश्चिरम् ॥५०॥

अथास्मिन्नेव तीर्थेऽभूत्सुभौमो नाम चक्रभृत् । [3]तृतीये जन्मन्यत्रैव भरतेऽसौ भुवः पतिः ॥ ५१ ॥

अरनाथने धर्मोपदेश देनेके लिए अनेक देशोंमें विहार किया। जब उनकी आयु एक माहकी बाकी रह गई तब उन्होंने सम्मेदाचलकी शिखरपर एकहजार मुनियोंके साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया तथा चैत्र कृष्ण अमावस्याके दिन रेवती नक्षत्रमें रात्रिके पूर्वभागमें मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥४३–४६॥ उसी समय इन्द्रोंने आकर निर्वाणकल्याणककी पूजा की। भक्तिपूर्वक सैकड़ों स्तुतियोंके द्वारा उनकी स्तुति की, और तदनन्तर वे सब अपने-अपने स्थानोंपर चले गये ॥ ४७ ॥

जिन्होंने परम लक्ष्मी और धर्मचक्रको प्राप्त करनेकी इच्छासे पृथिवीमण्डलको सञ्चित करनेवाला अपना सुदर्शनचक्र कुम्भकारके चक्रके समान छोड़ दिया और राज्य-लक्ष्मीको घटदासी (पनहारिन) के समान त्याग दिया। तथा जो पापरूपी शत्रुका विध्वंस करनेवाले हैं ऐसे अरनाथ जिनेन्द्र भक्तिके भारसे नम्रीभूत एवं संसारसे भयभीत तुम सब भव्य लोगोंकी सदा रक्षा करें ॥४८॥ क्षुधा, तृषा, भय आदि बड़े-बड़े कर्मोंके द्वारा किये हुए क्षुधा तृषा आदि अठारहों दोषोंको उनके निमित्त कारणोंके साथ नष्टकर जिन्होंने विशुद्धता प्राप्त की थी, जो तीनों लोकोंके एक गुरु थे तथा अतिशय श्रेष्ठ थे ऐसे अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ तुम लोगोंको शीघ्र ही मोक्ष प्रदान करें ॥ ४९ ॥ जो पहले धनपति नामके बड़े राजा हुए, फिर व्रतोंके स्वामी मुनिराज हुए, तदनन्तर स्वर्गके अग्रभागमें सुशोभित जयन्त नामक विमानके स्वामी सुखी अहमिन्द्र हुए, फिर छहों खण्डके स्वामी होकर चौदह रत्नों और नौ निधियोंके अधिपति—चक्रवर्ती हुए तथा अन्तमें तीनों लोकोंके स्वामी अरनाथ तीर्थंकर हुए वे अतिशय श्रेष्ठ अठारहवें तीर्थंकर अपने आश्रित रहनेवाले तुम सबको चिरकालतक पवित्र करते रहें ॥ ५० ॥

अथानन्तर—इन्हीं अरनाथ भगवान्के तीर्थमें सुभौम नामका चक्रवर्ती हुआ था। वह तीसरे

---

१ वृत्तो ल० । २ मधु । ३. तृतीय ल० ।

भूपालो नाम संग्रामे वलिभिर्विजिगीषुभिः । [1]प्राप्ताभिमानभङ्गः सन् भृशं निर्विद्य संसृतेः ॥ ५२ ॥
दीक्षां जैनेश्वरीमादात्सं[2]भूतगुरुसन्निधौ । कदाचित्स तपः कुर्वन्निदानमकरोत्कुधीः[3] ॥ ५३ ॥
भूयान्मे चक्रवर्तित्वमिति भोगानुषङ्गनात् । क्षीरं विषेण वा तेन मनसा दूषितं तपः ॥ ५४ ॥
स तथैवाचरन् घोरं तपः स्वास्यायुषः क्षये । समाधाय महाशुक्रे संन्यासेनोदपद्यत ॥ ५५ ॥
तत्र षोडशवाराशिमानायुः सुखमास्त [4] सः । द्वीपेऽस्मिन् भारते कौशलाख्ये[5] राष्ट्रे गुणान्विते ॥५६॥
सहस्रबाहुरिक्ष्वाकुः साकेतनगराधिपः । राज्ञी तस्याभवच्चित्रमत्याख्या हृदयप्रिया ॥ ५७ ॥
[6]कन्याकुब्जमहीशस्य [7]पारताख्यस्य सात्मजा । तस्यां सुतः सुपुण्येन कृतवीराधिपोऽभवत् ॥ ५८ ॥
तत्र प्रवर्द्धमानेऽस्मिन्निदमन्यदुदीर्यते । सहस्रभुजभूभर्तुः पितृव्याच्छतबिन्दुतः ॥ ५९ ॥
पारताख्य महीशस्य श्रीमत्यस्तनयः स्वसुः । जमदग्निः सरामान्तः कौमारे मातृमृत्युतः ॥ ६० ॥
[8]निर्वेगात्तापसो भूत्वा पञ्चाग्नितपसि स्थितः । दृढग्राहिमहीशस्य विप्रेण हरिशर्मणा ॥ ६१ ॥
अभूदखण्डितं सख्यमेवं काले प्रयात्यसौ । दृढग्राही तपो जैनमग्रहीद् ब्राह्मणोऽपि च ॥ ६२ ॥
तापसव्रतमन्तेऽभूज्ज्योतिर्लोके द्विजोत्तमः । दृढग्राही च सौधर्मे सोऽवधिज्ञानचक्षुषा ॥ ६३ ॥
मिथ्यात्वाज्ज्योतिषां[9] लोके समुत्पन्नं द्विजोत्तमम् । विज्ञाय जैनसद्धर्मं तं ग्राहयितुमागमत् ॥ ६४ ॥
दृष्ट्वा तं तत्र मिथ्यात्वात्त्वमेवं कुत्सितोऽभवः । [10]उत्कृष्टं शुद्धसम्यक्त्वादेवभूयमहं गतः ॥ ६५ ॥

जन्ममें इसी भरतक्षेत्रमें भूपाल नामका राजा था ॥ ५१ ॥ किसी समय राजा भूपाल, युद्धमें विजयकी इच्छा रखनेवाले विजिगीषु राजाओंके द्वारा हार गया। मान भंग होनेके कारण वह संसारसे इतना विरक्त हुआ कि उसने संभूत नामक गुरुके समीप जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। उस दुर्बुद्धिने तपश्चरण करते समय निदान कर लिया कि मेरे चक्रवर्तीपना प्रकट हो। उसने यह सब निदान भोगोंमें आसक्ति रखनेके कारण किया था। इस निदानसे उसने अपने तपको हृदयसे ऐसा दूषित बना लिया जैसा कि कोई विषसे दूधको दूषित बना लेता है ॥ ५२-५४ ॥ वह उसी तरह घोर तपश्चरण करता रहा। आयुके अन्तमें चित्तको स्थिरकर संन्याससे मरा जिससे महाशुक्र स्वर्गमें उत्पन्न हुआ ॥ ५५ ॥ वहाँ सोलह सागर प्रमाण आयुको धारण करनेवाला वह देव सुखसे निवास करने लगा। इधर इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें अनेक गुणोंसे सहित एक कोशल नामका देश है। उसके अयोध्या नगरमें इक्ष्वाकुवंशी राजा सहस्रबाहु राज्य करता था। हृदयको प्रिय लगनेवाली उसकी चित्रमती नामकी रानी थी। वह चित्रमती कन्याकुब्ज देशके राजा पारतकी पुत्री थी। उत्तम पुण्यके उदयसे उसके कृतवीराधिप नामका पुत्र हुआ ॥ ५६-५८ ॥ जो दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा। इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली एक कथा और कही जाती है जो इस प्रकार है—राजा सहस्रबाहुके काका शतबिन्दुसे उनकी श्रीमती नामकी स्त्रीके जमदग्नि नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था। श्रीमती राजा पारतकी बहिन थी। कुमार अवस्थामें ही जमदग्निकी माँ मर गई थी इसलिए विरक्त होकर वह तापस हो गया और पञ्चाग्नि तप तपने लगा। इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली एक कथा और है। एक दृढ़ग्राही नामका राजा था। उसकी हरिशर्मा नामके ब्राह्मणके साथ अखण्ड मित्रता थी। इस प्रकार उन दोनोंका समय बीतता रहा। किसी एक दिन दृढ़ग्राही राजाने जैन तप धारण कर लिया और हरिशर्मा ब्राह्मणने भी तापसके व्रत ले लिये। हरिशर्मा ब्राह्मण आयुके अन्तमें मरकर ज्योतिर्लोकमें उत्पन्न हुआ—ज्योतिषी देव हुआ और दृढ़ग्राही सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ। उसने अवधिज्ञानरूपी नेत्रसे जाना कि हमारा मित्र हरिशर्मा ब्राह्मण मिथ्यात्वके कारण ज्योतिष लोकमें उत्पन्न हुआ है अतः वह उसे समीचीन जैनधर्म धारण करानेके लिए आया ॥ ५९-६४ ॥ हरिशर्माके जीवको देखकर दृढ़ग्राहीके जीवने कहा कि तुम मिथ्यात्वके कारण इस तरह निन्द्यपर्यायमें उत्पन्न हुए हो और

---

१. प्राप्तोऽ-ल० । २ स भूत-ल० । ३ सुधी ल० । ४ सुखमाप सः ख० । ५ कौशल्याख्ये क०, घ० । ६ कान्यकुब्ज ल० । ७ परताख्यस्य क०, घ० । ८ निर्वेदात्तापसो म०, ल० । ९ द्योतिषां क०, घ०, ज्योतिषे ल० । १० उत्कृष्टशुद्ध ल० ।

तस्मादुपेहि मोक्षस्य मार्गमित्यब्रवीत्ततः । तापसानां तपः कस्मादशुद्धमिति संशयात् ॥ ६६ ॥
अन्वयुङ्क्त स तं सोऽपि दर्शयाम्येहि भूतलम् । इत्यन्योन्यं समालोच्य कीचकद्वन्द्वतागतौ[1] ॥ ६७ ॥
जमदग्निमुनेर्दीर्घ[2]श्मश्राश्रयमुपाश्रितौ । काञ्चित् कालकलां स्थित्वा सद्दृष्टिः सुरकीचकः ॥ ६८ ॥
समभाषत मायाज्ञो ज्योतिष्कामरकीचकीम् । एतद्वनान्तरं गत्वा प्रत्यायास्याम्यहं प्रिये ॥ ६९ ॥
प्रतीक्षस्वात्र मां स्थित्वेत्यसौ चाहागमं तव । न श्रद्दधामि मे देहि शपथं यदि यास्यसि ॥ ७० ॥
इत्यतः सोऽब्रवीद् ब्रूहि पातकेषु किमिच्छसि । पञ्चसु त्वमहं तस्मिन् दास्यामि तदिति स्फुटम् ॥ ७१ ॥
साप्याह तेषु मे वाञ्छा कस्मिंश्चिन्नैव देहि मे । तापसस्यास्य यास्यामि गतिं नैष्याम्यहं यदि ॥ ७२ ॥
इतीमं शपथं गन्तुं मुञ्चामि त्वां प्रियेति [3]ताम् । तच्छ्रुत्वा कीचकः प्राह मुक्त्वैनं किञ्चिदीप्सितम् ॥७३॥
ब्रूह्यन्यमिति तद्द्वन्द्वविसंवादं स तापसः । श्रुत्वा क्रोधेन सन्तप्तो विघूर्णितविलोचनः ॥ ७४ ॥
हस्ताभ्यां हन्तुमु[4]त्कौर्याद् गृहीत्वा निश्चलं द्विजौ । मद्दुर्द्धरतपः प्राप्य भाविलोकोऽनभीप्सितः ॥७५॥
युवाभ्यां केन तद्वाच्यमि[5]त्याहातः खगोऽब्रवीत् । मागमः कोपमेतेन सौजन्यं तव नश्यति ॥ ७६ ॥
[6]यदातञ्चनतक्रेण पयोऽल्पेन न किं क्षतिम् । शृणुते दुर्गतेर्हेतुं चिरं घोरं तपस्यतः ॥ ७७ ॥
कौमारब्रह्मचारित्वं तव सन्तन्तिविच्छिदे । सन्तानघातिनः पुंसः का गतिर्नरकाद्विना ॥ ७८ ॥
अपुत्रस्य गतिर्नास्तीत्यार्षं किं न त्वया श्रुतम् । कुतोऽविचारयन्नेवं क्लिश्नासि जडधीरिति ॥ ७९ ॥

मैं सम्यक्त्वके कारण उत्कृष्ट देवपर्यायको प्राप्त हुआ हूँ ॥ ६५ ॥ इसलिए तुम मोक्षका मार्ग जो सम्यग्दर्शन है उसे धारण करो। जब दृढ़ग्राहीका जीव यह कह चुका तब हरिशर्माके जीवने कुछ संशय रखकर उससे पूछा कि तापसियोंका तप अशुद्ध क्यों है ? उसने भी कहा कि तुम पृथिवी तलपर चलो मैं सब दिखाता हूँ। इस प्रकार सलाहकर दोनोंने चिड़ा और चिड़ियाका रूप बना लिया ॥ ६६-६७ ॥ पृथिवीपर आकर वे दोनों ही जमदग्नि मुनिकी बड़ी-बड़ी दाँडी और मूँछमें रहने लगे। वहाँ कुछ समयतक ठहरनेके बाद मायाको जाननेवाला सम्यग्दृष्टि चिड़ाका जीव, चिड़ियाका रूप धारण करनेवाले ज्योतिषी देवसे बोला कि हे प्रिये ! मैं इस दूसरे वनमें जाकर अभी वापिस आता हूँ मैं जब तक आता हूँ तबतक तुम यहीं ठहरकर मेरी प्रतीक्षा करना। इसके उत्तरमें चिड़ियाने कहा कि मुझे तेरा विश्वास नहीं है यदि तू जाता ही है तो सौगन्ध दे जा ॥ ६८-७० ॥ तब वह चिड़ा कहने लगा कि बोल तू पाँच पापोंमेंसे किसे चाहती है मैं तुझे उसीकी सौगन्ध दे जाऊँगा ॥ ७१ ॥ उत्तरमें चिड़िया कहने लगी कि पाँच पापोंमेंसे किसीमें मेरी इच्छा नहीं है। तू यह सौगन्ध दे कि यदि मैं न आऊँ तो इस तापसकी गतिको प्राप्त होऊँ ॥ ७२ ॥ हे प्रिय ! यदि तू मुझे यह सौगन्ध देगा तो मैं तुझे अन्यत्र जानेके लिए छोड़ूँगी अन्यथा नहीं। चिड़ियाकी बात सुनकर चिड़ाने कहा कि तू यह छोड़कर और जो चाहती है सो कह, मैं उसकी सौगन्ध दूँगा। इस प्रकार चिड़ा और चिड़ियाका वार्तालाप सुनकर वह तापस क्रोधसे संतप्त हो गया, उसकी आँखें घूमने लगीं, उसने क्रूरता वश दोनों पक्षियोंको मारनेके लिए हाथसे मजबूत पकड़ लिया, वह कहने लगा कि मेरे कठिन तपसे जो भावी लोक होने वाला है उसे तुम लोगोंने किस कारणसे पसन्द नहीं किया ? यह कहा जाय। तापसके ऐसा कह चुकनेपर चिड़ाने कहा कि आप क्रोध न करें इससे आपकी सज्जनता नष्ट होती है ॥ ७३-७६ ॥ क्या थोड़ी सी जामिनकी छाँचसे दूध नष्ट नहीं हो जाता ? यद्यपि आप चिरकालसे घोर तपश्चरण कर रहे हैं तो भी आपकी दुर्गतिका कारण क्या है ? सो सुनिये ॥ ७७ ॥ आप जो कुमार कालसे ही ब्रह्मचर्यका पालन कर रहे हैं वह संतानका नाश करनेके लिए है। संतानका घात करनेवाले पुरुषकी नरकके सिवाय दूसरी कौन-सी गति हो सकती है ? ॥ ७८ ॥ अरे 'पुत्र रहित मनुष्यकी कोई गति नहीं होती' यह आर्षवाक्य—वेदवाक्य क्या आपने नहीं सुना ? यदि सुना है तो फिर बिना विचार किये ही क्यों इस तरह दुर्बुद्धि होकर क्लेश

---

१ द्वन्द्वमागतौ ल० । २ दीर्घश्मश्राश्रा-क०, ख०, घ० । दीर्घं स्मृत्वाश्रय ख० । ३ तम् म०, ल० । ४-मुत्कोपाद् ल० । ५-मित्यहोतः खगोऽ-ल० । ६ (आतञ्चनतक्रेण अमृततक्रेण दुग्धस्य दधिकरणहेतुभूत-तक्रेण, इति 'क' पुस्तके टिप्पणी)

श्रुत्वा तद्वचनं मन्दमिति निश्चित्य तत्तथा । वधूजनेषु सक्तानाममज्ञानतपसः क्षितिः ॥ ८० ॥
ममोपकारकावेताविति मुक्त्वा द्विजद्वयम् । वञ्चितोऽगात्कुधीस्ताभ्यां कन्या[1]कुब्जाधिपं प्रति ॥ ८१ ॥
स्थास्नु नाज्ञानवैराग्यमित्यत्राघोषयन्निव । दृष्ट्वा पारतभूपालमात्ममातुलमत्रपः ॥ ८२ ॥
आकारेणैव कन्यार्थागमनं स[2] निवेदयन् । आसनद्वयमालोक्य सरागासनमास्थितः ॥ ८३ ॥
निजागमनवृत्तान्तं महीपतिमजीगमत् । तदाकर्ण्य नृपः खेदाद्धिगधिगज्ञानमित्यमुम् ॥ ८४ ॥
कन्याशतं ममास्त्यत्र या त्वामिच्छति साऽस्तु ते । इत्यवोचदसौ चागात्कन्यकास्तं निरीक्ष्य ताः ॥८५॥
अर्द्धदग्धशवं मत्वा तपोदग्धशरीरकम् । जुगुप्सयाऽपलायन्त काश्चित्काश्चिद्भयाहिताः ॥ ८६ ॥
व्रीडया पीडितः सोऽपि तास्त्यक्त्वा बालिकां सुताम् । तस्यैवालोक्य मूढात्मा पांसुक्रीडापरायणाम् ॥८७॥
कदलीफलमादर्श्य प्राह मामिच्छतीति ताम् । वाञ्छामीत्यब्रुवत्सा च मामियं वाञ्छतीति ताम्[3] ॥८८॥
[4]नृपं निवेद्य संगृह्य समायासीद्वनं प्रति । पदं प्रति जनैर्निन्द्यमानो दीनतमो जडः ॥ ८९ ॥
[5]रेणुकीत्यभिधां तस्या विधाय स्वीचकार सः । प्रवृत्तिर्धर्म इत्येषा तदा प्रभृति वागभूत् ॥ ॥ ९० ॥
[6]बोधौ श्रद्धा विशेषस्य भेदौ वा तपसो यतेः । बाह्याभ्यन्तरनामानौ तावभूतां सुतौ स्तुतौ ॥ ९१ ॥
इन्द्रः श्वेतश्च रामान्तौ [7]चन्द्रादित्यसमत्विषौ । कामार्थौ वा जनाभीष्टौ युक्तौ वा नयविक्रमौ ॥ ९२ ॥
[8]प्रयात्येवं तयोः काले मुनिरन्येद्युरागतः[9] । अरिञ्जयोऽग्रजो गेहं रेणुक्यास्तद्विदक्षया ॥ ९३ ॥

उठा रहे हैं ?॥ ७९ ॥ उसके मन्द वचन सुनकर उस तापसने उसका वैसा ही निश्चय कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रीजनोंमें आसक्त रहनेवाले मनुष्योंके अज्ञान तपकी यही भूमिका है ॥ ८० ॥ 'ये दोनों पक्षी मेरा उपकार करनेवाले हैं' ऐसा समझकर उसने दोनों पक्षियोंको छोड़ दिया। इस प्रकार उन दोनों देवोंके द्वारा ठगाया हुआ दुर्बुद्धि तापस कन्याकुब्ज नगरके राजा पारतकी ओर चला। वह मानो इस बातकी घोषणा ही करता जाता था कि अज्ञान-पूर्ण वैराग्य स्थिर नहीं रहता। वहाँ अपने मामा पारतको देखकर उस निर्लज्जने अपने आकार मात्रसे ही यह प्रकट कर दिया कि मैं यहाँ कन्याके लिए ही आया हूँ। राजा पारतने उसकी परीक्षाके लिए दो आसन रक्खे—एक रागरहित और दूसरा रागसहित। दोनों आसनोंको देखकर वह रागसहित आसन पर बैठ गया ॥ ८१–८३ ॥ उसने अपने आनेका वृत्तान्त राजाके लिए बतलाया। उसे सुनकर राजा पारत बड़े खेदसे कहने लगा कि इस अज्ञानको धिक्कार हो, धिक्कार हो ॥ ८४ ॥ फिर राजाने कहा कि मेरे सौ पुत्रियाँ हैं इनमेंसे जो तुझे चाहेगी वह तेरी हो जायगी। राजाके ऐसा कहनेपर जमदग्नि कन्याओंके पास गया। उनमेंसे कितनी ही कन्याएँ जिसका शरीर तपसे जल रहा है ऐसे जमदग्निको अधजला मुर्दा मानकर ग्लानिसे भाग गईं और कितनी ही भयसे पीड़ित होकर चली गईं ॥ ८५–८६ ॥ लज्जासे पीड़ित हुआ वह मूर्ख तापस उन सब कन्याओंको छोड़कर धूलिमें खेलनेवाली एक छोटी-सी लड़कीके पास गया और केलाका फल दिखाकर कहने लगा कि क्या तू मुझे चाहती है ? लड़कीने कहा कि हाँ चाहती हूँ। तापसने जाकर राजासे कहा कि यह लड़की मुझे चाहती है। इस प्रकार वह लड़कीको लेकर वनकी ओर चला गया। पद-पद पर लोग उसकी निन्दा करते थे, वह अत्यन्त दीन तथा मूर्ख था ॥ ८७–८९ ॥ जमदग्निने उस लड़कीका रेणुकी नाम रखकर उसके साथ विवाह कर लिया। उसी समयसे ऐसी प्रवृत्ति—स्त्रियोंके साथ तपश्चरण करना ही धर्म है यह कहावत प्रसिद्ध हुई है ॥ ९० ॥ जिस प्रकार श्रद्धा विशेषके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान उत्पन्न होते हैं अथवा किसी मुनिराजके तपके बाह्यतप और आभ्यन्तर तप ये दो भेद प्रकट होते हैं उसी प्रकार जमदग्निके इन्द्र और श्वेतराम नामके दो स्तुत्य पुत्र उत्पन्न हुए। ये दोनों ही पुत्र ऐसे जान पड़ते थे मानो लोगोंको प्रिय काम और अर्थ ही हों अथवा मिले हुए नय और पराक्रम ही हों ॥ ९१–९२ ॥ इस प्रकार उन दोनोंका

---

१ कन्यकुब्जा-ल० । २ सन्निवेदयन् क०,ख०, म० । ३ तम् ल० । ४ नृप्यावेद्य ल० । ५ रेणुकात्यभि- ल० । ६ बोधौ श्रद्धा विशेषस्य भेदौ वा तपसःपते ल०। ७ इन्द्रादित्य ल० । ८ प्रत्यात्येवं ल० । ९–रययौ ख० ।

[1]दृष्ट्वा यथोपचारेण मुनिं भर्तृप्रचोदिता । पूज्य ! महानकाले मे दत्तं किं भवता धनम् ॥ ९४ ॥
वदेत्याह ततस्तेन मया दत्तं न किञ्चन । इदानीं दीयते भद्रे त्रिजगत्स्वपि दुर्लभम् ॥ ९५ ॥
गृहाण येन प्राप्नोषि त्वं सुखानां परम्पराम् । सम्यक्त्वं व्रतसंयुक्तं शीलमालासमुज्ज्वलम् ॥ ९६ ॥
इत्युक्त्वा काललब्ध्येव तद्वाचा चोदिता सती । सम्यग्गृहीतमित्याख्यन्मुनीशश्चातितुष्टवान् ॥ ९७ ॥
कामधेन्वभिधां विद्यामीप्सितार्थप्रदायिनीम् । तस्यै विश्राणयाञ्चक्रे समन्त्रं परशुं च सः ॥ ९८ ॥
अथान्यदा ययौ सार्द्धं कृतवीरेण तत्पिता । तपोवनं सनाभित्वाद् भुक्त्वा गन्तव्यमित्यसुम् ॥ ९९ ॥
सहस्रबाहुं सम्भाष्य जमदग्निरभोजयत् । महाराजकुलेऽप्येषा सामग्री नास्ति भोजने ॥ १०० ॥
तपोवननिविष्टानामागता भवतां कुतः । इति स्वमातुरनुजामप्राक्षीद्रेणुकीं [2]मिथः ॥ १०१ ॥
कृतवीरोऽब्रवीत्साऽपि तद्विज्ञाऽभनादिकम् । सोऽपि मोहोदयाविष्टस्तां धेनुमकृतज्ञकः ॥ १०२ ॥
होमधेनुरियं तात वर्णाश्रमगुरोस्तव । याचनैषा न युक्तेति तदुक्त्या कोपवेगतः ॥ १०३ ॥
परार्द्धं यद्धनं लोके तद्योग्यं पृथिवीभुजाम् । न धेनुरीदृशी भोग्या कन्दमूलफलाशिभिः ॥ १०४ ॥
[3]इत्यस्या धेनुमादाय हठात्कारेण गच्छतः । [4]अवस्थितं पुरस्तात्तं जमदग्निं महीपतिः ॥ १०५ ॥
हत्वा स्वमार्गमुल्लङ्घ्य कुमार्गोऽभूत्पुरोन्मुखः[5] । रुदन्तीं [6]रेणुकीं भर्तृमरणात् प्रहतोदरीम् ॥ १०६ ॥
अथ पुत्रौ वनात्पुष्पकन्दमूलफलादिकम् । आदायालोक्य सम्प्राप्तौ किमेतदिति विस्मयात् ॥ १०७ ॥

काल सुखसे बीत रहा था। एक दिन अरिञ्जय नामके मुनि जो रेणुकीके बड़े भाई थे उसे देखनेकी इच्छासे उसके घर आये ॥ ९३ ॥ रेणुकीने विनयपूर्वक मुनिके दर्शन किये। तदनन्तर पतिसे प्रेरणा पाकर उसने मुनिसे पूछा कि हे पूज्य ! मेरे विवाहके समय आपने मेरे लिए क्या धन दिया था ? ॥ ९४ ॥ सो कहो, रेणुकीके ऐसा कहने पर मुनिने कहा कि उस समय मैंने कुछ भी नहीं दिया था। हे भद्रे ! अब ऐसा धन देता हूँ जोकि तीनों लोकोंमें दुर्लभ है। तू उसे ग्रहण कर। उस धनके द्वारा तू सुखोंकी परम्परा प्राप्त करेगी। यह कहकर उन्होंने व्रतसे संयुक्त तथा शीलकी माला उज्ज्वल सम्यक्त्वरूपी धन प्रदान किया और काललब्धिके समान उनके वचनोंसे प्रेरित हुई रेणुकीने कहा कि मैंने आपका दिया सम्यग्दर्शन रूपी धन ग्रहण किया। मुनिराज इस बातसे बहुत ही संतुष्ट हुए। उन्होंने मनोवांछित पदार्थ देनेवाली कामधेनु नामकी विद्या और मन्त्र सहित एक फरशा भी उसके लिए प्रदान किया ॥ ९५-९८ ॥ किसी दूसरे दिन पुत्र कृतवीरके साथ उसका पिता सहस्रबाहु उस तपोवनमें आया। भाई होनेके कारण जमदग्निने सहस्रबाहुसे कहा कि भोजन करके जाना चाहिये। यह कह जमदग्निने उसे भोजन कराया। कृतवीरने अपनी माँकी छोटी बहिन रेणुकीसे पूछा कि भोजनमें ऐसी सामग्री तो राजाओंके घर भी नहीं होती फिर तपोवनमें रहनेवाले आप लोगोंके लिए यह सामग्री कैसे प्राप्त होती है ? उत्तरमें रेणुकीने कामधेनु विद्याकी प्राप्ति आदिका सब समाचार सुना दिया। मोहके उदयसे आविष्ट हुए उस अकृतज्ञ कृतवीरने रेणुकीसे वह कामधेनु विद्या माँगी। रेणुकीने कहा कि हे तात ! यह कामधेनु तुम्हारे वर्णाश्रमोंके गुरु जमदग्निकी होमधेनु है अतः तुम्हारी यह याचना उचित नहीं है। रेणुकीके इतना कहते ही उसे क्रोध आ गया। वह क्रोधके वेगसे कहने लगा कि संसारमें जो भी श्रेष्ठ धन होता है वह राजाओंके योग्य होता है। कन्द मूल तथा फल खानेवाले लोगोंके द्वारा ऐसी कामधेनु भोगने योग्य नहीं हो सकती ॥ ९९-१०४ ॥ ऐसा कह कर वह कामधेनुको जबरदस्ती लेकर जाने लगा तब जमदग्नि ऋषि रोकनेके लिए उसके सामने खड़े हो गये। कुमार्गगामी राजा कृतवीर जमदग्निको मारकर तथा अपना मार्ग उल्लंघकर नगरकी ओर चला गया। इधर कृशोदरी रेणुकी पतिकी मृत्युसे रोने लगी। तदनन्तर उसके दोनों पुत्र जब फूल, कन्द, मूल तथा फल आदि लेकर वनसे लौटे तो यह सब देख आश्चर्यसे पूछने लगे कि यह क्या है ? ॥ १०५-१०६ ॥ सब बातको ठीक-ठीक समझ कर उन्हें क्रोध आ गया। स्वाभाविक पराक्रमको धारण करनेवाले दोनों भाइयोंने पहले तो शोकसे भरी हुई माताको

---

१ यष्ट्वा क०, घ०। २ रेणुकाम् ल०, क०, घ०। ३ इत्युक्त्वा म०, ल०। ४ अङ्गस्थितं ल०। ५ परोन्मुखः क०, घ०। ६ रेणुकां ख०।

[1]दृष्ट्वा विज्ञाय तत्सर्वं सकोपौ शोकनिर्भराम् । निर्वाप्य युक्तिमद्वाग्भिस्तौ नैसर्गिकविक्रमौ ॥ १०८ ॥
ध्वजीकृतनिशातोग्रपरशू यमसन्निभौ । गोग्रहे मरणं पुण्यहेतुरित्यविगानतः ॥ १०९ ॥
श्रूयते तत्तथैवास्तां कः सहेत पितुर्वधम् । इत्युक्त्वानुगताशेषस्निह्यन्मुनिकुमारकौ ॥ ११० ॥
तद्गतं मार्गमन्वेत्य साकेतनगरान्तिकम् । सम्प्राप्य कृतसंग्रामौ कृतवीरेण भूपतिम् ॥ १११ ॥
सहस्रबाहुमाहत्य सायाह्नेऽविक्षतां पुरम्[2] । हालाहलोपमान्याशु [3]घोरांहःस्फूर्जितान्यलम् ॥ ११२ ॥
फलन्त्यकार्यचर्याणां दुःसहां दुःखसन्ततिम् । सहस्रबाहुसन्ताननिःशेषीकरणोत्सुकम् ॥ ११३ ॥
ज्ञात्वा परशुरामीयमभिप्रायं महीपतिः । भूपालचरदेवेन निदानविषदूषितात् ॥ ११४ ॥
समुद्भूतेन तपसो महाशुक्रेऽत्र जन्मिना । राज्ञीं सगर्भां चित्रमतीं[4] तां शाण्डिल्यतापसः ॥ ११५ ॥
तदभ्रजः समादाय गत्वा विज्ञातचर्यया । स सुबन्ध्वाख्यनिर्ग्रन्थमुनेरावेद्यवृत्तकम् ॥ ११६ ॥
तत्समीपे निधायार्यं मठे मे नास्ति कश्चन । [5]तत्र गत्वा समीक्ष्यागमिष्याम्येषाऽत्र तिष्ठतु ॥ ११७ ॥
देवीति गतवांस्तस्मात्तदैवासूत सा सुतम् । तदानीमेव तं तत्र भविष्यद्भरताधिपः ॥ ११८ ॥
बालकोऽयमिति ज्ञानात्स्वीचक्रुर्वनदेवताः । ताभिः प्रपाल्यमानोऽयमनाबाधमवर्धत ॥ ११९ ॥
दिनानि कानिचिद्गत्वा महीमाश्लिष्य जातवान् । बालकोऽयं कथम्भावी भट्टारक, शुभाशुभम् ॥ १२० ॥
अनुगृह्यास्य वक्तव्यमिति देव्योदितो मुनिः । एष चक्री भवेदम्ब वत्सरे षोडशे ध्रुवम् ॥ १२१ ॥
साग्निचुल्लीगतस्थूल[6]किलासघृतमध्यगान् । [7]उष्णापूपानुपादाय भक्षयिष्यति बालकः ॥ १२२ ॥

युक्तिपूर्ण वचनोंसे संतुष्ट किया फिर तीक्ष्ण फरशाको ध्वजा बनानेवाले, यमतुल्य दोनों भाइयोंने परस्पर कहा कि गायके ग्रहणमें यदि मरण भी हो जाय तो वह पुण्यका कारण है ऐसा शास्त्रोंमें सुना जाता है अथवा यह बात रहने दो, पिताके मरणको कौन सह लेगा ? ऐसा कहकर दोनों ही भाई चल पड़े । स्नेहसे भरे हुए समस्त मुनिकुमार उनके साथ गये ॥ १०७—११० ॥ राजा सहस्रबाहु और कृतवीर जिस मार्गसे गये थे उसी मार्गपर चलकर वे अयोध्यानगरके समीप पहुँच गये। वहाँ कृतवीरके साथ संग्रामकर उन्होंने राजा सहस्रबाहुको मार डाला और सायंकालके समय नगरमें प्रवेश किया सो ठीक ही है क्योंकि जो अकार्यमें प्रवृत्ति करते हैं उनके लिए हलाहल विषके समान भयंकर पापोंके परिपाक असह्य दुःखोंकी परम्परा रूप फल शीघ्र ही प्रदान करते हैं। इधर रानी चित्रमतीके बड़े भाई शाण्डिल्य नामक तापसको इस बातका पता चला कि परशुराम, सहस्रबाहुकी समस्त सन्तानको नष्ट करनेके लिए उत्सुक है और रानी चित्रमती, निदानरूपी विषसे दूषित तपके कारण महाशुक्र स्वर्गमें उत्पन्न हुए राजा भूपालके जीव स्वरूप देवके द्वारा गर्भवती हुई है अर्थात् उक्त देव रानी चित्रमतीके गर्भमें आया है। ज्यों ही शाण्डिल्यको इस बातका पता चला त्यों ही वह बहिन चित्रमतीको लेकर अज्ञात रूपसे चल पड़ा और सुबन्धु नामक निर्ग्रन्थ मुनिके पास जाकर उसने सब समाचार कह सुनाये। 'हे आर्य ! मेरे मठमें कोई नहीं है इसलिए मैं वहाँ जाकर वापिस आऊंगा। जब तक मैं वापिस आऊं तब तक यह देवी यहाँ रहेगी' यह कहकर वह चित्रमतीको सुबन्धु मुनिके पास छोड़कर अन्यत्र चला गया ॥ १११–११७ ॥

इधर रानी चित्रमतीने पुत्र उत्पन्न किया। यह बालक भरतक्षेत्रका भावी चक्रवर्ती है यह विचारकर वन-देवताओंने उसे शीघ्र ही उठा लिया। इस प्रकार वन-देवियाँ जिसकी रक्षा करती हैं ऐसा वह बालक धीरे-धीरे बढ़ने लगा ॥ ११८–११९ ॥ जब कुछ दिन व्यतीत हो गये तब एक दिन रानीने मुनिसे पूछा कि हे स्वामिन् ! यह बालक पृथिवीका आश्लेषण करता हुआ उत्पन्न हुआ था अतः अनुग्रह करके इसके शुभ-अशुभका निरूपण कीजिये। इस प्रकार रानीके कहने पर मुनि कहने लगे कि हे अम्ब ! यह बालक सोलहवें वर्षमें अवश्य ही चक्रवर्ती होगा और चक्रवर्ती होनेका यह चिह्न होगा कि यह बालक अग्निसे जलते हुए चूल्हेके ऊपर रखी कढ़ाईके घीके मध्यमें

१ दृष्ट्वा ल० । २ पुरीम् ल० । ३ घोराहःस्फूर्जितान्यलम् ल० । ४ चित्रमतिम् ल० । ५ 'तत्र गत्वा समागमिष्याम्येषा त्वत्र तिष्ठतु' ल० । ६ स्थाल ख० । ७ उष्णान् पूपान् समादाय, क०, ग० । उष्णानपूपानादाय ख० । उष्णान् पूपानुपादाय ल०, म० ।

अभिज्ञानमिदं भावि चक्रित्वस्यास्य निश्चितम् । तस्मान्मा स्म भयं यासीरिति तामिति दुःखिताम् १२३
सुबन्ध्वाख्यो मृशं स्वास्थ्यमनैषीत्करुणात्मकः । ततस्तदग्रजोऽभेत्य तां नीत्वा [1]गृहमात्मनः ॥ १२४ ॥
समुद्भूतोऽयमाश्लिष्य मेदिनीमिति तस्य सः । सुभौम इति सम्प्रीत्या चक्रे नाम कृतोत्सवः ॥१२५॥
तत्र शास्त्राणि सर्वाणि सप्रयोगाणि सन्ततम् । सोपदेशं समभ्यस्यन् वर्द्धते स्म स गोपितः ॥ १२६ ॥
अथ तौ रेणुकीपुत्रौ प्रवृद्धोग्रपराक्रमौ । त्रिः सप्तकृत्वो निर्मूलमापाद्य [2]क्षत्रियान्वयम् ॥ १२७ ॥
स्वहस्ताखिलभूपालशिरांसि स्थापनेच्छया । शिलास्तम्भेषु सङ्गृह्य बद्धवैरौ गुरोर्वधात् ॥ १२८ ॥
सार्वभौमीं श्रियं सम्यक् सम्भूयानुबभूवतुः । निमित्तकुशलो नाम्ना कदाचित्स निमित्तवित् ॥ १२९ ॥
भवतः शत्रुरुत्पन्नः प्रयत्नोऽत्र विधीयताम् । कः प्रत्ययोऽस्य चेदूचिम [3]विध्वस्ताखिलभूभुजाम् ॥१३०॥
दन्ता यस्याशनं भूत्वा परिणंस्यत्यसौ रिपुः । इतीन्द्रामं राजानं परश्वीशमबूबुधत् ॥ १३१ ॥
श्रुत्वा यथावच्चैमित्तिकोक्तं चेतसि धारयन् । कृत्वा परशुरामोऽपि दानशालां सुभोजनाम् ॥ १३२ ॥
तत्परीक्षार्थमायान्तु येऽत्र [4]विश्वणनार्थिनः । इत्याघोषयति स्मैतत् श्रुत्वा तेऽपि समागमन् ॥ १३३ ॥
तेषां पात्रस्थतद्दन्तान् सम्प्रदर्श्य परीक्षितुम् । तान् भोजयति भूपाले प्रत्यहं स्वनियोगिभिः ॥१३४ ॥
पितुर्मरणवृत्तान्तं स्वमातुरवबुद्धवान् । स्वचक्रेशित्वसम्प्राप्तिकालायानं च तत्त्वतः ॥ १३५ ॥
[5]सुसिद्धमुनिनिर्दिष्टसंवृत्तात्मस्वरूपकः । परिव्राजकवेषेण स्वरहस्यार्थवेदिना ॥ १३६ ॥
राजपुत्रसमूहेन सुभौमोऽध्यागमत्पुरम् । सभाग्यांश्चोदयत्येव काले कल्याणकृद्विधिः ॥ १३७ ॥

स्थित गरम गरम पुओंको निकालकर खा लेगा। इसलिए तू किसी प्रकारका भय मत कर। इस-प्रकार दयासे परिपूर्ण सुबन्धु मुनिने दुःखिनी रानी चित्रमतीको अत्यन्त सुखी किया।

तदनन्तर बड़ा भाई शाण्डिल्य नामका तापस आकर उस चित्रमतीको अपने घर ले गया। यह बालक पृथिवीको छूकर उत्पन्न हुआ था इसलिये शाण्डिल्यने बड़ा भारी उत्सव कर प्रेमके साथ उसका सुभौम नाम रक्खा ॥ १२०–१२५ ॥ वहाँ पर वह उपदेशके अनुसार निरन्तर प्रयोग सहित समस्त शास्त्रोंका अभ्यास करता हुआ गुप्तरूपसे बढ़ने लगा ॥ १२६ ॥ इधर जिनका उग्र पराक्रम बढ़ रहा है ऐसे रेणुकीके दोनों पुत्रोंने इक्कीस वार क्षत्रिय वंशको निर्मूल नष्ट किया ॥ १२७ ॥ पिताके मारे जानेसे जिन्होंने वैर बाँध लिया है ऐसे उन दोनों भाइयोंने अपने हाथसे मारे हुए समस्त राजाओंके शिरोंको एकत्र रखनेकी इच्छासे पत्थरके खम्भोंमें संगृहीतकर रक्खा था ॥ १२८ ॥ इस तरह दोनों भाई मिलकर समस्त पृथिवीकी राज्यलक्ष्मीका अच्छी तरह उपभोग करते थे। किसी एक दिन निमित्तकुशल नामके निमित्तज्ञानीने फरशाके स्वामी राजा इन्द्रामसे कहा कि आपका शत्रु उत्पन्न हो गया है इसका प्रतिकार कीजिये। इसका विश्वास कैसे हो? यदि आप यह जानना चाहते हैं तो मैं कहता हूं। मारे हुए राजाओंके जो दांत आपने इकट्ठे किये हैं वे जिसके लिए भोजन रूप परिणत हो जावेंगे वही तुम्हारा शत्रु होगा ॥ १२९–१३१ ॥ निमित्त-ज्ञानीका कहा हुआ सुनकर परशुरामने उसका चित्तमें विचार किया और उत्तम भोजन करानेवाली दानशाला खुलवाई ॥ १३२ ॥ साथमें यह घोषणा करा दी कि जो भोजनाभिलाषी यहाँ आवें उन्हें पात्रमें रक्खे हुए दाँत दिखलाकर भोजन कराया जावे। इस प्रकार शत्रुकी परीक्षाके लिए वह प्रतिदिन अपने नियोगियों—नौकरोंके द्वारा अनेक पुरुषोंको भोजन कराने लगा ॥ १३३–१३४ ॥ इधर सुभौमने अपनी मातासे अपने पिताके मरनेका समाचार जान लिया, वास्तवमें उसका चक्र-वर्तीपना प्राप्त होनेका समय आ चुका था, अतिशय निमित्तज्ञानी सुबन्धु मुनिके कहे अनुसार उसे अपने गुप्त रहनेका भी सब समाचार विदित हो गया अतः वह परिव्राजकका वेष रखकर अपने रहस्यको समझनेवाले राजपुत्रोंके समूहके साथ अयोध्या नगरकी ओर चल पड़ा सो ठीक ही है क्योंकि कल्याणकारी दैव भाग्यशाली पुरुषोंको समय पर प्रेरणा दे ही देता है ॥ १३५–१३७ ॥ उस

---

१ गेहमात्मनः म०, ल० । २ क्षत्रियान्वहम् ल० । ३ त्वद्ध्वस्ताखिल–ख०, ग० । त्वद्धताखिल-ल० । ४ भोजनार्थिनः । ५ सुबन्धुमुनि ग० ।

तदा साकेतवास्तव्यदेवताक्रन्दनं महत् । महीकम्पो दिवा तारादृष्ट्यादिरभवत्पुरे ॥ १३८ ॥
[1]तथागत्य कुमारोऽसौ शालां भोक्तुमुपागतः । [2]तमाहूय निवेश्योच्चैरासने हतभूभुजाम् ॥ १३९ ॥
नियुक्ता दर्शयन्ति स्म दन्तांस्तस्यानुभावतः । [3] कलभाग्रं तदासंस्ते तद्दृष्ट्वा परिचारिणः ॥ १४० ॥
व्यजिज्ञपन्नृपं सोऽपि स श्रुत्वा नीयतामिति । [4]समर्थान्प्राहिणोद् भृत्यांस्तेऽपि [5]प्राप्य निष्ठुराः ॥१४१॥
आहूतोऽसि महीशेन त्वमेहाश्वित्युदाहरन् । नाहं यूयमिवास्यादां जीविकां तदन्तिकीम् ॥ १४२ ॥
किमित्येष्यामि यातेति तर्जितास्तत्प्रभावतः । भटा भयज्वरग्रस्ता ययुः सर्वे यथायथम् ॥ १४३ ॥
श्रुत्वा परशुरामस्तत्कुद्ध्वा सन्नद्धसाधनः । [6]समागतस्तदालोक्य सुभौमोऽभिमुखं ययौ ॥ १४४ ॥
बलं परशुरामः[7] स्वं तेन योद्धुं [8]सहादिशत् । जन्मप्रभृति तत्पाता भरतव्यन्तराधिपः ॥ १४५ ॥
रक्षित्वाऽस्थात्कुमारं तं तस्मात्तस्याग्रतो बलम् । स्थातुमक्षममालोक्य स्वयं गजमचोदयत् ॥ १४६ ॥
सहसैव सुभौमस्याप्यभवद् गन्धवारणः । चक्रं च सन्निधौ दिव्यं सार्वभौमत्वसाधनम् ॥ १४७ ॥
सहस्रदेवतारक्ष्यं किञ्च स्यात् सम्मुखे विधौ । वारणेन्द्रं समारुह्य पूर्वाद्रिमिव[9] भास्करः ॥ १४८ ॥
सहस्रारं करे कृत्वा कुमारश्चक्रमाबभौ । तं दृष्ट्वा रुष्टवान् हन्तुं जामदग्न्योऽभ्युपागमत् ॥ १४९ ॥
चक्रेण तं कुमारोऽपि लोकान्तरमजीगमत् । अकरोच्चान्यसैन्यस्य तदैवाभयघोषणाम्[=] ॥ १५० ॥
अरेशतीर्थसन्तानकाले द्विशतकोटिषु । स द्वात्रिंशत्सु जातेऽभूत्सुभौमो वत्सरेष्वयम् ॥ १५१ ॥

समय अयोध्या नगरमें रहनेवाले देवता बड़े जोरसे रोने लगे, पृथिवी काँप उठी और दिनमें तारे आदि दिखने लगे ॥ १३८ ॥ सुभौम कुमार भोजन करनेके लिए जब परशुरामकी दानशालामें पहुँचे तो वहांके कर्मचारियोंने बुलाकर उन्हें उच्च आसनपर बैठाया और मारे हुए राजाओंके संचित दाँत दिखलाये परन्तु सुभौमके प्रभावसे वे सब दाँत शालि चावलोंके भातरूपी हो गये। यह सब देखकर वहांके परिचारकोंने राजाके लिए इसकी सूचना दी। राजाने भी 'उसे पकड़कर लाया जावे' यह कहकर मजबूत नौकरोंको भेजा। अत्यन्त क्रूर प्रकृतिवाले भृत्योंने सुभौमके पास जाकर कहा कि तुम्हें राजाने बुलाया है अतः शीघ्र चलो। सुभौमने उत्तर दिया कि मैं तुम लोगोंके समान इससे नौकरी नहीं लेता फिर इसके पास क्यों जाऊँ? तुम लोग जाओ' ऐसा कहकर उसने उनकी तर्जना की, उसके प्रभावसे वे सब नौकर भयरूपी ज्वरसे ग्रस्त हो गये और सब यथास्थान चले गये ॥ १३९-१४३ ॥ यह सुनकर परशुराम बहुत कुपित हुआ। वह युद्धके सब साधन तैयार कर आ गया। उसे आया देख सुभौम भी उसके सामने गया ॥ १४४ ॥ परशुरामने उसके साथ युद्ध करनेके लिए अपनी सेनाको आज्ञा दी। परन्तु भरतक्षेत्रके अधिपति जिस व्यन्तरदेवने जन्मसे लेकर सुभौमकुमारकी रक्षा की थी उसने उस समय भी उसकी रक्षा की अतः परशुरामकी सेना उसके सामने नहीं ठहर सकी। यह देखकर परशुरामने सुभौमकी ओर स्वयं अपना हाथी बढ़ाया परन्तु उसी समय सुभौमके भी एक गन्धराज-मदोन्मत्त हाथी प्रकट हो गया। यही नहीं, एक हजार देव जिसकी रक्षा करते हैं और जो चक्रवर्तीपनाका साधन है ऐसा देवोपनीत चक्ररत्न भी पास ही प्रकट हो गया सो ठीक ही है क्योंकि भाग्यके सन्मुख रहते हुए क्या नहीं होता? जिस प्रकार पूर्वाचल पर सूर्य आरूढ़ होता है उसी प्रकार उस गजेन्द्रपर आरूढ़ होकर सुभौमकुमार निकला। वह हजार आरेवाले चक्ररत्नको हाथमें लेकर बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था। उसे देखकर परशुराम बहुत ही कुपित हुआ और सुभौमको मारनेके लिए सामने आया ॥ १४५-१४९ ॥ सुभौम कुमारने भी चक्र-द्वारा उसे परलोक भेज दिया—मार डाला तथा बाकी बची हुई सेनाके लिए उसी समय अभयघोषणा कर दी ॥ १५० ॥

श्री अरनाथ तीर्थंकरके बाद दो सौ करोड़ बत्तीस वर्ष व्यतीत हो जानेपर सुभौम चक्रवर्ती

---

१ तदागत्य म०, ल० । २ समाहूय क०, घ० । ३ शालिभोजनम् । ४ समागतं तदालोक्य म० । समागमं तदालोक्य ल० । ५ परशुरामस्तत्तेन ल० । ६ समादिशत् ख०, ग०, म० । ७ पूर्वेन्द्र इव ल० । = घोषणम् क०, ख०, ग० ।

अभिभूताखिलारातिरष्टमश्चक्रवर्तिषु । समा षष्टिसहस्रायुरष्टाविंशतिचापभृः ॥ १५२ ॥
जातरूपच्छविः श्रीमानिक्ष्वाकुकुलकेसरी । विराजमानो विस्पष्टचक्रादिशुभलक्षणैः ॥ १५३ ॥
ततो रत्नानि शेषाणि निधयोऽपि नवाभवन् । षट्खण्डस्याधिपत्येन प्रादुरासीत्स चक्रभृत् ॥ १५४ ॥
चक्रवर्तित्वसम्प्राप्यान् भोगान् दशविधांश्चिरम् । अन्वभूदिव देवेन्द्रो दिवि दिव्याननारतम् ॥ १५५ ॥
अन्येद्युः सूपकारोऽस्य नाम्नाऽमृतरसायनः । [1]रसायनाह्विकामस्मै मुदाऽदादम्लिकां हितः ॥ १५६ ॥
तन्नामश्रुतिमात्रेण तद्गुणस्याविचारकः । तद्वैरिचोदितः[2] कोपाद् भूपतिस्तमदण्डयत् ॥ १५७ ॥
सोऽपि तेनैव दण्डेन म्रियमाणोऽतितीव्ररुट् । वध्यासं नृपमित्यात्तनिदानः पुण्यलेशतः ॥ १५८ ॥
ज्योतिर्लोकेऽमरो भूत्वा विभङ्गज्ञानवीक्षणः । अनुस्मृत्य रुषा वैरं जिघांसुः स महीपतिम् ॥ १५९ ॥
जिह्वालोलुपमालक्ष्य सन्धृत्य वणिगाकृतिम् । सुस्वादुफलदानेन प्रत्यहं तमसेवत ॥ १६० ॥
निष्ठिता विफलानीति कदाचित्तेन भाषितः[3] । आनेतव्यानि तान्येव गत्वेत्याख्यन्नृपोऽपि तम् ॥ १६१ ॥
आनेतुं तान्यशक्यानि प्राङ्मयाराध्य देवताम् । तद्वनस्वामिनीं दीर्घं लब्धान्येतानि कानिचित् ॥१६२॥
आसक्तिस्तेषु चेदस्ति देवस्य[4] तद्वनं मया । सह तत्र स्वमायाहि यथेष्टं तानि भक्षय ॥ १६३ ॥
इति प्रलम्भनं तस्य विश्वास्य[5] प्रतिपन्नवान् । राजा प्रक्षीणपुण्यानां विनश्यति विचारणम्[6] ॥ १६४ ॥
एतद्राज्यं परित्यज्य रसनेन्द्रियलोलुपः । मत्स्यवत्किं विनष्टेति मन्त्रिभिर्वारितोऽप्यसौ ॥ १६५ ॥

उत्पन्न हुआ था ॥ १५१ ॥ यह सुभौम समस्त शत्रुओंको नष्ट करनेवाला था और चक्रवर्तियोंमें आठवाँ चक्रवर्ती था। उसकी साठ हजार वर्षकी आयु थी, अट्ठाईस धनुष ऊँचा शरीर था, सुवर्णके समान उसकी कान्ति थी, वह लक्ष्मीमान् था, इक्ष्वाकु वंशका सिंह था—शिरोमणि था, अत्यन्त स्पष्ट दिखनेवाले चक्र आदि शुभ लक्षणोंसे सुशोभित था ॥ १५२-१५३ ॥ तदनन्तर बाकीके रत्न तथा नौ निधियाँ भी प्रकट हो गईं इस प्रकार छह खण्डका आधिपत्य पाकर वह चक्रवर्तीके रूपमें प्रकट हुआ ॥ १५४ ॥ जिस प्रकार इन्द्र स्वर्गमें निरन्तर दिव्य भोगोंका उपभोग करता रहता है उसी प्रकार सुभौम चक्रवर्ती भी चक्रवर्ती पदमें प्राप्त होने योग्य दश प्रकारके भोगोंका चिरकाल तक उपभोग करता रहा ॥ १५५ ॥ सुभौमका एक अमृतरसायन नामका हितैषी रसोइया था उसने किसी दिन बड़ी प्रसन्नतासे उसके लिए रसायना नामकी कढ़ी परोसी ॥ १५६ ॥ सुभौमने उस कढ़ीके गुणोंका विचार तो नहीं किया, सिर्फ उसका नाम सुनने मात्रसे वह कुपित हो गया। इसीके बीच उस रसोइयाके शत्रुने राजाको उल्टी प्रेरणा दी जिससे क्रोधवश उसने उस रसोइयाको दण्डित किया। इतना अधिक दण्डित किया कि वह रसोइया उस दण्डसे म्रियमाण हो गया। उसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर निदान किया कि मैं इस राजाको अवश्य मारूँगा। थोड़ेसे पुण्यके कारण वह मरकर ज्योतिर्लोकमें विभङ्गावधिज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाला देव हुआ। पूर्व वैरका स्मरण कर वह क्रोधवश राजाको मारनेकी इच्छा करने लगा ॥ १५७-१५९ ॥ उसने देखा कि यह राजा जिह्वाका लोभी है अतः वह एक व्यापारीका वेष रख मीठे-मीठे फल देकर प्रतिदिन राजाकी सेवा करने लगा ॥ १६० ॥ किसी एक दिन उस देवने कहा कि महाराज! वे फल तो अब समाप्त हो गये। राजाने कहा कि यदि समाप्त हो गये तो फिरसे जाकर उन्हीं फलोंको ले आओ ॥ १६१ ॥ उत्तरमें देवने कहा कि वे फल नहीं लाये जा सकते। पहले तो मैंने उस वनकी स्वामिनी देवीकी आराधना कर कुछ फल प्राप्त कर लिये थे ॥ १६२ ॥ यदि आपकी उन फलोंमें आसक्ति है—आप उन्हें अधिक पसन्द करते हैं तो आप मेरे साथ वहाँ स्वयं चलिये और इच्छानुसार उन फलोंको खाइये ॥१६३॥ राजाने उसके मायापूर्ण वचनोंका विश्वास कर उसके साथ जाना स्वीकृत कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि जिनका पुण्य क्षीण हो जाता है उनकी विचार-शक्ति नष्ट हो जाती है ॥ १६४ ॥ यद्यपि मन्त्रियोंने उस राजाको रोका था कि आप मत्स्यकी तरह रसना इन्द्रियके लोभी हो यह राज्य छोड़-

---

१ रसायनाधिकामस्मै म० । रसायनाङ्किकामस्मै ग० । रसायनाभिधामस्मै ल० । २ चोदितस्तस्मात् क०, घ० । ३ भाषिते म०, ल० । ४ भवतः । ५ विश्वस्य ल० । ६ विचारणा ल० ।

तदुक्तमतिलङ्घ्याज्ञः पोतेनागाहताम्बुधिम् । तदा रत्नानि तद्गेहात् न्यपेतान्यखिलान्यपि ॥ १६६ ॥
सहस्रयक्षरक्षाणि प्रत्येकं निधिभिः समम् । तद्विदित्वा वणिग्वैरी नीत्वा मध्येऽम्बुधिं [1]द्विषम् ॥ १६७ ॥
स्वप्राग्जन्माकृतिं तस्य प्रकटीकृत्य दुर्वचः । उक्त्वा वैरानुबन्धं च क्रूरश्चित्रवधं व्यधात् ॥ १६८ ॥
सुभौमोऽपि विपद्यान्ते रौद्रध्यानपरायणः । श्वाभ्रीं गतिं समापन्नो दौर्मंत्यात्किन्न जायते ॥ १६९ ॥
लोभात्सहस्रबाहुश्च प्राप तिर्यग्गतिं सतुक् । जमदग्निसुतौ हिंसापरतन्त्रौ गतावधः ॥ १७० ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज
तत एव त्यजन्त्येतौ रागद्वेषौ मनीषिणः । तत्यागादाप्नुवन्त्यापन्नाप्स्यन्ति च परं पदम् ॥ १७१ ॥

वसन्ततिलका

एकोऽपि सिंहसदृशः सकलावनीशो
हत्वा पितुर्वधकृ[2]तौ जमदग्निसूनू ।
कीर्त्या स्वया धवलिताऽखिलदिक् सुभौम-
श्चक्री सुदुर्नयव[3]शान्नरकेऽष्टमोऽभूत् ॥ १७२ ॥
भूपालभूपतिरसह्यतपोविधायी
शुक्रेऽभवन्महति षोडशसागरायुः ।
च्युत्वा ततः सकलचक्रधरः सुभौमो
रामान्तकृन्नरकनायकतां जगाम ॥ १७३ ॥

नन्दिषेणो बलः पुण्डरीकोऽर्द्धभरताधिपः । राजपुत्राविमौ जातौ तृतीयेऽत्र भवान्तरे ॥ १७४ ॥
सुकेत्वाश्रयशल्येन तपः कृत्वायुषोऽवधौ । आद्ये कल्पे समुत्पद्य ततः प्रच्युत्य चक्रिणः ॥ १७५ ॥
पश्चात्षट्छतकोट्यब्दातीतौ तत्रैव भारते । राज्ञश्चक्रपुराधीशादिक्ष्वाकोर्वरसेनतः ॥ १७६ ॥

कर क्यों नष्ट होते हो तथापि उस मूर्खने एक न मानी। वह उनके वचन उल्लंघन कर जहाज द्वारा समुद्रमें जा घुसा। उसी समय उसके घरसे जिनमें प्रत्येककी एक-एक हजार यक्ष रक्षा करते थे ऐसे समस्त रत्न निधियोंके साथ-साथ घरसे निकल गये। यह जानकर वैश्यका वेष रखनेवाला शत्रु भूतदेव अपने शत्रु राजाको समुद्रके बीचमें ले गया ॥ १६५–१६७ ॥ वहाँ ले जाकर उस दुष्टने पहले जन्मका अपना रसोइयाका रूप प्रकट कर दिखाया और अनेक दुर्वचन कह कर पूर्वबद्ध वैरके संस्कारसे उसे विचित्र रीतिसे मार डाला ॥ १६८ ॥ सुभौम चक्रवर्ती भी अन्तिम समय रौद्रध्यानसे मर कर नरकगतिमें उत्पन्न हुआ सो ठीक ही है क्योंकि दुर्बुद्धिसे क्या नहीं होता है ? ॥ १६९ ॥ सहस्रबाहु लोभ करनेसे अपने पुत्रके साथ-साथ तिर्यञ्च गतिमें गया और हिंसामें तत्पर रहनेवाले जमदग्नि ऋषिके दोनों पुत्र अधोगति—नरकगतिमें उत्पन्न हुए ॥ १७० ॥ इसीलिए बुद्धिमान् लोग इन राग-द्वेष दोनोंको छोड़ देते हैं क्योंकि इनके त्यागसे ही विद्वान् पुरुष वर्तमानमें परमपद प्राप्त करते हैं, भूतकालमें प्राप्त करते थे और आगामी कालमें प्राप्त करेंगे ॥ १७१ ॥ देखो, आठवाँ चक्रवर्ती सुभौम यद्यपि सिंहके समान एक था—अकेला ही था तथापि वह समस्त पृथिवीका स्वामी हुआ। उसने अपने पिताका वध करनेवाले जमदग्निके दोनों पुत्रोंको मारकर अपनी कीर्तिसे समस्त दिशाएँ उज्ज्वल कर दी थीं किन्तु स्वयं दुर्नीतिके वश पड़कर नरकमें उत्पन्न हुआ था ॥१७२॥ सुभौम चक्रवर्तीका जीव पहले तो भूपाल नामका राजा हुआ फिर असह्य तप-तपकर महाशुक्र स्वर्गमें सोलह सागरकी आयुवाला देव हुआ। वहाँसे च्युत होकर परशुरामको मारनेवाला सुभौम नामका सकल चक्रवर्ती हुआ और अन्तमें नरकका अधिपति हुआ ॥ १७३ ॥

अथानन्तर इन्हींके समय नन्दिषेण बलभद्र और पुण्डरीक नारायण ये दोनों ही राजपुत्र हुए हैं। इनमें से पुण्डरीकका जीव तीसरे भवमें सुकेतुके आश्रयसे शल्य सहित तप कर आयुके अन्तमें पहले स्वर्गमें देव हुआ था, वहाँसे च्युत होकर सुभौम चक्रवर्तीके बाद छह सौ करोड़ वर्ष बीत जाने

---

१ द्विषः ल० । २— र्वधकृते क०, घ०, । ३ वशो ल० ।

वैजयन्त्यां बलो देवो लक्ष्मीमत्यामजायत । पुण्डरीकस्तयोरायुः खन्नयत्वैन्द्रियाब्दवत् ॥ १७७ ॥
षड्विंशतितनूत्सेधौ धनुषां नियतायुषोः । स्वतपःसञ्चितात्पुण्याल्काले यात्यायुषोः सुखम् ॥ १७८ ॥
अन्यदोपेन्द्रसेनाख्यमहीडिन्द्रपुराधिपः । पद्मावतीं सुतां स्वस्य पुण्डरीकाय दत्तवान् ॥ १७९ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य अथ दुर्वी दुराचारः सुकेतुः खलतो रिपुः । निजोपार्जितकर्मानुरूपेण भवसन्ततौ ॥ १८० ॥
भ्रान्त्वा क्रमेण सञ्चित्य शुभं तदनुरोधतः । भूत्वा चक्रपुराधीशो वशीकृतवसुन्धरः ॥ १८१ ॥
ग्रीष्मार्कमण्डलाभत्वादसोढा परतेजसाम् । तद्विवाहश्रुतेः क्रुद्धः सन्नद्धाशेषसाधनः ॥ १८२ ॥
निशुम्भो मारकोऽरीणां नारकेभ्योऽपि निर्दयः । [1]प्रास्थिताखण्डविक्रान्तः पुण्डरीकं जिघांसुकः ॥१८३॥
युद्ध्वा [2]बहुविधेनामा तेनोद्यतेजसा चिरम् । तच्चक्राशनिघातेन घातितासुरयादधः[3] ॥ १८४ ॥
तावुभाविव चन्द्रार्कौ संयुक्तौ लोकपालकौ । स्वप्रभाक्रान्तदिक्चक्रौ पालयित्वा चिरं धराम् ॥ १८५ ॥
अविभक्तश्रियौ प्रीतिं परमां प्रापतुः पृथक् । व्यासचक्षुर्विशेषौ वा रम्यैकविषयेप्सणौ ॥ १८६ ॥
तयोर्भवत्रयायातपरस्परसमुद्भवात् । प्रेम्णस्तृप्तेरयाद्भांशमपि तृप्तिर्नृपत्वजा[4] ॥ १८७ ॥
पुण्डरीकश्चिरं भुक्त्वा भोगांस्तत्रातिसक्तितः । बध्वायुर्नारकं घोरं बह्वारम्भपरिग्रहः ॥१८८ ॥
प्रान्ते रौद्राभिसन्धानाद्दृढमिथ्यात्वभावनः । प्राणैस्तमःप्रभां [5]भूत्वा प्राविशत्पापपाकवान् ॥ १८९ ॥

पर इसी भरत क्षेत्र सम्बन्धी चक्रपुर नगरके स्वामी इक्ष्वाकुवंशी राजा वरसेनकी लक्ष्मीमती रानीसे पुण्डरीक नामका पुत्र हुआ था तथा इन्हीं राजाकी दूसरी रानी वैजयन्तीसे नन्दिषेण नामका बलभद्र उत्पन्न हुआ था। उन दोनोंकी आयु छप्पन हजार वर्षकी थी, शरीर छब्बीस धनुष ऊँचा था, दोनों की आयु नियत थी और अपने तपसे सञ्चित हुए पुण्यके कारण उन दोनोंकी आयुका काल सुखसे व्यतीत हो रहा था ॥ १७४–१७८ ॥ किसी एक दिन इन्द्रपुरके राजा उपेन्द्रसेनने अपनी पद्मावती नामकी पुत्री पुण्डरीकके लिए प्रदान की ॥ १७९ ॥ अथानन्तर पहले भवमें जो सुकेतु नामका राजा था वह अत्यन्त अहङ्कारी दुराचारी और पुण्डरीकका शत्रु था। वह अपने द्वारा उपार्जित कर्मोंके अनुसार अनेक भवोंमें घूमता रहा। अन्तमें उसने क्रम-क्रमसे कुछ पुण्यका सञ्चय किया था उसके अनुरोधसे वह पृथिवीको वश करनेवाला चक्रपुरका निशुम्भ नामका अधिपति हुआ। उसकी आभा ग्रीष्म ऋतुके सूर्यके मण्डलके समान थी। वह इतना तेजस्वी था कि दूसरेके तेजको बिलकुल ही सहन नहीं करता था। जब उसने पुण्डरीक और पद्मावतीके विवाहका समाचार सुना तो वह बहुत ही कुपित हुआ। उसने सब सेना तैयार कर ली, वह शत्रुओं को मारने वाला था, नारकियों से भी कहीं अधिक निर्दय था, और अखण्ड पराक्रमी था। पुण्डरीकको मारनेकी इच्छासे वह चल पड़ा। जिसका तेज निरन्तर बढ़ रहा है ऐसे पुण्डरीकके साथ उस निशुम्भने चिरकाल तक बहुत प्रकारका युद्ध किया और अन्तमें उसके चक्ररूपी वज्रके घातसे निष्प्राण होकर वह अधोगतिमें गया—नरकमें जाकर उत्पन्न हुआ ॥ १८०–१८४ ॥ सूर्य चन्द्रमाके समान अथवा मिले हुए दो लोकपालोंके समान वे दोनों अपनी प्रभासे दिङ्मण्डलको व्याप्त करते हुए चिरकाल तक पृथिवीका पालन करते रहे ॥ १८५ ॥ वे दोनों ही भाई बिना बाँटी हुई लक्ष्मीका उपभोग करते थे, परस्परमें परम प्रीतिको प्राप्त थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो किसी एक मनोहर विषयको देखते हुए अलग-अलग रहनेवाले दो नेत्र ही हों ॥ १८६ ॥ उन दोनोंकी राज्यसे उत्पन्न हुई तृप्ति, तीन भवसे चले आये पारस्परिक प्रेमसे उत्पन्न होनेवाली तृप्तिके एक अंशको भी नहीं प्राप्त कर सकी थी। भावार्थ—उन दोनोंका पारस्परिक प्रेम राज्य-प्रेमसे कहीं अधिक था ॥१८७॥ पुण्डरीकने चिरकाल तक भोग भोगे और उनमें अत्यन्त आसक्तिके कारण नरककी भयंकर आयुका बन्ध कर लिया। वह बहुत आरम्भ और परिग्रहका धारक था, अन्तमें रौद्र ध्यानके कारण उसकी मिथ्यात्व रूप भावना भी जागृत हो उठी जिससे मर कर वह पापोदयसे तमःप्रभा नामक छठवें नरकमें प्रविष्ट हुआ ॥ १८८–१८९ ॥

---

१ प्रस्थिताखण्डविक्रान्तिः म०, ल०। २ बहुविधेनासौ तेनोद्यततेजसा ल०। ३ घातितासुः + अयात् + अध इतिच्छेदः। ४ नृपत्वजाम् ल०, म०। ५ कृत्वा ख०, म०। कृत्वा क०, घ०।

हलभृच्चद्वियोगेन जातनिर्वेग[1]सारथिः। शिवघोषयतिं प्राप्य संयमं प्रत्यपद्यत ॥ १९० ॥
स बाह्याभ्यन्तरं शुद्धं तपः कृत्वा निराकुलः। मूलोत्तराणि कर्माणि निर्मूल्यावाप निर्वृतिम् ॥ १९१ ॥

वसन्ततिलका

जातौ तृतीयजनने धरणीशपुत्रौ
पश्चात्सुरौ प्रथमकल्पगतावभूताम्।
श्रीनन्दिषेणहलभृत्सुनिशुम्भशत्रुः
षष्ठस्त्रिखण्डधरणीट्सु च पुण्डरीकः ॥ १९२ ॥

इत्यार्षे त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीतेऽरतीर्थंकरचक्रधर-सुभौमचक्रवर्तिनन्दि-षेणबलदेव-पुण्डरीकार्द्धचक्रवर्तिनिशुम्भनामप्रतिशत्रुपुराणं परिसमाप्तं पञ्चषष्टितमं पर्व ॥ ६५ ॥

उसके वियोगसे नन्दिषेण बलभद्रको बहुत ही वैराग्य उत्पन्न हुआ उससे प्रेरित हो उसने शिवघोष नामक मुनिराजके पास जाकर संयम धारण कर लिया ॥ १९० ॥ उसने निर्द्वन्द्व होकर बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारका शुद्ध तपश्चरण किया और कर्मोंकी मूलोत्तर प्रकृतियोंका नाश कर मोक्ष प्राप्त किया ॥ १९१ ॥ ये दोनों ही तीसरे भवमें राजपुत्र थे, फिर पहले स्वर्गमें देव हुए, तदनन्तर एक तो नन्दिषेण बलभद्र हुआ और दूसरा निशुम्भ प्रतिनारायणका शत्रु पुण्डरीक हुआ। यह तीन खण्डके राजाओं—नारायणोंमें छटवाँ नारायण था ॥ १९२ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टि लक्षण महापुराण संग्रहमें अरनाथ तीर्थंकर चक्रवर्ती, सुभौम चक्रवर्ती, नन्दिषेण बलभद्र, पुण्डरीक नारायण और निशुम्भ प्रतिनारायणके पुराणका वर्णन करनेवाला पैंसठवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥

---

१ निर्वेद ब०।

षट्षष्टितमं पर्व

मोहमल्लममल्लं यो न्यजेष्टानिष्टकारिणम् । करीन्द्रं वा हरिः सोऽय मल्लिः शल्यहरोऽस्तु नः ॥ १ ॥
जम्बूपलक्षिते द्वीपे मेरोः प्राक् कच्छकावती । विषये वीतशोकाख्यपुरे [1]वैश्रवणाह्वयः ॥ २ ॥
महावंशो महो तस्य महागुणमहीयसः । कुम्भकारकराक्रान्तमृत्स्नेव वशवर्तिनी ॥ ३ ॥
योगस्ताभ्यो महांस्तस्य प्रजानां प्रेमकारिणः । ता यस्मादुपयुज्यन्ते कोशदुर्गबलादिभिः ॥ ४ ॥
महाभयेषु सन्धर्तुं सञ्चिनोति धनं प्रजाः । धत्ते दण्डं च सन्मार्गे सम्प्रवर्तयितुं स ताः ॥ ५ ॥
इति प्रवृद्धपुण्यानुभावसम्पादितां श्रियम् । प्रियामिव नवोढां तामुप्रीत्यानुभवंश्चिरम् ॥ ६ ॥
कदाचित्प्रावृडारम्भे जृम्भमाणां वनावलीम् । विलोकितुं पुरस्यायादुपशल्यमुदाशयीः ॥ ७ ॥
तत्र शाखोपशाखाः स्वाः प्रसार्येव नृपो महान् । अवगाह्य महीं तस्थौ न्यग्रोधः सेवितो द्विजैः ॥ ८ ॥
तं विलोक्य महीपालः पश्य पश्यास्य विस्तृतिम् । तुङ्गत्वं बद्धमूलत्वं बहून्वेति मामयम् ॥ ९ ॥
दर्शयन्निति [2]साश्चर्यं प्रियाणां पार्श्ववर्तिनाम् । गत्वा वनान्तरे भ्रान्त्वा तेनैवायात्[3] पुनः पथा ॥१०॥
आमूलाद् भस्मितं वीक्ष्य वज्रपातेन तं वटम् । कस्यात्र बद्धमूलत्वं कस्य का वात्र विस्तृतिः ॥ ११ ॥
कस्य का तुङ्गता नाम यत्रास्यापीदृशी गतिः । इति चिन्तां [4]समापन्नः सन्त्रस्तः संसृतिस्थितेः ॥१२॥

जिस प्रकार सिंह किसी हाथीको जीतता है उसी प्रकार जिन्होंने अनिष्ट करनेवाले मोहरूपी मल्लको अमल्लकी तरह जीत लिया वे मल्लिनाथ भगवान् हम सबके शल्यको हरण करनेवाले हों ॥ १ ॥ इसी जम्बूद्वीपमें मेरुपर्वतसे पूर्वकी ओर कच्छकावती नामके देशमें एक वीतशोक नामका नगर है उसमें वैश्रवण नामका उच्च कुलीन राजा राज्य करता था। जिस प्रकार कुम्भकारके हाथमें लगी हुई मिट्टी उसके वश रहती है उसी प्रकार बड़े-बड़े गुणोंसे शोभायमान उस राजाकी समस्त पृथिवी उसके वश रहती थी ॥ २-३ ॥ प्रजाका कल्याण करनेवाले उस राजासे प्रजाका सबसे बड़ा योग यह होता था कि वह खजाना किला तथा सेना आदिके द्वारा उसका उपभोग करता था ॥ ४ ॥ वह किसी महाभयके समय प्रजाकी रक्षा करनेके लिए धनका संचय करता था और उस प्रजाको सन्मार्गमें चलानेके लिए उसे दण्ड देता था ॥ ५ ॥ इस प्रकार बढ़ते हुए पुण्यके प्रभावसे प्राप्त हुई लक्ष्मीका वह नव विवाहिता स्त्रीके समान बड़े हर्षसे चिरकाल तक उपभोग करता रहा ॥ ६ ॥ किसी एक दिन उदार बुद्धिवाला वह राजा वर्षाके प्रारम्भमें बढ़ती हुई वनावलीको देखनेके लिए नगरके बाहर गया ॥ ७ ॥ वहाँ जिस प्रकार कोई बड़ा राजा अपनी शाखाओं और उपशाखाओंको फैलाकर तथा पृथिवीको व्याप्तकर रहता है और अनेक द्विज—ब्राह्मण उसकी सेवा करते हैं उसी प्रकार एक वटका वृक्ष अपनी शाखाओं और उपशाखाओंको फैलाकर तथा पृथिवीको व्याप्तकर खड़ा था एवं अनेक द्विज—पक्षीगण उसकी सेवा करते थे ॥ ८ ॥ उस वटवृक्षको देखकर राजा समीपवर्ती लोगोंसे कहने लगा कि देखो देखो, इसका विस्तार तो देखो। यह ऊँचाई और बद्धमूलताको धारण करता हुआ ऐसा जान पड़ता है मानो हमारा अनुकरण ही कर रहा हो ॥ ९ ॥ इस प्रकार समीपवर्ती प्रिय मनुष्योंको आश्चर्यके साथ दिखलाता हुआ वह राजा दूसरे वनमें चला गया और घूमकर फिरसे उसी मार्गसे वापिस आया ॥ १० ॥ लौट कर उसने देखा कि वह वटवृक्ष वज्र गिरनेके कारण जड़ तक भस्म हो गया है। उसे देख कर वह विचार करने लगा कि इस संसारमें मजबूत जड़ किसकी है ? विस्तार किसका है ? और ऊँचाई किसकी है ? जब इस बद्धमूल, विस्तृत और उन्नत वट वृक्षकी ऐसी दशा हो गई तब दूसरेका क्या विचार हो सकता है ? ऐसा विचार करता हुआ वह संसारकी स्थितिसे भयभीत हो गया। उसने अपना राज्य पुत्रके लिए दे दिया और श्रीनाग नामक पर्वत

---

१ विश्रवणाह्वयः ग० । २ चाश्चर्यं ल० । ३ तेनैवायत् पुरः पथा ल० । ४ चिन्तासमापन्नः ल० ।

प्रदाय राज्यं पुत्राय श्रीनागनगवर्तिनम् । श्रीनागपतिमासाद्य पीतधर्मरसायनः ॥ १३ ॥
राजभिर्बहुभिः सार्द्धमवाप्याद्युद्गतं तपः । अङ्गान्येकादशाङ्गानि विधाय विधिना धिया ॥ १४ ॥
सम्पाद्य तीर्थकृन्नाम गोत्रं चोपात्तभावनः । तपस्यन्सुचिरं प्रान्ते प्रास्ताशेषपरिग्रहः ॥ १५ ॥
सोऽनुत्तरविमानेषु सम्बभूवापराजिते । त्रयस्त्रिंशत्समुद्रोपमायुर्हस्तोच्छ्रितिः कृती ॥ १६ ॥
मासान् षोडश मासार्द्धं चातिवाह्यं मनाक् सकृत् । [1]श्वसित्याहारमादत्ते मनसा योग्यपुद्गलान् ॥ १७ ॥
त्रयस्त्रिंशत्सहस्रोक्तवत्सराणां व्यतिक्रमे । भोगोऽस्य निःप्रवीचारो लोकनाल्यन्तरावधेः ॥ १८ ॥
तत्क्षेत्रमितभाशक्तिविक्रियस्यामरेशितुः । तस्मिन् षण्मासशेषायुष्यागमिष्यति भूतलम् ॥ १९ ॥
अत्रैव भरते वङ्गविषये मिथिलाधिपः । इक्ष्वाकुर्भूपतिः कुम्भनामा काश्यपगोत्रजः ॥ २० ॥
प्रजावती महादेवी तस्य लक्ष्मीरिवापरा । पीयूषरश्मिकुलाचिन्त्यवसुधारादिवैभवा ॥ २१ ॥
चैत्रमासे[2] सिते पक्षे निशान्ते प्रतिपद्दिने । अश्विन्यां षोडश स्वप्नान् व्यलोकिष्टेष्टसूचिनः ॥ २२ ॥
तदैव मङ्गलान्युच्चैः पेठुर्मङ्गलपाठकाः । हता प्रभातभेरी च दरनिद्राविघातिनी ॥ २३ ॥
प्रबुध्याधिकसन्तोषात्स्नात्वा मङ्गलवेषभृत् । पतिं प्रति गता रेखा चन्द्रस्येव तदातनी ॥ २४ ॥
संसत्कुमुद्वती[3] सा विकासयन्ती स्वतेजसा । आनन्दयद्विलोक्यैनामर्धांशोऽप्यासनादिभिः ॥ २५ ॥
सुस्थिताऽद्यासने सापि स्वप्नांस्तांस्तमवेदयत् । फलान्यर्माणां शुश्रूषुः परितोषकराण्यतः ॥ २६ ॥
यथाक्रमं नृपोऽप्युक्त्वा फलं तेषां पृथक् पृथक् । गजवक्त्रप्रवेशावलोकनाद्भर्भमाश्रितः ॥ २७ ॥
तवाहमिन्द्र [4]इत्येनामानयत्प्रमदं परम् । कुर्वन्तस्तद्वचः सत्यं समन्तादमरेश्वराः ॥ २८ ॥

पर विराजमान श्रीनाग नामक मुनिराजके पास जाकर उनके धर्मरूपी रसायनका पान किया ॥ ११–१३ ॥ अनेक राजाओंके साथ श्रेष्ठ तप धारण कर लिया, यथाविधि बुद्धिपूर्वक ग्यारह अङ्गोंका अध्ययन किया, सोलह कारण भावनाओंका चिन्तवन कर तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध किया, चिरकाल तक तपस्या की और अन्तमें समस्त परिग्रहका त्याग कर अनुत्तर विमानोंमेंसे अपराजित नामक विमानमें देव पद प्राप्त किया। वहाँ उस कुशल अहमिन्द्रकी तैंतीस सागरकी स्थिति थी, एक हाथ ऊँचा शरीर था, साढ़े सोलह माह बीत जाने पर वह एक बार थोड़ी-सी श्वास ग्रहण करता था, तैंतीस हजार वर्ष बीत जाने पर एक बार मानसिक आहार ग्रहण करता था, इसका काम-भोग प्रवीचारसे रहित था, लोकनाडी पर्यन्त उसके अवधिज्ञानका विषय था और उतनी ही दूर तक उसकी दीप्ति, शक्ति, तथा विक्रिया ऋद्धि थी। इस प्रकार भोगोपभोग करते हुए उस अहमिन्द्रकी आयु जब छह माहकी शेष रह गई और वह पृथिवी पर आनेके लिए सन्मुख हुआ तब इसी भरत क्षेत्रके वङ्ग देशमें मिथिला नगरीका स्वामी इक्ष्वाकुवंशी, काश्यपगोत्री, कुम्भ नामका राजा राज्य करता था ॥१४–२०॥ उसकी प्रजावती नामकी रानी थी जो दूसरी लक्ष्मीके समान जान पड़ती थी। देवोंने उसका रत्नवृष्टि आदि अचिन्त्य वैभव प्रकट किया था ॥ २१ ॥ उसने चैत्रशुक्ल प्रतिपदाके दिन प्रातःकालके समय अश्विनी नक्षत्रमें इष्ट फलको सूचित करनेवाले सोलह स्वप्न देखे ॥ २२ ॥ उसी समय मङ्गल पढ़ने वाले लोग उच्च स्वरसे मङ्गल पढ़ने लगे और अल्प निद्राका विघात करनेवाली प्रातःकालकी भेरी बज उठी ॥ २३ ॥ प्रजावती रानीने जागकर बड़े सन्तोषसे स्नान किया, मङ्गलवेष धारण किया, और चन्द्रमाकी रेखा जिस प्रकार चन्द्रमाके पास पहुँचती है उसी प्रकार वह अपने पतिके पास पहुँची ॥ २४ ॥ वह अपने तेजसे सभारूपी कुमुदिनीको विकसित कर रही थी। राजाने उसे आती हुई देख आसन आदि देकर आनन्दित किया ॥ २५ ॥ तदनन्तर अर्धासन पर बैठी हुई रानीने वे सब स्वप्न पतिके लिए निवेदन किये—कह सुनाये क्योंकि वह उनसे उन स्वप्नोंका सुखदायी फल सुनना चाहती थी ॥ २६ ॥ राजाने भी क्रम-क्रमसे उन स्वप्नोंका पृथक्-पृथक् फल कहकर बतलाया कि चूँकि तूने मुखमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा है अतः अहमिन्द्र तेरे गर्भमें

---

१ श्वसन्नाहार-क०, घ०। २ चैत्रे मासे क०, घ०। ३ संसत् कुमुदिनीं क०, घ०। कुमुद्वती ल०। ४ इत्येता क०, घ०।

समागत्य तयोः कृत्वा स्वर्गावतरणोत्सवम् । कल्याणभागिनोः[1] पित्रोर्ययुस्तोषात्स्वमाश्रयम् ॥ २९ ॥
तमादायोदरं तस्या निर्बाधं भासते स्म तत् । संक्रान्तपूर्णशीतांशुसम्मु[2]खीनतलोपमम् ॥ ३० ॥
सुखेन नवमे मासि पूर्णे पूर्णेन्दुभास्वरम् । विभक्तसर्वावयवं सर्वलक्षणलक्षितम् ॥ ३१ ॥
[3]मार्गशीर्षसितैकादशीदिनेऽश्विनीसङ्गमे । त्रिज्ञानलोचनं देवं तं प्राप्त प्रजावती ॥ ३२ ॥
तदामृताशिनः सर्वे सम्प्राप्य प्राप्तसम्मदाः । तेजःपिण्डं समादाय बालं बालार्कसन्निभम् ॥ ३३ ॥
गत्वाऽचलेशे संस्थाप्य पद्ममाब्धिपयोजलैः । अभिषिच्य विभूष्योच्चैर्मल्लिनामानमाजगुः ॥ ३४ ॥
[4]ते पुनस्तं समानीय नामश्रावणपूर्वकम् । मातुरङ्के[5] व्यवस्थाप्य स्वन्निवासान् प्रपेदिरे ॥ ३५ ॥
अरेशतीर्थसन्तानकालस्यान्ते स पुण्यभाक् । सहस्रकोटिवर्षस्य तदभ्यन्तरजीव्यभूत् ॥ ३६ ॥
समानां पञ्चपञ्चाशत् सहस्राण्यस्य जीवितम् । पञ्चविंशतिवाणासनोच्छ्रितेः[6] कनक[7]द्युतेः ॥ ३७ ॥
शतसंवत्सरे याते कुमारसमये पुरम् । चलत्सितपताकाभिः सर्वत्रोद्बद्धतोरणैः ॥ ३८ ॥
विचित्ररङ्गवल्लीभिर्विकीर्णकुसुमोत्करैः । निर्जिताम्भोनिधिध्वानैः प्रध्वनत्पटहादिभिः ॥ ३९ ॥
मल्लिर्निजविवाहार्थं भूयो वीक्ष्य विभूषितम् । स्मृत्वापराजितं रम्यं विमानं पूर्वजन्मनः ॥ ४० ॥
सा वीतरागता प्रीतिरर्जिता [8]महिमा च सा । कुतः कुतो विवाहोऽयं सतां लज्जाविधायकः ॥ ४१ ॥

आया है। इधर यह कहकर राजा, रानीको अत्यन्त हर्षित कर रहा था उधर उसके वचनोंको सत्य करते हुए इन्द्र सब ओरसे आकर उन दोनोंका स्वर्गावतरण—गर्भकल्याणकका उत्सव करने लगे। भगवान्के माता-पिता अनेक कल्याणोंसे युक्त थे, उनकी अर्चा कर देव लोग बड़े सन्तोषसे अपने-अपने स्थानों पर चले गये ॥ २७–२९ ॥ माताका उदर जिन-बालकको धारण कर बिना किसी बाधाके ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो जिसमें चन्द्रमाका पूर्ण प्रतिबिम्ब पड़ रहा है ऐसा दर्पणका तल ही हो ॥ ३० ॥ सुखसे नौ मास व्यतीत होने पर रानी प्रजावतीने मगसिर सुदी एकादशीके दिन अश्विनी नक्षत्रमें उस देवको जन्म दिया जो कि पूर्ण चन्द्रमाके समान देदीप्यमान था, जिसके समस्त अवयव अच्छी तरह विभक्त थे, जो समस्त लक्षणोंसे युक्त था और तीन ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाला था ॥ ३१–३२ ॥ उसी समय हर्षसे भरे हुए समस्त देव आ पहुँचे और प्रातःकालके सूर्यके समान तेजके पिण्ड स्वरूप उस बालकको लेकर पर्वतराज सुमेरु पर्वत पर गये। वहाँ उन्होंने जिन-बालकको विराजमान कर क्षीरसागरके दुग्ध रूप जलसे उनका अभिषेक किया, उत्तम आभूषण पहिनाये और मल्लिनाथ नाम रखकर जोरसे स्तवन किया ॥ ३३–३४ ॥

वे देवलोग जिन-बालकको वहाँसे वापिस लाये और इनका 'मल्लिनाथ नाम है' ऐसा नाम सुनाते हुए उन्हें माताकी गोदमें विराजमान कर अपने-अपने स्थानों पर चले गये ॥ ३५ ॥

अरनाथ तीर्थंकरके बाद एक हजार करोड़ वर्ष बीत जानेपर पुण्यवान् मल्लिनाथ हुए थे। उनकी आयु भी इसीमें शामिल थी ॥ ३६ ॥ पचपन हजार वर्षकी उनकी आयु थी, पचीस धनुष ऊँचा शरीर था, सुवर्णके समान कान्ति थी ॥ ३७ ॥ कुमारकालके सौ वर्ष बीत जाने पर एक दिन भगवान् मल्लिनाथने देखा कि समस्त नगर हमारे विवाहके लिए सजाया गया है, कहीं चञ्चल सफेद पताकाएँ फहराई गई हैं तो कहीं तोरण बाँधे गये हैं, कहीं चित्र-विचित्र रङ्गावलियाँ निकाली गई हैं तो कहीं फूलोंके समूह बिखेरे गये हैं और सब जगह समुद्रकी गर्जनाको जीतनेवाले नगाड़े आदि बाजे मनोहर शब्द कर रहे हैं। इस प्रकार सजाये हुए नगरको देखकर उन्हें पूर्वजन्मके सुन्दर अपराजित विमानका स्मरण आ गया। वे सोचने लगे कि कहाँ तो वीतरागतासे उत्पन्न हुआ प्रेम और उससे प्रकट हुई महिमा और कहाँ सज्जनोंको लज्जा उत्पन्न करनेवाला यह विवाह ? यह एक विडम्बना है,

---

१- मागिनः ल० । २ संमुखे भवं संमुखीनं दर्पणस्तस्य तलस्योपमा यस्य तत् । ३ मार्गशीर्षे ल० । ४ तैः म०, ल० । ५ मातुरङ्के ल० । ६- नोच्छ्रितः ल० । ७ कनकद्युतिः ल० । ८ प्रीतिरर्जिता महिमा च सः घ० । प्रीतिरर्जिता महिमा च सा ख०, ग० । प्रीतिरर्जितो महिमा च सः क०, म० । प्रीतिस्तज्जाता महिमे च सा ल० ।

विडम्बनमिदं सर्वं प्रकृतं प्राकृतैर्जनैः । निन्दयन्निति निर्विद्य सोऽभूद्विष्कमणोद्यतः ॥ ४२ ॥
तदा द्युमुनयः प्राप्य प्रस्तुतस्तुतिविस्तराः[1] । अनुमत्य मतं तस्य ययुः खेन तिरोहिताः ॥ ४३ ॥
तीर्थकृत्स्वपि केषाञ्चिदेवासीदीदृशी मतिः । दुष्करो विषयत्यागः कौमारे महतामपि ॥ ४४ ॥
इति भक्त्या कृतालापा नभोभागे परस्परम् । परनिःक्रान्तकल्याणमहाभिषवणोत्सवम् ॥ ४५ ॥
सोत्सवाः प्रापयन्ति स्म कुमारममरेश्वराः । कुमारोऽपि जयन्ताभिधानं यानमधिष्ठितः ॥ ४६ ॥
गत्वा श्वेतवनोद्यानमुपवासद्वयान्वितः । स्वजन्ममासनक्षत्रदिनपक्षसमाश्रितः ॥ ४७ ॥
कृतसिद्धनमस्कारः परित्यक्तोपधिद्वयः । सायाह्ने त्रिंशतैर्भूपैः सह सम्प्राप्य संयमम् ॥ ४८ ॥
संयमप्रत्ययोत्पन्नचतुर्थज्ञानभास्वरः[2] । मार्गोऽयमिति सञ्चिन्त्य सम्यग्ज्ञानप्रचोदितः[3] ॥ ४९ ॥
मिथिलां प्राविशत्तस्मै नन्दिषेणनराधिपः[4] । प्रदाय प्रासुकाहारं प्राप द्युम्नद्युतिः शुभम् ॥ ५० ॥
[4]दिनषट्के गते तस्य छद्मस्थे ज्ञानिनां वरे । अधस्तरोरशोकस्य त्यक्ताहद्वितयाद् गतेः ॥ ५१ ॥
पूर्वाह्णे जन्मनीवाप्त्यस्य सत्सु दिनादिषु । घातित्रितयनिर्णाशात्केवलावगमोऽभवत् ॥ ५२ ॥
बोधिता इव देवेन्द्राः सर्वे ज्ञानेन तेन ते । सम्भूयागत्य तत्पूजामकुर्वन् सर्ववेदिनः ॥ ५३ ॥
अष्टाविंशतिरस्यासन् विशाखाद्या गणाधिपाः । स्वपञ्चेन्द्रियमानोक्ता मुनयः पूर्वधारिणः ॥ ५४ ॥
शून्यत्रितयरन्ध्रद्विप्रोक्तसङ्ख्यानशिक्षकाः । द्विशतद्विसहस्रोक्ततृतीयावगमस्तुताः ॥ ५५ ॥
तावन्तः पञ्चमज्ञानाः खद्वयाब्ध्येकवादिनः । शून्यद्वयनवद्वयुक्तविक्रियर्द्धिविभूषिताः ॥ ५६ ॥

साधारण-पामर मनुष्य ही इसे प्रारम्भ करते हैं बुद्धिमान् नहीं। इस प्रकार विवाहकी निन्दा करते हुए वे विरक्त होकर दीक्षा धारण करनेके लिए उद्यत हो गये ॥ ३८-४२ ॥ उसी समय लौकान्तिक देवोंने आकर विस्तारके साथ उनकी स्तुति की, उनके दीक्षा लेनेके विचारका अनुमोदन किया और यह सब कर वे आकाश-मार्गसे अदृश्य हो गये ॥ ४३ ॥ अन्य साधारण मनुष्योंकी बात जाने दो तीर्थंकरोंमें भी किन्हीं तीर्थंकरोंकी ही ऐसी बुद्धि होती है सो ठीक ही है क्योंकि कुमारावस्थामें विषयोंका त्याग करना महापुरुषोंके लिए भी कठिन कार्य है ॥ ४४ ॥ इस प्रकार भक्तिपूर्वक आकाश में वार्तालाप करते एवं उत्सवसे भरे इन्द्रोंने मल्लिनाथ कुमारको दीक्षाकल्याणकके समय होनेवाला अभिषेक-महोत्सव प्राप्त कराया—उनका दीक्षाकल्याणक-सम्बन्धी महाभिषेक किया तथा मल्लिनाथ कुमार भी जयन्त नामक पालकी पर आरूढ़ होकर श्वेतवनके उद्यानमें पहुँचे। वहाँ उन्होंने दो दिनके उपवासका नियम लेकर अपने जन्मके ही मास नक्षत्र दिन और पक्षका आश्रय ग्रहण कर अर्थात् अगहन सुदी एकादशीके दिन अश्विनी नक्षत्रमें सायंकालके समय सिद्ध भगवान्को नमस्कार किया, बाह्याभ्यन्तर—दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग कर दिया और तीन सौ राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया ॥ ४५-४८ ॥ वे उसी समय संयमके कारण उत्पन्न हुए मनःपर्ययज्ञानसे देदीप्यमान हो उठे। 'यह सनातन मार्ग है' ऐसा विचार कर सम्यग्ज्ञानसे प्रेरित हुए महामुनि मल्लिनाथ भगवान् पारणाके दिन मिथिलापुरीमें प्रविष्ट हुए। वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले नन्दिषेण नामके राजाने उन्हें प्रासुक आहार देकर शुभ पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ ४९-५० ॥ छद्मस्थावस्थाके छह दिन व्यतीत हो जानेपर उन्होंने पूर्वोक्त वनमें अशोक वृक्षके नीचे दो दिनके लिए गमनागमनका त्याग कर दिया—दो दिनके उपवासका नियम ले लिया। वहीं पर जन्मके समान शुभ दिन और शुभ नक्षत्र आदिमें उन्हें प्रातःकालके समय ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंका नाश होनेसे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया ॥ ५१-५२ ॥ उसी केवलज्ञानसे मानो जिन्हें प्रबोध प्राप्त हुआ है ऐसे समस्त इन्द्रोंने एक साथ आकर उन सर्वज्ञ भगवान्की पूजा की ॥ ५३ ॥

उनके समवसरणमें विशाखको आदि लेकर अट्ठाईस गणधर थे, पाँच सौ पचास पूर्वधारी थे, उनतीस हजार शिक्षक थे, दो हजार दो सौ पूज्य अवधिज्ञानी थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, एक हजार चार सौ वादी थे, दो हजार नौ सौ विक्रिया ऋद्धिसे विभूषित थे और एक हजार सात सौ

२ विस्तरैः ख०, ग०, फ०। १ भास्करः ल०। २ सम्यग्ज्ञाने प्रचोदितः ल०। ३ नन्दिषेणो नराधिपः ख०। ४ दिने षट्के ल०।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शून्यपञ्चमुनी[1]न्द्रैकमनःपर्ययबोधनाः । चत्वारिंशत्सहस्राणि सर्वे सङ्कलनां श्रिताः ॥ ५७ ॥
खभ्रयेन्द्रियपञ्चोक्ता बन्धुषेणादिकार्यिकाः । श्रावकाः लक्षमाः प्रोक्ताः श्राविकाश्चिगुणास्ततः[2] ॥ ५८ ॥
देवा देव्यस्त्वसङ्ख्याताः [3]गण्या कण्ठीरवादयः । एवं द्वादशभिर्देवो गणैरेभिः परिष्कृतः ॥ ५९ ॥
मुक्तिमार्गं नयन् भव्यपथिकान् प्रथितध्वनिः । विजहार महादेशान् भव्यसत्त्वानुरोधतः ॥ ६० ॥
ततो मासावशेषायुःसम्मेदाचलमाश्रितः । प्रतिमायोगमादाय मुनिभिः सह पञ्चभिः ॥ ६१ ॥
सहस्रैर्ध्यानमास्थाय भरण्यां पूर्वरात्रतः । फाल्गुनोज्ज्वलपञ्चम्यां तनुवातं समाश्रयत् ॥ ६२ ॥
कल्पाग्निर्वाणकल्याण[4]मन्वेत्यामरनायकाः । गन्धादिभिः समभ्यर्च्य तत्क्षेत्रमपवित्रयन् ॥ ६३ ॥

मालिनी

जननमृतितरङ्गाद् दुःखदुर्वारिपूर्णा–
दुपचितगुणरत्नो दुःस्पृहावर्तगर्तात् ।
स कुमतविधुवृद्धाद् ध्याति नावा भवाब्धे–
रभजत भुवनाग्रं[5] विग्रहग्राहमुक्तः ॥ ६४ ॥

स्वागता

येन शिष्टमुरुवर्त्म[1]विमुक्ते–
र्यं नमन्ति नमिताखिललोकाः ।
यो गुणैः स्वयमधारि समग्रैः
स श्रियं दिशतु मल्लिरशल्यः ॥ ६५ ॥

द्रुतविलम्बितवृत्तम्

अजनि वैश्रवणो धरणीश्वरः
पुनरनुत्तरनाम्न्यपराजिते ।

पचास मनःपर्ययज्ञानी थे। इस प्रकार सब मिलाकर चालीस हजार मुनिराज उनके साथ थे ॥ ५४–५७ ॥ बन्धुषेणाको आदि लेकर पचपन हजार आर्यिकाएँ थीं, श्रावक एक लाख थे और श्राविकाएँ तीन लाख थीं, देव-देवियाँ असंख्यात थीं, और सिंह आदि तिर्यञ्च संख्यात थे। इस प्रकार मल्लिनाथ भगवान् इन बारह सभाओंसे सदा सुशोभित रहते थे ॥ ५८–५९ ॥ जिनकी दिव्य ध्वनि अत्यन्त प्रसिद्ध है ऐसे भगवान् मल्लिनाथने भव्य जीवरूपी पथिकोंको मुक्तिमार्गमें लगाते हुए, भव्य जीवोंके अनुरोधसे अनेक बड़े-बड़े देशोंमें विहार किया था ॥ ६० ॥ जब उनकी आयु एक माहकी बाकी रह गई तब वे सम्मेदाचल पर पहुंचे। वहाँ पाँच हजार मुनियोंके साथ उन्होंने प्रतिमायोग धारण किया और फाल्गुन शुक्ला सप्तमीके दिन भरणी नक्षत्रमें सन्ध्याके समय तनुवात वलय—मोक्षस्थान प्राप्त कर लिया ॥ ६१–६२ ॥ उसी समय इन्द्रादि देवोंने स्वर्गसे आकर निर्वाण-कल्याणकका उत्सव किया और गन्ध आदिके द्वारा पूजा कर उस क्षेत्रको पवित्र बना दिया ॥ ६३ ॥ जिसमें जन्म-मरणरूपी तरङ्गे उठ रही हैं, जो दुःखरूपी खारे पानीसे लबालब भरा हुआ है, जिसमें खोटी इच्छाएँ रूपी भँवर पड़नेके गड्ढे हैं और जो मिथ्यामतरूपी चन्द्रमासे निरन्तर बढ़ता रहता है ऐसे संसार रूपी सागरसे, गुणरूपी रत्नोंका संचय करनेवाले मल्लिनाथ भगवान् शरीररूपी मगर-मच्छको दूर छोड़कर ध्यानरूपी नावके द्वारा पार हो लोकके अग्रभाग पर पहुँचे थे ॥ ६४ ॥ जिन्होंने मोक्षका श्रेष्ठ मार्ग बतलाया था, जिन्हें समस्त लोग नमस्कार करते थे, और जो समग्रगुणोंसे परिपूर्ण थे वे शल्य रहित मल्लिनाथ भगवान् तुम सबके लिए मोक्ष-लक्ष्मी प्रदान करें ॥ ६५ ॥ जो पहले वैश्रवण नामके राजा हुए, फिर अपराजित नामक अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र हुए और फिर अतिशय

---

१ मुनीन्दूक्त म०, ल० । २ स्मृताः ख०, ग० । ३ संख्याताः गुण्याः म० । ४–मत्रेत्यामर–ल० । ५ भुवनाग्रे ल० ।

जितखलाखिलमोहमहारिपु-[1]
दिंशतु मल्लिरसावतुलं सुखम् ॥ ६६ ॥
महेर्जिनस्य सन्तानेऽभूत्पद्मो नाम चक्रभृत् । द्वीपेऽस्मिन् प्राच्यसौ मेरोः सुकच्छविषये नृपः ॥ ६७ ॥
श्रीपुरेशः प्रजापालस्तृतीयेऽजनि जन्मनि । स्वामिप्रकृतिसम्प्रोक्तगुणानामुत्तमाश्रयः ॥ ६८ ॥
सुराज्ञस्तस्य नाभूवन्राज्येऽस्यायुक्तिका[2]दिभिः । प्रजानां पञ्चभिर्बाधास्तदव[3]र्द्धन्त ताः सुखम् ॥ ६९ ॥
शक्तित्रितयसम्पस्या [4]शत्रूञ्जित्वा जिगीषवः । विश्रान्तविग्रहो भोगान् धर्मेणार्थेन चान्वभूत् ॥ ७० ॥
स कदाचिद् विलोक्योल्कापातं जातावबोधनः । आपातरमणीयत्वमाकलय्येष्टसम्प[5]दम् ॥ ७१ ॥
स्थास्नुबुद्धया विमुग्धत्वादन्वभूवमिमांश्चिरम् । न चेदुल्काप्रपातोऽयं भूयो भ्रान्तिर्भवार्णवे ॥ ७२ ॥
इत्यारोप्य सुते राज्यं शिवगुप्तजिनेश्वरम् । प्रपद्य परमं पित्सु[6]रयासीत्संयमद्वयम् ॥ ७३ ॥
समुत्कृष्टाष्टशुद्धीद्धता[7] रुद्धाशुभाश्रवः । क्रमात्कालान्तमासाद्य सुसमाहितमानसः ॥ ७४ ॥
निजराज्येन संक्रीतं स्वहस्तप्राप्तमच्युतम् । तुतोष कल्पमालोक्य जितक्रेयो हि तुष्यति ॥ ७५ ॥
द्वाविंशत्यब्धिमेयायुः प्रान्तेऽसावच्युताधिपः । द्वीपेऽत्र भरते काशी वाराणस्यां महीभुजः ॥ ७६ ॥
इक्ष्वाकोः पद्मनाभस्य रामायाश्चाभवत्सुतः । पद्माभिधानः पद्मादिप्रशस्ताशेषलक्षणः ॥ ७७ ॥
त्रिंशद्वर्षसहस्रायुर्द्वाविंशतिधनुस्तनुः । सुरसम्प्रार्थ्यकान्त्यादिः कार्तस्वरविभास्वरः ॥ ७८ ॥

दुष्ट मोहरूपी महारिपुको जीतनेवाले तीर्थंकर हुए वे मल्लिनाथ भगवान् तुम सबके लिए अनुपम सुख प्रदान करें ॥ ६६ ॥

अथानन्तर-मल्लिनाथ जिनेन्द्रके तीर्थमें पद्म नामका चक्रवर्ती हुआ है वह अपनेसे पहले तीसरे भवमें इसी जम्बूद्वीपके मेरुपर्वतसे पूर्वकी ओर सुकच्छ देशके श्रीपुर नगरमें प्रजापाल नामका राजा था। राजाओंमें जितने प्राकृतिक गुण कहे गये हैं वह उन सबका उत्तम आश्रय था ॥ ६७-६८ ॥ अच्छे राजाके राज्यमें प्रजाको अयुक्ति आदि पाँच तरहकी बाधाओंमेंसे कोई प्रकारकी बाधा नहीं थी अतः समस्त प्रजा सुखसे बढ़ रही थी ॥ ६९ ॥ उस विजयीने तीन शक्तिरूप सम्पत्तिके द्वारा समस्त शत्रुओंको जीत लिया था, समस्त युद्ध शान्त कर दिये थे और धर्म तथा अर्थके द्वारा समस्त भोगोंका उपभोग किया था ॥ ७० ॥ किसी समय उल्कापात देखनेसे उसे आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया। अब वह इष्ट सम्पत्तियोंको आपात रमणीय—प्रारम्भमें ही मनोहर समझने लगा ॥ ७१ ॥ वह विचार करने लगा कि मैंने मूर्खतावश इन भोगोंको स्थायी समझकर चिरकाल तक इनका उपभोग किया। यदि आज यह उल्कापात नहीं होता तो संसार-सागरमें मेरा भ्रमण होता ही रहता ॥ ७२ ॥ ऐसा विचार कर उसने पुत्रके लिए राज्य सौंप दिया और स्वयं शिवगुप्त जिनेश्वरके पास जाकर परमपद पानेकी इच्छासे निश्चय और व्यवहारके भेदसे दोनों प्रकारका संयम धारण कर लिया ॥ ७३ ॥ अत्यन्त उत्कृष्ट आठ प्रकारकी शुद्धियोंसे उसका तप देदीप्यमान हो रहा था, उसने अशुभ कर्मोंका आस्रव रोक दिया था और क्रम-क्रमसे आयुका अन्त पाकर अपने परिणामोंको समाधियुक्त किया था ॥ ७४ ॥ वह अपने राज्यसे खरीदे एवं अपने हाथसे—पुरुषार्थसे प्राप्त हुए अच्युत स्वर्गको देखकर बहुत ही सन्तुष्ट हुआ सो ठीक ही है क्योंकि अल्प मूल्य देकर अधिक मूल्यकी वस्तुको खरीदनेवाला मनुष्य सन्तुष्ट होता ही है ॥ ७५ ॥ वहाँ बाईस सागरकी उसकी आयु थी। वह अच्युतेन्द्र आयुके अन्तमें वहाँसे च्युत होकर कहाँ उत्पन्न हुआ इसका वर्णन करते हैं—

इसी जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें एक काशी नामक देश है। उसकी वाराणसी नामकी नगरीमें इक्ष्वाकुवंशीय पद्मनाभ नामका राजा राज्य करता था। उसकी स्त्रीके पद्म आदि समस्त लक्षणोंसे सहित पद्म नामका पुत्र हुआ था। तीस हजार वर्षकी उसकी आयु थी, बाईस धनुष ऊँचा शरीर था, वह सुवर्णके समान देदीप्यमान था, और उसकी कान्ति आदिकी देव लोग भी प्रार्थना करते थे

---

१ मोहरिपुविर्भु—ख०, म०, ग०। २ मुक्तिवादिभिः म०। ३ तदवर्तन्त म०, ल०। ४ शत्रुं निर्जित्य क०, घ०। ५ संपदाम् म०, ल०। ६ पत्तुमिच्छुः। ७ तपोरुद्धा क०, घ०।

पुण्योदयात्क्रमेणाप्य चक्रित्वं विक्रमार्जितम् । दशाङ्गभोगानिःसङ्गमभङ्गानन्वभूचिरम् ॥ ७९ ॥
पृथिवीसुन्दरीमुख्यास्तस्याष्टौ पुत्रिकाः सतीः । सुकेतुखचराधीश[1]पुत्रेभ्योऽदात्प्रसन्नवान् ॥ ८० ॥
एवं सुखेन [2]कालेऽस्य याति सत्यम्बुदोऽम्बरे । प्रेक्ष्यः प्रमोदमुत्पाद्य सद्योऽसौ विकृतिं ययौ ॥ ८१ ॥
तं वीक्ष्य न विपक्षोऽस्य तयाप्येषोऽगमल्लयम् । सम्पत्सु सर्वविद्विट्सु का स्थैर्यास्था विवेकिनः ॥ ८२ ॥
इति चक्री समालोच्य संयमेऽभूदतस्तदा । सुकेतुः कुलवृद्धोऽस्य नाम्ना दुश्चरितोऽब्रवीत् ॥ ८३ ॥
राज्यसम्प्राप्तिकालस्ते कनीयान् नवयौवनः । भोगान् भुङ्क्ष्व न कालोऽयं तपसः किं विधीर्भवेः ॥८४॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
केनापि तपसा कार्यं किं वृथाऽऽयासमात्रकम् । नात्र किञ्चित्फलं नैव परलोकश्च कश्चन ॥ ८५ ॥
कथञ्च परलोकश्चेदभावात्परलोकिनः । पञ्चभूतात्मके काये चेतना मदशक्तिवत् ॥ ८६ ॥
पिष्टकिण्वादिसंयोगे तदात्मोक्तिः खपुष्पवत् । ततः प्रेत्योपभोगादिकाङ्क्षा स्वकृतकर्मणः ॥ ८७ ॥
वन्ध्यास्तनन्धयस्येव खपुष्पापीडलिप्सनम् । आग्रहोऽयं परित्याज्यो राज्यं कुरु निराकुलम् ॥ ८८ ॥
सत्यप्यात्मनि कौमारे सुकुमारः कथं तपः । सहसे निष्ठुरं देव [3]पुष्करैरपि दुष्करम् ॥ ८९ ॥
इत्युक्तं तदमात्यस्य स श्रुत्वा शून्यव.दिनः । रूपादिरूप एवात्र भूतसङ्घोऽभिलक्ष्यते ॥ ९० ॥
सुखदुःखादिसंवेद्यं चैतन्यं तद्विलक्षणम् । तद्वान् देहादिहान्योऽयं स्वसंवित्यानुभूयते ॥ ९१ ॥

॥७६-७८॥ पुण्यके उदयसे उसने क्रमपूर्वक अपने पराक्रमके द्वारा अर्जित किया हुआ चक्रवर्तीपना प्राप्त किया था तथा चिरकाल तक बाधा रहित दश प्रकारके भोगोंका आसक्तिके बिना ही उपभोग किया था ॥ ७९ ॥ उसके पृथिवीसुन्दरीको आदि लेकर आठ सती पुत्रियाँ थीं जिन्हें उसने बड़ी प्रसन्नताके साथ सुकेतु नामक विद्याधरके पुत्रोंके लिए प्रदान किया था ॥ ८० ॥ इस प्रकार चक्रवर्ती पद्मका काल सुखसे व्यतीत हो रहा था। एक दिन आकाशमें एक सुन्दर बादल दिखाई दिया जो चक्रवर्तीको हर्ष उत्पन्न कर शीघ्र ही नष्ट हो गया ॥ ८१ ॥ उसे देखकर चक्रवर्ती विचार करने लगा कि इस बादलका यद्यपि कोई शत्रु नहीं है तो भी यह नष्ट हो गया फिर जिनके सभी शत्रु हैं ऐसी सम्पत्तियों में विवेकी मनुष्यको स्थिर रहनेकी श्रद्धा कैसे हो सकती है ? ॥ ८२ ॥ ऐसा विचार कर चक्रवर्ती संयम धारण करनेमें तत्पर हुआ ही था कि उसी समय उसके कुलका वृद्ध दुराचारी सुकेतु कहने लगा कि यह तुम्हारा राज्य-प्राप्तिका समय है, अभी तुम छोटे हो, नवयौवनके धारक हो, अतः भोगोंका अनुभव करो, यह समय तपके योग्य नहीं है, व्यर्थ ही निर्बुद्धि क्यों हो रहे हो ? ॥ ८३-८४ ॥ किसी भी तपसे क्या कुछ कार्य सिद्ध होता है। व्यर्थ ही कष्ट उठाना पड़ता है, इसका कुछ भी फल नहीं होता और न कोई परलोक ही है ॥ ८५ ॥ परलोक क्यों नहीं है यदि यह जानना चाहते हो तो सुनो, जब परलोकमें रहनेवाले जीवका ही अभाव है तब परलोक कैसे सिद्ध हो जावेगा ? जिस प्रकार आटा और किण्व आदिके संयोगसे मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पञ्चभूतसे बने हुए शरीरमें चेतना उत्पन्न हो जाती है इसलिए आत्मा नामका कोई पदार्थ है ऐसा कहना आकाश-पुष्पके समान है। जब आत्मा ही नहीं है तब मरनेके बाद अपने किये हुए कर्मका फल भोगने आदिकी आकांक्षा करना वन्ध्यापुत्रके आकाश-पुष्पका सेहरा प्राप्त करनेकी इच्छाके समान है। इसलिए यह तप' करनेका आग्रह छोड़ो और निराकुल होकर राज्य करो ॥ ८६-८८ ॥ इसके सिवाय दूसरी बात यह है कि यदि किसी तरह जीवका अस्तित्व मान भी लिया जाय तो इस कुमारावस्थामें जब कि आप अत्यन्त सुकुमार हैं जिसे प्रौढ़ मनुष्य भी नहीं कर सकते ऐसे कठिन तपको किस प्रकार सहन कर सकेंगे ? ॥ ८९ ॥ इस प्रकार शून्यवादी मन्त्रीका कहा सुनकर चक्रवर्ती कहने लगा कि इस संसारमें जो पञ्चभूतोंका समूह दिखाई देता है वह रूपादि रूप है—स्पर्श रस गन्ध और वर्ण युक्त होनेके कारण पुद्गलात्मक है। मैं सुखी हूँ मैं दुःखी हूँ इत्यादिके द्वारा जिसका वेदन होता है वह चैतन्य भूत समूहसे भिन्न है—पृथक् है। हमारे इस शरीरमें शरीरसे पृथक् चैतन्य गुण युक्त जीव नामका पदार्थ विद्यमान है इसका स्वसंवेदनसे अनुभव होता है और

१ खचराधीशः पुत्रेभ्यो ग०, म०, ल० । २ कालस्य ल०० । ३ अति प्रौढैः 'पुकलस्तु पूर्णश्रेष्ठे' क०, म०, टिप्पण्याम् । दुष्करैः ल० ।

बुद्धिपूर्वक्रियालिङ्गादन्यत्राप्यनुमीयते । अस्त्यात्मा भाविलोकश्च सत्त्वाद्यातीतसंस्मृतेः ॥ ९२ ॥
इहलोकादिपर्यन्तवीक्षणैर्जन्मिनां सताम् । बुद्धिकारणकार्यौ स्तां चैतन्यान्मद्यधीरिव ॥ ९३ ॥
इत्यादि युक्तिवादेन चक्री तं शून्यवादिनम् । श्रद्धाप्यात्मास्तितां [1]सम्यक् कृतबन्धुविसर्जनः ॥ ९४ ॥
नियोज्य स्वात्मजे राज्यं सुकेत्वादिमहीभुजैः । जिनात्समाधिगुप्ताख्यात्समं संयममाददौ ॥ ९५ ॥
विशुद्धिपरिणामानामुत्तरोत्तरभाविनाम् । प्राप्य क्रमेण पर्यन्तं पर्यन्तं प्राप घातिनाम् ॥ ९६ ॥
नवकेवललब्धीद्धविशुद्धव्याहृतीश्वरः । काले कायत्रयं हित्वा पदेऽभूत्पारमेश्वरे[2] ॥ ९७ ॥
[3]उदयान्नोदयादस्य धरणीधरणीमुदः । तानवं तानवं किञ्चित्सम्पदं सम्पदं श्रितः ॥ ९८ ॥
नापन्नापन्नभोगेन मामतो मामतोदयाः । सपद्माख्यः सपद्माख्यः सङ्गमः सङ्गमः सताम् ॥ ९९ ॥
मन्दराग इवोत्तुङ्गो मन्दरागोऽरिधारिणाम् । राजते राजतेजोभिर्नवमोऽनवमो मुदा ॥ १०० ॥

बुद्धिपूर्वक क्रिया देखी जाती है इस हेतुसे अन्य पुरुषोंके शरीरमें भी आत्मा है—जीव है, यह अनुमानसे जाना जाता है। इसलिए आत्मा नामका पृथक् पदार्थ है यह मानना पड़ता है साथ ही परलोकका अस्तित्व भी मानना पड़ता है क्योंकि अतीत जन्मका स्मरण देखा जाता है ॥ ९०-९२ ॥ जिस प्रकार मदिरापान करनेसे बुद्धिमें जो विकार होता है वह कहाँसे आता है ? पूर्ववर्ती चैतन्यसे ही उत्पन्न होता है इसी प्रकार संसारके समस्त जीवोंके जो कारण और कार्यरूप बुद्धि उत्पन्न होती है वह कहाँसे आती है ? पूर्ववर्ती चैतन्यसे ही उत्पन्न होती है इसलिए जीवोंका यद्यपि जन्म-मरणकी अपेक्षा आदि-अन्त देखा जाता है परन्तु चैतन्य सामान्यकी अपेक्षा उनका अस्तित्व अनादि सिद्ध है। इत्यादि युक्तिवादके द्वारा चक्रवर्तीने उस शून्यवादी मन्त्रीको आत्माके अस्तित्वका अच्छी तरह श्रद्धान कराया, परिवारको विदा किया, अपने पुत्रके लिए राज्य सौंपा और समाधिगुप्त नामक जिनराजके पास जाकर सुकेतु आदि राजाओंके साथ संयम ग्रहण कर लिया—जिन-दीक्षा ले ली ॥ ९३-९५ ॥ उन्होंने अनुक्रमसे आगे-आगे होनेवाले विशुद्धि रूप परिणामोंकी पराकाष्ठाको पाकर घातिया कर्मोंका अन्त प्राप्त किया—घातिया कर्मोंका क्षय किया ॥ ९६ ॥ अब वे नव केवल-लब्धियोंसे देदीप्यमान हो उठा और विशुद्ध दिव्यध्वनिके स्वामी हो गये। जब अन्तिम समय आया तब औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरोंको छोड़कर परमेश्वर सम्बन्धी पदमें—सिद्ध क्षेत्रमें अधिष्ठित हो गये ॥ ९७ ॥

[3]अनेक मुकुटबद्ध राजाओंसे हर्षित होनेवाले एवं उत्कृष्ट पद तथा सातिशय सम्पत्तिको प्राप्त हुए चक्रवर्ती पद्मके पुण्योदयसे शरीर सम्बन्धी कुछ भी कृशता उत्पन्न नहीं हुई थी ॥ ९८ ॥ [5]जिन्हें अनेक भोगोपभोग प्राप्त हैं ऐसे पद्म चक्रवर्तीको केवल लक्ष्मी ही प्राप्त नहीं हुई थी किन्तु कीर्तिके साथ-साथ अनेक अभ्युदय भी प्राप्त हुए थे। इस तरह लक्ष्मी सहित वे पद्म चक्रवर्ती सज्जनोंके लिए सत् पदार्थोंका समागम प्राप्त करानेवाले हों ॥ ९९ ॥ जो मन्दराचलके समान उन्नत थे—उदार थे,

---

१ सम्यक्कृतविसर्जनः म० । २ परमेश्वरे म०, ख० । परमेश्वरः ल० । ३ उदयादुदयास्तस्य क०, घ० । ४ धरणीधरा राजानः तान् नयन्ति, इति धरणीधरण्वः श्रेष्ठराजा मुकुटबद्धाइति यावत्, तैर्मोदते इति धरणीधरणी-मुद्, तस्य । संसदं समीचीनपदवीम्, संपदं सम्पत्तिम्, श्रितः-श्रयतीति श्रित् तस्य प्राप्तवतः, अस्य पद्मचक्रवर्तिनः, उदयात्, उत्कृष्टः अयः उदयः श्रेष्ठपुण्यं तस्मात्, तानवं तनोरिदं तानवं शरीरसम्बन्धि, तानवं कार्श्यं, न उदयात् न उदितं न प्राप्तमिति यावत् । ५ आपन्नभोगेन प्राप्तभोगेन सह, या लक्ष्मीः, केवलम्, न आपत् न प्राप्ता किन्तु मा लक्ष्मीस्तया मता आदृता उदया अभ्युदया अपि आपन् प्राप्ताः, यमिति शेषः । पद्मा च आख्या च इति पद्माख्ये ताभ्यां सहितः सपद्माख्यः लक्ष्मीप्रतिदिसहितः, मतः पूजितः, संगमयतीति संगमः समीचीनवस्तुप्रापकः, पद्म इति आख्या यस्य स पद्माख्यः पद्मनामधेयः, सः चक्रवर्ती, सतां सज्जनानां, संगमः संगमनशीलः, भवत्विति शेषः । ६ मन्दरश्चासावगश्चेति मन्दरागः सुमेरुरिव, उत्तुङ्गः उन्नतः उदाराशयः, मन्दो रागोयस्य मन्दरागः, अल्परागयुक्तः, अनासक्त इति यावत्, अरिधारिणाम् अराः सन्ति यस्मिन् स अरी चक्रं तद् धरन्तीति शीला अरिधारिणस्तेषां चक्रवर्तिनाम्, नवमः नवमसंख्याकः, राजतेजोभिः-राजप्रतापैः, अनवमः नान्यः अनवमः श्रेष्ठ इति यावत्, एवम्भूतः पद्मचक्रवर्ती, मुदा हर्षेण, राजते शोभते ॥

प्रादर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मालिनी

प्रथममजनि राजा यः प्रजापालनामा
शमितकरणवृत्त्या प्रान्तकल्पेश्वरोऽभूत् ।
सबलभरतनाथः शर्मणः सद्म पद्मः
परमपदमवापत्सोऽमलं शं त्रियाद्वः ॥ १०१ ॥

तीर्थेऽस्मिन्नेव [1]सम्भूतौ सप्तमौ रामकेशवौ । तृतीये तौ भवेऽभूतां साकेते राजपुत्रकौ ॥ १०२ ॥
अप्रियत्वाच्चिता त्यक्त्वा तौ स्नेहेन कनीयसे । भ्रात्रे स्वस्मै ददौ यौवराज्यं पदमकल्पितम् ॥ १०३ ॥
मन्त्रिणैव कृतं सर्वमिदमित्यतिकोपिनौ । अमात्ये बद्धवैरौ तौ धर्मतीर्थान्वयानुगौ ॥ १०४ ॥
शिवगुप्तमुनेरन्तेवासितामेत्य संयमम् । विधाय सुविशालाख्ये सौधर्मेऽमरतां गतौ ॥ १०५ ॥
ततः प्रच्युत्य भूपस्य वाराणस्यां बभूवतुः । इक्ष्वाकुतिलकस्याग्निशिखस्य तनयौ प्रियौ ॥ १०६ ॥
माताऽपराजिता केशवती च क्रमशस्तयोः । नन्दिमित्राह्वयो ज्येष्ठः कनिष्ठो दत्तसंज्ञकः ॥ १०७ ॥
द्वात्रिंशत्त्रयाब्दानौ द्वाविंशतिधनुस्तनू । चन्द्रेन्द्रनीलसङ्काशावबर्द्धेतामनुत्तरौ ॥ १०८ ॥
ततो मन्त्री च पूर्वोक्तो भ्रान्त्वा संसारसागरे । क्रमेण विजयार्द्धाद्रिमन्दराख्यपुराधिपः ॥ १०९ ॥
[2]बलीन्द्राभिधया ख्यातो जातो विद्याधराधिपः । सोऽन्येद्युर्युवयोर्भद्रक्षीरोदाख्योऽस्ति विश्रुतः ॥ ११०॥
महान्ममैव योग्योऽसौ दीयतां गन्धवारणः । इति दर्पात्तिष्टभी प्राहिणोत्प्रति तौ वचः ॥ १११ ॥
श्रुत्वा तद्वचनं तौ च तेनावाभ्यां सुते स्वयम् । देये चेद्दीयते दन्ती नोचेत्सोऽपि न दीयते ॥ ११२ ॥

मन्दरागके धारक थे, राजाओंके योग्य तेजसे श्रेष्ठ थे, और चक्रवर्तियोंमें नौवें चक्रवर्ती थे ऐसे पद्म बड़े हर्षसे सुशोभित होते थे ॥ १०० ॥

जो पहले प्रजापाल नामका राजा हुआ था, फिर इन्द्रियोंको दमन कर अच्युत स्वर्गका इन्द्र हुआ, तदनन्तर समस्त भरत क्षेत्रका स्वामी और अनेक कल्याणोंका घर पद्म नामका चक्रवर्ती हुआ, फिर परमपदको प्राप्त हुआ ऐसा चक्रवर्ती पद्म हम सबके लिए निर्मल सुख प्रदान करे ॥ १०१ ॥

अथानन्तर—इन्हीं मल्लिनाथ तीर्थंकरके तीर्थमें सातवें बलभद्र और नारायण हुए थे वे अपनेसे पूर्व तीसरे भवमें अयोध्यानगरके राजपुत्र थे ॥ १०२ ॥ वे दोनों पिताके लिए प्रिय नहीं थे इसलिए पिताने उन्हें छोड़कर स्नेहवश अपने छोटे भाईके लिए युवराज पद दे दिया। यद्यपि छोटे भाईके लिए युवराज पद देनेका निश्चय नहीं था फिर भी राजाने उसे युवराज पद दे दिया ॥ १०३ ॥ दोनों भाइयोंने समझा कि यह सब मन्त्रीने ही किया है इसलिए वे उसपर बहुत कुपित हुए और उसपर वैर बाँध कर धर्मतीर्थके अनुगामी बन गये। उन्होंने शिवगुप्त मुनिराजकी शिष्यता स्वीकृत कर संयम धारण कर लिया। जिससे आयुके अन्तमें मरकर सौधर्म स्वर्गके सुविशाल नामक विमानमें देव पदको प्राप्त हो गये ॥ १०४-१०५ ॥ वहाँसे च्युत होकर बनारसके राजा इक्ष्वाकुवंशके शिरोमणि राजा अग्निशिखके प्रिय पुत्र हुए ॥ १०६ ॥ क्रमशः अपराजिता और केशवती उन दोनोंकी माताएँ थीं। नन्दिमित्र बड़ा भाई था और दत्त छोटा भाई था ॥ १०७ ॥ बत्तीस हजार वर्षकी उनकी आयु थी। बाईस धनुष ऊँचा शरीर था, क्रमसे चन्द्रमा और इन्द्रनील मणिके समान उनके शरीरका वर्ण था और दोनों ही श्रेष्ठतम थे ॥ १०८ ॥

तदनन्तर—जिसका वर्णन पहले आ चुका है ऐसा मन्त्री, संसार-सागरमें भ्रमण कर क्रमसे विजयार्ध पर्वत पर स्थित मन्दरपुर नगरका स्वामी बलीन्द्र नामका विद्याधर राजा हुआ। किसी एक दिन बाधा डालनेवाले उस बलीन्द्रने अहंकारवश तुम्हारे पास सूचना भेजी कि तुम दोनोंके पास जो भद्रक्षीर नामका प्रसिद्ध बड़ा गन्धगज है वह हमारे ही योग्य है अतः हमारे लिए ही दिया जावे ॥ १०९-१११ ॥ दूतके वचन सुनकर उन दोनोंने उत्तर दिया कि यदि तुम्हारा स्वामी बलीन्द्र हम

---

१ सम्भूताम् ल० । २ म पुस्तके एवं पाठः 'सोऽन्येद्युर्युवयोर्भद्र क्षीरोदाख्योऽतिविश्रुतिः । बलीन्द्राभिधया ख्यातो जातो विद्याधराधिपः' ॥ ११० ॥

इति प्रत्याहतुः कर्णकटुकं तदुदीरितम् । समाकर्ण्य बलीन्द्राख्यो विभ्रत्कालानुकारिताम् ॥ ११३ ॥
योद्धुमाभ्यां समं भीमकोपः सन्नद्धवाँस्तदा । खगेन्द्रो दक्षिणश्रेण्यां[1] सुरकान्तारपूःपतिः ॥ ११४ ॥
केशवत्या महाभ्राता सम्मेदाद्रौ सुसाधिते । सिंहपक्षीन्द्रवाहिन्यौ [2]महाविद्ये यथाविधि ॥ ११५ ॥
दत्वा ताभ्यां कुमाराभ्यां नाम्ना केसरिविक्रमः । तदीयकार्यसाहाय्यं बन्धुत्वेनावमन्यत ॥ ११६ ॥
तयोस्तुमुलयुद्धेन [3]बलयोर्बलिनोरभूत् । संग्रामः क्षयकालो वा संहरन् सकलाः प्रजाः ॥ ११७ ॥
तत्र मायामये युद्धे बलीन्द्रतनयं क्रुधा । [4]मुखं शतबलिं मृत्योः सीरपाणिरनीनयत् ॥ ११८ ॥
बलीन्द्रेणापि तं दृष्ट्वा समुत्पन्नरुषात्मनः । प्रहितं चक्रमु[5]द्दिश्य केशवं कौशिकोपमम् ॥ ११९ ॥
तत्तं प्रदक्षिणीकृत्य दक्षिणं बाहुमाश्रितम् । तदेवादाय दत्तोऽपि हत्वा तं तच्छिरोऽग्रहीत् ॥ १२० ॥
युद्धान्ते तौ तदा वीरौ प्रदत्ताभयघोषणौ । त्रिखण्डधरणीचक्रं सचक्रं चक्रतुः स्वकम् ॥ १२१ ॥
चिरं राज्यसुखं भुक्त्वा स्वायुरन्ते स चक्रभृत् । बद्ध्वायुर्नारकं घोरम[6]वधिस्थानमेयिवान् ॥ १२२ ॥
तन्निर्वेदेन रामोऽपि सम्भूतजिनसन्निधौ । दीक्षित्वा बहुभिर्भूपैरभूद[7]गृहकेवली ॥ १२३ ॥

स्रग्धरा

जातौ साकेतपुर्यां प्रथितनृपसुतौ तौ समादाय दीक्षां
प्रान्ते सौधर्मकल्पे प्रणिहितमनसौ देवभावप्रयातौ ।
वाराणस्यामभूतां पुरुकुलतिलकौ नन्दमित्रश्च दत्तो
दत्तोऽसौ सप्तमीं क्ष्मां समगमदपरोऽप्याप कैवल्यलक्ष्मीम् ॥ १२४ ॥

दोनोंके लिए अपनी पुत्रियाँ देवे तो उसे यह गन्धगज दिया जा सकता है अन्यथा नहीं दिया जा सकता ॥ ११२ ॥ इस प्रकार कानोंको अप्रिय लगनेवाला उनका कहना सुनकर बलीन्द्र अत्यन्त कुपित हुआ । वह यमराजका अनुकरण करता हुआ उन दोनोंके साथ युद्ध करनेके लिए तैयार हो गया । उस समय दक्षिणश्रेणीके सुरकान्तार नगरके स्वामी केसरिविक्रम नामक विद्याधरोंके राजाने जो कि दत्तकी माता केशवतीका बड़ा भाई था सम्मेदशिखर पर विधिपूर्वक सिंहवाहिनी और गरुड़वाहिनी नामकी दो विद्याएँ उक्त दोनों कुमारोंके लिए दे दीं और भाईपना मानकर उनके कार्यमें सहायता देना स्वीकृत कर लिया ॥ ११३-११६ ॥ तदनन्तर उन दोनोंकी बलवान् सेनाओंका प्रलयकालके समान समस्त प्रजाका संहार करनेवाला भयङ्कर संग्राम हुआ ॥ ११७ ॥ बलीन्द्रके पुत्र शतबलि और बलभद्रमें खूब ही मायामयी युद्ध हुआ । उसमें बलभद्रने शतबलिको क्रोधवश यमराजके मुखमें पहुंचा दिया ॥ ११८ ॥ यह देख, बलीन्द्रको क्रोध उत्पन्न हो गया । उसने इन्द्रके तुल्य नारायणदत्तको लक्ष्य कर अपना चक्र चलाया परन्तु वह चक्र प्रदक्षिणा देकर उसकी दाहिनी भुजा पर आ गया । दत्तनारायणने उसी चक्रको लेकर उसे मार दिया और उसका शिर हाथमें ले लिया ॥ ११९-१२० ॥ युद्ध समाप्त होते ही उन दोनों वीरोंने अभय घोषणा की और चक्र सहित तीनों खण्डोंके पृथिवी-चक्रको अपने आधीन कर लिया ॥ १२१ ॥ चिरकाल तक राज्य सुख भोगनेके बाद चक्रवर्ती—नारायणदत्त, नरकगति सम्बन्धी भयङ्कर आयुका बन्ध कर सातवें नरक गया ॥ १२२ ॥ भाईके वियोगसे बलभद्रको बहुत वैराग्य हुआ अतः उसने सम्भूत जिनेन्द्रके पास अनेक राजाओंके साथ दीक्षा ले ली तथा अन्तमें केवली होकर मोक्ष प्राप्त किया ॥ १२३ ॥

जो पहले अयोध्यानगरमें प्रसिद्ध राजपुत्र हुए थे, फिर दीक्षा लेकर आयुके अन्तमें सौधर्म-स्वर्गमें देव हुए, वहाँसे च्युत होकर जो बनारस नगरमें इक्ष्वाकु वंशके शिरोमणि नन्दिमित्र और दत्त नामके बलभद्र तथा नारायण हुए। उनमेंसे दत्त तो मर कर सातवीं भूमिमें गया और नन्दिषेण

---

१ दक्षिणाश्रेण्यां क०, घ० । २ महाविद्यौ ख० । ३ बलिनोर्बलिनोरभूत् ख० । ४ मुखे म० । ५-मुद्यम्य ख० । ६-मनधिस्थान-ख० । ७-रभूद्गृह-ख० ।

वसन्ततिलका

मन्त्री चिरं जननवारिनिधौ भ्रमित्वा
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
पश्चाद् बलीन्द्र इति नामधरः खगेशः ।
दत्तादवाप्तमरणो नरकं दुरन्तं
प्रापप्ततः परिहरन्त्वनुबद्धवैरम् ॥ १२५ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे मल्लितीर्थंकर–पद्मचक्रि–नन्दिमित्र-बलदेव-दत्तनामवासुदेव–बलीन्द्राख्यप्रतिवासुदेवपुराणं परिसमाप्तम् ॥ ६६ ॥

—:❀०❀:—

कैवल्य-लक्ष्मीको प्राप्त हुआ ॥ १२४ ॥ मंत्रीका जीव चिरकाल तक संसार-सागरमें भ्रमण कर पीछे बलीन्द्र नामका विद्याधर हुआ और दत्त नारायणके हाथसे मरकर भयंकर नरकमें पहुँचा, इसलिए सज्जन पुरुषोंको वैरका संस्कार छोड़ देना चाहिये ॥ १२५ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें मल्लिनाथतीर्थंकर, पद्मचक्रवर्ती, नन्दिमित्र बलदेव, दत्त नारायण और बलीन्द्र प्रति-नारायणके पुराणका वर्णन करने वाला छयासठवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

—+++—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सप्तषष्टितमं पर्व

निवृत्तौ व्रतशब्दार्थो यस्याभूत् सर्ववस्तुषु । देयाद्वः स व्रतं स्वस्य सुव्रतो मुनिसुव्रतः ॥ १ ॥
तृतीये जन्मनीहासीज्जिनेन्द्रो मुनिसुव्रतः । भारतेऽङ्गाख्यविषये नृपश्चम्पापुराधिपः ॥ २ ॥
हरिवर्माभिधोऽन्येद्युरथोद्याने जिनेश्वरम् । [1]अनन्तवीर्यनाम्नासावनगारं ववन्दिषुः ॥ ३ ॥
गत्वात्मपरिवारेण ससपर्यः परीत्य तम् । त्रिः समभ्यर्च्य वन्दित्वा प्राक्षीद्धर्मं सनातनम् ॥ ४ ॥
संसारी मुक्त इत्यात्मा [2]द्विधा कर्मभिरष्टभिः । बद्धं संसारिणं प्राहुस्तैर्मुक्तो मुक्त इष्यते ॥ ५ ॥
मूलभेदेन तान्यष्टौ ज्ञानावृत्यादिनामभिः । ज्ञेयान्युत्तरभेदेन वस्व[3]ब्ध्येकोक्तसङ्ख्यया ॥ ६ ॥
बन्धश्चतुःप्रकारः स्यात्प्रकृत्यादिविकल्पितः । प्रत्ययोऽपि चतुर्भेदो मिथ्यात्वादिर्जिनोदितः ॥ ७ ॥
उदयादिविकल्पेन कर्मावस्था चतुर्विधा । संसारः पञ्चधा प्रोक्तो द्रव्यक्षेत्रादिलक्षणः ॥ ८ ॥
रोधो गुप्त्यादिभिस्तेषां तपसा रोधनिर्जरे । तुरीयशुक्लध्यानेन मोक्षः सिद्धस्ततो भवेत् ॥ ९ ॥
कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षो निर्जरा त्वेकदेशतः । [4]मुक्तस्यातुलमत्यन्तरायमात्यन्तिकं सुखम् ॥ १० ॥
इत्यादि तत्त्वसर्वस्वं भगवांस्तमबूबुधत् । स्ववचोरश्मिजालेन भव्याब्जानां प्रबोधकः ॥ ११ ॥
सोऽपि तत्तत्त्वसद्भावमवगम्य यथोदितम् । निर्विद्य संसृतेर्ज्येष्ठपुत्रे राज्यं नियोज्य तत् ॥ १२ ॥
ग्रन्थद्वयपरित्यागे पटुश्चटुलमायया । संयमं बहुभिः सार्द्धं मूर्धन्यैरूर्ध्वगामिभिः ॥ १३ ॥
अवादीधरदेकादशाङ्गानि गुरुसङ्गमात् । अबध्नात्तीर्थकृद्गोत्रं श्रद्धाशुद्ध्यादिभावनः ॥ १४ ॥

जिनके नामके व्रत शब्दका अर्थ सभी पदार्थोंका त्याग था और जो उत्तम व्रतके धारी थे ऐसे श्री मुनिसुव्रत भगवान् हम सबके लिए अपना व्रत प्रदान करें ॥ १ ॥ भगवान् मुनिसुव्रतनाथ इस भवसे पूर्व तीसरे भवमें इसी भरतक्षेत्रके अंग देशके चम्पापुर नगरमें हरिवर्मा नामके राजा थे। किसी एक दिन वहाँके उद्यानमें अनन्तवीर्य नामके निर्ग्रन्थ मुनिराज पधारे। उनकी वन्दना करने की इच्छासे राजा हरिवर्मा अपने समस्त परिवारके साथ पूजाकी सामग्री लेकर उनके पास गये। वहाँ उन्होंने उक्त मुनिराजकी तीन प्रदक्षिणाएं दीं, तीन बार पूजा की, तीनवार वन्दना की और तदनन्तर सनातन धर्मका स्वरूप पूछा ॥ २-४ ॥ मुनिराजने कहा कि यह जीव संसारी और मुक्तके भेदसे दो प्रकारका है। जो आठ कर्मोंसे बद्ध है उसे संसारी कहते हैं और जो आठ कर्मोंसे मुक्त है—रहित है उसे मुक्त कहते हैं ॥ ५ ॥ उन कर्मोंके ज्ञानावरणादि नामवाले आठ मूल भेद हैं और उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस हैं ॥ ६ ॥ प्रकृति आदिके भेदसे बन्धके चार भेद हैं और मिथ्यात्व अविरति कषाय तथा योगके भेदसे प्रत्यय-कर्मबन्धका कारण भी चार प्रकारका जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है ॥ ७ ॥ उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके भेदसे कर्मोंकी अवस्था चार प्रकारकी होती है तथा द्रव्य क्षेत्र काल भव और भावकी अपेक्षा संसार पाँच प्रकारका कहा गया है ॥ ८ ॥ गुप्ति आदिके द्वारा उन कर्मोंका संवर होता है तथा तपके द्वारा संवर और निर्जरा दोनों होते हैं। चतुर्थ शुक्लध्यानके द्वारा मोक्ष होता है और मोक्ष होनेसे यह जीव सिद्ध कहलाने लगता है ॥ ९ ॥ सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय हो जाना मोक्ष कहलाता है और एकदेश क्षय होना निर्जरा कही जाती है। मुक्त जीवका जो सुख है वह अतुल्य अन्तरायसे रहित एवं आत्यन्तिक-अन्तातीत होता है ॥ १० ॥ इस प्रकार अपने वचनरूपी किरणोंकी जालसे भव्यजीवरूपी कमलोंको विकसित करनेवाले भगवान् अनन्तवीर्य मुनिराजने राजा हरिवर्माको तत्त्वका उपदेश दिया ॥ ११ ॥ राजा हरिवर्मा भी मुनिराजके द्वारा कहे हुए तत्त्वके सद्भावको ठीक-ठीक समझकर संसारसे विरक्त हो गये। उन्होंने अपना राज्य बड़े पुत्रके लिए देकर बाह्याभ्यन्तरके भेदसे दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग कर दिया और शीघ्र ही

---

१ अनन्तवीर्यं नाम्ना ल० । २ द्वेधा क०, घ०, म० । ३ वस्वब्ध्येकसंख्यया ल० । ४ युक्तस्य ल० ।

चिरमेवं तपः कृत्वा प्रान्ते स्वाराधनाविधिः । भविष्यत्पञ्चकल्याणः प्राणतेन्द्रोऽभवद्विभुः ॥ १५ ॥
सागरोपमविंशत्यामितायुः शुक्ललेश्यकः । साद्धारत्नित्रयोत्सेधो मासैर्दशभिरुच्छ्वसन् ॥ १६ ॥
संवत्सरसहस्राणां विंशत्याहारनिर्वृतिः । मनाग्मनःप्रवीचारभोगोऽष्टर्द्धिसमन्वितः ॥ १७ ॥
आपञ्चमावनेरात्मगोचरव्याप्तावधिः । तत्क्षेत्रमितशक्त्यादिश्चिरं तत्रान्वभूत् सुखम् ॥ १८ ॥
तस्मिन् षण्मासशेषायुष्यागमिष्यति भूतलम् । जन्मगेहाङ्गणं तस्य रत्नवृष्ट्यार्चितं सुरैः ॥ १९ ॥
अत्रैव भरते [1]राजा पुरे राजगृहाह्वये । सुमित्रो मगधाधीशो हरिवंशशिखामणिः ॥ २० ॥
गोत्रेण काश्यपस्तस्य देवी सोमाह्वया सुरैः । पूजिता श्रावणे मासि नक्षत्रे श्रवणे दिने ॥ २१ ॥
स्वप्नान् कृष्णद्वितीयायां स्वर्गावतरणोन्मुखे । प्राणतार्धीश्वरेऽपश्यत् षोडशेष्टार्थसूचकान् ॥ २२ ॥
गजराजं च वक्त्रं स्वं प्रविशन्तं प्रभाविनम् । तेनैव परितोषेण प्रबुद्धा शुद्धवेषभृत् ॥ २३ ॥
नृपमावेदयत्स्वप्नास्तत्फलश्रवणेच्छया । सावधिः सोऽप्यभाषिष्ट सम्भूतिं त्रिजगत्पतेः ॥ २४ ॥
तद्वाक्श्रवणसम्फुल्लमनोवदनपङ्कजा । तदैवायातदेवेन्द्रकृताभिषवणोत्सवा ॥ २५ ॥
सुरोपनीतभोगोपभोगैः [2]स्वर्गसुखावहैः । नवमं मासमासाद्य सुखेनासूत [3]सुप्रजाम् ॥ २६ ॥
संवत्सरचतुःपञ्चाशल्लक्षप्रमितं [4]व्रजन् । महीशतीर्थसन्तानकालान्तर्गतजीवितम् ॥ २७ ॥
तज्जन्मसमयायातैः स्वदीप्तिव्याप्तदिङ्मुखैः । मेरौ सुरेन्द्रैः सम्प्राप मुनिसुव्रतसुश्रुतिम् ॥ २८ ॥

स्वर्ग अथवा मोक्ष जानेवाले राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया ॥ १२–१३ ॥ उन्होंने गुरुके समागमसे ग्यारह अंगोंका अध्ययन किया और दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओंका चिन्तवन कर तीर्थंकर गोत्रका बन्ध किया ॥ १४ ॥ इस तरह चिर कालतक तपकर आयुके अन्तमें समाधिमरणके द्वारा, जिसके आगे चलकर पाँच कल्याणक होनेवाले हैं ऐसा प्राणत स्वर्गका इन्द्र हुआ ॥ १५ ॥ वहाँ बीस सागर प्रमाण उसकी आयु थी, शुक्ल लेश्या थी, साढे तीन हाथ ऊंचा शरीर था, वह दश माहमें एक बार श्वास लेता था, बीस हजार वर्षमें एक बार आहार ग्रहण करता था, मन-सम्बन्धी थोड़ासा कामभोग करता था, और आठ ऋद्धियोंसे सहित था ॥ १६–१७ ॥ पाँचवीं पृथ्वी तक उसके अवधिज्ञानका विषय था और उतनी ही दूर तक उसकी दीप्ति तथा शक्ति आदिका संचार था। इस प्रकार वह वहाँ चिरकाल तक सुखका उपभोग करता रहा। जब उसकी आयु छह-माहकी बाकी रह गई और वह वहाँ पृथिवी तलपर आने वाला हुआ तब उसके जन्मगृहके आंगनकी देवोंने रत्नवृष्टिके द्वारा पूजा की ॥ १८–१९ ॥

इसी भरतक्षेत्रके मगधदेशमें एक राजगृह नामका नगर है। उसमें हरिवंशका शिरोमणि सुमित्र नामका राजा राज्य करता था ॥ २० ॥ वह काश्यपगोत्री था, उसकी रानीका नाम सोमा था, देवोंने उसकी पूजा की थी। तदनन्तर श्रावण कृष्ण द्वितीयाके दिन श्रवण नक्षत्रमें जब पूर्वोक्त प्राणतेन्द्र स्वर्गसे अवतार लेनेके सन्मुख हुआ तब रानी सोमाने इष्ट अर्थको सूचित करने वाले सोलह स्वप्न देखे और उनके बाद ही अपने मुँहमें प्रवेश करता हुआ एक प्रभावशाली हाथी देखा। इसी हर्षसे वह जाग उठी और शुद्ध वेषको धारणकर राजाके पास गई। वहाँ फल सुननेकी इच्छासे उसने राजाको सब स्वप्न सुनाये ॥ २१–२३ ॥ अवधिज्ञानी राजाने बतलाया कि तुम्हारे तीन जगत्के स्वामी जिनेन्द्र भगवान्का जन्म होगा ॥२४॥ राजाके वचन सुनते ही रानीका हृदय तथा मुखकमल खिल उठा। उसी समय देवोंने आकर उसका अभिषेकोत्सव किया ॥ २५ ॥ स्वर्गीय सुख प्रदान करने वाले देवोपनीत भोगोपभोगोंसे उसका समय आनन्दसे बीतने लगा। अनुक्रमसे नवमा माह पाकर उसने सुखसे उत्तम बालक उत्पन्न किया ॥ २६ ॥ श्रीमल्लिनाथ तीर्थंकरके बाद जब चौवन लाख वर्ष बीत चुके तब इनका जन्म हुआ था, इनकी आयु भी इसीमें शामिल थी ॥ २७ ॥ जन्म-समयमें आये हुए एवं अपनी प्रभासे समस्त दिङ्मण्डलको व्याप्त करने वाले इन्द्रोंने सुमेरु पर्वतपर

---

१ राशां ल० । २ भोगैश्वर्य म०, ल० । ३ सुप्रजाम् ल० । ४ प्रमितव्रजन् ल० ।

त्रिंशत्सहस्रवर्षायुश्चापविंशतिसम्मितः । [1]सर्पाशनगलच्छायः सम्पन्नाखिललक्षणः ॥ २९ ॥
खद्वयेन्द्रियसप्ताङ्कवर्षैः कौमारनिर्गमे । राज्याभिषेकं सम्प्राप्य प्राप्तानन्दपरम्परः ॥ ३० ॥
शून्यत्रिकेन्द्रियैकोक्तसंवत्सरपरिक्षये । गर्जद्घनघटाटोपसमये यागहस्तिनः ॥ ३१ ॥
वनस्मरणसन्त्यक्तकवलग्रहणं नृपः । निरीक्ष्यावधिनेत्रेण विज्ञातैतन्मनोगतः ॥ ३२ ॥
सत्पूर्वभवसंबद्धं कौतूहलवतां नृणाम् । अवोचद् वृत्तिमित्युच्चैः स मनोहरया गिरा ॥ ३३ ॥
पूर्वं तालपुराधीशो नाम्ना नरपतिर्नृपः । महाकुलाभिमानादिदुर्लेश्याविष्टचित्तकः ॥ ३४॥
पात्रापात्रविशेषानभिज्ञः कुज्ञानमोहितः । दत्त्वा किमिच्छकं दानं तत्फलात्समभूदिभः ॥ ३५ ॥
नाज्ञानं स्मरति प्राच्यं न राज्यं पूज्यसम्पदम् । कुदानस्य च नैःफल्यं वनं स्मरति दुर्मतिः ॥ ३६ ॥
तद्वचःश्रवणोत्पन्नस्वपूर्वभवसंस्मृतेः । संयमासंयमं सद्यो जग्राह गजसत्तमः ॥ ३७ ॥
तत्प्रत्ययसमुत्पन्नबोधिस्त्यागोन्मुखो नृपः । लौकान्तिकैस्तदैवैत्य प्रस्तुतोक्त्या प्रतिश्रुतः ॥ ३८ ॥
स्वराज्यं युवराजाय[2] विजयाय वितीर्य सः । सुरैः सम्प्राप्तनिःक्रान्तिकल्याणद्रुमधीगुणः (?) ॥३९॥
अपराजितनामोरुशिबिकामधिरूढवान् । रूढकीर्तिः क्षरन्मूढिरूढो नरखगा[3]मरैः ॥ ४० ॥
प्राप्य षष्ठोपवासेन वनं नीलाभिधानकम् । वैशाखे बहुले पक्षे श्रवणे दशमीदिने ॥ ४१ ॥
सहस्रभूपैः सायाह्ने सह[4] संयममग्रहीत् । कैश्यमीशः सुरेशानां सुरेशो विश्वदृश्वनः ॥ ४२ ॥

ले जाकर उनका जन्माभिषेक किया और पुनर्वसुव्रतनाथ यह नाम रक्खा ॥ २८ ॥ उनकी आयु तीस हजार वर्षकी थी, शरीरकी ऊंचाई बीस धनुषकी थी, कान्ति मयूरके कण्ठके समान नीली थी, और स्वयं वे समस्त लक्षणोंसे सम्पन्न थे ॥ २९ ॥ कुमार कालके सात हजार पाँच सौ वर्ष बीत जानेपर वे राज्याभिषेक पाकर आनन्दकी परम्पराको प्राप्त हुए थे ॥ ३० ॥ इस प्रकार जब उनके पन्द्रह हजार वर्ष बीत गये तब किसी दिन गर्जती हुई घन-घटाके समय उनके यागहस्तीने वनका स्मरण कर ग्रास उठाना छोड़ दिया—खाना पीना बन्द कर दिया। महाराज मुनिसुव्रतनाथ, अपने अवधिज्ञान रूपी नेत्रके द्वारा देख कर उस हाथीके मनकी सब बात जान गये। वे कुतूहलसे भरे हुए मनुष्योंके सामने हाथीके पूर्वभवसे सम्बन्ध रखने वाला वृत्तान्त उच्च एवं मनोहर वाणीसे इस प्रकार कहने लगे ॥ ३१–३३ ॥ पूर्व भवमें यह हाथी तालपुर नगरका स्वामी नरपति नामका राजा था, वहाँ अपने उच्च कुलके अभिमान आदि खोटी-खोटी लेश्याओंसे इसका चित्त सदा घिरा रहता था, वह पात्र और अपात्रकी विशेषतासे अनभिज्ञ था, मिथ्या ज्ञानसे सदा मोहित रहता था। वहाँ इसने किमिच्छक दान दिया था उसके फलसे यह हाथी हुआ है ॥ ३४–३५ ॥ यह हाथी इस समय न तो अपने पहले अज्ञानका स्मरण कर रहा है, न पूज्य सम्पदासे युक्त राज्यका ध्यान कर रहा है और न कुदानकी निष्फलताका विचार कर रहा है ॥ ३६ ॥ भगवान्के वचन सुननेसे उस उत्तम हाथीको अपने पूर्व भवका स्मरण हो आया इस लिए उसने शीघ्र ही संयमासंयम धारण कर लिया ॥ ३७ ॥ इसी कारणसे भगवान् मल्लिनाथको आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया जिससे वे समस्त परिग्रहोंका त्याग करनेके लिए सम्मुख हो गये। उसी समय लौकान्तिक देवोंने आकर उनकी स्तुति की तथा उनके विचारोंका समर्थन किया ॥ ३८ ॥ उन्होंने युवराज विजयके लिए अपना राज्य देकर देवोंके द्वारा दीक्षा-कल्याणकका महोत्सव प्राप्त किया ॥ ३९ ॥ जिनकी कीर्ति प्रसिद्ध है, जिनका मोहकर्म दूर हो रहा है, और मनुष्य विद्याधर तथा देव जिन्हें ले जा रहे हैं ऐसे वे भगवान् अपराजित नामकी बिशाल पालकीपर सवार हुए ॥ ४० ॥ नील नामक वनमें जाकर उन्होंने वेलाके उपवासका नियम लिया और वैशाख कृष्ण दशमीके दिन श्रवण नक्षत्रमें सायंकालके समय एक हजार राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया। शाश्वतपद–मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा करने वाले सौधर्म इन्द्रने सर्वदर्शी भगवान् मल्लिनाथके बालोंका समूह पञ्चम-

---

१ सहसान ल०, म० । सर्पाशनः सहसानश्च, उभयोर्मयूरोऽर्थः । २ युवराज्याय ल० । ३ खगाधिपैः क०, घ० । ४ समं म०, ल० ।

शाश्वतं पदमन्विच्छन् प्रापयत्पञ्चमाम्बुधिम् । चतुर्थावगमः शुद्धमताप्सीत् सोऽप्यलं तपः ॥ ४३ ॥
समभावनया तृप्यन् तृप्तोऽपि तनुसंस्थितेः । कदाचित्पारणाकाले प्रायाद्राजगृहं पुरम् ॥ ४४ ॥
प्रदाय प्रासुकाहारं तस्मै चामीकरच्छविः । नृपो वृषभसेनाख्यः पञ्चाश्चर्यमवापिवान् ॥ ४५ ॥
मासोनवत्सरे याते छाद्मस्थ्ये स्वतपोवने । चम्पकद्रुममूलस्थो विहितोपोषितद्वयः ॥ ४६ ॥
स्वदीक्षापक्षनक्षत्रसहिते नवमीदिने । सायाह्ने केवलज्ञानं सद्ध्यानेनोदपादयत् ॥ ४७ ॥
ततस्तदागमत्तेनेन्द्रास्तत्कल्याणं व्यधुर्मुदा । मानस्तम्भादिविन्यासविविधर्द्धिविभूषितम् ॥ ४८ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
मल्लिप्रभृतयोऽभूवन्नष्टादशगणेशिनः । द्वादशाङ्गधराः पञ्चशतानि परमेष्ठिनः ॥ ४९ ॥
शिक्षकास्तस्य सद्वन्द्याः सहस्राण्येकविंशतिः । भर्त्तुरष्टशतं प्रान्तसहस्रमवधीक्षणाः ॥ ५० ॥
तावन्तः केवलज्ञानाः विक्रियर्द्धिसमृद्धयः । द्विशतद्विसहस्राणि चतुर्थज्ञानधारिणः ॥ ५१ ॥
[1]सहस्रार्द्धं सहस्रं तु वादिनां द्विशताधिकम् । [2]सहस्रं पिण्डिताखिंशत्सहस्राणि मुनीश्वराः ॥ ५२ ॥
[3]पुष्पदन्तादयः पञ्चाशत्सहस्राणि चार्यिकाः । एकाः श्रावकाः लक्ष्याः त्रिगुणाः श्राविकास्ततः ॥५३॥
असङ्ख्यातो मरुत्सङ्घः सङ्ख्यातो द्वादशो गणः । एषां धर्मं ब्रुवन्नार्यक्षेत्राणि व्यहरच्चिरम् ॥ ५४ ॥
विहृत्य मासमात्रायुः सम्मेदाचलमूर्द्धनि । प्रतिमायोगधारी सन् ससहस्रमुनीश्वराः ॥ ५५ ॥
फाल्गुने श्रवणे कृष्णद्वादश्यां निशि पश्चिमे । भागे हित्वा तनुं मुक्तिमवापन्मुनिसुव्रतः ॥ ५६ ॥
कृत्वा पञ्चमकल्याणसपर्यामूर्जितोदयम्[4] । वन्दित्वा सुरवन्दारुवृन्दं यातं यथायथम्[5] ॥५७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

व्यासं त्वत्प्रभया सदो विजयते नीलोत्पलानां वनं
ध्वान्तं वाक् च मनोगतं श्रुतवतीमां भानुजां भासुराम् ।

सागर-क्षीरसागर भेज दिया। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया और इस तरह उन्होंने दीर्घकाल तक शुद्ध तथा निर्मल तप किया ॥ ४१–४३ ॥ यद्यपि वे समभावसे ही तृप्त रहते थे तथापि किसी दिन पारणाके समय राजगृह नगरमें गये ॥ ४४ ॥ वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले वृषभसेन नामक राजाने उन्हें प्रासुक आहार देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ ४५ ॥ इस प्रकार तपश्चरण करते हुए जब छद्मस्थ अवस्थाके ग्यारह माह व्यीत चुके तब वे अपने दीक्षा लेनेके वनमें पहुँचे। वहाँ उन्होंने चम्पक वृक्षके नीचे स्थित हो कर दो दिनके उपवासका नियम लिया और दीक्षा लेनेके मास पक्ष नक्षत्र तथा तिथिमें ही अर्थात् वैशाख कृष्ण नवमीके दिन श्रवण नक्षत्रमें शामके समय उत्तम ध्यानके द्वारा केवलज्ञान उत्पन्न कर लिया ॥ ४६–४७ ॥ उसी समय इन्द्रोंने आकर बड़े हर्षसे ज्ञानकल्याणकका उत्सव किया और मानस्तम्भ आदिकी रचना तथा अनेक ऋद्धियों—सम्पदाओंसे विभूषित समवसरणकी रचना की ॥ ४८ ॥ उन परमेष्ठीके मल्लिको आदि ले कर अठारह गणधर थे, पांच सौ द्वादशांगके जानने वाले थे, सज्जनोंके द्वारा वन्दना करनेके योग्य इक्कीस हजार शिक्षक थे, एक हजार आठसौ अवधिज्ञानी थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, दो हजार दो सौ विक्रिया ऋद्धिके धारक थे, एक हजार पांचसौ मनःपर्ययज्ञानी थे, और एक हजार दो सौ वादी थे। इस प्रकार सब मिलाकर तीस हजार मुनिराज उनके साथ थे ॥ ४९–५२ ॥ पुष्पदन्ताको आदि लेकर पचास हजार आर्यिकाएं थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएं थीं, संख्यात तिर्यञ्च और असंख्यात देव देवियोंका समूह था। इस तरह उनकी बारह सभाएं थीं। इन सबके लिए धर्मका उपदेश देते हुए उन्होंने चिरकालतक आर्य क्षेत्रमें विहार किया। विहार करते-करते जब उनकी आयु एक माहकी बाकी रह गई तब सम्मेदशिखरपर जाकर उन्होंने एक हजार मुनियोंके साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया और फाल्गुन कृष्ण द्वादशीके दिन रात्रिके पिछले भागमें शरीर छोड़कर मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥ ५३–५६ ॥ उसी समय श्रेष्ठ देवोंके समूहने आकर पञ्चमकल्याणककी पूजा की, बड़े वैभवके साथ वन्दना की और तदनन्तर सब देव यथास्थान चले गये ॥ ५७ ॥

---

१ सहार्धेन सहस्रं तु क०, घ०। २ पिण्डिताः पण्डितार्खिंशत् ल०। ३ पुष्पदत्तादयः ल०। ४–मूर्जितोदयाम् ल० । ५ यथातथम् ल० ।

बोधश्चाखिलजं तमो व्यपहरद् ब्रघ्नं जगद्वन्दितं,
वन्दे तन्मुनिसुव्रतस्य भगवन्सार्द्धं तवेन्द्रादिभिः ॥ ५८ ॥
कार्यं कारणतो गुणं च [1]गुणिनो भेदं च सामान्यतो
वक्त्येकः पृथगेव कोऽप्यपृथगित्येकान्ततो न द्वयम् ।
तत्सर्वं घटते तवैव नयसंयोगात्ततस्त्वं सता-
मासोऽभूर्मुनिसुव्रताय भगवंस्तुभ्यं नमः कुर्महे ॥ ५९ ॥
प्रागासीद्धरिवर्मनामनृपतिर्लब्ध्वा तपो बद्धवान्
नामान्त्यं बहुभावनः शुचिमतिर्यः प्राणतेन्द्रोऽभवत् ।
च्युत्वाऽस्मान्मुनिसुव्रतो हरिकुलव्योमामलेन्दुर्जिनो
भूत्वा भव्यकुमुद्वतीं व्यकचयल्लक्ष्मीं प्रदिश्यात्मनः ॥ ६० ॥
तत्तीर्थं एव चक्रेशो हरिषेणसमाह्वयः । स [2]तृतीयभवेऽनन्तजिनतीर्थे नृपो महान् ॥ ६१ ॥
कृत्वा तपः समुत्कृष्टं कोऽपि केनापि हेतुना । सनत्कुमारकल्पेऽभूत्सुविशालविमानके[3] ॥ ६२ ॥
षट्सागरोपमात्मायुर्भुक्त्वा भोगाननारतम् । ततः प्रच्युत्य तीर्थेऽस्मिन् राज्ये भोगपुरेशितुः ॥ ६३ ॥
प्रभोरिक्ष्वाकुवंशस्य पद्मनाभस्य भामिनी । [4]ऐराऽनयोः सुतो जातो हरिषेणः सुरोत्तमः ॥ ६४ ॥
समायुतमितात्मायुः [5]कनकच्छूरसच्छविः । धनुर्विंशतिमानाङ्गः [6]क्रमेणापूर्णयौवनः ॥ ६५ ॥
कदाचित्तेन गत्वाऽमा पद्मनाभमहीपतिः[7] । जिनं मनोहरोद्यानेऽनन्तवीर्याभिधानकम् ॥ ६६ ॥
अभिवन्द्य ततः श्रुत्वा [8]तत्त्वं संसारमोक्षयोः । सन्त्यज्य [9]राजसीं वृत्तिं शमे स्थातुं समुत्सुकः ॥६७॥

हे प्रभो ! आपके शरीरकी प्रभासे व्याप्त हुई यह सभा ऐसी जान पड़ती है मानो नील कमलोंका वन ही हो, हृदयगत अन्धकारको नष्ट करने वाले आपके वचन सूर्यसे उत्पन्न दीप्तिको पराजित करते हैं, इसी तरह आपका ज्ञान भी संसारके समस्त पदार्थोंसे उत्पन्न हुए अज्ञानान्धकारको नष्ट करता है इसलिए हे भगवन् मुनिसुव्रतनाथ ! जिसे इन्द्रादि देवोंके साथ-साथ सब संसार नमस्कार करता है मैं आपके उस ज्ञानरूपी सूर्यको सदा नमस्कार करता हूँ ॥ ५८ ॥ कोई तो कारणसे कार्यको, गुणीसे गुणको और सामान्यसे विशेषको पृथक् बतलाते हैं और कोई एक—अपृथक् बतलाते हैं ये दोनों ही कथन एकान्तवादसे हैं अतः घटित नहीं होते परन्तु आपके नयके संयोगसे दोनों ही ठीक-ठीक घटित हो जाते हैं इसीलिए हे भगवन् ! सज्जनपुरुष आपको आप्त कहते हैं और इसीलिए हम सब आपको नमस्कार करते हैं ॥ ५९ ॥ जो पहले हरिवर्मा नामके राजा थे, फिर जिन्होंने तप कर तथा सोलह कारण भावनाओंका चिन्तवन कर तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध किया, तदनन्तर समाधिमरणसे शरीर छोड़कर प्राणतेन्द्र हुए और वहाँ से आकर जिन्होंने हरिवंशरूपी आकाशके निर्मल चन्द्रमास्वरूप तीर्थंकर होकर भव्यजीवरूपी कुमुदिनियोंको विकसित किया वे श्री मुनिसुव्रतनाथ जिनेन्द्र हम सबके लिए अपनी लक्ष्मी प्रदान करें ॥ ६० ॥

इन्हीं मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकरके तीर्थमें हरिषेण नामका चक्रवर्ती हुआ । वह अपनेसे पूर्व तीसरे भवमें अनन्तनाथ तीर्थंकरके तीर्थमें एक बड़ा भारी राजा था । वह किसी कारणसे उत्कृष्ट तप कर सनत्कुमार स्वर्गके सुविशाल नामक विमानमें छह सागरकी आयुवाला उत्तम देव हुआ । वहाँ निरन्तर भोगोंका उपभोग कर वहाँसे च्युत हुआ और श्रीमुनिसुव्रत नाथ तीर्थंकरके तीर्थमें भोगपुर नगरके स्वामी इक्ष्वाकुवंशी राजा पद्मनाभकी रानी ऐराके हरिषेण नामका उत्तम पुत्र हुआ ॥६१-६४ ॥ दशहजार वर्षकी उसकी आयु थी, देदीप्यमान कच्छूरसके समान उसकी कान्ति थी, चौबीस धनुष ऊंचा शरीर था और क्रम-क्रमसे उसे पूर्ण यौवन प्राप्त हुआ था ॥ ६५ ॥ किसी एक दिन राजा पद्मनाभ हरिषेणके साथ-साथ मनोहर नामक उद्यान में गये हुए थे वहाँ अनन्तवीर्य नामक जिनेन्द्र

---

१ गुणितो ल० । २ तृतीया ल० । ३ सुविशालविमानकः ल० । ४ ऐरा तयोः ल० । ५ कनकच्छूरस ल० । ६ क्रमेण ल० । ७ महामति ल० । ८ तत्त्वे क०, घ०, म० । ९ राजसां ल० ।

राज्यभारं समारोप्य सुते भूपतिभिः समम् । बहुभिः संयमं प्रापत्प्रपित्सुः परमं पदम् ॥६८॥
हरिषेणोऽप्युपादाय श्रावकव्रतमुत्तमम् । मुक्तेर्द्वितीयसोपानमिति मत्वाऽविशत्पुरम् ॥ ६९ ॥
तपस्यतश्चिरं घोरं पद्मनाभमहामुनेः । दीक्षावनेऽभूत्कैवल्यं प्रतिमायोगधारिणः ॥ ७० ॥
आसंश्चक्रातपत्रासिदण्डरत्नानि तद्दिने । हरिषेणमहीशस्य तदैवायुधवेश्मनि ॥ ७१ ॥
श्रीगृहे काकिणीचर्ममणिरत्नानि चाभवन् । युगपत्तुष्टचित्तोऽसौ नत्वा तद्द्वयशंसिने ॥ ७२ ॥
दत्वा तुष्टिधनं प्रायाज्जिनपूजाविधित्सया । पूजयित्वाभिवन्द्यैनं जिनं प्रति निवर्त्य सः ॥ ७३ ॥
पुरं प्रविश्य चक्रस्य कृतपूजाविधिर्दिशः । जेतुं समुद्यतस्तस्य तदानीमभवत्पुरे ॥ ७४ ॥
पुरोहितो गृहपतिः स्थपतिश्च चमूपतिः । हस्त्यश्वकन्यारत्नानि खगाद्रेरानयन्खगाः ॥ ७५ ॥
नदीमुखेषु सम्भूतान्नवनिधीन् । आनिन्यिरे[2] सपदि भक्त्या गणबद्धनामधेयाः सुराः ॥७६॥
स तैः श्लाघ्यषडङ्गेन बलेन प्रस्थितो दिशः । जित्वा तत्साररत्नानि स्वीकृत्य विजिताखिलः ॥ ७७ ॥
स्वराजधान्यां संसेव्यः सुरभूपखगाधिपैः । दशाङ्गभोगान्निर्व्यग्रं निर्विशन् सुचिरं स्थितः ॥ ७८ ॥
कदाचित्कार्तिके मासे नन्दीश्वरदिनेष्वयम् । कृत्वाऽष्टसु महापूजां सोपवासोऽन्तिमे दिने ॥ ७९ ॥
हर्म्यपृष्ठे सभामध्ये शारदेन्दुरिवाम्बरे । भासमानः समालोक्य राहुग्रासीकृतं विधुम् ॥ ८० ॥
धिगस्तु संसृतेर्भावं ज्योतिर्लोकैकनायकः । ग्रस्तस्तारापतिः कष्टं पूर्णः स्वैर्वेष्टितोऽप्ययम् ॥ ८१ ॥

की वन्दना कर उन्होंने उनसे संसार और मोक्षका स्वरूप सुना जिससे वे राजसी वृत्तिको छोड़ कर शान्त वृत्तिमें स्थित होनेके लिए उत्सुक हो गये ॥ ६६–६७ ॥ परमपद मोक्ष प्राप्त करनेके इच्छुक राजा पद्मनाभने राज्यका भार पुत्रके लिए सौंपा और बहुतसे राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया ॥ ६८ ॥ 'यह मोक्ष महल की दूसरी सीढ़ी है' ऐसा मानकर हरिषेणने भी श्रावकके उत्तम व्रत धारण कर नगरमें प्रवेश किया ॥ ६९ ॥ इधर चिर कालतक घोर तपश्चरण करते हुए पद्मनाभ मुनिराजने दीक्षावनमें ही प्रतिमायोग धारण किया और वहीं उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया ॥ ७० ॥ उसी दिन राजा हरिषेणकी आयुधशालामें चक्र, छत्र, खड्ग, और दण्ड ये चार रत्न प्रकट हुए तथा श्रीगृह में काकिणी, चर्म, और मणि ये तीन प्रकट हुए। समाचार देने वालोंने दोनों समाचार एक साथ सुनाये इसलिए हरिषेणका चित्त बहुत ही संतुष्ट हुआ। वह समाचार सुनानेवालोंके लिए बहुत-सा पुरस्कार देकर जिन-पूजा करनेकी इच्छासे निकला और जिनेन्द्र भगवान्की वन्दना कर वहाँसे वापिस लौट नगरमें प्रविष्ट हुआ। वहाँ चक्ररत्नकी पूजा कर वह दिग्विजय करनेके लिए उद्यत हुआ ही था कि उसी समय उसी नगरमें पुरोहित, गृहपति स्थपति, और सेनापति ये चार रत्न प्रकट हुए तथा विद्याधर लोग विजयार्ध पर्वतसे हाथी घोड़ा और कन्या रत्न ले आये ॥७१–७५॥ गणबद्धनाम के देव नदीमुखों–नदियोंके गिरनेके स्थानोंमें उत्पन्न हुई नौ बड़ी बड़ी निधियाँ भक्ति पूर्वक स्वयं ले आये ॥ ७६ ॥ उसने छह प्रकार की प्रशंसनीय सेनाके साथ प्रस्थान किया, दिशाओं को जीतकर उनके सारभूत रत्न ग्रहण किये, सब पर विजय प्राप्त की और अन्तमें देव, मनुष्य तथा विद्याधर राजाओंके द्वारा सेवित होते हुए उसने अपनी राजधानीमें प्रवेश किया। वहाँ वह दश प्रकारके भोगों का निराकुलतासे उपभोग करता हुआ चिरकाल तक स्थित रहा ॥ ७६–७८ ॥

किसी एक समय कार्तिक मासके नन्दीश्वर पर्व सम्बन्धी आठ दिनोंमें उसने महा पूजा की और अन्तिम दिन उपवासका नियम ले कर वह महलकी छतपर सभाके बीचमें बैठा था और ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो आकाशमें शरद ऋतुका चन्द्रमा सुशोभित हो। वहीं बैठे-बैठे उसने देखा कि चन्द्रमाको राहुने ग्रस लिया है ॥ ७९–८० ॥ यह देख वह विचार करने लगा कि संसार की इस अवस्थाको धिक्कार हो। देखो, यह चन्द्रमा ज्योतिर्लोकका मुख्य नायक है, पूर्ण है और अपने परिवारसे घिरा हुआ है फिर भी राहुने इसे ग्रस लिया। जब इसकी यह दशा है तब जिसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसा समय आनेपर दूसरोंकी क्या दशा होती होगी। इस

---

१ राजभारं क०, घ० । २ महाभक्त्या म०, ल० ।

अत्र का गतिरन्येषां प्राप्ते काले ऽविलङ्घिनि । विधौ विलसतीत्यात्तनिर्वेदो भरताधिपः ॥ ८२ ॥
अनुप्रेक्षास्वरूपाख्या मुखेन स्वसभास्थितान् । धर्मसारं निरूप्याशु कृत्वा तत्त्वार्थवेदिनः ॥ ८३ ॥
दत्त्वा राज्यं सतां पूज्यो महासेनाय सूनवे । तत्प्रार्थितेन सन्तर्प्य दीनानाथवनीपकान् ॥ ८४ ॥
श्रीनागजिनमासाद्य सीमन्ताचलसुस्थितम् । यथोक्तविधिना त्यक्त्वा सङ्गं व्यङ्गमनङ्गजित् ॥ ८५ ॥
[1]बहुभिः सह सम्प्राप्य संयमं शमसाधनम् । क्रमेण [2]प्राप्तबह्वृद्धिरायुरन्ते चतुर्विधाम् ॥ ८६ ॥
आराधनां समाराध्य प्रायोपगमनं श्रितः । क्षीणपापः कृपामूर्तिरापान्तिममनुत्तरम् ॥ ८७ ॥

भूपः कोऽपि पुरा श्रिया श्लितवपुः पापोपलेशाद् भृशं
बिभ्यत्प्राप्य तपो भवस्य शरणं मत्वा तृतीयेऽभवत् ।
कल्पेऽन्ते भुवमेत्य चक्रिपदवीं सम्प्राप्य भुक्त्वा सुखं
स श्रीमान् हरिषेणराजवृषभः सर्वार्थसिद्धिं ययौ ॥ ८८ ॥

तीर्थेऽस्मिन्नेव सम्भूतावष्टमौ रामकेशवौ । रामलक्ष्मणनामानौ तत्पुराणं निगद्यते ॥ ८९ ॥
इहैव भारते क्षेत्रे राष्ट्रे मलयनामनि । प्रजापतिमहाराजोऽजनि रत्नपुराधिपः ॥ ९० ॥
[3]तुक् तस्य गुणकान्तायां चन्द्रचूलसमाह्वयः । विजयाख्येन तस्यासीत्सम्प्रीतिर्मन्त्रिसूनुना ॥ ९१ ॥
पितृसल्लालितौ बालौ कुलादिमदचोदितौ । अभूतां दुष्टचारित्रौ दन्तिनौ वा निवर्तिनौ ॥ ९२ ॥
अन्येद्युस्तत्पुरे गौतमा-वैश्रवणसम्भव । श्रीदत्ताख्याय मुख्याय कुबेरेणात्मजां सतीम् ॥ ९३ ॥
दीयमानां समालोक्य पाण्यम्भःसेकपूर्वकम् । कुबेरदत्तां केनाऽपि महापापविधायिना ॥ ९४ ॥

प्रकार चन्द्रग्रहण देखकर चक्रवर्ती हरिषेणको वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने अनुप्रेक्षाओंके स्वरूप का वर्णन करते हुए अपनी सभामें स्थित लोगोंको श्रेष्ठ धर्मका स्वरूप बतलाया और शीघ्र ही उन्हें तत्त्वार्थका ज्ञाता बना दिया ॥ ८१–८३ ॥ सत्पुरुषोंके द्वारा पूजनीय हरिषेणने अपने महासेन नामक पुत्रके लिए राज्य दिया, मनोवाञ्छित पदार्थ देकर दीन अनाथ तथा याचकोंको संतुष्ट किया। तदनन्तर कामको जीतने वाले उसने सीमन्त पर्वतपर स्थित श्रीनाग नामक मुनिराजके पास जाकर विविध प्रकारके परिग्रहका विधिपूर्वक त्याग कर दिया। उसने अनेक राजाओंके साथ शान्ति प्राप्त करनेका साधनभूत संयम धारण कर लिया, क्रम-क्रमसे अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त कीं और आयुके अन्तमें चार प्रकारकी आराधनाएं आराध कर प्रायोपगमन नामक संन्यास धारण कर लिया। जिसके समस्त पाप क्षीण हो गये हैं तथा जो दयाकी मूर्ति स्वरूप हैं ऐसा वह चक्रवर्ती अन्तिम अनुत्तर विमान—सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न हुआ ॥ ८४–८७ ॥ श्रीमान् हरिषेण चक्रवर्तीका जीव पहले जिसका शरीर राजलक्ष्मीसे आलिंगित था ऐसा कोई राजा था, फिर पापसे अत्यन्त भयभीत हो उसने संसारका शरण मानकर तप धारण कर लिया जिससे तृतीय स्वर्गमें देव हुआ, फिर आयुके अन्तमें वहाँसे पृथिवीपर आकर हरिषेण चक्रवर्ती हुआ और सुख भोगकर सर्वार्थ-सिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ ॥ ८८ ॥

अथानन्तर—इन्हीं मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकरके तीर्थमें राम और लक्ष्मण नामके आठवें बल-भद्र और नारायण हुए हैं इसलिए यहाँ उनका पुराण कहा जाता है ॥ ८९ ॥ उसी भरतक्षेत्रके मलय नामक राष्ट्रमें रत्नपुर नामका एक नगर है। उसमें प्रजापति महाराज राज्य करते थे ॥ ९० ॥ उनकी गुणकान्ता नामकी स्त्रीसे चन्द्रचूल नामका पुत्र हुआ था। उन्हीं प्रजापति महाराजके मंत्रीका एक विजय नामका पुत्र था। चन्द्रचूल और विजयमें बहुत भारी स्नेह था। ये दोनों ही पुत्र अपने-अपने पिताओंको अत्यन्त प्रिय थे, बड़े लाड़से उनका लालन-पालन होता था और कुल आदिका घमंड सदा उन्हें प्रेरित करता रहता था इसलिए वे दुर्दान्त हाथियोंके समान दुराचारी हो गये थे ॥ ९१–९२ ॥ किसी एक दिन उसी नगरमें रहनेवाला कुबेर सेठ, उसी नगरमें रहने वाले वैश्रवण सेठकी गोतमा स्त्रीसे उत्पन्न श्रीदत्त नामक श्रेष्ठ पुत्रके लिए हाथमें जलधारा छोड़ता हुआ अपनी कुबेरदत्ता नामकी

---

१ बाहुभिः ख० । २ प्राप्तसर्द्धि म० । ३ उक्तस्य ख० ।

तस्याः स्वानुचरेणोक्तां श्रुत्वा रूपादिसम्पदम् । कुमारे तां स्वसात्कर्तुं सह मित्रे समुद्यते ॥ ९५ ॥
वणिक्सङ्घसमाक्रोशध्वनिमाकर्ण्य भूपतिः । स्वतनूजदुराचारदारूद्यत्कोपपावकः ॥ ९६ ॥
पुररक्षकमाहूय दुरात्मानं कुमारकम् । लोकान्तरातिथिं सद्यो विधेहीति समादिशत् ॥ ९७ ॥
तदैव सोऽपि राजाज्ञाचोदितस्तुमुलाह्वये । जीवग्राहं गृहीत्वैनमानयन्निकटं विभोः ॥ ९८ ॥
तदालोक्य किमित्येष पापीहानीयते द्रुतम् । निशातशूलमारोप्य श्मशाने स्थाप्यतामिति ॥ ९९ ॥
राज्ञोक्ते प्रस्थितो हन्तुं कुमारं पुररक्षकः । न्यायानुवर्तिनां युक्तं न हि स्नेहानुवर्तनम्[1] ॥ १०० ॥
तदामात्योत्तमः पौरान्पुरस्कृत्य महीपतिम् । व्यजिज्ञपदिति व्यक्तमुक्षिप्तसकरकुड्मलः ॥ १०१ ॥
कृत्याकृत्यविवेकोऽस्य[2] न बाल्यादेव विद्यते । प्रमादोऽस्माकमेवायं विनेयाः पितृभिः सुताः ॥ १०२ ॥
न दान्तोऽयं नृभिर्दन्ती शैशवे चेद् यथोचितम् । प्राप्तैश्वर्यो न किं कुर्यादसौ दर्पग्रहाहितः ॥ १०३ ॥
न बुद्धिमान् न दुर्बुद्धिर्न वधं दण्डमर्हति । आहार्यबुद्धिरेषोऽतः शिक्षणीयोऽधुनाप्यलम् ॥ १०४ ॥
न कोपोऽस्मिंस्तवास्त्येव[3] न्यायमार्गे निनीषया । निगृह्णास्येक एवायं राज्यसन्ततिसंहृतौ[4] ॥१०५॥
अन्यत्संधित्सतोऽत्रान्यच्च्युतं तदिति श्रुतिः । सा तवाद्य समायाति सन्तानोच्छेदकारिणः ॥१०६॥
एतत्पूत्कारतो ज्येष्ठं तनूजमवधीन्नृपः । इत्यवाच्यभयग्रस्ताः पौराश्चैते पुरःस्थिताः ॥ १०७ ॥
तत्क्षमस्वापराधं मे महीशप्रार्थितोऽस्यमुम् । एतन्मन्त्रिवचः श्रुत्वा विरूपाक्षमवीरितम् ॥१०८॥

सम्पादक :- आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज

पुत्री दे रहा था। उसी समय महापापके करने वाले किसी अनुचरने राजकुमार चन्द्रचूलसे कुबेरदत्तके रूप आदिकी प्रशंसा की। उसे सुनकर वह अपने मित्र विजयके साथ उस कन्याको बलपूर्वक अपने आधीन करनेके लिए तत्पर हो गया ॥ ९३–९५ ॥ यह देख, वैश्योंका समूह चिल्लाता हुआ महाराजके पास गया। उसके रोने-चिल्लानेका शब्द सुनते ही महाराजकी क्रोधाग्नि अपने पुत्रके दुराचाररूपी ईन्धनसे अत्यन्त भड़क उठी। उन्होंने नगरके रक्षकको बुलाकर आज्ञा दी कि इस दुराचारी कुमारको शीघ्र ही लोकान्तरका अतिथि बना दो—मार डालो ॥ ९६–९७ ॥ उसी समय राजाज्ञासे प्रेरित हुआ नगररक्षक बहुत भारी भीड़मेंसे इस राजकुमारको जीवित पकड़कर महाराजके समीप ले आया ॥ ९८ ॥ यह देख राजाने विचार किया कि इस पापीको शीघ्र ही किसप्रकार मारा जाय ? कुछ देर तक विचार करनेके बाद उन्होंने नगररक्षकको आदेश दिया कि इसे श्मशानमें ले जाकर पेनी शूलीपर चढ़ा दो ॥ ९९ ॥ राजाके कहते ही नगररक्षक कुमारको मारनेके लिए चल दिया। सो ठीक ही है क्योंकि न्यायके अनुसार चलने वाले पुरुषोंको स्नेहका अनुसरण करना उचित नहीं है ॥ १०० ॥ इधर यह हाल देख प्रधान मन्त्री नगरवासियोंको आगे कर राजाके समीप गया और हस्तरूपी कमल ऊपर उठाकर इस प्रकार निवेदन करने लगा ॥ १०१ ॥ हे देव ! इसे कार्य और अकार्यका विवेक बाल्य-अवस्थासे ही नहीं है, यह हमलोगोंका ही प्रमाद है क्योंकि माता-पिताके द्वारा ही बालक सुशिक्षित और सदाचारी बनाये जाते हैं ॥ १०२ ॥ यदि हाथीको बाल्यावस्थामें यथायोग्य रीतिसे वशमें नहीं किया जाता तो फिर वह मनुष्योंके द्वारा वशमें नहीं किया जा सकता; यही हाल बालकोंका है। यदि ये बाल्यावस्थामें वश नहीं किये जाते हैं तो वे आगे चलकर ऐश्वर्य प्राप्त होनेपर अभिमानरूपी ग्रहसे आक्रान्त हो क्या कर गुजरेंगे इसका ठिकाना नहीं ॥ १०३ ॥ यह कुमार न तो बुद्धिमान् है और न दुर्बुद्धि ही है इसलिए प्राणदण्ड देनेके योग्य नहीं है। अभी यह आहार्य बुद्धि है—इसकी बुद्धि बदली जा सकती है अतः इस समय इसे अच्छी तरह शिक्षा देना चाहिये ॥ १०४ ॥ कुमार पर आपका कोप तो है नहीं, आप तो न्यायमार्गपर ले जानेके लिए ही इसे दण्ड देना चाहते हैं परन्तु आपको इस बातका भी ध्यान रखना चाहिये कि राज्यकी संतति धारण करनेके लिए यह एक ही है—आपका यही एक मात्र पुत्र है ॥ १०५ ॥ यदि आप इस एक ही संतानको नष्ट कर देंगे तो 'कुछ करना चाहते थे और कुछ हो गया' यह लोकोक्ति आज ही आपके शिर आ पड़ेगी ॥ १०६ ॥ दूसरी बात यह है कि इन लोगोंके रोने-चिल्लानेसे महाराजने अपने बड़े पुत्रको मार डाला इस निन्दाके भयसे ग्रस्त हुए ये अभी नगरवासी आपके

१–वर्तिनम् ख० । २ विवेकश्च ख० । ३ तथास्त्येव म०, ख० । ४ संधृतौ ख०, ग० । संततौ ख० ।

अविज्ञिरिव शास्त्रार्थं भवद्भिः श्रुतपारगैः । दुष्टानां निग्रहः शिष्टपालनं भूभुजां मतम् ॥ १०९ ॥
नीतिशास्त्रेषु तत्स्नेहमोहासक्तिभयादिभिः । अस्माभिर्लङ्घिते न्याये भवन्तस्तस्य वर्तकाः ॥११०॥
तस्मादयुक्तं युष्माकं मां योजयितुमुत्पथे । दुष्टो दक्षिणहस्तोऽपि स्वस्य छेद्यो महीभुजा ॥१११॥
कृत्याकृत्यविवेकातिदूरो मूढो महीभुजः । स साङ्ख्यपुरुषस्तेन कृत्यं [1]नात्रापरत्र च ॥११२॥
तस्माच्च प्रतिषेध्योऽहमिति राज्ञाभिभाषिते । पौरास्तदैव जानाति देव एवेत्ययुर्भयात् ॥११३॥
सुते निःस्निग्धतां भर्तुर्जानन् देवाहमेव तम् । दण्डयिष्यामि मत्वेति निर्गम्य[2] तदनुज्ञया ॥ ११४ ॥
प्राप्य स्वराज्यपुत्राभ्यां वनगिर्यग्रिमब्रवीत् । हे कुमार तवाद्यैवं मरणं समुपस्थितम् ॥ ११५ ॥
विभीः शक्नोषि किं [3]मर्तुमित्यवादीत्स चेदृशम् । बिभेमि चेदहं मृत्योः किमित्येतदनुष्ठितम् ॥११६॥
सलिलं वा तृषार्त्तस्य शीतलं मरणं मम । तत्र का भीरिति व्यक्तं तदुक्तमवबुध्य सः ॥ ११७ ॥
नागरेभ्यो महीभर्त्रे कुमारायात्मनेऽपि च । लोकद्वयहितं कार्यं निश्चित्य सचिवाग्रणीः ॥ ११८ ॥
तदद्रिमस्तकं गत्वा महाबलगणेशिनम् । अभिवन्द्य [4]निजायातकार्यं चास्मै न्यवेदयत् ॥ ११९॥
मनःपर्ययसंज्ञानचक्षुः स गणनायकः । मा भैषीद्भावितौ रामकेशवाविह भाविनौ ॥ १२० ॥
तृतीयजन्मनीत्याह तच्छ्रुत्वा सचिवो मुदा । तौ तत्रानीय संश्राव्य धर्मं संयममापयत्[5] ॥१२१
ततो भूपतिमासाद्य मन्त्रीतीदमबोधयत् । वारणारेरिवाभीरोरेककस्य गुहाश्रितः ॥ १२२ ॥

सामने खड़े हुए हैं ॥ १०७ ॥ इसलिए हे महाराज ! हम प्रार्थना करते हैं कि हमलोगोंका यह अपराध क्षमा कर दिया जाय । मंत्रीके यह वचन सुनकर राजाने कहा कि आपका कहना ठीक नहीं है । ऐसा जान पड़ता है कि आपलोग शास्त्रके पारगामी हो कर भी उसका अर्थ नहीं जानते हैं । दुष्टोंका निग्रह करना और सज्जनोंका पालन करना यह राजाओंका धर्म, नीतिशास्त्रोंमें बतलाया गया है । स्नेह, मोह, आसक्ति तथा भय आदि कारणोंसे यदि हम ही इस नीतिमार्गका उल्लंघन करते हैं तो आप लोग उसकी प्रवृत्ति करने लग जावेंगे । इसलिए आप लोगोंका मुझे उन्मार्गमें लगाना अच्छा नहीं है । यदि अपना दाहिना हाथ भी दुष्ट-दोषपूर्ण हो जाय तो राजाको उसे भी काट डालना चाहिये । जो मूर्ख राजा करने योग्य और नहीं करने योग्य कार्योंके विवेकसे दूर रहता है वह सांख्यमतमें माने हुए पुरुषके समान है । उससे इस लोक और परलोक सम्बन्धी कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता ॥ १०८-११२ ॥ इसलिए इस कार्यमें मुझे रोकना ठीक नहीं है । महाराजके इस प्रकार कहने पर लोगोंने समझा कि महाराज सब बात स्वयं जानते हैं ऐसा समझ सब लोग भयसे अपने-अपने घर चले गये ॥ ११३ ॥ पुत्रपर महाराजका प्रेम नहीं है ऐसा जानते हुए मंत्रीने राजासे कहा कि हे देव ! मैं इसे दण्ड स्वयं दूंगा । इस प्रकार राजाकी आज्ञा लेकर मंत्री भी चला गया ॥ ११४ ॥ वह अपने पुत्र और राजपुत्रको साथ लेकर वनगिरि नामके पर्वत पर गया और वहाँ जाकर कुमारसे कहने लगा कि हे कुमार, अब अवश्य ही आपका मरण समीप आ गया है, क्या आप निर्भय हो मरनेके लिए तैयार हैं ? उत्तरमें राजकुमारने कहा कि यदि मैं मृत्युसे इस प्रकार डरता तो ऐसा कार्य ही क्यों करता । जिस प्रकार प्याससे पीडित मनुष्यके लिए ठण्डा पानी अच्छा लगता है उसी प्रकार मुझे मरण अच्छा लग रहा है इसमें भयकी कौनसी बात है ? इस तरह कुमारकी बात सुनकर मुख्य मंत्रीने महाराज, राजकुमार और स्वयं अपने दोनों लोकोंका हित करने वाला कोई कार्य करनेका निश्चय किया ॥ ११५-११८ ॥ तदनन्तर मंत्रीने उसी पर्वतकी शिखापर जाकर महाबल नामके गणधरकी वन्दना की और उन्हें अपने आनेका सब कार्य भी निवेदन किया ॥११९॥ मनःपर्यय ज्ञानरूपी नेत्रको धारण करने वाले उन गणधर महाराजने कहा कि तुम भयभीत मत हो, ये दोनों ही तीसरे भवमें इस भरतक्षेत्रके नारायण और बलभद्र होने वाले हैं ॥ १२० ॥ यह सुनकर मंत्री उन्हें बड़ी प्रसन्नतासे घर ले आया और धर्म श्रवण कराकर उसने उन दोनोंको संयम धारण करा दिया ॥ १२१ ॥ तदनन्तर वह मन्त्री राजाके समीप आया और यह

---

१ चात्रापरत्र च ल० । २ निर्गत्य ल० । ३-मिवावादीत् ल० । ४ निजायान-क०, घ० । ५-मापयन् क०, घ०, ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनाहतस्वसौख्यस्य कस्याचिद्वनवासिनः । स्वकार्येष्वतितीव्रस्य जनस्योद्युग्रचेष्टितुः ॥ १२३ ॥
तावर्पितौ मया सोऽपि [1]तावाह कृतदोषयोः । भवतोर्न सुखं स्मार्यं दुःखं भोग्यं सुदुष्करम् ॥ १२४ ॥
स्मर्तव्या देवता चित्ते परलोकनिमित्ततः । इत्येतत्तौ च भद्र त्वं मा कृथाः कष्टदण्डनम् ॥ १२५ ॥
आवाभ्यामावयोः कार्यमित्यात्मकरभावितम् । वेदनां तीव्रमापाद्य परलोकोन्मुखावुभौ ॥ १२६ ॥
अभूतां तद्विलोक्याहमभिप्रेतार्थनिष्ठितम्[2] । [3]सुविधायागतो देव सिद्धं भवदुदीरितम् ॥ १२७ ॥
श्रुत्वा तद्वचनं राजा महादुःखाकुलो मनाक् । निवातस्तिमितक्ष्माजसमानो निश्चलं स्थितः ॥१२८॥
आत्मना मन्त्रिभिर्बन्धुर्जनैश्चालोच्य निश्चितम् । कार्यं हितमनुष्ठेयं तत्प्राग्नानुष्ठितं त्वया ॥ १२९ ॥
करजालमतिक्रान्तमिव सर्पिमहीरुहे । प्रसूनमिव संशुष्कं कार्यं कालातिपांतितम् ॥ १३० ॥
तत्र शोको न कर्तव्यो वृथेति सचिवोदितम् । श्रुत्वा तद्वचनं ब्रूहि तर्के तद्वृत्तकं कथम् ॥ १३१ ॥
इत्यप्राक्षीत्ततोऽस्याभिप्रायवित्सचिवोऽवदत् । यतयो वनगिर्यद्रिगुहागहनवासिनः ॥१३२ ॥
धैर्यासिधारानिर्भिन्नकषायविषयद्विषः । स्थूलसूक्ष्मासुभृद्रक्षानितान्तोद्यतवृत्तयः ॥ १३३ ॥
भिया भियेव कोपेन कोपेनेवानिताशयाः । असंयतेषु भोगोपभोगेष्विव निरादराः ॥ १३४ ॥
तेभ्यस्तौ धर्मसद्भावं श्रुत्वा निर्विद्य दीक्षितौ । इति विस्पष्टतद्वाक्यात्परितुष्टो महीपतिः ॥ १३५ ॥
लोकद्वयहितो नान्यस्त्वमेवेत्यभिनन्द्य तम् । दुष्पुत्र इव भोगोऽयं [4]पापापलापकारणम् ॥ १३६ ॥

कहने लगा कि कोई एक वनवासी गुहामें रहता था, वह सिंहके समान निर्भय था, उसने अपने सुखोंका अनादर कर दिया था, वह अपने कार्योंमें अत्यन्त तीव्र था और उग्र चेष्टाका धारक था। मैंने वे दोनों ही कुमार उसके लिए सौंप दिये। उस गुहावासीने भी उनसे कहा कि आप दोनोंने बहुत भारी दोष किया है अतः अब आप लोग सुखका स्मरण न करें, अब तो आपको कठिन दुःख भोगना पड़ेगा। परलोकके निमित्त हृदयमें इष्ट देवताका स्मरण करना चाहिये। यह सुनकर उन दोनोंने मुझसे कहा कि 'हे भद्र! आप हम दोनोंके लिए कष्टकर दण्ड न दीजिये, यह कार्य तो हम दोनों स्वयं कर रहे हैं अर्थात् स्वयं ही दण्ड लेनेके लिए तत्पर हैं। यह कह वे दोनों अपने हाथसे उत्पादित तीव्र वेदना प्राप्त कर परलोकके लिए तैयार हो गये। यह देख मैं इष्ट अर्थकी पूर्ति कर वापिस चला आया हूं। हे राजन्! इस तरह आपका अभिप्राय सिद्ध हो गया॥ १२२-१२७॥ मन्त्रीके वचन सुनकर राजा महादुःखसे व्यग्र हो गया और कुछ देर तक हवारहित स्थानमें निष्पन्द खड़े हुए वृक्षके समान निश्चल बैठा रहा॥ १२८॥ तदनन्तर राजाने अपने आप, मंत्रियों तथा बन्धुजनोंके साथ निश्चय किया और तत्पश्चात् मंत्रीसे कहा कि तुम्हें सदा हितकारी कार्य करना चाहिये, आज जो तुमने कार्य किया है वह पहले कभी भी तुम्हारे द्वारा नहीं किया गया॥ १२९॥ मन्त्रीने कहा कि जिस प्रकार जो किरणोंका समूह अतीत हो चुकता है और जो फूल सांप वाले वृक्षपर लगा-लगा सूख जाता है, उसके विषयमें शोक करना उचित नहीं होता है उसी प्रकार यह कार्य भी अब कालातिपाती—अतीत हो चुका है अतः अब आपको इसके विषयमें शोक नहीं करना चाहिये। मंत्रीके वचन सुनकर राजाने पूछा कि यथार्थ बात क्या है? तदनन्तर राजाका अभिप्राय जानने वाला मन्त्री बोला कि वनगिरि पर्वतकी गुफाओं और सघन वनोंमें बहुतसे यति-मुनि रहते हैं उन्होंने अपने धैर्य रूपी तलवारकी धारासे कषाय और विषयरूपी शत्रुओंको जीत लिया है, क्या स्थूल क्या सूक्ष्म—सभी जीवोंकी रक्षा करनेमें वे निरन्तर तत्पर रहते हैं। उनके हृदयसे भय मानो भयसे ही भाग गया है और क्रोध मानो क्रोधके कारण ही उनके पास नहीं आता है। वे भोग-उपभोगके पदार्थोंमें असंयमियोंके समान सदा निरादर करते रहते हैं। वे दोनों ही कुमार उन यतियोंसे धर्मका सद्भाव सुनकर विरक्त हो दीक्षित हो गये हैं। इस प्रकार मंत्रीके स्पष्ट वचन सुनकर राजा बहुत ही संतुष्ट हुआ॥ १३०-१३५॥ 'दोनों लोकोंका हित करने वाला तू ही है' इस प्रकार मन्त्रीकी प्रशंसा कर राजाने विचार किया कि ये भोग कुपुत्रके समान पाप और निन्दाके

---

१ तवाह ल०। २ निष्ठितौ ल०। ३ सुविधाय यातो ल०। ४ पापालापापकारणम् क०, घ०।

इति स्वकुलयोग्याय दत्वाराज्यमहाभरः । गत्वा गणेशमभ्यर्च्य वनाद्रौ नवसंयतौ ॥ १३७ ॥
मया कृतो महान् दोषः तं क्षमेथां युवामिति । निगदन्नावयोर्लोकद्वितीयैकगुरुर्भवान् ॥ १३८ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
संयमोऽयं त्वयैवापि ताभ्यां सम्प्राप्य संस्तवम् । बहुभिर्भूभुजैः[1] सार्द्धं त्यक्तसङ्गः स संयमम् ॥ १३९ ॥
प्राप्य क्रमेण ध्वस्तारिर्घातिकर्मविघातकृत् । केवलावगमज्योतिर्लोकाग्रे व्यद्युतद्राराम् ॥ १४० ॥
तौ समुत्कृष्टचारित्रौ द्वौ खड्गपुरबाह्यगौ । आतापयोगमादाय तस्थतुस्त्यक्तविग्रहौ ॥ १४१ ॥
तत्पुराधिपसोमप्रभाह्वयस्य सुदर्शना । सीता च देव्यौ तत्सूनुः सुप्रभः सुप्रभाङ्गभृत् ॥ १४२ ॥
पुरुषोत्तमनामा च गुणैश्च पुरुषोत्तमः । मधुसूदनमुच्छिद्य कृतदिग्जयपूर्वकम् ॥ १४३ ॥
नृखेचरसुराधीशप्रवर्द्धितमहोदयम् । प्रविशन्तं प्रभावन्तं नगरं पुरुषोत्तमम् ॥ १४४ ॥
चन्द्रचूलमुनिर्दृष्ट्वा निदानमकृताञ्जकः । जीवनावसितौ सम्यगाराध्योभौ चतुर्विधम्[2] ॥ १४५ ॥
सनत्कुमारकल्पस्य विमाने कनकप्रभे । विजयः स्वर्णचूलेऽन्यो मणिचूलो मणिप्रभे ॥ १४६ ॥
जातवन्तौ तदुत्कृष्टसागरोपमितायुषौ । सुचिरं भुक्तसम्भोगौ ततश्च्युत्वेह भारते ॥ १४७ ॥
वाराणसीपुराधीशो राज्ञो दशरथश्रुतेः । सुतः सुबालासंज्ञायां शुभस्वप्नपुरस्सरम् ॥ १४८ ॥
कृष्णपक्षे त्रयोदश्यां फाल्गुने मास्यजायत । मघायां हलभृन्नामा चूलान्तकनकामरः ॥ १४९ ॥
त्रयोदशसहस्राब्दो रामनामानताखिलः । तत एव महीभर्तुः कैकेय्यामभवत्पुरः ॥ १५० ॥
सरःसूर्येन्दुकलमक्षेत्रसिंहान् महाफलान् । स्वप्नान् संदर्श्य माघस्य शुक्लपक्षादिमे दिने ॥ १५१ ॥

कारण हैं। ऐसा विचार कर उसने अपने कुलके योग्य किसी पुत्रको राज्य का महान् भार सौंप दिया और वनगिरि नामक पर्वत पर जाकर गणधर भगवान्‌की पूजा की। वहींपर नवदीक्षित राजकुमार तथा मंत्रि-पुत्रको देखकर उसने कहा कि मैंने जो बड़ा भारी अपराध किया है उसे आप दोनों क्षमा कीजिये। राजाके वचन सुनकर नवदीक्षित मुनियोंने कहा कि आप ही हमारे दोनों लोकोंके गुरु हैं, यह संयम आपने ही प्रदान कराया है। इस प्रकार उन दोनोंसे प्रशंसा पाकर राजाने सब परिग्रहका त्याग कर अनेक राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया ॥ १३६–१३९ ॥ क्रम-क्रमसे मोह कर्मका विध्वंसकर अवशिष्ट घातिया कर्मोंका नाश किया और केवलज्ञान रूपी ज्योतिको प्राप्तकर वे लोकके अग्रभागमें देदीप्यमान होने लगे ॥ १४० ॥

इधर उत्कृष्ट चारित्रका पालन करते हुए वे दोनों ही कुमार आतापन योग लेकर तथा शरीरसे ममत्व छोड़ कर खड्गपुर नामक नगरके बाहर स्थित थे ॥ १४१ ॥ उस समय खड्गपुर नगरके राजाका नाम सोमप्रभ था। उसके सुदर्शना और सीता नामकी दो स्त्रियाँ थीं। उन दोनोंके उत्तम कान्तिवाले शरीरको धारण करने वाला सुप्रभ और गुणोंके द्वारा पुरुषोंमें श्रेष्ठ पुरुषोत्तम इस प्रकार दो पुत्र थे। इनमें पुरुषोत्तम नारायण था वह दिग्विजयके द्वारा मधुसूदन नामक प्रति नारायण को नष्ट कर नगरमें प्रवेश कर रहा था। मनुष्य विद्याधर और देवेन्द्र उसके ऐश्वर्यको बढ़ा रहे थे, उसका शरीर भी प्रभापूर्ण था ॥ १४१–१४४ ॥ नगरमें प्रवेश करते देख अज्ञानी चन्द्रचूल मुनि (राजकुमारका जीव) निदान कर बैठा। अन्तमें जीवन समाप्त होनेपर दोनों मुनियोंने चार प्रकारकी आराधना की। उनमेंसे एक तो सनत्कुमार स्वर्गके कनकप्रभ नामक विमानमें विजय नामक देव और दूसरा मणिप्रभ विमानमें मणिचूल नामका देव हुआ। वहाँ उनकी उत्कृष्ट आयु एक सागर प्रमाण थी। चिर कालतक वहाँके सुख भोग कर वे वहाँसे च्युत हुए ॥ १४५–१४७ ॥

अथानन्तर इसी भरतक्षेत्रके बनारस नगरमें राजा दशरथ राज्य करते थे। उनकी सुबाला नामकी रानी थी। उसने शुभ स्वप्न देखे और उसीके गर्भसे फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशीके दिन मघा नक्षत्र में सुवर्णचूल नामका देव जो कि मन्त्रीके पुत्रका जीव था, होनहार बलभद्र हुआ। उसकी तेरह हजार वर्षकी आयु थी, राम नाम था, और उसने सब लोगोंको नम्रीभूत कर रक्खा था। उन्हीं राजा दशरथकी एक दूसरी रानी कैकेयी थी। उसने सरोवर, सूर्य, चन्द्रमा, धानका खेत और

---

१ भूभुजाम् ख० । २ चतुर्विधाम् क०, घ० ।

विशाखर्क्षे स चक्राङ्को मणिचूलोऽमृताशनः । षड्गुणद्विसहस्राब्दजीवितो लक्ष्मणाह्वयः ॥ १५२ ॥
तौ पञ्चदशचापोच्चौ[1] द्वात्रिंशल्लक्षणान्वितौ । आदिसंहननौ संस्थानं चाभूदादिमं तयोः ॥१५३॥
अमेयवीर्यौ हंसांशनीलोत्पलसमत्विषौ । तयोः सपञ्चपञ्चाशत्-पञ्चाशद्वर्षसम्मिते ॥ १५४ ॥
कुमारकाले निःक्रान्ते [2]नितान्तपरमोदये । भारतेऽस्मिन्नयोध्यायां [3]भरतादिमहीशितुः ॥ १५५ ॥
गतेष्विक्ष्वाकुमुख्येषु सङ्ख्यातीतेष्वनन्तरम् । हरिषेणमहाराजे दशमे चक्रवर्तिनि ॥ १५६ ॥
सर्वार्थसिद्धावुत्पन्ने संवत्सरसहस्रके । काले गतवति प्राभूत् सगराख्यो महीपतिः ॥ १५७ ॥
निःखण्डमण्डलश्चण्डः सुलसायाः स्वयंवरे । मधुपिङ्गलनामानं कुमारवरमागतम् ॥ १५८ ॥
दूष्यलक्ष्मायमित्युक्त्वा निरास्थ[4]न्नृपमध्यगम् । सगरे बद्धवैरः सन् निःक्रम्य मधुपिङ्गलः ॥ १५९ ॥
सलज्जः संयमी भूत्वा महाकालासुरोऽभवत् । सोऽसुरः सगराधीशवंशनिर्मूलनोद्यतः ॥ १६०॥
द्विजवेषं समादाय सम्प्राप्य सगराह्वयम् । [5]अथर्ववेदविहितं प्राणिहिंसापरायणम् ॥ १६१ ॥
कुरु यागं श्रियो वृद्धयै शत्रुविच्छेदनेच्छया । इति तं दुर्मतिं भूपं[6] पापाभीरुर्व्यमोहयत् ॥१६२ ॥
अनुष्ठाय तथा सोऽपि प्राविशत्पापिनां क्षितिम् । निर्मूलं कुलमप्यस्य नष्टं दुर्मार्गवर्तनात् ॥ १६३ ॥
श्रुत्वा तत्सात्मजो रामपितास्मार्क्ष क्रमागतम् । साकेतपुरमित्येत्य तदध्यास्यान्वपालयत् ॥ १६४ ॥
तत्रास्य देव्यां कस्याञ्चिदभवन्नरताह्वयः । शत्रुघ्नश्चान्यदप्येकं दशाननवधाद्यशः ॥ १६५ ॥

सिंह ये पाँच महाफल देनेवाले स्वप्न देखे और उसके गर्भसे माघ शुक्ला प्रतिपदाके दिन विशाखा नक्षत्रमें मणिचूल नामका देव जो कि मन्त्रीके पुत्रका जीव था उत्पन्न हुआ। उसके शरीरपर चक्रका चिह्न था, बारह हजार वर्षकी उसकी आयु थी और लक्ष्मण उसका नाम था ॥ १४८–१५२ ॥ वे दोनों ही भाई पन्द्रह धनुष ऊँचे थे, बत्तीस लक्षणोंसे सहित थे, वज्रवृषभनाराचसंहननके धारक थे और उन दोनोंके समचतुरस्रसंस्थान नामका पहला संस्थान था ॥ १५३ ॥ वे दोनों ही अपरिमित शक्तिवाले थे, उनमेंसे रामका शरीर हंसके अंश अर्थात् पंखके समान सफेद था और लक्ष्मण का शरीर नील कमलके समान नील कान्तिवाला था ! जब रामका पचपन और लक्ष्मणका पचास वर्ष प्रमाण, अत्यन्त श्रेष्ठ ऐश्वर्यसे भरा हुआ कुमारकाल व्यतीत हो गया तब इसी भरतक्षेत्र की अयोध्यानगरीमें एक सगर नामक राजा हुआ था। वह सगर तब हुआ था जब कि प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराजके बाद इक्ष्वाकुवंशके शिरोमणि असंख्यात राजा हो चुके थे और उनके बाद जब हरिषेण महाराज नामक दशवां चक्रवर्ती मरकर सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न हो गया था तथा उसके बाद जब एक हजार वर्ष प्रमाण काल व्यतीत हो चुका था। इस प्रकार काल व्यतीत हो चुकने पर सगर राजा हुआ था। वह अखण्ड राष्ट्रका स्वामी था, तथा बड़ा ही क्रोधी था। एकबार उसने सुलसाके स्वयंवरमें आये हुए एवं राजाओंके बीचमें बैठे हुए मधुपिङ्गल नामके श्रेष्ठ राजकुमारको 'यह दुष्ट लक्षणोंसे युक्त है' ऐसा कहकर सभाभूमिसे निकाल दिया। राजा मधुपिङ्गल सगर राजाके साथ वैर बांधकर लजाता हुआ स्वयंवर मण्डपसे बाहर निकल पड़ा। अन्तमें संयम धारणकर वह महाकाल नामका असुर हुआ। वह असुर राजा सगरके वंशको निर्मूल करनेमें तत्पर था ॥ १५४–१६० ॥ वह ब्राह्मणका वेष रखकर राजा सगरके पास पहुँचा और कहने लगा कि तू लक्ष्मीकी वृद्धिके लिए, शत्रुओंका उच्छेद करनेके लिए अथर्ववेदमें कहा हुआ प्राणियोंकी हिंसा करने वाला यज्ञ कर। इस प्रकार पापसे नहीं डरने वाले उस महाकाल नामक व्यन्तरने उस दुर्बुद्धि राजाको मोहित कर दिया ॥ १६१–१६२ ॥ वह राजा भी उसके कहे अनुसार यज्ञ करके पापियोंकी भूमि अर्थात नरकमें प्रविष्ट हुआ। इस प्रकार कुमार्गमें प्रवृत्ति करनेसे इस राजाका सबका सब कुल नष्ट हो गया। इधर राजा दशरथने जब यह समाचार सुना तब उन्होंने सोचा कि अयोध्यानगर तो हमारी वंशपरम्परासे चला आया है। ऐसा विचारकर वे अपने पुत्रोंके साथ अयोध्या नगरमें गये और वहीं रह कर उसका पालन करने लगे ॥ १६३–१६४ ॥ वहीं इनकी किसी अन्य रानीसे भरत

---

१ चापाङ्गौ क०, घ०। २ नितान्तपरमोदयौ ख०। नितान्तपरमोदयम् ल०। ३ भरतादिमहीभुजि ख०। मारतादिमहीशितुः ल०। ५ अपूर्वं म०, ल०। ६ भूतं ल०।

कारणं प्रकृतं भावि रामलक्ष्मणयोरिदम् । मिथिलानगराधीशो जनकस्तस्य वल्लभा ॥ १६६ ॥
सुरूपा वसुधादेवी विनयादिविभूषिता । सुता सीतेत्यभूत्तस्याः सम्प्राप्तनवयौवना ॥ १६७ ॥
तां वरीतुं समायातनृपदूतान् महीपतिः । ददामि तस्मै दैवानुकूल्यं यस्येति सोऽमुचत् ॥ १६८ ॥
नृपः कदाचिदास्थानीं विद्वज्जनविराजिनीम् । आस्थाय कार्यकुशलं कुशलादिमतिं हितम् ॥ १६९ ॥
सेनापतिं समप्राक्षीत् प्राक्प्रवृत्तं कथान्तरम् । पुरा किलात्र सगरः सुलसा चाहुतीकृता ॥ १७० ॥
परे चाश्वादयः प्रापन् सशरीराः सुरालयम् । इतीदं श्रूयतेऽद्यापि यागेन यदि गम्यते ॥ १७१ ॥
स्वर्लोकः क्रियतेऽस्माभिरपि याज्ञो यथोचितम् । इति तद्वचनं श्रुत्वा स सेनापतिरब्रवीत् ॥ १७२ ॥
नागासुरैः सदा क्रुद्धैर्मात्सर्येण परस्परम् । अन्योन्यारब्धकार्याणां प्रतिघातो विधीयते ॥ १७३ ॥
अयं चाद्य महाकालेनासुरेण नवो विधिः । याज्ञो विनिर्मितस्तस्य विघातः शङ्क्यतेऽरिभिः ॥ १७४ ॥
नागराड्डपकर्त्ताऽभून्नमेश्च विनमेरपि । ततो यागस्य हन्तारः खगास्तत्पक्षपातिनः ॥ १७५ ॥
यागः सिद्ध्यति शक्तानां तद्विकारव्यपोहने । यद्यप्येतन्न बुध्येरन् रूप्यशैलनिवासिनः ॥ १७६ ॥
निश्चितो[1] रावणः शौर्यशाली मानग्रहाहितः । तस्मात्प्रागपि शङ्कास्ति स कदाचित् विघातकृत् ॥१७७॥
स्यात्तद्रामाय शक्ताय दास्यामः कन्यकामिमाम् । इति तद्वचनं सर्वे तुष्टुवुस्तत्सभासिनः ॥ १७८ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री. सन्मतिसागर जी महाराज
निश्चित्यैश्च भूपेन सार्कं तत्कार्यमेव तत् । तदैव जनको दूतं प्राहिणोद्रामलक्ष्मणौ ॥ १७९ ॥
मदीययागरक्षार्थं प्रहेतस्यौ कृतत्वरम् । रामाय दास्यते सीता चेति शासनहारिणम् ॥ १८० ॥

तथा शत्रुघ्न नामके दो पुत्र और हुए थे। रावणको मारनेसे राम और लक्ष्मणका जो यश होने वाला था उसका एक कारण था—वह यह कि उसी समय मिथिलानगरीमें राजा जनक राज्य करते थे। उनकी अत्यन्त रूपवती तथा विनय आदि गुणोंसे विभूषित वसुधा नामकी रानी थी। राजा जनककी वसुधा नामकी रानीसे सीता नामकी पुत्री उत्पन्न हुई थी। जब वह नवयौवनको प्राप्त हुई तब उसे वरनेके लिए अनेक राजाओंने अपने-अपने दूत भेजे। परन्तु राजाने यह कह कर कि मैं यह पुत्री उसीके लिए दूंगा जिसका कि दैव अनुकूल होगा, उन आये हुए दूतोंको विदा कर दिया ॥१६५-१६८॥

अथानन्तर—किसी एक समय राजा जनक विद्वज्जनोंसे सुशोभित सभामें बैठे हुए थे। वहीं पर कार्य करनेमें कुशल तथा हित करनेवाला कुशलमति नामका सेनापति बैठा था। राजा जनकने उससे एक प्राचीन कथा पूछी। वह कहने लगा कि 'पहले राजा सगर रानी सुलसा तथा घोड़ा आदि अन्य कितने ही जीव यज्ञमें होमे गये थे। वे सब शरीर सहित स्वर्ग गये थे' यह बात सुनी जाती है। यदि आज कल भी यज्ञ करनेसे स्वर्ग प्राप्त होता हो तो हमलोग भी यथा योग्य रीतिसे यज्ञ करें'। राजाके इस प्रकार वचन सुनकर सेनापति कहने लगा कि सदा क्रोधित हुए नागकुमार और असुरकुमार परस्परकी मत्सरतासे एक दूसरेके प्रारम्भ किये हुए कार्योंमें विघ्न करते हैं ॥१६९-१७३॥ चूंकि यज्ञ की यह नई रीति महाकाल नामक असुरने चलाई है अतः प्रतिपक्षियोंके द्वारा इसमें विघ्न किये जानेकी आशंका है ॥ १७४ ॥ इसके सिवाय एक बात यह भी है कि नागकुमारोंके राजा धरणेन्द्रने नमि तथा विनमिका उपकार किया था इसलिए उसका पक्षपात करने वाले विद्याधर अवश्य ही यज्ञका विघात करेंगे ॥ १७५ ॥ यज्ञ उन्हींका सिद्ध हो पाता है जो कि उसके विघ्न दूर करनेमें समर्थ होते हैं। यद्यपि विजयार्ध पर्वतपर रहने वाले विद्याधरोंको इसका पता नहीं चलेगा यह ठीक है तथापि यह निश्चित है कि उनमें रावण बड़ा पराक्रमी और मानरूपी ग्रहसे अधिष्ठित है उससे इस बातका भय पहलेसे ही है कि कदाचित् वह यज्ञमें विघ्न उपस्थित करे ॥ १७६-१७७ ॥ हाँ, एक उपाय हो सकता है कि इस समय रामचन्द्रजी सब प्रकारसे समर्थ हैं उनके लिए यदि हम यह कन्या प्रदान कर देंगे तो वे सब विघ्न दूर कर देंगे। इसप्रकार सेनापतिके वचनोंकी सभामें बैठे हुए सब लोगोंने प्रशंसा की ॥ १७८ ॥ राजा जनकके साथ ही साथ सब लोगोंने इस कार्यका निश्चय कर लिया और राजा जनकने उसी समय सत्पुरुष राजा दशरथके पास पत्र तथा भेंटके साथ

---

१ निश्चिन्तो क० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सलेखोपायनं सन्तं नृपं दशरथं प्रति । तथान्यांश्च महीट्सूनून् दूतानानेतुमादिशत् ॥ १८१॥
अयोध्येशोऽपि लेखार्थं दूतोक्तं चावधारयन् । तत्प्रयोजननिश्चित्यै मन्त्रिणं पृच्छति स्म सः ॥ १८२ ॥
जनकोक्तं निवेद्यात्र किं कार्यं क्रियतामिति । इदमागमसाराख्यो मन्त्र्यवोचद्वचोऽ[1]शुभम् ॥ १८३ ॥
निरन्तरायसंसिद्धौ यागस्योभयलोकजम् । हितं कृतं भवेत्तस्माद्वृतिरस्त्वनयोरिति ॥ १८४ ॥
वचस्यवसिते तस्य तदुक्तमवधार्य सः । प्रजल्पति स्मातिशयमत्याख्यो मन्त्रिणां मतः १८५ ॥
धर्मो यागोऽयमित्येतत्प्रमाणपदवीं वचः । न प्राप्नोत्यत्त एवात्र न वर्तन्ते मनीषिणः ॥ १८६॥
प्रमाणभूयं वाक्यस्य वक्तृप्रामाण्यतो भवेत् । सर्वप्राणिवधाशंसियज्ञागमविधायिनः ॥ १८७ ॥
कथमुन्मत्तकस्येव प्रामाण्यं विप्रवादिनः । विरुद्धालपितासिद्धानेति चेद्वेदवादिनः ॥ १८८ ॥
सिद्धे वैकत्र घातोक्तेरन्यत्रैतन्निषेधनात् । स्वयंभूत्वाददोषोऽस्य विरोधे सत्यपीत्यसत् ॥ १८९ ॥
प्रष्टव्योऽसि स्वयम्भूत्वं कीदृशं तु तदुच्यताम् । बुद्धिमत्कारणस्पन्दसम्बन्धनिरपेक्षणम् ॥ १९० ॥
स्वयम्भूत्वं भवेन्मेघभेकादीनां च सा गतिः । ततः सर्वज्ञनिर्दिष्टं सर्वप्राणिहितात्मकम् ॥ १९१ ॥
ज्ञेयमागमशब्दाख्यं सर्वदोषविवर्जितम् । वर्तते [2]यज्ञशब्दश्च दानदेवर्षिपूजयोः ॥ १९२ ॥
यागो यज्ञः क्रतुः पूजा सपर्येज्याध्वरो मखः । मह इत्यपि पर्यायवचनान्यर्चनाविधेः ॥ १९३ ॥
यज्ञशब्दाभिधेयोरुदानपूजास्वरूपकात् । धर्मात्पुण्यं समावर्ज्य तत्पाकाद्दिविजेश्वराः ॥ १९४ ॥

एक दूत भेजा तथा उससे निम्न सन्देश कहलाया। आप मेरी यज्ञकी रक्षाके लिए शीघ्र ही राम तथा लक्ष्मणको भेजिये। यहाँ रामके लिए सीता नामक कन्या दी जावेगी। राम-लक्ष्मणके सिवाय अन्य राज्यपुत्रोंको बुलानेके लिए भी अन्य अन्य दूत भेजे ॥ १७९–१८१ ॥ अयोध्याके स्वामी राजा दशरथने भी पत्रमें लिखा अर्थ समझा, दूतका कहा समाचार सुना और इस सबका प्रयोजन निश्चित करनेके लिए मन्त्रीसे पूछा ॥ १८२ ॥ उन्होंने राजा जनकका कहा हुआ सब मन्त्रियोंको सुनाया और पूछा कि क्या कार्य करना चाहिये ? इसके उत्तरमें आगमसार मन्त्री निम्नाङ्कित अशुभ वचन कहने लगा कि यज्ञके निर्विघ्न समाप्त होनेपर दोनों लोकोंमें उत्पन्न होनेवाला हित होगा और उससे इन दोनों कुमारोंकी उत्तम गति होगी ॥ १८३–१८४ ॥ आगमसारके वचन समाप्त होनेपर उसके कहे हुएका निश्चयकर अतिशयमति नामका श्रेष्ठ मन्त्री कहने लगा कि यज्ञ करना धर्म है यह वचन प्रमाणकोटिको प्राप्त नहीं है इसीलिए बुद्धिमान् पुरुष इस कार्यमें प्रवृत्त नहीं होते हैं ॥ १८५–१८६ ॥ वचनकी प्रमाणता वक्ताकी प्रमाणतासे होती है। जिनमें समस्त प्राणियोंकी हिंसाका निरूपण है ऐसे यज्ञप्रवर्तक आगमका उपदेश करनेवाले विरुद्धवादी मनुष्यके वचन पागल पुरुषके वचनके समान प्रामाणिक कैसे हो सकते हैं। यदि वेदका निरूपण करनेवाले परस्पर विरुद्धभाषी न हों तो उसमें एक जगह हिंसाका विधान और दूसरी जगह उसका निषेध ऐसे दोनों प्रकारके वाक्य क्यों मिलते ? कदाचित् यह कहो कि वेद स्वयंभू है, अपने आप बना हुआ है अतः परस्पर विरोध होनेपर भी दोष नहीं है। तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि आपसे यह पूछा जा सकता है कि स्वयंभूपना कैसा है—इसका क्या अर्थ है ? यह तो कहिये। यदि बुद्धिमान् मनुष्यरूपी कारणके हलन-चलनरूपी सम्बन्धसे निरपेक्ष रहना अर्थात् किसी भी बुद्धिमान् मनुष्यके हलन-चलनरूपी व्यापारके बिना ही वेद रचा गया है अतः स्वयंभू है। स्वयंभूपनका उक्त अर्थ यदि आप लेते हैं तो मेघोंकी गर्जना और मेंढकोंकी टर्रटर्र इनमें भी स्वयंभूपन आ जावेगा क्योंकि ये सब भी तो अपने आप ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए आगम वही है—शास्त्र वही है जो सर्वज्ञके द्वारा कहा हुआ हो, समस्त प्राणियोंका हित करनेवाला हो और सब दोषोंसे रहित हो। यज्ञ शब्द, दान देना तथा देव और ऋषियोंकी पूजा करने अर्थमें आता है ॥ १८७–१९२ ॥ याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख, और मह ये सब पूजाविधिके पर्यायवाचक शब्द हैं ॥ १९३ ॥ यज्ञ शब्दका वाच्यार्थ जो बहुत भारी दान देना और पूजा करना है तत्स्वरूप धर्मसे ही लोग पुण्यका सञ्चय

---

१ वचः शुभम् ख० । २ यत्र ल० ।

शतक्रतुः शतमखः शताध्वर इति श्रुताः[1] । प्रादुर्भूताः प्रसिद्धास्ते लोकेषु समयेषु च ॥ १९५ ॥
हिंसार्थो यज्ञशब्दश्चेत्कर्तुर्नारकी गतिः । प्रयाति सोऽपि चेत्स्वर्गं विहिंसानामधोगतिः ॥ १९६ ॥
तव स्यादित्यभिप्रायो हिंस्यमानाङ्गिदानतः । तद्धवेन च देवानां पूज्यत्वाद्यज्ञ इत्ययम् ॥ १९७ ॥
दानं देवपूजायां दाने चान्वर्थतां गतः । एतत्स्वगृहमान्यं ते यद्यस्मिन्नेष [2]इत्यपि ॥ १९८ ॥
हिंसायामिति धात्वर्थपाठे किं न विधीयते । न हिंसा यज्ञशब्दार्थो यदि प्राणवधात्मकम् ॥ १९९ ॥
तत्तं कथं चरन्त्यार्या इत्यशिक्षितलक्षणम् । आर्यानार्यविकल्पेन यागो द्विविध इष्यते ॥ २०० ॥
[3]तीर्थेशा जगदाद्येन परमब्रह्मणोदिते । वेदे जीवादिषड्द्रव्यभेदे याथात्म्यदेशने ॥ २०१ ॥
त्रयोऽग्नयः समुद्दिष्टाः क्रोधकामोदराग्नयः । तेषु क्षमाविरागत्वानशनाहुतिभिर्वने ॥ २०२ ॥
स्थित्वर्षियतिमुन्यस्त[4]शरणाः परमद्विजाः । इत्यात्मयज्ञमिष्टार्थामष्टमीमवतीं ययुः ॥ २०३ ॥
तथा तीर्थगणाधीशशेषकेवलिसद्वपुः । संस्कारमहिताग्नीन्द्रमुकुटोत्थाग्निषु त्रिषु ॥ २०४ ॥
परमात्मपदं प्राप्तान्निजान् पितृपितामहान् । उद्दिश्य भक्तिकाः पुष्पगन्धाक्षतफलादिभिः ॥ २०५ ॥
आर्षोपासकवेदोक्तमन्त्रोच्चारणपूर्वकम् । दानादिसक्रियोपेता गेहाश्रमतपस्विनः ॥ २०६ ॥
नित्यमिष्ट्वेन्द्रसामानिकादिमान्यपदोदिताः । लौकान्तिकाश्च भूत्वामरद्विजा ध्वस्तकल्मषाः ॥ २०७ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

करते हैं और उसीके परिपाकसे देवेन्द्र होते हैं। इसलिए ही लोक और शास्त्रोंमें इन्द्रके शतक्रतु, शतमख और शताध्वर आदि नाम प्रसिद्ध हुए हैं तथा सब जगह सुनाई देते हैं॥ १९४-१९५ ॥ यदि यज्ञ शब्दका अर्थ हिंसा करना ही होता है तो इसके करनेवालेकी नरक गति होनी चाहिये। यदि ऐसा हिंसक भी स्वर्ग चला जाता है तो फिर जो हिंसा नहीं करते हैं उनकी अधोगति होना चाहिये—उन्हें नरक जाना चाहिये ॥ १९६ ॥ कदाचित् आपका यह अभिप्राय हो कि यज्ञमें जिसकी हिंसा की जाती है उसके शरीरका दान किया जाता है अर्थात् सबको वितरण किया जाता है और उसे मारकर देवोंकी पूजा की जाती है इस तरह यज्ञ शब्दका अर्थ जो दान देना और पूजा करना है उसकी सार्थकता हो जाती है ? तो आपका यह अभिप्राय ठीक नहीं है क्योंकि इस तरह दान और पूजाका जो अर्थ आपने किया है वह आपके ही घर मान्य होगा, सर्वत्र नहीं। यदि यज्ञ शब्दका अर्थ हिंसा ही है तो फिर धातुपाठमें जहाँ धातुओंके अर्थ बतलाये हैं वहाँ यजधातुका अर्थ हिंसा क्यों नहीं बतलाया ? वहाँ तो मात्र 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' अर्थात् यज धातु, देवपूजा, संगतिकरण और दान देना इतने अर्थोंमें आती है।' यही बतलाया है। इसलिए यज्ञ शब्दका अर्थ हिंसा करना कभी नहीं हो सकता। कदाचित् आप यह कहें कि यदि हिंसा करना यज्ञ शब्दका अर्थ नहीं है तो आर्य पुरुष प्राणिहिंसासे भरा हुआ यज्ञ क्यों करते हैं ? तो आपका यह कहना अशिक्षित अथवा मूर्खका लक्षण है—चिह्न है। क्योंकि आर्य और अनार्यके भेदसे यज्ञ दो प्रकारका माना जाता है॥ १९७-२०० ॥ इस कर्मभूमि रूपी जगत्के आदिमें होनेवाले परमब्रह्म श्रीवृषभदेव तीर्थंकरके द्वारा कहे हुए वेदमें जिसमें कि जीवादि छह द्रव्योंके भेदका यथार्थ उपदेश दिया गया है क्रोधाग्नि, कामाग्नि और उदराग्नि ये तीन अग्नियाँ बतलाई गई हैं। इनमें क्षमा वैराग्य और अनशनकी आहुतियाँ देनेवाले जो ऋषि यति मुनि और अनगाररूपी श्रेष्ठ द्विज वनमें निवास करते हैं वे आत्मयज्ञकर इष्ट अर्थको देनेवाली अष्टम पृथिवी-मोक्ष स्थानको प्राप्त होते हैं॥ २०१-२०३ ॥ इसके सिवाय तीर्थंकर गणधर तथा अन्य केवलियोंके उत्तम शरीरके संस्कारसे पूज्य एवं अग्निकुमार इन्द्रके मुकुटसे उत्पन्न हुई तीन अग्नियाँ हैं उनमें अत्यन्त भक्त तथा दान आदि उत्तमोत्तम क्रियाओंको करनेवाले तपस्वी, गृहस्थ, परमात्मपदको प्राप्त हुए अपने पिता तथा प्रपितामहको उद्देशकर ऋषिप्रणीत वेदमें कहे मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए जो अक्षत गन्ध फल आदिके द्वारा आहुति दी जाती है वह दूसरा आर्ष यज्ञ कहलाता है। जो निरन्तर यह यज्ञ करते हैं वे इन्द्र सामानिक आदि

---

१ श्रुतिः ल०। २ इष्यते म०, ल०। ३ ख पुस्तके २०१-२०२ पद्ययोः क्रमपरिवर्तो विद्यते। ४ स्थित्वार्ष ख०। ५ अनगाराः।

द्वितीय[1]ज्ञानवेदस्य सामान्येन सतः सदा । द्रव्यक्षेत्रादिभेदेन कर्तृणां तीर्थदेशिनाम् ॥ २०८ ॥
पञ्चकल्याणभेदेषु [2]देवयज्ञविधानतः । चितपुण्यफलं भुक्त्वा क्रमेणाप्स्यन्ति सिद्धताम् ॥ २०९ ॥
यागोऽयमृषिभिः प्रोक्तो यत्यगारिद्वयाश्रयः । आद्यो मोक्षाय साक्षात्स्यात्स्यात्परम्परया परः ॥२१०॥
एवं परम्परायातदेव[3]यज्ञविधिर्ध्विह । द्विलोकहितकृत्येषु वर्तमानेषु सन्ततम् ॥ २११ ॥
मुनिसुव्रततीर्थेशसन्ताने सगरद्विषः । महाकालासुरो हिंसायज्ञमज्ञोऽन्वशादमुम् ॥ २१२ ॥
कथं तदिति चेदस्मिन् भारते चारणादिके । युगले नगरे राजाऽजनि नाम्ना सुयोधनः ॥ २१३ ॥
देवी तस्यातिथिख्यातिस्तनूजा सुलसाऽनयोः । तस्याः स्वयंवरार्थेन दूतोक्त्या पुरमागते ॥ २१४॥
महीशमण्डले साकेतेशिनं सगराह्वयम् । तत्रागन्तुं समुद्युक्तमन्यदा [4]स्वशिरोरुहम् ॥ २१५ ॥
कलापे पलितं प्राच्यं ज्ञात्वा तैलोपलेपिना । निर्विद्य विमुखं याते विलोक्य कुशला तदा ॥ २१६ ॥
धात्री मन्दोदरी नाम तमित्वा पलितं नवम् । पवित्रं द्रव्यलाभं ते वदतीत्यत्यबूबुधत् ॥ २१७ ॥
तत्रैव सचिवो विश्वभूरयोध्यानृपतेस्तदा । प्राहाभ्युत्री सा स्वामेव सुलसाभिलषत्यलम् ॥ २१८ ॥
यथा तथाहं कर्तास्मि कौशलेनेत्यभाषत । तद्वचःश्रवणात्प्रीतः साकेतनगराधिपः ॥ २१९ ॥
चतुरङ्गबलेनामा सुयोधनपुरं ययौ । दिनेषु केषुचित्तत्र [5]यातेषु सुलसाऽन्तिके ॥ २२०॥
मन्दोदर्याः कुलं रूपं सौन्दर्यं विक्रमो नयः । विनयो विभवो बन्धुः सम्पदन्ये च ये स्तुताः ॥ २२१ ॥
गुणा वरस्य तेऽयोध्यापुरेशे राजपुत्रिका । तत्सर्वमवगम्यासीत्तस्मिन्नासंजिताशया ॥ २२२ ॥

माननीय पदोंपर अधिष्ठित होकर लौकान्तिक नामक देव ब्राह्मण होते हैं और अन्तमें समस्त पापोंको नष्टकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ २०४–२०७॥ दूसरा श्रुतज्ञानरूपी वेद सामान्यकी अपेक्षा सदा विद्यमान रहता है, उसके द्रव्य क्षेत्र आदिके भेदसे अथवा तीर्थंकरोंके पञ्च कल्याणकोंके भेदसे अनेक भेद हैं, उन सबके समय जो श्री जिनेन्द्रदेवका यज्ञ अर्थात् पूजन करते हैं वे पुण्यका सञ्चय करते हैं और उसका फल भोगकर क्रम क्रमसे सिद्ध अवस्था—मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ २०८–२०९ ॥ इस प्रकार ऋषियोंने यह यज्ञ मुनि और गृहस्थके आश्रमसे दो प्रकारका निरूपण किया है इनमेंसे पहला मोक्षका साक्षात् कारण है और दूसरा परम्परासे मोक्षका कारण है ॥ २१० ॥ इस प्रकार यह देवयज्ञकी विधि परम्परासे चली आई है, यही दोनों लोकोंका हित करनेवाली है और यही निरन्तर विद्यमान रहती है ॥ २११ ॥ किन्तु श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकरके तीर्थमें सगर राजासे द्वेष रखनेवाला एक महाकाल नामका असुर हुआ। उसी अज्ञानीने इस हिंसा यज्ञका उपदेश दिया है ॥२१२ ॥ महाकालने ऐसा क्यों किया। यदि यह जाननेकी इच्छा है तो सुन लीजिये। इसी भरतक्षेत्रमें चारणयुगल नामका नगर है। उसमें सुयोधन नामका राजा राज्य करता था ॥ २१३ ॥ उसकी पट्टरानीका नाम अतिथि था, इन दोनोंके सुलसा नामकी पुत्री थी। उसके स्वयंवरके लिए दूतोंके कहनेसे अनेक राजाओंका समूह चारणयुगल नगरमें आया था। अयोध्याका राजा सगर भी उस स्वयंवरमें जानेके लिए उद्यत था परन्तु उसके बालोंके समूहमें एक बाल सफेद था, तेल लगानेवाले सेवकसे उसे विदित हुआ कि यह बहुत पुराना है यह जानकर वह स्वयंवरमें जानेसे विमुख हो गया, उसे निर्वेद वैराग्य हुआ। राजा सगरकी एक मन्दोदरी नामकी धाय थी जो बहुत ही चतुर थी। उसने सगरके पास जाकर कहा कि यह सफेद बाल नया है और तुम्हें किसी पवित्र वस्तुका लाभ होगा यह कह रहा है। उसी समय विश्वभू नामका मन्त्री भी वहाँ आ गया और कहने लगा कि यह सुलसा अन्य राजाओंसे विमुख होकर जिस तरह आपको ही चाहेगी उसी तरह मैं कुशलतासे सब व्यवस्था कर दूँगा। मन्त्रीके वचन सुननेसे राजा सगर बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥ २१४–२१९ ॥ वह चतुरङ्ग सेनाके साथ राजा सुयोधनके नगरकी ओर चल दिया और कुछ दिनोंमें वहाँ पहुँच भी गया। सगरकी मन्दोदरी धाय उसके साथ आई थी। उसने सुलसाके पास जाकर राजा सगरके कुल, रूप, सौन्दर्य, पराक्रम, नय, विनय, विभव, बन्धु, सम्पत्ति तथा योग्य

---

१ यज्ञवेदस्य ख० । २ देवा यज्ञ ख० । ३ वेदयज्ञ ख० । ४ स्वशिरोरुह–म० । ५ याते ख० ।

तद्विदित्वाऽतिथिर्युक्तिमद्वचोभिः प्रदूष्य तम् । सुरम्यविषये पोदनाधीड् बाहुबलीशिनः ॥ २२३ ॥
कुले महीभुजां ज्येष्ठो मद्भ्राता तृणपिङ्गलः । तस्य सर्वयशा देवी तयोस्तुग्मधुपिङ्गलः ॥ २२४ ॥
सर्वैर्वरगुणैर्गण्यो नवे वयसि वर्तते । स त्वया मालया माननीयोऽद्य मदपेक्षया ॥२२५॥
साकेतपतिना किं ते सपत्निदुःखदायिना । इत्याहैतद्वचः सापि [1]सोपरोधाऽभ्युपागमत् ॥ २२६ ॥
तदा प्रभृति कन्यायाः समीप[2]गमनादिकम् । उपायेनातिथिर्देवी मन्दोदर्या न्यवारयत् ॥ २२७ ॥
धात्री च प्रस्तुतार्थस्य विघातमवदद्विभोः । नृपोऽपि मन्त्रिणं प्राह यदस्माभिरभीप्सितम् ॥ २२८ ॥
तत्त्वया सर्वथा साध्यमिति सोऽप्यभ्युपेत्य तत् । वरस्य लक्षणं शस्तमप्रशस्तं च वर्ण्यते ॥ २२९ ॥
येन तादृग्विधं ग्रन्थं समुत्पाद्य विचक्षणः । स्वयंवरविधानाख्यं विधायारोप्य पुस्तके ॥ २३० ॥
[3]मञ्जूषायां विनिक्षिप्य तदुद्यानवनान्तरे । धरातिरोहितं कृत्वा न्यधादविदितं परैः ॥ २३१ ॥
दिनेषु केषुचिद्यातेषूद्यानावनिशोधने । हलाग्रेणोद्धृतं मन्त्री मया दृष्टं यदृच्छया ॥ २३२ ॥
पुरातनमिदं शास्त्रमित्यजानन्निव स्वयम् । विस्मितो राजपुत्राणां समाजे तदवाचयत् ॥ २३३ ॥
सम्भावयतु पिङ्गाक्षं कन्यावरकदम्बके । न मालया मृतिस्तस्याः सा तं चेत्समवीभवत् ॥ २३४ ॥
तेनापि न प्रवेष्टव्या सभाह्रीभीत्रपावता । प्रविष्टोऽप्यत्र यः पापी ततो निर्घाल्यतामिति ॥ २३५ ॥
तदासौ सर्वमाकर्ण्य लज्जया मधुपिङ्गलः । तद्गुणत्वाच्चतो गत्वा हरिषेणगुरोस्तपः ॥ २३६॥

वरमें जो अन्य प्रशंसनीय गुण होते हैं उन सबका व्याख्यान किया। यह सब जानकर राजकुमारी सुलसा राजा सगरमें आसक्त हो गई ॥ २२०–२२२ ॥ जब सुलसाकी माता अतिथिको इस बातका पता चला तब उसने युक्तिपूर्ण वचनोंसे राजा सगरकी बहुत निन्दा की और कहा कि सुरम्यदेशके पोदनपुर नगरका राजा बाहुबलीके वंशमें होनेवाले राजाओंमें श्रेष्ठ तृणपिङ्गल नामका मेरा भाई है। उसकी रानीका नाम सर्वयशा है, उन दोनोंके मधुपिङ्गल नामका पुत्र है जो वरके योग्य समस्त गुणोंसे गणनीय हैं—प्रशंसनीय हैं और नई अवस्थामें विद्यमान है। आज तुझे मेरी अपेक्षासे ही उसे वरमाला डालकर सन्मानित करना चाहिये ॥ २२३–२२५ ॥ सौतका दुःख देनेवाले अयोध्या पति—राजा सगरसे तुझे क्या प्रयोजन है ? माता अतिथिने यह वचन कहे जिन्हें सुलसाने भी उसके आग्रहवश स्वीकृत कर लिया ॥ २२५ ॥ उसी समयसे अतिथि देवीने किसी उपायसे कन्याके समीप मन्दोदरीका आना जाना आदि बिलकुल रोक दिया ॥ २२६ ॥ मन्दोदरीने अपने प्रकृत कार्यकी रुकावट राजा सगरसे कही और राजा सगरने अपने मन्त्रीसे कहा कि हमारा जो मनोरथ है वह तुम्हें सब प्रकारसे सिद्ध करना चाहिये। बुद्धिमान् मन्त्रीने राजाकी बात स्वीकार कर स्वयंवर विधान नामका एक ऐसा ग्रन्थ बनवाया कि जिसमें वरके अच्छे और बुरे लक्षण बताये गये थे। उसने वह ग्रन्थ पुस्तकके रूपमें निबद्धकर एक सन्दूकचीमें रक्खा और वह सन्दूकची उसी नगर सम्बन्धी उद्यानके किसी वनमें जमीनमें छिपाकर रख दी। यह कार्य इतनी सावधानीसे किया कि किसीको इसका पता भी नहीं चला ॥ २२७–२३१ ॥ कितने ही दिन बीत जानेपर वनकी पृथिवी खोदते समय उसने हलके अग्रभागसे वह पुस्तक निकाली और कहा कि इच्छानुसार खोदते हुए मुझे यह सन्दूकची मिली है। यह कोई प्राचीन शास्त्र है इस प्रकार कहता हुआ वह आश्चर्य प्रकट करने लगा, मानो कुछ जानता ही नहीं हो। उसने वह पुस्तक राजकुमारोंके समूहमें बचवाई। उसमें लिखा था कि कन्या और वरके समुदायमें जिसकी आँख सफेद और पीली हो, मालाके द्वारा उसका सत्कार नहीं करना चाहिये। अन्यथा कन्याकी मृत्यु हो जाती है या वर मर जाता है। इसलिए पाप डर और लज्जावाले पुरुषको सभामें प्रवेश नहीं करना चाहिये। यदि कोई पापी प्रविष्ट भी हो जाय तो उसे निकाल देना चाहिये ॥ २३२–२३५ ॥ मधुपिङ्गलमें यह सब गुण विद्यमान थे अतः वह यह सब सुन लज्जावश वहाँसे बाहर चला गया और हरिषेण गुरुके पास जाकर उसने तप धारण कर लिया।

---

१ सापराधा ख० । २ समीपे गमनादिकम् म०, ल० । ३ मञ्जूषायां कुधीः शास्त्रं विनिक्षिप्य वनान्तरे ख०, म० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रपन्नस्तद्विदित्वा[1]गुप्तं सगरभूपतिः । विश्वभूश्चेष्टसंसिद्धावन्ये च कुटिलाशयाः ॥ २३७ ॥
सन्तस्तद्बान्धवाश्चान्ये विषादमगमँस्तदा । न पश्यन्त्यर्थिनः पापं वञ्चनासञ्चितं महत् ॥ २३८॥
अथ कृत्वा महापूजां दिनान्यष्टौ जिनेशिनाम् । तदन्तेऽभिषवं चैनां सुलसां कन्यकोत्तमाम् ॥ २३९ ॥
स्नातामलंकृतां शुद्धतिथिवारादिसन्निधौ । पुरोधा रथमारोप्य नीत्वा चारुभटावृताम् ॥ २४० ॥
नृपान् भद्रासनारूढान् स स्वयंवरमण्डपे । यथाक्रमं विनिर्दिश्य कुलजात्यादिभिः पृथक् ॥ २४१ ॥
व्यरमत् सा समासक्ता साकेतपुरनायकम् । अकरोत्कण्ठदेशे तं मालालंकृतविग्रहम् ॥ २४२ ॥
अनयोरनुरूपोऽयं सङ्गमो वेधसा कृतः । इत्युक्त्वा मत्सरापेतमनुष्यद्रूपमण्डलम् ॥ २४३ ॥
कल्याणविधिपर्यासौ[2] स्थित्वा तत्रैव कानिचित् । दिनानि सागरः श्रीमान् सुखेन सुलसान्वितः ॥२४४॥
साकेतनगरं गत्वा भोगाननुभवन् स्थितः । मधुपिङ्गलसाधोश्च वर्तमानस्य संयमे ॥ २४५ ॥
पुरमेकं तनुस्थित्यै विशतो वीक्ष्य लक्षणम् । कश्चिन्नैमित्तिको यूनः पृथ्वीराज्यार्हदेहजैः[3] ॥ २४६ ॥
लक्षणैरेष भिक्षाशी किल किं लक्षणागमैः[4] । इत्यनिन्द्रादाकर्ण्य परोऽप्येवमभाषत ॥ २४७ ॥
एष राज्यश्रियं[5] भुञ्जन् सृषा सगरमन्त्रिणा । कृत्रिमागममा[6]दर्श्य दूषितः सन् ह्रिया तपः ॥ २४८ ॥
प्रपन्नवान् गते चास्मिन् सुलसां सगरोऽग्रहीत् । इति तद्वचनं श्रुत्वा मुनिः क्रोधाग्निदीपितः ॥ २४९ ॥
जन्मान्तरे फलेनास्य तपसः सगरान्वयम् । सर्वं निर्मूलयामीति विधीः कृतनिदानकः ॥ २५० ॥
मृत्वासावसुरेन्द्रस्य महिषानीक आदिमे । कक्षाभेदे चतुःषष्टिसहस्रासुरनायकः ॥ २५१ ॥

यह जानकर अपनी इष्टसिद्धि होनेसे राजा सगर, विश्वभू मन्त्री, तथा कुटिल अभिप्रायवाले अन्य मनुष्य हर्षको प्राप्त हुए ॥ २३६–२३७ ॥ मधुपिङ्गलके भाई-बन्धुओंको तथा अन्य सज्जन मनुष्योंको उस समय दुःख हुआ । देखो स्वार्थी मनुष्य दूसरोंको ठगनेसे उत्पन्न हुए बड़े भारी पापको नहीं देखते हैं ॥ २३८ ॥ इधर राजा सुयोधनने आठ दिनतक जिनेन्द्र भगवान्की महापूजा की, और उसके अन्तमें अभिषेक किया । तदनन्तर उत्तम कन्या सुलसाको स्नान कराया, आभूषण पहिनाये, और शुद्ध तिथि वार आदिके दिन अनेक उत्तम योद्धाओंसे घिरी हुई उस कन्याको पुरोहित रथमें बैठाकर स्वयंवर-मण्डपमें ले गया ॥ २३९–२४० ॥ वहाँ अनेक राजा उत्तम उत्तम आसनोंपर समारूढ़ थे । पुरोहित उनके कुल जाति आदिका पृथक् पृथक् क्रम पूर्वक निर्देश करने लगा परन्तु सुलसा अयोध्याके राजा सगरमें आसक्त थी अतः उन सब राजाओंको छोड़ती हुई आगे बढ़ती गई और सगरके गलेमें ही माला डालकर उसका शरीर मालासे अलंकृत किया ॥ २४१–२४२ ॥ 'इन दोनोंका समागम विधाताने ठीक ही किया है' यह कहकर वहाँ जो राजा ईर्ष्या रहित थे वे बहुत ही सन्तुष्ट हुए ॥ २४३ ॥ विवाहकी विधि समाप्त होनेपर लक्ष्मीसम्पन्न राजा सगर सुलसाके साथ वहींपर कुछ दिनतक सुखसे रहा ॥ २४४ ॥ तदनन्तर अयोध्या नगरीमें जाकर भोगोंका अनुभव करता हुआ सुखसे रहने लगा। इधर मधुपिङ्गल साधु-संयम धारण कर रहे थे । एक दिन वे आहारके लिए किसी नगरमें गये थे । वहाँ कोई निमित्तज्ञानी उनके लक्षण देखकर कहने लगा कि 'इस युवाके चिह्न तो पृथिवीका राज्य करनेके योग्य हैं परन्तु यह भिक्षा भोजन करनेवाला है इससे जान पड़ता है कि इन सामुद्रिक शास्त्रोंसे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? ये सब व्यर्थ हैं' । इस प्रकार उस निमित्तज्ञानीने लक्षणशास्त्र—सामुद्रिक शास्त्रकी निन्दा की । उसके साथ ही दूसरा निमित्तज्ञानी था वह कहने लगा कि 'यह तो राज्यलक्ष्मीका ही उपभोग करता था परन्तु सगर राजाके मन्त्रीने झूठ झूठ ही कृतिमशास्त्र दिखलाकर इसे दूषित ठहरा दिया और इसीलिए इसने लज्जावश तप धारण कर लिया । इसके चले जानेपर सगरने सुलसाको स्वीकृत कर लिया' । उस निमित्तज्ञानीके वचन सुनकर मधुपिङ्गल मुनि क्रोधाग्निसे प्रज्वलित हो गये ॥ २४५–२४६ ॥ मैं इस तपके फलसे दूसरे जन्ममें राजा सगरके समस्त वंशको निर्मूल करूँगा' ऐसा उन बुद्धिहीन मधुपिङ्गल मुनिने

---

१ विदित्वागात् ख०, म० । विदित्वापु-ल० । २ पर्यासो ल० । ३ देहजः ब० । ४–गमे ख० । ५ श्रियो ग० । ६–माकर्ण्य ल० ।–माकल्प्य म० ।

महाकालोऽभवत्तत्र देवैरावेष्टितो निजैः । देवलोकमिमं केन प्राप्तोऽहमिति संस्मरन् ॥ २५२ ॥
ज्ञात्वा विभङ्गज्ञानोपयोगेन प्राक्तने भवे । प्रवृत्तमखिलं पापी कोपाविष्कृतचेतसा ॥ २५३ ॥
तस्मिन् मन्त्रिणि भूपे च रूढवैरोऽपि तौ तदा । अनिच्छन् हन्तुमत्युग्रं सुचिकीर्षुरहं तयोः ॥ २५४ ॥
तदुपायसहायांश्च सञ्चिन्त्य समुपस्थितः । नाचिन्तयन् महत्पापमात्मनो धिग्विमूढताम् ॥ २५५ ॥
इदं प्रकृतमन्यत्तदभिप्रायसाधनम् । द्वीपेऽत्र भरते देशे धवले स्वस्तिकावती ॥ २५६ ॥
पुरं विश्वावसुस्तस्य पालको हरिवंशजः । देव्यस्य श्रीमती नाम्ना वसुरासीत्सुतोऽनयोः ॥ २५७ ॥
तत्रैव ब्राह्मणः पूज्यः सर्वशास्त्रविशारदः । अभूत्क्षीरकदम्बाख्यो विख्यातोऽध्यापकोत्तमः ॥ २५८ ॥
[1]समीपे तस्य तत्सूनुः पर्वतोऽन्यश्च नारदः । देशान्तरगतच्छात्रस्तुग्वसुश्च महीपतेः ॥२५९॥
एते त्रयोऽपि विद्यानां पारमापत्स पर्वतः । तेष्वधीर्विपरीतार्थग्राहीमोहविपाकतः ॥२६०॥
शेषौ यथोपदिष्टार्थग्राहिणौ ते त्रयोऽप्यगुः । वनं दर्भादिकं चेतुं सोपाध्यायाः कदाचन ॥२६१॥
गुरुः श्रुतधरो नाम तत्राचलशिलातले । स्थितो मुनित्रयं तस्मात्कृत्वाष्टाङ्गनिमित्तकम् ॥२६२॥
तत्समाप्तौ स्तुतिं कृत्वा सुस्थितं तन्निरीक्ष्य सः । तन्नैःपुण्यपरीक्षार्थं समपृच्छन्मुनीश्वरः ॥२६३॥
पठच्छात्रत्रयस्यास्य नाम किं कस्य किं कुलम् । को भावः का गतिः प्रान्ते भवद्भिः कथ्यतामिति ॥२६४॥
तेष्वेकोऽभाषतात्मज्ञः श्रृण्वित्यस्मत्समीपगः । वसुः क्षितिपतेः सूनुः तीव्ररागादिदूषितः ॥२६५॥

निदान कर लिया। अन्तमें मरकर वे असुरेन्द्रकी महिष जातिकी सेनाकी पहिली कक्षामें चौंसठ हजार असुरोंका नायक महाकाल नामका असुर हुआ। वहाँ उत्पन्न होते ही उसे अनेक आत्मीय देवोंने घेर लिया। मैं इस देव लोकमें किस कारणसे उत्पन्न हुआ हूँ। जब वह इस बातका स्मरण करने लगा तो उसे विभङ्गावधिज्ञानके द्वारा अपने पूर्वभवका सब समाचार याद आ गया। याद आते ही उस पापीका चित्त क्रोधसे भर गया। मन्त्री और राजाके ऊपर उसका वैर जम गया। यद्यपि उन दोनोंपर उसका वैर जमा हुआ था तथापि वह उन्हें जानसे नहीं मारना चाहता था, उसके बदले वह उनसे कोई भयङ्कर पाप करवाना चाहता था ॥ २५०–२५४ ॥ वह असुर इसके योग्य उपाय तथा सहायकोंका विचार करता हुआ पृथिवीपर आया परन्तु उसने इस बातका विचार नहीं किया कि इससे मुझे बहुत भारी पापका सञ्चय होता है। आचार्य कहते हैं कि ऐसी मूढ़ताके लिए धिक्कार हो ॥२५५॥ उधर वह अपने कार्यके योग्य उपाय और सहायकोंकी चिन्ता कर रहा था इधर उसके अभिप्रायको सिद्ध करनेवाली दूसरी घटना घटित हुई जो इस प्रकार है। इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्रके धवल देशमें एक स्वस्तिकावती नामका नगर है। हरिवंशमें उत्पन्न हुआ राजा विश्वावसु उसका पालन करता था। इसकी स्त्रीका नाम श्रीमती था। उन दोनोंके वसु नामका पुत्र था ॥ २५६–२५७ ॥ उसी नगरमें एक क्षीरकदम्ब नामका पूज्य ब्राह्मण रहता था। वह समस्त शास्त्रोंका विद्वान् था और प्रसिद्ध श्रेष्ठ अध्यापक था ॥ २५८ ॥ उसके पास उसका लड़का पर्वत, दूसरे देशसे आया हुआ नारद और राजाका पुत्र वसु ये तीन छात्र एक साथ पढ़ते थे ॥ २५९ ॥ ये तीनों ही छात्र विद्याओंके पारको प्राप्त हुए थे, परन्तु उन तीनोंमें पर्वत निर्बुद्धि था, वह मोहके उदयसे सदा विपरीत अर्थ ग्रहण करता था। बाकी दो छात्र, पदार्थका स्वरूप जैसा गुरु बताते थे वैसा ही ग्रहण करते थे। किसी एक दिन ये तीनों अपने गुरुके साथ कुशा आदि लानेके लिए वनमें गये थे ॥ २६०–२६१ ॥ वहाँ एक पर्वतकी शिलापर श्रुतधर नामके गुरु विराजमान थे। अन्य तीन मुनि उन श्रुतधर गुरुसे अष्टाङ्ग-निमित्तज्ञानका अध्ययन कर रहे थे। जब अष्टाङ्गनिमित्त ज्ञानका अध्ययन पूर्ण हो गया तब वे तीनों मुनि उन गुरुकी स्तुति कर बैठ गये। उन्हें बैठा देखकर श्रुतधर मुनिराजने उनकी चतुराईकी परीक्षा करनेके लिए पूछा कि 'जो ये तीन छात्र बैठे हैं इनमें किसका क्या नाम है? क्या कुल है? क्या अभिप्राय है? और अन्तमें किसकी क्या गति होगी? यह आप लोग कहें ॥ २६२–२६४ ॥ उन तीन मुनियोंमें एक आत्मज्ञानी मुनि थे। वे कहने लगे कि सुनिये, यह जो राजाका पुत्र वसु

---

१ समये ल०।

हिंसाधर्मं विनिश्चित्य [1]नरकावासमेष्यति । [2]परोऽब्रवीदयं मध्यस्थितो ब्राह्मणपुभ्रकः ॥२६६॥
पर्वताख्यो विधीः क्रूरो महाकालोपदेशनात् । पठित्वाथर्वणं पापशास्त्रं दुर्मार्गदेशकः ॥२६७॥
हिंसैव धर्म इत्यज्ञो रौद्रध्यानपरायणः । बहूँस्तत्र प्रवर्त्यास्मिन् नरकं यास्यतीत्यतः ॥२६८॥
तृतीयोऽपि ततोऽवादीदेष पश्चादवस्थितः । नारदाख्यो द्विजो धीमान् धर्मध्यानपरायणः ॥२६९॥
अहिंसालक्षणं धर्ममाश्रितानामुदाहरन् । पतिर्गिरितटाख्यायाः पुरो भूत्वा परिग्रहम् ॥२७०॥
परित्यज्य तपः प्राप्य प्रान्तानुत्तरमेष्यति । इत्येवं तैस्त्रिभिः प्रोक्तं श्रुत्वा सम्यग्मयोदितम् ॥२७१॥
सोपदेशं धृतं सर्वैरित्यस्तावीन्मुनिश्च तान् । सर्वमेतदुपाध्यायः प्रत्यासन्नद्रुमाश्रयः ॥२७२॥
प्रणिधानात्तदाकर्ण्य तदेतद्विधिचेष्टितम् । एतयोरशुभं धिग्धिक् किं मयात्र विधीयते ॥२७३॥
विचिन्त्येति यतीन् भक्त्या तत्स्थ एवाभिवन्द्य तान् । वैमनस्येन तैश्छात्रैर्नगरं प्राविशत् समम्॥२७४॥
शास्त्रबालत्वयोरेकवत्सरे परिपूरणे । वसोः पिता स्वयं पट्टं बध्वा प्रायात्तपोवनम् ॥२७५॥
वसुः निष्कण्टकं पृथ्वीं पालयन् हेलयान्यदा । वनं विहर्तुमभ्येत्य पयोधरपथाद् द्विजान् ॥२७६॥
प्रस्खल्य पतितान् वीक्ष्य विस्मयादिति खाद् द्रुतम् । पततां हेतुनावश्यं भवितव्यमिति स्फुटम् ॥२७७॥
मत्वाकृष्यधनुर्बाणममुञ्चत्प्रदेशवित् । स्खलित्वा [3]पतितं तस्मात्तं समीक्ष्य महीपतिः ॥२७८॥
तत्प्रदेशं स्वयं गत्वा रथिकेन सहास्पृशत् । आकाशस्फटिकस्तम्भं विज्ञायाविदितं परैः ॥२७९॥

हमारे पास बैठा हुआ है वह तीव्र रागादिदूषित है अतः हिंसारूप धर्मका निश्चयकर नरक जावेगा। तदनन्तर बीचमें बैठे हुए दूसरे मुनि कहने लगे कि यह जो ब्राह्मणका लड़का है इसका पर्वत नाम है, यह निर्बुद्धि है, क्रूर है, यह महाकालके उपदेशसे अथर्ववेद नामक पापप्रवर्तक शास्त्रका अध्ययनकर खोटे मार्गका उपदेश देगा, यह अज्ञानी हिंसाको ही धर्म समझता है, निरन्तर रौद्रध्यानमें तत्पर रहता है और बहुत लोगोंको उसी मिथ्यामार्गमें प्रवृत्त करता है अतः नरक जावेगा ॥ २६५-२६८ ॥ तदनन्तर तीसरे मुनि कहने लगे कि यह जो पीछे बैठा है इसका नारद नाम है, यह जातिका ब्राह्मण है, बुद्धिमान् है, धर्मध्यानमें तत्पर रहता है, अपने आश्रित लोगोंको अहिंसारूप धर्मका उपदेश देता है, यह आगे चलकर गिरितट नामक नगरका राजा होगा और अन्तमें परिग्रह छोड़कर तपस्वी होगा तथा अन्तिम अनुत्तरविमानमें उत्पन्न होगा। इस प्रकार उन तीनों मुनियोंका कहा सुनकर श्रुतधर मुनिराजने कहा कि तुम लोगोंने मेरा कहा उपदेश ठीक ठीक ग्रहण किया है' ऐसा कहकर उन्होंने उन तीनों मुनियोंकी स्तुति की। इधर एक वृक्षके आश्रयमें बैठा हुआ क्षीरकदम्ब उपाध्याय, यह सब बड़ी सावधानीसे सुन रहा था। सुनकर वह विचारने लगा कि विधिकी लीला बड़ी ही विचित्र है, देखो, इन दोनोंकी—पर्वत और वसुकी अशुभगति होनेवाली है, इनके अशुभ कर्मको धिक्कार हो, धिक्कार हो, मैं इस विषयमें कर ही क्या सकता हूँ ? ॥ २६९-२७३ ॥ ऐसा विचारकर उसने उन मुनियोंको वहीं वृक्षके नीचे बैठे बैठे भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और फिर बड़ी उदासीनतासे उन तीनों छात्रोंके साथ वह अपने नगरमें आ गया ॥ २७४ ॥ एक वर्षके बाद शास्त्राध्ययन तथा बाल्यावस्था पूर्ण होनेपर वसुके पिता विश्वावसु, वसुको राज्यपट्ट बाँधकर स्वयं तपोवनके लिए चले गये ॥ २७५ ॥ इधर वसु पृथिवीका अनायास ही निष्कण्टक पालन करने लगा। किसी एक दिन वह विहार करनेके लिए वनमें गया था। वहीं क्या देखता है कि बहुतसे पक्षी आकाशमें जाते-जाते टकराकर नीचे गिर रहे हैं। यह देख उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह विचार करने लगा कि आकाशसे जो ये पक्षी नीचे गिर रहे हैं इसमें कुछ कारण अवश्य होना चाहिये ॥ २७६-२७७ ॥ यह विचार, उसने उस स्थानका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए धनुष खींचकर एक बाण छोड़ा वह बाण भी वहाँ टकराकर नीचे गिर पड़ा। यह देख, राजा वसु वहाँ स्वयं गया और सारथिके साथ उसने उस स्थानका स्पर्श किया। स्पर्श करते ही उसे मालूम हुआ कि यह आकाश स्फटिकका स्तम्भ है, वह स्तम्भ आकाशके रङ्गसे इतना मिलता जुलता था कि किसी दूसरेको

---

१ नारकावास म०, ल० । २ पुरो क०, ख०, घ० । ३ पतितैस्मात् ल० (?) ।

आनाय्य तेन निर्माप्य पृथुपादचतुष्टयम् । तत्सिंहासनमारुह्य सेव्यमानो नृपादिभिः ॥२८०॥
वसुः सत्यस्य माहात्म्यात्स्थितः खे सिंहविष्टरे । इति विस्मयमानेन जनेनाघोषितोन्नतिः ॥२८१॥
तस्थावेवं प्रयात्यस्य काले पर्वतनारदौ । समित्पुष्पार्थमभ्येत्य वनं नद्याः प्रवाहजम् ॥२८२॥
जलं पीत्वा मयूराणां सप्तानां मार्गदर्शनात् । दृष्ट्वाऽपे नारदस्तत्र हे पर्वत शिखावलः ॥२८३॥
तेष्वेकोऽस्ति स्त्रियः सप्तैवेति तच्छ्रवणादसौ । मृषेत्यसोढा चित्तेव व्यधात् पणितबन्धनम् ॥२८४॥
[1]गत्वा ततोऽन्तरं किञ्चित् सद्भूतं नारदोदितम्। विदित्वा विस्मयं सोऽगान्मनागस्मात्पुरोगतः ॥२८५॥
[1]करेणुमार्गमालोक्य सस्मितं नारदोऽवदत् । अन्धवामेक्षणा हस्तिवशैकात्राधुना गता ॥२८६॥
अन्धसर्पविलायानमिव ते पूर्वभाषितम् । आसीद्यदच्छिकं सत्यमिदं तु परिहास्यताम् ॥२८७॥
प्रयाति तव विज्ञानं मया विदितमस्ति किम् । इति स्मितं स सासूयं चित्ते विस्मयमास्थवान् ॥२८८॥
तमसत्यं पुनः कर्तुं करिणीगमनानुगः । [2]पुराऽन्तर्नारदोद्दिष्टमुपलभ्य तथैव तत् ॥२८९॥
सशोको गृहमागत्य नारदोक्तं सविस्मयः । मातरं बोधयित्वाह नारदस्येव मे पिता ॥२९०॥
नावोचच्छास्त्रयाथात्म्यमस्ति मय्यस्य नादरः । इति पुत्रवचस्तस्या हृदयं निशितास्त्रवत् ॥२९१॥
विदार्य प्राविशत्पापाद्विपरीतावमर्शनात् । ब्राह्मणी तद्वचश्चिरोनावधार्य शुचं गता ॥२९२॥
कृत्वा स्नानाग्निहोत्रादि भुक्त्वा स्वब्राह्मणे स्थिते । अब्रवीत् पर्वतप्रोक्तं तन्निशम्य विदां वरः ॥२९३॥
निर्विशेषोपदेशोऽहं सर्वेषां पुरुषं प्रति । विभिन्ना बुद्धयस्तस्माद्भारदः कुशलोऽभवत् ॥२९४॥

आजतक उसका बोध नहीं हुआ था ॥ २७८–२७९ ॥ राजा वसुने उस स्तम्भको घर लाकर उसके चार बड़े बड़े पाये बनवाये और उनका सिंहासन बनवाकर वह उसपर आरूढ़ हुआ। उस समय अनेक राजा आदि उसकी सेवा करते थे। लोग बड़े आश्चर्यसे उसकी उन्नतिकी घोषणा करते हुए कहते थे कि देखो, राजा वसु सत्यके माहात्म्यसे सिंहासनपर अधर आकाशमें बैठता है ॥२८०–२८१॥ इस प्रकार इधर राजा वसुका समय बीत रहा था उधर एक दिन पर्वत और नारद, समिधा तथा पुष्प लानेके लिए वनमें गये थे। वहाँ वे क्या देखते हैं कि कुछ मयूर नदीके प्रवाहका पानी पीकर गये हुए हैं। उनका मार्ग देखकर नारदने पर्वतसे कहा कि हे पर्वत ! ये जो मयूर गये हुए हैं उनमें एक तो पुरुष है और बाकी सात स्त्रियाँ हैं। नारदकी बात सुनकर पर्वतने कहा कि तुम्हारा कहना झूठ है, उसे मनमें यह बात सह्य नहीं हुई अतः उसने कोई शर्त बाँध ली ॥ २८२–२८४ ॥ तदनन्तर कुछ आगे जाकर जब उसे इस बातका पता चला कि नारदका कहा सच है तो वह आश्चर्यको प्राप्त हुआ। वे दोनों वहाँसे कुछ और आगे बढ़े तो नारद हाथियोंका मार्ग देखकर मुसकराता हुआ बोला कि यहाँसे जो अभी हस्तिनी गई है उसका बाँया नेत्र अन्धा है ॥ २८५–२८६ ॥ पर्वतने कहा कि तुम्हारा पहला कहना अन्धे साँपका बिलमें पहुंच जानेके समान यों ही सच निकल आया यह ठीक है परन्तु तुम्हारा यह विज्ञान हँसीको प्राप्त होता है। मैं क्या समझूँ ? इस तरह हँसते हुए ईर्ष्याके साथ उसने कहा और चित्तमें आश्चर्य प्राप्त किया ॥ २८७–२८८ ॥ तदनन्तर नारदको झूठा सिद्ध करनेके लिए वह हस्तिनीके मार्गका अनुसरण करता हुआ आगे बढ़ा और नगरतक पहुँचनेके पहले ही उसे इस बातका पता चल गया कि नारदने जो कहा था वह सच है ॥ २८९ ॥ अब तो पर्वतके शोकका पार नहीं रहा। वह शोक करता हुआ बड़े आश्चर्यसे घर आया और नारदकी कही हुई सब बात मातासे कहकर कहने लगा कि पिताजी जिस प्रकार नारदको शास्त्रकी यथार्थ बात बतलाते हैं उस प्रकार मुझे नहीं बतलाते हैं। ये सदा मेरा अनादर करते हैं। इसतरह पापोदयसे विपरीत विचार करनेके कारण पुत्रके वचन, तीक्ष्णशस्त्रके समान उसके हृदयको चीरकर भीतर घुस गये। ब्राह्मणी पुत्रके वचनोंका विचारकर हृदयसे शोक करने लगी ॥ २९०–२९२ ॥ जब ब्राह्मण क्षीरकदम्ब स्नान, अग्नि होत्र तथा भोजन करके बैठा तब ब्राह्मणीने पर्वतके द्वारा कही हुई सब बात कह सुनाई। उसे

---

१ इति सर्वत्र पुस्तकेषु पाठः। ल० पुस्तके तु भ्रष्टो विपर्यस्तो वा। २ पुरा तन्नारदोद्दिष्ट ख०, ग०। पुरोऽन्तर्नारदोद्दिष्ट म०। पुरोन्तर्नारदादिष्ट ल०।

प्रकृत्या त्वत्सुतो मन्दो नासूयास्मिन् विधीयताम्[1] । इति तत्प्रत्ययं कर्तुं नारदं सुतसन्निधौ ॥२९५॥
वद केन वने भ्राम्यन्पर्वतस्योदयादयः । विस्मयं बह्विति प्राह सोऽपि सम्रश्रयोऽभ्यधात् ॥२९६॥
वनेऽहं पर्वतेनामा गच्छन्नर्मकथारतः[2] । शिखिनां पीतवारीणां सद्यो नद्या निवर्तने ॥२९७॥
स्वचन्द्रककलापाम्भोमध्यमज्जनगौरवात् । भीत्वा व्यावृत्य विमुखं कृतपश्चात्पदस्थितिः ॥२९८॥
कलापी गतवानेकः शेषाश्च तज्जलार्दिताः[3] । पन्नभागं विधूयागुस्तं दृष्ट्वा समभाषिषि ॥२९९॥
पुमानेकः स्त्रियश्चान्या इति मत्वानुमानतः । ततो वनान्तरात्किञ्चिदागत्य पुरसन्निधौ ॥३००॥
तथा करिण्याः पादाभ्यां पश्चिमाभ्यां प्रयाणके । स्वमूत्रघट्टनाद्भागे दक्षिणे तरुवीरुधाम् ॥३०१॥
भङ्गेन मार्गात्प्रच्युत्य श्रमादारूढयोषितः । शीतच्छायाभिलाषेण सुप्तायाः पुलिनस्थले ॥३०२॥
उदरस्पर्शमार्गेण दशया गुल्मशक्तया । करिणीश्रितगोहाग्रसितोद्यत्केतनेन च ॥३०३॥
मया तदुक्तमित्येतद्वचनाद् द्विजसत्तमः । निजापराधभावस्याभावमाविरभावयत् ॥३०४॥
तदा पर्वतमातापि प्रसन्नाभूत्पुनश्च सः । तस्यास्तन्मुनिवाक्यार्थसम्प्रत्ययविधित्सुकः ॥३०५॥
स्वपुत्रछात्रयोर्भावपरीक्षायै द्विजाग्रणीः । स्थित्वा सजानिरेकान्ते कृत्वा पिष्टेन वस्तकौ ॥३०६॥
देशेऽर्चित्वा पराद्दश्ये गन्धमाल्यादिमङ्गलैः । कर्णच्छेदं[4] विधायैतावद्यैवानयतं युवाम् ॥३०७॥
इत्यवादीत्ततः पापी पर्वतोऽस्ति न कश्चन । वनेऽस्मिन्निति विच्छिद्य कर्णौ पितरमागतः ॥३०८॥

सुनकर ज्ञानियोंसे श्रेष्ठ ब्राह्मण कहने लगा कि मैं तो सबको एकसा-उपदेश देता हूँ परन्तु प्रत्येक पुरुषकी बुद्धि भिन्न भिन्न हुआ करती है यही कारण है कि नारद कुशल हो गया है। तुम्हारा पुत्र स्वभावसे ही मन्द है, इसलिए नारदपर व्यर्थ ही ईर्ष्या न करो। यह कहकर उसने विश्वास दिलानेके लिए पुत्रके समीप ही नारदसे कहा कि कहो, आज वनमें घूमते हुए तुमने पर्वतका क्या उपद्रव किया था? गुरुकी बात सुनकर वह कहने लगा कि बड़ा आश्चर्य है? यह कहते हुए उसने बड़ी विनयसे कहा कि मैं पर्वतके साथ विनोद-वार्ता करता हुआ वनमें जा रहा था। वहाँ मैंने देखा कि कुछ मयूर पानी पीकर नदीसे अभी हाल लौट रहे हैं ॥ २९३–२९७ ॥ उनमें जो मयूर था वह अपनी पूँछके चन्द्रक पानीमें भीगकर भारी हो जानेके भयसे अपने पैर पीछेकी ओर रख फिर मुँह फिराकर लौटा था और बाकी जलसे भीगे हुए अपने पङ्ख फटकारकर जा रहे थे। यह देख मैंने अनुमान द्वारा पर्वतसे कहा था कि इनमें एक पुरुष है और बाकी स्त्रियाँ हैं। इसके बाद वनके मध्यसे चलकर किसी नगरके समीप देखा कि चलते समय किसी हस्तिनीके पिछले पैर उसीके मूत्रसे भीगे हुए हैं इससे मैंने जाना कि यह हस्तिनी है। उसके दाहिनी ओरके वृक्ष और लताएँ टूटी हुई थीं इससे जाना कि यह हथिनी बाँई आँखसे कानी है। उसपर बैठी हुई स्त्री मार्गकी थकावटसे उतरकर शीतल छायाकी इच्छासे नदीके किनारे सोई थी वहाँ उसके उदरके स्पर्शसे जो चिह्न बन गये थे उन्हें देखकर मैंने जानता था कि यह स्त्री गर्भिणी है। उसकी साड़ीका एक छोड़ किसी झाड़ीमें उलझकर लग गया था इससे जाना था कि वह सफेद साड़ी पहने थी। जहाँ हस्तिनी ठहरी थी उस घरके अग्रभागपर सफेद ध्वजा फहरा रही थी इससे अनुमान किया था कि इसके पुत्र होगा। इसप्रकार अनुमानसे मैंने ऊपरकी सब बातें कही थीं। नारदकी ये सब बातें सुनकर उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने ब्राह्मणीके समक्ष प्रकट कर दिया कि इसमें मेरा अपराध कुछ भी नहीं है—मैंने दोनोंको एक समान उपदेश दिया है ॥ २९८–३०४ ॥ उस समय पर्वतकी माता भी यह सब सुनकर बहुत प्रसन्न हुई थी। तदनन्तर उस ब्राह्मणने पर्वतकी माताको उन मुनियोंके वचनोंका विश्वास दिलानेकी इच्छा की। वह अपने पुत्र पर्वत और विद्यार्थी नारदके भावोंकी परीक्षा करनेके लिए स्त्रीसहित एकान्तमें बैठा। उसने आटेके दो बकरे बनाकर पर्वत और नारदको सौंपते हुए कहा कि जहाँ कोई देख न सके ऐसे स्थानमें ले जाकर चन्दन तथा माला आदि माङ्गलिक पदार्थोंसे इनकी पूजा करो और फिर कान काटकर इन्हें आज ही यहाँ ले आओ ॥ ३०५–३०७ ॥ तदनन्तर पापी पर्वतने सोचा कि इस वनमें कोई नहीं है इसलिए वह एक

---

१ विधीयते म०, ल० । २ कर्मकथारतः क०, घ० । नर्मकथान्तरम् ल० । ३ तज्जलार्द्रितं ख०, म० । ४ विध्यैना-ख० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

त्वया पूज्य [1]यथोद्दिष्टं तत्तथैव मया कृतम् । इति वीतघृणो हर्षात्स्वप्रेषणमबूबुधत् ॥३०९॥
नारदोऽपि वनं यातोऽदृश्यदेशेऽस्य कर्णयोः । कर्तव्यश्छेद इत्युक्तं गुरुणा चन्द्रभास्करौ ॥३१०॥
नक्षत्राणि ग्रहास्तारकाश्च पश्यन्ति देवताः । [2]सदा सन्निहिता सन्ति पक्षिणो मृगजातयः ॥३११॥
नैते शक्त्या निराकर्तुमित्येत्य गुरुसन्निधिम्[3] । भव्यात्माऽदृष्टदेशस्य वने केनाप्यसम्भवात् ॥३१२॥
नामादिचतुरर्थेषु पापापख्यातिकारण- । क्रियायामविधेयत्वाच्चाहमानीतवानिमम् ॥३१३॥
इत्याह तद्वचः श्रुत्वा स्वसुतस्य जडात्मताम् । विचिन्त्यैकान्तवाद्युक्तं सर्वथा कारणानुगम् ॥३१४॥
कार्यमित्येतदेकान्तमन्तं कुमतमेव तत् । कारणानुमतं कार्यं क्वचित्तत्क्वचिदन्यथा ॥३१५॥
इति स्याद्वादसन्दृष्टं सत्यमित्यभितुष्टवान् । शिष्यस्य योग्यतां चित्ते निधाय बुधसत्तमः ॥३१६॥
हे नारद त्वमेवात्र सूक्ष्मप्रज्ञो यथार्थवित् । इतः प्रभृत्युपाध्यायपदे त्वं स्थापितो मया ॥३१७॥
व्याख्येयानि त्वया सर्वशास्त्राणीति प्रपूज्य तम् । प्रावर्द्धयद् गुणैरेव प्रीतिः सर्वत्र धीमताम् ॥३१८॥
निजाभिमुखमासीनं तनूजं चैवमब्रवीत् । विनाङ्गस्त्वं विवेकेन [4]व्यधाश्चैतद्विरूपकम् ॥३१९॥
कार्याकार्यविवेकस्ते न श्रुतादपि विद्यते । कथं जीवसि मच्चक्षुःपरोक्षे गतधीरिति ॥३२०॥
एवं पित्रा सशोकेन कृतशिक्षोऽविचक्षणः । नारदे बद्धवैरोऽभूत्कुधियामीदृशी गतिः ॥३२१॥
स कदाचिदुपाध्यायः सर्वसङ्गान् परित्यजन् । पर्वतस्तस्य माता च मन्दबुद्धी तथापि तौ ॥३२२॥

बकरेके दोनों कान काटकर पिताके पास वापस आ गया और कहने लगा कि हे पूज्य ! आपने जैसा कहा था मैंने वैसा ही किया है। इसप्रकार दयाहीन पर्वतने बड़े हर्षसे अपना कार्य पूर्ण करनेकी सूचना पिताको दी ॥३०८-३०९॥ नारद भी वनमें गया और सोचने लगा कि 'अदृश्य स्थानमें जाकर इसके कान काटना है' ऐसा गुरुजीने कहा था परन्तु यहाँ अदृश्य स्थान है ही कहाँ ? देखो न, चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह और तारे आदि देवता सब ओरसे देख रहे हैं। पक्षी तथा हरिण आदि अनेक जङ्गली जीव सदा पास ही रह रहे हैं। ये किसी भी तरह यहाँसे दूर नहीं किये जा सकते। ऐसा विचारकर वह भव्यात्मा गुरुके पास वापिस आ गया और कहने लगा कि वनमें ऐसा स्थान मिलना असम्भव है जिसे किसीने नहीं देखा हो। इसके सिवाय दूसरी बात यह है कि नाम स्थापना द्रव्य और भाव इन चारों पदार्थोंमें पाप तथा निन्दा उत्पन्न करनेवाली क्रियाएँ करनेका विधान नहीं है इसलिए मैं इस बकराको ऐसा ही लेता आया हूँ ॥ ३१०-३१३ ॥ नारदके वचन सुनकर उस ब्राह्मणने अपने पुत्रकी मूर्खताका विचार किया और कहा कि जो एकान्तवादी कारणके अनुसार कार्य मानते हैं वह एकान्तवाद है और मिथ्यामत है, कहीं तो कारणके अनुसार कार्य होता है और कहीं इसके विपरीत भी होता है। ऐसा जो स्याद्वादका कहना है वही सत्य है। देखो मेरे परिणाम सदा दयासे आर्द्र रहते हैं परन्तु मुझसे जो पुत्र हुआ उसके परिणाम अत्यन्त निर्दय हैं। यहाँ कारणके अनुसार कार्य कहाँ हुआ ? इस प्रकार वह श्रेष्ठ विद्वान् बहुत ही सन्तुष्ट हुआ और शिष्यकी योग्यता का हृदयमें विचार कर कहने लगा कि हे नारद ! तू ही सूक्ष्मबुद्धिवाला और पदार्थको यथार्थ जाननेवाला है इसलिए आजसे लेकर मैं तुझे उपाध्यायके पदपर नियुक्त करता हूं। आजसे तू ही समस्त शास्त्रोंका व्याख्यान करना। इस प्रकार उसीका सत्कार कर उसे बढ़ावा दिया सो ठीक ही है क्योंकि सब जगह विद्वानोंकी प्रीति गुणोंसे ही होती है ॥ ३१४-३१८ ॥ नारदसे इतना कहनेके बाद उसने सामने बैठे हुए पुत्रसे इस प्रकार कहा—हे पुत्र ! तूने विवेकके बिना ही यह विरुद्ध कार्य किया है। देख, शास्त्र पढ़ने पर भी तुझे कार्य और अकार्यका विवेक नहीं हुआ। तू निर्बुद्धि है अतः मेरी आँखोंके ओझल होने पर कैसे जीवित रह सकेगा ? इस प्रकार शोकसे भरे हुए पिताने पर्वतको शिक्षा दी परन्तु उस मूर्ख पर उसका कुछ भी असर नहीं हुआ। वह उसके विपरीत नारदसे वैर रखने लगा सो ठीक ही है क्योंकि दुर्बुद्धि मनुष्योंकी ऐसी ही दशा होती है ॥ ३१९-३२१ ॥ किसी

---

१ यथादिष्टं ल०, म० । २ तथा म० । ३ सन्निधौ म०, ल० । ४ विधायैतद्विरूपकम् क०, घ०, ख०, म० । विधा श्चैतद्विरूपकम् ल० ।

पालनीयौ त्वया भद्र मत्परोक्षेऽपि सर्वथा । इत्यवोचत्वसुं सोऽपि प्रीतोऽस्मि त्वदनुग्रहात् ॥३२३॥
अनुक्तसिद्धमेतत्तु वक्तव्यं किमिदं मम । [1]विधेयः संशयो नात्र पूज्यपाद यथोचितम् ॥३२४॥
परलोकमनुष्ठातुमर्हसीति द्विजोत्तमम् । मनोहरकथाम्लानमालयाभ्यर्चयन्नृपः ॥३२५॥
ततः क्षीरकदम्बेन सम्यक् सम्प्राप्य संयमम् । प्राप्तो संन्यासतः सम्यग्दिवं लोकमुत्तमम् ॥३२६॥
पर्वतोऽपि पितृस्थानमध्यास्याशेषशास्त्रवित् । शिक्षाणां विधदिकानां व्याख्यातुं रतिमातनोत् ॥३२७॥
तस्मिन्नेव पुरे नारदोऽपि विद्वज्जनान्वितः । सूक्ष्मधीर्विहितस्थानो बभार व्याख्यया यशः ॥३२८॥
गच्छत्येवं तयोः काले कदाचित्साधुसंसदि । अजैर्होतव्यमित्यस्य वाक्यस्यार्थप्ररूपणे ॥३२९॥
विवादोऽभून्महांस्तत्र विगताङ्कुरशक्तिकम् । यवबीजं त्रिवर्षस्थमजमित्यभिधीयते ॥३३०॥
तद्विकारेण सप्तार्चिर्मुखे देवार्चनं विदुः । वदन्ति यज्ञमित्याख्यदनुपद्धति नारदः ॥३३१॥
पर्वतोप्यजशब्देन[3] पशुभेदः [4]प्रकीर्तितः । यज्ञोऽग्नौ तद्विकारेण होत्रमित्यवदद्धिधीः ॥३३२॥
[5]द्वयोर्वचनमाकर्ण्य द्विजप्रमुखसाधवः । मात्सर्यान्नारदेनैष धर्मः प्राणवधादिति ॥३३३॥
प्रतिष्ठापयितुं धात्र्यां दुरात्मा पर्वतोऽब्रवीत् । [6]पतितोऽयमयोग्योऽतः सह सम्भाषणादिभिः ॥३३४॥
इति हस्ततलास्फालनेन निर्भर्त्स्य तं क्रुधा[7] । घोषयामासुरत्रैव दुर्बुद्धेरीदृशं फलम् ॥३३५॥
एवं बहिः कृतः सर्वैर्मानभङ्गादगाद्वनम् । तत्र ब्राह्मणवेषेण वयसा परिणामिना ॥३३६॥

एक दिन क्षीरकदम्बकने समस्त परिग्रहोंके त्याग करनेका विचार किया इसलिए उसने राजा वसुसे कहा कि यह पर्वत और उसकी माता यद्यपि मन्दबुद्धि हैं तथापि हे भद्र! मेरे पीछे भी तुम्हें इनका सब प्रकारसे पालन करना चाहिये। उत्तरमें राजा वसुने कहा कि मैं आपके अनुग्रहसे प्रसन्न हूं। यह कार्य तो विना कहे ही करने योग्य है इसके लिए आप क्यों कहते हैं? हे पूज्यपाद! इसमें थोड़ा भी संशय नहीं कीजिये, आप यथायोग्य परलोकका साधन कीजिये। इस प्रकार मनोहर कथा रूपी अम्लान मालाके द्वारा राजा वसुने उस उत्तम ब्राह्मणका खूब ही सत्कार किया ॥ ३२२–३२५ ॥ तदनन्तर क्षीरकदम्बकने उत्तम संयम धारण कर लिया और अन्तमें संन्यासमरण कर उत्तम स्वर्ग लोकमें जन्म प्राप्त किया ॥ ३२६ ॥

इधर समस्त शास्त्रोंका जाननेवाला पर्वत भी पिताके स्थान पर बैठकर सब प्रकारकी शिक्षाओंकी व्याख्या करनेमें प्रेम करने लगा ॥ ३२७ ॥ उसी नगरमें सूक्ष्म बुद्धिवाला नारद भी अनेक विद्वानोंके साथ निवास करता था और शास्त्रोंकी व्याख्याके द्वारा यश प्राप्त करता था ॥३२८॥ इस प्रकार उन दोनोंका समय बीत रहा था। किसी एक दिन साधुओंकी सभामें 'अजैर्होतव्यम्' इस वाक्यका अर्थ निरूपण करनेमें बड़ा भारी विवाद चल पड़ा। नारद कहता था कि जिसमें अङ्कुर उत्पन्न करनेकी शक्ति नष्ट हो गई है ऐसा तीन वर्षका पुराना जौ अज कहलाता है और उससे बनी हुई वस्तुओंके द्वारा अग्निके मुखमें देवताकी पूजा करना—आहुति देना यज्ञ कहलाता है। नारदका यह व्याख्यान यद्यपि गुरुपद्धतिके अनुसार था परन्तु निर्बुद्धि पर्वत कहता था कि अज शब्द एक पशु विशेषका वाचक है अतः उससे बनी हुई वस्तुओंके द्वारा अग्निमें होम करना यज्ञ कहलाता है ॥ ३२९–३३२ ॥ उन दोनोंके वचन सुनकर उत्तम प्रकृति वाले साधु पुरुष कहने लगे कि इस दुष्ट पर्वतकी नारदके साथ ईर्ष्या है इसीलिए यह प्राणवधसे धर्म होता है यह बात पृथिवी पर प्रतिष्ठापित करनेके लिए कह रहा है। यह पर्वत बड़ा ही दुष्ट है, पतित है अतः हम सब लोगोंके साथ वार्तालाप आदि करनेमें अयोग्य है ॥ ३३३–३३४ ॥ इस प्रकार सबने क्रोधवश हाथकी हथेलियोंके ताड़नसे उस पर्वतका तिरस्कार किया और घोषणा की कि दुर्बुद्धिका ऐसा फल इसी लोकमें मिल जाता है ॥ ३३५ ॥ इसप्रकार सबके द्वारा बाहर निकाला हुआ पर्वत मान-भङ्ग होनेसे वनमें चला गया। वहाँ महाकाल नामका असुर ब्राह्मणका वेष रखकर भ्रमण कर रहा था। उस समय वह वृद्ध

---

१ विधेये ल०, म० । २ सम्प्राप्तो क०, घ० । ३ पदेन ल० । ४ प्रकीर्त्येते ल० । ५ तयोर्वचन-म०, ल० । ६ परितोऽयमयोग्यो नः क०, घ० । ७ क्रुध्वा क०, घ०, म० । क्रुधात् ल० ।

[1]कृतान्तारोहणासन्नसोपानपदवीरिव[2] । वलीरुद्वहता भूयः स्खलतेवान्धचक्षुषा ॥३३७॥
विरलेन शिरोजेन सितेन दधता ततम् । राजतं वा शिरस्त्राणमन्तिकान्तकजाद्भयात् ॥३३८॥
जराक्रनासमासङ्ग[3]सुखाद्वामीलचक्षुषा । चलच्छिन्नकरेणेव करिणा कुपिताहिना ॥३३९॥
हृद्वोर्ध्वश्वासिना राजवल्लभेनेव नाग्रतः । प्रस्फुटं पश्यता भग्नपृष्ठेनापटुभाषिणा ॥३४०॥
राज्ञेव योग्यदण्डेन शमेनेव तनूभृता । विश्वभूनृपकन्यासु[4] बद्धक्रोधमिवात्मनः ॥३४१॥
वक्तुं धारयता यज्ञोपवीतं त्रिगुणीकृतम् । तेन स्वाभिमतारम्भसिद्धिहेतुगवेषिणा ॥३४२॥
महाकालेन दृष्टः सन् पर्वतः पर्वते भ्रमन् । प्रतिगम्य तमानम्य सोऽभ्यधादभिवादनम् ॥३४३॥
महाकालः समाश्वास्य स्वस्ति तेऽस्त्विति सादरम् । तमविज्ञातपूर्वत्वात्कुतस्त्यस्त्वं वनान्तरे ॥३४४॥
परिभ्रमणमेतत्ते मूर्तिमे केन हेतुना । इत्यनुक्तौ स आह निजवृत्तान्तमादितः ॥३४५॥
तं निशम्य महाकालः सगरं मम वैरिणम् । निर्वंशीकर्तुमेव स्यात्समर्थो मे प्रतिष्कसः ॥३४६॥
इति निश्चित्य पापात्मा [5]विप्रलम्भनपण्डितः । त्वत्पिता स्थण्डिलो विष्णुरूपमन्युरहं च भोः ॥३४७॥
भौमोपाध्यायसान्निध्ये शास्त्राभ्यासमकुर्वहि । त्वत्पिता मे ततो विद्धि धर्मभ्राता तमीक्षितुम् ॥३४८॥
ममागमनमेतच्च वैफल्यं समपद्यत । मा भैषीः शत्रुविध्वंसे सहायस्ते भवाम्यहम् ॥३४९॥
इति क्षीरकदम्बात्मजेष्टार्थानुगताः स्वयम् । [6]आथर्वणगताष्टिसहस्रप्रमिताः पृथक् ॥३५०॥

अवस्थाके रूपमें था, वह बहुत-सी बलि अर्थात् शरीरकी सिकुड़नोंको धारण कर रहा था वे सिकुड़नें ऐसी जान पड़ती थीं मानो यमराजके चढ़नेके लिए सीढ़ियोंका मार्ग ही हो। अन्धेकी तरह वह बार-बार लड़खड़ाकर गिर पड़ता था, उसके शिर पर विरले-विरले सफेद बाल थे, वह एक सफेद रङ्गकी पगड़ी धारण कर रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो यमराजके भयसे उसने चाँदीका टोप ही लगा रक्खा हो, उसके नेत्र कुछ-कुछ बन्द थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वृद्धावस्था रूपी स्त्रीके समागमसे उत्पन्न हुए सुखसे ही उसके नेत्र बन्द हो रहे थे, उसकी गति सूँड़ कटे हुए हाथीके समान थी, वह क्रुद्ध साँपके समान लम्बी-लम्बी श्वास भर रहा था, राजाके प्यारे मनुष्यके समान वह मदसे आगे नहीं देखता था, उसकी पीठ टूटी हुई थी। वह स्पष्ट नहीं बोल सकता था, जिस प्रकार राजा योग्य दण्डसे सहित होता है अर्थात् सबके लिए योग्य दण्ड-सजा देता है उसी प्रकार वह भी योग्य दण्डसे सहित था—अर्थात् अपने अनुकूल दण्ड-लाठी लिये हुए था, ऊपरसे इतना शान्त दिखता था मानो शरीरधारी शम-शान्ति ही हो, विश्वभू मन्त्री, सगर राजा और सुलसा कन्याके ऊपर हमारा वैर बँधा हुआ है यह कहनेके लिए ही मानो वह तीन लड़ का यज्ञोपवीत धारण कर रहा था, वह अपना अभिप्राय सिद्ध करनेके लिए योग्य कारण खोज रहा था। ऐसे महाकालने पर्वत पर घूमते हुए क्षीरकदम्बकके पुत्र पर्वतको देखा। ब्राह्मण वेषधारी महाकालने पर्वतके सम्मुख जाकर उसे नमस्कार किया और पर्वतने भी उसका अभिवादन किया ॥ ३३६-३४३ ॥ महाकालने आश्वासन देते हुए आदरके साथ कहा कि तुम्हारा भला हो। तदनन्तर अजान बनकर महाकालने पर्वतसे पूछा कि तुम कहाँसे आये हो और इस वनके मध्यमें तुम्हारा भ्रमण किस कारणसे हो रहा है ? पर्वतने भी प्रारम्भसे लेकर अपना सब वृत्तान्त कह दिया। उसे सुनकर महाकालने सोचा कि यह मेरे वैरी राजाको निर्वंश करनेके लिए समर्थ है, यह मेरा साधर्मी है। ऐसा विचार कर ठगनेमें चतुर पापी महाकाल पर्वतसे कहने लगा कि हे पर्वत ! तुम्हारे पिताने, स्थण्डिलने, विष्णुने, उपमन्यु ने और मैंने भौम नामक उपाध्यायके पास शास्त्राभ्यास किया था इसलिए तुम्हारे पिता मेरे धर्म-भाई हैं। उनके दर्शन करनेके लिए ही मेरा यहाँ आना हुआ था परन्तु खेद है कि वह निष्फल हो गया। तुम डरो मत—शत्रुका नाश करनेमें मैं तुम्हारा सहायक हूँ ॥ ३४४-३४९ ॥ इस प्रकार उस महाकालने क्षीरकदम्बकके पुत्र पर्वतके इष्ट अर्थका अनुसरण करनेवाली अथर्ववेद सम्बन्धी साठ

---

१ कृतान्त ल० । २ पदवीमिव ल० । ३ समासन्न ल०, म० । ४ कान्तासु ग०, ल० । ५ प्रविलम्भन म०, ल० । ६ भीमोपाध्याय ल० । ७ अथर्वण ग०, म० ।

ऋचो वेदरहस्यानीत्युत्पाद्याध्याप्य पर्वतम् । शान्तिपुष्ट्यभिचारात्मक्रियाः पूर्वोक्तमन्त्रणैः ॥३५१॥
निशिताः पवनोपेतवह्निज्वालासमाः फलम् । इष्टेरुत्पादमिष्यन्ति प्रयुक्ताः पशुहिंसनात् ॥३५२॥
ततः साकेतमध्यास्य शान्तिकादिफलप्रदम् । हिंसायागं समारभ्य प्रभावं विदधामहे ॥३५३॥
इत्युक्त्वा वैरिनाशार्थमात्मीयान् दितिपुत्रकान् । तीव्रान् सगरराष्ट्रस्य बाधां तीव्रज्वरादिभिः ॥३५४॥
कुरुध्वमिति सम्प्रेष्य सद्विजस्तत्पुरं गतः । सगरं मन्त्रगर्भाशीर्वादेनालोक्य पर्वतः ॥३५५॥
स्वप्रभावं प्रकाश्यास्य त्वद्देशविषमाशिवम् । [1]शममिष्यामि यज्ञेन [2]समन्त्रेणाविलम्बितम् ॥३५६॥
यज्ञाय वेधसा सृष्टा पशवस्तद्विहिंसनात् । न पापं पुण्यमेव [3]स्यात्स्वर्गोरुसुखसाधनम् ॥३५७॥
इति [4]प्रत्याय्य तं पापः पुनरप्येवमब्रवीत् । त्वं पशूनां सहस्राणि षष्टिं यागस्य सिद्धये ॥३५८॥
कुरु संग्रहमन्यच्च द्रव्यं तद्योग्यमित्यसौ । राजापि सर्ववस्तूनि तथैवास्मै समर्पयत् ॥३५९॥
प्रारभ्य पर्वतो यागं प्राणिनोऽमन्त्रयत्तदा । महाकालः शरीरेण सह स्वर्गमुपागतः ॥३६०॥
इत्याकाशे विमानैस्तान्नीयमानानदर्शयत् । देशाशिवोपसर्गं च तदैवासौ निरस्तवान् ॥३६१॥
तद्दृष्ट्वा देहिनो मुग्धास्तत्प्रलम्भेन मोहिताः । तां गतिं प्रेप्सवो यागमृतिमाकांक्षयञ्चलम् ॥३६२॥
तद्यज्ञावसितौ जात्यं हयमेकं विधानतः । इयाज सुलसां देवीमपि राजाज्ञया खलः ॥३६३॥
प्रियकान्तावियोगोत्थशोकदावानलार्चिषा । परिप्लुष्टतनू राजा राजधानीं प्रविष्टवान् ॥३६४॥
शय्यातले विनिक्षिप्य शरीरं प्राणिहिंसनम् । वृत्तं महदिदं धर्मः किमधर्मोऽयमित्यसौ ॥३६५॥
संशयामस्तथान्येद्युर्मुनिं यतिवराभिधम् । अभिवन्द्य मयारब्धं भट्टारक यथास्थितम् ॥३६६॥

हजार ऋचाएँ पृथक्-पृथक् स्वयं बनाईं। ये ऋचाएँ वेदका रहस्य बतलानेवाली थीं, उसने पर्वतके लिए इनका अध्ययन कराया और कहा कि पूर्वोक्त मन्त्रोंसे वायुके द्वारा बढ़ी हुई अग्निकी ज्वालामें शान्ति पुष्टि और अभिचारात्मक क्रियाएँ की जावें तो पशुओंकी हिंसासे इष्ट फलकी प्राप्ति हो जाती है। तदनन्तर उन दोनोंने विचार किया कि हम दोनों अयोध्यामें जाकर रहें और शान्ति आदि फल प्रदान करनेवाला हिंसात्मक यज्ञ प्रारम्भ कर अपना प्रभाव उत्पन्न करें ॥ ३५०–३५३ ॥ ऐसा कहकर महाकालने वैरियोंका नाश करनेके लिए अपने क्रूर असुरोंको बुलाया और आदेश दिया कि तुम लोग राजा सगरके देशमें तीव्र ज्वर आदिके द्वारा पीड़ा उत्पन्न करो। यह कहकर असुरोंको भेजा और स्वयं पर्वतको साथ लेकर राजा सगरके नगरमें गया। वहाँ मन्त्र मिश्रित आशीर्वादके द्वारा सगरके दर्शन कर पर्वतने अपना प्रभाव दिखलाते हुए कहा कि तुम्हारे राज्यमें जो घोर अमंगल हो रहा है मैं उसे मन्त्रसहित यज्ञके द्वारा शीघ्र ही शान्त कर दूँगा ॥ ३५४–३५६ ॥ विधाताने पशुओंकी सृष्टि यज्ञके लिए ही की है अतः उनकी हिंसासे पाप नहीं होता किन्तु स्वर्गके विशाल सुख प्रदान करनेवाला पुण्य ही होता है ॥ ३५७ ॥ इस प्रकार विश्वास दिलाकर वह पापी फिर कहने लगा कि तुम यज्ञकी सिद्धिके लिए साठ हजार पशुओंका तथा यज्ञके योग्य अन्य पदार्थोंका संग्रह करो। राजा सगरने भी उसके कहे अनुसार सब वस्तुएँ उसके लिए सौंप दीं ॥ ३५८–३५९ ॥ इधर पर्वतने यज्ञ आरम्भ कर प्राणियोंको मन्त्रित करना शुरू किया—मन्त्रोच्चारण पूर्वक उन्हें यज्ञ-कुण्डमें डालना शुरू किया। उधर महाकालने उन प्राणियोंको विमानोंमें बैठाकर शरीर सहित आकाशमें जाते हुए दिखलाया और लोगोंको विश्वास दिला दिया कि ये सब पशु स्वर्ग गये हैं। उसी समय उसने देशके सब अमङ्गल और उपसर्ग दूर कर दिये ॥ ३६०–३६१ ॥ यह देख बहुतसे भोले प्राणी उसकी प्रतारणा—मायासे मोहित हो गये और स्वर्ग प्राप्त करनेकी इच्छासे यज्ञमें मरनेकी इच्छा करने लगे ॥ ३६२ ॥ यज्ञके समाप्त होने पर उस दुष्ट पर्वतने विधि-पूर्वक एक उत्तम जातिका घोड़ा तथा राजाकी आज्ञासे उसकी सुलसा नामकी रानीको भी होम दिया ॥ ३६३ ॥ प्रिय स्त्रीके वियोगसे उत्पन्न हुए शोक रूपी दावानलकी ज्वालासे जिसका शरीर जल गया है ऐसा राजा सगर राजधानीमें प्रविष्ट हुआ ॥ ३६४ ॥ वहाँ शय्यातल पर अपना शरीर डाल कर वह संशय करने लगा कि यह जो बहुत भारी प्राणियोंकी हिंसा हुई है सो यह धर्म है या अधर्म ? ॥ ३६५ ॥ ऐसा संशय करता हुआ

१ शेषयिष्यामि ल० । २ सुमित्रेण-ल० । ३ पुण्यमेवास्य ख० । ४ प्रत्याज्य क०, ख०, ग०, घ० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ब्रूहि किं कर्म पुण्यं मे पापं वेदं विचार्य तत् । इत्यवोचदसौ चाह धर्मशास्त्रबहिःकृतम् ॥३६७॥
एतदेव विधातारं सप्तमीं प्रापयेक्षितिम् । तस्याभिज्ञानमप्यस्ति दिनेऽस्मिन् सप्तमे शनिः ॥३६८॥
पतिष्यति ततो विद्धि सप्तमी धरणीति ते । तदुक्तं भूपतिर्मत्वा ब्राह्मणं तं न्यवेदयत् ॥३६९॥
तन्मृषा किमसौ वेत्ति नग्नः क्षपणकस्ततः । [1]शङ्कास्ति चेत्तवैतस्या शान्तिरत्र विधीयते ॥३७०॥
इत्युक्तिभिर्मनस्तस्य सन्धार्यं शिथिलीकृतम् । यज्ञं पुनस्तमारब्धं[2] स ततः सप्तमे दिने ॥३७१॥
मायया ऽसुरपापस्य सुलसा नभसि स्थिता । देवभावं गता प्राच्यपशुभेदपरिष्कृता[3] ॥३७२॥
यागमृत्युफलेनैषा[4] लब्धा देवगतिर्मया । तं प्रमोदं तवाख्यातुं विमानेऽहमिहागता ॥३७३॥
यज्ञेन प्रीणिता देवाः पितरश्चेत्यभाषत । तद्वचःश्रवणाद् दृष्टं प्रत्यक्षं यागमृत्युजम् ॥३७४॥
फलं जैनमुनेर्वाक्यमसत्यमिति भूपतिः । तीव्रहिंसानुरागेण सद्धर्मद्वेषिणोदयात् ॥३७५॥
सम्भूतपरिणामेन मूलोत्तरविकल्पितात् । तत्प्रायोग्यसमुत्कृष्टदुष्टसंक्लेशसाधनात् ॥३७६॥
नरकायुःप्रभृत्यष्टकर्मणां स्वोचितस्थितेः । अनुभागस्य बन्धस्य निकाचितनिबन्धने ॥३७७॥
विभीषणशनित्वेन तत्काले [5]पतिते रिपौ । [6]तत्कर्मणि प्रसक्ताखिलाङ्गिभिः सगरः सह ॥३७८॥
रौरवेऽजनि दुष्टात्मा महाकालोऽपि तत्क्षणे । स्ववैरपवनापूरणेन गत्वा रसातलम् ॥३७९॥
तं दण्डयितुमुत्क्रोधस्तृतीयनरकावधौ । अन्विष्यानवलोक्यैनं विश्वभूप्रभृतिद्विषम् ॥३८०॥
मृतिप्रयोगसम्पादी ततो निर्गत्य निर्घृणः । पर्वतस्य प्रसादेन सुलसासहितः सुखम् ॥३८१॥
प्राप्तोऽहमिति शंसन्तं विमानेऽस्मिदर्शयत् । तं दृष्ट्वा तत्परोक्षेऽत्र विश्वभूः सचिवः स्वयम् ॥३८२॥

वह यतिवर नामक मुनिके पास गया और नमस्कार कर पूछने लगा कि हे स्वामिन्! मैंने जो कार्य प्रारम्भ किया है वह आपको ठीक-ठीक विदित है। विचार कर आप यह कहिये कि मेरा यह कार्य पुण्य रूप है अथवा पाप रूप? उत्तरमें मुनिराजने कहा कि यह कार्य धर्मशास्त्रसे बहिष्कृत है, यह कार्य ही अपने करनेवालेको सप्तम नरक भेजेगा। उसकी पहिचान यह है कि आजसे सातवें दिन वज्र गिरेगा उससे जान लेना कि तुझे सातवीं पृथिवी प्राप्त हुई है। मुनिराजका कहा ठीक मान कर राजाने उस ब्राह्मण-पर्वतसे यह सब बात कही ॥ ३६६–३६९ ॥ राजाकी यह बात सुनकर पर्वत कहने लगा कि वह झूठ है, वह नंगा साधु क्या जानता है? फिर भी तुझे यदि शंका है तो इसकी भी शांति कर डालते हैं ॥ ३७० ॥ इस तरहके वचनोंसे राजाका मन स्थिर किया और जो यज्ञ शिथिल कर दिया था उसे फिरसे प्रारम्भ कर दिया। तदनन्तर सातवें दिन उस पापी असुरने दिखलाया कि सुलसा देव पर्याय प्राप्त कर आकाशमें खड़ी है, पहले जो पशु होमे गये थे वे भी उसके साथ हैं। वह राजा सगरसे कह रही है कि यज्ञमें मरनेके फलसे ही मैंने यह देवगति पाई है, मैं यह सब हर्षकी बात आपको कहनेके लिए ही विमानमें बैठ कर यहाँ आई हूँ। यज्ञसे सब देवता प्रसन्न हुए हैं और सब पितर तृप्त हुए हैं। उसके यह वचन सुनकर सगरने विचार किया कि यज्ञमें मरनेका फल प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है अतः जैन मुनिके वचन असत्य हैं। उसी समय अनुराग रखनेसे एवं सद्धर्मके साथ द्वेष करने वाले कर्मकी मूल-प्रकृति तथा उत्तर प्रकृतियोंके भेदसे उत्पन्न हुए परिणामोंसे, नरकायुको आदि लेकर आठों कर्मोंका अपने योग्य उत्कृष्ट स्थितिबन्ध एवं उत्कृष्ट अनुभागबन्ध पड़ गया। उसी समय भयङ्कर वज्रपात हुआ, वह उन सब शत्रुओं पर पड़ा और उस कार्यमें लगे हुए सब जीवोंके साथ राजा सगर मर कर रौरव नरक—सातवें नरकमें उत्पन्न हुआ। अत्यन्त दुष्ट महाकाल भी तीव्र क्रोध करता हुआ अपने वैररूपी वायुके झँकोरेसे उसे दण्ड देनेके लिए नरक गया परन्तु उसके नीचे जानेकी अवधि तीसरे नरक तक ही थी। वहाँ तक उसने उसे खोजा परन्तु जब पता नहीं चला तब वह निर्दय वहाँसे निकला और विश्वभू मंत्री आदि शत्रुओंको मारनेका उपाय करने लगा। उसने मायासे दिखाया कि राजा सगर सुलसाके साथ विमानमें बैठा हुआ कह रहा है कि मैं पर्वतके

---

१ शङ्काचेत्तवैतस्या ल० । २ समारब्धः ल० । ३ पुरस्कृत म०, ल० । ४ फलेनैव ल० । ५ पतितौ ६ तत्कर्मणि तत्तत्कर्मप्रसक्ता ल० ।

विषयाधिपतिर्भूत्वा महामेधे कृतोद्यमः । विमानान्तर्गता देवा पितरश्च नभोऽङ्गणे ॥३८३॥
सर्वेषां दर्शिता व्यक्तं महाकालस्य मायया । महामेधस्त्वया यागो मन्त्रिन् पुण्यवता कृतः ॥३८४॥
इति विश्वभुवं भूपः सम्भूयास्ताविपुस्तदा । नारदस्तापसाश्चैतदाकर्ण्यैष दुरात्मना ॥३८५॥
[1]दुर्मार्गो द्विषतानेन धिक् लोकस्य प्रकाशितः । निवार्योयमुपायेन केनचित्यापपण्डितः ॥३८६॥
इति सर्वेपि सङ्कल्प्य साकेतपुरमागताः । यथाविधि समालोक्य सचिवं पापिनो नराः ॥३८७॥
नितान्तमर्थकामार्थं कुर्वन्ति प्राणिनां वधम् । न के[2]ऽपि क्वापि धर्मार्थं प्राणिनां सन्ति घातकाः ॥३८८॥
वेदविद्भिरहिंसोक्ता [3]वेदे ब्रह्मनिरूपिते । कल्पवल्लीव मातेव सखीव जगते हिता ॥३८९॥
इति [4]पूर्वर्षिवाक्यस्य त्वया प्रामाण्यमिच्छता । त्याज्यमेतद्वधप्रायं कर्म कर्मनिबन्धनम् ॥३९०॥
तापसैरभ्यधायीति सर्वप्राणिहितैषिभिः । विश्वभूरिदमाकर्ण्य तापसा भोः कथं मया ॥३९१॥
दृष्टं शक्यमपह्नोतुं साक्षात्स्वर्गस्य साधनम् । इति ब्रुवन् पुनर्नारदेनोक्तः पापभीरुणा ॥३९२॥
अमात्योत्तम विद्वांस्त्वं किमिति स्वं साधुवत्सगरं सपरीवारं निर्मूलयितुमिच्छता ॥३९३॥
उपायोऽयं व्यधाय्येवं प्रत्यक्षफलदर्शनात् । केनचित्कुहकज्ञेन मुग्धानां मोहकारणम् ॥३९४॥
ततः शीलोपवासादिविधिमार्षागमोदितम् । आचरेति स तं प्राह पर्वतं नारदोदितम् ॥३९५॥
श्रुतं त्वयेत्यसौ शास्त्रेणासुरोक्तेन दुर्मतिः । मोहितो नारदेनापि प्रागिदं किं न वा श्रुतम् ॥३९६॥
ममास्य च गुरुर्नान्यो [5]मत्पितैवातिगर्वितः । समत्सरतयाप्येष मय्यद्य किमिवोच्यते ॥३९७॥

प्रसादसे ही सुखको प्राप्त हुआ हूं। यह देख, विश्वभू मन्त्री जो कि सगर राजाके पीछे स्वयं उसके देशका स्वामी बन गया था महामेध यज्ञमें उद्यम करने लगा। महाकालकी मायासे सब लोगोंको साफ साफ दिखाया गया था कि आकाशाङ्गणमें बहुतसे देव तथा पितर लोग अपने अपने विमानोंमें बैठे हुए हैं। राजा सगर तथा अन्य लोग एकत्रित होकर विश्वभू मन्त्रीकी स्तुति कर रहे हैं कि मन्त्रिन! तुम बड़े पुण्यशाली हो, तुमने यह महामेध यज्ञ प्रारम्भ कर बहुत अच्छा कार्य किया। इधर यह सब हो रहा था उधर नारद तथा तपस्वियोंने जब यह समाचार सुना तो वे कहने लगे कि इस दुष्ट शत्रुने लोगोंके लिए यह मिथ्या मार्ग बतलाया है अतः इसे धिक्कार है। पाप करनेमें अत्यन्त चतुर इस पर्वतका किसी उपायसे प्रतिकार करना चाहिये। ऐसा विचार कर सब लोग एकत्रित हो अयोध्या नगरमें आये। वहाँ उन्होंने पाप करते हुए विश्वभू मन्त्रीको देखा और देखा कि बहुतसे पापी मनुष्य अर्थ और कामके लिए बहुतसे प्राणियोंका वध कर रहे हैं। तपस्वियोंने विश्वभू मंत्रीसे कहा कि पापी मनुष्य अर्थ और कामके लिए तो प्राणियोंका विघात करते हैं परन्तु धर्मके लिए कहीं भी कोई भी मनुष्य प्राणियोंका घात नहीं करते। वेदके जानने वालोंने ब्रह्मनिरूपित वेदमें अहिंसाको कल्प लताके समान, अथवा सखीके समान जगत्का हित करनेवाली बतलाया है। हे मंत्रिन्! यदि तुम पूर्व ऋषियोंके इस वाक्यको प्रमाण मानते हो तो तुम्हें हिंसासे भरा हुआ यह कार्य जो कि कर्मबन्धका कारण है अवश्य ही छोड़ देना चाहिए॥ ३७१–३९० ॥ सब प्राणियोंका हित चाहने वाले तपस्वियोंने इसप्रकार कहा परन्तु विश्वभू मन्त्रीने इसे सुनकर कहा कि हे तपस्वियो! जो यज्ञ प्रत्यक्ष ही स्वर्गका साधन दिखाई दे रहा है उसका अपलाप किस प्रकार किया जा सकता है? तदनन्तर इस प्रकार कहने वाले विश्वभू मंत्रीसे पापभीरु नारदने कहा कि हे उत्तम मंत्रिन्! तू तो विद्वान् है, क्या यह सब स्वर्गका साधन है? अरे, राजा सगरको परिवार सहित निर्मूल नष्ट करनेकी इच्छा करने वाले किसी मायावीने इस तरह प्रत्यक्ष फल दिखाकर यह उपाय रचा है, यह उपाय केवल मूर्ख मनुष्योंको ही मोहित करनेका कारण है॥३९१-३९४॥इसलिए तू ऋषि प्रणीत आगममें कही हुई शील तथा उपवास आदि की विधिका आचरण कर। इस प्रकार नारदके वचन सुनकर विश्वभूने पर्वतसे कहा कि तुमने नारदका कहा सुना? महाकाल असुरके द्वारा कहे शास्त्रसे मोहित हुआ दुर्बुद्धि पर्वत कहने लगा कि

---

१ दुर्मार्गोऽधिकृतोऽनेन म० ल०। २ कोऽपि ल०। ३ वेदे ब्रह्मनिरूपितः म०। वेदो ब्रह्मनिरूपितः ल०। ४ पूर्वार्षवाक्यस्य ल०। ५ मतित्यै वाति ल० (?)

सश्रुतो मद्गुरोर्धर्मभ्राता जगति विश्रुतः । स्थविरस्तेन च श्रौतं रहस्यं प्रतिपादितम् ॥३९८॥
यागमृत्युफलं साक्षान्मयापि प्रकटीकृतम् । न चेत्ते प्रत्ययो विश्ववेदाम्भोनिधिपारगम् ॥३९९॥
वसुं प्रसिद्धं सत्येन पृच्छेरित्यन्वभाषत । तच्छ्रुत्वा नारदोऽवादीत्को दोषः पृच्छ्यतामसौ ॥४००॥
इदं तावद्विचाराहं वधश्चेद्धर्मसाधनम् । अहिंसादानशीलादि भवेत्पापप्रसाधनम् ॥४०१॥
अस्तु चेन्मत्स्यबन्धादिपापिनां परमा गतिः । सत्यधर्मतपोब्रह्मचारिणो यान्त्वधोगतिम् ॥ ४०२ ॥
यज्ञे पशुवधाद्धर्मो नेतरत्रेति चेन्न तत् । वधस्य दुःखहेतुत्वे सादृश्यादुभयत्र वा ॥४०३॥
फलेनापि समानेन भाव्यं कस्तत्रिषेधकः । अथ त्वमेवं मन्येथाः [1]पशुसृष्टेः स्वयम्भुवः ॥४०४॥
[2]यज्ञार्थत्वान्न [3]तस्यातिविनियोक्तुरधागमः । [4]इत्येवं चातिमुग्धाभिलाषः साधुविगर्हितः ॥४०५॥
तत्सर्गस्यैव साधुत्वादस्यन्यच्चात्र [5]दुर्घटम् । यदर्थं यद्धि तस्यान्यथोपयोगेऽर्थकृन्न तत् ॥४०६॥
यथान्यथोपयुक्तं स श्लेष्मादिशमनौषधम् । यज्ञार्थपशुसर्गेण क्रयविक्रयणादिकम् ॥४०७॥
तथान्यथा प्रयुक्तं [6]तन्महादोषाय कल्पते । दुर्बलं वादिनं दृष्ट्वा [7]मूकं त्वामभ्युपेत्य च ॥४०८॥
यथा शस्त्रादिभिः प्राणिव्यापादी बध्यतेऽहसा । मन्त्रैरपि पशून् हन्ता बध्यते निर्विशेषतः ॥४०९॥
पश्वादिलक्षणः सर्गो व्यज्यते क्रियतेऽथवा । क्रियते चेत्खपुष्पादि चासन्न[7] क्रियते कुतः ॥४१०॥

यह शास्त्र क्या नारदने भी पहले कभी नहीं सुना । इसके और मेरे गुरु पृथक् नहीं थे, मेरे पिता ही तो दोनोंके गुरु थे फिर भी यह अधिक गर्व करता है । मुझ पर ईर्ष्या रखता है अतः आज चाहे जो कह बैठता है । विद्वान् स्थविर मेरे गुरुके धर्म भाई तथा जगत्में प्रसिद्ध थे, उन्हींने मुझे यह श्रुतियोंका रहस्य बतलाया है । यज्ञमें मरनेसे जो फल होता है उसे मैंने भी आज प्रत्यक्ष दिखला दिया है फिर भी यदि तुझे विश्वास नहीं होता है तो समस्त वेदरूपी समुद्रके पारगामी राजा वसुसे जो कि सत्यके कारण प्रसिद्ध है, पूछ सकते हो । यह सुनकर नारदने कहा कि क्या दोष है वसुसे पूछ लिया जावे ॥३९५-४००॥ परन्तु यह बात विचार करनेके योग्य है कि यदि हिंसा, धर्मका साधन मानी जायगी तो अहिंसा दान शील आदि पापके कारण हो जावेंगे ॥ ४०१ ॥ हो जावें यदि यह आपका कहना है तो मछलियाँ पकड़नेवाले आदि पापी जीवोंकी शुभ गति होनी चाहिये और सत्य, धर्म, तपश्चरण तथा ब्रह्मचर्यका पालन करनेवालेको अधोगतिमें जाना चाहिए ॥ ४०२ ॥ कदाचित् आप यह कहें कि यज्ञमें पशु वध करनेसे धर्म होता है अन्यत्र नहीं होता ? तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वध दोनों ही स्थानोंमें एक समान दुःखका कारण है अतः उसका फल समान ही होना चाहिए इसे कौन रोक सकता है ? कदाचित आप यह मानते हों कि पशुओंकी रचना विधाताने यज्ञके लिए ही की है, अतः यज्ञमें पशु हिंसा करनेवालेके लिए पाप-बन्ध नहीं होता तो यह मानना ठीक नहीं है क्योंकि यह मूर्ख जनकी अभिलाषा है तथा साधुजनोंके द्वारा निन्दित है ॥४०३-४०५॥ यज्ञके लिए ही ब्रह्माने पशुओंकी सृष्टि की है यदि यह आप ठीक मानते हैं तो फिर उनका अन्यत्र उपयोग करना उचित नहीं है क्योंकि जो वस्तु जिस कार्यके लिए बनाई जाती है उसका अन्यथा उपयोग करना कार्यकारी नहीं होता । जैसे कि श्लेष्म आदिको शमन करनेवाली औषधिका यदि अन्यथा उपयोग किया जाता है तो वह विपरीतफलदायी होता है । ऐसे ही यज्ञके लिए बनाये गये पशुओंसे यदि क्रय-विक्रय आदि कार्य किया जाता है तो वह महान् दोष उत्पन्न करनेवाला होना चाहिए । तू वाद करना चाहता है परन्तु दुर्बल है—युक्ति बलसे रहित है अतः तेरे पास आकर हम कहते हैं कि जिस प्रकार शस्त्र आदिके द्वारा प्राणियोंका विघात करनेवाला मनुष्य पापसे बद्ध होता है उसी प्रकार मन्त्रोंके द्वारा प्राणियोंका विघात करनेवाला भी बिना किसी विशेषताके पापसे बद्ध होता है ॥ ४०६-४०९ ॥ दूसरी बात यह है कि ब्रह्मा जो पशु आदिको बनाता है वह प्रकट करता है अथवा नवीन बनाता है ? यदि नवीन बनाता है तो आकाशके फूल आदि असत् पदार्थ

---

१ पशुसृष्टिः म०, ल० । २ यज्ञार्थत्वं न तस्यास्ति क०, घ० । ३ तस्याति ल० । ४ इत्ययं ल० । ५ दुर्घटा ल० । ६ प्रयुक्तं तु म०, ल० । ७ चासन्न[7] ल० ।

अथाभिव्यज्यते तस्य वाच्यं प्राक्प्रतिबन्धकम्[1] । प्रदीपज्वलनात्पूर्वं घटादेरन्धकारवत् ॥४११॥
अस्तु वा नाहतव्यक्तिसृष्टिवादो विधीयते । इति श्रुत्वा वचस्तस्य सर्वे ते तं समस्तुवन् ॥४१२॥
वसुना चेद् द्वयोर्वादे विच्छेदः सोऽभिगम्यताम्[2] । इति ताभ्यां समं संसदगच्छत्स्वस्तिकावतीम्॥४१३॥
तत्सर्वं पर्वतेनोक्तं ज्ञात्वा तज्जननी[3] तदा । सह तेन वसुं दृष्ट्वा पर्वतस्त्वपरिग्रहः ॥४१४॥
तपोवनोन्मुखेनायं गुरुणापि तवार्पितः । नारदेन सहास्येह तवाध्यक्षे भविष्यति ॥४१५॥
[4]विवादो यदि भङ्गोऽत्र भावी भावियमाननम् । विद्ध्यस्य शरणं नान्यदित्याख्यत्सोऽपि सादरम् ४१६
विधित्सुर्गुरुशुश्रूषामम्ब मास्मात्र शङ्किथाः । जयमस्य विधास्यामीत्यस्या भयमपाकरोत् ॥४१७॥
अन्येद्युर्वसुमाकाशस्फटिकांह्र्युद्भृतासनम् । सिंहाङ्किते समारुह्य स्थितं समुपगम्यते ॥४१८॥
सम्पृच्छन्ति स्म सर्वेऽपि विश्वभूसचिवादयः । त्वत्तः प्रागप्यहिंसादिधर्मरक्षणतत्पराः ॥ ४१९ ॥
चत्वारोऽत्र महीपाला भूता हिममहासम । वस्वादिगिरिपर्यन्तनामानो हरिवंशजाः[5] ॥ ४२० ॥
पुरा चैषु व्यतीतेषु विश्वावसुमहामहीट् । अभूत्ततो भवांश्चासीदहिंसाधर्मरक्षकः ॥ ४२१ ॥
त्वमेव सत्यवादीति प्रघोषो भुवनत्रये । विषवह्नितुलादेश्यो वस्तुसन्देहसन्निधौ ॥ ४२२ ॥
त्वमेव प्रत्ययोत्पादी छिन्द्धि नः संशयं विभो । अहिंसालक्षणं धर्मं नारदः प्रत्यपद्यत ॥ ४२३ ॥
पर्वतस्तद्विपर्यासमुपाध्यायोपदेशनम् । यादृक् तादृक् त्वया [6]वाच्यमित्यसौ चार्थितः पुरा ॥ ४२४ ॥

क्यों नहीं बना देता ? ॥ ४१० ॥ यदि यह कहो कि ब्रह्मा पशु आदिको नवीन नहीं बनाता है किन्तु प्रकट करता है ? तो फिर यह कहना चाहिए कि प्रकट होनेके पहले उनका प्रतिबन्धक क्या था ? उन्हें प्रकट होनेसे रोकनेवाला कौन था ? जिस प्रकार दीपक जलनेके पहले अन्धकार घटादिको रोकनेवाला है उसी प्रकार प्रकट होनेके पहले पशु आदिको रोकनेवाला भी कोई होना चाहिए ॥ ४११ ॥ इस प्रकार आपके सृष्टिवादमें यह व्यक्तिवाद आदर करनेके योग्य नहीं है। इस तरह नारदके वचन सुनकर सब लोग उसकी प्रशंसा करने लगे ॥ ४१२ ॥ सब कहने लगे कि यदि राजा वसुके द्वारा तुम दोनोंका विवाद विश्रान्त होता है तो उनके पास चला जावे। ऐसा कह सभाके सब लोग नारद और पर्वतके साथ स्वस्तिकावती नगर गये ॥ ४१३ ॥ पर्वतके द्वारा कही हुई यह सब जब उसकी माताने जानी तब वह पर्वतको साथ लेकर राजा वसुके पास गई और राजा वसुके दर्शन कर कहने लगी कि यह निर्धन पर्वत तपोवनके लिए जाते समय तुम्हारे गुरुने तुम्हारे लिए सौंपा था। आज तुम्हारी अध्यक्षतामें यहाँ नारदके साथ विवाद होगा। यदि कदाचित् उस वादमें इसकी पराजय हो गई तो फिर यमराजका मुख ही इसका शरण होगा अन्य कुछ नहीं, यह तुम निश्चित समझ लो, इस प्रकार पर्वतकी माताने राजा वसुसे कहा। राजा वसु गुरुकी सेवा करना चाहता था अतः बड़े आदरसे बोला कि हे माँ ! इस विषयमें तुम कुछ भी शंका न करो। मैं पर्वतकी ही विजय कराऊँगा। इस तरह कहकर उसने पर्वतकी माका भय दूर कर दिया। ॥ ४१४-४१७ ॥ दूसरे दिन राजा वसु आकाश-स्फटिकके पायोंसे खड़े हुए, सिंहासनपर आरूढ़ होकर राज-सभामें विराजमान था उसी समय वे सब विश्वभू मन्त्री आदि राजसभामें पहुँच कर पूछने लगे कि आपसे पहले भी अहिंसा आदि धर्मकी रक्षा करनेमें तत्पर रहने वाले हिमगिरि, महागिरि, समगिरि और वसुगिरि नामके चार हरिवंशी राजा हो गये हैं ॥४१८-४१९॥ इन सबके अतीत होने पर महाराज विश्वावसु हुए और उनके बाद अहिंसा धर्मकी रक्षा करनेवाले आप हुए हैं। आप ही सत्यवादी हैं इस प्रकार तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हैं। किसी भी दशामें संदेह होने पर आप विष अग्नि और तुलाके समान हैं। हे स्वामिन् ! आप ही विश्वास उत्पन्न करने वाले हैं अतः हम लोगोंका संशय दूर कीजिये। नारदने अहिंसालक्षण धर्म बतलाया है और पर्वत इसमें विपरीत कहता है अर्थात् हिंसाको धर्म बतलाता है। अब उपाध्याय—गुरुमहाराजका जैसा उपदेश हो वैसा आप कहिये।

---

१ प्रतिबन्धनम् ल० । २ सोऽभिगम्यते ल०, म० । ३ तज्जनो ल० । ४ विवादे यदि भङ्गोऽत्र भावी भावि यमाननम् । विद्धयस्य शरणं (विद्धि अस्य इति पदच्छेदः) म० । ५ वंशजा हरेः म० । ६ याच्य-ल० ।

गुरुपत्न्याप्तनिर्दिष्टं बुध्यमानोऽपि भूपतिः । महाकालमहामोहेनाहितो दुःषमावधेः ॥ ४२५ ॥
सामीप्याद्रक्षणानन्दरौद्रध्यानपरायणः । पर्वताभिहितं तत्त्वं दृष्टे काऽनुपपन्नता ॥ ४२६ ॥
स्वर्गमस्यैव यागेन[1] सजानिः सगरोऽप्यगात् । ज्वलत्प्रदीपमन्येन को दीपेन प्रकाशयेत् ॥ ४२७ ॥
पर्वतोक्तं भयं हित्वा कुरुध्वं स्वर्गसाधनम् । इति हिंसानृतानन्दाद्[2] बध्वायुर्नारकं[3] प्रति ॥ ४२८ ॥
मिथ्यापापापवादाभ्यामभीरुरभणीदिदम् । अहो महीपतेर्वक्त्रादपूर्वं घोरमीदृशम् ॥ ४२९ ॥
निर्यातमिति वैषम्यादुक्ते नारदतापसैः[4] । आक्रोशदम्बरं नद्यः प्रतिकूलजलस्रवाः ॥ ४३० ॥
सद्यः सरांसि शुष्काणि रक्तवृष्टिरनारता । तीव्रांशोरंशवो मन्दा विश्वाशाश्च मलीमसाः ॥४३१॥
बभूवुः प्राणिनः कम्पमादधुर्भयविह्वलाः । तदा महाध्वनिर्धात्री द्विधाभेद[5]मुपागता ॥ ४३२ ॥
वसोस्तस्मिन् महारन्ध्रे न्यमज्जत्सिंहविष्टरम् । तद्दृष्ट्वा देवविद्याधरेशा धनपथे स्थिताः ॥ ४३३ ॥
अतिक्रम्यादिमं मार्गं वसुराजमहामते[6] । धर्मविध्वंसनं मार्गं माभिधा इत्यघोषयन् ॥ ४३४ ॥
पर्वतं वसुराजं च सिंहासननिमज्जनात् । परिम्लानमुखौ दृष्ट्वा महाकालस्य किङ्कराः ॥ ४३५ ॥
तापसाकारमादाय भयं माऽत्र स्म गच्छतम् । [7]इत्यात्मोत्थापितं चास्या दर्शयन् हरिविष्टरम् ॥४३६ ॥
नृपोऽप्यहं कथं तत्त्वविद्विभेम्यमृषं वचः । पर्वतस्यैव निश्चिन्वन्नित्याकण्ठं निमज्जवान् ॥ ४३७ ॥
अनेनेयमवस्थाभून्मिथ्यावादेन भूपते । त्यजेममिति सम्प्रार्थितोऽपि यत्नेन साधुभिः ॥ ४३८ ॥

इस प्रकार सब लोगोंने राजा वसुसे कहा। राजा वसु यद्यपि आप्त भगवान्के द्वारा कहे हुए धर्मतत्त्वको जानता था तथापि गुरुपत्नी उससे पहले ही प्रार्थना कर चुकी थी, इसके सिवाय वह महाकालके द्वारा उत्पादित महामोहसे युक्त था, दुःषमा नामक पञ्चम कालकी सीमा निकट थी, और वह स्वयं परिग्रहानन्द रूप रौद्र ध्यानमें तत्पर था अतः कहने लगा कि जो तत्त्व पर्वतने कहा है वही ठीक है। जो वस्तु प्रत्यक्ष दिख रही है उसमें बाधा हो ही कैसे सकती है ॥ ४२०-४२६ ॥ इस पर्वतके बताये यज्ञसे ही राजा सगर अपनी रानी सहित स्वर्ग गया है। जो दीपक स्वयं जल रहा है—स्वयं प्रकाशमान है भला उसे दूसरे दीपकके द्वारा कौन प्रकाशित करेगा ? ॥ ४२७ ॥ इसलिए तुम लोग भय छोड़कर जो पर्वत कह रहा है वही करो, वही स्वर्गका साधन है इस प्रकार हिंसानन्दी और मृषानन्दी रौद्र ध्यानके द्वारा राजा वसुने नरकायुका बन्ध कर लिया तथा असत्य भाषणके पाप और लोकनिन्दासे नहीं डरने वाले राजा वसुने उक्त वचन कहे। राजा वसुकी यह बात सुनकर नारद और तपस्वी कहने लगे कि आश्चर्य है कि राजाके मुखसे ऐसे भयंकर शब्द निकल रहे हैं इसका कोई विषम कारण अवश्य है। उसी समय आकाश गरजने लगा, नदियोंका प्रवाह उलटा बहने लगा, तालाब शीघ्र ही सूख गये, लगातार रक्तकी वर्षा होने लगी, सूर्यकी किरणें फीकी पड़ गईं, समस्त दिशाएँ मलिन हो गईं, प्राणी भयसे विह्वल होकर काँपने लगे, बड़े जोरका शब्द करती हुई पृथिवी फटकर दो टूक हो गई और राजा वसुका सिंहासन उस महागर्तमें निमग्न हो गया। यह देख आकाशमार्गमें खड़े हुए देव और विद्याधर कहने लगे कि हे बुद्धिमान् राजा वसु ! सनातन मार्गका उल्लंघन कर धर्मका विध्वंस करने वाले मार्गका निरूपण मत करो ॥४२८-४३४॥ पृथिवीमें सिंहासन घुसनेसे पर्वत और राजा वसुका मुख फीका पड़ गया। यह देख महाकालके किंकर तापसियोंका वेष रखकर कहने लगे कि आप लोग भयको प्राप्त न हों। यह कहकर उन्होंने वसुका सिंहासन अपने आपके द्वारा उठाकर लोगोंको दिखला दिया। राजा वसु यद्यपि सिंहासनके साथ नीचे धँस गया था तथापि जोर देकर कहने लगा कि मैं तत्त्वोंका जानकार हूँ अतः इस उपद्रवसे कैसे डर सकता हूं ? मैं फिर भी कहता हूं कि पर्वतके वचन ही सत्य हैं। इतना कहते ही वह कण्ठ पर्यन्त पृथिवीमें धँस गया। उस समय साधुओंने—तापसियोंने बड़े यत्नसे यद्यपि प्रार्थना की थी कि हे राजन् ! तेरी यह अवस्था असत्य भाषणसे ही हुई है इसलिए इसे छोड़ दे तथापि वह अज्ञानी यज्ञ-

---

१ योगेन ल० । २ हिंसानृतानन्दो क०, ख० । ३ नरकं ल० । ४ तापसाः ल० । ५ भक्ति-म०, ल० । ६ महापते ल० । ७ इत्यात्मस्थापितं क०, ख०, ल० ।

तथापि यज्ञमेवाज्ञः सन्मार्गं प्रतिपादयन् । भुवा कुपित एवासौ निगीर्णोऽन्त्यामगाक्षितिम् ॥४३९ ॥
अथासुरो जगत्प्रत्ययायादाय नरेन्द्रयोः । दिव्यं रूपमवापावां यागश्रद्धया दिवम् ॥ ४४० ॥
नारदोक्तमपाकर्ण्यमित्युक्त्वापददृश्यताम् । शोकाश्चर्यवतागात्स्वर्वसुर्नहि महीमिति ॥ ४४१ ॥
संविसंवदमानेन जनेन महता सह । प्रयागे विश्वभूर्गत्वा राजसूयविधिं व्यधात् ॥ ४४२ ॥
महापुराधिपाद्याश्च निन्दन्तो जनमूढताम् । परमब्रह्मनिर्दिष्टमार्गरक्ता मनाक् स्थिताः ॥ ४४३ ॥
नारदेनैव धर्मस्य मर्यादेत्यभिनन्द्य तम् । अधिष्ठानमदुस्तस्मै पुरं गिरितटाभिधम् ॥ ४४४ ॥
तापसाश्च दयाधर्मविध्वंसविधुराशयाः । कलयन्तः कलिं कालं विचेलुः स्वं स्वमाश्रमम् ॥ ४४५ ॥
ततोऽन्येद्युः खगो नाम्ना देवो दिनकरादिमः । पर्वतस्याखिलप्राणिविरुद्धाचरितं त्वया ॥ ४४६ ॥
निरुध्यतामिति प्रीत्या निर्दिष्टो नारदेन सः । करिष्यामि तयेतीत्वा नागान्[1] गंधारपन्नगान् ॥ ४४७ ॥
स विद्यया समाहूतांस्तत्प्रपञ्चं यथास्थितम् । अवोचत्तेऽपि संग्रामे भंक्त्वा दैत्यमकुर्वत ॥ ४४८ ॥
यज्ञविघ्नं समालोक्य विश्वभूपर्वतावुभौ । शरणान्वेषणोद्युक्तौ महाकालं यदृच्छया ॥ ४४९ ॥
पुरः सन्निहितं दृष्ट्वा यागविघ्नं तमूचतुः । नागैर्द्वेषिभिरस्माकं विहितोऽयमुपद्रवः ॥ ४५० ॥
नागविद्याश्च विद्यानुप्रवादे परिभाषिताः । निषिद्धं जिनबिम्बानामुपर्यासां विजृम्भणम् ॥ ४५१॥
ततो युवां जिनाकारान् सुरूपान् दिक्चतुष्टये । निधेह्याभ्यर्च्य यज्ञस्य प्रक्रमेथामिमं विधिम् ॥ ४५२॥
इत्युपायमसावाह तौ च तच्चक्रतुस्तथा । पुनः खगाधिपोऽभ्येत्य यज्ञविघ्नविधित्सया ॥ ४५३ ॥

को ही सन्मार्ग बतलाता रहा । अन्तमें पृथिवीने उसे कुपित होकर ही मानो निगल लिया और वह मरकर सातवें नरक गया ॥४३५-४३६॥ तदनन्तर वह असुर जगत्को विश्वास दिलानेके लिए राजा सगर और वसुका सुन्दर रूप धारण कर कहने लगा कि हम दोनों नारदका कहा न सुनकर यज्ञकी श्रद्धासे ही स्वर्गको प्राप्त हुए हैं । इस प्रकार कहकर वह अदृश्य हो गया । इस घटनासे लोगोंको बहुत शोक और आश्चर्य हुआ । उनमें कोई कहता था कि राजा सगर स्वर्ग गया है और कोई कहता था कि नहीं, नरक गया है । इस तरह विवाद करते हुए विश्वम्भू मन्त्री अपने घर चला गया । तदनन्तर प्रयागमें उसने राजसूय यज्ञ किया । इसपर महापुर आदि नगरोंके राजा मनुष्योंकी मूढ़ताकी निन्दा करने लगे और परम ब्रह्म-परमात्माके द्वारा बतलाये मार्गमें तल्लीन होते हुए थोड़े दिन तक यों ही ठहरे रहे ॥ ४४०-४४३ ॥ इस समय नारदके द्वारा ही धर्मकी मर्यादा स्थिर रह सकी है इसलिए सब लोगोंने उसकी बहुत प्रशंसा की और उसके लिए गिरितट नामका नगर प्रदान किया ॥४४४॥ तापसी लोग भी दया धर्मका विध्वंस देख बहुत दुखी हुए और कलिकालकी महिमा समझते हुए अपने-अपने आश्रमोंमें चले गये ॥४४५॥

तदनन्तर किसी दिन, दिनकरदेव नामका विद्याधर आया, नारदने उससे बड़े प्रेमसे कहा कि इस समय पर्वत समस्त प्राणियोंके विरुद्ध आचरण कर रहा है इसे आपको रोकना चाहिये । उत्तरमें विद्याधरने कहा कि अवश्य रोकूँगा । ऐसा कहकर उसने अपनी विद्यासे गंधारपन्नग नामक नागकुमार देवोंको बुलाया और विघ्न करनेका सब प्रपञ्च उन्हें यथा योग्य बतला दिया । नागकुमार देवोंने भी संग्राममें दैत्योंको मार भगाया और यज्ञमें विघ्न मचा दिया । विश्वम्भू मन्त्री और पर्वत यज्ञमें होनेवाला विघ्न देखकर शरणकी खोज करने लगे । अनायास ही उन्हें सामने खड़ा हुआ महाकाल असुर दिख पड़ा। दिखते ही उन्होंने उससे यज्ञमें विघ्न आनेका सब समाचार कह सुनाया, उसे सुनते ही महाकालने कहा कि हम लोगोंके साथ द्वेष रखनेवाले नागकुमार देवोंने यह उपद्रव किया है । नागविद्याओंका निरूपण विद्यानुवादमें हुआ है। जिनविम्बोंके ऊपर इनके विस्तारका निषेध बतलाया है अर्थात् जहाँ जिनबिम्ब होते हैं वहाँ इनकी शक्ति क्षीण हो जाती है ॥ ४४६-४५१ ॥ इसलिए तुम दोनों चारों दिशाओंमें जिनेन्द्रके आकारकी सुन्दर प्रतिमाएँ रखकर उनकी पूजा करो और तदनन्तर यज्ञकी विधि प्रारम्भ करो ॥ ४५२ ॥ इस प्रकार महाकालने यह उपाय कहा और उन

---

१ नागा तं धार ल० (?)।

दृष्ट्वा जैनेन्द्रबिम्बानि विद्याः क्रामन्ति नात्र मे । नारदाय निवेद्येति स्वस्वधाम समाश्रयन् ॥ ४५४ ॥
निर्विघ्नं यज्ञनिर्वृत्तौ विश्वभूः पर्वतश्च तौ । जीवितान्ते चिरं दुःखं नरकेऽनुबभूवतुः ॥ ४५५ ॥
महाकालोऽप्यभिप्रेतं साधयित्वा स्वरूपभृत् । प्राग्भवे पोदनाधीशो नृपोऽहं मधुपिङ्गलः ॥ ४५६ ॥
मयैवं सुलसाहेतोर्महत्पापमनुष्ठितम् । अहिंसालक्षणो धर्मो जिनेन्द्रैरभिभाषितः ॥ ४५७ ॥
अनुष्ठेयः स धर्मिष्ठैरित्युक्त्वासौ तिरोदधत् । स्वयं चादात्स्वदुश्चेष्टाप्रायश्चित्तं दयार्द्रधीः ॥ ४५८ ॥
[1]निवृत्तिमेव सम्मोहाद्विहितात्पापकर्मणः । विश्वभूप्रमुखाः सर्वे हिंसाधर्मप्रवृत्तकाः ॥ ४५९ ॥
प्रययुस्ते गतिं पापाद्भारकीमिति केचन । दिव्यबोधैः समाकर्ण्य मुनिभिः समुदाहृतम् ॥ ४६० ॥
पर्वतोद्दिष्टदुर्मार्गं नोपेयुः पापभीरवः । केचित्तु दीर्घसंसारास्तस्मिन्नेव व्यवस्थिताः ॥ ४६१ ॥
इत्यनेन स मन्त्री च राजा चागममार्हतम् । समासीनाश्च सर्वेऽपि मन्त्रिणं तुष्टुवुस्तराम् ॥ ४६२ ॥
तदा सेनापतिर्नाम्ना महीशस्य महाबलः । पुण्यं भवतु पापं वा यागे नस्तेन किं फलम् ॥ ४६३ ॥
प्रभावदर्शनं श्रेयो भूभृन्मध्ये कुमारयोः । इत्युक्तवांस्ततो राजा पुनश्चैतत् विचारवत् ॥ ४६४ ॥
इति मत्वा विसृज्यैतान् मन्त्रिसेनापतीन् पुनः । हितोपदेशिनं प्रश्नं तमपृच्छत्पुरोहितम् ॥ ४६५ ॥
गतयोर्जनकागारं स्यान्न वेष्टं कुमारयोः । इति सोऽपि पुराणेषु निमित्तेषु च लक्षितम् ॥ ४६६ ॥
[2]अस्मत्कुमारयोस्तत्र यागे भावी महोदयः । संशयोऽत्र न कर्तव्यस्त्वयान्यच्चेदमुच्यते ॥४६७ ॥
अथास्मिन् भारते क्षेत्रे मनवस्तीर्थनायकाः । चक्रेशास्त्रिविधारामा भविष्यन्ति महौजसः ॥ ४६८॥

दोनोंने उसे यथाविधि किया । तदनन्तर विद्याधरोंका राजा दिनकरदेव यज्ञमें विघ्न करनेकी इच्छासे आया और जिनप्रतिमाएँ देखकर नारदसे कहने लगा कि यहाँ मेरी विद्याएँ नहीं चल सकतीं ऐसा कहकर वह अपने स्थान पर चला गया ॥ ४५३-४५४ ॥ इस तरह वह यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ और विश्वभू मन्त्री तथा पर्वत दोनों ही आयुके अन्तमें मरकर चिरकालके लिए नरकमें दुःख भोगने लगे ॥ ४५५ ॥

अन्तमें महाकाल असुर अपना अभिप्राय पूरा कर अपने असली रूपमें प्रकट हुआ और कहने लगा कि मैं पूर्व भवमें पोदनपुरका राजा मधुपिङ्गल था। मैंने ही इस तरह सुलसाके निमित्त यह बड़ा भारी पाप किया है। जिनेन्द्र भगवान्‌ने जिस अहिंसालक्षण धर्मका निरूपण किया है धर्मात्माओंको उसीका पालन करना चाहिये इतना कह वह अन्तर्हित हो गया और दयासे आर्द्र बुद्धि होकर उसने अपनी दुष्ट चेष्टाओंका प्रायश्चित्त स्वयं ग्रहण किया ॥ ४५६-४५८ ॥ मोह वश किये हुए पाप कर्मसे निवृत्ति होना ही प्रायश्चित्त कहलाता है। हिंसा धर्ममें प्रवृत्त रहने वाले विश्वभू आदि समस्त लोग पापके कारण नरकगतिमें गये और पापसे डरनेवाले कितने ही लोगोंने सम्यग्ज्ञानके धारक मुनियोंके द्वारा कहा धर्म सुनकर पर्वतके द्वारा कहा मिथ्यामार्ग स्वीकृत नहीं किया और जिनका संसार दीर्घ था ऐसे कितने ही लोग उसी मिथ्यामार्गमें स्थित रहे आये ॥ ४५९-४६१ ॥ इस प्रकार अतिशयमति मंत्रीके द्वारा कहा हुआ आगम सुनकर प्रथम मंत्री, राजा तथा अन्य सभासद लोगोंने उस द्वितीय मन्त्रीकी बहुत भारी स्तुति की ॥ ४६२ ॥ उस समय राजा दशरथका महाबल नामका सेनापति बोला कि यज्ञमें पुण्य हो चाहे पाप, हम लोगोंको इससे क्या प्रयोजन है ? हम लोगोंको तो राजाओंके बीच दोनों कुमारोंका प्रभाव दिखलाना श्रेयस्कर है। सेनापतिकी यह बात सुनकर राजा दशरथने कहा कि अभी इस बात पर विचार करना है। यह कह कर उन्होंने मंत्री और सेनापतिको तो विदा किया और तदनन्तर हितका उपदेश देनेवाले पुरोहितसे यह प्रश्न पूछा कि राजा जनकके घर जाने पर दोनों कुमारोंका इष्ट सिद्ध होगा या नहीं ? उत्तरमें पुरोहित भी पुराणों और निमित्तशास्त्रोंके कहे अनुसार कहने लगा कि हमारे इन दोनों कुमारोंका राजा जनकके उस यज्ञमें महान् ऐश्वर्य प्रकट होगा इसमें आपको थोड़ा भी संशय नहीं करना चाहिये। इसके सिवाय एक बात और कहता हूँ ॥ ४६३-४६७ ॥ वह यह कि इस भरत क्षेत्रमें मनु-कुलकर, तीर्थंकर,

---

१ निवृत्तिरेव ल० । २ अस्मात्कुमारयो-ल० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इत्याख्याताः पुराणज्ञैर्मुनीशैः प्राग्मया श्रुताः । [1]तेष्वष्टमाविमौ रामकेशवौ नः कुमारकौ ॥ ४६९ ॥
भाविनौ रावणं हत्वेत्यवादीन्नाविविद्भिरः । तत्तदुक्तं तदाकर्ण्य परितोषमगान्नृपः ॥ ४७० ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

कृत्वा पापमदः क्रुधा पशुवधस्योत्सूत्रमाभूतलं,
हिंसायज्ञमवर्तयत् कपटधीः क्रूरो महाकालकः ।
तेनागात्सवसुः सपर्वतखलो घोरां धरां नारकीं
दुर्मार्गान् दुरितावहान्विदधतां नैतन्महत्पापिनाम् ॥ ४७१ ॥
व्यामोहात्सुलसाप्रियस्ससुलसः सार्द्धं स्वयं मन्त्रिणा
शत्रुच्छद्मविवेकशून्यहृदयः सम्पाद्य हिंसाक्रियाम् ।
नष्टो गन्तुमधः क्षितिं दुरितिनामक्रूरनाशं मुधा
दुःकर्माभिरतस्य किं हि न भवेदन्यस्य चेदृग्विधम् ॥४७२॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

स्वाचार्यवर्यमनुसृत्य हितानुशासी
वादे समेत्य बुधसंसदि साधुवादम् ।
श्रीनारदो विहितभूरितपाः कृतार्थः
सर्वार्थसिद्धिमगमत्सुधियामधीशः ॥ ४७३ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे दुर्मार्गप्रवर्तनप्रपञ्चव्यावर्णनं नाम सप्तषष्टं पर्व ॥ ६७ ॥

—❀:०:❀—

तीन प्रकारके चक्रवर्ती (चक्रवर्ती, नारायण और प्रतिनारायण) और महा प्रतापी बलभद्र होते हैं ऐसा पुराणोंके जाननेवाले मुनियोंने कहा है तथा मैंने भी पहले सुना है। हमारे ये दोनों कुमार उन महापुरुषोंमें आठवें बलभद्र और नारायण होंगे ॥४६८-४६९ ॥ तथा रावणको मारेंगे। इस प्रकार भविष्यको जाननेवाले पुरोहितके वचन सुनकर राजा सन्तोषको प्राप्त हुए ॥ ४७० ॥ कपट रूप बुद्धिको धारण करनेवाले क्रूरपरिणामी महाकालने क्रोधवश समस्त संसारमें शास्त्रोंके विरुद्ध और अत्यन्त पाप रूप पशुओंकी हिंसासे भरे हिंसामय यज्ञकी प्रवृत्ति चलाई इसी कारणसे वह राजा वसु, दुष्ट पर्वतके साथ घोर नरकमें गया सो ठीक ही है क्योंकि जो पाप उत्पन्न करनेवाले मिथ्यामार्ग चलाते हैं उन पापियोंके लिए नरक जाना कोई बड़ी बात नहीं है ॥ ४७१ ॥ मोहनीय कर्मके उदयसे जिसका हृदय शत्रुओंका छल समझनेवाले विवेकसे शून्य था ऐसा राजा सगर रानी सुलसा और विश्वभू मन्त्रीके साथ स्वयं हिंसामय क्रियाएँ कर अधोगतिमें जानेके लिए नष्ट हुआ सो जब राजाकी यह दशा हुई तब जो अन्य साधारण मनुष्य अपने क्रूर परिणामोंको नष्ट न कर व्यर्थ ही दुष्कर्ममें तल्लीन रहते हैं उनकी क्या ऐसी दशा नहीं होगी ? अवश्य होगी ॥ ४७२ ॥ जिसने अपने श्रेष्ठ आचार्य-गुरुका अनुसरण कर हितका उपदेश दिया, विद्वानोंकी सभामें शास्त्रार्थ कर जिसने साधुवाद-उत्तम प्रशंसा प्राप्त की, जिसने बहुत भारी तप किया और जो विद्वानोंमें श्रेष्ठ था ऐसा श्रीमान् नारद कृतकृत्य होकर सर्वार्थसिद्धि गया ॥ ४७३ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीत, त्रिषष्टि लक्षण महापुराण संग्रहमें मिथ्या-मार्गकी प्रवृत्तिके विस्तारका वर्णन करनेवाला सड़सठवाँ पर्व समाप्त हुआ।

---

१ भुतेष्व-ल०।

अष्टषष्टं पर्व

पुराहितः पुनश्चासौ तत्कथां श्रोतुमर्हसि[1] । इति सम्बोध्य भूपालं ततो वक्तुं प्रचक्रमे ॥ १ ॥
क्रमेण श्रव्यशब्दार्थसारवाणिर्भवावलीम्[2] । दशास्यस्य दशाशास्यप्रकाशिस्वयशःश्रियः ॥ २ ॥
अथास्ति[3] नाकलोकाभो धातकीखण्डपूर्वभाग् । भारते भूगुणैर्युक्तो देशः सारसमुच्चयः ॥ ३ ॥
तस्मिन्नागपुरे[4] ख्यातो नरदेवो महीपतिः । स कदाचिदनन्ताख्यगणेशात्कृतवन्दनः ॥ ४ ॥
श्रुतधर्मकथो जातनिर्वेदो ज्येष्ठसूनवे । प्रदाय भोगदेवाय राज्यमापन्नसंयमः ॥ ५ ॥
चरंस्तपः समुत्कृष्टं दृष्ट्वा विद्याधराधिपम् । सद्यश्चपलवेगाख्यं निदानमकरोदधीः ॥ ६ ॥
प्रान्ते संन्यस्य सौधर्मकल्पेऽभूदमृताशनः । अथास्मिन्भारते क्षेत्रे विजयार्द्धमहाचले ॥ ७ ॥
खगेशो दक्षिणश्रेण्यां मेघकूटपुराधिपः । विनम्यन्वयसम्भूतः सहस्रग्रीवखेचरः ॥ ८ ॥
क्रुधात्मभ्रातृपुत्रोरुबलेनोत्सादितस्ततः । गत्वा लङ्कापुरं[5] त्रिंशत्सहस्राब्दान्यपालयत् ॥ ९ ॥
तस्य पुत्रः शतग्रीवस्तत्पडंशोनवत्सरान् । पाति स्म तत्सुतः पञ्चाशद्ग्रीवोप्यन्वपालयत् ॥१०॥
वत्सराणां सहस्राणि विंशतिं तस्य चात्मजः । पुलस्त्यस्त्रिक[6]मेर्वेकवर्षायुस्तस्य वल्लभा ॥ ११ ॥
मेघश्रीरनयोः सूनुः स देवोऽभूद्दशाननः । चतुर्दशसहस्राब्दपरमायुर्महीतलम् ॥ १२॥
पालयन्नन्यदा कान्तासहायः क्रीडितुं वनम् । गत्वा लङ्केश्वरः खेचराचलस्थालकेशितुः[7] ॥ १३ ॥

तदनन्तर जिसके शब्द और अर्थ सुनने योग्य हैं तथा वाणी सारपूर्ण है ऐसा पुरोहित, 'महाराज आप यह कथा श्रवण करनेके योग्य हैं' इस प्रकार महाराज दशरथको सम्बोधित कर अपने यशरूपी लक्ष्मीसे दशों दिशाओंके मुखको प्रकाशित करनेवाले रावणके भवान्तर कहने लगा ॥१–२॥ उसने कहा कि धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व भरतक्षेत्रमें स्वर्गलोकके समान आभावाला एवं पृथिवीके गुणोंसे युक्त सारसमुच्चय नामका देश है ॥ ३ ॥ उसके नागपुर नगरमें नरदेव नामका राजा राज्य करता था। वह किसी एक दिन अनन्त नामक गणधरके पास गया, उन्हें वन्दना कर उसने उनसे धर्म-कथा सुनी और विरक्त होकर भोगदेव नामक बड़े पुत्रके लिए राज्य दे दिया तथा संयम धारण कर उत्कृष्ट तपश्चरण किया। तपश्चरण करते समय उस मूर्खने कदाचित् चपलवेग नामक विद्याधरोंके राजाको देखकर शीघ्र ही निदान कर लिया। जब आयुका अन्त आया तब संन्यास धारण कर सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ।

अथानन्तर–इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें जो विजयार्ध नामका महान् पर्वत है उसकी दक्षिण श्रेणीमें मेघकूट नामका नगर है। उसमें राजा विनमिके वंशमें उत्पन्न हुआ सहस्रग्रीव नामका विद्याधर राज्य करता था। उसके भाईका पुत्र बहुत बलवान् था इसलिए उसने क्रोधित होकर सहस्रग्रीवको बाहर निकाल दिया था। वह सहस्रग्रीव वहाँसे निकल कर लङ्का नगरी गया और वहाँ तीस हजार वर्ष तक राज्य करता रहा ॥ ४–९ ॥ उसके पुत्रका नाम शतग्रीव था। सहस्रग्रीवके बाद उसने वहाँ पच्चीस हजार वर्ष तक राज्य किया था। उसका पुत्र पञ्चाशत्ग्रीव था उसने भी शतग्रीवके बाद बीस हजार वर्ष तक पृथिवीका पालन किया था, तदनन्तर पञ्चाशद्ग्रीवके पुलस्त्य नामका पुत्र हुआ उसने भी पिताके बाद पन्द्रह हजार वर्ष तक राज्य किया। उसकी स्त्रीका नाम मेघश्री था। उन दोनोंके वह देव रावण नामका पुत्र हुआ। चौदह हजार वर्षकी उसकी उत्कृष्ट आयु थी, पिताके बाद वह भी पृथिवीका पालन करने लगा। एक दिन लङ्काका ईश्वर रावण अपनी स्त्रीके साथ क्रीड़ा करनेके

१–मर्हति क०, ल०। २ भवावलिम् ल०। ३ अथास्मिन् क०, ख०, ग०, घ०। ४ नाकपुरे ल०, ग०। ५ लङ्कापुरीम् क०, घ०। ६ त्रिखमेर्वेक (१५०००) क०, ख०, ग०, घ०, म०। त्रिखर्वेक ल० (?)। ७ खेचराचलकेशितुः ल०।

सुतामितवेगस्य विद्यासाधनतत्पराम् । लोलो मणिमतिं वीक्ष्य काममोहवशीकृतः ॥ १४ ॥
तां दुरात्माऽऽत्मसात्कर्तुं तद्विद्यासिद्धिमन्यहन्[1] । सापि द्वादशवर्षोपवासक्लेशकृशीकृताङ्गयष्टिः ॥
तत्सिद्धिविघ्नहेतुत्वात् कुपित्वा खेचरेशिने । पुत्रिकास्यैव भूत्वेमं वध्यासमिति दुर्मतिम् ॥ १६॥
कृत्वा भवान्ते मन्दोदरीगर्भं समधिष्ठिता । भूकम्पादिमहोत्पातैस्तज्जन्मसमयोद्भवैः ॥ १७ ॥
विनाशो रावणस्येति नैमित्तिकवचःश्रुतेः । दशाननोऽतिभीतः सन्यत्र क्वचन पापिनीम् ॥ १८ ॥
त्यजेमामिति मारीचमाज्ञापयदसावभीः[2] । सोऽपि मन्दोदरीगेहं गत्वा देवस्य देवि मे ॥१९॥
कर्मैवं निर्घृणस्यासीदिति तस्यै न्यवेदयत् । सापि देवनिदेशस्य नाहमस्मि निवारिका ॥ २० ॥
इति प्रभूतद्रव्येण मञ्जूषायां [3]निधाय ताम् । तत्सन्निधानपत्रेण[4] सहोक्त्वेदं च तं मुहुः ॥ २१ ॥
मारीच[5]मानसे स्निग्धः प्रकृत्या बालिकामिमाम् । बाधाविरहिते देशे निक्षिपेति गलज्जले ॥२२॥
विमृज्य लोचने तस्मै स्वतनूजां समर्पयत्[6] । स नीत्वा मिथिलोद्याननिकटप्रकटे क्वचित् ॥ २३ ॥
धरान्तःकृतमञ्जूषो विषण्णो न्यवृतच्छुचा । तस्मिन्नेव दिने दृष्ट्वा गेहनिर्मापणं प्रति ॥ २४ ॥
भूमिसंशोधने लाङ्गलाग्रलग्नां नियोगिनः । मञ्जूषामेतदाश्चर्यमिति भूपमबोधयन् ॥ २५ ॥
सुरूपां बालिकां वीक्ष्य तदभ्यन्तरवर्तिनीम् । नृपस्तदवतारार्थं विलेखादवबुध्य सः ॥ २६ ॥
तत्पूर्वापरसम्बन्धमेषा सीताभिधानिका । सुता भवेत्तवेत्येतां वसुधायै ददौ मुदा ॥ २७ ॥

लिए किसी वनमें गया था। वहाँ विजयार्ध पर्वतके स्थालक नगरके राजा अमितवेगकी पुत्री मणिमती विद्या सिद्ध करनेमें तत्पर थी उसे देखकर चञ्चल रावण काम और मोहके वश हो गया। उस कन्याको अपने आधीन करनेके लिए उस दुष्टने मणिमतीकी विद्या हरण कर ली। वह कन्या उस विद्याकी सिद्धिके लिए बारह वर्षसे उपवासका क्लेश उठाती अत्यन्त दुर्बल हो गई थी। विद्याकी सिद्धिमें विघ्न होता देख वह विद्याधरोंके राजा पर बहुत कुपित हुई। कुपित होकर उसने निदान किया कि मैं इस राजाकी पुत्री होकर इस दुर्बुद्धिका वध अवश्य करूँगी ॥ १०–१६ ॥ ऐसा निदान कर वह आयुके अन्तमें मन्दोदरीके गर्भमें उत्पन्न हुई। जब उसका जन्म हुआ तब भूकम्प आदि बड़े-बड़े उत्पात हुए उन्हें देख निमित्तज्ञानियोंने कहा कि इस पुत्रीसे रावणका विनाश होगा। यद्यपि रावण निर्भय था तो भी निमित्तज्ञानियोंके वचन सुनकर अत्यन्त भयभीत हो गया। उसने उसी क्षण मारीच नामक मन्त्रीको आज्ञा दी कि इस पापिनी पुत्रीको जहाँ कहीं जाकर छोड़ दो। मारीच भी रावणकी आज्ञा पाकर मन्दोदरीके घर गया और कहने लगा कि हे देवि, मैं बहुत ही निर्दय हूं अतः महाराजने मुझे ऐसा काम सौंपा है यह कह उसने मन्दोदरीके लिए रावणकी आज्ञा निवेदित की—सूचित की। मन्दोदरीने भी उत्तर दिया कि मैं महाराजकी आज्ञाका निवारण नहीं करती हूँ ॥ १७–२० ॥ यह कह कर उसने एक सन्दूकचीमें बहुत-सा द्रव्य रखकर उस पुत्रीको रक्खा, और मारीचसे बार-बार यह शब्द कहे कि हे मारीच! तेरा हृदय स्वभावसे ही स्नेह पूर्ण है अतः इस बालिकाको ऐसे स्थानमें छोड़ना जहाँ किसी प्रकारकी बाधा न हो। ऐसा कह उसने जिनसे अश्रु झर रहे हैं ऐसे दोनों नेत्र पोंछकर उसके लिए वह पुत्री सौंप दी। मारीचने ले जाकर वह सन्दूकची मिथिलानगरीके उद्यानके निकट किसी प्रकट स्थानमें जमीनके भीतर रख दी और स्वयं शोकसे विषाद करता हुआ वह लौट गया। उसी दिन कुछ लोग घर बनवानेके लिए जमीन देख रहे थे, वे हल चलाकर उसकी नोंकसे वहाँकी भूमि ठीक कर रहे थे। उसी समय वह सन्दूकची हलके अग्रभागमें आ लगी। वहाँ जो अधिकारी कार्य कर रहे थे उन्होंने इसे आश्चर्य समझ राजा जनकके लिए इसकी सूचना दी ॥ २१–२५ ॥ राजा जनकने उस सन्दूकचीके भीतर रखी हुई सुन्दर कन्या देखी और पत्रसे उसके जन्मका सब समाचार तथा पूर्वापर सम्बन्ध ज्ञात किया। तदनन्तर उसका सीता नाम रखकर 'यह तुम्हारी पुत्री होगी' यह कहते हुए उन्होंने बड़े हर्षसे वह पुत्री वसुधा रानीके

१–मन्यहरन् ल० । २–दथान्धधीः ख० । ३ विधाय ताम् ल० । ४ पात्रेण क०, घ० । ५ मन्य मे स्निग्धः ख०, ग० । मान्य मे स्निग्ध म० । मान्यसे स्निग्ध ल० । ६ समार्पयत् ल० ।

वसुधा वसुधा[1]गेहे गुणयन्ती कलागुणान् । अवर्द्धयदिमां गूढां[2] लङ्केशोऽपि न वेत्स्यमूम् ॥ २८ ॥
वार्ता जनकयागस्य तस्माद्वात्रागमिष्यति । दास्यत्यवश्यं रामाय तां कन्यां मिथिलेश्वरः ॥ २९ ॥
मार्गदर्शक:-विधि नैमित्तिकोदितः । राज्ञाखिलबलेनामा प्रहितौ रामलक्ष्मणौ ॥ ३० ॥
प्रत्युद्यातौ महीशेन जनकेनानुरागिणा । प्राग्जन्मसञ्चितामेयस्वपुण्यपरिपाकतः ॥ ३१ ॥
रूपादिगुणसम्पत्त्या सत्यमेतौ गतोपमौ । इति पौरैः प्रशंसद्भिः प्रेक्ष्यमाणौ[3] समं ततः ॥ ३२ ॥
पुरं प्रविश्य भूपोक्ते स्थाने न्यवसतां सुखम् । दिनैः कतिपयैरेव नृपमण्डलसन्निधौ ॥ ३३ ॥
निर्वर्त्याभिमतं यज्ञविधानं तदनन्तरम् । महाविभूतिभिः सीतां ददौ रामाय भूपतिः ॥ ३४ ॥
दिनानि कानिचित्तत्र सीतयेव श्रिया समम् । नवप्रेमसमुद्भूतं सुखं रामोऽन्वभूद् भृशम् ॥ ३५ ॥
तदा दशरथाभ्यर्णादायातसचिवोक्तिभिः । जनकानुमतः शुद्धतिथौ परिजनान्वितः ॥ ३६ ॥
अभ्ययोध्यां[4] पुरीं सीतासमेतो जातसम्मदः । लक्ष्मणेन च गत्वाशु स्वानुजाभ्यां स्वबन्धुभिः ॥ ३७ ॥
परिवारैश्च स प्रत्यग्गम्यमानो निजां पुरीम् । विभूत्या दिविजेन्द्रो वा विनीतां प्राविशज्जयी ॥ ३८ ॥
दृष्ट्वा यथोचितं प्रीत्या पितरौ प्रीतचेतसौ । तस्थौ प्रवर्द्धमानश्रीः सप्रियः सानुजः सुखम् ॥ ३९ ॥
तदा तदुत्सवं भूयो वर्द्धयन्नात्मना मधुः । कोकिलालिकु[5]लालापडिण्डिमो मण्डयन् दिशः ॥ ४० ॥
सन्धिं तपोधनैः सार्द्धं विग्रहं शिथिलव्रतैः । प्रकुर्वाणस्य कामस्य सामवायिकतां वहन् ॥ ४१ ॥

लिए दे दी ॥ २६–२७ ॥ रानी वसुधाने भूमिगृहके भीतर रहकर उस पुत्रीका पालन-पोषण किया है तथा उसके कलारूप गुणोंकी वृद्धि की है। यह कन्या इतनी गुप्त रखी गई है कि लङ्केश्वर रावणको इसका पता भी नहीं है। इसके सिवाय राजा जनक यज्ञ कर रहे हैं यह खबर भी रावणको नहीं है अतः वह इस उत्सवमें नहीं आवेगा। ऐसी स्थितिमें राजा जनक वह कन्या रामके लिए अवश्य देवेंगे। इसलिए राम और लक्ष्मण ये दोनों ही कुमार वहाँ अवश्य ही भेजे जानेके योग्य हैं। इस प्रकार निमित्तज्ञानी पुरोहितके कहनेसे राजा समस्त सेनाके साथ राम और लक्ष्मणको भेज दिया ॥ २८–३० ॥ अनुरागसे भरे हुए राजा जनकने उन दोनोंकी अगवानी की। 'पूर्व जन्ममें संचित अपने अपरिमिति पुण्यके उदयसे जो इन्हें रूप आदि गुणोंकी सम्पदा प्राप्त हुई है उससे ये सचमुच ही अनुपम हैं—उपमा रहित हैं' इस प्रकार प्रशंसा करते हुए नगरके लोग जिन्हें देख रहे हैं ऐसे दोनों भाई साथ ही साथ नगरमें प्रवेश कर राजा जनकके द्वारा बतलाये हुए स्थान पर सुखके ठहर गये। कुछ दिनोंके बाद जब अनेक राजाओंका समूह आ गया तब उनके सन्निधानमें राजा जनकने अपने इष्ट यज्ञकी विधि पूरी की और बड़े वैभवके साथ रामचन्द्रके लिए सीता प्रदान की ॥३१–३४॥ रामचन्द्रजीने कुछ दिन तक लक्ष्मीके समान सीताके साथ वहीं जनकपुरमें नये प्रेमसे उत्पन्न हुए सातिशय सुखका उपभोग किया ॥ ३५ ॥ तदनन्तर राजा दशरथके पाससे आये हुए मन्त्रियोंके कहनेसे रामचन्द्रजीने राजा जनककी आज्ञा ले शुद्ध तिथिमें परिवारके लोग, सीता तथा लक्ष्मणके साथ बड़े हर्षसे अयोध्याकी ओर प्रस्थान किया और शीघ्र ही वहाँ पहुँच गये। वहाँ पहुँचने पर दोनों छोटे भाई भरत और शत्रुघ्नने, बन्धुओं तथा परिवारके लोगोंने उनकी अगवानी की। जिस प्रकार इन्द्र बड़े वैभवके साथ अपनी नगरी अमरावतीमें प्रवेश करता है उसी प्रकार विजयी रामचन्द्रजीने बड़े वैभवके साथ अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया ॥ ३६–३८ ॥ वहाँ उन्होंने प्रसन्न चित्तके धारक माता-पिताके दर्शन यथायोग्य प्रेमसे किये। तदनन्तर जिनकी लक्ष्मी उत्तरोत्तर बढ़ रही है ऐसे रामचन्द्रजी सीता तथा छोटे भाइयोंके साथ सुखसे रहने लगे ॥ ३९ ॥

उसी समय अपने द्वारा उनके उत्सवको बढ़ाता हुआ वसन्त ऋतु आ पहुँचा। कोयलों और भ्रमरोंके समूह जो मनोहर शब्द कर रहे थे वही मानो उसके नगाड़े थे, वह समस्त दिशाओंको सुशोभित कर रहा था। जो कामदेव, तपोधन–साधुओंके साथ सन्धि करता है और शिथिल व्रतों-

---

१ च सुधागेहे ल० । २ गूढं म०, ल० । ३ प्रेक्षमाणौ ल० (?) । ४ अभ्ययोध्यां पुरं ग० । ५ कोकिलालिकलालाप-म० ।

[1]कामिनां खण्डयन्मानं वियुक्तान् दण्डयन् भृशम्। संयुक्तान् पिण्डितान् कुर्वन् प्रचण्डः प्राविशज्जगत्॥४२॥
तदागमनमात्रेण सद्वनस्पतिजातयः। काश्चिदङ्कुरिताः काश्चित्सानुरागाः [2]सपल्लवैः ॥ ४३ ॥
काश्चित्कोरकिताः काश्चित्सहासाः कुसुमोत्करैः। स्वावध्याधातचित्तेशाः कान्ता इव निरन्तरम् ॥ ४४ ॥
हिमानीपटलोन्मुक्तं सुव्यक्तं चन्द्रमण्डलम्। ज्योत्स्नां प्रसारयामास दिक्षु लक्ष्मीविधायिनीम् ॥ ४५ ॥
सारमामोदमादाय विकिरन्पुष्पजं रजः। सरोवारिकणैः सार्द्धमपाच्य[3]पवनो ववौ ॥ ४६ ॥
तदान्याभिश्च रामस्य रामाभिः सप्तभिर्नृपः। प्रेक्ष्याभिर्लक्ष्मणस्यापि पृथिवीदेविकादिभिः ॥ ४७ ॥
प्रीत्या षोडशमानाभिर्जिनपूजापुरस्सरम्। तनूजाभिर्नरेन्द्राणां विवाहमकरोत्कृती ॥ ४८ ॥
ततः सर्वर्तुषु प्रेम्णा ताभिस्तौ सुखमीयतुः। ताश्च ताभ्यामयो यस्माद्वाह्यहेतोः सुखप्रदः ॥ ४९ ॥
एवं स्वपुण्यपाका[4]त्प्रसुखानुभवतत्परौ। तौ लब्ध्वावसरावित्थं कदाचित्प्रोचतुर्नृपम् ॥ ५० ॥
काशिदेशे क्रमायातमस्मत्पुरवरं पुरा। वाराणसी तदधाभूदनधिष्ठितनायकम् ॥ ५१ ॥
आज्ञा यद्यस्ति देवस्य तदावामुदितोदितम्। विधास्याव इति श्रुत्वा नरेन्द्रस्तदुदीरितम् ॥ ५२ ॥
[5]वियोगमेतयोः सोढुमक्षमा भरतादयः। अस्मद्दृश्या महीनाथाः स्थित्वात्रैव पुरे पुरा ॥ ५३ ॥
षट्खण्डमण्डितां पृथ्वीं बहवोऽपालयंश्चिरम्। एकदेशस्थयोरेव सूर्याचन्द्रमसोरिव ॥ ५४ ॥
विभासि भवतोस्तेजो व्याप्नोति महिमण्डलम्। ततः किं तत्प्रयाणेन मा यातमिति[6] सोऽब्रवीत् ॥५५॥

शिथिलाचारियोंके साथ विग्रह रखता है उस कामदेवके साथ वह वसन्त ऋतु अपना खास सम्बन्ध रखता था। वह वसन्त कामी मनुष्योंका मान खण्डित करता था, विरही मनुष्योंको अत्यन्त दण्ड देता था, और संयुक्त मनुष्योंको परस्परमें सम्बद्ध करता था। इस प्रचण्ड शक्तिवाले वसन्त ऋतुने संसारमें प्रवेश किया ॥ ४०-४२ ॥ वसन्त ऋतुके आते ही वनमें जो उत्तम वनस्पतियोंकी जातियाँ थीं उनमेंसे कितनी ही अङ्कुरित हो उठीं और कितनी ही अपने पल्लवोंसे सानुराग हो गईं, कितनी ही वनस्पतियों पर कलियाँ आ गई थीं, और कितनी ही वनस्पतियाँ, जिनके प्राणवल्लभ अपनी अवधिके भीतर आ गये हैं ऐसी स्त्रियोंके समान फूलोंके समूहसे निरन्तर हँसने लगीं ॥ ४३-४४ ॥ उस समय चन्द्रमाका मण्डल बर्फके पटलसे उन्मुक्त होनेके कारण अत्यन्त स्पष्ट दिखाई देता था और सब दिशाओंमें शोभा बढ़ानेवाली अपनी चाँदनी फैला रहा था ॥ ४५ ॥ दक्षिण दिशाका वायु श्रेष्ठ सुगन्धिको लेकर फूलोंसे उत्पन्न हुई परागको बिखेरता हुआ सरोवरके जलके कणोंके साथ बह रहा था ॥ ४६ ॥ उसी समय अतिशय कुशल राजा दशरथने श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजापूर्वक अन्य सात सुन्दर कन्याओंके साथ रामचन्द्रका तथा पृथिवी देवी आदि सोलह राजकन्याओंके साथ लक्ष्मणका विवाह किया था ॥ ४७-४८ ॥ तदनन्तर राम और लक्ष्मण दोनों भाई समस्त ऋतुओंमें उन स्त्रियोंके साथ प्रेमपूर्वक सुख प्राप्त करने लगे और वे स्त्रियाँ उन दोनोंके साथ प्रेमपूर्वक सुखका उपभोग करने लगीं सो ठीक ही है क्योंकि पुण्य बाह्य हेतुओंसे ही सुखका देनेवाला होता है ॥ ४९ ॥ इस प्रकार पुण्योदयसे श्रेष्ठ सुखका अनुभव करनेमें तत्पर रहनेवाले दोनों भाई किसी समय अवसर पाकर राजा दशरथसे इस प्रकार कहने लगे ॥ ५० ॥ कि काशीदेशमें वाराणसी (बनारस) नामका उत्तम नगर हमारे पूर्वजोंकी परम्परासे ही हमारे आधीन चल रहा है परन्तु वह इस समय स्वामि रहित हो रहा है। यदि आपकी आज्ञा हो तो हम दोनों उसे बढ़ते हुए वैभवसे युक्त कर दें। उनका कहा सुनकर राजा दशरथने कहा कि भरत आदि तुम दोनोंका वियोग सहन करनेमें असमर्थ हैं। पूर्वकालमें हमारे वंशज राजा इसी अयोध्या नगरीमें रहकर ही चिरकाल तक पृथिवीका पालन करते रहे हैं। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा यद्यपि एक स्थानमें रहते हैं तो भी उनका तेज सर्वत्र व्याप्त हो जाता है उसी प्रकार आप दोनोंका तेज एक स्थानमें स्थित होने पर भी समस्त पृथिवी-मण्डलमें

---

१ कामितां ल०। २ स्वपल्लवैः ख०। ३-मपाच्यः पवनो क०, ख०। ४ स्वपुण्यपाकात्-ख०, ग०। स्वपुण्यपाकां त-क०। ५ वियोगमक्षमः सोढुमेतयोर्भरतादयः म०, ख०। ६ मागतामिति ख०। मायातामिति क०, घ०।

निषिद्धावपि तौ तेन पुनश्चैवमवोचताम् । आवयोरेव देवस्य स्नेहो याननिषेधनम् ॥ ५६ ॥
शौर्यस्य सम्भवो यावद्यावत्पुण्यस्य च स्थितिः । तावदुत्साहसन्नाहं न मुञ्चन्त्युदयार्थिनः ॥ ५७ ॥
बुद्धिं शक्तिमुपायं च जयं गुणविकल्पनम् । सम्यक्प्रकृतिभेदांश्च विदित्वा राजसूनुना ॥ ५८ ॥
महोद्योगो विधातव्यो विरुद्धान्विजिगीषुणा । स्वभावविनयोद्भूता द्विधा बुद्धिर्निगद्यते ॥ ५९ ॥
मन्त्रोत्साहप्रभूता च त्रिधा शक्तिरुदाहृता । [1]पञ्चाङ्गमन्त्रनिर्णीतिर्मन्त्रशक्तिर्मतागमे ॥ ६० ॥
शौर्योर्जितत्वादुत्साहशक्तिः शक्तिज्ञसम्मता । प्रभुशक्तिर्महीभर्तुराधिक्यं कोशदण्डयोः ॥ ६१ ॥
[2]सामायोपप्रदौ भेदं दण्डं च नयकोविदाः । वदन्त्युपायांश्चतुरो यैरर्थः साध्यते नृपैः ॥ ६२ ॥
प्रियं हितं वचः कायपरिष्वङ्गादि साम तत् । हस्त्यश्वदेशरत्नादि दत्ते सोपप्रदा मता ॥ ६३ ॥
कृत्यानामुपजापेन स्वाकृतिं भेदमादिशेत् । शस्यमुष्टिवधं दाहलोपविध्वंसनादिकम् ॥ ६४ ॥
शत्रुक्षयकरं कर्म [3]पण्डितैर्दण्डमिष्यते । इन्द्रियाणां निजार्थेषु प्रवृत्तिरविरोधिनी ॥ ६५ ॥
कामादिशत्रुविन्नासो [4]वा जयो जयशालिनः । सन्धिः सविग्रहो नेतुरासनं यानसंश्रयौ ॥ ६६ ॥
द्वैधीभावश्च षट् प्रोक्ता गुणाः प्रणयिनः श्रियः । कृतविग्रहयोः पश्चात्केनचिद्धेतुना तयोः ॥ ६७ ॥
मैत्रीभावः स सन्धिः स्यात्सावधिर्विगतावधिः । परस्परापकारोऽरिविजिगीष्वोः स विग्रहः ॥६८॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

व्याप्त हो रहा है इसलिए वहाँ जानेकी क्या आवश्यकता है ? मत जाओ ? यद्यपि महाराज दशरथने उन्हें बनारस जानेसे रोक दिया था तो भी वे पुनः इस प्रकार कहने लगे कि महाराजका हम दोनों पर जो महान् प्रेम है वही हम दोनोंके जानेमें बाधा कर रहा है ॥ ५५–५६ ॥ जब तक शूरवीरताका होना सम्भव है और जब तक पुण्यकी स्थिति बाकी रहती है तब तक अभ्युदयके इच्छुक पुरुष उत्साहकी तत्परताको नहीं छोड़ते हैं ॥ ५७ ॥ जो राजपुत्र विरुद्ध-शत्रुओंको जीतना चाहते हैं उन्हें बुद्धि, शक्ति, उपाय, विजय, गुणोंका विकल्प और प्रजा अथवा मन्त्री आदि प्रकृतिके भेदोंको अच्छी तरह जानकर महान् उद्योग करना चाहिये। उनमेंसे बुद्धि दो प्रकारकी कही जाती है एक स्वभावसे उत्पन्न हुई और दूसरी विनयसे उत्पन्न हुई ॥ ५८–५९ ॥ शक्ति तीन प्रकारकी कही गई है एक मन्त्रशक्ति, दूसरी उत्साह-शक्ति और तीसरी प्रभुत्व-शक्ति। सहायक, साधनके उपाय, देश-विभाग, काल-विभाग और बाधक कारणोंका प्रतिकार इन पाँच अङ्गोंके द्वारा मन्त्रका निर्णय करना आगममें मन्त्रशक्ति बतलाई गई है ॥ ६० ॥ शक्तिके जाननेवाले शूर-वीरतासे उत्पन्न हुए उत्साहको उत्साह-शक्ति मानते हैं। राजाके पास कोश (खजाना) और दण्ड (सेना) की जो अधिकता होती है उसे प्रभुत्व-शक्ति कहते हैं ॥ ६१ ॥ नीतिशास्त्रके विद्वान् साम, दान, भेद और दण्ड इन्हें चार उपाय कहते हैं। इनके द्वारा राजा लोग अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं ॥ ६२ ॥ प्रिय तथा हितकारी वचन बोलना और शरीरसे आलिङ्गन आदि करना साम कहलाता है। हाथी, घोड़ा, देश तथा रत्न आदिका देना उपप्रदा—दान कहलाता है। उपजाप अर्थात् परस्पर फूट डालनेके द्वारा अपना कार्य स्वीकृत करना—सिद्ध करना भेद कहलाता है। शत्रुके घास आदि आवश्यक सामग्री की चोरी करा लेना, उनका वध करा देना, आग लगा देना, किसी वस्तुको छिपा देना अथवा सर्वथा नष्ट कर देना इत्यादि शत्रुओंका क्षय करनेवाले जितने कार्य हैं उन्हें पण्डित लोग दण्ड कहते हैं। इन्द्रियोंकी अपने-अपने योग्य विषयोंमें विरोध रहित प्रवृत्ति होना तथा कामादि शत्रुओंको भयभीत करना जयशाली मनुष्यकी जय कहलाती है ॥ ६३–६५ ॥ सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव ये राजाके छह गुण कहे गये हैं। ये छहों गुण लक्ष्मीके स्नेही हैं। युद्ध करनेवाले दो राजाओंका पीछे किसी कारणसे जो मैत्रीभाव हो जाता है उसे सन्धि कहते हैं। यह सन्धि दो प्रकारकी है अवधि सहित—कुछ समयके लिए और अवधि रहित—सदाके लिए। शत्रु तथा उसे जीतनेवाला दूसरा राजा ये दोनों परस्परमें जो एक दूसरेका अपकार करते हैं उसे विग्रह कहते हैं

---

१ 'सहायः साधनोपायौ विभागो देशकालयोः। विनिपातप्रतीकारः सिद्धेः पञ्चाङ्गमिष्यते'। २ साम, आद्यस्य उपप्रदा दानमिति यावत्, भेदं, दण्डञ्च, चतुर उपायान् वदन्ति। ३ दण्डितैः ल०। ४ विजयो क० घ०।

मामिहान्योऽहमप्यन्यमशक्तो हन्तुमित्यसौ । तूष्णींभावो भवेन्नेतुरासनं वृद्धिकारणम् ॥ ६९ ॥
स्ववृद्धौ शत्रुहानौ वा द्वयोर्वाभ्युद्यमं स्मृतम् । अरिं प्रति विभोर्यानं तावन्मात्रफलप्रदम् ॥ ७० ॥
अनन्यशरणस्याहुः संश्रयं सत्यसंश्रयम् । सन्धिविग्रहयोर्वृत्तिर्द्वैधीभावो द्विषां प्रति ॥ ७१ ॥
स्वाम्यमात्यौ[1] जनस्थानं कोशो दण्डः सगुप्तिकः । मित्रं[2] च भूमिपालस्य सप्त प्रकृतयः स्मृताः ॥७२॥
इमे राज्यस्थितेः प्राज्ञैः पदार्था हेतवो मताः । तेषूपायवती शक्तिः प्रधानव्यवसायिनी ॥ ७३ ॥
पानीयं खननाद्वह्निर्मंथनादुपलभ्यते । अदृश्यमपि सम्प्राप्यं सत्फलं व्यवसायतः ॥ ७४ ॥
फलप्रसवहीनं वा सहकारं विहङ्गमाः । विवेकवन्तो नामोपदिष्टं वा कुत्सितागमम् ॥ ७५ ॥
राजपुत्रमनुत्साहं त्यजन्ति विपुलाः श्रियः । स्वकीययोधसामन्तमहामात्यादयोऽपि च ॥ ७६ ॥
पुत्रं पिताप्यनुद्योगं मत्वायोग्यं विषीदति । इति विज्ञापनं श्रुत्वा तयोर्नरपतिस्तदा ॥ ७७ ॥
युवाभ्यामुक्तमेवेदं प्रत्यपादि कुलोचितम् । इत्याविष्कृतहर्षाभिर्भाविसीरभृतः स्वयम् ॥ ७८ ॥
[3]विन्यस्य राज्ययोग्योरुमुकुटं लक्ष्मणस्य च । प्रबध्य यौवराज्याधिपत्यपट्टं महौजसः ॥ ७९ ॥
महाभ्युदयसम्पादिसत्याशीर्भिः प्रवर्द्धयन् । पुत्रौ प्रस्थापयामास पुरीं वाराणसीं प्रति ॥ ८० ॥
गत्वा प्रविश्य तामुच्चैः पौरान् जानपदानपि । दानमानादिभिः सम्यक् सदा तोषयतोस्तयोः ॥ ८१ ॥
दुष्टनिग्रहशिष्टानुपालनप्रविधानयोः । अविलङ्घयतोः पूर्वमर्यादां नीतिवेदिनोः ॥ ८२ ॥
प्रजापालनकार्यैकनिष्ठयोर्निष्ठितार्थयोः । काले गच्छति कल्याणैः कल्पैः निःशल्य सौख्यदैः ॥ ८३ ॥

॥ ६६-६८ ॥ इस समय मुझे कोई दूसरा और मैं किसी दूसरेको नष्ट करनेके लिए समर्थ नहीं हूँ ऐसा विचार कर जो राजा चुप बैठ रहता है उसे आसन कहते हैं। यह आसन नामका गुण राजाओं-की वृद्धिका कारण है ॥ ६९ ॥ अपनी वृद्धि और शत्रुकी हानि होने पर दोनोंका शत्रुके प्रति जो उद्यम है—शत्रु पर चढ़कर जाना है उसे यान कहते हैं। यह यान अपनी वृद्धि और शत्रुकी हानि रूप फलको देनेवाला है ॥ ७० ॥ जिसका कोई शरण नहीं है उसे अपनी शरणमें रखना संश्रय नामका गुण है और शत्रुओंमें सन्धि तथा विग्रह करा देना द्वैधीभाव नामका गुण है ॥ ७१ ॥ स्वामी, मन्त्री, देश, खजाना, दण्ड, गढ़ और मित्र ये राजाकी सात प्रकृतियाँ कहलाती हैं ॥ ७२ ॥ विद्वान् लोगोंने ऊपर कहे हुए ये सब पदार्थ, राज्य स्थिर रहनेके कारण माने हैं। यद्यपि ये सब कारण हैं तो भी साम आदि उपायोंके साथ शक्तिका प्रयोग करना प्रधान कारण है ॥ ७३ ॥ जिस प्रकार खोदनेसे पानी और परस्परकी रगड़से अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार उद्योगसे, जो उत्तम फल अदृश्य है—दिखाई नहीं देता वह भी प्राप्त करनेके योग्य हो जाता है ॥ ७४ ॥ जिस प्रकार फल और फूलोंसे रहित आमके वृक्षको पक्षी छोड़ देते हैं और विवेकी मनुष्य उपदिष्ट मिथ्या आगमको छोड़ देते हैं उसी प्रकार उत्साहहीन राजपुत्रको विशाल लक्ष्मी छोड़ देती है। यही नहीं, अपने योद्धा सामन्त और महामन्त्री आदि भी उसे छोड़ देते हैं ॥ ७५-७६ ॥ इसी तरह पिता भी उद्यम रहित पुत्रको अयोग्य समझकर दुखी होता है। राम और लक्ष्मणकी ऐसी प्रार्थना सुनकर महाराज दशरथ उस समय बहुत ही प्रसन्न हुए और कहने लगे कि तुम दोनोंने जो कहा है वह अपने कुलके योग्य ही कहा है। इस प्रकार हर्ष प्रकट करते हुए उन्होंने भावी बलभद्र-रामचन्द्रके शिर पर स्वयं अपने हाथोंसे राज्यके योग्य विशाल मुकुट बाँधा और महाप्रतापी लक्ष्मणके लिए यौवराज-का आधिपत्य पट्ट प्रदान किया। तदनन्तर महान् वैभव सम्पादन करनेवाले सत्य आशीर्वादके द्वारा बढ़ाते हुए राजा दशरथने उन दोनों पुत्रोंको बनारस नगरके प्रति भेज दिया ॥ ७७-८० ॥ दोनों भाइयोंने जाकर उस उत्कृष्ट नगरमें प्रवेश किया और वहाँके रहनेवाले नगरवासियों तथा देशवासियों को दोनों भाई सदा दान मान आदिके द्वारा सन्तुष्ट करने लगे। वे सदा दुष्टोंका निग्रह और सज्जनों-का पालन करते थे, नीतिके जानकार थे तथा पूर्व मर्यादाका कभी उल्लंघन नहीं करते थे। उनका प्रजा पालन करना ही मुख्य कार्य था। वे कृतकृत्य हो चुके थे—सब कार्य कर चुके थे अथवा किसी भी कार्यको प्रारम्भ कर उसे पूरा कर ही छोड़ते थे। इस प्रकार शल्यरहित उत्तम सुख प्रदान करने-

१ स्वाम्यमात्यो ब०, द०। २ मित्रं भूमिपालस्य ल०। ३ विनस्य ल०।

इतो लङ्कामधिष्ठाय त्रिखण्डभरतावनेः । अधीश्वरोऽहमेवेति गर्वपर्वतभास्करम् ॥ ८४ ॥
सम्भावयन्तमात्मानं रावणं शत्रुरावणम् । निजतेजःप्रतापापहसितोष्णांशुमण्डलम् ॥ ८५ ॥
दण्डोपनतसामन्तविनम्रमुकुटाग्रम-। स्फुरन्मणिमयूखाम्बुविकसच्चरणाम्बुजम् ॥ ८६ ॥
निजासने समासीनं कीर्यमाणप्रकीर्णकम् । [illegible] ॥ ८७ ॥
आभाषमाणमाक्षिप्य[1] सभ्रूभङ्गं भयङ्करम् । अनुजैरात्मजैर्मौलैर्भटैश्च परिवारितम् ॥ ८८ ॥
पिङ्गोत्तुङ्गजटाजूटप्रभापिञ्जरिताम्बरः । इन्द्रनीलाक्षसूत्रोरुवलयालङ्कृताङ्गुलिः ॥ ८९ ॥
तीर्थाम्बुसम्भृतोद्भासिपद्मरागकमण्डलुः । सुवर्णसूत्रयज्ञोपवीतपूतनिजाकृतिः[2] ॥ ९० ॥
खादेत्य नारदोऽन्येद्युः सोपद्वारं[3] समैक्षत । तदालोक्य चिराद्भद्र दृष्टोऽसीति त्वयास्यताम् ॥ ९१ ॥
कौतस्कुतः किमर्थं वा तवागमनमित्यसौ । रावणेनानुयुक्तः सन् कुधीरिदमभाषत ॥ ९२ ॥
दृप्तदुर्जयभूपोग्रकरिकण्टीरवायित । एतन्मनः समाधाय दशास्य श्रोतुमर्हसि ॥ ९३ ॥
वाराणसीपुरादद्य ममात्रागमनं विभो । तत्पुरीपतिरिक्ष्वाकुवंशाम्बरदिवाकरः ॥ ९४ ॥
सुतो दशरथाख्यस्य रामनामातिविश्रुतः । कुलरूपवयोज्ञानशौर्यसत्यादिभिर्गुणैः ॥ ९५ ॥
[4]अनणीयान् स्वपुण्येन स सम्प्रत्युदयोन्मुखः । तस्यै यज्ञापदेशेन स्वयमाहूय कन्यकाम् ॥ ९६ ॥
स्वनामश्रवणादेयगर्विकामुकचेतसम्[5] । पर्याप्तस्त्रीगुणैकध्यवृत्तिसम्पत्कृताकृतिम् ॥ ९७ ॥

वाले श्रेष्ठ कल्याणोंसे उनका समय व्यतीत हो रहा था ॥ ८१–८३ ॥ इधर रावण, त्रिखण्ड भरतक्षेत्रका मैं ही स्वामी हूँ इस प्रकार अपने आपको गर्वरूपी पर्वत पर विद्यमान सूर्यके समान समझने लगा। वह शत्रुओंको रुलाता था इसलिए उसका रावण नाम पड़ा था। अपने तेज और प्रतापके द्वारा उसने सूर्य मण्डलको तिरस्कृत कर दिया था। दण्ड लेनेके लिए पास आये हुए सामन्तोंके नम्रीभूत मुकुटोंके अग्रभागमें जो देदीप्यमान मणि लगे हुए थे उनके किरणरूपी जलके भीतर उस रावणके चरणकमल विकसित हो रहे थे। वह अपने सिंहासन पर बैठा हुआ था, उस पर चमर ढुराये जा रहे थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो पृथिवी पर अवतीर्ण हुआ नीलमेघ ही हो। वह भौंह टेढ़ी कर लोगोंसे वार्तालाप कर रहा था जिससे बहुत ही भयङ्कर जान पड़ता था। छोटे भाई, पुत्र, मूलवर्ग तथा बहुतसे योद्धा उसे घेरे हुए थे ॥ ८४–८८ ॥ ऐसे रावणके पास किसी एक दिन नारदजी आ पहुँचे। वे नारदजी अपनी पीली तथा ऊँची उठी हुई जटाओंके समूहकी प्रभासे आकाशको पीतवर्ण कर रहे थे, इन्द्रनीलमणिके बने हुए अक्षसूत्र–जयमालाको उन्होंने अपने हाथमें किसी बड़ी चूड़ीके आकार लपेट रक्खा था जिससे उनकी अङ्गुलियाँ बहुत ही सुशोभित हो रही थीं, तीर्थोदकसे भरा हुआ उनका पद्मराग निर्मित्त कमण्डलु बड़ा भला मालूम होता था और सुवर्णसूत्र निर्मित यज्ञोपवीतसे उनका शरीर पवित्र था। आकाशसे उतरते ही नारदजीने द्वारके समीप रावणको देखा। यह देख रावणने नारदसे कहा कि हे भद्र, बहुत दिन बाद दिखे हो, बैठिये, कहाँसे आ रहे हैं ? और आपका आगमन किसलिए हुआ है ? रावणके द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर दुर्बुद्धि नारद यह कहने लगा ॥ ८९–९२ ॥ अहङ्कारी तथा दुर्जय राजारूपी क्रुद्ध हस्तियोंको नष्ट करनेमें सिंहके समान हे दशानन ! जो मैं कह रहा हूं उसे तू चित्त स्थिर कर सुन ॥ ९३ ॥ हे राजन् ! आज मेरा बनारससे यहाँ आना हुआ है। उस नगरीका स्वामी इक्ष्वाकुवंशरूपी आकाशका सूर्य राजा दशरथका अतिशय प्रसिद्ध पुत्र राम है। वह कुल, रूप, वय, ज्ञान, शूरवीरता तथा सत्य आदि गुणोंसे महान् है और अपने पुण्योदयसे इस समय अभ्युदय–ऐश्वर्यके सन्मुख है। मिथिलाके राजा जनकने यज्ञके बहाने उसे स्वयं बुलाकर साक्षात् लक्ष्मीके समान अपनी सीता नामकी पुत्री प्रदान की है। वह इतनी सुन्दरी है कि अपना नाम सुनने मात्रसे ही बड़े-बड़े अहङ्कारी कामियोंके चित्तको ग्रहण कर लेती है—वश कर लेती है, संसारकी सब स्त्रियोंके गुणोंको इकट्ठा करके उनकी

१–माभाष्य ख०, म०, । २–वीतपूजानिजाकृतिः ख० । ३ सोपचारं ख० । ४ अनणीयः ख० । ५ चेतसा क०, घ० ।

नेत्रगोचरमात्राखिलानङ्गसुखदायिनीम् । जेतुं सम्भोगरत्यन्ते शक्तां मुक्तिवधूमपि ॥ ९८ ॥
स्वामनादृत्य योग्यां[1] ते त्रिखण्डाखण्डसम्पदम् । स्त्रीरत्नं स्वात्मजां लक्ष्मीमिवादान्मिथिलाधिपः ॥९९॥
तस्य भोगोपभोगैकनिष्ठस्य विपुलश्रियः । पार्श्वे स्थित्वा सहिष्णुत्वाद्भवन्तमवलोकितुम् ॥१०० ॥
इह प्रेम्णागतोऽस्मीति नारदोक्त्या खगेशिना । इच्छा पश्यति नो चक्षुः कामिनामित्युदीरितम् ॥१०१॥
सत्यं प्रकुर्वता सद्यः सीतासम्बन्धवाक्श्रुतेः । अनङ्गशरसम्पाताज्जर्जरीकृतचेतसा ॥ १०२ ॥
धन्यान्यत्र न सा स्थातुं योग्या भाग्यविहीनके । मन्दाकिन्याः स्थितिः क्व स्यात्प्रविहत्य महाम्बुधिम्॥१०३॥
[2]बलात्कारेण तां तस्मादपहृत्यातिदुर्बलात् । रत्नमालामिवालोलां करिष्यामि ममोरसि ॥ १०४ ॥
इति कामाग्नितप्तेन तेन[3] पापेन संसदि । स्वस्यामगार्यनार्येण दुर्जनानामियं गतिः ॥ १०५ ॥
स नारदः पुनस्तत्र प्रदीप्तं कोपपावकम् । प्रज्वालयितुमस्येदमाचचक्षेऽतिपापधीः ॥ १०६ ॥
परिप्राप्तोदयो रामो महाराज्यपदे स्थितः । यौवराज्यपदे तस्य लक्ष्मणोऽस्थात्सहोद्भवः ॥ १०७ ॥
वाराणसीं प्रविष्टाभ्यां ताभ्यां विश्वनरेश्वराः[4] । स्वसुतादानसम्मानिताभ्यां सम्बन्धमादधुः ॥ १०८ ॥
ततस्ते तेन रामेण लक्ष्मणाविष्कृतौजसा । न युद्धं युज्यतेऽस्माभिस्त्यज्यतां विग्रहाग्रहः ॥ १०९ ॥
इत्येतदुक्तमाकर्ण्य कुपितस्मितमुद्वहन् । मत्प्रभावं मुने मंक्षु श्रोष्यसीति विसृज्य तम् ॥ ११० ॥
मन्त्रशालां प्रविश्यात्मगतमित्थममन्यत । उपायसाध्यमेतद्धि कार्यं तर्हि बलात्कृते ॥ १११ ॥

सम्पदासे ही मानो उसका शरीर बनाया गया है, वह नेत्रोंके सामने आते ही सब जीवोंको काम सुख प्रदान करती है और सम्भोगसे होनेवाली तृप्तिके बाद तो मुक्तिरूपी स्त्रीको भी जीतनेमें समर्थ है। वह स्त्रीरूपी रत्न सर्वथा तुम्हारे योग्य था परन्तु मिथिलापतिने तीन खण्डकी अखण्ड सम्पदाको धारण करनेवाले तुम्हारा अनादर कर रामचन्द्रके लिए प्रदान किया है ॥ ९४–९९ ॥ भोगोपभोगमें निमग्न रहनेवाले तथा विपुल लक्ष्मीके धारक रामके पास रह कर मैं आया हूँ। मैं उसे सहन नहीं कर सका इसलिए आपके दर्शन करनेके लिए प्रेमवश यहाँ आया हूँ। नारदजीकी बात सुनकर विद्याधरोंके राजा रावणने 'कामी मनुष्योंकी इच्छा ही देखती है नेत्र नहीं देखते हैं' इस लोकोक्तिको सिद्ध करते हुए कहा। उस समय सीता सम्बन्धी वचन सुननेसे रावणका चित्त कामदेवके बाणोंकी वर्षासे जर्जर हो रहा था। रावणने कहा कि वह भाग्यशालिनी मेरे सिवाय अन्य भाग्यहीनके पास रहनेके योग्य नहीं है। महासागरको छोड़कर गङ्गाकी स्थिति क्या कहीं अन्यत्र भी होती है ? मैं अत्यन्त दुर्बल रामचन्द्रसे सीताको जबर्दस्ती छीन लाऊँगा और स्थायी कान्तिको धारण करनेवाली रत्नमालाके समान उसे अपने वक्षःस्थल पर धारण करूँगा ॥ १००–१०४ ॥ इस प्रकार कामाग्निसे सन्तप्त हुए उस अनार्य–पापी रावणने अपनी सभामें कहा सो ठीक ही है क्योंकि दुर्जन मनुष्योंका ऐसा स्वभाव ही होता है ॥१०५ ॥

तदनन्तर पाप-बुद्धिका धारक नारद, रावणकी प्रज्वलित क्रोधाग्निको और भी अधिक प्रज्वलित करनेके लिए कहने लगा कि जिसका ऐश्वर्य निरन्तर बढ़ रहा है ऐसा राम तो महाराज पदके योग्य है और भाई लक्ष्मण युवराज पदपर नियुक्त है ॥ १०६–१०७ ॥ जबसे ये दोनों भाई बनारसमें प्रविष्ट हुए हैं तबसे समस्त राजाओंने अपनी-अपनी पुत्रियाँ देकर इनका सम्मान बढ़ाया है और इनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया है ॥ १०८ ॥ इसलिए लक्ष्मणसे जिसका प्रताप बढ़ रहा है ऐसे रामचन्द्रके साथ हमलोगोंको युद्ध करना ठीक नहीं है अतः युद्ध करनेका आग्रह छोड़ दीजिये ॥ १०९ ॥ नारदकी यह बात सुनकर रावण क्रोधित होता हुआ हँसा और कहने लगा कि हे मुने ! तुम हमारा प्रभाव शीघ्र ही सुनोगे। इतना कह कर उसने नारदको तो विदा किया और स्वयं मन्त्रशालामें प्रवेश कर मनमें ऐसा विचार करने लगा कि यह कार्य किसी उपायसे ही सिद्ध करनेके योग्य है, बलपूर्वक सिद्ध करनेमें इसकी शोभा नहीं है। विद्वान् लोग उपायके द्वारा बड़ेसे बड़े पुरुषकी भी लक्ष्मी हरण कर लेते हैं। ऐसा विचार उसने मन्त्रीको बुलाकर कहा कि राजा दशरथके लड़के राम

---

१ योग्यं ल० । २ बलात्कारेण तस्मा–ल० । ३ पापेन तेन क०, घ० । ४ विश्वनृपेश्वराः म०, ल० ।

महीयसो[1]ऽप्युपायेन श्रीरप्याद्रियते बुधैः । इत्यतोऽमात्यमाहूय दृप्तौ दशरथात्मजौ ॥ ११२ ॥
जिगीषू मत्पदं दुष्टानुच्छेदाहौं कृतत्वरम् । पत्नी सीताभिधानाऽस्ति रामाख्यस्य दुरात्मनः ॥ ११३ ॥
तामाहरिष्ये तौ हन्तुं तदुपायं विचिन्तय । इत्यवोचस्स मारीचो विनयाकुञ्चिताञ्जलिः ॥ ११४ ॥
शृणु भट्टारक स्वामिन् हितकार्यानुवर्तनम् । अहितप्रतिषेधश्च मन्त्रिकृत्यमिदं द्वयम् ॥११५॥
भवन्निरूपितं कार्यमपथ्यमयशस्करम् । पापानुबन्धि दुःसाध्यमयोग्यं सद्विगर्हितम् ॥ ११६ ॥
अन्यदाराहृतिर्नाम पातकेष्वतिपातकम् । को हि नाम कुले जातो जातुचिच्चिन्तयेदिति ॥ ११७ ॥
अस्त्यन्योऽपि तदुच्छित्त्यामुपायः किमनेन ते । भवद्वंशविनाशैकहेतुना धूमकेतुना ॥ ११८ ॥
इत्याख्यत्सार्थकोपाख्यं तन्मारीचं वचो विधीः । नादादासन्नमृत्युत्वाद्[2] दृष्टरिष्ट इवौषधम् ॥ ११९ ॥
[3]गृहीतमेव नेत्येतन्नावादीश्चेति मन्त्रिणम् । किमनेन वृथा मन्त्रिन् वचनेनेष्टघातिना ॥ १२० ॥
वेत्सि चेद् ब्रूहि सीतापहरणोपायमार्य मे । एवं तेनोच्यमानोऽसौ तव चेदेष निश्चयः ॥ १२१ ॥
परीक्ष्य [4]सत्या सम्फल्या तस्यास्त्वय्यनुरक्तताम् । आनेया सा सुखेनैव स्निग्धोपायेन केनचित् ॥१२२॥
विरक्ता चेत्त्वया देव हठादाक्षिप्यतामिति । प्रत्याह तत्समाकर्ण्य प्रशंसन्साधु साध्विति ॥ १२३ ॥
तदैव कातरः सूर्पणखामाहूय केनचित् । प्रकारेण त्वया सीता मयि रक्ता विधीयताम् ॥ १२४ ॥
इत्याह सादरं सापि तत्सत्कार्यं विहायसि । तदैव रंहसा गत्वा प्रापद्वाराणसीं पुरीम् ॥ १२५ ॥
चित्रकूटाभिधोद्याने नन्दनाच्चातिसुन्दरे । रामो रन्तुं तदा गत्वा वसन्ते सीतया सह ॥ १२६ ॥

और लक्ष्मण बड़े अहङ्कारी हो गये हैं। वे हमारा पद जीतना चाहते हैं इसलिए शीघ्र ही उनका उच्छेद करना चाहिए। दुष्ट रामचन्द्रकी सीता नामकी स्त्री है। मैं उन दोनों भाइयोंको मारनेके लिए उस सीताका हरण करूँगा। तुम इसका उपाय सोचो। जब रावण यह कह चुका तब मारीच नामका मन्त्री विनयसे हाथ जोड़ता हुआ बोला ॥ ११०–११४ ॥ कि हे पूज्य स्वामिन्! हितकारी कार्यमें प्रवृत्ति कराना और अहितकारी कार्यका निषेध करना मन्त्रीके यही दो कार्य हैं ॥ ११५ ॥ आपने जिस कार्यका निरूपण किया है वह अपथ्य है—अहितकारी है, अकीर्ति करनेवाला है, पापानुबन्धी है, दुःसाध्य है, अयोग्य है, सज्जनोंके द्वारा निन्दनीय है, परस्त्रीका अपहरण करना सब पापोंमें बड़ा पाप है, उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ ऐसा कौन पुरुष होगा जो कभी इस अकार्यका विचार करेगा ॥ ११६–११७ ॥ फिर उनका उच्छेद करनेके लिए दूसरे उपाय भी विद्यमान हैं अतः आपका वंश नष्ट करनेके लिए धूमकेतुके समान इस कुकृत्यके करनेसे क्या लाभ है ? ॥ ११८ ॥ इस प्रकार मारीचने सार्थक वचन कहे परन्तु जिस प्रकार निकटकालमें मरनेवाला मनुष्य औषध ग्रहण नहीं करता उसी प्रकार निर्बुद्धि रावणने उसके वचन ग्रहण नहीं किये ॥ ११९ ॥ वह मारीचसे कहने लगा कि 'हम तुम्हारी बात नहीं मानते' यही तुमने क्यों नहीं कहा ? हे मन्त्रिन्! इष्ट वस्तुका घात करने वाले इस विपरीत वचनसे क्या लाभ है ? ॥ १२० ॥ हे आर्य ? यदि आप सीता-हरणका कोई उपाय जानते हैं तो मेरे लिए कहिये। इस प्रकार रावणके वचन सुन मारीच कहने लगा कि यदि आपका यही निश्चय है तो पहले दूतीके द्वारा इस बातका पता चला लीजिये कि उस सतीका आपमें अनुराग है या नहीं ? यदि उसका आपमें अनुराग है तो वह स्नेहपूर्ण किसी सुखकर उपायसे ही लाई जा सकती है और यदि आपमें विरक्त है तो फिर हे देव, हठ पूर्वक उसे ले आना चाहिए। मारीचके वचन सुनकर रावण उसकी प्रशंसा करता हुआ 'ठीक-ठीक' ऐसा कहने लगा ॥१२१–१२३ ॥ उसी समय उस कायरने शूर्पणखाको बुलाकर कहा कि तू किसी उपायसे सीताको मुझमें अनुरक्त कर ॥ १२४ ॥ इस प्रकार उसने बड़े आदरसे कहा। शूर्पणखा भी इस कार्यकी प्रतिज्ञा कर उसी समय वेगसे आकाशमें चल पड़ी और बनारस जा पहुँची ॥ १२५ ॥ उस समय वसन्त ऋतु थी अतः रामचन्द्रजी नन्दन वनसे भी अधिक सुन्दर चित्रकूट नामक वनमें रमण करनेके लिए सीताके

---

१ महीयसाप्युपायेन ख० । २ दुष्टारिष्ट–ख० । दृष्टारिष्ट–म० । ३ गृहीत एव ग० । ४ स्वस्या ख० ।

मध्येवनं परिक्रम्य वीक्ष्य नानावनस्पतिम् । सप्रसूनां सहासां वा सरागां वा सपल्लवाम् ॥ १२७ ॥
लतां समुत्सुकस्तन्वीं तन्वीमन्यामिव प्रियाम् । आलोकमानो जानक्यालोकितः स सकोपया ॥ १२८ ॥
कुपितेयं विना हेतोः प्रसाद्येत्येवमब्रवीत् । पश्य चन्द्रानने भृङ्गं लतायाः कुसुमे भृशम् ॥ १२९ ॥
तवास्ये मामिवासक्तं तत्र तर्पयितुं स्वयम् । रागं पिण्डीद्रुमाः पुष्पैरुद्विरन्तीव नूतनैः ॥ १३० ॥
मम नेत्रालिनोः प्रीत्यै बध्नैभिश्चित्रशेखरम् । स्वहस्तेन प्रिये मेऽमूनलङ्कुरु शिरोरुहान् ॥ १३१ ॥
एतत्पुष्पैः प्रवालैश्च भूषणानि प्रकल्पये । तवापि त्वं विभास्येतैर्जङ्गमेव लताऽपरा ॥ १३२ ॥
इत्युक्तिभिरिमां मूकीभूतामालोक्य कामिनीम् । पुनश्चैवमभाषिष्ट मृष्टेष्टवचनो नृपः ॥ १३३ ॥
त्वद्वक्त्रं दर्पणे वीक्ष्य चक्षुषी ते कृतार्थके । त्वदास्यसौरभेणेव तृप्ता ते नासिका भृशम् ॥ १३४ ॥
स्वच्छूभ्यगेयसल्लापैः कर्णौ पूर्णरसौ तव । तव बिम्बाधरस्वादात्त्वज्जिह्वान्यरसास्पृहा ॥ १३५ ॥
परिरभ्य करौ तृप्तौ तव त्वत्कठिनस्तनौ । मनोऽपीन्द्रियसंतृप्ता संतृप्तं नितरां प्रिये ॥ १३६ ॥
स्वस्यामेव स्वयं तृप्ता सिद्धाकृतिरिवाधुना । कोपस्ते युक्त एवेति सीतां स चतुरोक्तिभिः ॥ १३७॥
ततः प्रसन्नया सार्द्धं सुखं सर्वेन्द्रियोद्भवम् । सम्प्राप्य नूतनं भूपः कोपोऽपि सुखदः क्वचित् ॥ १३८ ॥
तत्रैव लक्ष्मणोऽप्येवं स्वप्रियाभिः सहारमत् । दृष्टौ तदा मुदा कामस्तेभ्योऽभ्यर्थमदः सुखम् ॥ १३९ ॥
एवं रामश्चिरं [1]रन्त्वा कान्ते पश्य रविः करैः । सर्वान् दहति मूर्द्धस्थस्तीव्रः कस्यात्र शान्तये ॥ १४० ॥

साथ गये हुए थे ॥ १२६ ॥ वहाँ वे वनके बीचमें घूम-घूमकर नाना वनस्पतियोंको देख रहे थे। वहाँ एक लता थी जो फूलोंसे सहित होनेके कारण ऐसी जान पड़ती थी मानों हँस ही रही हो तथा पल्लवोंसे सहित होनेके कारण ऐसी मालूम होती थी मानो अनुरागसे सहित ही हो। वह पतली थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो कृश शरीरवाली कोई दूसरी स्त्री ही हो। वे उसे बड़ी उत्सुकता से देख रहे थे। उस लताको देखते हुए रामचन्द्रजीके प्रति सीताने कुछ क्रोध युक्त होकर देखा। उसे देखते ही रामचन्द्रने कहा कि यह विना कारण ही कुपित हो रही है अतः इसे प्रसन्न करना चाहिए। वे कहने लगे कि हे चन्द्रमुखि! देख, जिस प्रकार मैं तुम्हारे मुख पर आसक्त रहता हूं उसी प्रकार इधर यह भ्रमर इस लताके फूल पर कैसा आसक्त हो रहा है? उधर ये अशोक वृक्ष स्वयं सन्तुष्ट करनेके लिए नये-नये फूलोंके द्वारा मानो अपना अनुराग ही प्रकट कर रहे हैं ॥१२७-१३०॥ हे प्रिये! मेरे नेत्ररूपी भ्रमरोंको सन्तुष्ट करनेके लिए तू इन फूलोंके द्वारा चित्र-विचित्र सेहरा बाँधकर अपने हाथसे मेरे इन केशोंको अलंकृत कर। मैं तेरे लिए भी इन पुष्पों और प्रवालोंसे भूषण बनाता हूं। इन फूलों और प्रवालोंसे तू सचमुच ही एक चलती-फिरती लताके समान सुशोभित होगी ॥ १३१-१३२ ॥ इस प्रकार रामने यद्यपि कितने ही शब्द कहे तो भी सीता क्रोधवश चुप ही बैठी रही। यह देख मिष्ट तथा इष्ट वचन बोलनेवाले राम फिर भी इस प्रकार कहने लगे ॥ १३३ ॥ हे प्रिये! तेरे नेत्र दर्पणमें तेरा मुख देखकर कृतकृत्य हो चुके हैं और तेरी नाक तेरे मुखकी सुगन्धिसे ही मानो अत्यन्त तृप्त हो गई है ॥ १३४ ॥ तेरे सुनने तथा गाने योग्य उत्तम शब्द सुनकर कान रससे लबालब भर गये हैं। तेरे अधर-बिम्बका स्वाद लेकर ही तेरी जिह्वा अन्य पदार्थोंके रससे निःस्पृह हो गई है ॥ १३५ ॥ तेरे हाथ तेरे कठिन स्तनोंका स्पर्श कर सन्तुष्ट हो गये हैं इसी प्रकार हे प्रिये! तेरी समस्त इन्द्रियोंके सन्तुष्ट हो जानेसे तेरा मन भी खूब सन्तुष्ट हो गया है। इस तरह तू इस समय अपने आपमें तृप्त हो रही है इसलिए तेरी आकृति ठीक सिद्ध भगवान्के समान जान पड़ती है फिर भी हे प्रिये! तुझे क्रोध करना क्या उचित है। इस प्रकार चतुर शब्दोंके द्वारा रामने सीताको समझाया। तदनन्तर प्रसन्न हुई सीताके साथ राजा रामचन्द्रने समस्त इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए अभूतपूर्व सुखका अनुभव किया। सो ठीक ही है क्योंकि कहीं-कहीं क्रोध भी सुखदायी हो जाता है ॥ १३६-१३८ ॥ वहीं पर लक्ष्मण भी इसी तरह अपनी स्त्रियोंके साथ रमण करते थे। उस समय कामदेव बड़े हर्षसे उन सबके लिए इच्छानुसार सुख प्रदान करता था ॥१३९॥ इस प्रकार रामचन्द्र चिरकाल तक क्रीड़ा कर सीतासे कहने लगे कि हे प्रिये! यह सूर्य अपनी

१ रत्वा ब० ।

लक्ष्मणाक्रमविक्रान्तिविजितारातिसन्निभाः । छायामात्मनि सङ्गीनां प्रकुर्वन्ति महीरुहः ॥ १४१ ॥
वैराज्यपरिवारा वा मृगरूपैः सशावकैः । क्वाप्यछब्धाश्रयस्तप्ता भ्राम्यतीतस्ततोऽपि च ॥ १४२ ॥
इति चेतोहरैः सीतां मोदयन् स तया सह । शचीदेव्येव देवेशः कृत्वा वनविनोदनम् ॥ १४३ ॥
किञ्चित् खिन्नामिवालक्ष्य तां जलाशयमासदत् । तत्र सिञ्चन् प्रियां शीतैर्यन्त्रमुक्तपयःकणैः ॥ १४४ ॥
ईषन्निमीलितालोलनयनेन्दीवरोज्ज्वलम् । तद्वक्त्रकमलं पश्यन्नसावल्पं तदातुषत् ॥ १४५ ॥
[२]वक्षोदघ्नमसौ वारि प्राविशत्सस्मितां प्रियाम् । परिरम्भोत्सुकां विद्वान् रङ्गितज्ञा हि नागराः ॥ १४६ ॥
भ्रमराः कञ्जकं मुक्त्वा कान्तास्याब्जेऽपतन्सहम् । तैराकुलीकृतां दृष्ट्वा खेदी ह्लादी च सोऽभवत् ॥१४७॥
एवं जले चिरं [३]रन्त्वा तत्रापूर्यं मनोरथम् । सान्तःपुरो वने रम्यप्रदेशे स्थितिमाव्रजत् ॥ १४८ ॥
तदा सूर्पणखागत्य तयोर्नृपतनूजयोः । वीक्ष्यमाणाऽतुलां लक्ष्मीमनुरक्ता सविस्मयम् ॥ १४९ ॥
प्रभूतप्रसवानम्रकन्नाशोकमहीरुहः । अधस्थां सुस्थितां सीतां हरिन्मणिशिलातले ॥ १५० ॥
वनलक्ष्मीमिवालोक्य भूष्यमाणां सखीजनैः । युक्तमेव खगेशस्य प्रेमास्यामिति वादिनी ॥ १५१ ॥
बभूव स्थविरा रूपपरावर्तनविद्यया । सीताविलाससन्दर्शसम्भूतव्रीडयेव सा ॥ १५२ ॥
तद्रूपं [४]वर्णयन्तीत्थं सकौतुकममन्वत । स्वबुद्धिकौशलादेतत्कृतं रूपं न वेधसा ॥ १५३ ॥
यादृच्छिकं न चेदन्यत्किमकारीति नेदृशम् । शेषदेव्यो जराजीर्णां तां दृष्ट्वा यौवनोद्धताः ॥ १५४ ॥

किरणोंसे सबको जला रहा है सो ठीक ही है क्योंकि मस्तक पर स्थित हुआ उग्र प्रकृतिका धारक किसकी शान्तिके लिए होता है ? ॥ १४० ॥ लक्ष्मणके आक्रमण और पराक्रमसे पराजित हुए शत्रुके समान ये वृक्ष अपनी छायाको अपने आपमें लीन कर रहे हैं ॥ १४१ ॥ शत्रु राजाओंके परिवारोंके समान इन बच्चों सहित हरिणोंको कहीं भी आश्रय नहीं मिल रहा है इसलिए ये सन्तप्त होकर इधर-उधर घूम रहे हैं ॥ १४२ ॥ इस प्रकार चित्त हरण करनेवाले शब्दोंसे सीताको प्रसन्न करते हुए रामचन्द्र, इन्द्राणीके साथ इन्द्रके समान, सीताके साथ वन-क्रीडा करने लगे ॥ १४३ ॥ रामचन्द्र सीताको कुछ खेद-खिन्न देख सरोवरके पास पहुँचे और सीताको यन्त्रसे छोड़ी हुई जलकी ठण्डी बूँदोंसे सींचने लगे ॥ १४४ ॥ उस समय कुछ-कुछ बन्द हुए चञ्चल नेत्ररूपी नीलकमलोंसे उज्ज्वल सीताका मुख-कमल देखते हुए रामचन्द्रजी बहुत कुछ सन्तुष्ट हुए थे ॥ १४५ ॥ वे बुद्धिमान् रामचन्द्रजी आलिङ्गन करनेमें उत्सुक तथा मन्द हास्य करती हुई सीताके समीप छाती तक पानीमें घुस गये थे सो ठीक ही है क्योंकि चतुर मनुष्य इशारोंको अच्छी तरह समझते हैं ॥ १४६ ॥ वहाँ बहुतसे भ्रमर कमल छोड़कर एक साथ सीताके मुखकमल पर आ झपटे उनसे वह व्याकुल हो उठी। यह देख रामचन्द्रजी कुछ खिन्न हुए तो कुछ प्रसन्न भी हुए ॥ १४७ ॥ इस तरह जलमें चिरकाल तक क्रीड़ा कर और मनोरथ पूर्ण कर रामचन्द्रजी अपने अन्तःपुरके साथ वनके किसी रमणीय स्थानमें जा बैठे ॥ १४८ ॥ उसी समय वहाँ शूर्पणखा आई और दोनों राजकुमारोंकी अनुपम शोभाको बड़े आश्चर्यके साथ देखती हुई उन पर अनुरक्त हो गई ॥ १४९ ॥ उस समय सीता बहुत-भारी फूलोंके भारसे झुके हुए किसी सुन्दर अशोक वृक्षके नीचे हरे मणिके शिला-तल पर बैठी हुई थी, आस-पास बैठी हुई सखियाँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं जिससे वह वन-लक्ष्मीके समान जान पड़ती थी, उसे देख शूर्पणखा कहने लगी कि इसमें रावणका प्रेम होना ठीक ही है ॥१५०-१५१॥ रूप-परावर्तन विद्यासे वह बुढ़िया बन गई उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो सीताका विलास देखनेसे उत्पन्न हुई लज्जाके कारण ही उसने अपना रूप परिवर्तित कर लिया हो ॥ १५२ ॥ कवि लोग उसके रूपका ऐसा वर्णन करते थे, और कौतुक सहित ऐसा मानते थे कि विधाताने इसका रूप अपनी बुद्धिकी कुशलतासे नहीं बनाया है अपितु अनायास ही बन गया है। यदि ऐसा न होता तो वह इसके समान ही दूसरा रूप क्यों नहीं बनाता ? ॥ १५३ ॥ सीताको छोड़ अन्य रानियाँ यौवनसे उद्धत हो, वृद्धावस्थाके कारण अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण दिखनेवाली उस बुढ़ियाको देख हँसी करती हुई

---

१ लब्ध्वा ल० । २ वक्षःप्रमाणम् । ३ रत्वा क०, घ० । ४ वर्णयतीत्थं ल० ।

का त्वं वद कुतस्त्या वेत्यवोचन्हासपूर्वकम् । उद्यानपालकस्याहं मातात्रैवेति सा पुनः ॥ १५५ ॥
तासां चित्तपरीक्षार्थमिमां वाचमुदाहरत् । युष्मदपुण्यभागिन्यो मान्याः सन्त्यन्ययोषितः ॥ १५६ ॥
यस्मादाभ्यां कुमाराभ्यां सह भोगपरायणाः । युष्माभिः [1]प्राक्कृतं किं वा पुण्यं तन्मम कथ्यताम् ॥१५७॥
तत्करिष्यामि येनास्य राज्ञी भूत्वा महीपतेः । इमं विरक्तमन्यासु विधास्यामीति तद्वचः ॥ १५८ ॥
श्रुत्वा ताश्चित्तमेतस्यास्तरुणं स्मरविह्वलम् । वपुरेव जराग्रस्तमित्यलं सहसाऽहसन् ॥ १५९ ॥
[2]मा हासः कुलसौरूप्यकलागुणयुजामिह । समप्रेम[3]फलप्राप्तेः किमन्यज्जन्मनः फलम् ॥ १६० ॥
वदतेति वदन्तीं तां पुनर्भो जन्मनः फलम् । तवेदमेव चेदस्मद्विभुना विधिना वयम् ॥ १६१ ॥
[4]त्वामद्य योजयिष्यामः परिमुक्तविचारणम् । महादेवी भवेत्यासां हासवाणशरव्यताम् ॥ १६२ ॥
उपयान्तीमिमां वीक्ष्य कारुण्याज्जनकात्मजा । किमित्याकांक्षसि स्त्रीत्वं त्वं हितानवबोधिनी ॥ १६३ ॥
स्त्रीतामनुभवन्तीभिरत्रामूभिरनीप्सितम् । प्राप्तं प्राप्यं च दुर्बुद्धे महापापफलं शृणु ॥ १६४ ॥
अनिष्टलक्षणादन्यैरग्राह्यत्वाच्छुचा गृहे । स्वे वासो मृत्युपर्यन्तं कुलरक्षणकारणात् ॥ १६५ ॥
अपत्यजननाभावे प्रविष्टोत्पन्नगेहयोः । शोकोपहतचित्तत्वं निर्भाग्यत्वाद्गौरवम् ॥ १६६ ॥
दुर्भगत्वेन कान्तानां परित्यागात्पराभवः । अस्पृश्यत्वं रजोदोषात् खण्डनात्कलहादिभिः ॥ १६७ ॥
दुःखदावाग्निसन्तापो वन्यानामिव भूरुहाम् । चक्रवर्तिसुतानां च परपादोपसेवना ॥ १६८ ॥

बोलीं कि बतला तो सही तू कौन है ? और कहाँसे आई है ? इसके उत्तरमें बुढ़िया कहने लगी कि मैं इस बगीचाकी रक्षा करनेवालेकी माता हूँ और यहीं पर रहती हूँ ॥ १५४–१५५ ॥ तदनन्तर उनके चित्तकी परीक्षा करनेके लिए वह फिर कहने लगी कि हे माननीयो ! आप लोगोंके सिवाय जो अन्य स्त्रियाँ हैं वे अपुण्यभागिनी हैं, आप लोग ही पुण्यशालिनी हैं क्योंकि इन कुमारोंके साथ आप लोग भोग भोगनेमें सदा तत्पर रहती हैं। आप लोगोंने पूर्वभवमें कौन-सा पुण्य कर्म किया था, वह मुझसे कहिये। मैं भी उसे करूँगी, जिससे इस राजाकी रानी होकर इसे अन्य रानियोंसे विरक्त कर दूंगी। इस प्रकार उसके वचन सुन सब रानियाँ यह कहती हुई हँसने लगीं कि इसका शरीर ही बुढ़ापासे ग्रस्त हुआ है चित्त तो जवान है और कामसे विह्वल है ॥ १५६–१५९ ॥ इसके उत्तरमें बुढ़िया बोली कि आप लोग कुल, उत्तम रूप तथा कला आदि गुणोंसे युक्त हैं अतः आपको हँसी करना उचित नहीं है। आप सबको एक समान प्रेम रूपी फलकी प्राप्ति हुई है इससे बढ़कर जन्मका दूसरा फल क्या हो सकता है ? आप लोग ही कहें। इस प्रकार कहती हुई बुढ़ियासे वे फिर कहने लगीं कि यदि तेरे जन्मका यही फल है तो हम तुझे अपने-अपने पतिके साथ विधिपूर्वक मिला देंगी। तू बिना किसी विचारके इनकी पट्टरानी हो जाना। इस प्रकार उन स्त्रियोंकी हँसी रूपी बाणोंका निशाना बनती हुई बुढ़ियाको देख सीता दयासे कहने लगी कि तू स्त्रीपना क्यों चाहती है ? जान पड़ता है तू अपना हित भी नहीं समझती ॥ १६०–१६३ ॥ स्त्रीपनेका अनुभव करती हुई ये सब रानियाँ इसलोकमें अनिष्ट फल प्राप्त कर रही हैं। हे दुर्बुद्धे ! यह स्त्रीपर्याय महापापका फल है। सुनो, यदि कन्याके लक्षण अच्छे नहीं हुए तो उसे कोई भी पुरुष ग्रहण नहीं करता इसलिए शोकसे उसे अपने घर ही रहना पड़ता है। इसके सिवाय कन्याको मरण पर्यन्त कुलकी रक्षा करनी पड़ती है ॥ १६४–१६५ ॥ यदि किसीके पुत्र नहीं हुआ तो जिस घरमें प्रविष्ट हुई और जिस घरमें उत्पन्न हुई—उन दोनों ही घरोंमें शोक छाया रहता है। यदि भाग्यहीन होनेसे कोई वन्ध्या हुई तो उसका गौरव नहीं रहता ॥ १६६ ॥ यदि कोई स्त्री दुर्भगा अथवा कुरूपा हुई तो पति उसे छोड़ देता है जिससे सदा तिरस्कार उठाना पड़ता है। रजोदोषसे वह अस्पृश्य हो जाती है—उसे कोई छूता भी नहीं है। यदि कलह आदिके कारण पति उसे छोड़ देता है तो वनमें उत्पन्न हुए वृक्षोंके समान उसे दुःखरूपी दावानलमें सदा जलना पड़ता है। औरकी बात जाने दो चक्रवर्तीकी पुत्रीको भी

---

१ प्राक्कृतं ल० । २ महायुः म० । ३ समप्रेमहलिप्राप्तेः ल० । ४ त्वमद्य ल० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मानभङ्गः सपत्नीषु दृष्टोत्कर्षेण केनचित् । स्वभाववक्त्रवाक्कायमनोभिः कुटिलात्मता ॥ १६९ ॥
गर्भसूतिसमुत्पन्नरोगादिपरिपीडनम् । शोचनं स्त्रीसमुत्पत्तावपत्यमरणाऽ[1]सुखम् ॥ १७० ॥
रहस्यकार्यबाह्यत्वं सर्वकार्येष्वतन्त्रता । विधवात्वे महादुःखपात्रत्वं दुष्टचेष्टया ॥ १७१ ॥
दानशीलोपवासादिपरलोकहितक्रिया । विधानेष्वप्रधानत्वं सन्तानार्थानवापनम् ॥ १७२ ॥
कुलनाशोऽगतिर्मुक्ते रित्याद्यन्यच्च दूषितम् । साधारणमिदं सर्वस्त्रीणां कस्मात्त्वाभवत् ॥ १७३ ॥
तस्मिन्सुखाभिलाषित्वं वयस्यस्मिन् गतत्रये । न चिन्तयसि ते भाविहितं मतिविपर्ययात् ॥ १७४ ॥
स्त्रीत्वे सतीत्वमेवैकं श्लाघ्यं तत्पतिमात्मनः । विरूपं व्याधितं निःस्वं दुःस्वभावमवर्तकम् ॥ १७५ ॥
त्यक्त्वान्यं चेदृशं वास्तां चक्रिणं वाभिलाषिणम् । पश्यन्तः कुष्ठिचाण्डालसदृशं नाभिलाषुकाः ॥१७६ ॥
तमप्याक्रम्य [2]भोगेच्छं सद्यो दृष्टिविषोपमाः । नयन्ति भस्मसाद्भावं यद्बलात् कुलयोषितः ॥१७७ ॥
इत्याह तद्वचः श्रुत्वा मन्दरोऽद्रिश्च चाल्यते । शक्यं चालयितुं नास्याश्चित्तमित्याकुलाकुला ॥ १७८ ॥
गृहकार्यं भवद्वाक्यश्रुतेर्विस्मृत्य दुःखिता । यामि देव्यहमित्येतच्चरणाववनम्य सा ॥ १७९ ॥
गत्वानिष्टितकार्यत्वाद्विषण्णा रावणं प्रति । अशक्यारम्भवृत्तीनां क्लेशादन्यत्कुतः फलम् ॥ १८० ॥
दृष्ट्वा तं स्वोचितं देव सीता शीलवती न सा । वज्रयष्टिरिवान्येन भेत्तुं केनापि शक्यते ॥ १८१ ॥
इति स्वगतवृत्तान्तमुक्त्वा तेऽभिमतं मया । नोक्तं शीलवती कोपवह्निभीत्येति साब्रवीत् ॥ १८२ ॥

दूसरेके चरणोंकी सेवा करनी पड़ती है ॥ १६७-१६८ ॥ और सपत्नियोंमें यदि किसीकी उत्कृष्टता हुई तो सदा मानभङ्गका दुःख उठाना पड़ता है। स्वभाव, मुख, वचन, काय, और मनकी अपेक्षा उनमें सदा कुटिलता बनी रहती है ॥ १६९ ॥ गर्भधारण तथा प्रसूतिके समय उत्पन्न होनेवाले अनेक रोगादिकी पीड़ा भोगनी पड़ती है। यदि किसीके कन्याकी उत्पत्ति होती है तो शोक छा जाता है, किसीकी सन्तान मर जाती है तो उसका दुःख भोगना पड़ता है ॥ १७० ॥ विचार करने योग्य खास कार्योंमें उन्हें बाहर रखा जाता है, समस्त कार्योंमें उन्हें परतन्त्र रहना पड़ता है, दुर्भाग्यवश यदि कोई विधवा हो गई तो उसे महान् दुःखोंका पात्र होना पड़ता है। दानशील उपवास आदि परलोकका हित करनेवाले कार्योंके करनेमें उसकी कोई प्रधानता नहीं रहती। यदि स्त्रीके सन्तान नहीं हुई तो कुलका नाश हो जाता है और मुक्ति तो उसे होती ही नहीं है। इनके सिवाय और भी अनेक दोष हैं जो कि सब स्त्रियोंमें साधारण रूपसे पाये जाते हैं फिर क्यों तुझे इस निन्द्य स्त्रीपर्यायमें सुखकी इच्छा हो रही है। हे निर्लज्जे ! तू इस अवस्थामें भी अपने भावी हितका विचार नहीं कर रही है इससे जान पड़ता है कि तेरी बुद्धि विपरीत हो गई है ॥ १७१-१७४ ॥ स्त्री पर्यायमें एक सतीपना ही प्रशंसनीय है और वह सतीपना यही है कि अपने पतिको चाहे वह कुरूप हो, बीमार हो, दरिद्र हो, दुष्ट स्वभाववाला हो, अथवा बुरा बर्ताव करनेवाला हो, छोड़कर ऐसे ही किसी दूसरेकी बात जाने दो, चक्रवर्ती भी यदि इच्छा करता हो तो उसे भी कोढ़ी अथवा चाण्डालके समान नहीं चाहना। यदि कोई ऐसा पुरुष जबर्दस्ती आक्रमण कर भोगकी इच्छा रखता है तो उसे कुलवती स्त्रियाँ दृष्टिविष सर्पके समान अपने सतीत्वके बलसे शीघ्र ही भस्म कर देती हैं ॥ १७५-१७७ ॥ इस प्रकार सीताके वचन सुनकर शूर्पणखा मनमें विचार करने लगी कि कदाचित् मन्दरगिरि—सुमेरु पर्वत तो हिलाया जा सकता है पर इसका चित्त नहीं हिलाया जा सकता। ऐसा विचार कर वह बहुत ही व्याकुल हुई ॥ १७८ ॥ और कहने लगी कि हे देवि ! आपके वचन सुननेसे मैं घरका कार्य भूल कर दुःखी हुई, अब जाती हूं ऐसा कहकर तथा उसके चरणोंको नमस्कार कर वह चली गई ॥१७९॥ कार्य पूरा न होनेसे वह रावणके पास खेद-खिन्न होकर पहुंची सो ठीक ही है क्योंकि जिन कार्योंका प्रारम्भ करना अशक्य है उन कार्योंका क्लेशके सिवाय और क्या फल हो सकता है ? ॥ १८० ॥ शूर्पणखाने पहले तो यथायोग्य विधिसे उस रावणके दर्शन किये और तदनन्तर निवेदन किया कि हे देव ! सीता शीलवती है, वह वज्रयष्टिके समान किसी अन्य स्त्रीके द्वारा भेदन नहीं की जा सकती ॥ १८१ ॥ इस तरह अपना वृत्तान्त कह कर उसने यह कहा कि मैंने शीलवतीकी कोपाग्निके भयसे

---

१ मरणेऽसुखं ख० । २ भोनेच्छं ग० । भोगोत्थं ख० ।

श्रुत्वा तद्वचनं सर्वमसत्यमवधारयन् । प्रकटीकृतकोपाग्निरिङ्गिताकारवृत्तिभिः ॥ १८३ ॥
मुग्धे फणीन्द्रनिश्वासभोगाटोपविलोकनात् । भीत्वा तद्ग्रहणं को वा विषवादी विमुञ्चति ॥ १८४ ॥
बाह्यस्थैर्यवचः श्रुत्वा भीत्वा तस्यास्त्वमागता । गजकर्णचला स्त्रीणां चित्तवृत्तिर्न वेत्सि किम् ॥ १८५ ॥
नास्याश्चित्तं त्वयाभेदि न जाने केन हेतुना । उपायकुशलाभासीत्यसौ तामभ्यतर्जयत् ॥ १८६ ॥
भोगोपभोगद्वारेण रञ्जयेयं मनो यदि । तत्र यद्वस्तु नान्यत्र तत्स्वप्नेऽप्युपलभ्यते ॥ १८७ ॥
अथ शौर्यादिभी रामसदृशो न क्वचित्पुमान् । वीणादिभिश्चेत्सा सर्वकलागुणविशारदा ॥ १८८ ॥
सुग्रहं तलहस्तेन भूमिष्ठैर्भानुमण्डलम् । पातालादपि शेषाहिः सुहरो डिम्भकेन च ॥१८९ ॥
समुद्धानयितुं शक्या ससमुद्रा वसुन्धरा । भेत्तुं शीलवतीचित्तं न शक्यं मन्मथेन च ॥ १९० ॥
इत्याख्यत्साप्यदः पापादवकर्ण्य स रावणः । निर्मलैः केतनैर्दूरात्पश्यतां जनयन्नशम् ॥ १९१॥
हंसावलीति सन्देहं नवनिर्मोकहासिभिः । दिशो मुखरयद्भे मघण्टाचटुलनिःस्वनैः ॥ १९२ ॥
कुर्वद्घनैर्घनाश्लेषं विश्लिष्टैरिव बन्धुभिः । ययौ पुष्पकमारुह्य गगने सह मन्त्रिणा ॥ १९३ ॥
[1]ध्वजदण्डाग्रनिर्भिन्नवारिदच्युतवार्लवैः । मन्दगन्धवहानीतैर्विनीताध्वपरिश्रमः ॥ १९४ ॥
सीतोत्सुकस्तथा गच्छन् ददृशे पुष्पकस्थितः । शरद्वलाहकान्तःस्थो वासौ नीलवलाहकः ॥ १९५ ॥
सम्प्राप्य चित्रकूटाख्यं[2] प्रधानं नन्दनं वनम् । प्रविष्ट इव सीतायाश्चित्तं तुष्टिमगादलम् ॥ १९६ ॥

तुम्हारा अभिमत उसके सामने नहीं कहा ॥ १८२ ॥ शूर्पणखाके वचन सुन रावणने वह सब झूठ समझा और अपनी चेष्टा तथा मुखाकृति आदिसे क्रोधाग्निको प्रकट करता हुआ वह कहने लगा कि हे मुग्धे ! ऐसा कौन विषवादी—गारुड़िक है जो सर्पका निःश्वास तथा फणाका विस्तार देख उसके भयसे उसे पकड़ना छोड़ देता है॥१८३-१८४॥ उसकी बाह्य धीरताके वचन सुनकर ही तू उससे डर गई और यहाँ वापिस चली आई। स्त्रियोंकी चित्तवृत्ति हाथीके कानके समान चञ्चल होती है यह क्या तू नहीं जानती ? ॥ १८५ ॥ मैं नहीं जानता कि तूने इसका चित्त क्यों नहीं भेदन किया। तू उपायमें कुशल नहीं है किन्तु कुशल जैसी जान पड़ती है। ऐसा कह रावणने शूर्पणखाको खूब डाँट दिखाई ॥ १८६ ॥ इसके उत्तरमें शूर्पणखा कहने लगी कि यदि मैं भोगोपभोगकी वस्तुओंके द्वारा उसका मन अनुरक्त करती तो जो वस्तु वहाँ रामचन्द्रके पास हैं वे अन्यत्र स्वप्नमें भी नहीं मिलती हैं ॥ १८७ ॥ यदि शूर-वीरता आदिके द्वारा उसे अनुरक्त करती तो रामचन्द्रके समान शूर-वीर पुरुष कहीं नहीं है। यदि वीणा आदिके द्वारा उसे वश करना चाहती तो वह स्वयं समस्त कला और गुणोंमें विशारद है। भूमि पर खड़े हुए लोगोंके द्वारा अपनी हथेलीसे सूर्यमण्डलका पकड़ा जाना सरल है, एक बालक भी पाताल लोकसे शेषनागका हरण कर सकता है॥१८८-१८९॥ और समुद्र सहित पृथिवी उठाई जा सकती है परन्तु शीलवती स्त्रीका चित्त कामसे भेदन नहीं किया जा सकता। शूर्पणखाके वचन सुनकर रावण पापकर्मके उदयसे पुष्पक विमान पर सवार हो मन्त्रीके साथ आकाशमार्गसे चल पड़ा। पुष्पक विमान पर साँपकी नई काँचलीकी हँसी करनेवाली निर्मल पताकाएँ फहरा रही थीं उनसे वह लोगोंको 'यह हंसोंकी पंक्ति है' ऐसा सन्देह उत्पन्न कर रहा था। सुवर्णकी बनी छोटी-छोटी घण्टियोंके चञ्चल शब्दोंसे वह पुष्पक विमान दिशाओंको मुखरित कर रहा था और मेघोंके साथ ऐसा गाढ़ आलिङ्गन कर रहा था मानो बिछुड़े हुए बन्धुओंके साथ ही आलिङ्गन कर रहा हो ॥ १९०-१९३ ॥ उस पुष्पक विमान पर जो ध्वजा-दण्ड लगा हुआ था उसके अग्रभागसे मेघ खण्डित हो जाते थे, उन खण्डित मेघोंसे पानीकी छोटी-छोटी बूँदे झड़ने लगती थीं, मन्द-मन्द वायु उन्हें उड़ा कर ले आती थी जिससे रावणका मार्गसम्बन्धी सब परिश्रम दूर होता जाता था ॥ १९४ ॥ सीतामें उत्सुक हो पुष्पक विमानमें बैठकर जाता हुआ रावण ऐसा दिखाई देता था मानो शरद् ऋतुके मेघोंके बीचमें स्थित नीलमेघ ही हो ॥ १९५ ॥ जब वह चित्रकूट नामक आनन्ददायी प्रधान वनमें प्रविष्ट हुआ तब ऐसा सन्तुष्ट हुआ मानो सीताके मनमें ही प्रवेश पा चुका

---

१ ध्वजघण्टाग्र-म० । २ चित्रकूटाख्यनन्दनं नन्दनस्वनम् ल० ।

तदाज्ञयाथ मारीचः परार्घ्यमणिनिर्मितः । भूत्वा हरिणपोतोऽसौ सीतायाः स्वमदर्शयत् ॥ १९७ ॥
तं मनोहारिणं दृष्ट्वा पश्य नाथातिकौतुकम् । हरिणश्चित्रवर्णोऽयं रञ्जयत्यञ्जसा मनः ॥ १९८ ॥
इति सीतावचः श्रुत्वा विनेतुं तत्कुतूहलम् । तदानिनीषया गत्वा रामो वामे विधौ विधीः ॥ १९९ ॥
ग्रीवाभङ्गेन वा पश्यन् कुर्वन् दूरं पुनः प्लुतिम् । वल्गन् धावन् क्षणं खादन् विभयो वातृणाङ्कुरम् ॥२००॥
हस्तग्राह्यमिवात्मानं कृत्वोड्डीयातिदूरगः । वृथा कर्षति मां मायामृगो वैषोऽतिदुर्ग्रहः ॥ २०१ ॥
वदन्नित्यन्वगात्सोऽपि मृगोऽगाद्गगनाङ्गणम् । कुतः कृत्यपरामर्शः स्त्रीवशीकृतचेतसाम् ॥ २०२ ॥
लोकमानो नभो रामस्तनुतामतिहृष्यन् । तस्थौ तथैव विभ्रान्तो घटान्तर्गताहिवत् ॥ २०३ ॥
[1]अथातो रामरूपेण परिवृतो दशाननः । सीतामित्वा पुरोधृत्वा प्रहितो हरिणो मया ॥ २०४ ॥
वारुणीदिक् प्रिये पश्य बिम्बमेषांशुमालिनः । सिन्दूरतिलकं न्यस्तं बिभ्रतीव विराजते ॥ २०५ ॥
आरोह शिबिकां तस्मादाशु सुन्दरि बन्धुराम् । [2]पुरीगमनकालोऽयं वर्तते सुखरात्रये ॥ २०६ ॥
इत्यवादीत्तदाकर्ण्य सा मायाशिबिकाकृति । विमानं पुष्पकं मोहादारुरोह धरासुता ॥ २०७ ॥
रामं वा तुरगारूढमात्मनं स्म प्रदर्शयन् । महीगतमिव भ्रान्ति जनयन् दुहितुर्महेः ॥ २०८ ॥
तां भुजङ्गीमिवानैषीदुपायेन स्वमृत्यवे । पतिव्रताग्रगां पापी मायाचुञ्चुर्दशाननः ॥ २०९ ॥
क्रमाल्लङ्कामवाप्यैनामवतार्य वनान्तरे । सद्यो मायां निराकृत्य ज्ञापितानयनक्रमम्[3] ॥ २१० ॥

हो ॥ १९६ ॥ तदनन्तर रावणकी आज्ञासे मारीचने श्रेष्ठ मणियोंसे निर्मित हरिणके बच्चेका रूप बनाकर अपने आपको सीताके सामने प्रकट किया ॥ १९७ ॥ उस मनोहारी हरिणको देखकर सीता रामचन्द्रजीसे कहने लगी कि हे नाथ ! यह बहुत भारी कौतुक देखिये, यह अनेक वर्णोंवाला हरिण हमारे मनको अनुरञ्जित कर रहा है ॥ १९८ ॥ इस प्रकार भाग्यके प्रतिकूल होने पर बुद्धि रहित रामचन्द्र सीताके वचन सुन उसका कुतूहल दूर करनेके लिए उस हरिणको लानेकी इच्छासे चल पड़े ॥ १९९ ॥ वह हरिण कभी तो गरदन मोड़ कर पीछेकी ओर देखता था, कभी दूर तक लम्बी छलाङ्ग भरता था, कभी धीरे-धीरे चलता था, कभी दौड़ता था, और कभी निर्भय हो घासके अङ्कुर खाने लगता था ॥ २०० ॥ कभी अपने आपको इतने पास ले आता था कि हाथसे पकड़ लिया जावे और कभी उछल कर बहुत दूर चला जाता था। उसकी ऐसी चेष्टा देख रामचन्द्रजी कहने लगे कि यह कोई मायामय मृग है मुझे व्यर्थ ही खींच रहा है और कठिनाईसे पकड़नेके योग्य है। ऐसा कहते हुए रामचन्द्रजी उसके पीछे-पीछे चले गये परन्तु कुछ समय बाद ही वह उछल कर आकाशांगणमें चला गया सो ठीक ही है क्योंकि जिनका चित्त स्त्रीके वश है उन्हें करने योग्य कार्यका विचार कहाँ होता है ? ॥ २०१-२०२ ॥ जिस प्रकार घड़ेके भीतर रखा हुआ साँप दुखी होता है उसी प्रकार रामचन्द्रजी आकाशकी ओर देखते तथा अपनी हीनताका वर्णन करते हुए वहीं पर आश्चर्यसे चकित होकर ठहर गये ॥ २०३ ॥

अथानन्तर-रावण रामचन्द्रजीका रूप रखकर सीताके पास आया और कहने लगा कि मैंने उस हरिणको पकड़कर आगे भेज दिया है ॥ २०४ ॥ हे प्रिये ! अब सन्ध्याकाल हो चला है। देखो, यह पश्चिम दिशा सूर्य-बिम्बको धारण करती हुई ऐसी सुशोभित हो रही है मानो सिन्दूरका तिलक ही लगाये हो ॥ २०५ ॥ इसलिए हे सुन्दरि ! अब शीघ्र ही सुन्दर पालकीपर सवार होओ, सुख-पूर्वक रात्रि बितानेके लिए यह नगरीमें वापिस जानेका समय है ॥ २०६ ॥ रावणने ऐसा कहा तथा पुष्पक विमानको मायासे पालकीके आकार बना दिया। सीता भ्रान्तिवश उसपर आरूढ़ हो गई ॥ २०७ ॥ सीताको व्यामोह उत्पन्न करते हुए रावण अपने आपको ऐसा दिखाया मानो घोड़ेपर सवार पृथिवीपर रामचन्द्रजी ही चल रहे हों ॥ २०८ ॥ इस प्रकार मायाचारमें निपुण पापी रावण उपाय द्वारा पतिव्रताओंमें अग्रगामिनी-श्रेष्ठ सीताको सर्पिणीके समान अपनी मृत्युके लिए ले गया ॥ २०९ ॥ क्रम क्रमसे लङ्का पहुँचकर उसने सीताको एक वनके बीच उतारा और शीघ्र ही माया

---

१ अथेतो क०, ग०, घ० । २ पुरोगमन ल० । ३ क्रमात् घ० । क्रमः ल०, ख०, म० ।

इन्द्रनीलच्छविं देहं गूढार्थं शिष्यसन्ततेः । आचार्यो वा स तस्याः स्वं सुचिरात्समदर्शयत् ॥ २११ ॥
भयेन लज्जया रामविरहोत्थशुचा च सा । अगाद्राजसुता मूर्च्छामतिकृच्छ्रप्रतिक्रियाम् ॥ २१२ ॥
सद्यः शीलवतीस्पर्शाद्विद्या गगनगामिनी । विनश्यतीति भीत्वाऽसौ जानकीं स्वयमस्पृशन् ॥ २१३ ॥
विद्याधरीः समाहूय शीताम्बुपवनादिभिः । मूर्च्छामस्या निराकुर्युरिति दक्षा न्ययोजयत् ॥२१४ ॥
उपायैस्ताभिरुद्धतमूर्च्छाऽवोचद्धरासुता । यूयं काः कः प्रदेशोऽयमिति शङ्काकुलाशया ॥ २१५ ॥
विद्याधर्यो वयं लङ्कापुरमेतन्मनोहरम् । वनं रावणराजस्य त्रिखण्डाधिपतेरिदम् ॥ २१६ ॥
त्वादृशी वनिता लोके न काचित्पुण्यभागिनी । महेन्द्रमिव पौलोमी सुभद्रेवादिभूपतिम् ॥ २१७ ॥
श्रीमती वज्रजङ्घं वा त्वमेनं कुरु ते पतिम् । स्वामिनी भव सौभाग्याद्रावणस्य महाश्रियः ॥ २१८ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
जानकी ताभिरित्युक्ता सुदूना दीनमानसा । किं पौलोम्यादयः शीलभङ्गेन ताः पतीन् स्वयम् ॥ २१९ ॥
प्राणेभ्योऽप्यधिकान् का वा विक्रीणन्ति गुणान् श्रिया । त्रिखण्डस्याधिपोऽस्त्वस्तु षट्खण्डस्याखिलस्य वा
किं तेन यदि शीलस्य खण्डनं मण्डनस्य मे । प्राणाः सतां न हि प्राणाः गुणाः प्राणाः प्रियास्ततः ॥२२१॥
तद्व्ययात्पालयाम्येतान् गुणप्राणान्न जीविकाम् । मूर्तिर्विनश्वरी यातु विनाशमविनश्वरम् ॥ २२२ ॥
विनश्यति न मे शीलं कुलशैलानुकारि तत् । इति प्रत्युत्तरं दत्वा गृहीत्वा सा व्रतं तदा ॥ २२३॥
वदिष्यामि न भोक्ष्ये च यावन्न श्रूयते मया । रामस्य क्षेमवार्तेति मनसालोच्य सुव्रता ॥ २२४ ॥
अवबोधितवैधव्यविरुद्धस्वल्पभूषणा । यथार्थं चिन्तयन्त्यास्त सन्ततं संसृतेः स्थितिम् ॥ २२५ ॥

दूरकर उसके लानेका क्रम सूचित किया। जिस प्रकार कोई आचार्य अपनी शिष्य-परम्पराके लिए किसी गूढ़ अर्थको बहुत देर बाद प्रकट करता है उसी प्रकार उसने इन्द्रनील मणिके समान कान्ति वाला अपना शरीर बहुत देर बाद सीताको दिखलाया ॥ २१०–२११ ॥ उसे देखते ही राजपुत्री सीता, भयसे, लज्जासे, और रामचन्द्रके विरहसे उत्पन्न शोकसे तीव्र दुःखका प्रतिकार करनेवाली मूर्च्छाको प्राप्त हो गई ॥ २१२ ॥ शीलवती पतिव्रता स्त्रीके स्पर्शसे मेरी आकाशगामिनी विद्या शीघ्र ही नष्ट हो जावेगी इस भयसे उसने सीताका स्वयं स्पर्श नहीं किया ॥ २१३ ॥ किन्तु चतुर विद्याधरियोंको बुलाकर यह आदेश दिया कि तुमलोग शीतल जल तथा हवा आदिसे इसकी मूर्च्छा दूर करो ॥२१४॥ जब उन विद्याधरियोंके अनेक उपायोंसे सीताकी मूर्च्छा दूर हुई तब शङ्कासे व्याकुल-हृदय होती हुई वह उनसे पूछने लगी कि आप लोग कौन हैं ? और यह प्रदेश कौन है ? ॥ २१५ ॥ इसके उत्तरमें विद्याधरियाँ कहने लगीं कि हम लोग विद्याधरियाँ हैं, यह मनोहर लङ्कापुरी है, और यह तीन खण्डके स्वामी राजा रावणका वन है। इस संसारमें आपके समान कोई दूसरी स्त्री पुण्यशालिनी नहीं है क्योंकि जिस प्रकार इन्द्राणीने इन्द्रको, सुभद्राने भरत चक्रवर्ती को और श्रीमतीने वज्रजङ्घको अपना पति बनाया था उसी प्रकार आप भी इस रावणको अपना पति बना रही हैं। आप सौभाग्यसे महालक्ष्मीके धारक रावणकी स्वामिनी होओ ॥ २१६–२१८ ॥ इस प्रकार विद्याधरियोंके कहनेपर सीता बहुत ही दुःखी हुई, उसका मन दीन हो गया। वह कहने लगी कि क्या इन्द्राणी आदि स्त्रियाँ अपना शील भङ्गकर इन्द्र आदि पतियोंको प्राप्त हुई थीं ? ॥ २१९ ॥ ऐसी कौनसी स्त्रियाँ हैं जो प्राणोंसे भी अधिक अपने गुणोंको लक्ष्मीके बदले बेच देती हों। रावण तीन खण्डका स्वामी हो, चाहे छह खण्डका स्वामी हो और चाहे समस्त लोकका स्वामी हो ॥ २२० ॥ यदि वह मेरे आभूषण स्वरूप शीलका खण्डन करनेवाला है तो मुझे उससे क्या प्रयोजन है ? सज्जनोंको प्राण प्यारे नहीं, किन्तु गुण प्राणोंसे भी अधिक प्रिय होते हैं ॥ २२१ ॥ मैं प्राण देकर अपने इन गुणरूपी प्राणोंकी रक्षा करूँगी जीवनकी नहीं। यह नश्वर शरीर भले ही नष्ट हो जावे परन्तु कुला-चलोंका अनुकरण करनेवाला मेरा शील कभी नष्ट नहीं हो सकता'। इस प्रकार प्रत्युत्तर देकर उत्तम शील व्रतको धारण करनेवाली सीताने मनसे विचार किया और यह नियम ले लिया कि जबतक रामचन्द्रजीकी कुशलताका समाचार नहीं सुन लूँगी तबतक न बोलूँगी और न भोजन ही करूँगी ॥ २२२–२२४ ॥ वैधव्यपना प्रकट न हो इस विचारसे जिसने अपने शरीरपर थोड़ेसे ही आभूषण रख छोड़े थे बाकी सब दूरकर दिये थे ऐसी सीता वहाँ संसारकी दशाका विचार करती हुई रहने

प्रादुरासंस्तदोत्पाता लङ्कायां किङ्करा इव । तद्ध्वंसिकालराजस्य समन्ताद्भयदायिनः ॥ २२६ ॥
उत्पन्नमायुधागारे चक्रं वा कालचक्रवत् । यज्ञशालाप्रबद्धस्य वस्तकस्यैव शाड्वलम् ॥ २२७ ॥
तदुत्पत्तिफलस्यास्या नवबोद्धुः खगेशिनः । ज्वलदारं महाचक्रं महातोषमजीजनत् ॥ २२८ ॥
रामो नाम बलो भावी लक्ष्मणोऽप्यनुजातवान् । तस्य रूढप्रतापौ तौ द्वाप्यभिमुखोदयौ ॥ २२९ ॥
सीता शीलवती नेयं जीवन्ती ते भविष्यति । अभिभूतिः सशीलानामत्रैव फलदायिनी ॥ २३० ॥
उत्पाताश्च पुरेऽभूवन् बहवोऽशुभसूचकाः । लोकद्वयाहितं बाढमयशश्च युगावधि ॥ २३१ ॥
मुच्यतां मंक्षिवयं यावन्न[1] चेदं रूढिमृच्छति । इति युक्तिमतीं वाणीमुक्तो मन्त्र्यादिभिस्तदा ॥ २३२ ॥
प्रत्यभाषत लङ्केशो यूयं युक्तिविरोधि किम् । अस्मृत्या वदतैवं च प्रत्यक्षे का विचारणा ॥ २३३ ॥
चक्ररत्नं समुत्पन्नं सीतापहरणेन मे । [2]षट्खण्डार्धाधिपत्यं च तेन चिन्त्यं करस्थितम् ॥ २३४ ॥
स्वयं गृहागतां लक्ष्मीं हन्यात्पादेन को विधीः । इति तन्नापितं श्रुत्वा व्यरमन् हितवादिनः ॥ २३५ ॥
इतः परिजनो रामं मायामणिमृगानुगम् । विपिने नष्टदिग्भागं सूर्येऽस्ताचलमेयुषि ॥ २३६ ॥
अदृष्ट्वान्विष्य सीतां च वैमनस्यमगात्तराम् । सद्य [3]स्तनोर्वियोगोऽपि स्वामिनः केन सह्यते ॥ २३७ ॥
भानावुदयमायाति मर्त्यलोकैकचक्षुषि । ध्वान्ते भियेव निर्याते दलन्तीष्वब्जराशिषु ॥ २३८ ॥
घटामटति कोकानां युग्मे युग्मद्विषा मुदा । अर्थः शब्देन वा योगं साधुना जानकीप्रियः ॥ २३९ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

लगी ॥ २२५ ॥ उसी समय लङ्कामें उसे नष्ट करनेवाले यमराजके किंकरोंके समान भय उत्पन्न करनेवाले अनेक उत्पात सब ओर होने लगे ॥ २२६ ॥ जिस प्रकार यज्ञशालामें बँधे हुए बकराके समीप हरी घास उत्पन्न हो उसी प्रकार रावणकी आयुधशालामें कालचक्रके समान चक्ररत्न प्रकट हुआ। विद्याधरोंका राजा रावण उसके उत्पन्न होनेका फल नहीं जानता था—उसे यह नहीं मालूम था कि इससे हमारा ही घात होगा अतः जिसके अरोंका समूह देदीप्यमान हो रहा है ऐसे उस महाचक्रने उसे बहुत भारी सन्तोष उत्पन्न किया ॥ २२७-२२८ ॥

तदनन्तर मन्त्रियोंने उसे समझाया कि 'रामचन्द्र होनहार बलभद्र हैं, और उनका छोटा भाई लक्ष्मण नारायण होनेवाला है। इस समय उन दोनोंका प्रताप बढ़ रहा है और दोनों ही महान् अभ्युदयके सन्मुख हैं। सीता शीलवती स्त्री है, यह जीते जी तुम्हारी नहीं होगी। शीलवान् पुरुषका तिरस्कार इसी लोकमें फल दे देता है। इसके सिवाय नगरमें अशुभकी सूचना देनेवाले बहुत भारी उत्पात भी हो रहे हैं इसलिए दोनों लोकोंमें अहित करने एवं युगान्ततक अपयश बढ़ानेवाले इस कुकार्यको उसके पहले ही शीघ्र छोड़ दो जबतक कि यह बात सर्वत्र प्रसिद्धिको प्राप्त होती है'। इस प्रकार मन्त्रियोंने युक्तिसे भरे वचन रावणसे कहे। रावण प्रत्युत्तरमें कहने लगा कि 'इस तरह आप लोग बिना कुछ सोचे-विचारे ही युक्ति-विरुद्ध वचन क्यों कहते हैं ? अरे, प्रत्यक्ष वस्तुमें विचार करनेकी क्या आवश्यकता है ? देखो, सीताका अपहरण करनेसे ही मेरे चक्ररत्न प्रकट हुआ है, इसलिए अब तीन खण्डका आधिपत्य मेरे हाथमें ही आगया यह सोचना चाहिये। ऐसा कौन मूर्ख होगा जो घरपर आई हुई लक्ष्मीको पैरसे ठुकरावेगा'। इस प्रकार रावणका उत्तर सुनकर हितका उपदेश देनेवाले सब मन्त्री चुप हो गये ॥ २२९-२३५ ॥

इधर रामचन्द्रजी मणियोंसे बने मायामय मृगका पीछा करते-करते वनमें बहुत आगे चले गये वहाँ वे दिशाओंका विभाग भूल गये और सूर्य अस्ताचलपर चला गया। परिवारके लोगोंने उन्हें तथा सीताको बहुत ढूँढ़ा पर जब वे न दिखे तो बहुत ही खेद-खिन्न हुए। सो ठीक ही है क्योंकि शरीरका वियोग तो सहा जा सकता है परन्तु स्वामीका वियोग कौन सह सकता है ॥२३६-२३७॥ सबेरा होनेपर मनुष्य-लोकके चक्षुस्वरूप सूर्यका उदय हुआ, अन्धकार मानो भयसे भाग गया, कमलोंके समूह फूल उठे, रात्रिके कारण परस्पर द्वेष रखनेवाले चकवा-चकवियोंके युगल हर्षसे मिलने लगे और जिस प्रकार अर्थ निर्दोष शब्दके साथ संयोगको प्राप्त होता है अथवा

१-नात्रैवं घ० । -नात्रेदं ख०,ग०, । २ षट्खण्डस्याधिपत्यं ल०। ३ सद्यस्तनोर्वि ख०,सद्यः सूनोर्वि-ङ्ग० ।

स्वयं परिजनेनापि भास्करो दिवसेन वा । दृष्ट्वा तं मत्प्रिया केति नृपः प्रपृच्छ साकुलः ॥ २४० ॥
देव देवी च देवो वा नास्माभिरवलोकितः । देवी छायेव ते तस्मात्त्वमवैषीति सोऽभ्यधात् ॥ २४१ ॥
[1]इति तद्वचनाल्लब्धरन्ध्रा रामं समग्रहीत् । मूर्च्छा सीतासपत्नीव मोहयन्ती मनः क्षणम् ॥ २४२ ॥
तदा शीतक्रिया सीतासखीव सहसा नृपम् । व्यश्लेषयत्ततः सोऽपि क्व सीतेति प्रबुद्धवान् ॥ २४३ ॥
देवीं परिजनः सर्वः समन्तात्प्रतिभूरुहम् । अन्वेषयन् विलोक्योच्चैरायं वंशविदारितम् ॥ २४४ ॥
तस्यास्तदा तदानीय राघवाय समर्पयत् । उत्तरीयांशुकं देव्या भवत्येतदितः कुतः ॥ २४५ ॥
इति विज्ञाततत्त्वं शोकव्याकुलमानसः । सहानुजस्ततश्चिन्तां कुर्वन्नुर्वीश्वरः स्थितः ॥ २४६ ॥
तावत्तत्रैव संक्रान्तो दूतो दशरथान्तिकात् । तं प्राप्य विनतो मूर्ध्ना कार्यमित्थमभाषत ॥ २४७ ॥
गृहीत्वा रोहिणीं राहौ प्रयाते गगनान्तरम् । एकाकिनं तुषारांशुं भ्राम्यन्तं समलोकिपि ॥ २४८ ॥
स्वप्ने किं फलमेतस्येत्यन्वयुङ्क्त महीपतिः । पुरोहितमसौ चाह सीतामद्य दशाननः ॥ २४९ ॥
गृहीत्वायात्स मायावी रामः स्वामी च कानने । तां समन्वेषितुं शोकादाकुलो भ्राम्यति स्वयम् ॥२५०॥
मङ्क्षु दूतमुखादेतत्प्रापणीयमिति स्फुटम् । तद्राजाज्ञागतोऽस्मीति लेखगर्भकरण्डकम् ॥ २५१॥
न्यधाच्चाग्रे तदादाय शिरसा रघुनन्दनः । विमोच्य पत्रमत्रस्थं स्वयमित्थमवाचयत् ॥ २५२ ॥
इतो विनीतानगरात् श्रीमतः श्रीमतां पतिः । प्रेमप्रसारितात्मीयभुजाभ्यां स्वप्रियात्मजौ ॥ २५३ ॥

सूर्य दिनके साथ आ मिलता है उसी प्रकार जानकीवल्लभ रामचन्द्रजी परिवारके लोगोंके साथ आ मिले। परिजनको देखकर राजा रामचन्द्रजीने बड़ी व्यग्रतासे पूछा कि हमारी प्रिया–सीता कहाँ है ? परिजनने उत्तर दिया कि हे देव ! हम लोगोंने न आपको देखा है और न देवीको देखा है। देवी तो छायाके समान आपके पास ही थी अतः आप ही जाने कि वह कहाँ गई ? इस प्रकार परिजनके वचनोंसे प्रवेश पाकर क्षण भरके लिए मनको मोहित करती हुई सीताकी सपत्नीके समान मूर्च्छाने रामचन्द्रको पकड़ लिया—उन्हें मूर्च्छा आ गई ॥ २३६–२४२ ॥ तदनन्तर–सीताकी सखीके समान शीतोपचारकी क्रियाने राजा रामचन्द्रको मूर्च्छासे जुदा किया और 'सीता कहाँ है' ? ऐसा कहते हुए वे प्रबुद्ध–सचेत हो गये ॥ २४३ ॥ परिजनके समस्त लोगोंने सीताको प्रत्येक वृक्षके नीचे खोजा पर कहीं भी पता नहीं चला। हाँ, किसी वंशकी झाड़ीमें उसके उत्तरीय वस्त्रका एक टुकड़ा फटकर लग रहा था परिजनके लोगोंने उसे लाकर रामचन्द्रजीको सौंप दिया। उसे देखकर वे कहने लगे कि यह तो सीताका उत्तरीय वस्त्र है, यहाँ कैसे आया ? ॥ २४४–२४५ ॥ थोड़ी ही देरमें रामचन्द्रजी उसका सब रहस्य समझ गये। उनका हृदय शोकसे व्याकुल हो गया और वे छोटे भाईके साथ चिन्ता करते हुए वहीं बैठ रहे ॥ २४६ ॥ उसी समय संभ्रमसे भरा एक दूत राजा दशरथके पाससे आकर उनके पास पहुँचा और मस्तक झुकाकर इस प्रकार कार्यका निवेदन करने लगा ॥ २४७ ॥ उसने कहा कि आज महाराज दशरथने स्वप्न देखा है कि राहु रोहिणीको हरकर दूसरे आकाशमें चला गया है और उसके विरहमें चन्द्रमा अकेला ही वनमें इधर-उधर भ्रमण कर रहा है। स्वप्न देखनेके बाद ही महाराजने पुरोहितसे पूछा कि 'इस स्वप्नका क्या फल है' ? पुरोहितने उत्तर दिया कि आज मायावी रावण सीताको हरकर ले गया है और स्वामी रामचन्द्र उसे खोजनेके लिए शोकसे आकुल हो वनमें स्वयं भ्रमण कर रहे हैं। दूतके मुखसे यह समाचार स्पष्टरूपसे शीघ्र ही उनके पास भेज देना चाहिये। इस प्रकार पुरोहितने महाराजसे कहा और महाराजकी आज्ञानुसार मैं यहाँ आया हूं। ऐसा कह दूतने जिसमें पत्र रखा हुआ था ऐसा पिटारा रामचन्द्रके सामने रख दिया। रामचन्द्रने उसे शिरसे लगाकर उठा लिया और खोलकर भीतर रखा हुआ पत्र इस प्रकार बाँचने लगे ॥ २४८–२५२ ॥ उसमें लिखा था कि इधर लक्ष्मीसम्पन्न अयोध्या नगरसे लक्ष्मीवानोंके स्वामी महाराज दशरथ प्रेमसे फैलाई हुई अपनी दोनों भुजाओंके द्वारा अपने प्रिय पुत्रोंका आलिङ्गनकर तथा उनके शरीरकी कुशल-वार्ता पूछकर यह आज्ञा देते हैं कि यहाँसे दक्षिण दिशाकी ओर

---

१ अथ क०, ख०, ग० ।

परिष्वज्यानुयुज्याङ्गक्षेमवार्तां ततः परम् । इदमाज्ञापयत्यत्र दक्षिणाऽध्यन्तरस्थिताः ॥ २५४ ॥
षट्पञ्चाशन्महाद्वीपाश्चक्रवर्त्यनुवर्तिनः । केशवाश्च स्वमाहात्म्यात्तदर्द्धपरिरक्षिणः ॥ २५५ ॥
द्वीपोऽस्ति तेषु लङ्काख्यस्त्रिकूटाद्रिविभूषितः । तस्मिन् विनमिसन्तानविद्याधरधरेशिनाम् ॥ २५६ ॥
चतुष्टये व्यतिक्रान्ते प्रजापालनलोलुपे[1] । रावणाख्यः खलो लोककण्टकः स्त्रीषु लम्पटः ॥ २५७ ॥
ततोऽभूदन्यदा तस्य नारदेन रणेच्छुना । रूपलावण्यकान्त्यादिकथितं क्षितिजाश्रितम् ॥ २५८ ॥
तदैव मदनामोघबाणनिर्भिन्नमानसः । पौलस्त्यो ध्वस्तधीर्धैर्यो मायावी न्यायदूरगः ॥ २५९ ॥
[2]अनन्यवेद्यमागत्य सोपायं स्वां पुरीं सतीम् । अनैषीद्यावदस्माकमुद्योगसमयो भवेत् ॥ २६० ॥
तावत्स्वकायसंरक्षा कर्तव्येति प्रियां प्रति । प्राहिणोतु कुमारोऽयं दूतं स्वं धीरयन्निति ॥ २६१ ॥
पितृलेखार्थमाध्याय रुद्धशोकः क्रुधोद्धतः । अन्तकस्याङ्कमारोढुं स लङ्केशः किमिच्छति ॥ २६२ ॥
शशस्य सिंहपोतेन किं विरोधेऽस्ति जीविका । सत्यमासन्नमृत्यूनां सद्यो विध्वंसनं मतेः ॥ २६३ ॥
इत्युद्धतोदितैः कोपमाविश्चक्रेऽथ लक्ष्मणः । जनको भरतः शत्रुघ्नश्च [3]तद्वृत्तकश्रुतेः ॥ २६४ ॥
सम्प्राप्य राघवं सोपचारमालोक्य युक्तिमद् । वाक्यैः शोकं समं नेतुं तदैवं ते समब्रुवन् ॥ २६५ ॥
चौर्येण रावणस्यैव परदाराहृतिर्गिरः । पराभवः परिद्रोहा [illegible] ॥ २६६ ॥
सीताशापेन दाह्योऽसौ निर्विचार्यमकार्यकृत् । महापापकृतां पापमस्मिन्नेव फलिष्यति ॥ २६७ ॥
उपायश्चिन्त्यतां कोऽपि सीताप्रत्ययनं प्रति । इति तैर्बोधितो[4] रामः सुसोत्थित इवाभवत् ॥ २६८ ॥

समुद्रके बीचमें स्थित छप्पन महाद्वीप विद्यमान हैं जो चक्रवर्तीके अनुगामी हैं अर्थात् उन सबमें चक्रवर्तीका शासन चलता है। नारायण भी अपने माहात्म्यसे उन द्वीपोंमेंसे आधे द्वीपोंकी रक्षा करते हैं ॥ २५३–२५५ ॥ उन द्वीपोंमें एक लङ्का नामका द्वीप है, जो कि त्रिकूटाचलसे सुशोभित है। उसमें क्रम-क्रमसे राजा विनमिकी सन्तानके चार विद्याधर राजा, जो कि प्रजाकी रक्षा करनेमें सदा तत्पर रहते थे, जब व्यतीत हो चुके तब रावण नामका वह दुष्ट राजा हुआ है जो कि लोकका कण्टक माना जाता है और स्त्रियोंमें सदा लम्पट रहता है ॥ २५६–२५७ ॥ तदनन्तर युद्धकी इच्छा रखने वाले नारदने किसी एक दिन रावणके सामने सीताके रूप लावण्य और कान्ति आदिका वर्णन किया। उसी समय रावणका मन कामदेवके अमोघ बाणोंसे खण्डित हो गया। उसकी बुद्धिकी धीरता जाती रही। न्यायमार्गसे दूर रहनेवाला वह मायावी जिस तरह किसी दूसरेको पता न चल सके इस तरह–गुप्तरूपसे आकर सती सीताको किसी उपायसे अपनी नगरीमें ले गया है सो जबतक हम लोगोंके उद्योग करनेका समय आता है तबतक अपने शरीरकी रक्षा करनी चाहिये इस प्रकार प्रिया–सीताके प्रति उसे समझानेके लिए कुमारको अपना कोई श्रेष्ठ दूत भेजना चाहिये'। ऐसा महाराज दशरथने अपने पत्रमें लिखा था। पिताके पत्रका मतलब समझकर रामचन्द्रका शोक तो रुक गया परन्तु वे क्रोधसे उद्धत हो उठे। वे कहने लगे कि क्या रावण यमराजकी गोदमें चढ़ना चाहता है ॥ २५८–२६२ ॥ सिंहके बच्चेके साथ विरोध करनेपर क्या खरगोशका जीवन बच सकता है? सच है कि जिनकी मृत्यु निकट आ जाती है उनकी बुद्धि शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥ २६३ ॥ इस प्रकार रोष भरे शब्दों द्वारा रामचन्द्रने क्रोध प्रकट किया। तदनन्तर–लक्ष्मण, जनक, भरत और शत्रुघ्न यह समाचार सुनकर रामचन्द्रजीके पास आये और बड़ी विनय सहित उनसे मिलकर युक्तिपूर्ण शब्दों द्वारा उनका शोक दूर करनेके लिए सब एक साथ इस प्रकार कहने लगे ॥ २६४–२६५ ॥ उन्होंने कहा कि रावण चोरीसे परस्त्री हर कर ले गया है इससे उसीका तिरस्कार हुआ है। वह द्रोह करने वाला है, दुष्ट है और अधर्मकी प्रवृत्ति चलानेवाला है। उसने चूंकि बिना विचार किये ही यह अकार्य किया है अतः वह सीताके शापसे जलने योग्य है। महापाप करनेवालोंका पाप इसी लोकमें फल देता है ॥ २६६–२६७ ॥ अब सीताको वापिस लानेका कोई उपाय सोचना चाहिए। इस प्रकार उन सबके द्वारा समझाये जानेपर रामचन्द्रजी सोयेसे उठे हुएके समान सावधान हो

---

१ लोलुपः । २ अनन्यवेद्य ल० । ३ तद्वृत्तकश्रुतः ल० । ४ बोधितो ल० ।

तत्काले खेचरद्वन्द्वं दौवारिकनिवेदितम् । नृपानुगतमागत्य यथोचितम्[1]लोकत ॥ २६९ ॥
भविष्यद्बलदेवोऽपि कृततद्योगसम्पदः । एतदागमनं कस्मात्कौ भवन्तौ कुमारकौ ॥ २७० ॥
इत्यन्वयुङ्क्त सुग्रीवस्तत्रेदं सम्यगब्रवीत् । खगाद्रिदक्षिणश्रेण्यां पुरं किलकिलाह्वयम् ॥ २७१ ॥
तदधीशो बलीन्द्राख्यो विख्यातः खचरेष्वसौ । प्रियङ्गुसुन्दरी तस्य प्रिया तस्यां तनूजवौ ॥ २७२ ॥
बालिसुग्रीवनामानावजायावहि भूभुजाम् । पितर्युपरतेऽजायताग्रजस्याधिराजता ॥ २७३ ॥
ममापि युवराजत्वमजनिष्ट क्रमागतम् । एवं गच्छति तत्स्थानमपहृत्य मदग्रजः ॥ २७४ ॥
लोभाक्रान्ताशयो देशात् स निर्वासयति स्म माम् । एषोऽपि दक्षिणश्रेण्यां विद्युत्कान्तापुरेशिनः ॥२७५॥
प्रभञ्जनखगाधीशस्तनूजोऽमिततेजवाक् । त्रिधाविद्योऽञ्जनादेव्यामव्याहतपराक्रमः ॥ २७६ ॥
नभश्चरकुमाराणां समुदाये परस्परम् । कदाचिदात्मविद्यानामनुभावपरीक्षणे ॥ २७७ ॥
विजयार्द्धगिरेर्मूर्ध्नि क्रमं विन्यस्य दक्षिणम् । वामपादेन भास्वन्तमपहाय पुनस्तदा ॥ २७८ ॥
त्रसरेणुप्रमाणं स्वं शरीरमकृताद्भुतम् । ततः प्रभृति विद्येशैर्विस्मयाहितमानसैः ॥ २७९ ॥
अणुमानिति तूर्येण निखिलैरभिधाय्ययम् । पीतव्याकरणाम्भोधिः सखा प्राणाधिको मम ॥ २८० ॥
गत्वा कदाचिदेतेन सह सम्मेदपर्वतम् । सिद्धकूटाभिधे तीर्थक्षेत्रेऽर्हत्प्रतिमा बहूः ॥ २८१ ॥
अभ्यर्च्य भक्त्या वन्दित्वा स्थितोऽस्मिन् शुभभावनः । जटामुकुटसन्धारी [2]मुक्तायज्ञोपवीतकः ॥२८२॥
काषायवस्त्रः कक्षावलम्बिरत्नकमण्डलुः । करोद्धृतातपत्राणो नैष्ठिकब्रह्मसद्व्रतः ॥ २८३ ॥
नारदो [3]विशिखारूढो रौद्रध्यानपरायणः । अवतीर्य नभोभागात्परीत्य जिनमन्दिरम् ॥ २८४ ॥

गये ॥ २६८ ॥ उसी समय द्वारपालोंने दो विद्याधरोंके आनेका समाचार कहा। राजा रामचन्द्रने उन्हें भीतर बुलाया और उन्होंने योग्य विनयके साथ उनके दर्शन किये ॥ २६९ ॥ होनहार बलभद्र रामचन्द्र भी उनके संयोगसे हर्षित हुए और पूछने लगे कि आप दोनों कुमार यहाँ कहाँसे आये हैं ? और आप कौन हैं ? इसके उत्तरमें सुग्रीव कहने लगा कि विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें एक किलकिल नामका नगर है। विद्याधरोंमें अतिशय प्रसिद्ध बलीन्द्र नामका विद्याधर उस नगरका स्वामी था। उसकी प्रियङ्गुसुन्दरी नामकी स्त्री थी। उन दोनोंके हम बाली और सुग्रीव नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए। जब पिताका देहान्त हो गया तब बड़े भाई बालीको राज्य प्राप्त हुआ और मुझे क्रमप्राप्त युवराज पद मिला। इस प्रकार कुछ समय व्यतीत होने पर मेरे बड़े भाई बालीके हृदयको लोभने धर दबाया इसलिए उसने मेरा स्थान छीनकर मुझे देशसे बाहर निकाल दिया। यह तो मेरा परिचय हुआ अब रहा यह साथी। सो यह भी दक्षिण श्रेणीके विद्युत्कान्त नगरके स्वामी प्रभञ्जन विद्याधरका अमिततेज नामका पुत्र है। यह तीनों प्रकारकी विद्याएँ जानता है, अञ्जना देवीमें उत्पन्न हुआ है, और अखण्ड पराक्रमका धारक है ॥ २७०–२७६ ॥ किसी एक समय विद्याधर-कुमारोंके समूहमें परस्पर अपनी-अपनी विद्याओंके माहात्म्यकी परीक्षा देनेकी बात निश्चित हुई। उस समय इसने विजयार्ध पर्वतके शिखर पर दाहिना पैर रखकर बायें पैरसे सूर्यके विमानमें ठोकर लगाई। तदनन्तर उसी क्षण त्रसरेणुके प्रमाण अपना छोटा-सा शरीर बना लिया। यह देख, विद्याधरोंके चित्त आश्चर्यसे भर गये, उसी समय समस्त विद्याधरोंने बड़े हर्षसे इसका 'अणुमान्' यह नाम रक्खा। इसने विक्रियारूपी समुद्रका पान कर लिया है अर्थात् यह सब प्रकारकी विक्रिया करनेमें समर्थ है, यह मेरा प्राणोंसे भी अधिक प्यारा मित्र है ॥ २७७–२८० ॥ मैं किसी एक दिन इसके साथ सम्मेदशिखर पर्वतपर गया था वहाँ सिद्धकूट नामक तीर्थक्षेत्रमें अर्हन्त भगवान्की बहुत सी प्रतिमाओंकी भक्ति पूर्वक पूजा वन्दनाकर वहींपर शुभ भावना करता हुआ बैठ गया। उसी समय वहाँपर विमानमें बैठे हुए नारदजी आ पहुँचे। वे जटाओंका मुकुट धारण कर रहे थे, मोतियोंका यज्ञोपवीत पहिने थे, गेरुवा वस्त्रोंसे सुशोभित थे, उनकी बगलमें रत्नोंका कमण्डलु लटक रहा था, वे हाथमें छत्ता लिये हुए थे, नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे, और सदा रौद्रध्यानमें

---

१ यथातिमत ल० (?)। २ शुभयज्ञोपवीतकः ल०। ३-३विशिखारूढः ल०। (विमानारूढः)।

समुपाविक्षदेकत्र जिनस्तवनपूर्वकम् । समुपेत्य तमप्राक्षं किं मुने स्थानमात्मनः ॥ २८५ ॥
सम्पद्यते न वेत्येतद्वचनाद्व्रवीदसौ । रामलक्ष्मणयोरर्द्धभरतस्वामिताचिरात् ॥ २८६ ॥
भविष्यति कृतप्रेषणस्य ताभ्यां तवेप्सितम् । सम्पत्स्यते च तत्प्रेष्यं किञ्चिद्रामनोरमाम् ॥ २८७ ॥
विहरन्ती वने वीक्ष्य रावणो मायया ऽग्रहीत् । तद्रामलक्ष्मणावद्य लङ्काभिगमनोचितम् ॥ २८८ ॥
अन्वेषितारौ पुरुषं तिष्ठतः स्वार्थसिद्धये । इति [illegible] ॥ २८९ ॥ महाराज
तौ च तद्वचनात्पूजामुचितां चक्रतुस्तयोः । अथ विज्ञापयामास प्रभञ्जनतनूद्भवः ॥ २९० ॥
तवादेशोऽस्ति चेद्देव्याः स्थानमन्वेषयाम्यहम् । तत्प्रत्ययार्थमाख्येयमभिज्ञानं महीपते ॥ २९१ ॥
इति तेनोक्तमाकर्ण्य विनम्यन्वयखेन्दुना । यथाभिप्रेतमेतेन प्रसेत्स्यत्यस्तसंशयम् ॥ २९२ ॥
इति मत्वा स्वनामाङ्कमुद्रिकां मत्प्रियेदृशी । वर्णादिभिरिति व्यक्तमुक्त्वा तस्मै ददौ नृपः[२] ॥२९३॥
स रामचरणाम्भोजं विनम्य गगनान्तरम् । समुत्पत्य समुल्लङ्घ्य समुद्रं सत्रिकूटकम् ॥ २९४ ॥
द्विषट्कयोजनायामं नवयोजनविस्तृतम् । द्वात्रिंशत्गोपुरोपेतं रत्नप्राकारवेष्टितम् ॥ २९५ ॥
नानाभवनसंकीर्णं मणितोरणभास्वरम् । महामेरुसमुत्तुङ्गं रावणावासभाजितम् ॥ २९६ ॥
अलिपुंस्कोकिलालापैर्लसत्कुसुमपल्लवैः । सरागहासं गायद्भिरिवोद्यानैर्मनोहरम् ॥ २९७ ॥
लङ्कानगरमासाद्य सीतान्वेषणतत्परः । गृहीतभ्रमराकारो दशाननसभागृहम्[३] ॥ २९८ ॥
इन्द्रजित्प्रमुखान् भूपकुमारान् वीक्ष्य सादरम् । मन्दोदरीप्रभृत्येतद्वनिताश्च निरूपयन् ॥ २९९ ॥
नताखिलखगाधीशमौलिमालार्चितक्रमम् । मध्ये सिंहासनं सिंहविक्रमं शक्रसन्निभम् ॥ ३०० ॥

तत्पर रहते थे। उन्होंने आकाशसे उतरकर पहले तो जिन-मन्दिरोंकी प्रदक्षिणा दी, फिर जिनेन्द्र भगवान्‌का स्तवन किया और तदनन्तर वे एकान्त स्थानमें बैठ गये। मैंने उनके पास जाकर पूछा कि हे मुने! क्या कभी मुझे अपना पद भी प्राप्त हो सकेगा? इसके उत्तरमें उन्होंने कहा कि राम और लक्ष्मणका बहुत ही शीघ्र आधे भरतका स्वामीपना प्रकट होनेवाला है ॥ २८१–२८६ ॥ यदि तू उनके दूतका कार्य कर देगा तो उन दोनोंके द्वारा तेरा मनोरथ सिद्ध हो जावेगा। उन्हें दूत भेजनेका कार्य यों आ पड़ा है कि रामकी स्त्री वनमें विहार कर रही थी उसे रावण छल पूर्वक हरकर ले गया है। इसलिए आज राम और लक्ष्मण अपना कार्य सिद्ध करनेके लिए लङ्का भेजने योग्य किसी पुरुषकी खोज करते हुए बैठे हैं। इस प्रकार नारदके वचन सुनकर हे देव! बड़े सन्तोषसे हम दोनों आपके पास आये हैं ॥ २८७–२८९ ॥ दोनों विद्याधरोंके उक्त वचन सुनकर राम-लक्ष्मणने उनका उचित सत्कार किया। तदनन्तर प्रभञ्जनके पुत्र अणुमान् (हनुमान्) ने प्रार्थना की कि यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं सीता देवीके स्थानकी खोज करूँ। हे राजन्! देवीको विश्वास उत्पन्न करानेके लिए आप कोई चिह्न बतलाइये ॥ २९०–२९१ ॥ इस प्रकार उसका कहा सुनकर रामचन्द्रजीको विश्वास हो गया कि विनमिके वंशरूपी आकाशके चन्द्रमास्वरूप इस विद्याधरके द्वारा हमारा अभिप्राय निःसन्देह सिद्ध हो जावेगा ॥ २९२ ॥ ऐसा मान राजाने मेरी प्रिया रूप रङ्ग आदिमें ऐसी है यह स्पष्ट बताकर उसके लिए अपने नामसे चिह्नित मुद्रिका (अंगूठी) दे दी ॥ २९३ ॥ अणुमान् रामचन्द्रके चरण-कमलोंको नमस्कार कर आकाशके बीच जा उड़ा और समुद्र तथा त्रिकूटाचलको लांघकर लङ्का नगरमें जा पहुँचा। वह लङ्का नगर बारह योजन लम्बा और नौ योजन चौड़ा था, बत्तीस गोपुरोंसे सहित था, रत्नोंके कोटसे युक्त था, महामेरुके समान ऊँचा था, रावणके महलोंसे सुशोभित था, एवं जिनमें भ्रमर और पुंस्कोकिलाएँ मनोहर शब्द कर रही हैं तथा फूल और पत्ते सुशोभित हैं अतएव जो राग तथा हासके साथ गाते हुएसे जान पड़ते हैं ऐसे बाग-बगीचोंसे मनोहर था, ऐसे लङ्का नगरमें जाकर सीताकी खोजमें तत्पर रहनेवाले अणुमान्‌ने भ्रमरका रूप रख लिया और क्रम-क्रमसे वह रावणके सभागृह, इन्द्रजित् आदि राजकुमारों तथा मन्दोदरी आदि रावणकी स्त्रियोंको बड़े आदरसे देखता हुआ वहाँ पहुँचा जहाँ रावण विद्यमान था ॥ २९४–२९९ ॥ तदनन्तर नमस्कार करते हुए समस्त विद्याधर राजाओंके मुकुटोंकी मालाओंसे जिसके चरण-

---

१ प्रतीत स्नः ग०, घ०। प्रतीय वः क०। प्रतीत्य ख०। २ नमः ख०। ३ समाग्रहे म०, ख०,।

भीलाद्रिमिव गङ्गोरुतरङ्गैश्च महीरुहैः। दोधूयमानमालोक्य रावणं रावितद्विषम् ॥ ३०१ ॥
अहो पापस्य कोऽप्येष विपाकोऽयमपीदृशः। किल धिग्धर्ममुल्लङ्घ्य परदाराभिलाषुकः ॥ ३०२ ॥
ध्रुवं तन्नारदेनोक्तमकालमरणं ध्रुवम्। भावीति भावयन् सीतां तत्सभायामलक्षयन् ॥ ३०३ ॥
मन्दमन्दप्रभे भानौ दीने सति दिनात्यये। सहायसम्पदं प्रायो मन्वानः सम्पदावहाम् ॥ ३०४ ॥
उदयास्तमयौ नित्यं देहिनामिति रावणम्। रविर्ययौ निरूप्येव समन्तादिति चिन्तयन् ॥ ३०५ ॥
दूतो रामस्य गत्वाऽन्तःपुरपश्चिमगोपुरम्। आरुह्य लोकमानोऽयं भ्रमरारावराजितम् ॥ ३०६ ॥
वनं सर्वर्तुकं नाम नन्दनं नन्दनोपमम्। फलप्रसवभारावनम्रकन्रमहीरुहैः ॥ ३०७ ॥
मन्दगन्धवहोद्धूतनानाप्रसवपांशुभिः। कृतकाद्रिसरोवापीलतालालितमण्डपैः ॥ ३०८ ॥
मदनोद्दीपनैर्देशैरन्यैश्चातिमनोहरम्। दृष्ट्वा तत्र मनाक् स्थित्वा सभ्रमोदः सकौतुकः ॥ ३०९ ॥
तत्रैकस्मिन् समासन्नदेशे विद्याधरीजनैः। सामादिभिर्वशीकर्तुमिङ्गिताकारवेदिभिः ॥ ३१० ॥
परीतां शिंशिपाक्ष्माजमूले शोकाकुलीकृताम्। ध्यायन्तीं निभृतां मृत्वा शीर्त्वापि कुलरक्षणे ॥ ३११ ॥
सयत्नां शीलमालां वा समालोक्य धरात्मजाम्। इयं सा रावणानीता सीता ज्ञाताभियर्णितैः ॥ ३१२ ॥
अभिज्ञानैर्नृपेन्द्रेण मम पुण्योदयादिति। तद्दर्शनसमुत्पन्नरागो रावणपापिना ॥ ३१३ ॥
कल्पवल्लीव दावेन तापितेयं सतीत्यलम्। शोकाभितप्तचित्तोऽपि नीतिमार्गविशारदः ॥ ३१४ ॥

कमल पूजित हैं, जो सिंहासनके मध्यमें बैठा है, सिंहके समान पराक्रमी है, इन्द्रके समान है, डुरते हुए चमरोंसे जो ऐसा जान पड़ता है मानो गङ्गाकी विशाल तरङ्गोंसे सुशोभित नीलाचल ही हो और जिसने समस्त शत्रुओंको रुला दिया है ऐसे रावणको देखकर अणुमान्ने सोचा कि इस पापीके यह ऐसा ही विचित्र कर्मका उदय है जिससे प्रेरित हो इसने धर्मका उल्लंघनकर परस्त्रीकी इच्छा की ॥ ३००–३०२ ॥ नारदने जो कहा था कि इसका अकालमरण होनेवाला है सो ठीक ही कहा था। इस प्रकार विचार करते हुए अणुमान्ने रावणकी सभामें सीता नहीं देखी ॥ ३०३ ॥ धीरे-धीरे सूर्यकी प्रभा मन्द पड़ गई, दिन अस्त हो गया और सूर्य रावणके लिए यह सूचना देता हुआ ही मानो अस्ताचलकी ओर चला गया कि संसारमें जितने सहायक हैं वे सब प्रायः सम्पत्तिशालियोंकी ही सहायता करते हैं और संसारमें जितने प्राणी हैं उन सबका उदय और अस्त नियमसे होता है ॥ ३०४–३०५ ॥ इस प्रकार सब ओरसे चिन्तवन करता हुआ वह रामचन्द्रका दूत अणुमान् अन्तःपुरके पश्चिम गोपुरपर चढ़कर नन्दन नामका वन देखने लगा। वह नन्दन वन भ्रमरोंके शब्दसे सुशोभित था, उसमें समस्त ऋतुओंकी शोभा बिखर रही थी, साथ ही नन्दन-वनके समान जान पड़ता था, फल और फूलोंके बोझसे झुके हुए सुन्दर सुन्दर वृक्षों, मन्दमन्द वायुसे उड़ती हुई नाना प्रकारके फूलोंकी परागों, कृत्रिम पर्वतों, सरोवरों, बावलियों, तथा लताओंसे सुशोभित मण्डपों और कामको उद्दीपित करनेवाले अन्य अनेक स्थानोंसे अत्यन्त मनोहर था। उसे देख वह अणुमान् कुछ देर तक हर्ष और कौतुकके साथ वहां खड़ा रहा ॥ ३०६–३०९ ॥ वहीं किसी समीपवर्ती स्थानमें उसने सीताको देखा। उस सीताको साम आदि उपायोंके द्वारा वश करनेके लिए अभिप्रायानुकूल चेष्टाओंको जानने वाली अनेक विद्याधरियाँ घेरे हुई थीं। वह शिंशपा वृक्षके नीचे शोकसे व्याकुल हुई बैठी थी, चुप चाप ध्यान कर रही थी, मरकर अथवा जीर्ण शीर्ण होकर भी कुलकी रक्षा करनेमें प्रयत्नशील थी, तथा ऐसी जान पड़ती थी मानो शीलकी–पातिव्रत्य धर्मकी माला ही हो। ऐसी सीताको देख अणुमान्ने विचार किया कि यह वही सीता है जिसे रावण हरकर लाया है। उसने राजा रामचन्द्रजीके द्वारा बतलाये हुए चिह्नोंसे उसे पहिचान लिया और साथ ही यह विचार किया कि मेरे पुण्योदयसे ही मुझे आज इस सतीके दर्शन हुए हैं। दर्शन करनेसे उसे बड़ा अनुराग उत्पन्न हुआ। उसने समझा कि जिस प्रकार दावानलके द्वारा कल्पलता संतापित होती है उसी प्रकार पापी रावणके द्वारा यह सती सन्तापित की गई है। इस प्रकार उसका चित्त यद्यपि शोकसे सन्तप्त हो

---

१ धुधूयमान ब० (१)।

प्रारब्धकार्यसंसिद्धावुद्यतस्य विवेकिनः । प्राहुर्नीतिविदः कोपं व्यसनं कार्यविघ्नकृत् ॥ ३१५ ॥
तस्मादस्थानकोपेन कृतमित्याहितक्षमः । निजागमन[1]वार्तां तामबबोधयितुं सतीम् ॥ ३१६ ॥
मनागवसरावेक्षी स्थितस्तावन्निशाकरः । उदयक्ष्माभृदुद्भासिचूडामणिनिभो बभौ ॥ ३१७ ॥
दशाननोऽप्यतिक्रान्ते तत्रास्या दिनसप्तके । सीता कीदृगवस्थेति चिन्तयन् दीपिकावृतः ॥ ३१८ ॥
दीप्यत्कल्पद्रुमोपेतनीलाद्रिरिव जङ्गमः । निरीक्षितुं तदौत्सुक्यात् सोत्कण्ठेऽन्तःपुरान्वितः ॥ ३१९ ॥
मद्भर्तुः कुशलोदन्तं संश्रोष्यामि कदा न्विति । मत्वा तां स्तिमिताकारां चिरं वीक्ष्य सविस्मयः ॥३२०॥
न काचिच्चेदृशी स्त्रीषु [2] पतिभक्तेति चिन्तयन् । अपसृत्य स्थितः किञ्चिद् दूतीं मञ्जरिकाभिधाम् ॥३२१॥
प्राहिणोत्तदभिप्रायं परिज्ञातुं विवेकिनीम् । जानकीं विनयेनासौ प्रपद्य शृणु मद्वचः ॥ ३२२ ॥
भट्टारिके खगेन्द्रस्य खेचरेन्द्रप्रियात्मजाः । देव्यः पञ्चसहस्राणि त्वत्समाना मनोरमाः ॥ ३२३ ॥
तासां त्वं स्वामिनी भूत्वा महादेवीपदे स्थिता । त्रिखण्डाधिपतेर्भूया: सश्रीर्वक्षःस्थले चिरम् ॥ ॥३२४॥
विफलं मा कृथा विद्युच्चपलं तव यौवनम् । हस्तात्पुलस्तिपुत्रस्य रामस्त्वा नेष्यतीत्यदः ॥ ३२५ ॥
वितर्कणं कदम्बोरुवनं वा विद्धि निष्फलम् । क्षुधार्तानेकपारातिवक्त्रान्तर्वर्तिनं मृगम् ॥ ३२६ ॥
परित्याजयितुं ब्रूहि कः समर्थतमः पुमान् । इत्यभ्यधात्तदाकर्ण्य निश्चला वसुधासुता ॥ ३२७ ॥
वसुधेव स्थिता भेत्तुं के वा शक्ताः पतिव्रताम् । [3]तां दृष्ट्वा खेचराधीशः स्वयमागत्य कातरः ॥ ३२८ ॥
कुलं चेद्रक्षितुं तिष्ठेर्नैं विचारक्षमं हि तत् । लज्जा चेद्धीनसम्बन्धात्सा तस्याः प्रसवोऽत्र न ॥ ३२९ ॥

गया तथापि वह नीतिमार्गमें विशारद होनेसे सोचने लगा कि जो विवेकी मनुष्य अपने प्रारम्भ किये हुए कर्मको सिद्ध करनेमें उद्यत रहता है उसे क्रोध करना एक प्रकारका व्यसन है और कार्यमें विघ्न करनेवाला है ऐसा नीतिज्ञ मनुष्य कहते हैं। इसलिए असमयमें क्रोध करना व्यर्थ है ऐसा विचारकर उसने क्षमा धारण की और उस पतिव्रताको अपने आनेका समाचार बतलानेके लिए अवसरकी प्रतीक्षा करता हुआ वह वहीं कुछ समयके लिए खड़ा हो गया। उसी समय चन्द्रमाका उदय हो गया और वह उदयाचलके शिखर पर चूडामणिके समान सुशोभित होने लगा ॥ ३१०-३१७ ॥ उसी समय 'आज सीताको लाये हुए सात दिन बीत चुके हैं अतः देखना चाहिये कि उसकी क्या दशा है' ऐसा विचार करता हुआ रावण वहाँ आया। वह अनेक दीपिकाओंसे आवृत था—उसके चारों ओर अनेक दीपक जल रहे थे इसलिए वह ऐसा जान पड़ता था मानो देदीप्यमान कल्पवृक्षोंसे सहित चलता फिरता नीलगिरि ही हो। वह उत्कण्ठासे सहित था तथा अन्तःपुरकी स्त्रियोंसे युक्त था ॥ ३१८-३१९ ॥ 'मैं अपने पतिका कुशल समाचार कब सुनूँगी' ऐसा विचार करती हुई सीता चुपचाप स्थिर बैठी हुई थी। उसे रावण बड़ी देर तक आश्चर्यसे देखता रहा और स्त्रियोंके बीच ऐसी पतिव्रता स्त्री कोई दूसरी नहीं है ऐसा विचार कर वह कुछ पीछे हटकर दूर खड़ा रहा। वहींसे उसने सीताका अभिप्राय जाननेके लिए अपनी मञ्जरिका नामकी विवेकवती दूती उसके पास भेजी। वह दूती सीताके पास आकर विनयसे कहने लगी कि हे स्वामिनी, विद्याधरोंके राजा रावणकी पाँच हजार स्त्रियाँ हैं जो विद्याधर राजाओंकी पुत्रियाँ हैं और तुम्हारे ही समान मनोहर हैं। तुम उन सबकी स्वामिनी होकर महादेवीके पदपर स्थित होओ और तीन खण्डके स्वामी रावणके वक्षःस्थलपर चिरकाल तक लक्ष्मीके साथ साथ निवास करो ॥ ३२०-३२४ ॥ बिजलीके समान चञ्चल अपने इस यौवनको निष्फल न करो। 'रावणके हाथसे राम तुम्हें वापिस ले जावेगा' इस विचारको तुम कदम्बके विशाल वनके समान निष्फल समझो। भूखसे पीड़ित सिंहके मुखके भीतर वर्तमान मृगको छुड़ानेके लिए कौन मनुष्य समर्थ है ? इस प्रकार उस मञ्जरिका नामकी दूतीने कहा सही परन्तु सीता उसे सुनकर पृथिवीके समान ही निश्चल बैठी रही सो ठीक ही है क्योंकि पतिव्रता स्त्रीको भेदन करनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है ? उसे निश्चल देख रावण स्वयं डरते डरते पास आकर कहने लगा कि यदि तू कुलकी रक्षा करनेके लिए बैठी है तो यह बात विचार करनेके योग्य नहीं है। यदि लज्जा आती है तो वह नीच मनुष्योंके संसर्गसे

---

१ निजागमनवृत्तान्त-म०, ल० । २ पतिं भक्तेति ल० । ३ तद्दृष्ट्वा ल० ।

रामे चेत्प्रेम तद्विद्धि जन्मान्तरितसन्निभम् । चिरं परिचितं कस्माद्विस्मराम्यधुनैव तम् ॥ ३३० ॥
इति चेत्संसृतौ जन्तौ केन कस्य न संस्तवः । परिखावारिधिर्दुर्गंखिकूटाद्रिः खगेश्वराः ॥ ३३१ ॥
दुर्गपालाः पुरं लङ्का मेघनादादयो भटाः । नायकोऽहं कथं तस्य तव भर्तुः प्रवेशनम् ॥ ३३२ ॥
तस्मात्तदाशामुन्झित्वा मदाशां पूरय प्रिये । अवश्यं भाविकार्येऽस्मिन् किं कालहरणेन ते ॥ ३३३॥
हसन्त्याश्च रुदन्त्याश्च तव प्राधूर्णिकोऽस्म्यहम् । मत्कान्तकान्तासन्ताने कान्ते चूलामणिर्भव ॥ ३३४ ॥
न चेदसि विभाग्यत्वादद्यैव घटदासिका । अतिथिर्वा भव प्रेतनाथावासनिवासिनाम् ॥ ३३५॥
इति तां [1]मामिवापुण्यः स्वकर्तुं व्यर्थमब्रवीत् । तदाकर्ण्यापि भूभूता[2] समाहितमनास्तदा ॥ ३३६ ॥
ध्याति धर्म्येव नैर्मल्यमादधानाभवत्स्थिरा । खगेशवक्त्रनिर्यातवाग्जालज्वलनावली ॥ ३३७ ॥
सीताधैर्याम्बुधिं प्राप्य सद्यः शान्तिमगात्तदा । विक्रमेण यथा पुंसः सर्वसौभाग्यसम्पदा ॥ ३३८ ॥
स्त्रीसृष्टिमपि जेतारं मामेषा परिभावुका । किलेति क्रुध्यतः पत्युर्दीप्तक्रोधदवानलम् ॥ ३३९ ॥
सद्यः सीतालतां दग्धुं जृम्भमाणं मनोरणे । मन्दोदरी हितश्रव्यवचनामृतवारिभिः ॥ ३४० ॥
प्रशमय्य किमस्थाने जनवत्कोपवान् भवेः । विचिन्तय किमेषा ते दण्डयोग्याऽवभासते ॥ ३४१ ॥
मन्दारप्रसवारब्धमालाग्निक्षेपमर्हति । सतीनां परिभूत्याशु खगामिन्यादिका [3]ध्रुवम् ॥ ३४२ ॥
विद्याविनाशमायान्ति तस्या[4]विर्वा विपक्षकः[5] । पुरा स्वयम्प्रभाहेतोरधग्रीवःखगाधिपः ॥ ३४३ ॥
पद्मावतीनिमित्तेन प्रसिद्धो मधुसूदनः । सगरसुतः सुतरायां विधीरशनिघोषकः ॥ ३४४ ॥

होती है अतः यहाँ उसकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती ॥ ३२५–३२९ ॥ यदि राममें तेरा प्रेम है तो तू उसे अब मरे हुएके समान समझ। जो चिरकालसे परिचित है उसे इस समय एकदम कैसे भूल जाऊँ? यदि यह तेरा कहना है तो इस संसारमें किसका किसके साथ परिचय नहीं है? कदाचित् यह सोचती हो कि राम यहाँ आकर मुझे ले जावेंगे सो यह भी ठीक नहीं हैं क्योंकि समुद्र तो यहाँकी खाई है, त्रिकूटाचल किला है, विद्याधर लोकपाल हैं, लङ्का नगर है, मेघनाद आदि योद्धा हैं और मैं उनका स्वामी हूँ फिर तुम्हारे रामका यहाँ प्रवेश ही कैसे हो सकता है? ॥ ३३०–३३२ ॥ इसलिए हे प्रिये! रामकी आशा छोड़कर मेरी आशा पूर्ण करो। जो कार्य अवश्य ही पूर्ण होनेवाला है उसमें समय बितानेसे तुझे क्या लाभ है? ॥ ३३३ ॥ तू चाहे रो और चाहे हँस, मैं तो तेरा पाहुना हो चुका हूं। हे सुन्दरी! तू मेरी सुन्दर स्त्रियोंके समूहमें चूडामणिके समान हो ॥ ३३४ ॥ यदि तू अभाग्य वश मेरा कहना नहीं मानेगी तो तुझे आज ही मेरी घटदासी बनना पड़ेगा अथवा यमराजके घर रहनेवालोंका अतिथि होना पड़ेगा ॥ ३३५ ॥ इस तरह जिस प्रकार पुण्यहीन मनुष्य लक्ष्मीको वश करनेके लिए व्यर्थ ही बकवास करता है उसी प्रकार उस रावणने सीताको वश करनेके लिए व्यर्थ ही बकवास किया। उसे सुनकर सीता निश्चल चित्त हो धर्म्यध्यानके समान निर्मलता धारण करती हुई निश्चल बैठी रही। रावणके मुखसे निकले हुए वचन-समूहरूपी अग्निकी पंक्ति सीताके धैर्यरूपी समुद्रको पाकर शीघ्र ही उसी समय शान्त हो गई। उस समय रावण सोचने लगा कि 'मैं जिस प्रकार पराक्रमके द्वारा समस्त पुरुषोंको जीतता हूँ उसी प्रकार अपनी सौभाग्यरूपी सम्पदाके द्वारा समस्त स्त्रियोंको भी जीतता हूं—उन्हें अपने वश कर लेता हूं फिर भी यह सीता मेरा तिरस्कार कर रही है' ऐसा विचारकर रावण क्रोध करने लगा। सीतारूपी लताको शीघ्र ही जलानेके लिए रावणके मनरूपी युद्धस्थलमें जो प्रचण्ड क्रोधरूपी दावानल फैल रही थी उसे मन्दोदरीने हितकारी तथा सुननेके योग्य वचनरूपी अमृत जलसे शान्तकर कहा कि आप इसतरह साधारण पुरुषके समान अस्थानमें क्यों क्रोध करते हैं? जरा सोचो तो सही, यह स्त्री क्या आपके दण्ड देने योग्य मालूम होती है? अरे, मन्दारवृक्षके फूलोंसे बनी हुई माला क्या अग्निमें डाली जानेके योग्य है? आप यह याद रखिये कि सती स्त्रियोंका तिरस्कार करनेसे आकाशगामिनी आदि विद्याएँ निश्चित ही नष्ट हो जाती हैं और ऐसा होनेसे आप पक्षरहित पक्षीके समान हो जावेंगे। पहले

---

१ मामिव लक्ष्मीमिव । २ सीता । ३ खगामित्यादिका म० । ४ विः पक्षी । ५ विपक्षकः पक्षरहितः ।

पराभवं परिप्राप्तो मा भूस्त्वमपि तादृशः । मा मंस्था मां सपत्नीति मद्वचस्त्वं प्रमाणयन् ॥ ३४५ ॥
त्यज सीतागतं मोहमित्यसौ निजगाद तम् । तदुक्तेरुत्तरं वाक्यमभिधातुमशक्नुवन् ॥ ३४६ ॥
समं प्राणैरियं त्याज्येत्यगात्स कुपितः पुरम् । मन्दोदरी परित्यक्तनिजपुत्रीशुगाहिता ॥ ३४७ ॥
सीतां मिथः श्रिताभाविविदादेशभयात् क्षितौ । यां निक्षेपयति स्मेति मया कलहकारणात् ॥ ३४८ ॥
आगतामेव मत्पुत्रीं तां त्वां मे मन्यते मनः । पापेन विधिनाऽऽनीता भद्रे त्वं दुःखकारिणा ॥ ३४९ ॥
अलङ्घ्यं केनचिच्चात्र प्रायेण विधिचेष्टितम् । इह जन्मनि किं बन्धुः किं वा त्वं मेऽन्यजन्मनि ॥ ३५० ॥
न जाने त्वां विलोक्याद्य मम स्नेहः प्रवर्द्धते । यदि मज्जननीत्वं त्वं पद्मनेत्रेऽवबुध्यते ॥ ३५१ ॥
त्वां मे भावयितुं वष्टि सपत्नीं खचराधिपः । तेन बाले मृतिं वापि याहि मा गास्तदीप्सितम् ॥३५२ ॥
स्तनप्रसूतिमित्येवं [1]वदन्ती प्रापदुत्सुका । तस्याः पयोधरद्वन्द्वमभिषेक्तुमिवापतत् ॥ ३५३ ॥
जलं गद्गदकण्ठायाश्चक्षुर्भ्यां स्नेहसूचनम् । शोकानलपरिम्लानं वक्त्राब्जं चाभवत्तदा ॥ ३५४ ॥
तद्वीक्ष्य जानकी सर्वं प्राप्ता स्वामिव मातरम् । जायते स्मार्द्रहृदया वाष्पाविलविलोचना ॥ ३५५ ॥
तदभिप्रायमाज्ञाय दशाननवधूत्तमा । यदि स्वकार्यसंसिद्धिमभिकामयसे भृशम् ॥ ३५६ ॥
कृताञ्जलिरहं याचे गृहाणाहारमम्बिके । सर्वस्य साधनो देहस्तस्याहारः[2] सुसाधनम् ॥ ३५७ ॥
वदन्ति निपुणाः क्ष्माजे[3] प्रसवादि कुतोऽसति । स्थिते वपुषि रामस्य स्वामिनस्तव वीक्षणम् ॥३५८ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सविधिसागर जी महाराज
न चेत्तद्दर्शनं साध्यं वपुषैव महत्तपः । न चेन्मद्वचनं ग्राह्यं त्वयाहमपि भोजनम् ॥ ३५९ ॥

स्वयंप्रभाके लिए अश्वग्रीव विद्याधर, पद्मावतीके कारण राजा मधुसूदन और सुतारामें आसक्त हुआ निर्बुद्धि अशनिघोष पराभवको पा चुका है अतः आप भी उन जैसे मत होओ। ऐसा मत समझिये कि मैं सौतके भयसे ऐसा कह रही हूँ। आप मेरे वचनको प्रमाण मानते हुए सीता सम्बन्धी मोह छोड़ दीजिये। ऐसा मन्दोदरीने रावणसे कहा। रावण उसके वचनोंका उत्तर देनेमें समर्थ नहीं हो सका अतः यह कहता हुआ कुपित हो नगरमें वापिस चला गया कि अब तो यह प्राणोंके साथ ही छोड़ी जा सकेगी ॥ ३३६–३४७ ॥ इधर जो अपनी छोड़ी हुई पुत्रीके शोकसे युक्त है ऐसी मन्दोदरी सीतासे एकान्तमें कहने लगी कि जिस पुत्रीको मैंने निमित्तज्ञानीके आदेशके डरसे पृथिवीमें नीचे गड़वा दिया था वही कलह करनेके लिए मेरी पुत्री तू आ गई है ऐसा मेरा मन मानता है। हे भद्रे ! तू दुःख देने वाले पापी विधाताके द्वारा यहाँ लाई गई है। सो ठीक ही है क्यों कि इस लोकमें प्रायः विधाताकी चेष्टाका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। मालूम नहीं पड़ता कि तू मेरी इस जन्मकी सम्बन्धिनी है अथवा पर जन्मकी सम्बन्धिनी है। न जाने क्यों तुझे देखकर आज मेरा स्नेह बढ़ रहा है। हे कमललोचने ! बहुत कुछ सम्भव है कि मैं तेरी माँ हूँ और तू मेरी पुत्री है, यह तू भी समझ रही है। परन्तु यह विद्याधरोंका राजा तुझे मेरी सौत बनाना चाहता है इसलिए हे बच्चे ! चाहे मरणको भले ही प्राप्त हो जाना परन्तु इसके मनोरथको प्राप्त न होना, इसकी इच्छानुसार काम नहीं करना। इस प्रकार कहती हुई मन्दोदरी बहुत ही उत्सुक हो गई। उसके स्तनोंसे दूध झरने लगा और उसके स्तनयुगल सीताका अभिषेक करनेके लिए ही मानो नीचेकी ओर झुक गये ॥ ३४८–३५३ ॥ उसका कण्ठ गद्गद हो गया, दोनों नेत्रोंसे स्नेहको सूचित करनेवाला जल गिरने लगा और उस समय उसका मुखकमल शोकरूपी अग्निसे मलिन हो गया ॥ ३५४ ॥ यह सब देख सीताको ऐसा लगने लगा मानो मैं अपनी माताके पास ही आ गई हूँ, उसका हृदय आर्द्र हो गया और नेत्र आँसुओंसे भर गये ॥ ३५५ ॥ उसका अभिप्राय जानकर रावणकी पट्टरानी मन्दोदरी कहने लगी कि यदि तू अपना कार्य अच्छी तरह सिद्ध करना चाहती है तो हे माँ ! मैं हाथ जोड़कर याचना करती हूँ, तू आहार ग्रहण कर, क्योंकि सबका साधन शरीर है और शरीरका साधन आहार है ॥ ३५६–३५७ ॥ चतुर मनुष्य यही कहते हैं कि यदि वृक्ष नहीं होगा तो फूल आदि कहाँसे आवेंगे ? इसी प्रकार शरीरके रहते ही तुझे तेरे स्वामी रामचन्द्रका दर्शन हो सकेगा ॥ ३५८ ॥ यदि उनका दर्शन साध्य न हो तो इस शरीरसे महान् तप ही करना

---

१ वदती ल० । २ तयाहारः ल० । ३ वृक्षे ।

स्वजामीत्यवदत्सीताप्येतद् स्वाक्षयार्थं च । ततस्तयापि सादेव दुःखे दुःखिताऽजनि ॥ ३६० ॥
इति चित्ते विनम्यैतच्चरणौ स्निग्धमैक्षत । मञ्जूषास्थापनाकाले मत्सुताया इवेक्षितम् ॥ ३६१ ॥
एतन्मां मधुरं सत्याः सन्तापयति सर्वतः । इति प्रलयमापन्ना तदा रावणवल्लभा ॥ ३६२ ॥
आप्तैर्दुःखेन तद्दुःखाद् विनीता प्राविशत्पुरम् । शिंशिपास्थस्ततोऽभ्येत्य दूतः प्लवगविद्यया ॥ ३६३ ॥
पराक्रम्य कपेर्मूर्त्या स्वयं निद्रात्यभिद्रुतान् । विधाय रक्षकान् देव्याः पुरस्तात्समवस्थितः ॥ ३६४॥
प्रणम्य तां स्ववृत्तान्तं सर्वं संश्राव्य वानरः । रामस्वामिनिदेशेन लेखगर्भकरण्डकम् ॥ ३६५ ॥
मयाऽऽनीतमिदं देवीत्यग्रेऽस्याः स तदक्षिपत् । [1]तं दृष्ट्वा किमयं मायाविग्रहो रावणोऽधमः ॥ ३६६ ॥
शङ्कमानेति सा वीक्ष्य तत्र श्रीवत्सलाञ्छनम् । रत्नाङ्गुलीयकं चात्मपतिनामाक्षराङ्कितम् ॥ ३६७ ॥
ममेदमपि भात्येव मायेवास्य दुरात्मनः । को जानाति तथाप्येतत्पत्रं तस्यैव वा भवेत्[2] ॥ ३६८ ॥
मद्भाग्यादिति निर्भिद्य मुद्रां [3]पत्रमवाचयत् । [4]वाचनानन्तरं वीतशोकया स्निग्धवीक्षया ॥ ३६९ ॥
जीविताहं त्वया स्थानमधितिष्ठसि मे पितुः । इत्युक्तः सीतया कर्णौ पिधाय पवनात्मजः ॥ ३७०॥
मत्स्वामिनो महादेवी मातर्नेहान्यकल्पना । त्वां नेतुं मम सामर्थ्यमप्यैवास्ति पतिव्रते ॥ ३७१ ॥
नास्ति भट्टारकस्याज्ञा स्वयमेव महीपतिः । हत्वैत्य रावणं तस्य त्वां नेष्यति सह श्रिया ॥ ३७२ ॥
तत्साहसेन तत्कीर्तिर्व्याप्यास्ताम्[5] भुवनत्रयम् । ततः शरीरसन्धारणार्थमाहारमाहर ॥ ३७३ ॥

चाहिये । यह सब कहनेके बाद मन्दोदरीने यह भी कहा कि यदि मेरे वचन नहीं मानती है तो मैं भी भोजन छोड़े देती हूं। मन्दोदरीके वचन सुनकर सीताने विचार किया कि यद्यपि यह मेरी माता नहीं है तथापि माताके समान ही मेरे दुःखसे दुःखी हो रही है। ऐसा विचारकर वह मन ही मन मन्दोदरीके चरणोंको नमस्कारकर उनकी ओर बड़े स्नेहसे देखने लगी। उसे ऐसी देख मन्दोदरी सोचने लगी कि मंजूषामें रखते समय जिस प्रकार मेरी पुत्री मेरी ओर देख रही थी उसी प्रकार आज यह सीता मेरी ओर देख रही है। इस पतिव्रताका यह मधुर दर्शन मुझे सब ओरसे सन्तप्त कर रहा है। इस प्रकार शोकको प्राप्त हुई मन्दोदरीने सीताके दुःखसे विनम्र हो आप्तजनोंके साथ साथ नगरमें बड़े दुःखसे प्रवेश किया। तदनन्तर उसी शिंशपा वृक्षपर बैठे हुए दूत अणुमान्ने प्लवग नामक विद्याके द्वारा अपना बन्दर जैसा रूप बना लिया और वनकी रक्षा करनेवाले पुरुषोंको निद्रासे युक्तकर वह स्वयं सीतादेवीके आगे जा खड़ा हुआ ॥ ३५९–३६४ ॥ वानर रूपधारी अणुमान्ने सीताको नमस्कारकर उसे अपना सब वृत्तान्त सुना दिया और कहा कि मैं राजा रामचन्द्रजीके आदेशसे, जिसके भीतर पत्र रखा हुआ है ऐसा यह एक पिटारा ले आया हूं। इतना कह उसने वह पिटारा सीता देवीके आगे रख दिया। वानरको देखकर सीताको सन्देह हुआ कि क्या यह मायामयी शरीरको धारण करनेवाला नीच रावण ही है ? ॥ ३६५–३६६ ॥ इस प्रकार सीता संशय कर रही थी कि उसकी दृष्टि श्रीवत्सके चिह्नसे चिह्नित एवं अपने पतिके नामाक्षरोंसे अङ्कित रत्नमयी अंगूठीपर जा पड़ी। उसे देख वह फिर भी संशय करने लगी कि मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यह दुष्ट रावणकी ही माया है। क्या है ? यह कौन जाने, परन्तु यह पत्र तो उन्हींका है और मेरे भाग्यसे ही यहाँ आया है ऐसा सोचकर उसने पत्रपर लगी हुई मुहर तोड़कर पत्र बाँचा। पत्र बाचते ही उसका शोक नष्ट हो गया। वह स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखकर कहने लगी कि तूने मुझे जीवित रक्खा है अतः मेरे पिताके पदपर अधिष्ठित है—मेरे पिताके समान है। जब सीताने उक्त वचन कहे तब पवनपुत्र अणुमान्ने अपने कान ढककर उत्तर दिया कि हे माता ! आप मेरे स्वामीकी महादेवी हैं, इसपर अन्य कल्पना न कीजिये। हे पतिव्रते ! यद्यपि तुम्हें आज ही ले जानेकी मेरी शक्ति है तथापि स्वामीकी आज्ञा नहीं है। राजा रामचन्द्रजी स्वयं ही आकर रावणको मारेंगे और उसकी लक्ष्मीके साथ साथ तुम्हें ले जावेंगे। उस साहसपूर्ण कार्यसे उनकी कीर्ति तीनों लोकोंमें व्याप्त होकर रहेगी

---

१ तद्दृष्ट्वा म०, ल०। २- भवत् ल०, म०। ३ पत्रं स्ववाचयत् ल०। ४ वचनानन्तरं ल०। ५ व्याप्यताम् ल०।

भगवत्यत्र को दोषो राज्ञा ते सङ्गमोऽचिरात् । इत्याख्यत्सा ततस्त्यक्त्वा वैमनस्यं महीसुता ॥ ३७४ ॥
[1]कायस्थितिसमादानं चाभ्युपेत्य कृतत्वरम् । तत्कालोचितकार्योक्तिकुशला तं व्यसर्जयत् ॥ ३७५ ॥
प्रणम्य सोऽपि तत्पादपङ्कजं भास्करोदये । गत्वा ततो झटित्याप रामं स्वागमनोन्मुखम् ॥३७६॥
वदनाब्जप्रसादेन कार्यसिद्धिं न्यवेदयत् । प्रणम्य स्वामिना सम्यक् परिरम्योदितासनः ॥ ३७७ ॥
उपविष्टो मुदा तेन पृष्टो दृष्टेति मत्प्रिया । ससपद्ममुदीर्योच्चैर्वचस्तत्प्रीतिहेतुकम् ॥३७८ ॥
निसर्गाद्रावणो दुष्टश्चक्रं चान्यत्समुच्चयौ । लङ्कायां दुर्निमित्तानि चासन्[2] कृत्याश्च खेचराः ॥ ३७९ ॥
सन्ति तत्सेवकाः सर्वमेतदालोच्य मन्त्रिभिः । जानक्यानयनोपायो निश्चितव्यो यथा तथा ॥ ३८० ॥
इतीदमुचितं कार्यमवदत्पवनात्मजः । तदुक्तं चेतसा सम्यगवधार्योज्झिताशयः ॥ ३८१ ॥
[3]ततः सेनापतिं पट्टबन्धेनानिलनन्दनम् । कृत्वाधिराज्यपट्टं च सुग्रीवस्य महीपतिः ॥ ३८२ ॥
सह ताभ्यां समप्राक्षीन्मन्त्रिणं[4] कृत्यनिर्णयम् । तत्रैवमङ्गदोऽवोचद्देव त्रेधा महीभुजः ॥ ३८३ ॥
लोभधर्मासुराह्वादिविजयान्ताभिधानकाः । प्रथमे दानमन्यस्मिन् सामान्ये भेददण्डने[5] ॥ ३८४ ॥
नयज्ञैः कार्यसिद्ध्यर्थमित्युपायः प्रयुज्यते । अन्तिमो रावणस्तेषु नीचत्वात्क्रूरकर्मकृत् ॥ ३८५ ॥
भेददण्डौ प्रयोक्तव्यौ तत्रास्मिन्नीतिवेदिभिः । क्रमस्तथापि नोल्लङ्घ्यः साम तावत्प्रयुज्यताम् ॥ ३८६॥
कः सामविप्रयोक्तव्य इत्यस्मिन् सम्प्रधारणे । दक्षतादिगुणोपेता बहवः सन्ति भूचराः ॥ ३८७ ॥

अतः शरीर धारण करनेके लिए आहार ग्रहण करो ॥ ३६५-३७३ ॥ हे भगवति ! आहार ग्रहण करनेमें क्या दोष है ? राजा रामचन्द्रके साथ तुम्हारा समागम शीघ्र ही हो जावेगा । इस प्रकार जब अणुमान्ने कहा तब सीताने उदासीनता छोड़कर शीघ्र ही शरीरकी स्थितिके लिए आहार ग्रहण करना स्वीकृत कर लिया और उस समयके योग्य कार्योंके कहनेमें कुशल सीताने उस दूतको शीघ्र ही बिदा कर दिया ॥३७४-३७५॥ दूत-अणुमान् भी सीताके चरणकमलोंको नमस्कार कर सूर्योदयके समय चला और अपने आगमनकी प्रतीक्षा करनेवाले रामचन्द्रके समीप शीघ्र ही पहुँच गया ॥३७६॥ उसने पहुँचते ही पहले अपने मुखकमलकी प्रसन्नतासे रामचन्द्रजीको कार्यसिद्धिकी सूचना दी फिर उन्हें प्रणाम किया । स्वामी रामचन्द्रने उसे अच्छी तरह आलिङ्गन कर आसन पर बैठनेके लिए कहा । जब वह हर्ष पूर्वक आसन पर बैठ गया तब रामचन्द्रने उससे पूछा कि क्यों मेरी प्रिया देखी है ? उत्तरमें अणुमान्ने रामचन्द्रको प्रीति उत्पन्न करनेवाले उत्कृष्ट वचन विस्तारके साथ कहे । वह कहने लगा कि रावण स्वभावसे ही अहङ्कारी है फिर उसके चक्ररत्न भी प्रकट हो गया है । इसके सिवाय लङ्कामें बहुतसे अपशकुन हो रहे हैं और उसके विद्याधर सेवक बहुत ही कुशल हैं । इन सब बातोंका मन्त्रियोंके साथ अच्छी तरह विचार कर जिस तरह सम्भव हो उसी तरह सीताको लानेके उपायका शीघ्र ही निश्चय करना चाहिये । इस प्रकार यह योग्य कार्य अणुमान्ने सूचित किया । बलिष्ट अभिप्रायको धारण करनेवाले रामचन्द्रने अणुमान्के कहे वचनोंका हृदयमें अच्छी तरह विचार किया । उसी समय उन्होंने अणुमान्को सेनापतिका पट्ट बाँधा और सुग्रीवको युवराज बनाया ॥ ३७७-३८२ ॥ तदनन्तर उन्होंने उन दोनोंके साथ-साथ मन्त्रीसे करने योग्य कार्यका निर्णय पूछा । उत्तरमें अङ्गदने कहा कि हे स्वामिन् ! राजा तीन प्रकारके होते हैं—१ लोभ-विजय, २ धर्म-विजय और ३ असुर-विजय । नीतिके जाननेवाले विद्वान् अपना कार्य सिद्ध करनेके लिए, पहलेके लिए दान देना, दूसरेके साथ शान्तिका व्यवहार करना और तीसरेके लिए भेद तथा दण्डका प्रयोग करना यही ठीक उपाय बतलाते हैं । इन तीन प्रकारके राजाओंमें रावण अन्तिम-असुरविजय राजा है । वह नीच होनेसे क्रूर कार्य करनेवाला है इसलिए नीतिज्ञ मनुष्योंको उसके साथ भेद और दण्ड उपायका ही यद्यपि प्रयोग करना चाहिये तो भी क्रमका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए । सर्व प्रथम उसके साथ सामका ही प्रयोग करना चाहिए ॥ ३८३-३८६ ॥ यदि आप इसका निश्चय करना चाहते हैं कि ऐसा सामका जाननेवाला

---

१ 'जानकचार्चनं कृत्वा मन्दोदर्युपरोधतः' इति म पुस्तकेऽधिकः पाठः । २-वासन् ल० । ३ 'सेनापतिं पट्टबन्धेनाकृत्वानिलनन्दनम्' ल० । ४ मन्त्रिणं कर्मनिर्णयम् म० । मन्त्रिणः कर्मनिणयम् ल० । ५ भेददण्डसमन्व०।

किन्तु नाकाशगामित्वसामर्थ्यं तेषु विद्यते । तस्मात्सेनापतिः प्रेष्यस्त्वयायं नूतनः कृतः ॥ ३८८ ॥
दृष्टमार्गः पराधृष्यः सिद्धकार्यः श्रुतागमः । जात्यादिविद्यासम्पन्नः स्यादस्मात्कार्यनिर्णयः ॥ ३८९ ॥
इत्येतदुपदेशेन मनोवेगाभिधानकम् । विजयं कुमुदाख्यानं ख्यातं रविगतिं हितम् ॥ ३९० ॥
सहायीकृत्य सम्पूज्य कुमार भवतोऽपरः । कार्यवित्कार्यकृच्चास्ति नात्रेति श्लाघयन्नृपः ॥ ३९१ ॥
पवमानात्मजं वाच्यस्त्वयैवं स विभीषणः । अत्र त्वमेव धर्मज्ञः प्राज्ञः कार्यविपाकवित् ॥ ३९२ ॥
हितो लङ्केश्वरायास्मै सूर्यवंशाग्रिमाय च । सीताहरणमन्याय्यमाकल्पमयशस्करम् ॥ ३९३ ॥
अपथ्यमिति संश्राव्य रावणं रतिमोहितम् । मोचनीया त्वया सीता तथा सति भवत्कुलम् ॥ ३९४ ॥
त्वयैव रक्षितं पापादपायादपवादतः । इति सामोक्तिभिस्तस्मिन् स्वीकृते स्वीकृता द्विषः ॥ ३९५ ॥
[1]गोमिन्या सह सीतापि वेत्सि दूतोत्तमापरम् । त्वमेव कृत्यं निर्णीय द्विड्वृत्तं शीघ्रमेहि माम्[2] ॥३९६॥
इत्यमुञ्चत्सहायैस्तै स कुमारः प्रणम्य तम् । गत्वाप्य सहसा लङ्कां ज्ञातो वीक्ष्य विभीषणम् ॥ ३९७ ॥
रामभट्टारकेणाहं प्रेषितो भवदन्तिकम् । इति सप्रश्रयं सर्वं तदुक्तं तमजीगमत् ॥ ३९८ ॥
इदं च स्वयमाहासौ स्वामिसन्देशहारिणम् । प्रापय त्वं खगाधीश मां तस्मै हितकारिणम् ॥ ३९९॥
रामाभिप्रेतकार्यस्य त्वया सिद्धिस्तथासति । कार्यमेतत्तु [3]मद्द्वारा विधातुं भवतो भवेत् ॥ ४०८॥
त्वयोक्तोऽपि न चेत्सीतां विमुञ्चति स मन्दधीः । नापराधस्तवापुण्यः स्वयमेव विनंक्ष्यति ॥ ४०१ ॥

कौन है जिसे वहाँ भेजा जावे ? तो उसका उत्तर यह है कि यद्यपि दक्षता—चतुरता आदि गुणोंसे सहित अनेक भूमिगोचरी राजा हैं परन्तु उनमें आकाशमें चलनेकी सामर्थ्य नहीं है इसलिए आपने जो यह नया सेनापति बनाया है इसे ही भेजना चाहिए ॥ ३८७–३८८ ॥ इस अणुमान्ने मार्ग देखा है, इसे दूसरे दबा नहीं सकते, एक बार यह कार्य सिद्ध कर आया है, अनेक शास्त्रोंका जानकार है तथा जाति आदि विद्याओंसे सहित है, इसलिए इससे कार्यका निर्णय अवश्य ही हो जावेगा ॥३८९॥ अङ्गदके इस उपदेशसे रामचन्द्रने मनोवेग, विजय, कुमुद और हितकारी रविगतिको सहायक बनाकर अणुमान्का आदर-सत्कार कर उनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि हे कुमार! यहाँ आपके सिवाय कार्यको जाननेवाला तथा कार्यको करनेवाला दूसरा नहीं है। राजा रामचन्द्रने अणुमान्से यह भी कहा कि तुम सर्वप्रथम विभीषणसे कहना कि इस लङ्का द्वीपमें आपही धर्मके जानकार हैं, विद्वान हैं और कार्यके परिपाक-फलको जाननेवाले हैं। लङ्काके ईश्वर रावण और सूर्यवंशके प्रधान रामचन्द्र दोनोंका हित करनेवाले हैं, इसलिए आप रावणसे कहिए—जो तू सीताको हरकर लाया है सो तेरा यह कार्य अन्यायपूर्ण है, कल्पान्तकाल तक अपयश करनेवाला है, तथा अहितकारी है। इस प्रकार रतिसे मोहित रावणको सुनाकर आप सीताको छुड़ा दीजिये। ऐसा करने पर आप अपने कुलकी पापसे, विनाशसे तथा अपवादसे स्वयं ही रक्षा कर लेंगे। इस प्रकारकी सामोक्तियोंसे यदि विभीषण वशमें हो गया तो शत्रु अपने वशमें ही समझिये। हे दूतोत्तम ! इतना ही नहीं, लक्ष्मीके साथ-साथ सीता भी आई हुई ही समझिए। इसके सिवाय और जो कुछ करने योग्य कार्य हों उनका तथा शत्रुके समाचारोंका निर्णय कर शीघ्र ही मेरे पास वापिस आओ ॥ ३९०–३९६ ॥ इस प्रकार कहकर रामचन्द्रने अणुमान्को सहायकोंके साथ विदा किया। कुमार अणुमान् भी रामचन्द्रको नमस्कार कर गया और शीघ्र ही लङ्का पहुँच गया। वहाँ उसने सब समाचार जानकर विभीषणके दर्शन किये और विनयपूर्वक कहा कि 'मैं राजा रामचन्द्रके द्वारा आपके पास भेजा गया हूँ' ऐसा कहकर उसने, रामचन्द्रने जो कुछ कहा था वह सब बड़ी विनयके साथ विभीषणसे निवेदन कर दिया ॥३९७–३९८॥ साथ ही उसने अपनी ओरसे यह बात भी कही कि हे विद्याधरोंके ईश ! आप स्वामीका सन्देश लानेवाले तथा हित करनेवाले मुझको रावणके पास तक भेज दीजिये। आपसे रामचन्द्रके इष्ट-कार्यकी सिद्धि अवश्य हो जावेगी और ऐसा हो जानेपर यह कार्य मेरे द्वारा आपसे ही सिद्ध हुआ कहलावेगा ॥ ३९९–४०० ॥ आपके द्वारा ऐसा कहे जानेपर भी वह मूर्ख यदि सीताको नहीं छोड़ता

---

१ लक्ष्म्या 'लक्ष्मीर्गोमिनीन्दिरा' इति कोशः । २–मेहि तम् ल० । ३ गत्वाह ख० । मद्वाचा ग० ।

वर्द्धमानश्रियं दृष्ट्वा रामं तत्पुण्यचोदितम् । इतो द्वितयलोकैकहितं यायामधीश्वरम् ॥ ४०२ ॥
इति रक्तं स्वयं भूयो रणधीगोचरं बलम् । पञ्चाशत्कोटिसंयुक्तं लक्षाचतुरशीतिकम् ॥ ४०३ ॥
[1]सार्द्धत्रिकोटिसङ्ख्यातं खेचरानीकमप्यदः । बलेन तेन सम्प्राप्य स नृसिंहः सलक्ष्मणः ॥ ४०४ ॥
हर्तुमद्यैव सीतां वा[2] सीतां च खचरेशिनः । समर्थः किन्तु दाक्षिण्यं विभोर्नैसर्गिकं त्वयि ॥ ४०५ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज
ततोऽहं प्रेषितस्तेन त्वं च किं वेत्सि नेदृशम् । इति तद्वचनं श्रुत्वा कार्यविद्रावणानुजः ॥ ४०६ ॥
तदानीमेव तं नीत्वा दशाननमजिज्ञपत् । वचोहरोऽयं रामेण प्रहितो देवसन्निधिम् ॥ ४०७ ॥
इत्यसावपि योग्येन क्रमेणालोक्य रावणम् । तदादिष्टासने स्थित्वा प्राभृतार्पणपूर्वकम् ॥ ४०८ ॥
श्रव्यैर्हितमितालापैः शृणु देवेति बोधयन् । प्राज्ञो विज्ञापयामास प्रस्पष्टमधुरध्वनिः ॥ ४०९ ॥
अयोध्यामधुनाध्यास्य वर्द्धमानो निजौजसा । [3]आत्माभिगामिकप्रज्ञासाहसो गुणभूषणः ॥ ४१० ॥
राघवः कुशली देवं त्रिखण्डाखण्डनायकम् । कुशलोदन्तसम्प्रश्नपूर्वमित्थमभाषत ॥ ४११ ॥
सीतान्यस्येति नीता सावस्मदीयेत्यजानता । किं जातं नास्ति दोषो द्राक् प्रेषणीया मनीषिणा ॥४१२॥
न चेद्विनमिवंशैकभूषणस्य महात्मनः । नानारूपमिदं कर्म धर्म-शर्मविघातकृत् ॥ ४१३ ॥
[4]कुलपुत्रमहाम्भोधेर्न युक्तं मलधारणम् । सीताविमोचनोत्तुङ्गतरङ्गैः क्षिप्यतां बहिः ॥ ४१४ ॥
इति तत्प्रोक्तमाकर्ण्य प्रत्युवाच खगेश्वरः । सीतां नानवबुध्याहमानैषं किन्तु [5]भूभुजः ॥ ४१५ ॥

है तो इसमें आपका अपराध नहीं है वह पापी अपने आप ही नष्ट होगा ॥ ४०१ ॥ इस समय जिनकी लक्ष्मी बढ़ रही है ऐसे रामचन्द्रको देख उनके पुण्यसे प्रेरित हुई तथा 'हम लोगोंको दोनों लोकोंका एक कल्याण करनेवाले रामचन्द्रजीकी शरण जाना चाहिए, इस प्रकार अनुरागसे भरी रणकी भावनासे ओतप्रोत पचास करोड़ चौरासी लाख भूमिगोचरियोंकी सेना और साढ़े तीन करोड़ विद्याधरोंकी सेना स्वयं ही उनसे आ मिली है। वे रामचन्द्र इतनी सब सेना तथा लक्ष्मणको साथ लेकर स्वयं ही यहाँ आ पहुँचेंगे। यद्यपि वे सीताके समान विद्याधरोंके राजा रावणकी लक्ष्मीको भी आज ही हरनेमें समर्थ हैं किन्तु उनका आपमें स्वाभाविक प्रेम है इसीलिए उन्होंने मुझे भेजा है। क्या आप इस तरहके सब समाचार नहीं जानते ? इस प्रकार अणुमान्के वचन सुनकर कार्यको जाननेवाला विभीषण उसी समय उसे रावणके समीप ले जाकर निवेदन करने लगा कि हे देव रामचन्द्रने यह दूत आपके पास भेजा है ॥ ४०२–४०७ ॥ बुद्धिमान् तथा स्पष्ट और मधुर शब्द बोलनेवाले अणुमान्ने भी विनयपूर्वक रावणके दर्शन किये, योग्य भेंट समर्पित की। तदनन्तर रावणके द्वारा बतलाये हुए आसन पर बैठकर श्रवण करनेके योग्य हित मित शब्दों द्वारा उसने इस प्रकार कहना शुरू किया कि हे देव,सुनिये॥४०८–४०९॥ जो अपने तेजसे बढ़ रहे हैं, जिनकी बुद्धि तथा साहस सबको अपने अनुकूल बनानेवाला है, गुण ही जिनके आभूषण हैं तथा जो कुशल युक्त हैं ऐसे राजा रामचन्द्रने इस समय अयोध्यानगरमें ही विराजमान होकर तीन खण्डके एक स्वामी आपका पहले तो कुशल-प्रश्न पूछा है और फिर यह कहला भेजा है कि आप सीताको किसी दूसरेकी समझ कर ले आये हैं। परन्तु वह मेरी है, आप बिना जाने लाये हैं इसलिए कुछ बिगड़ा नहीं है। आप बुद्धिमान् हैं अतः उसे शीघ्र भेज दीजिए ॥ ४१०–४१२ ॥ यदि आप सीताको न भेजेंगे तो विनमि वंशके एक रत्न और महात्मा स्वरूप आपका यह विचित्र कार्य धर्म तथा सुखका विघात करनेवाला होगा ॥ ४१३ ॥ कुलीन पुत्ररूपी महासागरको यह कलङ्क धारण करना उचित नहीं है। अतः सीताको छोड़ने रूप बड़ी-बड़ी तरङ्गोंके द्वारा इसे बाहर फेंक देना चाहिए ॥ ४१४ ॥ अणुमान्के यह वचन सुनकर रावणने उत्तर दिया कि मैं सीताको बिना जाने नहीं लाया हूं किन्तु जानकर लाया हूं। मैं राजा हूं अतः सर्व रत्न मेरे ही हैं और विशेष कर स्त्रीरत्न तो मेरा ही है। तुम्हारे राजा

---

१ सार्धत्रितयसंख्या ल०। २ स्वां ख०, ग०, घ०। ३ आत्माभिगामकप्राज्ञोत्साहश्च गुणभूषणः ख०, ग०, घ०। आत्माभिगामिकप्रशासाहसगुणभूषणः ल०। ४ कुलपुत्रमिवाम्भोधे-ल०। ५ भूभुजाम् ख०, घ०, म०।

ममैव सर्वरत्नानि स्त्रीरत्नं तु विशेषतः । प्रेषयत्विति किं वक्तुं युक्तं मां ते महीपतेः[1] ॥४१६॥
जित्वा मां विग्रहेणाशु[2] गृह्णीयात्केन वार्यते । इति तन्नाशसंसूचिवचनं दैवचोदितम् ॥ ४१७ ॥
श्रुत्वा रामोदयापादिनिमित्तं शुभसूचकम् । इदमेवात्र नोऽभीष्टमिति चित्तेऽनिलात्मजः ॥ ४१८ ॥
व्याजहार दुरात्मानं दुश्चरित्रं दशाननम् । अन्यायस्य निषेद्धा त्वं निषेध्यश्चेन्निषेद्धरि ॥ ४१९ ॥
वाडवाग्निरिवाम्भोधौ केन वा स निषिध्यते । अभेद्यं[3] मेऽहं ख्यातः राघवः सिंहविक्रमः ॥ ४२० ॥
[4]अकीर्तिर्निष्फलाऽऽचन्द्रमिति स्मर्तुं तवोचितम् । मया बन्धुत्वसम्बन्धात्त्व पथ्यमुदाहृतम् ॥४२१॥
प्रभो गृहाण चेत्तुभ्यं रोचते चेन्न मा गृहीः । इति दूतवचः श्रुत्वा पौलस्त्यः पुनरब्रवीत् ॥ ४२२ ॥
रत्नं ममानिवेद्येदं जनकेन समर्पितम् । दर्पाद्दाशरथौ तस्मादाहृतेयं मया रुषा ॥ ४२३॥
मद्योग्यवस्तुस्वीकारादकीर्तेश्चेद्भवेन्मम । चक्ररत्नं च मद्धस्तादाददातु[5] स राघवः ॥ ४२४ ॥
इत्यन्वतोऽज्ञनासूनुरवोचद्दशकन्धरम् । वचः प्रसन्नगम्भीरं तद्दुक्त्यनुसारि[6] यत् ॥४२५॥

रामचन्द्रने जो कहला भेजा है कि सीताको भेज दो सो क्या ऐसा कहना उसे योग्य है ॥ ४१५-४१६ ॥ [वह अभिमानियोंमें बड़ा अभिमानी मालूम होता है। वह मेरी श्रेष्ठताको नहीं जानता है। 'मेरे चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है' यह समाचार क्या उसके कानोंके समीप तक नहीं पहुँचा है? भूमिगोचरियों तथा विद्याधर राजाओंके मुकुटों पर मेरे चरण-युगल, स्थल-कमल—गुलाबके समान सुशोभित होते हैं यह बात आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है—बड़ेसे लेकर छोटे तक सब जानते हैं। सीता मेरी है यह बात तो बहुत चौड़ी है किन्तु समस्त विजयार्ध पर्वत तक मेरा है। मेरे सिवाय सीता किसी अन्यकी नहीं हो सकती। तुम्हारा राजा जो इसे ग्रहण करना चाहता है वह पराक्रमी नहीं है—शूर-वीर नहीं है। इस सीताको अथवा अन्य किसी स्त्रीको ग्रहण करनेकी उसमें शक्ति है तो वह यहाँ आवे और युद्धके द्वारा मुझे जीत कर शीघ्र ही सीताको ले जावे। कौन मना करता है?'] इस प्रकार भाग्यकी प्रेरणासे रावणके नाशको सूचित करनेवाले वचन सुनकर अणुमानने मनमें विचार किया कि इस समय रामचन्द्रके अभ्युदयको प्रकट करनेवाले शुभ सूचक निमित्त हो रहे हैं और इस विषयमें मुझे भी यही इष्ट है—मैं चाहता हूँ कि रामचन्द्र यहाँ आकर युद्धमें रावणको परास्त करें और अपना अभ्युदय बढ़ावें ॥ ४१७-४१८ ॥ तदनन्तर वह अणुमान् रामचन्द्रकी ओरसे दुष्ट और दुराचारी रावणसे फिर कहने लगा कि 'आप अन्यायको रोकनेवाले हैं, यदि रोकनेवालेको ही रोकना पड़े तो समुद्रमें बड़वानलके समान उसे कौन रोक सकता है? यह सीता अभेद्य है-इसे कोई विचलित नहीं कर सकता और मैं सिंहके समान पराक्रमी प्रसिद्ध रामचन्द्र हूँ ॥ ४१९-४२० ॥ इस अकार्यके करनेसे जब तक चन्द्रमा रहेगा तबतक आपकी निष्प्रयोजन अकीर्ति बनी रहेगी इस बातका भी आपको विचार करना उचित है। मैंने भाईपनेके सम्बन्धसे आपके लिए हितकारी वचन कहे हैं। हे स्वामिन्! यदि आपको रुचिकर हों तो ग्रहण कीजिए अन्यथा मत कीजिये।' इस प्रकार दूत-अणुमान्के वचन सुनकर रावण फिर कहने लगा ॥ ४२१-४२२ ॥ कि 'चूँकि राजा जनकने अहंकार वश मुझे सूचना दिये विना ही यह सीता रूपी रत्न रामचन्द्रके लिए दिया था इसलिए क्रोधसे मैं इसे ले आया हूं ॥ ४२३ ॥ मेरे योग्य वस्तु स्वीकार करनेसे यदि मेरी अकीर्ति होती है तो हो। वह रामचन्द्र तो मेरे हाथसे चक्ररत्न भी ग्रहण करना चाहता है' इस प्रकार रावणने कहा। तदनन्तर अणुमान् रावणके कहे अनुसार उससे प्रसन्न तथा गम्भीर वचन कहने लगा कि सीता मैंने हरी है यह आप क्यों कहते हैं? यह सब जानते

---

१ [दर्पिष्ठानामसौ प्रष्ठो ज्येष्ठतां मे न बुध्यते । चक्रोत्पत्तिर्न किं तस्य श्रवणोपान्तवर्तिनी । भूगोचरभूपालमौलिमालास्थलाम्बुजम् । मत्क्रमद्वन्द्वमित्येतदागोपालप्रसिद्धिमत् ॥ सीता ममेयमित्यल्पमेतदाखचराचलात् । सीता नान्यस्य तां नासौ जिघृक्षुरिव विक्रमी ॥ इमां च तां च यद्यस्ति शक्तिरत्रैत्य राघवः ।] इत्ययं कोष्ठकान्तर्गतः पाठः क० ख० ग० घ० पुस्तकेषु मूलनिबद्धो वर्तते किन्तु 'ल०' पुस्तके नास्ति । २ विग्रहेणामा क०, ख०, ग०, घ०, म० । ३ अभेद्योऽय-क०, ख०, ग०, घ० । ४ निर्मिता म० । ५-दादातु ल० । ६ तदुक्त्यनु-ल० ।

सीता मयाऽहृतेत्येतत्किं वक्षि विदितं नृणैः। क्वेदं क्वेयं स्थिता क्वेति तुल्यो वज्रसमक्षणे ॥४२५॥
किमेतेन भवच्छौर्यं वदात्र प्रकटीभवेत् । किं वृथोक्त्या प्रियेणैव राज्ञी मंक्षु [1]त्वयार्प्यताम् ॥ ४२७ ॥
इति तद्गूढहासोक्तिवह्नि[2]सन्तापिताशयः । पुष्पकाधिपतिर्दृष्टि[3]विषाहीन्द्रफणामणिम् ॥ ४२८ ॥
आदातुमिच्छतो गन्तुं गतिं रामोऽभिवाञ्छति । दूतस्त्वं [4]तन्न वध्योऽसि याहि याहीत्यतर्जयत् ॥४२९ ॥
निर्जित्य सिन्धुरारातिं गर्जितेनोर्जिता क्रुधा । ततः कुम्भनिकुम्भोऽग्रकुम्भकर्णादिभिर्भटैः ॥ ४३० ॥
इन्द्रजित्सेन्द्रचर्मातिकन्यार्कखरदूषणैः । खरेण दुर्मुखाख्येन महामुखखगेशिना ॥ ४३१ ॥
क्रुद्धैः कुमारैरन्यैश्च तर्ज्यमानोऽनिलात्मजः । गर्जितेन वृथानेन वनिताजनसम्मुखम् ॥ ४३२॥
किं कृत्यमत्र संग्रामे मदीयं शृणुतोत्तरम् । इत्यवादीत्तदा नेदमुचितं दुरुदीरितम् ॥ ४३३ ॥
इति तान् वारयन् क्रुद्धान् नयवेदी विभीषणः । याहि भद्रानिवार्योऽयमकार्यखरदूषणैः ॥ ४३४ ॥
शुभाशुभविपाकानां भाविनां को निवारकः । इत्युवाचाणुमांश्चैत्य जानकीं वर्जिताशनाम् ॥ ४३५ ॥
मन्दोदर्युपरुध्यास्या द्राग्दृष्ट्वा पारणाविधिम् । ततो वाराशिमुल्लङ्घ्य रामाभ्यर्णमुपागतः ॥ ४३६ ॥
नत्वा किं बहुनोक्तेन सीता तेन न मोक्ष्यते । अतस्तदनुरूपं वा कार्यं मा भूत शीतकाः ॥ ४३७ ॥
शंसन्ति निश्चिते कृत्ये कृतज्ञाः क्षिप्रकारिताम् । इत्याहादाय तत्प्रोक्तमिक्ष्वाकुकुलकेसरी ॥ ४३८ ॥
चतुरङ्गबलेनामा चित्रकूटवनान्तरे । कालमेव बलं मत्वाऽनैषीद्वर्तुमित्वरः ॥ ४३९ ॥

है कि जिस समय आपने सीता हरी थी उस समय वह किसके हाथमें थी—किसके पास थी ? आप सीताको हर कर नहीं लाये हैं किन्तु चुरा कर लाये हैं । अतः यह कहिये कि इस कार्यसे क्या आपकी शूर-वीरता प्रकट होती है ? अथवा इन व्यर्थकी बातोंसे क्या लाभ है । आप मीठे वचनोंसे ही रानी सीताको शीघ्र वापिस कर दीजिये ॥ ४२४–४२७ ॥ इस प्रकार अणुमान्से उत्पन्न हुए तिरस्कार सूचक रूपी अग्निसे जिसका हृदय संतप्त हो रहा है ऐसा पुष्पक विमानका स्वामी रावण कहने लगा कि 'रामचन्द्र, दृष्टिविष सर्पके फणामणिको ग्रहण करनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषकी गतिको प्राप्त करना चाहता है—मरना चाहता है । तू दूत होनेके कारण मारने योग्य नहीं है अतः यहाँसे चला जा, चला जा, इस प्रकार रावणने सिंहको जीतनेवाली अपनी गर्जनासे अणुमान्को ललकारा । तदनन्तर कुम्भ, निकुम्भ एवं क्रूर प्रकृतिवाले कुम्भकर्ण आदि योद्धाओंने इन्द्रजित्, इन्द्रचर्म, अतिकन्यार्क, खरदूषण, खर, दुर्मुख, महामुख आदि विद्याधरोंने और क्रुद्ध हुए अन्य कुमारोंने अणुमान् को बहुत ही ललकारा । तब अणुमान्ने कहा कि स्त्रीजनोंके सामने इस व्यर्थकी गर्जनासे क्या लाभ है ? इससे कौनसा कार्य सिद्ध होता है ? आप लोग मेरा उत्तर संग्राममें ही सुनिये । यह सुन नयोंके जाननेवाले विभीषणने उन क्रुद्ध विद्याधरोंको रोकते हुए कहा कि यह दुर्वचन कहना ठीक नहीं है । विभीषणने अणुमान्से भी कहा कि हे भद्र ! तुम अपने घर जाओ । अकार्य करनेके कारण जिसे आर्य मनुष्योंने छोड़ दिया है ऐसे इस रावणको कोई नहीं रोक सकता—यह किसीकी बात माननेवाला नहीं है । ठीक ही है आगे आने वाले शुभ-अशुभ कर्मके उदयको भला कौन रोक सकता है ? इस प्रकार विभीषणने कहा तब अणुमान्, जिसने आहार पानी छोड़ रक्खा था ऐसी सीताके पास गया ॥ ४२८–४३५ ॥ मन्दोदरीके उपरोधसे सीताने कुछ थोड़ा-सा खाया था उसे देख अणुमान् शीघ्र ही समुद्रको पार कर रामचन्द्रके समीप आ गया ॥ ४३६ ॥ और नमस्कार कर कहने लगा कि बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? सबका सारांश यह है कि रावण सीताको नहीं छोड़ेगा इसलिए इसके अनुरूप कार्य करना चाहिए, विलम्ब मत कीजिए, क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य निश्चित किये हुए कार्यमें शीघ्रता करनेकी प्रशंसा करते हैं—जो कार्य निश्चित किया जा चुका है उसे शीघ्र ही कर डालना चाहिए । अणुमान्की बात सुनकर इक्ष्वाकु वंशके सिंह रामचन्द्र अपनी चतुरङ्ग सेनाके साथ चित्रकूट नामक वनमें जा पहुँचे । वे यद्यपि शीघ्र ही लंकाकी ओर प्रयाण करना चाहते थे तथापि समयको

---

१ तवार्पिताम् क०, घ० । त्वयार्पिता ख० । २ संतर्पिताशयः ख० । ३ दृष्ट ग० । ४ यन्न ख०, ध०, म० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तत्रत्यं बालिनो दूतः समीक्ष्य रघुनन्दनम् । प्रणम्योपायनं दत्वेत्यब्रवीदविमोहितम् ॥ ४४० ॥
विज्ञापयति मत्स्वामी बालीति बलवानलम् । पूज्यपादो यदि प्रेष्यं मामिच्छति महीपतिः ॥ ४४१ ॥
[1]न प्रतीच्छतु भृत्यत्वं सुग्रीवानिलपुत्रयोः । यावत् किञ्चित्करावार्यौ वेत्ति वैतत्पराक्रमम् ॥ ४४२ ॥
तिष्ठत्वत्रैव देवोऽहं गत्वा लङ्कां दशाननम् । मानभङ्गे नियोज्यार्यामानयेऽद्यैव जानकीम् ॥ ४४३ ॥
इत्याकर्णिततद्वाक्यः [2]प्रप्राक्षील्लक्ष्मणाग्रजः । सामभेदविदो वाच्यं किष्किन्धेशः किमुत्तरम् ॥ ४४४ ॥
इति मन्त्रिगणं सर्वसम्मतः संस्तुतोऽङ्गदः । शत्रुर्मित्रमुदासीन इति भूपास्त्रयो मताः ॥ ४४५ ॥
रावणस्तेषु नः शत्रुर्बाली मित्रस्य विद्विषः । [3]न कुर्मो यदि तत्कार्यं सम्बध्नीयात्स शत्रुणा ॥ ४४६ ॥
तथा चोपचयः शत्रोर्दुरुच्छेदो हि तेन सः । अथ बालिवचः कुर्मः कर्म तत्स्वार्यं दुष्करम् ॥ ४४७ ॥
ततो हटात्तवायातं किष्किन्धेशविनाशनम् । प्राक् पश्चाच्छक्तिसम्पत्त्या सुखोच्छेद्यो दशाननः ॥ ४४८ ॥
इत्यब्रवीत्तदादाय दूतमाहूय भूपतिः । महामेघाभिधानं मे प्रदायानेकपाग्रिमम् ॥ ४४९ ॥
सहाभ्येतु मया लङ्का चर्च्यं पश्चात्तदीप्सितम् । इत्युक्त्वामामुनात्मीयमपि दूतं व्यसर्जयत् ॥ ४५० ॥
गत्वा तौ रामसन्देशात्सुग्रीवस्याग्रजन्मनः । कोपमानयतः स्मासावित्यवोचन्मदोद्धतः ॥ ४५१ ॥
एवं [4]प्रार्थयमानो मां रामो रामापहारिणम् । निर्मूल्यानीय सीतां किं यशो दिक्षु विकीर्णवान् ॥४५२॥

बलवान् मानकर उन्होंने वर्षाऋतु वहीं बिताई ॥ ४३७–४३९ ॥ जब रामचन्द्र चित्रकूट वनमें निवास कर रहे थे तब राजा बालिका दूत उनके पास आया और प्रणाम करनेके अनन्तर भेंट समर्पित करता हुआ बड़ी सावधानीसे यह कहने लगा ॥ ४४० ॥ कि हे देव! मेरे स्वामी राजा बाली बहुत ही बलवान् हैं। वे आपसे इस प्रकार निवेदन कर रहे हैं—कि यदि पूज्यपाद महाराज रामचन्द्र मुझे दूत बनाना चाहते हैं तो सुग्रीव और अणुमान्को दूत न बनावें क्योंकि वे दोनों बहुत थोड़ा कार्य करते हैं। यदि आप मेरा पराक्रम देखना चाहते हैं तो आप यहीं ठहरिये, मैं अकेला ही लङ्का जाकर और रावणका मानभङ्ग कर आर्या जानकीको आज ही लिये आता हूँ ॥ ४४१–४४३ ॥ इस प्रकार बालिके दूतके वचन सुनकर रामचन्द्रने साम और भेदको जानने वाले मन्त्रियोंसे पूछा कि किष्किन्धा नगरके राजा बालीको क्या उत्तर दिया जावे ॥ ४४४ ॥ इस प्रकार मन्त्रि-समूहसे पूछा। तब सर्वप्रिय एवं सर्व प्रशंसित अङ्गदने कहा कि शत्रु, मित्र और उदासीनके भेदसे राजा तीन प्रकारके होते हैं। इन तीन प्रकारके राजाओंमें रावण हमारा शत्रु है, और बालि मित्रका शत्रु है। यदि हम लोग उसके कहे अनुसार कार्य नहीं करेंगे तो वह शत्रुके साथ सन्धि कर लेगा—उसके साथ मिल जावेगा ॥ ४४५–४४६ ॥ और ऐसा होनेसे शत्रुकी शक्ति बढ़ जायगी जिससे उसका उच्छेद करना दुःख-साध्य हो जायगा। यदि बालिकी बात मानते हैं तो यह कार्य आपके लिए कठिन है ॥ ४४७ ॥ इसलिए सबसे पहले किष्किन्धा नगरीके स्वामीके नाश करनेका काम जबर्दस्ती आपके लिए आ पड़ा है इसके बाद शक्ति और सम्पत्ति बढ़ जानेसे रावणका नाश सुखपूर्वक किया जा सकेगा ॥ ४४८ ॥ इस प्रकार अंगदके वचन स्वीकृत कर रामचद्रने बालिके दूतको बुलाया और कहा कि आपके यहाँ जो महामेघ नामका श्रेष्ठ हाथी है वह मेरे लिए समर्पित करो तथा मेरे साथ लङ्काके लिए चलो, पीछे आपके इष्ट कार्यकी चर्चा की जायगी। ऐसा कह कर उन्होंने बालिके दूतको विदा किया और उसके साथ ही अपना दूत भी भेज दिया ॥ ४४९–४५० ॥ वे दोनों ही दूत जाकर सुग्रीवके बड़े भाई बालिके पास पहुँचे और उन्होंने रामचन्द्रका संदेश सुनाकर उसे बहुत ही कुपित कर दिया। तब मदसे उद्धत हुआ बालि कहने लगा कि इस तरह मुझपर आक्रमण करनेवाले रामचन्द्र क्या स्त्रीको अपहरण करनेवाले रावणको नष्ट कर तथा सीताको वापिस लाकर दिशाओंमें अपना यश

---

१ मा ल०, म०। २ सोऽप्राक्षीत् ल०। ३ कुर्मो यदि ल०। ४ अभियाति, 'याच्ञायामभिधाने च प्रार्थना कथ्यते बुधैः ॥ इति केशवः। यद्वा अवरुणद्धि, इत्यर्थः। प्रा अर्थयते। 'प्रा स्याद्याच्ञावरोधयोः' इत्यभिधानात्। प्रा अवरोधेन, प्रा इति तृतीयान्तम्, आकारान्तस्य प्राशब्दस्य योगविभागात् 'आतो धातोः' इत्यालोपः।

दशास्ये साम सामोक्त्या समीप्सौ सामवायिके । परुषोक्तिर्मयीत्यस्य धीशौर्ये पश्य कीदृशे ॥ ४५३ ॥
इमां तद्गर्वदुर्भाषां श्रुत्वा राघवसेविना । चौर्येण परदाराणां नेतुरुन्मार्गगामिनः ॥ ४५४ ॥
दोषद्वयानुरूपं त्वं दण्डं द्रक्ष्यसि चाचिरात् । किं तेन तव चेत्पथ्यमिच्छेरुच्छिद्य दुर्मदम् ॥ ४५५ ॥
दत्वा गजं कुरूपासं स्वामिनो बुद्धिमेष्यति । अवश्यमचिरेणेति दूतेनोद्दीपितः क्रुधा ॥ ४५६ ॥
बाली कालानुकारी तं प्रत्याह परुषं वचः । वारणाशां त्यजत्वस्ति चेदाशा नास्ति वा रणम् ॥ ४५७ ॥
यातु मत्पादसेवां स मयामा यातु वारणम् । तदा तस्याशुभां वाणीं तद्विनाशविधायिनीम् ॥ ४५८ ॥
श्रुत्वा दूतोऽभ्युपेत्यैष बालिनोऽरक्षम । प्रतिकूलतया बाली वः कृत्रिमः शत्रुरुत्थितः ॥४५९॥
पारिपन्थिकवन्मार्गो दुर्गस्तस्मिन् विरोधिनि । इत्यब्रवीत्ततो रामः सुग्रीवप्रमुखं बलम् ॥ ४६० ॥
लक्ष्मणं नायकं कृत्वा प्राहिणोत्खादिरं[1] वनम् । गत्वा वैद्याधरं सैन्यं बालिनोऽभ्यागतं बलम् ॥ ४६१॥
जघानेव वनं वज्रं प्रज्वलच्छस्त्रसन्तति । स्वयं सर्वबलेनामा योद्धुं बाली तदागमत् ॥ ४६२ ॥
पुनस्तयोरभूद् युद्धं बलयोः काललीलयोः । प्रलये वान्तकस्तत्र प्रायस्तृप्तिमुपेयिवान् ॥ ४६३ ॥
आकर्णाकृष्टनिर्मुक्तनिशातसितपत्रिणा । लक्ष्मणेन शिरोऽग्राहि तालं वा बालिनः फलम् ॥ ४६४ ॥
तदा स्वस्थानमापन्नौ सुग्रीवानिलनन्दनौ । सद्यः फलति संसेवा प्रायेण प्रभुमाश्रिता ॥ ४६५॥
ततः सर्वेऽगमन् रामस्वामिनं सोऽप्यनीयत । स्वस्थानं सबलो भक्त्या सुग्रीवेण सहानुजः ॥ ४६६ ॥

फैला लेंगे ? ॥ ४५१-४५२ ॥ स्त्रीका अपहरण करनेवाले रावणके लिए तो इन्होंने शान्तिके वचन कहला भेजे हैं और जो मिलकर इनके साथ रहना चाहता है ऐसे मेरे लिए ये कठोर शब्द कहला रहे हैं। इनकी बुद्धि और शूर-वीरता तो देखो कैसी है ? ॥ ४५३ ॥ गर्वसे भरी हुई बालिकी इस नीच भाषाको सुनकर रामचन्द्रके दूतने कहा कि रावण चोरीसे परस्त्री हर कर ले गया है सो उस उन्मार्गगामीको दोनों अपराधोंके अनुरूप जो दण्ड दिया जावेगा उसे आप शीघ्र ही देखेंगे। अथवा इससे आपको क्या प्रयोजन ? यदि आपको महामेघ हाथी देना इष्ट है तो इस दुष्ट अहंकारको छोड़कर वह हाथी दे दो और स्वामीकी सेवा करो। ऐसा करनेसे आप अवश्य ही शीघ्र वृद्धिको प्राप्त होंगे। इस प्रकार कह कर दूतने बालिको क्रोधसे प्रज्वलित कर दिया ॥ ४५४-४५६ ॥ तब यमराजका अनुकरण करनेवाला बालि उत्तरमें निम्न प्रकार कठोर वचन कहने लगा। उसने कहा कि 'यदि रामचन्द्रको जीनेकी आशा है तो हाथीकी आशा छोड़ दें, यदि जीनेकी आशा नहीं है तो युद्धमें मेरे सामने आवें और उन्हें हाथी पर बैठनेकी ही इच्छा है तो मेरे चरणोंकी सेवाको प्राप्त हों फिर मेरे साथ इस हाथी पर बैठ कर गमन करें।' इस प्रकार बालिका विनाश करनेवाली उसकी अशुभ वाणी को सुनकर वह दूत उसी समय बालिको नष्ट करनेवाले बलवान् रामचन्द्रके पास वापिस आ गया और कहने लगा कि बालि प्रतिकूलतासे आपका कृत्रिम शत्रु प्रकट हुआ है ॥ ४५७-४५९ ॥ उस विरोधीके रहते हुए आपका मार्ग चोरोंके मार्गके समान दुर्गम है अर्थात् जब तक आप उसे नष्ट नहीं कर देते हैं तब तक आपका लङ्काका मार्ग सुगम नहीं है। इस प्रकार जब दूत कह चुका तब रामचन्द्रने लक्ष्मणको नायक बनाकर सुग्रीव आदिकी सेना खदिर-वनमें भेजी। जिसमें शस्त्रोंके समूह देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसी विद्याधरोंकी सेनाने सामने आई हुई बालिकी सेनाको उस तरह काट डाला जिस तरह कि वज्र वनको काट डालता है—नष्ट कर देता है। जब सेना नष्ट हो चुकी तब बालि अपनी सम्पूर्ण शक्ति अथवा समस्त सेनाके साथ स्वयं युद्ध करनेके लिए आया ॥ ४६०-४६२ ॥ कालके समान लीला करनेवाली दोनों सेनाओंमें फिरसे भयंकर युद्ध होने लगा और काल उस युद्धमें प्रलयके समान प्रायः तृप्त हो गया ॥ ४६३ ॥ अन्तमें लक्ष्मणने कान तक खींच कर छोड़े हुए तीक्ष्ण सफेद बाणसे ताल वृक्षके फलके समान बालिका शिर काट डाला ॥ ४६४ ॥ उसी समय सुग्रीव और अणुमान्को अपना स्थान मिल गया सो ठीक ही है क्योंकि अच्छी तरह की हुई प्रभुकी सेवा प्रायः शीघ्र ही फल देती है ॥ ४६५ ॥ तदनन्तर सब लोग राजा रामचन्द्रके पास गये। सुग्रीव,

---

१ खदिरं ल०।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विभोर्मनाहेरोद्याने किष्किन्धे शरदागमे । बलं चतुर्दशाक्षौहिणीप्रमं भूभृतामभूत् ॥ ४६७ ॥
लक्ष्मणश्च जगत्पादगिरौ निरशनस्तदा । सप्ताहं शिवघोषाख्यमोक्षस्थाने कृतार्चनः ॥ ४६८ ॥
प्रज्ञप्तिं साधयामास भटाष्टशतरक्षितः । सुग्रीवोऽपि महाविद्याः पूजयामास [1]सुव्रतः ॥ ४६९ ॥
सोपवासो गिरौ सम्मेदाख्ये सिद्धशिलातले । तथान्येऽपि स्वविद्यानां खगाः पूजामकुर्वत ॥ ४७० ॥
एवं भूखेचराधीशं बलं चलितकेतनम् । रामलक्ष्मणसुग्रीवमरुन्नन्दननायकम् ॥ ४७१ ॥
करीन्द्रमकराकीर्णं तुरङ्गमतरङ्गकम् । प्रलयाम्भोधिसङ्काशं लङ्कां प्रति चचाल तत् ॥ ४७२ ॥
लङ्कापुरेऽप्यणुमतो विनिवृत्तौ दशाननः । कुम्भकर्णादिभिर्नास्मदुप्रवंशस्य भास्वतः ॥ ४७३ ॥
कर्मेदमुचितं ख्यातपौरुषस्य तव प्रभो । स्त्रीरत्नमेतदुच्छिष्टं तदस्मदनुरोधतः ॥ ४७४ ॥
विसृज्यतामिति प्रोक्तोऽप्यासक्तस्त्यक्तुमक्षमः । भूयस्तृणमनुष्यस्य रामनाम्नो बलं किल ॥ ४७५ ॥
सीतां नेतुमतोऽस्माकमुपर्यागच्छतीति वाक् । श्रूयतेऽद्य कथं सीतामोक्षः कुलकलङ्ककृत् ॥ ४७६ ॥
इत्याख्यत्तद्वचः सोढुमक्षमो रावणानुजः । सूर्यवंशस्य शौर्यं किं रामस्तृणमनुष्यकः ॥ ४७७ ॥
न शृणोसि वचः पथ्यं बन्धूनां मदनान्धकः । परदारार्पणं दोषं वदन् दोषविदांवरः ॥४७८ ॥
परस्त्रीग्रहणं शौर्यं त्वदुपज्ञं भवेद् भुवि । मिथ्योत्तरेण किं मार्गविध्वन्सोन्मार्गवर्तनम्[2] ॥ ४७९ ॥
दुर्द्धरं तव दुर्बुद्धेर्लोकद्वयभयावहम् । विपयाननिषिद्धांश्च परित्यक्तुं वयस्तव ॥ ४८० ॥

रामचन्द्रको लक्ष्मण और सब सेनाके साथ-साथ बड़ी भक्तिसे अपने नगरमें ले आया और किष्किन्धा नगरके मनोहर उद्यानमें उन्हें ठहरा दिया। उस समय शरद्-ऋतु आ गई थी और रामचन्द्रके साथ राजाओंकी चौदह अक्षौहिणी प्रमाण सेना इकट्ठी हो गई थी ॥ ४६६-४६७ ॥ जहाँसे शिवघोष मुनिने मोक्ष प्राप्त किया था ऐसे जगत्पाद नामक पर्वत पर जाकर लक्ष्मणने सात दिन तक निराहार रहकर पूजा की और प्रज्ञप्ति नामकी विद्या सिद्ध की। विद्या सिद्ध करते समय एक सौ आठ योद्धाओंने उसकी रक्षा की थी। इसी प्रकार सुग्रीवने भी उस समय उत्तम व्रत और उपवास धारण कर सम्मेदाचल पर सिद्धशिलाके ऊपर महाविद्याओंकी पूजा की। इनके सिवाय अन्य विद्याधरोंने भी अपनी अपनी विद्याओंकी पूजा की। इस प्रकार जिसमें ध्वजाएँ फहरा रही हैं, राम, लक्ष्मण, सुग्रीव और अणुमान् जिसमें प्रधान हैं, जो बड़े बड़े हाथीरूपी मगरमच्छोंसे व्याप्त है, और घोड़े ही जिसमें बड़ी-बड़ी तरंगे हैं ऐसे प्रलयकालके समुद्रके समान वह भूमिगोचरी तथा विद्याधर राजाओंकी सेना लङ्काके लिए रवाना हुई ॥ ४६८-४७२ ॥

अथानन्तर—जब अणुमान् लङ्कासे लौट आया था तब कुम्भकर्ण आदि भाइयोंने रावणसे कहा था कि 'हे प्रभो ! आप हमारे उच्च वंशमें सूर्यके समान देदीप्यमान हैं और आपका पौरुष भी सर्वत्र प्रसिद्ध है अतः आपको यह कार्य करना उचित नहीं है। यह स्त्रीरत्न उच्छिष्ट है इसलिए हमलोगोंके अनुरोधसे आप इसे छोड़ दीजिए।' इस प्रकार सबने कहा परन्तु चूँकि रावण सीतामें आसक्त था इसलिए उसे छोड़ नहीं सका। वह फिर कहने लगा कि रामचन्द्र तृण-मनुष्य हैं—तृणके समान अत्यन्त तुच्छ हैं, 'उनकी सेना सीताको लेनेके लिए यहाँ हमारे ऊपर आ रही है' ऐसे शब्द आज सुनाई दे रहे हैं इसलिए सीताको कैसे छोड़ा जा सकता है, यह बात तो कुलको कलङ्क लगाने वाली है ॥ ४७३-४७६ ॥ रावणका छोटा भाई विभीषण उसकी यह बात सह नहीं सका अतः कहने लगा कि आप रामचन्द्रको तृणमनुष्य मानते हैं पर सूर्यवंशीय रामचन्द्रकी क्या शूर-वीरता है इसका आपको पता नहीं है। आप कामसे अन्धे हो रहे हैं इसलिए भाइयोंके हितकारी वचन नहीं सुन रहे हैं। आप परस्त्रीके समर्पण करनेको दोष बतला रहे हैं इसलिए मालूम होता है कि आप दोषोंके जानकारोंमें श्रेष्ठ हैं ? (व्यङ्ग्य) ॥ ४७७-४७८ ॥ परस्त्रीग्रहण करना शूर-वीरता है, संसारमें इस बातका प्रारम्भ आपसे ही हो रहा है। आप जो अपनी दुर्बुद्धिसे मिथ्या उत्तर दे रहे हैं उससे क्या दोनों लोकोंमें भय उत्पन्न करनेवाले एवं दुर्धर उन्मार्गकी प्रवृत्ति नहीं होगी और सुमार्ग-

---

१ सव्रतः घ०, ख० । २-वर्तिनम् ख० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

परामृशात्र किं युक्तं निषिद्धविषयैषणम् । विद्धि वैद्याधरीं लक्ष्मीमिमां तव गुणप्रियाम् ॥ ४८१ ॥
अनर्पयन्तं सीतां त्वां त्यजत्यद्यैव निर्गुणम् । अकार्यकारिणामत्र [1]गणनायां किमग्रिमम् ॥ ४८२ ॥
स्वं करोष्यभिलाषात्मकार्येण परयोषिति । प्रतिकूलोऽसि पुण्यस्य दुर्वृत्त्या पापसञ्चयात् ॥ ४८३ ॥
ततोऽननुगुणं[2] दैवं विना दैवात्कुतः श्रियः । परस्त्रीहरणं नाम पापं पापेषु दुस्तरम् ॥ ४८४ ॥
विस्तरेण किमुक्तेन नेष्यत्येनो महातमः[3] । आस्तां तावददो भावि शापैः[4] शीलालयस्त्रियः ॥ ४८५ ॥
अलमामूलतो दग्धुं कुलं क्रोधविधायिनाम् । नानिच्छन्तीं प्रतीच्छामीत्येकमेव तव व्रतम् ॥ ४८६ ॥
पोतभूतं भवाब्धिं [5]तत्तारितुं किं विनाशयेः । प्राणैरपि यशः क्रेयं सतां प्राणैश्च तेन च ॥ ४८७ ॥
पापं कल्पान्तरस्थायि क्रीणास्यज्ञोऽयशश्च धिक् । कस्येयं दुहिता सीता किं तत्र ज्ञायते त्वया ॥४८८ ॥
सुज्ञानमप्यविज्ञेयं कामव्यामुग्धमानसैः । अत्यौत्सुक्यमनासेषु प्राप्तेषु परितोषणम् ॥ ४८९ ॥
[6]भुज्यमानेषु वैरस्यं विषयेषु न वेत्सि किम् । अयोग्यायामनाथायां नाशहेतौ वृथा रतिम् ॥ ४९० ॥
मा कृथाः पापदुःखापलेपभाक् परयोषिति । आदेशः कीदृशः सोऽपि स्मार्यो वा [7]भाविवेदिनाम् ॥४९१॥
चक्रस्य परिपाकं च प्रादुर्भूतं च भावय । बलानामष्टमं रामं लक्ष्मणं चार्द्धचक्रिणाम् ॥ ४९२ ॥
आमनन्ति पुराणज्ञाः प्राज्ञ तच्च विचिन्तय । यादृग्नार्पयतो दोषस्तादृगर्पयतस्तथा ॥ ४९३ ॥
सीतां नेति विनिश्चित्य तां रामाय समर्पय । इति लक्ष्मीलतावृद्धिसाधनं धर्मशर्मदम् ॥ ४९४ ॥

का विनाश नहीं होगा ? जो विषय निषिद्ध नहीं है उनका भी त्याग करनेकी आपकी अवस्था है फिर जरा विचार तो कीजिये इस अवस्थामें निषिद्ध विषयकी इच्छा करना क्या आपके योग्य है ? आप यह निश्चित समझिये कि यह विद्याधरोंकी लक्ष्मी आपके गुणोंकी प्रिया है। यदि आप सीताको वापिस नहीं करेंगे तो निर्गुण समझ कर यह आपको आज ही छोड़ देगी। पर-स्त्रीकी अभिलाषा करने रूप इस अकार्यसे आप अपने आपको अकार्य करनेवालोंमें अग्रणी—मुखिया क्यों बनाते हैं ? इस समय आप इस दुष्ट प्रवृत्तिसे पापका संचय कर पुण्यके प्रतिकूल हो रहे हैं, पुण्यके प्रतिकूल रहनेसे दैव अनुकूल नहीं रहता और दैवके बिना लक्ष्मी कहाँ प्राप्त हो सकती है ? पर-स्त्रीका हरण करना यह पाप सब पापोंसे बड़ा पाप है ॥ ४७६–४८४ ॥ अधिक विस्तारके साथ कहनेमें क्या लाभ है ? यह पाप आपको सातवें नरक ले जावेगा। अथवा इसे जाने दो, यह पाप पर भवमें दुःख देगा परन्तु शीलकी भाण्डारभूत स्त्रियाँ अपने प्रति क्रोध करनेवालोंके कुलको शापके द्वारा इसी भवमें आमूल नष्ट करनेके लिए समर्थ रहती हैं। आपने व्रत लिया था कि जो स्त्री मुझे नहीं चाहेगी मैं उसे नहीं चाहूंगा। आपका यह एक व्रत ही आपको संसाररूपी समुद्रसे पार करनेके लिए जहाजके समान है इसे क्यों नष्ट कर रहे हो ? सज्जन पुरुषोंको प्राण देकर यश खरीदना चाहिए परन्तु आप ऐसे अज्ञानी हैं कि प्राण और यश देकर दूसरे कल्प काल तक टिकनेवाला पाप तथा अपयश खरीद रहे हैं अतः आपके लिए धिक्कार है। यह सीता किसकी पुत्री है यह क्या आप नहीं जानते ? ठीक ही है जिनका चित्त कामसे मोहित रहता है उनके लिए जानी हुई बात भी नहीं जानीके समान होती है। क्या आप यह नहीं जानते कि ये पञ्चेन्द्रियोंके विषय जबतक प्राप्त नहीं हो जाते तब तक इनमें उत्सुकता रहती है, प्राप्त हो जानेपर सन्तोष होने लगता है, और जब इनका उपभोग कर चुकते हैं तब नीरसता आ जाती है। इसलिए अयोग्य, अनाथ, विनाशका कारण, पाप और दुःखका सञ्चय करनेवाली परस्त्रीमें व्यर्थका प्रेम मत कीजिए। भविष्यत्की बात जाननेवाले निमित्तज्ञानियोंने कैसा आदेश दिया था—क्या कहा था इसका भी आपको स्मरण करना चाहिए ॥ ४८५–४९१ ॥ तथा चक्र उत्पन्नके फलका भी विचार कीजिए। पुराणोंके जाननेवाले रामको आठवाँ बलभद्र और लक्ष्मणको नौवाँ नारायण कहते हैं। हे विद्वन् ! आप इसका भी विचार कीजिए। सीताको नहीं सौंपनेमें जैसा दोष है वैसा दोष उसके सौंपनेमें नहीं है ॥ ४९२–४९३ ॥ इसलिए इन सब बातोंका

---

१ गणनीयं ल० । २ अनुकूलम् । ३ नेष्यते तत्तमस्तमं ग०, घ० । ४ शापः शीलालयश्रियः ल० । ५ किं तत्तरीतुं ल०, प० । ६ भुज्जमानेषु ल० । ७ भावि निवेदिनाम् ख० ।

वचोऽवोचद्विचार्योच्चैर्यशः कर्तुं शशिप्रभम् । भाषा विभीषणायैवं भाषमाणाय भीषणः ॥ ४९५ ॥
रक्षितो रावणो दूते नैकत्वमुपगम्य मे । पराभवं सभामध्ये प्राग्दुस्सहमजीजनः ॥ ४९६ ॥
सम्प्रत्यपि दुरुक्तोऽहं त्वया सहजताबलात् । अवध्यो याहि मद्देशादित्यभाषत निष्ठुरम् ॥ ४९७ ॥
सोऽपि दुश्चरितस्यास्य नाशोऽवश्यं भविष्यति । सहानेन विनाशो मां दूषयत्यवशस्करः ॥ ४९८ ॥
निर्वासितोऽहं निर्भर्त्स्यं देशाद्धितमुदाहरन् । इष्ट एव किलारण्ये वृष्टो देव इति श्रुतिः ॥ ४९९ ॥
पुण्यान्ममाद्य सम्पन्ना यामि रामक्रमाम्बुजम् । इत्यन्तर्गतमालोच्य विनिश्चित्य विभीषणः ॥ ५०० ॥
जलधेर्जलमुल्लङ्घ्य सौजन्यमिव सत्वरम् । महानदीप्रवाहो वा वारिधिं राममासदत् ॥ ५०१ ॥
लक्ष्मणप्रमुखान्मुख्यान् वेलालीलावहान् बहून् । प्रत्युद्गमय्य विस्रम्भ्य तमानीय परीक्षया ॥ ५०२ ॥
सोऽपि ज्ञातानुभावत्वादेकीभावमुपागमत् । ततः कतिपयैरेव प्रयाणैर्गतवद्बलम् ॥ ५०३ ॥
जलधेस्तटमाश्रित्य सन्निविष्टं समन्ततः । तदा तत्राणुमानित्थं रामं विज्ञापयन्मिथः ॥ ५०४ ॥
देवादेशोऽस्ति चेद्गत्वा लङ्कां शौर्योज्जिहीर्षया । वनभङ्गेन ते शत्रोर्मानभङ्गं करोम्यहम् ॥ ५०५ ॥
लङ्कादाहेन दाहं च देहस्याहेतकारिणः । तथा सति स मानित्वादसौ चेदागमिष्यति ॥ ५०६ ॥
स्थानभ्रंशात्सुखोच्छेद्यो नागच्छेत्तेजसः क्षतिः । इति श्रुत्वास्य विज्ञप्तिं तदस्त्वित्यवदन्नृपः ॥ ५०७ ॥
सहायाँश्चादिशत्तस्य विद्येशान् शौर्यशालिनः । लब्धाज्ञः सोऽपि सन्तुष्य सद्यो वानरविद्यया ॥ ५०८ ॥
प्रादुश्चक्रे चतुःप्रैक्षवानरानीकसेनया । तूर्णं तारातिमुल्लङ्घ्य विक्रमाद्वनपालकान् ॥ ५०९ ॥

निश्चय कर सीता रामचन्द्रके लिए सौंप दीजिये। इस प्रकार विभीषणने अच्छी तरह विचार कर यशको चन्द्रमाके समान उज्ज्वल करनेके लिए लक्ष्मीरूपी लताको बढ़ानेवाले तथा धर्म और सुख देनेवाले उत्कृष्ट वचन कहे। परन्तु इस प्रकारके उत्तम वचन कहनेवाले विभीषणके लिए वह भयङ्कर रावण कुपित होकर कहने लगा कि 'तूने दूतके साथ मिलकर पहले सभाके बीच मेरा असहनीय तिरस्कार किया था और इस समय भी तू दुर्वचन बोल रहा है। तू मेरा भाई होनेसे मारने योग्य नहीं है इसलिए जा मेरे देशसे निकल जा'। इस प्रकार रावणने बहुत ही कठोर शब्द कहे ॥ ४९४–४९७ ॥ रावणकी बात सुनकर विभीषणने विचार किया कि इस दुराचारीका नाश अवश्य होगा, इसके साथ मेरा भी नाश होगा और यह अपयश करनेवाला नाश मुझे दूषित करेगा ॥ ४९८॥ इसने तिरस्कार कर मुझे देशसे निकाल दिया है यह अच्छा ही किया है क्योंकि मुझे यह इष्ट ही है। 'बादल जङ्गलमें ही बरसे' यह कहावत आज मेरे पुण्यसे सम्पन्न हुई है। अब मैं रामचन्द्रके चरणकमलोंके समीप ही जाता हूँ। इस प्रकार चित्तमें विभीषणने विचार किया और ऐसा ही निश्चय कर लिया ॥ ४९९–५०० ॥ वह शीघ्र ही सौजन्यकी तरह समुद्रके जलका उल्लङ्घन कर गया और जिस प्रकार किसी महानदीका प्रवाह समुद्रके पास पहुँचता है उसी प्रकार वह रामचन्द्रके समीप जा पहुँचा ॥ ५०१ ॥ रामचन्द्रने तरङ्गोंकी लीला धारण करनेवाले लक्ष्मण आदि अनेक बड़े-बड़े योद्धाओं को विभीषणकी अगवानी करनेके लिए भेजा और वे सब परीक्षा कर तथा विश्वास प्राप्त कर उसे ले आये। विभीषण भी रामचन्द्रके प्रभावको समझता था अतः उनके साथ एकीभावको प्राप्त हो गया—हिलमिल गया। तदनन्तर कुछ ही पड़ाव चलकर रामचन्द्रकी सेना समुद्रके तटपर आ पहुंची और चारों ओर ठहर गई। उस समय अणुमान्ने परस्पर रामचन्द्रसे इस प्रकार कहा कि हे देव! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं अपनी शूर-वीरता प्रकट करनेकी इच्छासे लङ्कामें जाऊँ और वनका नाश कर आपके शत्रुका मान भङ्ग करूँ ॥ ५०२–५०५ ॥ साथ ही लङ्काको जलाकर शत्रुके शरीरमें दाह उत्पन्न करूँ। ऐसा करने पर वह अहङ्कारी रावण अभिमानी होनेसे यहाँ आवेगा और उस दशामें स्थान-भ्रष्ट होनेके कारण वह सुखसे नष्ट किया जा सकेगा। यदि यहाँ नहीं भी आवेगा तो उसके प्रतापकी अति तो अवश्य होगी। अणुमान्की यह विज्ञप्ति सुनकर राजा रामचन्द्रने वैसा करनेकी अनुमति दे दी और शूर-वीरतासे सुशोभित अनेक विद्याधरोंको उसका सहायक बना दिया। रामचन्द्रकी आज्ञा पाकर अणुमान् बहुत सन्तुष्ट हुआ। उसने वानर-विद्याके द्वारा शीघ्र ही अनेक भयङ्कर वानरोंकी सेना बनाई और उसे साथ ले शीघ्र ही समुद्रका उल्लङ्घन किया। वहाँ वह

आग्रहं निग्रहं कृत्वा वनभङ्गं व्यधात् क्रुधा । [1]ऊर्ध्वीकृतकरा घोरं क्रोशन्तो वनपालकाः ॥ ५१० ॥
प्राविशन्नगरीं घोरां श्रावयन्तोऽश्रुतश्रुतिम् । तदा राक्षसविद्योद्यद्ध्वजमालोपलक्षिताः ॥ ५११ ॥
अभियाता पुररक्षा योद्धुं पवननन्दनम् । अथानिलसुतादिष्ट[2]वानरानीकनायकाः ॥ ५१२ ॥
तानभञ्जन् समुद्धृत्य प्रहृत्य वनपादपैः । ततः स्फुरन् महाज्वालविद्ययाऽसौ बहिः पुरम् ॥ ५१३ ॥
निरधाक्षीदधिक्षिप्य रूक्षरक्षोबलं बली । एवं रावणदुर्वारप्रतापप्रोद्यतद्रुमम् ॥ ५१४॥
प्रोन्मूल्य वानरानीकनायको राममाययौ । सन्नद्ध राघवः स्थित्वा[3] बलं संग्रामसम्मुखम् ॥ ५१५ ॥
नागतो रावणः केन हेतुनेति विभीषणम् । अप्राक्षीदथ सोप्याख्यल्लङ्कायां नास्ति रावणः ॥ ५१६ ॥
बालिलोकान्तरापत्तिं सुग्रीवाणुमतोरपि । विद्याबलावलेपित्वमवगम्य स्वयं च सः ॥ ५१७ ॥
निवेश्य निजरक्षायां सुतमिन्द्रजिदाह्वयम् । अष्टोपवासमासाद्य सम्यग्नियमितेन्द्रियः ॥ ५१८ ॥
आदित्यपादशैलेन्द्रे विद्याः संसाधयन् स्थितः । राक्षसादिमहाविद्यासिद्धावुपचितो भवेत्[4] ॥ ५१९ ॥
तद्विघ्नपूर्वकं लङ्कामवष्टभ्य निवेशनम् । प्रयोजनमिति श्रद्दधन्तं सीतापतिं प्रति ॥ ५२० ॥
नायकाभ्यां ततः सुग्रीवाणुमन्तौ स्वसाधिताः । दत्त्वा गरुडसिंहादिवाहन्यौ बन्धमोचनीम् ॥ ५२१ ॥
हननावरणीं विद्याश्चतस्रोऽस्य पृथक् पृथक् । प्रज्ञप्तिविद्याविकृतविमानेन महाबलम् ॥ ५२२ ॥
लङ्कापुरबहिर्भागे तन्निवेशयतः स्म तौ । नभश्चरकुमारेषु तदा रामाज्ञया गिरिम् ॥ ५२३ ॥
सम्प्राप्य युद्ध्यमानेषु रावणस्याग्रसूनुना । सम्भूयेन्द्रजिता यूयं युध्यध्वमिति संक्रुधा ॥ ५२४ ॥

अपने पराक्रमसे वन-पालकोंको पकड़ कर उनका निग्रह करने लगा और क्रोधसे उसने रावणका समस्त वन नष्ट कर डाला। तब वनके रक्षक लोग अपनी भुजाएँ ऊँची कर जोर-जोरसे चिल्लाते हुए नगरीमें गये और जो कभी नहीं सुने थे उन भयङ्कर शब्दोंको सुनाने लगे। उस समय राक्षस-विद्याके प्रभावसे फहराती हुई ध्वजाओंके समूहसे उपलक्षित नगरके रक्षक लोग अणुमान्से युद्ध करनेके लिए उसके सामने आये। यह देख अणुमान्ने भी वानर-सेनाके सेनापतियोंको आज्ञा दी और तदनुसार वे सेनापति लोग वनके वृक्ष उखाड़कर उन्हींसे प्रहार करते हुए उन्हें मारने लगे। तदनन्तर बलवान् अणुमान्ने नगरके बाहर स्थित राक्षसोंकी रूखी सेनाको अपनी देदीप्यमान महाज्वाल नामकी विद्यासे वहाँका वहीं भस्म कर दिया। इस प्रकार वानर सेनाका सेनापति अणुमान्, रावण के दुर्वार प्रताप रूपी ऊँचे वृक्षको उखाड़ कर रामचन्द्रके समीप वापिस आ गया। इधर रामचन्द्र तबतक सेनाको तैयार कर युद्धके सन्मुख खड़े हो गये ॥ ५०६–५१५ ॥ उस समय उन्होंने विभीषण से पूछा कि रावण किस कारणसे नहीं आया है ? तदनन्तर विभीषणने उत्तर दिया कि इस समय रावण लङ्कामें नहीं है। बालिका परलोक गमन और सुग्रीव तथा अणुमान्के विद्याबलका अभिमान सुनकर उसने अपनी रक्षाके लिए इन्द्रजित् नामक पुत्रको नियुक्त किया है तथा आठ दिनका उपवास लेकर और इन्द्रियोंको अच्छी तरह वश कर आदित्यपाद नामके पर्वत पर विद्याएँ सिद्ध करता हुआ बैठा है। राक्षसादि महाविद्याओंके सिद्ध हो जानेपर वह बहुत ही शक्तिसम्पन्न हो जावेगा। इसलिए इस समय हम लोगोंका यही काम है कि उसकी विद्यासिद्धिमें विघ्न किया जाय और लङ्काको घेरकर ठहरा जाय, इस प्रकार विभीषणने रामचन्द्रसे कहा। तदनन्तर सुग्रीव और अणुमान् ने अपने द्वारा सिद्ध की हुई गरुड़वाहनी, सिंहवाहनी, बन्धमोचनी और हननावरणी नामकी चार विद्याएँ अलग-अलग रामचन्द्र और लक्ष्मणके लिए दीं। इसके बाद दोनों भाइयोंने प्रज्ञप्ति नामकी विद्यासे बनाये हुए अनेक विमानोंके द्वारा अपनी उस बड़ी भारी सेनाको लङ्कानगरीके बाहर मैदानमें ले जाकर खड़ी कर दी। उसी समय कितने ही विद्याधर कुमार रामचन्द्रकी आज्ञासे आदित्यपाद नामक पर्वत पर जाकर उपद्रव करने लगे। तब रावणके बड़े पुत्र इन्द्रजित्ने क्रोधमें आकर विद्याधर राजाओं तथा पहले सिद्ध किये हुए समस्त देवताओंको यह आदेश देकर भेजा कि तुम सब लोग मिलकर इनसे युद्ध करो। इन्द्रजित्की बात सुनकर विद्या-देवताओंने कहा कि हमलोगोंने आपके

---

१ ऊर्द्धीकृत–ख० । २ सुतादिष्टा ख० । ३ तत्र ख० । ४–भवत् ख० ।

प्रेषिताः खचरार्धाशाः प्राच्याः सर्वाश्च देवताः । इयन्तं कालमस्माभिर्भवत्पुण्यबलोदयात् ॥ ५२५ ॥
त्वयाभिलषितं कार्यं साधितं पुण्यसंक्षये । समर्था नेत्यसावुक्तो व्यक्तं ताभिर्दशाननः ॥ ५२६ ॥
भवतीभिर्वराकीभिर्यांत किं मम साध्यते । हन्म्यहं पौरुषेणैव नृमृगान् सह खेचरान् ॥ ५२७ ॥
सहायैः साधितं कार्यं लज्जायै ननु मानिनाम् । इति क्रुद्धः पुरीमागात्तदैवासौ सहेन्द्रजित् ॥ ५२८ ॥
दुश्चेष्टस्यास्तपुण्यस्य[1] भूतं भावि [2]विनश्यति । परिवारमुखाद् ज्ञात्वा परैर्लङ्कोपरोधनम् ॥ ५२९ ॥
हरिणैर्हरिरारुद्धः पश्य कालविपर्ययम् । अथ वासन्नमृत्यूनां भवेत्प्रकृतिविभ्रमः ॥ ५३० ॥
इति गर्जन्समाक्रान्ततुङ्गमातङ्गसिंहवत् । रविकीर्तिं स्वसेनान्यं हरिणध्वजमादिशत् ॥ ५३१ ॥
युद्धायास्फाल्यतां भेरी शत्रुपक्षक्षयावहा । इत्यादिष्टस्तदैवासौ तथा कृत्वाखिलं बलम् ॥ ५३२ ॥
कालान्ते कालदूतो वा सहसैकीचकार तत् । अथ निर्गत्य लङ्काया विभक्तनिजसाधनः ॥ ५३३ ॥
सुकुम्भेन निकुम्भेन कुम्भकर्णेन चापरैः [illegible] ॥ ५३४ ॥
इन्द्रवर्माभिधानेन तनुजैरपरैरपि । महामुखातिकायाख्य[3]दुर्मुखाख्यैर्महाबलैः ॥ ५३५ ॥
खरदूषणधूमाख्यप्रमुखैश्च खगेश्वरैः । [4]इव क्रूरग्रहैर्भास्वान्नैदाघः परिवारितः ॥ ५३६ ॥
त्रिजगद्ग्रसनालोलकाललीलां विडम्बयन् । न तौ मम पुरः स्थातुं समर्थौ रामलक्ष्मणौ ॥ ५३७ ॥
तिष्ठतः शशगोमायू किं पुनः संहतौ हरेः । अरावणं भवेदद्य जगदेतत्सतोस्तयोः ॥ ५३८ ॥
सहावश्यमहं ताभ्यां पालयामि महीं नहि । इत्याद्यतर्कितायातनिजामङ्गलमालपन् ॥ ५३९ ॥

पुण्योदयसे इतने समय तक आपका वाञ्छित कार्य किया परन्तु अब आपका पुण्य क्षीण हो गया है इसलिए आपके कहे अनुसार कार्य करनेमें हम समर्थ नहीं हैं। जब उक्त विद्या-देवताओंने रावण-से इस प्रकार स्पष्ट कह दिया तब रावण उनसे कहने लगा कि आप लोग जा सकती हैं, आप नीच देवता हैं, आपसे मेरा कौन-सा कार्य सिद्ध होनेवाला है? मैं अपने पुरुषार्थसे ही इन मनुष्य रूपी हरिणोंको विद्याधरोंके साथ-साथ अभी मार डालता हूं ॥ ५१६–५२७ ॥ सहायकोंके द्वारा सिद्ध किया हुआ कार्य अभिमानी मनुष्योंके लिए लज्जा उत्पन्न करता है। इस प्रकार क्रुद्ध होकर रावण उसी समय इन्द्रजित्के साथ नगरमें आ गया। देखो, जिसका पुण्य नष्ट हो चुकता है ऐसे दुश्चरित्र मनुष्यका भूत और भावी सब नष्ट हो जाता है। नगरमें आनेपर उसने परिवारके लोगोंसे ज्ञात किया कि शत्रुओंने लङ्काको घेर लिया है ॥ ५२८–५२९ ॥ उस समय रावण कहने लगा कि समयकी विपरीतता तो देखो, हरिणोंने सिंहको घेर लिया है। अथवा जिनकी मृत्यु निकट आ जाती है उनके स्वभावमें विभ्रम हो जाता है ॥ ५३० ॥ इस प्रकार किसी ऊँचे हाथी पर आक्रमण करनेवाले सिंहके समान गरजते हुए रावणने हरिणकी ध्वजा धारण करनेवाले अपनी रविकीर्ति नामक सेनापतिको आदेश दिया ॥ ५३१ ॥ कि युद्धके लिए शत्रुपक्षका क्षय करनेवाली भेरी बजा दो। उसने उसी प्रकार रणभेरी बजा दी और कल्पकालके अन्तमें यमराजके दूतके समान अपनी समस्त सेना इकट्ठी की। तदनन्तर सेनाका अलग-अलग विभाग कर रावण लङ्कासे बाहर निकला ॥ ५३२–५३३ ॥ उस समय वह सुकुम्भ, निकुम्भ, कुम्भकर्ण तथा अन्य भाइयोंमें सबसे मुख्य इन्द्रजित्, इन्द्रकीर्ति, इन्द्रवर्मा तथा अन्य राजपुत्रोंसे एवं महाबलवान् महामुख, अतिकाय, दुर्मुख, खरदूषण और धूम आदि प्रमुख विद्याधरोंसे घिरा हुआ था अतः दुष्ट ग्रहोंसे घिरे हुए ग्रीष्म ऋतुके सूर्यके समान जान पड़ता था और तीनों जगत्को ग्रसनेके लिए सतृष्ण यमराजकी लीलाको विडम्बित कर रहा था। वह कह रहा था कि राम और लक्ष्मण मेरे सामने खड़ा होनेके लिए समर्थ नहीं हैं। अरे, बहुतसे खरगोश और शृगाल इकट्ठे हो जावें तो क्या वे सिंहके सामने खड़े रहे सकते हैं? आज उनके जीते जी यह संसार रावणसे रहित भले ही हो जाय परन्तु मैं उनके साथ इस पृथिवीका पालन कदापि नहीं करूँगा। इस प्रकार अतर्कित रूपसे उपस्थित अपने अमङ्गलको

---

१ दुश्चेष्टस्यास्तपुण्यस्य ल० । २ च नश्यति ल० । ३ कार्यार्किकः ख०,क०,घ०, म० । कामार्कः ग० । ४ इति ग० ।

कालमेघमहागन्धगजस्कन्धमधिष्ठितः । प्रतिवातहतप्रोद्यद्राक्षसध्वजराजितः ॥ ५४० ॥
[1]अग्रेसरस्फुरच्चक्रश्छत्रस्थगितभास्करः । नानानूनानकध्वानभिन्नाशानेकपश्रुतिः ॥ ५४१ ॥
खेचराधीश्वरो योद्धुं सन्नद्धोऽस्थान्मदोद्धतः । इतो रामस्तदायानकथाकर्णनघूर्णितः ॥ ५४२ ॥
दुर्निवारो रिपुं कोपपावकेनेव निर्दहन् । चक्षुःप्रान्तविनिर्गच्छत्ज्वलद्दीक्षाशिखावलीः ॥ ५४३ ॥
उल्मुकालीरिवायोद्धुं विक्षिपन् दिक्षुमंक्षु सः । महाविद्यासमूहासपञ्चमाङ्गबलान्वितः ॥ ५४४ ॥
तालध्वजः समारुह्य गजमञ्जनपर्वतम् । लक्ष्मणो [2]बलयालम्बिविपक्षद्गरुडध्वजः ॥ ५४५ ॥
उदयाद्रिमिवारुह्य गजं विजयपर्वतम् । जिनेशिनं प्रणम्येतौ विघ्नविघ्नविनाशनम् ॥ ५४६ ॥
सुग्रीवानिलपुत्रादिखगेशैः परिवेष्टितौ । सूर्यचन्द्रमसौ वैरितमो हन्तुं समुद्यतौ ॥ ५४७ ॥
भासमानौ नयौ वोभौ दृप्तदुर्मतिघातिनौ । रावणाभिमुखं योद्धुं विभज्य ध्वजिनीं निजाम् ॥ ५४८ ॥
युद्धभूमिमधिष्ठाय तस्थतुस्त्रासितद्विषौ । तत्र तूर्यमहाध्वानाः प्रतिसेनानकध्वनिम् ॥ ५४९ ॥
निर्भर्त्सयन्तो वोद्दण्डनिष्ठुरप्रहतेर्भयात् । गुहागह्वरदेशादीन् विशन्तो वा समन्ततः ॥ ५५० ॥
गजबृंहितवाहोरुहेषाघोषाविशेषतः । वर्द्धयन्तो भटानां च सुतरां शौर्यसम्पदम् ॥ ५५१ ॥
द्विषां भयं प्रकुर्वन्तो नभोभागमरोधयन् । तदाविष्कृतसंरम्भाः कलत्राणीव दुर्जयाः ॥ ५५२ ॥
हस्ताग्रमितमध्यानि नवाम्भोदकुलानि वा । सशराणि मनांसीव गुणनम्राणि धीमताम् ॥ ५५३ ॥

वह रावण स्वयं कह रहा था ॥ ५३४–५३९ ॥ उस समय वह कालमेघ नामक महा मदोन्मत्त हाथीके ऊपर सवार था, प्रतिकूल (सामनेकी ओरसे आनेवाली) वायुसे ताड़ित होकर फहराती हुई राक्षस-ध्वजाओंसे सुशोभित था, उसके आगे-आगे चक्ररत्न देदीप्यमान हो रहा था, उसके छत्रसे सूर्य आच्छादित हो गया था—सूर्यका आताप रुक गया था और उसने अपने अनेक प्रकारके बड़े-बड़े नगाड़ोंके शब्दसे दिग्गजोंके कान बहिरे कर दिये थे। इस प्रकार उस ओर मदसे उद्धत हुआ रावण युद्धके लिए तैयार होकर खड़ा हो गया और इस ओर रामचन्द्र उसके आनेकी बात सुनकर क्रोधसे झूमने लगे ॥ ५४०–५४२ ॥ वह उस समय अत्यन्त दुर्निवार थे और क्रोध रूपी अग्निके द्वारा मानो शत्रुको जला रहे थे। उनके नेत्रोंके समीपसे जो जलती हुई दृष्टि निकल रही थी वह बाणोंके समान जान पड़ती थी और उसे वे जलते हुए अंगारोंके समान युद्ध करनेके लिए दिशाओंमें बड़ी शीघ्रतासे फेंक रहे थे। महाविद्याओंके समूहसे जो उन्हें सेनाका पाँचवाँ अङ्ग प्राप्त हुआ था वे उससे सहित थे। उनकी तालकी ध्वजा थी और वे अञ्जनपर्वत नामक हाथी पर सवार होकर निकले थे। साथ ही, जिसकी ध्वजामें वलयाकार साँपको पकड़े हुए गरुड़का चिह्न बना है ऐसा लक्ष्मण भी विजय-पर्वत नामक हाथी पर सवार होकर निकला। इन दोनोंने पहले तो समस्त विघ्न नष्ट करनेवाले श्री जिनेन्द्रदेवको नमस्कार किया और फिर दोनों ही सुग्रीव तथा अणुमान् आदि विद्याधरोंसे वेष्टित हो सूर्य-चन्द्रमाके समान शत्रु रूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए चल पड़े ॥ ५४३–५४७ ॥ वे दोनों भाई नयोंके समान सुशोभित थे और दृप्त तथा दुर्बुद्धियोंका घात करनेवाले थे। रावणके सामने युद्ध करनेके लिए उन्होंने अपनी सेनाका विभाग कर रक्खा था, इस प्रकार शत्रुओंको भय-भीत करते हुए वे युद्ध-भूमिमें जाकर ठहर गये। वहाँ इनके नगाड़ोंके बड़े भारी शब्द शत्रुओंके नगाड़ोंके शब्दोंको तिरस्कृत कर रहे थे सो ऐसा जान पड़ता था कि मानो वे शब्द ऊँचे उठते हुए दण्डोंके कठोर प्रहारसे भयभीत हो गुहा अथवा गढ़े आदि देशोंमें सब ओरसे प्रवेश कर रहे हों—छिप रहे हों ॥ ५४८–५५० ॥ हाथियोंकी चिंघाड़ें और घोड़ोंके हींसनेके शब्द विशेष रूपसे योद्धाओं की शूर-वीरता रूप सम्पत्तिको अच्छी तरह बढ़ा रहे थे ॥ ५५१ ॥ उस समय जो आरम्भ प्रकट हो रहे थे वे शत्रुओंको भयभीत करते हुए आकाश-मार्गको रोक रहे थे और स्त्रियोंके समान दुर्जय थे ॥ ५५२ ॥ धनुष धारण करनेवाले लोग अपने-अपने धनुष लेकर निकले थे। उन धनुषोंका मध्यम

---

१ अग्रसर ब० । २ 'बलयाकारसर्पसहितगरुडपताकाः' (म पुस्तके टिप्पणी) 'लक्ष्मणोऽपि मुखालम्बिविप-धृग्गरुडध्वजः' ल० ।

दुरुक्तवचनानीव हृदिभेदीनि दूरतः । दिग्व्यापिमौर्वीनादत्वात् कोपहुङ्कारवन्ति वा ॥ ५५४ ॥
कर्णाभ्यर्णप्रवर्तित्वान्निगदन्तीव मन्त्रणम् । कृच्छ्रकृत्येष्वभङ्गत्वात्सङ्गतानीव सज्जनैः ॥ ५५५ ॥
शरासनानि सन्धार्य निरगच्छन् धनुर्धराः । खड्गवर्मधरा [1]धीरभट्टाश्च पटुराटिनः ॥ ५५६ ॥
घनान् सतडितः कृष्णान् गर्जिनो विजिगीषवः । [2]नानाप्रहरणोपेता नानायुद्धविशारदाः ॥ ५५७ ॥
परे च परितः प्रापुर्योद्धुं परबलं भटाः । अतिद्रुताः खुराघातैर्दारयन्त इवावनिम् ॥ ५५८ ॥
सचामरा महीशा वा समहामणिपीठकाः । आमृतेरिष्टभृत्या वा स्वस्वामिहितकारिणः ॥ ५५९ ॥
भुञ्जाना इव सग्रासा मधुरैः किङ्किणीरवैः । विजयं वा स्वसैन्यस्य घोषयन्तो निरन्तरम् ॥ ५६० ॥
सपक्षा इव सम्पक्षकङ्कटा गगनान्तरम् । लिलङ्घयिषवो [3]लालाजलफेनप्रसूनकैः ॥ ५६१ ॥
स्वपादनटनृत्तार्थमर्चयन्तो धरामिव । हया यवनकाश्मीरवाह्लीकादिसमुद्भवाः ॥ ५६२ ॥
स्फुरदुत्खातखड्गांशुविलसत्साद्यधिष्ठिताः । महासैन्याब्धिसम्भूततरङ्गाभा विनिर्गताः ॥ ५६३ ॥
द्विषो भीषयितुं वोच्चैर्हेषाघोषैर्विभूषणैः । स्वानुकूलानिलाः शस्त्रभाण्डाः प्रोद्दण्डकेतवः ॥ ५६४ ॥
संग्रामाम्भोनिधेः प्रोताः प्रचेलुः पृथवो रथाः । चक्रेणैकेन चेद्वक्री विक्रमी नस्तयोर्द्वयम् ॥ ५६५ ॥
मत्वेति वा द्रुतं पेतुर्दिक्चक्राक्रमिणो रथाः । नायकाधिष्ठिता शस्त्रैः सम्पूर्णास्तूर्णवाजिनः ॥ ५६६ ॥

भाग हाथके अग्रभागके बराबर था, वे नये बादलोंके समूहके समान जान पड़ते थे, बाण सहित थे, बुद्धिमान् पुरुषोंके मनके समान गुण--डोरी (पक्षमें दया दाक्षिण्य आदि गुणों) से नम्र थे, कठोर वचनोंके समान दूरसे ही हृदयको भेदन करनेवाले थे, उनकी प्रत्यञ्चाका शब्द दिशाओंमें फैल रहा था अतः ऐसे जान पड़ते थे मानो क्रोध वश हुङ्कार ही कर रहे हों, खिंचकर कानोंके समीप तक पहुँचे हुए थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो कुछ मन्त्र ही कर रहे हों, और सज्जनोंकी संगतिके समान वे कठिन कार्य करते हुए भी कभी भग्न नहीं होते थे ऐसे धनुषोंको धारण कर धनुर्धारी लोग बाहर निकले। कुछ धीर वीर योद्धा तलवार और कवच धारण कर जोर-जोरसे चिल्ला रहे थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो बिजली सहित गरजते हुए काले मेघोंको ही जीतना चाहते हों। इनके सिवाय नाना प्रकारके हथियारोंसे सहित नाना प्रकार युद्ध करनेमें चतुर अन्य अनेक योद्धा भी चारों ओरसे शत्रुओंकी सेनाके साथ युद्ध करनेके लिए आ पहुँचे। उनके साथ जो घोड़े थे वे बड़े वेगसे चल रहे थे और खुरोंके आघातसे मानो पृथिवीको विदार रहे थे ॥ ५५३–५५८ ॥ वे घोड़े चमरोंसे सहित थे तथा महामणियोंसे बनी हुई पीठ (काठी) से युक्त थे अतः राजाके समान जान पड़ते थे। अथवा किसी इष्ट-विश्वासपात्र सेवकके समान मरण-पर्यन्त अपने स्वामीका हित करनेवाले थे ॥५५९॥ उनके मुखमें घासके ग्रास लग रहे थे जिससे भोजन करते हुएसे जान पड़ते थे और छोटी-छोटी घंटियोंके मनोहर शब्दोंसे ऐसे मालूम हो रहे थे मानो निरन्तर अपनी जीतकी घोषणा ही कर रहे हों ॥ ५६० ॥ वे घोड़े कवच पहने हुए थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो पंखोंसे युक्त होकर आकाशके मध्यभागको ही लाँघना चाहते हों। उनके मुखोंसे लार रूपी जलका फेन निकल रहा था जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने पैररूपी नटोंके नृत्य करनेके लिए फूलोंसे पृथिवीकी पूजा ही कर रहे हों। वे घोड़े यूनान, काश्मीर और बाल्हीक आदि देशोंमें उत्पन्न हुए थे, उन पर ऊँची उठाई हुई देदीप्यमान तलवारोंकी किरणोंसे सुशोभित घुड़सवार बैठे हुए थे, वे महासेना रूपी समुद्रमें उत्पन्न हुई तरंगोंके समान इधर-उधर चल रहे थे, और जोर-जोरसे हींसनेके शब्द रूपी आभूषणोंसे शत्रुओंको भयभीत करनेके लिए ही मानो निकले हुए थे। इनके सिवाय वायु जिनके अनुकूल चल रही है जिसमें शस्त्र रूपी बर्तन भरे हुए हैं, जिनपर ऊँचे दण्ड वाली पताकाएँ फहरा रही हैं, और संग्राम रूपी समुद्रके जहाजके समान जान पड़ते हैं ऐसे बड़े-बड़े रथ भी वहाँ चल रहे थे। चक्रवर्ती रावण यदि एक चक्रसे पराक्रमी है तो हमारे पास ऐसे दो चक्र विद्यमान हैं ऐसा समझ कर समस्त दिशाओंमें आक्रमण करनेवाले रथ वहाँ बड़ी तेजीसे आ रहे थे। जिनके भीतर

---

१ धीरभटाश्च ब० । २ नानाप्रहारणोपेता ल० । ३ लोला ल० ।

सन्नद्धाः सन्तु नो युद्धे बद्धकक्षाः कथं रथाः । धावन्तु पत्तयो वाहा गजाश्चैभिः किमातुरैः ॥ ५६७ ॥
जयोऽस्मास्विति वा मन्दं सभराः स्यन्दना ययुः । सन्मार्गगामिभिः शस्त्रधारिभिश्चक्रवर्तिभिः ॥ ५६८ ॥
रथैर्दिक्चक्रमाक्रम्य तैर्द्विचक्रं किमुच्यते । महीधरनिभैः पूर्वकायैरौदग्र्यधारिणः ॥ ५६९ ॥
पश्चात्प्रसारिताग्राङ्गैर्विलक्षय [1]स्वपेचकाः । अम्भोरुहाकरा बोधद्रक्तपुष्करशोभिनः ॥ ५७० ॥
परप्रणेयवृत्तित्वादर्भकानुविधायिनः । रुषेवोत्थापयन्तोऽलीन् कर्णतालैः कटस्थितान् ॥ ५७१ ॥
सबलाका इवाम्भोदाः समुद्यद्बलध्वजैः । केचित्परमदामोदमाघ्रायाम्भोदवर्त्मनि ॥ ५७२ ॥
करैः प्रविकसत्पुष्करैस्तैर्योद्धुं समुद्यताः । निशितोर्ध्वाङ्कुशाघातदलन्निर्याण [2]वारिताः ॥ ५७३ ॥
मुहुर्विधूतमूर्द्धानः करेणुगणसन्निधौ । प्रशान्तीभूतसंरम्भा [3]महामात्राद्यधिष्ठिताः ॥ ५७४ ॥
मातङ्गास्तुङ्गदेहत्वादाक्रामन्त इवाखिलम् । सर्वतो निर्ययुर्वोर्वीजङ्गमा धरणीधराः ॥ ५७५ ॥
केतवश्चानुकूलानिलेरिता [4]विद्विषं प्रति । चेलुर्दण्डान् परित्यज्य पुरो योद्धुमिवोद्यताः ॥ ५७६ ॥
नभसः शुद्धरूपस्य मालं जलधराकृतिम् । अथवापनयन्तो वा संच्छादितरविस्विषः ॥ ५७७ ॥
धृतदण्डप्रवृत्तित्वाद् वयोतीतानुकारिणः । काले विमुक्तिमत्त्वाच्च मुनिमार्गानुसारिणः ॥ ५७८ ॥
बलावष्टम्भखिन्नावनीनिःश्वसितसन्निभे । मिथ्याज्ञान इवाशेषबोधविध्वंसकारणे ॥ ५७९ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उनके स्वामी बैठे हुए हैं, जो अनेक शस्त्रोंसे परिपूर्ण हैं और जिनमें शीघ्रतासे चलनेवाले वेगगामी घोड़े जुते हुए हैं ऐसे तैयार खड़े हुए हमारे रथ युद्धके लिए बद्धकक्ष क्यों न हों ? पैदल चलनेवाले सिपाही, घोड़े और हाथी भले ही आगे दौड़ते चले जावें पर इन व्यग्र प्राणियोंसे क्या होनेवाला है ? विजय तो हम लोगोंपर ही निर्भर है। यह सोचकर ही मानो बोझसे भरे रथ धीरे-धीरे चल रहे थे। सन्मार्ग पर चलनेवाले, शस्त्रोंके धारक एक चक्रवाले चक्रवर्तियोंने जब समस्त दिशाओं पर आक्रमण किया था तब दो चक्रवाले रथोंने समस्त दिशाओं पर आक्रमण किया इसमें आश्चर्य ही क्या है ? इसी प्रकार पर्वतके समान जिनका अग्रभाग कुछ ऊँचा उठा हुआ था, पीछेकी ओर फैली हुई पूँछसे जिनकी पूँछका उपान्त भाग कुछ खुल रहा था, जो ऊपरकी ओर उठते हुए सूँड़के लाल लाल अग्रभागसे सुशोभित थे और इसीलिए जो कमलोंके सरोवरके समान जान पड़ते थे। जिनकी वृत्ति परप्रणेय थी—दूसरोंके आधीन थी अतः जो बच्चोंके समान जान पड़ते थे, जो अपने गण्डस्थलों पर स्थित भ्रमरोंको मानो क्रोधसे ही कान रूपी पंखोंकी फटकारसे उड़ा रहे थे। उड़ती हुई सफेद ध्वजाओंसे जो बगलाओंकी पंक्तियों सहित काले मेघोंके समान जान पड़ते थे, जिनमें कितने ही हाथी दूसरे हाथियोंके मदकी सुगन्ध सूंघकर आकाशमें खिले हुए कमलके समान जिनका अग्रभाग विकसित हो रहा है ऐसी सूँडोंसे युद्ध करनेके लिए तैयार हो रहे थे, जो पैनी नोकवाले अंकुशोंकी चोटसे अपाङ्ग प्रदेशमें घायल होनेके कारण युद्ध-क्रियासे रोके जा रहे थे, जो हथिनियोंके समूहके समीप बार-बार अपना मस्तक हिला रहे थे, जिनका सब क्रोध शान्त हो गया था, जिनपर प्रधान पुरुष बैठे हुए थे और जो उन्नत शरीर होनेके कारण समस्त संसार पर आक्रमण करते हुएसे जान पड़ते थे ऐसे चलते फिरते पर्वतोंके समान ऊँचे-ऊँचे हाथी सब ओरसे निकल कर चल रहे थे ॥५६१-५७५॥ उस समय अनुकूल पवनसे प्रेरित ध्वजाएँ शत्रुओंकी ओर ऐसी जा रही थीं मानो दण्डोंको छोड़कर पहले ही युद्ध करनेके लिए उद्यत हो रही हों ॥ ५७६ ॥ अथवा सूर्यकी किरणोंको ढकनेवाली वे ध्वजाएँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो निर्मल आकाशमें जो मेघरूपी मैल छाया हुआ था उसे ही दूर कर रही हों ॥ ५७७ ॥ अथवा वे ध्वजाएँ दण्ड धारण कर रही थीं अर्थात् दण्डोंमें लगी हुई थीं इसलिए वृद्ध पुरुषोंका अनुकरण कर रही थीं अथवा समय पर मुक्त होती थीं—खोलकर फहराई जाती थीं इसलिए मुनिमार्गका अनुसरण करती थीं ॥ ५७८ ॥ उस समय धूलि उड़कर चारों ओर फैल गई थी और वह ऐसी जान पड़ती थी मानो सेनाके बोझसे खिन्न हुई पृथिवी साँस ही ले रही

---

१ 'उलूके करिणः पुञ्जमूलोपान्ते च पेचकः' इत्यमरः। २ 'अपाङ्गदेशो निर्याणम्' इत्यमरः। ३ 'महामात्राः प्रधानानि' इत्यमरः। ४ विद्विषः ल०।

महाभये वा सम्प्राप्ते रणविघ्नविधायिनी । पुरानर्जितपुण्ये वा समस्तनयनाप्रिये ॥ ५८० ॥
रजस्येवं नभोभागलङ्घिन्याहितरंहसि । मूर्च्छितं गर्भगं कुड्यलिखितं चातिशय्य तत् ॥ ५८१ ॥
बलं [1]कलकलं किञ्चिद्विचेष्टमभवत्तदा । विध्वस्तवैरिभूपालचित्तक्षोभोपमे शनैः ॥ ५८२ ॥
पृथौ तस्मिन् रजःक्षोभे प्रशान्ते सति सक्रुधः । प्रस्पष्टदृष्टिसञ्चाराः सेनानायकचोदिताः ॥ ५८३ ॥
गतिं प्रपातसंशुद्धा नवाब्दा वा धनुर्धराः । शरवृष्टिं विमुञ्चन्तो हृदयानि विरोधिनाम् ॥ ५८४ ॥
कुर्वन्ति स्मापरागाणि सङ्गटानां रणाङ्गणे । युद्धयन्ते स्माहवोत्साहात्तेऽपि तैरिव चोदिताः ॥ ५८५ ॥
द्विषतो वा न सत्त्वाभिव्यक्तिः स्यात्सुहृदः सताम् । मया मज्जीवितुं दातुं नृपाज्जीवितमाददे ॥ ५८६ ॥
तस्य कालोऽयमित्येको व्यतरत्तृणं रणे । भृत्यकृत्यं यशः शूरगतिश्चात्र त्रयं [2]फलम् ॥ ५८७ ॥
पुरुषार्थत्रयं चैतदेवेत्यन्योन्ययुध्यते । नास्मद्बले मृतिं वीक्षे कस्यापि स पराभवः ॥ ५८८ ॥
ममेति मन्यमानोऽन्यः प्राग्युध्वाम्रियत स्वयम् । अयुध्यन्तैवमुत्क्रोधाः सर्वशस्त्रैरनारतम् ॥ ५८९ ॥
सव्यापसव्यमुक्तार्धमुक्तामुक्तैरनाकुलम् । [3]अभीतमार्गणेनैव मार्गणा मार्गमात्मनः ॥ ५९० ॥
मध्ये विधाय गत्वा द्राक् [4]परत्र पतिताः परे । [5]दूरं त्यक्त्वा गुणान्वाणैस्तीक्ष्णैः शोणितपायिभिः ॥५९१॥
ऋजुत्वाज्जहिरे प्राणान् गुणोऽपि न गुणः खले । न वैरं न फलं किञ्चित्तथाप्यघ्नन् शराः परान् ॥ ५९२ ॥

हो । अथवा पूर्ण ज्ञानको नाश करनेका कारण मिथ्याज्ञान ही फैल रहा हो ॥ ५८९ ॥ अथवा युद्धमें विघ्न करनेवाला कोई बड़ा भारी भय ही आकर उपस्थित हुआ था । जिसने पूर्वभवमें पुण्य संचित नहीं किया ऐसा मनुष्य जिस प्रकार सबके नेत्रोंके लिए अप्रिय लगता है इसी प्रकार वह धूलि भी सबके नेत्रोंके लिए अप्रिय लग रही थी ॥ ५८० ॥ इस प्रकार वेगसे भरी धूलि आकाशको उल्लंघन कर रही थी अर्थात् समस्त आकाशमें फैल रही थी । उस धूलिके भीतर समस्त सेना ऐसी हो गई मानो मूर्च्छित हो गई हो अथवा गर्भमें स्थित हो, अथवा दीवाल पर लिखे हुए चित्रके समान निश्चेष्ट हो गई हो । उसका समस्त कलकल शान्त हो गया । जिस प्रकार किसी पराजित राजाके चित्तका क्षोभ धीरे-धीरे शान्त हो जाता है उसी प्रकार जब वह धूलिका बहुत भारी क्षोभ धीरे-धीरे शान्त हो गया और दृष्टिका कुछ-कुछ संचार होने लगा तब सेनापतियोंके द्वारा जिन्हें प्रेरणा दी गई है ऐसे क्रोधसे भरे योद्धा गमन करनेसे शुद्ध हुए नये बादलोंके समान धनुष धारण करते हुए बाणोंकी वर्षा करने लगे और युद्धके मैदानमें शत्रु-योद्धाओंके हृदय रागरहित करने लगे । सेनापतियोंके द्वारा प्रेरित हुए योद्धा बड़े उत्साहसे युद्ध कर रहे थे ॥ ५८१-५८५ ॥ सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनों का बल शत्रुसे प्रकट नहीं होता किन्तु मित्रसे प्रकट होता है । मैंने अपना जीवन देनेके लिए ही राजासे आजीविका पाई है—वेतन ग्रहण किया है । अब उसका समय आ गया है यह विचार कर कोई योद्धा रणमें वह ऋण चुका रहा था । युद्ध करने में एक तो सेवकका कर्तव्य पूरा होता है, दूसरे यश की प्राप्ति होती है और तीसरे शूर-वीरोंकी गति प्राप्त होती है ये तीन फल मिलते हैं ॥ ५८६-५८७ ॥ तथा हम लोगोंके यही तीन पुरुषार्थ हैं यही सोचकर कोई योद्धा किसी दूसरे योद्धासे परस्पर लड़ रहा था । मैं अपनी सेनामें किसीका मरण नहीं देखूँगा क्योंकि वह मेरा ही पराभव होगा यह मानता हुआ कोई एक योद्धा स्वयं सबसे पहले युद्ध कर मर गया था । इस प्रकार तीव्र क्रोध करते हुए सब योद्धा, दायें-बायें दोनों हाथोंसे छोड़ने योग्य, आधे छोड़ने योग्य, और न छोड़ने योग्य सब तरहके शस्त्रोंसे बिना किसी आकुलताके निरन्तर युद्ध कर रहे थे । दोनों ओरसे एक दूसरेके सन्मुख छोड़े जानेवाले बाण, बीचमें ही अपना मार्ग बनाकर बड़ी शीघ्रतासे एक दूसरेकी सेनामें जाकर पड़ रहे थे । गुण अर्थात् धनुषकी डोरीको छोड़कर दूर जानेवाले, तीक्ष्ण एवं खून पीने-वाले बाण सीधे होनेपर भी प्राणोंका घात कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि दुष्ट पुरुषमें रहनेवाले गुण, गुण नहीं कहलाते हैं । बाणोंका न तो किसीके साथ वैर था और न उन्हें कुछ फल ही मिलता था तो भी वे शत्रुओंका घात कर रहे थे ॥५८८-५९१॥ सो ठीक ही है क्योंकि

१ (कलकलं यथा स्यात्, क० टि०) कालकलां कांचित् ख० । २ फलत्रयम् ख० । ३ आनीत-ख०, म० । ४ परं प्रपतिताः ख० । ५ दूरे ख० ।

परप्रेरितवृत्तीनां तीक्ष्णानामीदृशी गतिः । [1]खगाः खगैः खगान् जघ्नुर्बद्धवैराः खगा इव ॥ ५९३ ॥
तृणाय मन्यमानाः स्वान् प्राणान् पापाः परस्परम् । [2]लक्ष्यबद्धास्मरदृष्टान्विताशुपातिशितैः शरैः ॥५९४॥
धन्विनः पातयन्ति स्म गिरीन्वा करिणो बहून् । एकैकैकः शरेणेभमवधीन्मर्मभेदिना ॥ ५९५ ॥
स्वीकुर्वन्स्यत एवान्यमर्मज्ञान् विजिगीषवः । प्रघातमूर्च्छितः कश्चित्प्रवहल्लोहितो भटः ॥ ५९६ ॥
आपतद् गृध्रपक्षानिलोत्थितोऽहन्बहून् पुनः । नीयमानमिवात्मानं वीक्ष्यान्यो देवकन्यया ॥ ५९७ ॥
सोत्सवः सहसोदस्थात्सहासो दरमूर्च्छितः । बाणाङ्किते रणत्तूर्यरणरङ्गे [3]निरन्तरम् ॥ ५९८ ॥
नृत्यत्कबन्धके सद्यः शरच्छादितमण्डपे । बद्धान्त्रजालमालोऽन्यो [4]बहलास्रवार्चितः ॥ ५९९ ॥
राक्षसेन विवाहेन वीरलक्ष्मीं समाक्षिपत् । डाकिन्यश्चटुलं नेटुरारुवन् भैरवं शिवाः ॥ ६०० ॥
ऊर्ध्ववक्त्रवमवह्निविस्फुलिङ्गविभीषणाः[5] । उत्क्षिप्तकर्तिकाजालश्चललोलकपालभृत् ॥ ६०१ ॥
अतिपातनिपीतास्रमवमीद्राक्षसीगणः । निशातशरनाराचचक्राद्युपनिपातनात् ॥ ६०२ ॥
निःप्रभं निःप्रतापं च तदाभूदर्कमण्डलम् । स्याद्वादिभिः समाक्रान्तकुवादिकुलवत्तदा ॥ ६०३ ॥
दशाननबलान्यापन् भङ्गं राघवसैनिकैः । इति प्रवृत्ते संग्रामे सुचिरं तद्रणाङ्गणे ॥ ६०४ ॥
मृताः केचित्पुनः केचित् प्रहताः प्राणमोक्षणे । अक्षमाः पापकर्माणः स्थिताः कण्ठगतासवः ॥ ६०५ ॥
समवर्तीनरान् सर्वान् ग्रस्तान् जरयितुं तदा । निःशक्तिर्वान्तवानेतानिति शङ्काविधायिनः ॥ ६०६ ॥

जिनकी वृत्ति दूसरोंके द्वारा प्रेरित रहती है ऐसे तीक्ष्ण (पैने-कुटिल) पदार्थोंकी ऐसी ही अवस्था होती है। जिनका परस्पर वैर बँधा हुआ है ऐसे अनेक विद्याधर पक्षियोंके समान अपने प्राणोंको तृणके समान मानते हुए बाणोंके द्वारा परस्पर विद्याधरोंका घात कर रहे थे ॥ ५९२-५९४ ॥ धनुष धारण करनेवाले कितने ही योद्धा लक्ष्य पर लगाई हुई अपनी दृष्टिके साथ ही साथ शीघ्र पड़नेवाले तीक्ष्ण बाणोंके द्वारा पर्वतोंके समान बहुतसे हाथियोंको मारकर गिरा रहे थे। किसी एक योद्धाने अपने मर्मभेदी एक ही बाणसे हाथीको मार गिराया था सो ठीक ही है क्योंकि इसीलिए तो विजयकी इच्छा करनेवाले शूर-वीर दूसरेका मर्म जाननेवालोंको स्वीकार करते हैं—अपने पक्षमें मिलाते हैं। कोई एक योद्धा चोटसे मूर्च्छित हो खूनसे लथ-पथ हो गया था तथा आये हुए गृद्ध पक्षियोंके पंखोंकी वायुसे उठकर पुनः अनेक योद्धाओंको मारने लगा था। कोई एक अल्प मूर्च्छित योद्धा, अपने आपको देवकन्या द्वारा ले जाया जाता हुआ देख उत्सवके साथ हँसता हुआ अकस्मात् उठ खड़ा हुआ। जो बाणोंसे भरा हुआ है, जिसमें रणके मारू बाजे गूँज रहे हैं, जिसमें निरन्तर शिर रहित धड़ नृत्य कर रहे हैं, और जिसमें बाणोंका मण्डप छाया हुआ है ऐसे युद्ध-स्थलमें जिसकी सब अँतड़ियोंका समूह बँध रहा है और जो बहुतसे खूनके प्रवाहसे पूजित है ऐसे किसी एक योद्धाने राक्षस-विवाहके द्वारा वीर-लक्ष्मीको अपनी ओर खींचा था। उस युद्धस्थलमें डाकिनियाँ बड़ी चपलतासे नृत्य कर रही थीं और शृगाल भयङ्कर शब्द कर रहे थे। वे शृगाल ऊपरकी ओर किये हुए मुखोंसे निकलनेवाले अग्निके तिलगोंसे बहुत ही भयङ्कर जान पड़ते थे। जिसकी कैंचियोंका समूह ऊपरकी ओर उठ रहा है और जो चञ्चल कपालोंको धारण कर रहा है ऐसा राक्षसियोंका समूह बहुत अधिक पिये हुए खूनको उगल रहा था। अत्यन्त तीक्ष्ण बाण नाराच और चक्र आदि शस्त्रोंके पड़नेसे उस समय सूर्यका मण्डल भी प्रभाहीन तथा कान्ति रहित हो गया था। जिस प्रकार स्याद्वादियोंके द्वारा आक्रान्त हुआ मिथ्यावादियोंका समूह पराजयको प्राप्त होता है उसी प्रकार उस समय रामचन्द्रजीके सैनिकोंके द्वारा आक्रान्त हुई रावणकी सेनाएँ पराजयको प्राप्त हो रही थीं। इस प्रकार उस रणाङ्गणमें संग्राम प्रवृत्त हुए बहुत समय हो गया ॥ ५९५-६०४ ॥ उस युद्धमें कितने ही लोग मर गये, कितने ही घायल हो गये, और कितने ही पापी, प्राण छोड़नेमें असमर्थ हो कण्ठगत प्राण हो गये ॥ ६०५ ॥ उस समय वे मरणासन्न पुरुष ऐसा सन्देह उत्पन्न कर रहे थे कि यमराज

---

१ नाना खगाः खगैः ख० । २ लक्ष्याबद्धा ख०, ख०, घ०, ग०, म० । ३ निरन्तरे ख०, ग० । ४ प्रचुरुधिरक्षरणचर्चितः । ५ विभीषणः ङ० ।

इतस्ततो भटा न्यस्ताः सङ्गरे जर्जराङ्गकाः । जनयन्त्यन्तकस्यापि [1]वीक्षमाणस्य भीरसम् ॥ ६०७ ॥
वाजिनोऽत्र समुच्छिन्नचरणाः सत्त्वशालिनः । अङ्गेनैव समुत्थातुमुद्यन्ति स्मोर्जितौजसः ॥ ६०८ ॥
[2]अभानिभा भटोन्मुक्तशरनाराचकीलिताः । प्रक्षरद्धातुनिष्यन्दगिरयो वाल्यवेणवः ॥ ६०९ ॥
चक्राद्यवयवैर्भग्नैर्विक्षिप्ता सर्वतो रथाः । भान्ति स्म भिन्नपोता वा तत्संग्रामाब्धिमध्यगाः ॥ ६१० ॥
दिनान्येवं बहून्यासीत् संग्रामो बलयोर्द्वयोः । प्रायेण विमुखे दैवे स्वं बलं वीक्ष्यभङ्गुरम् ॥ ६११ ॥
सन्तप्तो मायया सीताशिरश्छेदं दशाननः । विधाय तव देवीयं गृहाणेति रुषाक्षिपत् ॥ ६१२ ॥
शिरस्तत्पश्यतो भर्तुर्हृदि मोहे कृतास्पदे । खेचरेश्वरसैन्यस्य समीक्ष्य समरोत्सवम् ॥ ६१३ ॥
सीतां शीलवतीं कश्चिदपि स्प्रष्टुं त्वया विना । शक्तो नास्ति दशास्यस्य मायेयं मात्रगाः शुचम् ॥६१४॥
नाथेति राघवं तथ्यमब्रवीद्भावणानुजः । विभीषणस्य तद्वाक्यं श्रद्धाय रघुनन्दनः ॥ ६१५ ॥
गजारिगोजयूथं वा भास्करो वा तमस्ततिम् । चक्रे विभेदयामास सद्यो विद्याधरेशिनः ॥ ६१६ ॥
प्रकाशयुद्धमुज्झित्वा मायायुद्धविधित्सया । स पुत्रैः सह पौलस्त्यो लङ्घते स्म नभोऽङ्गणम् ॥ ६१७ ॥
तं वीक्ष्य तद्रणे दक्षौ दुरीक्ष्यं रामलक्ष्मणौ । गजारिविनतासूनु वाहिनीभ्यां[3] समुद्यतौ ॥ ६१८ ॥
सुग्रीवाणुमदाद्यात्मविद्याधरबलान्वितौ । रावणेन समं रामो लक्ष्मणोऽप्यप्रसूनुना ॥ ६१९ ॥
सुग्रीवः कुम्भकर्णेन मरुत्तुग्रविकीर्तिना । खरेण केतुरब्जादिरङ्गदश्चेन्द्रकेतुना ॥ ६२० ॥

खाते समय तो सबको खा गया परन्तु वह खाये हुए समस्त लोगोंको पचानेमें समर्थ नहीं हो सका, इसलिए ही मानो उसने उन्हें उगल दिया था ॥ ६०६ ॥ जिनके अङ्ग जर्जर हो रहे हैं ऐसे कितने ही योद्धा उस युद्धस्थलमें जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े हुए थे और वे देखनेवाले यमराजको भी भयानक रस उत्पन्न कर रहे थे—उन्हें देख यमराज भी भयभीत हो रहा था ॥ ६०७ ॥ जिनके पैर कट गये हैं ऐसे कितने ही प्रतापी एवं बलशाली घोड़े अपने शरीरसे ही उठनेका प्रयत्न कर रहे थे ॥ ६०८ ॥ योद्धाओंके द्वारा छोड़े हुए बाणों और नाराचोंसे कीलित हाथी ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनसे गेरूके निर्झर झर रहे हैं और जिनपर छोटे-छोटे बाँस लगे हुए हैं ऐसे पर्वत ही हों ॥ ६०९ ॥ चक्र आदि अवयवोंके टूट जानेसे सब ओर बिखरे पड़े रथ ऐसे जान पड़ते थे मानो उस संग्राम रूपी समुद्रके बीचमें चलनेवाले जहाज ही टूटकर बिखर गये हों ॥ ६१० ॥ इस प्रकार उन दोनों सेनाओंमें बहुत दिन तक युद्ध होता रहा । एक दिन रावण भाग्यके प्रतिकूल होनेसे अपनी सेनाको नष्ट होती देख बहुत दुःखी हुआ । उसी समय उसने मायासे सीताका शिर काट कर 'लो, यह तुम्हारी देवी है ग्रहण करो' यह कहते हुए क्रोधसे रामचन्द्रजीके सामने फेंक दिया ॥ ६११-६१२ ॥ इधर सीताका कटा हुआ शिर देखते ही रामचन्द्रजीके हृदयमें मोहने अपना स्थान जमाना शुरू किया और उधर रावणकी सेनामें युद्धका उत्सव होना शुरू हुआ । यह देख, विभीषणने रामचन्द्रजीसे सच बात कही कि शीलवती सीताको आपके सिवाय कोई दूसरा छूनेके लिए भी समर्थ नहीं है । हे नाथ, यह रावणकी माया है अतः आप इस विषयमें शोक न कीजिए । विभीषणकी इस बातपर विश्वास रख कर रामचन्द्रजी रावणकी सेनाको शीघ्र ही इस प्रकार नष्ट करने लगे जिस प्रकार कि सिंह हाथियोंके समूहको अथवा सूर्य अन्धकारके समूहको नष्ट करता है ॥ ६१३-६१६ ॥ अब रावण खुला युद्ध छोड़कर माया-युद्ध करनेकी इच्छासे अपने पुत्रोंके साथ आकाश रूपी आँगनमें जा पहुँचा ॥ ६१७ ॥ उस माया-युद्धमें रावणको दुरीक्ष्य (जो देखा न जा सके) देख कर, अत्यन्त चतुर राम और लक्ष्मण, सिंहवाहिनी तथा गरुड़वाहिनी विद्याओंके द्वारा अर्थात् इन विद्याओंके द्वारा निर्मित—आकाशगामी सिंह और गरुड़ पर आरूढ़ होकर युद्ध करनेके लिए उद्यत हुए । सुग्रीव, अणुमान् आदि अपने पक्षके समस्त विद्याधरोंकी सेना भी उनके साथ थी । रावणके साथ रामचन्द्र, इन्द्रजीतके साथ लक्ष्मण, कुम्भकर्णके साथ सुग्रीव, रविकीर्तिके साथ अणुमान्; खरके साथ कमलकेतु, इन्द्रकेतुके

---

१ बीक्ष्यमाणस्य क०, ख०, ग०, म० । २ 'अभान् इभाः' इति पदच्छेदः । अभान्-शोभन्ते स्म, इभा गजाः । ३ विनीताभ्यां ल० ।

इन्द्रवर्माभिधानेन कुमुदो युद्धविश्रुतः । खरदूषणनाम्नापि नीलो मायाविशारदः ॥ ६२१ ॥
एवमन्येऽपि तैरन्ये रामभृत्या रणोद्धताः । दशास्यनायकैः सार्द्धं मायायुद्धमकुर्वत[1] ॥ ६२२ ॥
तदा रामेण संग्रामे परिभूतं[2] दशाननम् । अवलोक्येन्द्रजिन्मध्यं प्राविशद्वास्य जीवितम् ॥ ६२३ ॥
तं [3]शक्त्यापातयद्रामस्तं निरीक्ष्य खगाधिपः । कुपित्वाऽधावदुद्दिश्य सशस्त्रं लक्ष्मणाग्रजम् ॥ ६२४ ॥
तन्मध्ये लक्ष्मणस्तूर्णमभूत्तं दशकन्धरः । मायागजं समारुह्य व्यधान्नाराचपञ्जरे ॥ ६२५ ॥
[4]प्रहारावरणेनापि प्रतापी गरुडध्वजः । सिंहपोत इव द्रष्टो दुर्निवारोऽरिवारणैः ॥ ६२६ ॥
तत्पञ्जरं विभिद्यासौ निर्ययौ निजविद्यया । दृष्ट्वा तद्रावणः क्रुद्ध्वा प्रतीतं चक्रमादिशत् ॥ ६२७ ॥
सिंहनादं तदा कुर्वन् गगने नारदादयः । बाहौ प्रदक्षिणीकृत्य दक्षिणे स्वस्य तिष्ठता ॥ ६२८ ॥
चक्रेण विक्रमेणेव मूर्तीभूतेन चक्रिणा । तेन तेन शिरोऽग्राहि त्रिखण्डं वा खगेशितुः ॥ ६२९ ॥
सोऽपि प्रागेव बद्धायुर्दुराचारादधोगतिम् । प्रापदापत्करीं घोरां पापिनां का परागतिः ॥ ६३० ॥
विजयाब्जं[5] समापूर्य केशवो विश्वविद्विषाम् । अभयं घोषयन्नासं स्वयं जितभुजाम् ॥ ६३१ ॥
[6]तदावशिष्टपौलस्त्यमहामात्रादयोऽलिवत् । मलिना बलचक्रेशपादपङ्कजमाश्रयन् ॥ ६३२ ॥
मन्दोदर्यादितद्देवीदुःखनोदनपूर्वकम् । विभीषणाय लङ्कैश्यपट्टबन्धं[7] विधाय तौ ॥ ६३३ ॥
दशकण्ठान्वयायातविश्वभुक्तिं वितेरतुः । [8]अभूतां च त्रिखण्डेशौ प्रचण्डौ बलकेशवौ ॥ ६३४ ॥

साथ अङ्गद, इन्द्रवर्माके साथ युद्धमें प्रसिद्ध कुमुद और खर-दूषणके साथ माया करनेमें चतुर नील युद्ध कर रहे थे। इसी प्रकार युद्ध करनेमें अत्यन्त उद्धत रामचन्द्रजीके अन्य भृत्य भी रावणके मुखिया लोगोंके साथ मायायुद्ध करने लगे ॥ ६१८–६२२ ॥ उस समय इन्द्रजीतने देखा कि रामचन्द्रजी युद्धमें रावणको दबाये जा रहे हैं—उसका तिरस्कार कर रहे हैं तब वह रावणके प्राणोंके समान बीचमें आ घुसा ॥ ६२३ ॥ परन्तु रामचन्द्रजीने उसे शक्तिकी चोटसे गिरा दिया। यह देख रावण कुपित होकर शस्त्रोंसे सुशोभित रामचन्द्रजीकी ओर दौड़ा ॥ ६२४ ॥ इसी बीचमें लक्ष्मण बड़ी शीघ्रतासे उन दोनोंके बीचमें आ गया और रावणने मायामयी हाथीपर सवार होकर उसे नाराच-पञ्जरमें घेर लिया। अर्थात् लगातार बाण वर्षा कर उसे ढँक लिया ॥ ६२५ ॥ परन्तु गरुड़की ध्वजा फहरानेवाला लक्ष्मण प्रहरणावरण नामकी विद्यासे बड़ा प्रतापी था। वह सिंहके बच्चेके समान दृप्त बना रहा और शत्रुरूपी हाथी उसे रोक नहीं सके ॥ ६२६ ॥ वह अपनी विद्यासे नाराच-पञ्जरको तोड़कर बाहर निकल आया। यह देख रावण बहुत कुपित हुआ और उसने क्रोधित होकर विश्वासपात्र चक्ररत्नके लिए आदेश दिया ॥ ६२७ ॥ उस समय नारद आदि आकाशमें सिंहनाद करने लगे। वह चक्ररत्न मूर्तिधारी पराक्रमके समान प्रदक्षिणा देकर लक्ष्मणके दाहिने हाथ पर आकर ठहर गया। तदनन्तर चक्ररत्नको धारण करनेवाले लक्ष्मणने उसी चक्ररत्नसे तीन खण्डके समान रावणका शिर काटकर अपने आधीन कर लिया ॥ ६२८–६२९ ॥ रावण, अपने दुराचारके कारण पहले ही नरकायुका बन्ध कर चुका था। अतः, दुःख देनेवाली भयंकर (अधोगति) नरक गतिको प्राप्त हुआ सो ठीक ही है; क्योंकि, पापी मनुष्योंकी और क्या गति हो सकती है ? ॥ ६३० ॥ तदनन्तर लक्ष्मणने विजय-शङ्ख बजाकर समस्त शत्रुओंको अभयदानकी घोषणा की सो ठीक ही है। क्योंकि, राजाओंको जीतनेवाले विजयी राजाओंका यही धर्म है ॥ ६३१ ॥ उसी समय रावणके बचे हुए महामन्त्री आदिने भ्रमरोंके समान मलिन होकर रामचन्द्र तथा लक्ष्मणके चरण-कमलोंका आश्रय लिया ॥ ६३२ ॥ रावणकी मन्दोदरी आदि जो देवियाँ दुःखसे रो रही थीं उनका दुःख दूर कर राम और लक्ष्मणने विभीषणको लंकाका राजा बनाया तथा रावणकी वंश-परम्परासे आई हुई समस्त विभूति उसे प्रदान कर दी। इस प्रकार दोनों भाई बलभद्र और नारायण होकर तीन खण्डके बलशाली स्वामी हुए ॥ ६३३–६३४ ॥

---

१ मायायुद्धं व्यकुर्वत, म०, ल० । २ परिभूतदशाननम् ख० । ३ शक्त्याघातयद्राम ल० । ४ प्रहारा-रावणेनाशु क०, ख०, घ०; प्रहारे रावणेनाशु ग० । ५ विजयशङ्खम् । ६ सदावशिष्ट ल० । ७ लङ्कैश्यपदबन्धं घ० । ८ अभूतां ल० ।

अथ शीलवतीं सीतामशोकवनमध्यगाम् । संग्रामविजयाकर्णनोदीर्णप्रमदान्विताम् ॥ ६३५ ॥
रावणानुजसुग्रीवपवमानात्मजादयः । गत्वा यथोचितं दृष्ट्वा ज्ञापयित्वा जयोत्सवम् ६३६ ॥
समयुञ्जत रामेण समं लक्ष्मीमिवापराम् । महामणिं वा हारेण कुशलाः कवयोऽथवा ॥६३७ ॥
वाचं मनोहरार्थेन सन्तो धर्मेण वा धियम् । [1]सद्भृत्यमित्रसम्बन्धाद्भवन्तीप्सितसिद्धयः ॥ ६३८ ॥
वहन्ती जानकी दुःखमा [2]प्राणप्रियदर्शनात् । रामोऽपि तद्वियोगोत्थशोकव्याकुलिताशयः ॥६३९ ॥
तौ परस्परसन्दर्शात्परां प्रीतिमवापतुः । तृतीयप्रकृतिं प्राप्य नृपो वा सापि वा नृपम् ॥ ६४० ॥
आरभ्य विरहाद्वृत्तं यद्यत्तदपृच्छताम् । अन्योन्यसुखदुःखानि निवेद्य सुखिनः प्रियाः ॥ ६४१ ॥
कृतदोषो हतः सीता निर्दोषेति निरूप्य ताम् । स्वयकरोद्राघवः सन्तो विचारानुचराः सदा ॥ ६४२ ॥
ततोऽरिखेपुरोऽगच्छत्स्फुरत्पीठगिरौ स्थितः । अत्रैवाभिषवं प्राप्य सर्वतीर्थाम्बुसम्भृतैः ॥ ६४३॥
अष्टोत्तरसहस्रोरुसुवर्णकलशैर्मुदा । देवविद्याधराधीशैः स्वहस्तेन समुद्धृतैः ॥ ६४४ ॥
कोटिकाख्यशिलां तस्मिन्नुज्जह्रे राघवानुजः । तन्माहात्म्यप्रतुष्टः सन् सिंहनादं व्यधाद्बलः ॥ ६४५ ॥
तन्निवासी सुनन्दाख्यो यक्षः सम्पूज्य तौ मुदा । असिं सौनन्दकं नाम्ना समानं चक्रिणोऽदित ॥६४६॥
अनुगङ्गं ततो गत्वा गङ्गाद्वारसमीपगे । वने निवेश्य शिविरं रथमारुह्य चक्रभृत् ॥ ६४७ ॥
गोपुरेण प्रविश्याब्धिं निजनामाङ्कितं शरम् । मागधावासमुद्दिश्य व्यमुञ्चत् कुञ्चितक्रमः ॥ ६४८ ॥
मागधोऽपि शरं वीक्ष्य मत्वा स्वं स्वल्पपुण्यकम् । अभिष्टुवन् महापुण्यश्चक्रवर्तीति लक्ष्मणम् ॥ ६४९ ॥

तदनन्तर जो अशोक वनके मध्यमें बैठी है, और संग्राममें रामचन्द्रजीकी विजयके समाचार सुननेसे प्रकट हुए हर्षसे युक्त है ऐसी शीलवती सीताके पास जाकर विभीषण, सुग्रीव तथा अणुमान् आदिने उसके यथा योग्य दर्शन किये और विजयोत्सवकी खबर सुनाई ॥ ६३५–६३६ ॥ तत्पश्चात् जिस प्रकार कुशल कारीगर महामणिको हारके साथ, अथवा कुशल कवि शब्दको मनोहर अर्थके साथ अथवा सज्जन पुरुष अपनी बुद्धिको धर्मके साथ मिलाते हैं उसी प्रकार उन विभीषण आदिने दूसरी लक्ष्मीके समान सीताजीको रामचन्द्रजीके साथ मिलाया। सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम भृत्य और मित्रोंके सम्बन्धसे इष्ट-सिद्धियाँ हो ही जाती हैं ॥ ६३७–६३८ ॥ उधर जब तक रामचन्द्रजीका दर्शन नहीं हो गया था तब तक सीता दुःखको धारण कर रही थी और इधर रामचन्द्रजीका हृदय भी सीताके वियोगसे उत्पन्न होनेवाले शोकसे व्याकुल हो रहा था। परन्तु उस समय परस्पर एक-दूसरेके दर्शन कर दोनों ही परम प्रीतिको प्राप्त हुए। रामचन्द्रजी तृतीय प्रकृतिवाली शान्त स्वभाववाली सीताको और सीता शान्त स्वभाववाले राजा रामचन्द्रजीको पाकर बहुत प्रसन्न हुए ॥ ६३९–६४० ॥ विरहसे लेकर अब तकके जो-जो वृत्तान्त थे वे सब दोनोंने एक-दूसरेसे पूछे सो ठीक ही है क्योंकि स्त्री-पुरुष परस्पर एक-दूसरेको अपना सुख-दुःख बतलाकर ही सुखी होते हैं ॥ ६४१ ॥ 'जिसने दोष किया था ऐसा रावण मारा गया, रही सीता, सो यह निर्दोष है' ऐसा विचार कर रामचन्द्रजीने उसे स्वीकृत कर लिया। सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन हमेशा विचारके अनुसार ही काम करते हैं ॥ ६४२ ॥ तदनन्तर–दोनों भाई लंकापुरीसे निकलकर अतिशय-सुन्दरपीठ नामके पर्वत पर ठहरे वहाँ पर देव और विद्याधरोंके राजाओंने अपने हाथसे उठाते हुए सुवर्णके एक हजार आठ बड़े-बड़े कलशोंके द्वारा दोनोंका बड़े हर्षसे अभिषेक किया। वहीं पर लक्ष्मणने कोटि-शिला उठाई और उसके माहात्म्यसे सन्तुष्ट हुए रामचन्द्रजीने सिंहनाद किया ॥ ६४३–६४५ ॥ वहाँके रहनेवाले सुनन्द नामके यक्षने उन दोनोंकी बड़े हर्षसे पूजा की और लक्ष्मणके लिए बड़े सन्मानसे सौनन्दक नामकी तलवार दी ॥ ६४६ ॥ तदनन्तर दोनों भाइयोंने गङ्गा नदीके किनारे-किनारे जाकर गङ्गाद्वारके समीप ही वनमें सेना ठहरा दी। लक्ष्मणने रथपर सवार हो गोपुर द्वारसे समुद्रमें प्रवेश किया और पैरको कुछ टेढ़ाकर मागध देवके निवास स्थानकी ओर अपने नामसे चिह्नित बाण छोड़ा ॥ ६४७–६४८ ॥ मागध देवने भी बाण देखकर अपने आपको

---

१ सद्भृत्यामित्र–ध० । २–मप्राण–ङ्ग० ।

रत्नहारं किरीटं च कुण्डलं शरमप्यमुम् । तीर्थाम्बुपूर्णकुम्भान्तर्गतमस्मै ददौ सुरः ॥ ६५० ॥
ततोऽनुजलधिं गत्वा वैजयन्ताख्यगोपुरे । वशीकृत्य यथा प्राच्यं तथा वरतनुं च तम् ॥ ६५१ ॥
कटकं साङ्गदं चूलामणिं मौलिविभूषणम् । ग्रैवेयकं ततश्चक्री कटीसूत्रं च लब्धवान् ॥ ६५२ ॥
ततः प्रतीचीमागत्य सबलः सिन्धुगोपुरे । प्रविश्याब्धिं प्रभासं च विनतीकृत्य पूर्ववत् ॥ ६५३ ॥
मालां सन्तानकाख्यानां मुक्ताजालप्रलम्बकम् । श्वेतच्छत्रं ततो भूषणान्यन्यान्यपि चाददौ ॥ ६५४ ॥
ततः सिन्धोस्तटे गच्छन् प्रतीचीखण्डवासिनः । स्वकीयां श्रावयित्वाज्ञां सारवस्तूनि चाददत् ॥६५५॥
ऐन्द्रस्याभिमुखो भूत्वा विजयार्द्धनिवासिनः । विनमय्य गजाश्वास्त्रविद्याधरकुमारिकाः ॥६५६॥
रत्नानि चात्मसात्कृत्य पूर्वखण्डनिवासिनः । विधाय करदान् म्लेच्छान् विजयी निर्गतस्ततः ॥ ६५७॥
द्विगुणाष्टसहस्राणि [1]पट्टबन्धान् महीभुजः । दशोत्तरशताख्यातपुराधीशान् खगेशिनः ॥ ६५८ ॥
त्रिखण्डवासिदेवांश्च विधायाज्ञाविधायिनः । द्वाचत्वारिंशदब्दान्ते परिनिष्ठितदिग्जयः ॥ ६५९ ॥
कृताञ्जलिभिरासेव्यो देवखेचरभूचरैः । अग्रजाग्रेसरश्चक्री सचक्रः सर्वपूजितः ॥ ६६० ॥
कृतमङ्गलनेपथ्यां प्रार्थ्यमानसमागमाम् । कान्तामिव विनीतां[2] तां शक्रवत्प्राविशत्पुरीम् ॥ ६६१ ॥
लग्नगोचरसंशुद्धशुभवेलादिसन्धौ । नरविद्याधरा व्यन्तराधिपप्रमुखाः समम् ॥ ६६२ ॥
सिंहासनं समारोप्य श्रीमन्तौ रामलक्ष्मणौ । तीर्थाम्बुपूर्णसौवर्णसहस्राष्टमहाघटैः ॥ ६६३ ॥
अभिषिच्य त्रिखण्डाधिराज्ये सम्पूजितौ युवाम् । प्रवर्द्धमानलक्ष्मीकावाशारुद्धयशोजुषौ ॥ ६६४ ॥

अल्प पुण्यवान् माना और यह महापुण्यशाली चक्रवर्ती है ऐसा समझकर लक्ष्मणकी स्तुति की। यही नहीं, उसने रत्नोंका हार, मुकुट, कुण्डल और उस बाणको तीर्थ-जलसे भरे हुए कलशके भीतर रखकर लक्ष्मणके लिए भेंट किया ॥ ६४९–६५० ॥ तदनन्तर समुद्रके किनारे-किनारे चलकर वैजयन्त नामक गोपुर पर पहुँचे और वहाँ पूर्वकी भाँति वरतनु देवको वश किया ॥ ६५१ ॥ उस देवसे लक्ष्मणने कटक, केयूर, मस्तकको सुशोभित करनेवाला चूडामणि, हार और कटिसूत्र प्राप्त किया ॥ ६५२ ॥ तदनन्तर रामचन्द्रजीके साथ ही साथ लक्ष्मण पश्चिम दिशाकी ओर गया और वहाँ सिन्धु नदीके गोपुर द्वारसे समुद्रमें प्रवेश कर उसने पूर्वकी ही भांति प्रभास नामके देवको वश किया ॥ ६५३ ॥ प्रभास देवसे लक्ष्मणने सन्तानक नामकी माला, जिस पर मोतियोंका जाल लटक रहा है ऐसा सफेद छत्र, और अन्य-अन्य आभूषण प्राप्त किये ॥ ६५४ ॥ तत्पश्चात् सिन्धु नदीके किनारे-किनारे जाकर पश्चिम दिशाके म्लेच्छ खण्डमें रहनेवाले लोगोंको अपनी आज्ञा सुनाई और वहाँकी श्रेष्ठ वस्तुओंको ग्रहण किया ॥ ६५५ ॥ फिर दोनों भाई पूर्व दिशाकी ओर सन्मुख होकर चले और विजयार्ध पर्वत पर रहनेवाले लोगोंको वश कर उसने हाथी, घोड़े, अस्त्र, विद्याधर कन्याएँ एवं अनेक रत्न प्राप्त किये, पूर्व खण्डमें रहनेवाले म्लेच्छोंको कर देनेवाला बनाया और तदनन्तर विजयी होकर वहाँसे बाहर प्रस्थान किया ॥ ६५६–६५७ ॥ इस प्रकार लक्ष्मणने सोलह हजार पट्टबन्ध राजाओंको, एक सौ दश नगरियोंके स्वामी विद्याधरोंको और तीन खण्डके निवासी देवोंको आज्ञाकारी बनाया था। उसकी यह दिग्विजय व्यालीस वर्षमें पूर्ण हुई थी। देव, विद्याधर तथा भूमिगोचरी राजा हाथ जोड़कर सेवा करते थे। इस तरह बड़े भाई रामचन्द्रजीके आगे-आगे चलने वाले चक्ररत्नके स्वामी एवं सबके द्वारा पूजित लक्ष्मणने, माङ्गलिक वेषभूषासे सुशोभित तथा समागमकी प्रार्थना करनेवाली कान्ताके समान उस अयोध्या नगरीमें इन्द्रके समान प्रवेश किया ॥ ६५८–६६१ ॥ तदनन्तर किसी शुद्ध लग्न और शुभ मुहूर्तके आनेपर मनुष्य, विद्याधर और व्यन्तर देवोंके मुखिया लोगोंने एकत्रित होकर श्रीमान् राम और लक्ष्मणको एक ही साथ सिंहासन पर विराजमान कर उनका तीर्थ-जलसे भरे हुए सुवर्णके एक हजार आठ बड़े-बड़े कलशोंसे अभिषेक किया। इस प्रकार उन्हें तीन खण्डके साम्राज्य पर विराजमान कर प्रार्थना की कि आपकी लक्ष्मी बढ़ती रहे और आपका यश दिशाओंके अन्त तक फैल जावे। प्रार्थना करनेके बाद उन्हें रत्नोंके बड़े-बड़े मुकुट बाँधे, मणिमय

---

१ पट्टबन्धान् घ० । २ अयोध्याम् ।

इत्यारोपितरत्नोरुमुकुटौ मणिभूषणौ । अलंकृत्य महाशीर्भिः [1]पूजयामासुरुत्सुकाः ॥ ६६५ ॥
पृथिवीसुन्दरीमुख्याः केशवस्य मनोरमाः । द्विगुणाष्टसहस्राणि देव्यः सत्योऽभवन् श्रियः ॥ ६६६ ॥
सीताद्यष्टसहस्राणि रामस्य प्राणवल्लभाः । द्विगुणाष्टसहस्राणि देशास्तावन्महीभुजः ॥ ६६७ ॥
शून्यं पञ्चाष्टरन्ध्रोक्तख्याता द्रोणमुखाः स्मृताः[2] । पत्तनानि सहस्राणि पञ्चविंशतिसङ्ख्यया ॥ ६६८ ॥
कर्वटाः खत्रयद्व्येकप्रमिताः प्रार्थितार्थदाः । मटम्बास्तत्प्रमाणाः स्युः सहस्राण्यष्ट खेटकाः ॥ ६६९ ॥
शून्यसप्तकखस्वब्धिमिता ग्रामा महाफलाः । [3]अष्टाविंशमिता द्वीपाः समुद्रान्तर्वर्तिनः ॥ ६७० ॥
शून्यपञ्चकपक्षाब्धिमितास्तुङ्गमतङ्गजाः । रथवर्यास्तु तावन्तो नवकोट्यस्तुरङ्गमाः ॥ ६७१ ॥
खसप्तकद्विवार्ध्युक्ता युद्धशौण्डाः पदातयः । देवाश्चाष्टसहस्राणि गणबद्धाभिमानकाः ॥ ६७२ ॥
हलायुधं महारत्नमपराजितनामकम् । अमोघाख्याः [4]शरास्तीक्ष्णाः संज्ञया कौमुदी गदा ॥ ६७३॥
रत्नावर्तसिका माला रत्नान्येतानि सौरिणः । तानि यक्षसहस्रेण रक्षितानि पृथक् पृथक् ॥ ६७४ ॥
चक्रं सुदर्शनाख्यानं कौमुदीत्युदिता गदा । असिः सौनन्दकोऽमोघमुखी [5]शक्तिः शरासनम् ॥ ६७५ ॥
शार्ङ्गं पञ्चमुखः पाञ्चजन्यः शङ्खो महाध्वनिः । कौस्तुभं स्वप्रभाभारभासमानं महामणिः ॥ ६७६ ॥
रत्नान्येतानि सप्तैव केशवस्य पृथक् पृथक् । सदा यक्षसहस्रेण रक्षितान्यमितद्युतेः ॥ ६७७ ॥
एवं तयोर्महाभागधेययोर्भोगसम्पदा । निमग्नयोः सुखाम्भोधौ काले गच्छत्यथान्यदा ॥ ६७८॥
जिनं मनोहरोद्याने शिवगुप्तसमाह्वयम् । विनयेन समासाद्य पूजायित्वाभिवन्द्य तम्[6] ॥ ६७९ ॥
श्रद्धालुर्धर्ममप्राक्षीद्धीमान् रामः सकेशवः । प्रत्यासन्नात्मनिष्ठत्वान्निष्ठितार्थं[7] निरञ्जनम् ॥ ६८० ॥

आभूषण पहिनाये और बड़े-बड़े आशीर्वादोंसे अलंकृत कर उत्सुक हो उनकी पूजा की ॥६६२–६६५॥

लक्ष्मणके पृथिवीसुन्दरीको आदि लेकर लक्ष्मीके समान मनोहर सोलह हजार पतिव्रता रानियाँ थीं और रामचन्द्रजीके सीताको आदि लेकर आठ हजार प्राणप्यारी रानियाँ थीं। सोलह हजार देश और सोलह हजार राजा उनके आधीन थे। नौ हजार आठ सौ पचास द्रोणमुख थे, पच्चीस हजार पत्तन थे, इच्छानुसार फल देनेवाले बारह हजार कर्वट थे, बारह हजार मटंब थे, आठ हजार खेटक थे, महाफल देनेवाले अड़तालीस करोड़ गाँव थे, समुद्रके भीतर रहनेवाले अट्ठाईस द्वीप थे, व्यालीस लाख बड़े-बड़े हाथी थे, इतने ही श्रेष्ठ रथ थे, नव करोड़ घोड़े थे, युद्ध करनेमें शूर-वीर व्यालीस करोड़ पैदल सैनिक थे और आठ हजार गणबद्ध नामके देव थे ॥ ६६६–६७२ ॥ रामचन्द्रजीके अपराजित नामका हलायुध, अमोघ नामके तीक्ष्ण बाण, कौमुदी नामकी गदा और रत्नावर्तसिका नामक माला ये चार महारत्न थे। इन सब रत्नोंकी अलग-अलग एक-एक हजार यक्षदेव रक्षा करते थे ॥ ६७३–६७४ ॥ इसी प्रकार सुदर्शन नामका चक्र, कौमुदी नामकी गदा, सौनन्दक नामका खड्ग, अमोघमुखी शक्ति, शार्ङ्ग नामका धनुष, महाध्वनि करनेवाला पाँच मुखका पाञ्चजन्य नामका शङ्ख और अपनी कान्तिके भारसे शोभायमान कौस्तुभ नामका महामणि ये सात रत्न अपरिमित कान्तिको धारण करनेवाले लक्ष्मणके थे और सदा एक-एक हजार यक्ष देव उनकी पृथक्-पृथक् रक्षा करते थे ॥ ६७५–६७७ ॥

इस प्रकार सुख रूपी सागरमें निमग्न रहनेवाले महाभाग्यशाली दोनों भाइयोंका समय भोग और सम्पदाओंके द्वारा व्यतीत हो रहा था कि किसी समय मनोहर नामके उद्यानमें शिवगुप्त नामके जिनराज पधारे। श्रद्धासे भरे हुए बुद्धिमान् राम और लक्ष्मणने बड़ी विनयके साथ जाकर उनकी पूजा-वन्दना की। तदनन्तर आत्म-निष्ठाके अत्यन्त निकट होनेके कारण कृतकृत्य एवं कर्ममल

---

१ वर्धयामासु ख०, ग०, घ०। २ म पुस्तकेऽयं पाठो मूले मिलितः, क पुस्तके त्वञ्जलिकायां लिखितः, अन्यत्र नास्त्येव। 'ग्रामो वृत्यावृतः स्यान्नगरमुरुचतुर्गोपुरोद्भासिसालं, खेटं नद्यद्रिवेष्टं परिवृतमभितः कर्वटं पत्तनेन। ग्रामैर्युक्तं मटम्बं दलितदशशतैः पत्तनं रत्नयोनिः, द्रोणास्यं सिन्धुवेलावलयवलयितं वाहनं चाद्रिरूढम्'। ३ अष्टद्विसम्मिता-ल०। ४ खगास्तीक्ष्णा ल०। ५ मेघमुखी क०, ग०, ख०। ६-वन्द्यतां ख०। ७ निष्ठितार्थनिरञ्जनं क०, ख०। निष्ठितार्थो निरञ्जनः ल०।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भव्यानुग्रहमुख्यात्मप्रवृत्तिः सोऽप्यभाषत । स्ववाक्प्रसरसज्ज्योत्स्ना समाह्लादिततत्समः ॥ ६८१ ॥
प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगैर्ज्ञानहेतुभिः । गुणमुख्यनयादानविशेषबललाभतः ॥ ६८२ ॥
स्याच्छब्दलाञ्छितास्तित्वनास्तित्वाद्यन्तसन्ततम् । जीवादीनां पदार्थानां तत्त्वमाप्तस्वलक्षणम् ॥ ६८३ ॥
मार्गणा गुणजीवानां समासं संसृतिस्थितिम् । अन्यच्च धर्मसम्बद्धं व्यक्तं युक्तिसमाश्रितम् ॥ ६८४ ॥
कर्मभेदान् फलं तेषां सुखदुःखादिभेदकम् । बन्धमोचनयोर्हेतुं स्वरूपं मुक्तिमुक्तयोः ॥ ६८५ ॥
इति धर्मविशेषं तत् ततः श्रुत्वा मनीषिणः । सर्वे रामादयोऽभूवन् गृहीतोपासकव्रताः ॥ ६८६ ॥
निदानशल्यदोषेण भोगासक्तः स केशवः । बध्वायुर्नारकं घोरं नागृहीद्दर्शनादिकम् ॥ ६८७ ॥
एवं संवत्सरान्नीत्वा साकेते कतिचित्सुखम् । तदाधिपत्यं भरतशत्रुघ्नाभ्यां प्रदाय तौ ॥ ६८८ ॥
स्वयं स्वपरिवारेण गत्वा वाराणसीं पुरीम् । प्राविक्षतामधिक्षिप्य शक्रलीलां स्वसम्पदा ॥ ६८९ ॥
सुतो विजयरामाख्यो रामस्यामरसन्निभः । पृथिवीचन्द्रनामाभूच्चन्द्राभः केशवस्य च ॥ ६९० ॥
अन्यैश्च पुत्रपौत्राद्यैः परीतौ तौ धृतोदयौ । नयतःस्म सुखं कालं त्रिवर्गफलशालिनौ ॥ ६९१ ॥
कदाचिल्लक्ष्मणो नागवाहिनीशयने सुखम् । [1]सुप्तो न्यग्रोधवृक्षस्य भञ्जनं मत्तदन्तिना ॥६९२॥
सैंहिकेयनिगीर्णार्करसातलनिवेशनम् । सुधाधवलितोत्तुङ्गप्रासादैकांशविच्युतिम् ॥ ६९३ ॥
स्वप्ने दृष्ट्वा समुत्थाय समासाद्य निजाग्रजम् । स्वप्नान् संप्रश्रयं सर्वान् यथादृष्टान्न्यवेदयत् ॥६९४॥
पुरोहितस्तदाकर्ण्य फलं तत्रेत्थमब्रवीत् । व्यग्रोधोन्मूलनाद् व्याधिमसाध्यं केशवो व्रजेत् ॥६९५॥

कलङ्कसे रहित उक्त जिनराजसे धर्मका स्वरूप पूछा ॥ ६७८–६८० ॥ भव्य जीवोंका अनुग्रह करना ही जिनका मुख्य कार्य है ऐसे शिवगुप्त जिनराज भी अपने वचन-समूह रूपी उत्तम चन्द्रिकासे उस सभाको आह्लादित करते हुए कहने लगे ॥ ६८१ ॥ कि इस संसारमें जीवादिक नौ पदार्थ हैं उनका प्रमाण नय निक्षेप तथा निर्देश आदि अनुयोगोंसे जो कि ज्ञान प्राप्तिके कारण हैं बोध होता है। गौण और मुख्य नयोंके स्वीकार करने रूप बलके मिल जानेसे 'स्यादस्ति', 'स्यान्नास्ति' आदि भङ्गों द्वारा प्रतिपादित धर्मोंसे वे जीवादि पदार्थ सदा युक्त रहते हैं। इनके सिवाय शिवगुप्त जिनराजने आप्त भगवान्का स्वरूप, मार्गणा, गुणस्थान, जीवसमास, संसारका स्वरूप, धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य युक्ति-युक्त पदार्थ, कर्मोंके भेद, सुख-दुःखादि अनेक भेद रूप कर्मोंके फल, बन्ध और मोक्षका कारण, मुक्ति और मुक्त जीवका स्वरूप आदि विविध पदार्थोंका विवेचन भी किया। इस प्रकार उनसे धर्मका विशेष स्वरूप सुनकर रामचन्द्रजी आदि समस्त बुद्धिमान् पुरुषोंने श्रावकके व्रत ग्रहण किये ॥ ६८२–६८६ ॥ परन्तु भोगोंमें आसक्त रहनेवाले लक्ष्मणने निदान शल्य नामक दोषके कारण नरककी भयङ्कर आयुका बन्ध कर लिया था इसलिए उसने सम्यग्दर्शन आदि कुछ भी ग्रहण नहीं किया ॥ ६८७ ॥ इस प्रकार राम और लक्ष्मणने कुछ वर्ष तो अयोध्यामें ही सुखसे बिताये तदनन्तर वहाँका राज्य भरत और शत्रुघ्नके लिए देकर वे दोनों अपने परिवारके साथ बनारस चले गये और अपनी सम्पदासे इन्द्रकी लीलाको तिरस्कृत करते हुए नगरीमें प्रविष्ट हुए ॥ ६८८–६८९ ॥ रामचन्द्रके देवके समान विजयराम नामका पुत्र था और लक्ष्मणके चन्द्रमाके समान पृथिवीचन्द्र नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था ॥ ६९० ॥ जिनका अभ्युदय प्रसिद्ध है और जो धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्गके फलसे सुशोभित हैं ऐसे रामचन्द्र और लक्ष्मण अन्य पुत्र-पौत्रादिकसे युक्त होकर सुखसे समय बिताते थे ॥ ६९१ ॥ किसी एक दिन लक्ष्मण नागवाहिनी शय्या पर सुखसे सोया हुआ था। वहाँ उसने तीन स्वप्न देखे—पहला मत्त हाथीके द्वारा वट वृक्षका उखाड़ा जाना, दूसरा राहुके द्वारा निगले हुए सूर्यका रसातलमें चला जाना और तीसरा चूनासे सफेद किये हुए ऊँचे राजभवनका एकदेश गिर जाना। इन स्वप्नोंको देखकर वह उठा, बड़े भाई रामचन्द्रजीके पास गया और विनयके साथ सब स्वप्नोंको जिस प्रकार देखा था उसी प्रकार निवेदन कर गया ॥ ६९२–६९४ ॥ पुरोहितने सुनते ही उनका फल इस प्रकार कहा कि, वट वृक्षके उखड़नेसे लक्ष्मण असाध्य बीमारीको प्राप्त होगा,

---

१ सुप्त्वा ख० ।

राहुग्रस्तार्कसम्पातात् [1]भाग्यभोगायुषां क्षयः । तुङ्गप्रासादभङ्गेन त्वं प्रयाता तपोवनम् ॥ ६९६ ॥
इत्येकान्ते वचस्तस्य श्रुत्वा रामो यथार्थवित् । धीरोदात्ततया नायान् मनागपि मनःक्षतिम् ॥६९७॥
लोकद्वयहितं मत्वा कारयामास [2]घोषणाम् । प्राणिनो नहि हन्तव्याः कैश्चिच्चेति दयोद्यतः ॥६९८॥
चकार शान्तिपूजां च सर्वज्ञसवनावधिम् । ददौ दानं च दीनेभ्यो येन यद्यदभीप्सितम् ॥६९९॥
बभूव क्षीणपुण्यस्य ततः कतिपयैर्दिनैः । केशवस्य महाव्याधिरसातोदयचोदितः ॥ ७०० ॥
दुःसाध्येनामयेनाऽसौ माघे मास्यसितेऽन्तिमे । दिने तेनागमच्चक्री पृथ्वीं पङ्कप्रभाभिधाम् ॥७०१॥
तद्वियोगेन शोकाग्निसन्तप्तहृदयो बलः । कथं कथमपि ज्ञानात्सन्धार्यात्मानमात्मना ॥ ७०२ ॥
कृत्वा शरीरसंस्कारमनुजस्य यथाविधिः । सर्वान्तःपुरदुःखं च प्रशमय्य प्रसन्नवाक् ॥७०३॥
सर्वप्रकृतिसान्निध्ये पृथिवी [3]सुन्दरीसुते । ज्येष्ठे राज्यं विधायोच्चैः सपट्टं केशवात्मजे ॥७०४॥
अष्टौ विजयरामाद्याः सीतायाः सात्त्विकाः सुताः । लक्ष्मीमनभिवाञ्छत्सु तेषां ज्येष्ठेषु सप्तसु ॥७०५॥
दत्वाजितञ्जयाख्याय यौवराज्यं कनीयसे । मिथिलामर्पयित्वास्मै त्रिनिर्वेदपरायणः [4]॥७०६॥
साकेतपुरमभ्येत्य वने सिद्धार्थनामनि । वृषभस्वामिनिष्क्रान्तितीर्थभूमौ महौजसः ॥७०७॥
शिवगुप्ताभिधानस्य समीपे केवलेशिनः । संसारमोक्षयोर्हेतुफले सम्यक् प्रबुद्धवान् ॥७०८॥
निदानशल्यदोषेण चतुर्थीं नारकीं भुवम् । केशवः प्राप्त इत्येतद्बुध्वाऽस्मादेव[5] शुद्धधीः ॥७०९॥
निरस्ततद्भवस्नेहविधिराभिनिबोधिकात् । वेदात्प्रादुर्भवद्बोधिः सुग्रीवाणुमदादिभिः ॥७१०॥

राहुके द्वारा ग्रस्त सूर्यके गिरनेसे उसके भाग्य, भोग और आयुका क्षय सूचित करता है तथा ऊँचे भवनके गिरनेसे आप तपोवनको जावेंगे ॥ ६९५—६९६ ॥ पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जानने वाले रामचन्द्रजीने पुरोहितके यह वचन एकान्तमें सुने परन्तु धीर-वीर होनेके कारण मनमें कुछ भी विकार-भावको प्राप्त नहीं हुए ॥ ६९७ ॥ तदनन्तर दयामें उद्यत रहनेवाले रामचन्द्रजीने दोनों लोकोंका हितकर मान कर यह घोषणा करा दी कि कोई भी मनुष्य किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करे ॥ ६९८ ॥ इसके सिवाय उन्होंने सर्वज्ञ देवका स्नपन तथा शान्ति-पूजा की और दीनोंके लिए जिसने जो चाहा वह दान दिया ॥ ६९९ ॥ तदनन्तर जिसका पुण्य क्षीण हो गया है ऐसे लक्ष्मणको कुछ दिनोंके बाद असाता वेदनीय कर्मके उदयसे प्रेरित हुआ महारोग उत्पन्न हुआ ॥ ७०० ॥ उसी असाध्य रोगके कारण चक्ररत्नका स्वामी लक्ष्मण मरकर माघ कृष्ण अमावस्याके दिन चौथी पङ्क-प्रभा नामकी पृथिवीमें गया ॥ ७०१ ॥ लक्ष्मणके वियोगसे उत्पन्न हुई शोक-रूपी अग्निसे जिनका हृदय सन्तप्त हो रहा है ऐसे रामचन्द्रजीने ज्ञानके प्रभावसे किसी तरह अपने आप आत्माको सुस्थिर किया, छोटे भाई लक्ष्मणका विधि पूर्वक शरीर संस्कार किया और प्रसन्नतापूर्ण वचन कहकर समस्त अन्तःपुरका शोक शान्त किया ॥ ७०२–७०३ ॥ फिर उन्होंने सब प्रजाके सामने पृथिवीसुन्दरी नामकी प्रधान रानीसे उत्पन्न हुए लक्ष्मणके बड़े पुत्रके लिए राज्य देकर अपने ही हाथसे उसका पट्ट बाँधा ॥ ७०४ ॥ सात्त्विक वृत्तिको धारण करनेवाले सीताके विजयराम आदिक आठ पुत्र थे। उनमें से सात बड़े पुत्रोंने राज्यलक्ष्मी लेना स्वीकृत नहीं किया इसलिए उन्होंने अजितञ्जय नामके छोटे पुत्रके लिए युवराज पद देकर मिथिला देश समर्पण कर दिया और स्वयं संसार, शरीर तथा भोगोंसे विरक्त हो गये ॥ ७०५–७०६ ॥ विरक्त होते ही वे अयोध्या नगरीके सिद्धार्थ नामक उस वनमें पहुँचे जो कि भगवान् वृषभदेवके दीक्षाकल्याणकका स्थान होनेसे तीर्थस्थान हो गया था। वहाँ जाकर उन्होंने महाप्रतापी शिवगुप्त नामके केवलीके समीप संसार और मोक्षके कारण तथा फलको अच्छी तरह समझा ॥ ७०७–७०८ ॥ जब उन्हें इन्हीं केवली भगवान्से इस बातका पता चला कि लक्ष्मण निदान नामक शल्यके दोषसे चौथे नरक गया है तब उनकी बुद्धि और भी अधिक निर्मल हो गई। तदनन्तर जिन्होंने लक्ष्मणका समस्त स्नेह छोड़ दिया है और आभिनिबोधिक-मतिज्ञानसे

---

१ योग्यभोगा—ख० । २ घोषणम् ग०, म०, ख० । ३ सुन्दरे सुते ख० । ४ परायणैः ख० ५ बुद्धा देवो विशुद्धधीः ख० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विभीषणादिभिश्चामा भूमिपैः पञ्चभिः शतैः । अशीतिशतपुत्रैश्च सह संयममाप्तवान् ॥७११॥
तथा सीता महादेवी पृथिवीसुन्दरी युताः । देव्यः श्रुतवती क्षान्तिनिकटे तपसि स्थिताः ॥७१२॥
तौ राजयुवराजौ च गृहीतश्रावकव्रतौ । जिनाङ्घ्रियुग्ममानम्य सम्यक् प्राविशतां पुरीम् ॥७१३॥
मोक्षमार्गमनुष्ठाय यथाशक्ति यथाविधि । रामाणुमन्तौ सञ्जातौ श्रुतकेवलिनौ मुनी ॥७१४॥
जाताः शेषाश्च बुद्ध्यादिसप्तर्द्ध्याविष्कृतोदयाः । एवं छद्मस्थकालेऽस्य पञ्चाब्दोनचतुःशतैः ॥७१५॥
व्यतीतवति सद्ध्यानविशेषाद्धतघातिनः । रामस्य केवलज्ञानमुदपाद्यर्कबिम्बवत् ॥ ७१६ ॥
समुद्भूतैकछत्रादिप्रातिहार्यविभूषितः । असिञ्चद्भव्यसस्यानां वृष्टिं धर्ममयीमसौ ॥ ७१७ ॥
एवं केवलबोधेन नीत्वा षट्शतवत्सरान् । फाल्गुने मासि पूर्वाह्णे शुक्लपक्षे चतुर्दशी ॥७१८॥
दिने सम्मेदगिर्यग्रे तृतीयं शुक्लमाश्रितः । योगत्रितयमारुध्य समुच्छिन्नक्रियाश्रयः ॥ ७१९ ॥
निःशेषन्यक्कृताघातिकर्मा सोऽणुमदादिभिः । शरीरत्रितयापायादवापत्पदमुत्तमम्[1] ॥७२०॥
विभीषणादयः केचित् प्रापन्ननुदिशं पुनः । रामचन्द्रपत्न्यादेव्याद्याः काश्चिदीयुरितोऽच्युतम् ॥७२१॥
शेषाः कल्पेऽभवन्नाद्यौ लक्ष्मणश्चागतः क्रमात् । नरकात् संयमं प्राप्य मोक्षलक्ष्मीमवाप्स्यति ॥७२२॥
[2]..... । विनेयानस्य जन्तूनां भवेद्वैचित्र्यमीदृशम् ॥ ७२३ ॥

वसन्ततिलका

प्रोल्लङ्घ्य गोपदमिवाम्बुनिधिं स्वसैन्यै-
रुद्ध्वा रिपोः पुरमगारमिवैकमल्पम् ।
निर्मूल्य वैरिकुलमाशिवव सस्यमीप-
ल्लक्ष्म्या सह क्षितिसुतामपहृत्य शत्रोः ॥ ७२४ ॥

जिन्हें रत्नत्रयकी प्राप्ति हुई है ऐसे रामचन्द्रजीने सुग्रीव, अणुमान् और विभीषण आदि पाँच सौ राजाओं तथा एक सौ अस्सी अपने पुत्रोंके साथ संयम धारण कर लिया ॥ ७०६–७११ ॥ इसी प्रकार सीता महादेवी और पृथिवीसुन्दरीसे सहित अनेक देवियोंने श्रुतवती आर्यिकाके समीप दीक्षा धारण कर ली ॥ ७१२ ॥ तदनन्तर जिन्होंने श्रावकके व्रत ग्रहण किये हैं ऐसे राजा तथा युवराजने जिनेन्द्र भगवान्‌के चरण-युगलको अच्छी तरह नमस्कार कर नगरीमें प्रवेश किया ॥ ७१३ ॥ रामचन्द्र और अणुमान् दोनों ही मुनि, शक्तिके अनुसार विधिपूर्वक मोक्षमार्गका अनुष्ठान कर श्रुतकेवली हुए ॥ ७१४ ॥ शेष बचे हुए मुनिराज भी बुद्धि आदि सात ऋद्धियोंके ऐश्वर्यको प्राप्त हुए । इस प्रकार जब छद्मस्थ अवस्थाके तीन सौ पंचानवे वर्ष बीत गये तब शुक्ल ध्यानके प्रभावसे घातिया कर्मोंका क्षय करनेवाले मुनिराज रामचन्द्रको सूर्य-बिम्बके समान केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ॥ ७१५–७१६ ॥ प्रकट हुए एकछत्र आदि प्रातिहार्योंसे विभूषित हुए केवल रामचन्द्रजीने धर्ममयी वृष्टिके द्वारा भव्य-जीवरूपी धान्यके पौधोंको सींचा ॥ ७१७ ॥ इस प्रकार केवलज्ञानके द्वारा उन्होंने छह सौ वर्ष बिताकर फाल्गुन शुक्ल चतुर्दशीके दिन प्रातःकालके समय सम्मेदाचलकी शिखर पर तीसरा शुक्लध्यान धारण किया और तीनों योगोंका निरोधकर समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नामक चौथे शुक्ल ध्यानके आश्रयसे समस्त अघातिया कर्मोंका क्षय किया । इस प्रकार औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरोंका नाश हो जानेसे उन्होंने अणुमान् आदिके साथ उन्नत पद-सिद्ध क्षेत्र प्राप्त किया ॥ ७१८–७२० ॥ विभीषण आदि कितने ही मुनि अनुदिशको प्राप्त हुए और रामचन्द्र तथा लक्ष्मणकी पट्टरानियाँ सीता तथा पृथिवीसुन्दरी आदि कितनी ही आर्यिकाएँ अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न हुईं ॥ ७२१ ॥ शेष रानियाँ प्रथम स्वर्गमें उत्पन्न हुईं । लक्ष्मण नरकसे निकल कर क्रम-क्रमसे संयम धारण कर मोक्ष-लक्ष्मीको प्राप्त होगा ॥ ७२२ ॥ सो ठीक ही है क्योंकि जीवोंके इसी प्रकारकी विचित्रता होती है ॥ ७२३ ॥ जिन्होंने समुद्रको गोपदके समान उल्लङ्घन किया, जिन्होंने अपनी सेनासे शत्रुके नगरको एक छोटेसे घरके समान घेर लिया, जिन्होंने शत्रुके समस्त वंशको धानके

---

१ पदमुत्तमम् ल०, म० । २ अस्मदुपलब्धसर्वपुस्तकेष्वस्य श्लोकस्य पूर्वार्धो नास्ति ।

शार्दूलविक्रीडितम्

आनम्रामरभूनभश्चरशिरःपीठोद्धृताङ्घ्रिद्वयौ,
निष्कण्टीकृतदक्षिणार्धभरताखण्डत्रिखण्डाधिपौ ।
साकेतं समधिष्ठितौ हतशुचिप्रोद्भासिभास्वत्प्रभौ
दिक्प्रान्तद्विप[1]दर्पसर्पशमनव्यग्रोग्रवीरश्रियौ ॥ ७२५ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
सीरादिप्रभृतिप्रसिद्धविलसद्रत्नावलीरञ्जित-
श्रीसम्पादितभोगयोगसुखिनौ सर्वार्थिसन्तर्पकौ ।
चन्द्रार्काविव तेजसा स्वयशसा विश्वं प्रकाश्य स्फुटं
श्रीमन्तौ बलकेशवौ क्षितिमिमां सम्पाल्य सार्द्धं चिरम् ॥७२६॥

वसन्ततिलका

एकस्त्रिलोकशिखरं सुखमध्यतिष्ठ-
दन्यश्चतुर्थनरकावनिनायकोऽभूत् ।
भोग्ये समेऽपि परिणामकृताद्विशेषा-
न्मा तद्ग्यधाद्बुधवल्सुबुधो[2] निदानम् ॥७२७॥
देशे सारसमुच्चये नरपतिर्देवो नरादिस्ततः
सौधर्मेऽ[3]निमिषोऽभवत्सुखनिधिस्तस्माच्च्युतोऽस्मिन्नभूत् ।
आक्रान्ताखिलखेचरोज्ज्वलशिरोमालो विनम्यन्वये
स्त्रीलोलो निजवंशकेतुरहिताचाराग्रणी रावणः ॥७२८॥
आसीदिहैव मलये विषये महीश-
स्तुक् चन्द्रचूल इति दुश्चरितः समाप्य ।
पश्चात्सपोऽजनि सुरः स सनत्कुमारे
तस्मादिहैत्य समभूद्विभुरर्द्धचक्री ॥ ७२९ ॥

खेतके समान शीघ्र ही निर्मूल कर दिया, जिन्होंने लक्ष्मीके साथ-साथ शत्रुसे सीताको छीन लिया, जिनके दोनों चरण, नम्रीभूत देव, भूमिगोचरी राजा तथा विद्याधरोंके मस्तकरूपी सिंहासन पर सदा विद्यमान रहते थे, जिन्होंने दक्षिण दिशाके अर्धभरत क्षेत्रको निष्कण्टक बना दिया था, जो समस्त तीन खण्डोंके स्वामी थे, अयोध्या नगरीमें रहते थे, जिनकी प्रभा ज्येष्ठ मासके सूर्यकी प्रभाको भी तिरस्कृत करती थी। जिनकी वीरलक्ष्मी दिशाओंके अन्तमें रहनेवाले दिग्गजोंके गर्व-रूपी सर्पको शान्त करनेमें सदा व्यग्र रहती थी, हल आदि प्रसिद्ध तथा सुशोभित रत्नोंकी पंक्तिसे अनुरञ्जित लक्ष्मीके द्वारा प्राप्त कराये हुए भोगोंके संयोगसे जो सदा सुखी रहते थे, जो समस्त याचकोंको संतुष्ट रखते थे, जो तेजसे चन्द्र और सूर्यके समान थे, और जिन्होंने अपने यशसे समस्त संसारको अत्यन्त प्रकाशित कर दिया था ऐसे श्रीमान् बलभद्र और नारायण पदवीके धारक रामचन्द्र और लक्ष्मण चिरकाल तक साथ ही साथ इस पृथिवीका पालन करते रहे। उन दोनोंमेंसे एक तो भोगोंकी समानता होनेपर भी परिणामोंके द्वारा की हुई विशेषतासे तीन लोकके शिखर पर सुखसे विराजमान हुआ और दूसरा चतुर्थ नरककी भूमिका नायक हुआ। इसलिए आचार्य कहते हैं कि विद्वानोंको मूर्खके समान कभी भी निदान नहीं करना चाहिये ॥ ७२४-७२७ ॥ रावणका जीव पहले सारसमुच्चय नामके देशमें नरदेव नामका राजा था। फिर सौधर्म स्वर्गमें सुखका भाण्डार-स्वरूप देव हुआ और तदनन्तर वहाँसे च्युत होकर इसी भरतक्षेत्रके राजा विनमि विद्याधरके वंशमें समस्त विद्याधरोंके देदीप्यमान मस्तकोंकी मालापर आक्रमण करनेवाला, स्त्रीलम्पट, अपने वंशको नष्ट करनेके लिए केतु (पुच्छलतारा) के समान तथा दुराचारियोंमें अग्रेसर रावण हुआ ॥ ७२८ ॥ लक्ष्मणका जीव पहले

---

१ द्विपसर्पदर्पशमन-ल० । २ प्रबुधो क०, घ० । ३ देवः ।

द्रुतविलम्बितम्

मणिमतिः खचरी गुणभूषणा
कृतनिदानमृतेरति[1]कोपिनी ।
ततयशा समभूदिह सुव्रता
परिरता जनकेशसुता सती ॥ ७३० ॥

मालिनी

इह सचिवतनूजश्चन्द्रचूलस्य मित्रं
विजयविदितनामाऽजायत [2]स्वस्तृतीये ।
कथितकनकचूलो लालितो दिव्यभोगै-
रभवदमितवीर्यः सूर्यवंशे स रामः ॥ ७३१ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
जनयतु बलदेवो देवदेवो दुरन्ताद्
दुरितदुरुदयोत्थाद्दूष्यदुःखाद्वीयान् ।
अवनतभुवनेशो विश्वदृश्वा विरागो[3]
निखिलसुखनिवासः सोऽष्टमोऽभीष्टमस्मान् ॥ ७३२ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे मुनिसुव्रततीर्थंकर-हरिषेणचक्रवर्ति-रामबलदेवलक्ष्मीधरकेशवसीतारावणपुराणं परिसमाप्तमष्टषष्टं पर्व ॥ ६८ ॥

इसी क्षेत्रके मलयदेशमें चन्द्रचूल नामका राजपुत्र था, जो अत्यन्त दुराचारी था। जीवनके पिछले भागमें तपश्चरण कर वह सनत्कुमार स्वर्गमें देव हुआ फिर वहाँसे आकर यहाँ अर्धचक्री लक्ष्मण हुआ था ॥ ७२९ ॥ सीता पहले गुणरूपी आभूषणोंसे सहित मणिमति नामकी विद्याधरी थी। उसने अत्यन्त कुपित होकर निदान मरण किया जिससे यशको विस्तृत करनेवाली तथा अच्छे व्रतोंका पालन करनेवाली जनकपुत्री सती सीता हुई ॥ ७३० ॥ रामचन्द्रका जीव पहले मलय देशके मंत्रीका पुत्र चन्द्रचूलका मित्र विजय नामसे प्रसिद्ध था फिर तीसरे स्वर्गमें दिव्य भोगोंसे लालित कनकचूल नामका प्रसिद्ध देव हुआ और फिर सूर्यवंशमें अपरिमित बलको धारण करनेवाला रामचन्द्र हुआ ॥ ७३१ ॥ जो दुःखदायी पापकर्मके दुष्ट उदयसे उत्पन्न होनेवाले निन्दनीय दुःखसे बहुत दूर रहते थे, जिन्होंने समस्त इन्द्रोंको नम्र बना दिया था, जो सर्वज्ञ थे, वीतराग थे, समस्त सुखोंके भाण्डार थे और जो अन्तमें देवोंके देव हुए—सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हुए ऐसे अष्टम बलभद्र श्री रामचन्द्रजी हम लोगोंकी इष्ट-सिद्धि करें ॥ ७३२ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणके संग्रहमें मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर, हरिषेण चक्रवर्ती, राम बलभद्र, लक्ष्मीधर (लक्ष्मण) नारायण, सीता तथा रावणके पुराणका वर्णन करनेवाला अड़सठवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ ६८ ॥

१–रपि ल० । २ स्वर्गे । ३ विरागी ल० ।

एकोनसप्ततितमं पर्व

यस्य नामापि भर्तृणां मुक्त्यै हृदयपङ्कजे । नमिर्गमयताज्जघ्रान् मोक्षलक्ष्मीं स मंक्षु नः ॥ १ ॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते वर्षे विषये वत्सनामनि । कौशाम्ब्यां नगरे राजा पार्थिवाख्यो विमुर्विशाम् ॥ २ ॥
चक्षुरिक्ष्वाकुवंशस्य लक्ष्मीं वक्षःस्थले दधन् । साक्षाच्चक्रीव दिक्चक्रमाक्रम्याभात् स विक्रमी ॥ ३ ॥
तनूजस्तस्य सुन्दर्यां देव्यां सिद्धार्थनामभाक् । मुनिं मनोहरोद्याने परमावधिवीक्षणम् ॥ ४ ॥
दृष्ट्वा मुनिवराख्यानं कदाचिद्विनयानतः । सम्पृच्छ्य धर्मसद्भावं यथावत्तदुदीरितम् ॥ ५ ॥
समाकर्ण्य समुत्पन्नसंवेगः स महीपतिः । मृतिमूलधनेनाधमर्णो मृत्योरिहासुभृत् ॥ ६ ॥
वहन् दुःखानि तद्वृद्धिं सर्वो जन्मनि दुर्गतः । रत्नत्रयं समावर्ज्य तस्मै यावन्न दास्यति ॥ ७ ॥
ऋणं सवृद्धिकं तावत्कुतः स्वास्थ्यं कुतः सुखम् । इति निश्चित्य कर्मारीन्निहन्तुं विहितोद्यमः ॥ ८ ॥
सुताय श्रुतशास्त्राय प्रजापालनशालिने[1] । सिद्धार्थाय समर्थाय दत्वा राज्यमुदारधीः[2] ॥ ९ ॥
प्राव्राजीत्पूज्यपादस्य मुनेर्मुनिवरश्रुतेः । पादमूलं समासाद्य सतां साः वृत्तिरीदृशी ॥ १० ॥
सिद्धार्थो व्याप्तसम्यक्त्वो गृहीताणुव्रतादिकः । भोगान् सुखेन भुञ्जानः प्रचण्डोऽपालयत्प्रजाः ॥ ११ ॥
काले गच्छति तस्यैवं कदाचित्स्वगुरोर्मुनेः । श्रुत्वा शरीरसंन्यासं विच्छिन्नविषयस्पृहः ॥ १२ ॥
सद्यो मनोहरोद्याने बुद्धतत्त्वार्थविस्तृतिः । [3]महाबलाभिधाख्यातात्केवलावगमेक्षणात् ॥ १३ ॥

अथानन्तर—भक्त लोगोंके हृदय-कमलमें धारण किया हुआ जिनका नाम भी मुक्तिके लिए पर्याप्त है—मुक्ति देनेमें समर्थ है ऐसे नमिनाथ स्वामी हम सबके लिए शीघ्र ही मोक्ष-लक्ष्मी प्रदान करें ॥ १ ॥ इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्रके वत्स देशमें एक कौशाम्बी नामकी नगरी है। उसमें पार्थिव नामका राजा राज्य करता था ॥ २ ॥ वह इक्ष्वाकु वंशके नेत्रके समान था, लक्ष्मीको अपने वक्षःस्थल पर धारण करता था, अतिशय पराक्रमी था और सब दिशाओं पर आक्रमण कर साक्षात् चक्रवर्तीके समान सुशोभित होता था ॥ ३ ॥ उस राजाके सुन्दरी नामकी रानीसे सिद्धार्थ नामका पुत्र हुआ था। एक दिन वह राजा मनोहर नामके उद्यानमें गया था। वहाँ उसने परमावधिज्ञानरूपी नेत्रके धारक मुनिवर नामके मुनिके दर्शन किये और विनयसे नम्र होकर उनसे धर्मका स्वरूप पूछा। मुनिराजने धर्मका यथार्थ स्वरूप बतलाया उसे सुनकर राजाको वैराग्य उत्पन्न हो आया। वह विचार करने लगा कि संसारमें प्राणी मरण-रूपी मूलधन लेकर मृत्युका कर्जदार हो रहा है॥४–६॥ प्रत्येक जन्ममें अनेक दुःखोंको भोगता और उस कर्जकी वृद्धि करता हुआ यह प्राणी दुर्गत हो रहा है—दुर्गतियोंमें पड़कर दुःख उठा रहा है अथवा दरिद्र हो रहा है। जब तक यह प्राणी रत्नत्रय रूपी धनका उपार्जन कर मृत्यु रूपी साहूकारके लिए ब्याज सहित धन नहीं दे देगा तब तक उसे स्वास्थ्य कैसे प्राप्त हो सकता है? वह सुखी कैसे रह सकता है? ऐसा निश्चय कर वह कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट करनेका उद्यम करने लगा ॥ ७–८ ॥ उत्कृष्ट बुद्धिके धारक राजा पार्थिवने, अनेक शास्त्रोंके सुनने एवं प्रजाका पालन करनेवाले सिद्धार्थ नामके अपने समर्थ पुत्रके लिए राज्य देकर पूज्यपाद मुनिवर नामके मुनिराजके चरण-कमलोंके समीप जिनदीक्षा धारण कर ली सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुषोंकी ऐसी ही प्रवृत्ति होती है ॥ ९–१० ॥ प्रतापी सिद्धार्थ भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर तथा अणुव्रत आदि व्रत धारण कर सुखपूर्वक भोग भोगता हुआ प्रजाका पालन करने लगा ॥ ११ ॥

इस प्रकार समय व्यतीत हो रहा था कि एक दिन उसने अपने पिता पार्थिव मुनिराजका समाधिमरण सुना। समाधिमरणका समाचार सुनते ही उसकी विषय-सम्बन्धी इच्छा दूर हो गई। उसने शीघ्र ही मनोहर नामके उद्यानमें जाकर महाबल नामक केवली भगवान्से तत्त्वार्थका विस्तारके

१–शीलने ल० । २ श्रियं सुधीः ल० । ३ महाबलाभिधाख्यातकेवला–घ०, म० । महाबलाभिधानाख्यात् केवला–ल० ।

राज्यभारं समारोप्य श्रीदत्ते स्वसुते सति । लब्धक्षायिकसम्यक्त्वः शमी संयममाददे ॥ १४ ॥
स धृत्वैकादशाङ्गानि बद्ध्वा षोडशकारणैः । अन्त्यनामादिकर्माणि पुण्यानि पुरुषोत्तमः ॥ १५ ॥
स्वायुरन्ते समाराध्य विमाने [1]ऽवसरामः । देवोऽपराजिते पुण्यादुत्तरेऽनुत्तरेऽभवत् ॥ १६ ॥
त्रयस्त्रिंशत्पयोध्यायुरेकारत्निसमुच्छ्रितिः । निश्वासाहारलेश्यादिभावैस्तत्रोदितैर्युतः ॥ १७ ॥
जीवितान्तेऽहमिन्द्रेऽस्मिन् षण्मासैरागमिष्यति । तस्मादवतितीर्षौ त्रिषये वङ्गनामनि ॥ १८ ॥
मिथिलायां महीपालः श्रीमान् गोत्रेण काश्यपः । विजयादिमहाराजो विख्यातो वृषभान्वये ॥ १९ ॥
अनुरक्तं व्यधात् कृत्स्नमुद्यन्निव रविर्जगत् । स्वविरागाद्विरक्तं तत् सोऽतपत्तस्य तादृशम् ॥ २० ॥
[2]अवृणीत गुणालिस्तं लक्ष्मीश्च सुकृतोदयात् । पुष्कलाविष्क्रियं तस्मिन् पुरुषार्थत्रयं ततः ॥ २१ ॥
तस्य राज्ये रथावेव तापः कोपोऽपि कामिषु । विग्रहाख्या तनुष्वेव मुनिष्वेव विरागता ॥ २२ ॥
परार्थग्रहणं नाम कुकविष्वेव बन्धनम् । काव्येष्वेव विवादश्च विद्वत्स्वेव जयार्थिषु ॥ २३ ॥
शरव्याप्तिः सरित्स्वेव ज्योतिःष्वेवानवस्थितिः । क्रौर्यं क्रूरग्रहेष्वेव देवेष्वेव पिशाचता ॥ २४ ॥

साथ स्वरूप समझा ॥ १२–१३ ॥ तदनन्तर श्रीदत्त नामक पुत्रके लिए राज्य देकर उसने क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया और शान्त होकर संयम धारण कर लिया ॥ १४ ॥ उस पुरुषोत्तमने ग्यारह अङ्ग धारण कर सोलह कारण भावनाओंके द्वारा तीर्थंकर नामक पुण्य कर्मका बन्ध किया ॥ १५ ॥ और आयुके अन्तमें समाधिमरण कर अपराजित नामके श्रेष्ठ अनुत्तर विमानमें अतिशय शोभायमान देव हुआ ॥ १६ ॥ वहाँ उसकी तैंतीस सागरकी आयु थी, एक हाथ ऊँचा शरीर था, तथा श्वासोच्छ्वास, आहार, लेश्या आदि भाव उस विमान-सम्बन्धी देवोंके जितने बतलाये गये हैं वह उन सबसे सहित था ॥ १७ ॥ जब इस अहमिन्द्रका जीवनका अन्त आया और वह छह माह बाद यह वहाँसे चलनेके लिए तत्पर हुआ तब जम्बूवृक्षसे सुशोभित इसी जम्बूद्वीपके वङ्ग नामक देशमें एक मिथिला नामकी नगरी थी । वहाँ भगवान् वृषभदेवका वंशज, काश्यपगोत्री विजयमहाराज नामसे प्रसिद्ध सम्पत्तिशाली राजा राज्य करता था ॥ १८–१९ ॥ जिस प्रकार उदित होता हुआ सूर्य संसारको अनुरक्त—लालवर्णका कर लेता है उसी प्रकार उसने राज्यगद्दी पर आरूढ़ होते ही समस्त संसारको अनुरक्त—प्रसन्न कर लिया था और ज्यों-ज्यों सूर्य स्वयं राग—लालिमासे रहित होता जाता है त्यों-त्यों वह संसारको विरक्त—लालिमासे रहित करता जाता है इसी प्रकार वह राजा भी ज्यों-ज्यों विराग—प्रसन्नतासे रहित होता जाता था त्यों-त्यों संसारको विरक्त—प्रसन्नतासे रहित करता जाता था । सारांश यह है कि संसारकी प्रसन्नता और अप्रसन्नता उसीपर निर्भर थी सो ठीक ही है क्योंकि उसने वैसा ही तप किया था और वैसा ही उसका प्रभाव था ॥ २० ॥ चूंकि पुण्य कर्मके उदयसे अनेक गुणोंके समूह तथा लक्ष्मीने उस राजाका वरण किया था इसलिए उसमें धर्म, अर्थ, कामरूप तीनों पुरुषार्थ अच्छी तरह प्रकट हुए थे ॥ २१ ॥ उस राजाके राज्यमें यदि ताप—उष्णत्व था तो सूर्यमें ही था अन्यत्र ताप-दुःख नहीं था, क्रोध था तो सिर्फ कामी मनुष्योंमें ही था वहाँके अन्य मनुष्योंमें नहीं था, विग्रह नाम था तो शरीरोंमें ही था अन्यत्र नहीं, विरागता—वीतरागता यदि थी तो मुनियोंमें ही थी वहाँके अन्य मनुष्योंमें विरागता—स्नेहका अभाव नहीं था । परार्थ ग्रहण—अन्य कवियोंके द्वारा प्रतिपादित अर्थका ग्रहण करना कुकवियोंमें ही था अन्य मनुष्योंमें परार्थग्रहण—दूसरेके धनका ग्रहण करना नहीं था । बन्धन—हरबन्ध, छत्रबन्ध आदिकी रचना काव्योंमें ही थी वहाँके अन्य मनुष्योंमें बन्धन-पाश आदिसे बाँधा जाना नहीं था । विवाद—शास्त्रार्थ यदि था तो विजयकी इच्छा रखनेवाले विद्वानोंमें ही था वहाँके अन्य मनुष्योंमें विवाद—कलह नहीं था । शरव्याप्ति—एक प्रकारके तृणका विस्तार नदियोंमें ही था वहाँके मनुष्योंमें शरव्याप्ति—बाणोंका विस्तार नहीं था । अनवस्थिति—अस्थिरता यदि थी तो ज्यौतिष्क देवोंमें ही थी—वे ही निरन्तर

---

१ अहमिन्द्रः । २ ब० पुस्तके तु 'अवृणीत गुणानेव सर्वान् सुकृतोदयात्' इति पाठः । अत्र द्वितीयपादे छन्दोभङ्गः ।

वप्पिला तन्महादेवी वसुधारादिपूजिता । श्रीह्रीधृत्यादिभिः सेव्या सुखसुप्तानिशावधौ ॥ २५ ॥
[1]शरदादिद्वितीयायां नक्षत्रेऽश्विनि संगते । स्वर्गावतरणे भर्तुर्दृष्ट्वा स्वप्नान् पुरोदितान् ॥ २६ ॥
स्ववक्त्राब्जप्रविष्टेभमप्यालोक्य विनिद्रिका । प्रभातपटहध्वानश्रवणाविष्कृतोत्सवा ॥ २७ ॥
अपृच्छत् फलमेतेषां नृपं देशावधीक्षणम् । सोऽप्यवादीद्भवद्गर्भे भावितीर्थकृदित्यदः ॥ २८ ॥
तदैवागत्य देवेन्द्राः स्वर्गावतरणोत्सवम् । विधाय स्वनियोगेन निजधामागमत्समम् ॥ २९ ॥
आषाढे स्वातियोगे तं कृष्णपक्षे महौजसम् । दशम्यां विश्वलोकेशमसूत तनुजोत्तमम् ॥ ३० ॥
देवा द्वितीयकल्याणमप्यभ्येत्य तदा व्यधुः । नमिनामानमप्येनं व्याहरन् मोहभेदिनम् ॥ ३१ ॥
मुनिसुव्रततीर्थेशसन्ताने वर्षमानतः । गतेषु षष्टिलक्षेषु नमिनाथसमुद्भवः ॥ ३२ ॥
आयुर्दशसहस्राणि वर्षाणां परमं मतम् । उत्सेधो धनुषां पञ्चदश चास्याभिधीयते ॥ ३३ ॥
जातरूपद्युतिः सार्द्धद्विसहस्राब्दसम्मिते । गते कुमारकालेऽभिषेकमापत्सराज्यकम् ॥ ३४ ॥
राज्ये पञ्चसहस्राणि वत्सराणामगुर्विभोः । तदा प्रावृड्घनाटोपसङ्कटे गगनाङ्गणे ॥ ३५ ॥
[2]देवं वनविहाराय गतवन्तं महोदयम् । गजस्कन्धसमारूढं भानुमन्तमिवापरम् ॥ ३६ ॥
नभस्तलगतौ देवकुमारौ विहितानती । एवं विज्ञापयामासतुर्बद्धकरपङ्कजौ ॥ ३७ ॥
द्वीपेऽस्मिन् प्राग्विदेहेऽस्ति विषयो वत्सकावती । सुसीमा नगरी तत्र विमानादपराजितात् ॥ ३८ ॥

गमन करते रहते थे वहाँके मनुष्योंमें अनवस्थिति—अस्थिरता नहीं थी। क्रूरता यदि थी तो दुष्ट ग्रहोंमें ही थी वहाँके मनुष्योंमें क्रूरता—दुष्टता—निर्दयता नहीं थी और पिशाचता—पिशाच जाति यदि थी तो देवोंमें ही थी वहाँके मनुष्योंमें पिशाचता—नीचता नहीं थी ॥ २२–२४ ॥ विजय-महाराजकी महादेवीका नाम वप्पिला था, देवोंने रत्नवृष्टि आदिसे उसकी पूजा की थी, श्री, ह्री, धृति आदि देवियाँ उसकी सेवा करती थीं। शरद् ऋतुकी प्रथम द्वितीया अर्थात् आश्विन कृष्ण द्वितीयाके दिन अश्विनी नक्षत्र और रात्रिके पिछले पहर जब कि भगवानका स्वर्गावतरण हो रहा था तब सुखसे सोई हुई महारानीने पहले कहे हुए सोलह स्वप्न देखे ॥ २५–२६ ॥ उसी समय उसने अपने मुखमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। देखते ही उसकी निद्रा दूर हो गई और प्रातः-कालके बाजोंका शब्द सुननेसे उसके हर्षका ठिकाना नहीं रहा ॥ २७ ॥ उसने देशावधि ज्ञानरूपी नेत्रको धरण करनेवाले राजासे इन स्वप्नोंका फल पूछा और राजाने भी कहा कि तुम्हारे गर्भमें भावी तीर्थंकरने अवतार लिया है ॥ २८ ॥ उसी समय इन्द्रोंने आकर अपने नियोगके अनुसार भगवान्का स्वर्गावतरण महोत्सव—गर्भकल्याणकका उत्सव किया और तदनन्तर सब साथ ही साथ अपने अपने स्थानपर चले गये ॥ २९ ॥ वप्पिला महादेवीने आषाढ़ कृष्ण दशमीके दिन स्वाति नक्षत्रके योगमें समस्त लोकके स्वामी महाप्रतापी जेष्ठपुत्रको उत्पन्न किया ॥ ३० ॥ देवोंने उसी समय आकर जन्मकल्याणकका उत्सव किया और मोह शत्रुको भेदन करनेवाले जिन-बालकका नमिनाथ नाम रक्खा ॥ ३१ ॥ भगवान् मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकरकी तीर्थ-परम्परामें जब साठ लाख वर्ष बीत चुके थे तब नमिनाथ तीर्थंकरका जन्म हुआ था ॥ ३२ ॥ भगवान् नमिनाथकी आयु दश हजार वर्षकी थी, शरीर पन्द्रह धनुष ऊँचा था और कान्ति सुवर्णके समान थी। जब उनके कुमारकालके अढ़ाई हजार वर्ष बीत गये तब उन्होंने अभिषेकपूर्वक राज्य प्राप्त किया था ॥ ३३–३४ ॥ इस प्रकार राज्य करते हुए भगवान्को पाँच हजार वर्ष बीत गये। एक दिन जब कि आकाश वर्षा-ऋतुके बादलोंके समूहसे व्याप्त हो रहा था तब महान् अभ्युदयके धारक भगवान् नमिनाथ दूसरे सूर्यके समान हाथीके कन्धेपर आरूढ़ होकर वन-विहारके लिए गये ॥ ३५–३६ ॥ उसी समय आकाशमार्गसे आये हुए दो देवकुमार हस्तकमल जोड़कर नमस्कार करते हुए इस प्रकार प्रार्थना करने लगे ॥ ३७ ॥ वे कहने लगे कि इसी जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें एक वत्सकावती नामका

---

१ शारदादि–म० । २ वनं वनविहाराय म० । एवं वनविहाराय ग०, ल० ।

अवतीर्य समुत्पन्नस्तीर्थनाथोऽपराजितः । तस्य केवलपूजार्थं देवेन्द्राः समुपागताः ॥ ३९ ॥
तत्सभायाममूत् प्रश्नः किमस्ति भरतेऽधुना । कश्चित्तीर्थकृदित्याह सोप्येवं सकलार्थदृक् ॥ ४० ॥
वङ्गाख्यदेशे मिथिलानगरे नमिनायकः । भावितीर्थकरः पुण्यादवतीर्णोऽपराजितात् ॥ ४१ ॥
देवोपनीतभोगानां भोक्ता सम्प्रति साध्विति । तपः प्राग्धातकीखण्डे कृत्वा सौधर्मनामनि ॥ ४२ ॥
सम्भूयेतौ द्वितीयेऽह्नि गत्वा तद्वचनश्रुतेः । भवन्तमीक्षितुं पूज्यमावामैव[1] सकौतुकौ ॥ ४३ ॥
इति सोऽपि समासन्नकेवलावगमोदयः । चित्ते विधाय तत्सर्वं महीशः प्राविशत्पुरम् ॥ ४४ ॥
तत्र स्वभवसम्बन्धं स्मृत्वा तीर्थकरं च तम् । भाजवं जवसंजातसद्भावं भावयन्मुहुः ॥ ४५ ॥
अनादिबन्धनैर्गाढं बध्वात्मात्मानमात्मना । कायकारागृहे स्थित्वा पापी पक्षीव पञ्जरे ॥ ४६ ॥
कुञ्जरो वार्पितालानो कलयत्पलमात्मनः । नाना दुःखानि भुञ्जानो भूयस्तैरेव रञ्जितः ॥ ४७ ॥
इन्द्रियार्थेषु संसक्तो रतितीव्रतरोदयात् । अशुचिष्वेवसम्वृद्धतृष्णोऽवस्करकीटवत् ॥ ४८ ॥
बिभ्यन्मृत्योस्तमाधावन् वाञ्छंदुःखस्तदर्जयत् । विपर्यस्तमतिः कष्टमार्तरौद्राहिताशया ॥ ४९ ॥
भवे भ्राम्यत्यविश्राम्यन् प्रताम्यन् पापपाकतः । दृढां निरूढां धिङ्मूढिमभीष्टार्थविघातिनीम् ॥ ५० ॥
इति निर्वेद[2]संयोगाद्भोगरागातिदूरगः । सारस्वतादिसर्वापरागामरसमर्चितः ॥ ५१ ॥
क्षयोपशमसम्प्राप्तशस्त[3]संज्वलनोदयः । लब्धबोधिः सुतं राज्ये निजे संयोज्य सुप्रभम् ॥ ५२ ॥

देश है। उसकी सुसीमा नगरीमें अपराजित विमानसे अवतार लेकर अपराजित नामके तीर्थङ्कर उत्पन्न हुए हैं। उनके केवलज्ञानकी पूजाके लिए सब इन्द्र आदि देव आये थे ॥ ३८–३९ ॥ उनकी सभामें प्रश्न हुआ कि क्या इस समय भरतक्षेत्रमें भी कोई तीर्थङ्कर है ? सर्वदर्शी अपराजित भगवान् ने उत्तर दिया कि इस समय वङ्गदेशके मिथिलानगरमें नमिनाथ स्वामी अपराजित विमानसे अवतीर्ण हुए हैं वे अपने पुण्योदयसे तीर्थंकर होनेवाले हैं ॥ ४०–४१ ॥ इस समय वे देवोंके द्वारा लाये हुए भोगोंका अच्छी तरह उपभोग कर रहे हैं—गृहस्थावस्थामें विद्यमान हैं। हे देव ! हम दोनों अपने पूर्व जन्ममें धातकीखण्ड द्वीपके रहनेवाले थे वहाँ तपश्चरण कर सौधर्म नामक स्वर्गमें उत्पन्न हुए हैं। दूसरे दिन हमलोग अपराजित केवलीकी पूजाके लिए गये थे। वहाँ उनके वचन सुननेसे पूजनीय आपके दर्शन करनेके लिए कौतुकवश यहाँ आये हैं ॥ ४२–४३ ॥ जिन्हें निकट-कालमें ही केवलज्ञानकी प्राप्ति होनेवाली है ऐसे भगवान् नमिनाथ देवोंकी उक्त समस्त बातोंको हृदयमें धारण कर नगरमें लौट आये ॥ ४४ ॥ वहाँ वे विदेह क्षेत्रके अपराजित तीर्थंकर तथा उनके साथ अपने पूर्वभवके सम्बन्धका स्मरण कर संसारमें होनेवाले भावोंका बार-बार विचार करने लगे ॥ ४५ ॥ वे विचार करने लगे कि इस आत्माने अपने आपको अपने आपके ही द्वारा अनादि-कालसे चले आये बन्धनोंसे अच्छी तरह जकड़ कर शरीर-रूपी जेलखानेमें डाल रक्खा है और जिस प्रकार पिंजड़ेके भीतर पापी पक्षी दुःखी होता है अथवा आलान—खम्भेसे बँधा हुआ हाथी दुःखी होता है उसी प्रकार यह आत्मा निरन्तर दुःखी रहता है। यह यद्यपि नाना दुःखोंको भोगता है तो भी उन्हीं दुःखोंमें राग करता है। रति नोकषायके अत्यन्त तीव्र उदयसे यह इन्द्रियोंके विषयमें आसक्त रहता है और विष्ठाके कीड़ाके समान अपवित्र पदार्थोंमें तृष्णा बढ़ाता रहता है ॥ ४८ ॥ यह प्राणी मृत्युसे डरता है किन्तु उसी ओर दौड़ता है, दुःखोंसे छूटना चाहता है किन्तु उनका ही सञ्चय करता है। हाय-हाय, बड़े दुःखकी बात है कि आर्त और रौद्र ध्यानसे उत्पन्न हुई तृष्णासे इस जीवकी बुद्धि विपरीत हो गई है। यह बिना किसी विश्रामके चतुर्गतिरूप भवमें भ्रमण करता है और पापके उदयसे दुःखी होता रहता है। इष्ट अर्थका विघात करनेवाली, दृढ़ और अनादि कालसे चली आई इस मूर्खताको भी धिक्कार हो ॥ ४६–५० ॥

इस प्रकार वैराग्यके संयोगसे वे भोग तथा रागसे बहुत दूर जा खड़े हुए। उसी समय सारस्वत आदि समस्त वीतराग देवोंने—लौकान्तिक देवोंने उनकी पूजा की ॥ ५१ ॥ कर्मोंका

---

१ मायामैवः ख०, ग०, मावामेवं म०, ङ० (आवाम्, ऐव, इण् धातोर्लङुत्तमपुरुषद्वितीयवचनस्य रूपम्-आवाम् आगतौ इति भावः)। २ निर्वेदसंवेगात् ङ०। ३ प्रशस्त ङ० पाठे छन्दोभङ्गः।

साभिषेकं सुरैः [1]प्राप्य परिनिःक्रान्तिपूजनम् । यानमुत्तरकुर्वाख्यं समारुह्य मनोहरम् ॥ ५३ ॥
गत्वा [2]चैत्रवनोद्यानं षष्ठोपवसनं श्रितः । आषाढकालपक्षेऽश्विनक्षत्रे दशमीदिने ॥ ५४ ॥
अपराह्णे सहस्रेण क्षत्रियाणां सहाग्रहीत् । संयमं सयमापार्यं[3] सज्ञानं च चतुर्थकम् ॥ ५५ ॥
भोक्तुं वीरपुरं तस्मै दत्तो गतवते नृपः । सुवर्णवर्णो दत्त्वान्नमवापाश्चर्यपञ्चकम् ॥ ५६ ॥
छाद्मस्थ्येन ततः काले प्रयाते नववत्सरे । निजदीक्षावने रम्ये मूले बकुलभूरुहः ॥ ५७ ॥
तस्य षष्ठोपवासस्य नक्षत्रे ऽश्वाभिधानके । मार्गशीर्षशुचौ पक्षे दिनान्ते केवलं विभोः ॥ ५८ ॥
दिने तृतीयनन्दायामभूदखिलगोचरम् । [4]नाकनायकसञ्चार्यतुर्यकल्याणभागिनः[5] ॥ ५९ ॥
सुप्रभार्यादयः सप्तदशासन् गणनायकाः । चतुःशतानि पञ्चाशत् सर्वपूर्वधरा मताः ॥ ६० ॥
शिक्षकाः षट्शतद्वादशसहस्राणि सद्व्रताः । त्रिज्ञानधारिणां सङ्ख्या सहस्रं षट् शताधिकम् ॥ ६१ ॥
तावन्तः पञ्चमज्ञाना मुनयो विक्रियर्द्धिकाः । सर्वे सार्द्धसहस्रं स्युर्मनःपर्ययबोधनाः ॥ ६२ ॥
शून्यपञ्चद्विकैकोक्तास्यक्तसङ्गाः प्रकीर्तिताः । सहस्रं वादिनां सङ्ख्या ते सर्वेऽपि समुचिताः ॥ ६३ ॥
विंशतिः स्युः सहस्राणि मङ्गिनीप्रमुखार्यिकाः । चत्वारिंशत्सहस्राणि तदृष्टांशाधिका मताः ॥ ६४ ॥
श्रावका लक्षमेकं तु त्रिगुणाः श्राविकास्ततः । देवा देवोप्यसङ्ख्यातास्तिर्यञ्चः सङ्ख्यया मिताः ॥ ६५ ॥
एवं द्वादशसङ्ख्यान [6]गणैनम्रैर्नमीश्वरः । सद्धर्मदेशनं कुर्वन्नार्यक्षेत्राणि सर्वतः ॥ ६६॥

क्षयोपशम होनेसे उनके प्रशस्त संज्वलनका उदय हो गया अर्थात् प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभका क्षयोपशम और संज्वलन क्रोध मान माया लोभका मन्द उदय रह गया जिससे रत्नत्रयको प्राप्त कर उन्होंने सुप्रभ नामक पुत्रको अपना राज्य-भार सौंप दिया ॥ ५२ ॥ तदनन्तर देवोंके द्वारा किये हुए अभिषेकके साथ-साथ दीक्षा-कल्याणकका उत्सव प्राप्त कर वे उत्तरकुरु नामकी मनोहर पालकी पर सवार हो चैत्रवन नामक उद्यानमें गये । वहाँ उन्होंने बेलाका नियम लेकर आषाढ़कृष्ण दशमीके दिन अश्विनी नक्षत्रमें सायंकालके समय एक हजार राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया और उसी समय संयमी जीवोंके प्राप्त करनेके योग्य चतुर्थ—मनःपर्ययज्ञान भी प्राप्त कर लिया ॥ ५३–५५ ॥ पारणाके लिए भगवान् वीरपुर नामक नगरमें गये वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले राजा दत्तने उन्हें आहार दान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ ५६ ॥ तदनन्तर जब छद्मस्थ अवस्थाके नव वर्ष बीत गये तब वे एक दिन अपने ही दीक्षावनमें मनोहर बकुल वृक्षके नीचे बेलाका नियम लेकर ध्यानारूढ़ हुए । वहीं पर उन्हें मार्गशीर्ष शुक्लपक्षकी * तीसरी नन्दा तिथि अर्थात् एकादशीके दिन सायंकालके समय समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान उत्पन्न हुआ—उसी समय इन्द्र आदि देवोंने चतुर्थ—ज्ञानकल्याणका उत्सव किया ॥ ५७–५९ ॥ सुप्रभार्यको आदि लेकर उनके सत्रह गणधर थे । चार सौ पचास समस्त पूर्वोंके जानकार थे, बारह हजार छह सौ अच्छे व्रतोंको धारण करने वाले शिक्षक थे, एक हजार छह सौ अवधिज्ञानके धारकोंकी संख्या थी, इतने ही अर्थात् एक हजार छह सौ ही केवल ज्ञानी थे, पन्द्रह सौ विक्रियाऋद्धिके धारक थे, बारह सौ पचास परिग्रह रहित मनःपर्ययज्ञानी थे और एक हजार वादी थे । इस तरह सब मुनियोंकी संख्या बीस हजार थी । मङ्गिनीको आदि लेकर पैंतालीस हजार आर्यिकाएं थीं,एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएं थीं, असंख्यात देव देवियां थीं और संख्यात तिर्यञ्च थे ॥६०–६५॥ इस प्रकार समीचीन धर्मका उपदेश करते हुए भगवान् नमिनाथने नम्रीभूत बारह सभाओंके साथ आर्य क्षेत्रमें सब ओर विहार किया । जब उनकी आयुका एक माह बाकी रह गया तब वे विहार बन्द कर सम्मेदशिखर पर जा विराज-

---

१ प्राप्तपरिनिष्क्रान्तिपूजनः ख०, घ० । २ चित्रवनोद्यानं म०, ल०, । ३ संयमाप्तार्यं घ० । ४ नायनायक घ०, ल० । ५ भोगिनः म० । ६ संख्यात म०, घ० ।

* ज्यौतिष शास्त्रमें 'नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा च तिथयः क्रमात्' इस श्लोकके क्रमानुसार प्रतिपदा आदि तिथियोंके क्रमसे नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता और पूर्णा नाम हैं । षष्ठीसे दशमी तककी तथा एकादशीसे पूर्णिमा तककी तिथियोंके भी यही नाम हैं इस प्रकार तीसरी नन्दा तिथि एकादशी होती है ।

विहृत्य विहृतिं त्यक्त्वा मासं सम्मेदपर्वते । सहस्रमुनिभिः सार्द्धं प्रतिमायोगमास्थितः ॥ ६७ ॥
वैशाखे मासि कृष्णायां चतुर्दश्यां निशात्यये । मुक्तिमश्व्याह्वनक्षत्रे [1]नमिस्तीर्थंकरोऽगमत् ॥ ६८ ॥
अकुर्वन्पञ्चमं देवाः कल्याणं चाखिलेशिनः । स्वं स्वमोकश्च सम्प्राप्तपुण्यपण्याः प्रपेदिरे ॥ ६९॥

पृथ्वीच्छन्दः

कनत्कनकविग्रहो विहितविग्रहो घातिभिः
सहाहितजयो[2] जयेति च नुतो नतैर्नाकिभिः ।
भियं भवभवां[3] बहुं नयतु नः क्षयं नायको
विनेयविदुषां स्वयं विहतविग्रहोऽन्ते नमिः ॥ ७० ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

कौशाम्ब्यां प्रथितस्तृतीयजनने सिद्धार्थनामा नृपः
कृत्वा तत्र तपोऽतिघोरमभवत्तूर्येऽमरोऽनुत्तरे ।
तस्मादेत्य पुरे बभूव मिथिलानाम्नीन्द्रवन्द्यो नमि-
स्तीर्थेशस्त्रिजगद्धितार्थवचनव्यक्त्यैकविंशो जिनः ॥ ७१ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पृथ्वीवृत्तम्

नमिर्नमितसामरामरपतिः पतद्चामरो
भ्रमद्भ्रमरविभ्रमभ्रमितपुष्पवृष्ट्युत्करः ।
करोतु चरणारविन्दमकरन्दसम्पायिनां
विनेयमधुपायिनामविरतोरुतृप्तिं जिनः ॥ ७२ ॥

जगत्त्रयजयोत्सिक्तमोहमाहात्म्यमर्दनात् । एकविंशो जिनो लब्धलक्ष्मीर्लक्ष्मीं ददातु नः ॥ ७३ ॥

मान हुए । वहाँ उन्होंने एक हजार मुनियोंके साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया और वैशाखकृष्ण चतुर्दशीके दिन रात्रिके अन्तिम समय अश्विनी नक्षत्रमें मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥ ६६-६८ ॥ उसी समय देवोंने आकर सबके स्वामी श्री नमिनाथ तीर्थंकरका पञ्चम—निर्वाणकल्याणकका उत्सव किया और तदनन्तर पुण्यरूपी पदार्थको प्राप्त हुए सब देव अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ ६९ ॥ जिनका शरीर सुवर्णके समान देदीप्यमान था, जिन्होंने घातिया कर्मोंके साथ युद्ध किया था, समस्त अहितोंको जीता था अथवा विजय प्राप्त की थी, नम्रीभूत देव जय-जय करते हुए जिनकी स्तुति करते थे, जो विद्वान् शिष्योंके स्वामी थे और अन्तमें जिन्होंने शरीर नष्ट कर दिया था--मोक्ष प्राप्त किया था वे श्री नमिनाथ स्वामी हम सबके संसार-सम्बन्धी बहुत भारी भयको नष्ट करें ॥ ७० ॥ जो तीसरे भवमें कौशाम्बी नगरमें सिद्धार्थ नामके प्रसिद्ध राजा थे, वहाँ पर घोर तपश्चरण कर जो अनुत्तरके चतुर्थ अपराजित विमानमें देव हुए और वहाँसे आकर जो मिथिला नगरीमें इन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय तीनों जगत्के हितकारी वचनोंको प्रकट करनेके लिए नमिनाथ नामक इक्कीसवें तीर्थंकर हुए, जिन्होंने देवों सहित समस्त इन्द्रोंसे नमस्कार कराया था, जिनपर चमर ढोरे जा रहे थे और जिनपर उड़ते हुए भ्रमरोंसे सुशोभित पुष्पवृष्टियोंका समूह पड़ा करता था ऐसे श्री नमिनाथ भगवान् चरण-कमलके मकरन्द-रसको पान करनेवाले शिष्य रूपी भ्रमरोंके लिए निरन्तर संतोष प्रदान करते रहें ॥७१-७२॥ तीनों जगत्को जीतनेसे जिसका गर्व बढ़ रहा है ऐसे मोहका माहात्म्य मर्दन करनेसे जिन्हें मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त हुई है ऐसे श्री नमिनाथ भगवान् हम सबके लिए भी मोक्ष-लक्ष्मी प्रदान करें ॥ ७३ ॥

---

१ नमितीर्थ–म०, ल० । २ अहितानां जयः, अथवा आहितो धृतो जयो येन सः । ३ भवः संसारो भवः कारणं यस्यास्ताम् भियम् ।

द्वीपेऽस्मिन्नुत्तरे भागे महत्यैरावताह्वये । लक्ष्मीमान् श्रीपुराधीशो वसुन्धरमहीपतिः ॥ ७४ ॥
पद्मावतीवियोगेन भृशं निर्विण्णमानसः । वने मनोहरे रम्ये वरचर्मास्त्रिलेखिनः ॥ ७५ ॥
निर्णीय धर्मसद्भावं तनये विनयन्धरे । [1]निवेशितात्मभारः [2]सन् बहुभिर्भूभुजैः[3] समम् ॥ ७६ ॥
संयमं सम्यगादाय चारित्रं दुश्चरं चरन् । स्वाराधनविधानेन महाशुक्रे सुरोऽभवत् ॥ ७७ ॥
षोडशाब्ध्युपमस्वायुर्दिव्यान् भोगान् सुभुज्य सः । ततः प्रच्युत्य तत्तीर्थे वत्साख्यविषयेऽजनि ॥ ७८ ॥
नृपस्येक्ष्वाकुवंशस्य कौशाम्बीनगरेशिनः । तनूजो विजयाख्यस्य [4]प्रभाकर्यां प्रभाधिकः ॥ ७९ ॥
सर्वलक्षणसम्पूर्णो जयसेनसमाह्वयः । त्रिसहस्रशरज्जीवी[5] षष्टिहस्तसमुच्छ्रितिः ॥ ८० ॥
तप्तचामीकरच्छायः स चतुर्दशरत्नभाक् । निधिभिर्नवभिः सेव्यो भोगैर्दशविधैः [6]सुखम् ॥ ८१ ॥
चिरमेकादशश्चक्रधरः कालमजीगमत् । अन्येद्युस्तुङ्गसौधाग्रे सुसुप्तोऽन्तःपुरावृतः ॥ ८२ ॥
कुर्वन् पर्वशशाङ्काभो दिगन्तरविलोकनम् । उल्काभिपतनं वीक्ष्य सुनिर्वेगपरायणः ॥ ८३ ॥
उच्चैःस्थितमिदं पश्य भास्वरं पर्ययद्वयम् । परित्यज्य सुसम्प्रापदधोगतिमपप्रभम् ॥ ८४ ॥
उन्नतमूर्जितं तेजो ममेति मदमावहन् । अनाचरन् हितं मूढः पारलौकिकमात्मने ॥ ८५ ॥
विषयेषु विपक्षः सन्नध्रुवेष्ववितर्पिषु । प्रयाति गतिमेतस्य परोऽप्यत्र प्रमादवान् ॥ ८६ ॥
इत्याकलय्य कालादिलब्ध्या चक्रेऽवक्रधीः । त्यक्तुं चक्रादिसाम्राज्यं [7]परिच्छिद्योच्छ्रितेच्छया ॥ ८७ ॥
[8]तुङ्गु राज्यमनिच्छत्सु महीयःसु, कनीयसे । दत्वा पुत्राय साम्राज्यं वरदत्ताभिधायिनः ॥ ८८ ॥

अथानन्तर—इसी जम्बूद्वीपके उत्तर भागमें एक ऐरावत नामका बड़ा भारी क्षेत्र है उसके श्रीपुर नगरमें लक्ष्मीमान् वसुन्धर नामका राजा रहता था ॥ ७४ ॥ किसी एक दिन पद्मावती स्त्रीके वियोगसे उसका मन अत्यन्त विरक्त हो गया जिससे वह अत्यन्त सुन्दर मनोहर नामके वनमें गया । वहाँ उसने वरचर्म नामके सर्वज्ञ भगवान्‌से धर्मके सद्भावका निर्णय किया फिर विनयन्धर नामके पुत्रके लिए अपना सब भार सौंपकर अनेक राजाओंके साथ, संयम धारण कर लिया । तदनन्तर कठोर तपश्चरण कर समाधि मरण किया जिससे महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ ॥ ७५–७७ ॥ वहाँ पर उसकी सोलह सागरकी आयु थी, दिव्य भोगोंका अनुभव कर वह वहाँसे च्युत हुआ और इन्हीं नमिनाथ तीर्थंकरके तीर्थमें वत्स देशकी कौशाम्बी नगरीके अधिपति, इक्ष्वाकुवंशी राजा विजयकी प्रभाकरी नामकी देवीसे कान्तिमान् पुत्र हुआ ॥ ७८–७९ ॥ वह सर्व लक्षणोंसे युक्त था, जयसेन उसका नाम था, तीन हजार वर्षकी उसकी आयु थी. साठ हाथकी ऊँचाई थी, तपाये हुए सुवर्णके समान कान्ति थी, वह चौदह रत्नोंका स्वामी था, नौ निधियाँ सदा उसकी सेवा करती थीं, ग्यारहवाँ चक्रवर्ती था और दश प्रकारके भोग भोगता हुआ सुखसे समय बिताता था । किसी एक दिन वह ऊँचे राजभवनकी छत पर अन्तःपुरवर्ती जनोंके साथ लेट रहा था ॥ ८०–८२ ॥ पौर्णमासीके चन्द्रमाके समान वह समस्त दिशाओंको देख रहा था कि इतनेमें ही उसे उल्कापात दिखाई दिया । उसे देखते ही विरक्त होता हुआ वह इस प्रकार विचार करने लगा कि देखो यह प्रकाशमान वस्तु अभी तो ऊपर थी और फिर शीघ्र ही अपनी दो पर्यायें छोड़कर कान्तिरहित होती हुई नीचे चली गई ॥ ८३–८४ ॥ 'मेरा तेज भी बहुत ऊँचा है, तथा बलवान् है' इस तरहके मदको धारण करता हुआ जो मूढ़ प्राणी अपनी आत्माके लिए हितकारी परलोक सम्बन्धी कार्यका आचरण नहीं करता है और उसके विपरीत नश्वर तथा संतुष्ट नहीं करनेवाले विषयोंमें आसक्त रहता है वह प्रमादी मनुष्य भी इसी उल्काकी गतिको प्राप्त होता है अर्थात् तेज रहित होकर अधोगतिको जाता है ॥ ८५–८६ ॥ ऐसा विचार कर सरल बुद्धिके धारक चक्रवर्तीने काल आदि लब्धियोंकी अनुकूलतासे चक्र आदि समस्त साम्राज्यको छोड़नेका निश्चय कर लिया । वह अपने बड़े पुत्रोंके लिए राज्य देने लगा परन्तु उन्होंने तप धारण करनेकी उदात्त इच्छासे राज्य लेनेकी इच्छा नहीं की तब उसने छोटे

१ निर्विशितात्म-ल० । २ स- ल० । ३ चिन्त्यः पाठः (भूभुग्भिर्बहुभिः समम्) । ४ प्रभंकर्यां ख०, ग० । ५ 'हायनोऽस्त्री शरत्समाः' इत्यमरः । ६ वरैः घ०, ख० । ७ परिच्छेद्य यदृच्छया घ० । ८ पुत्रेषु 'तुङ्गू तोकं चात्मजः प्रजाः ।'

केवलावगमात्प्राप्य संयमं बहुभिः समम् । श्रुतबुद्धितपोविक्रियौषधर्द्धिविभूषितः ॥ ८९ ॥
चारणत्वमपि प्राप्य प्रायोपगमनं श्रितः । सम्मेदे चारणोत्तुङ्गकूटे स्वाराधनाविधिः ॥ ९० ॥
जयन्तेऽनुत्तरे जातो विमाने ह्यवसत्तमः[1] । पुण्योत्तमानुभागोत्थमन्वभूत्सुचिरं सुखम् ॥ ९१ ॥

पृथ्वीवृत्तम्

वसुन्धरमहीपतिः प्रथमजन्मनि प्राप्त स-
त्तपाः समजनिष्ट षोडश समुद्रमित्यायुषा ।
[2]सुरोऽजनि जनेश्वरोऽनुजप्रसेननामा ततो
बभूव बलसत्तमः सुखनिधिर्जयन्ते विभुः ॥ ९२ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे नमितीर्थकरजयसेन-चक्रवर्तिपुराणं परिसमाप्तं एकोनसप्ततितमं पर्व ॥ ६९ ॥

—‡❀:०:❀‡—

पुत्रके लिए राज्य दिया और अनेक राजाओंके साथ वरदत्त नामके केवली भगवान्‌से संयम धारण कर लिया। वह कुछ ही समयमें श्रुत बुद्धि तप विक्रिया और औषध आदि ऋद्धियोंसे विभूषित हो गया ॥ ८७–८९ ॥ चारण ऋद्धि भी उसे प्राप्त हो गई। अन्तमें वह सम्मेदशिखरके चारण नामक ऊँचे शिखरपर प्रायोपगमन संन्यास धारण कर आराधनाकी आराधना करता हुआ जयन्त नामक अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र हुआ और वहाँ उत्तम पुण्यकर्मके अनुभागसे उत्पन्न हुए सुखका चिरकालके लिए अनुभव करने लगा ॥ ९०–९१ ॥ जयसेनका जीव पहले भवमें वसुन्धर नामका राजा था फिर समीचीन तपश्चरण प्राप्त कर सोलह सागरकी आयुवाला देव हुआ, वहाँसे चय कर जयसेन नामका चक्रवर्ती हुआ और फिर जयन्त विमानमें सुखका भाण्डार स्वरूप अहमिन्द्र हुआ ॥ ९२ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टि लक्षण महापुराणके संग्रहमें नमिनाथ तीर्थंकर तथा जयसेन चक्रवर्तीके पुराणका वर्णन करनेवाला उनहत्तरवाँ पर्व समाप्त हुआ।

—+++—

---

१ अहमिन्द्रः । २–मरोऽजनि ल० ।

सप्ततितमं पर्व

क्षान्त्यादिदश[1]धर्मारालम्बनं यमुदाहरन् । सन्तः सद्धर्मचक्रस्य स नेमिः शंकरोऽस्तु नः ॥ १ ॥
संवेगजननं पुण्यं पुराणं जिनचक्रिणाम् । बलानां च श्रुतज्ञानमेतद् वन्दे त्रिशुद्धये ॥ २ ॥
पूर्वानुपूर्व्या वक्ष्येऽहं कृतमङ्गलसत्क्रियः । पुराणं हरिवंशाख्यं यथावृत्तं यथाश्रुतम् ॥ ३ ॥
अथ जम्बूमति द्वीपे विदेहेऽपरनामनि । [2]सीतोदोदक्तटे देशे सुगन्धिलसमाह्वये ॥ ४ ॥
पुरे सिंहपुरे ख्यातो भूपोऽर्हद्दाससंज्ञकः । देव्यस्य जिनदत्ताख्या तयोः पूर्वभवार्जितात् ॥ ५ ॥
पुण्योदयात् समुद्भूतकामभोगैः सतृप्तयोः । काले गच्छत्यथान्येद्युरर्हतां परमेष्ठिनाम् ॥ ६ ॥
आष्टाह्निकमहापूजां विधाय नृपतिप्रिया । कुलस्य तिलकं पुत्रं लप्सीयाहमिति स्वयम् ॥ ७ ॥
आशास्यासौ सुखं सुप्ता निशायां सुप्रसन्नधीः । सिंहे भास्केन्दुपद्माभिषेकानैक्षिष्ट सुव्रता ॥ ८ ॥
स्वप्नानन्तरमेवास्या गर्भे प्रादुरभूत्कृती । नवमासावसानेऽसावसूत सुतमूर्जितम् ॥ ९ ॥
[3]जन्मनः प्रभृत्यन्यैरजय्यस्तत्पिताऽभवत् । ततोऽपराजिताख्यानमकुर्वंस्तस्य बान्धवाः ॥ १० ॥
रूपादिगुणसम्पत्त्या सार्द्धं वृद्धिमसावगात् । आयौवनं मनोहारी सुरेन्द्रो वा दिवौकसाम् ॥ ११ ॥
तदा [3]मनोहारोद्यानगतं विमलवाहनम् । तीर्थकर्तारमाकर्ण्य वनपालमुखान्नृपः ॥ १२ ॥
स्वान्तःपुरपरीवारपरीतो भक्तिचोदितः । गत्वा प्रदक्षिणीकृत्य मुहुर्मुकुलिताञ्जलिः ॥ १३ ॥
प्रप्रणम्य समभ्यर्च्य गन्धपुष्पाक्षतादिभिः । पीतधर्मामृतस्तस्मादकस्माद् भोगनिस्पृहः ॥ १४ ॥

अथानन्तर—सज्जन लोग जिन्हें उत्तम क्षमा आदि दश धर्म रूपी अरोंका अवलम्बन बतलाते हैं और जो समीचीन धर्मरूपी चक्रकी हाल हैं ऐसे श्री नेमिनाथ स्वामी हम लोगोंको शान्ति करनेवाले हों ॥ १ ॥ जिनेन्द्र भगवान् नारायण और बलभद्रका पुण्यवर्धक पुराण संसारसे भय उत्पन्न करनेवाला है इसलिए इस श्रुतज्ञानको मन-वचन कायकी शुद्धिके लिए वन्दना करता हूँ ॥ २ ॥ मङ्गलाचरण रूपी सत्क्रिया करके मैं हरिवंश नामक पुराण कहूँगा और वह भी पूर्वाचार्योंके अनुसार जैसा हुआ है अथवा जैसा सुना है वैसा ही कहूँगा ॥ ३ ॥ इसी जम्बूद्वीपके पश्चिम विदेह क्षेत्रमें सीतोदा नदीके उत्तर तट पर सुगन्धिला नामके देशमें एक सिंहपुर नामका नगर है उसमें अर्हद्दास नामका राजा राज्य करता था। उसकी स्त्रीका नाम जिनदत्ता था। दोनों ही पूर्वभवमें संचित पुण्यकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए कामभोगोंसे संतुष्ट रहते थे। इस प्रकार दोनोंका सुखसे समय बीत रहा था। किसी एक दिन रानी जिनदत्ताने श्री जिनेन्द्र भगवान्की अष्टाह्निका सम्बन्धी महापूजा करनेके बाद आशा प्रकट की कि मैं कुलके तिलकभूत पुत्रको प्राप्त करूँ। ऐसी आशा कर वह बड़ी प्रसन्नतासे रात्रिमें सुखसे सोई। उसी रात्रिको अच्छे व्रत धारण करनेवाली रानीने सिंह, हाथी, सूर्य, चन्द्रमा और लक्ष्मीका अभिषेक इस प्रकार पाँच स्वप्न देखे। स्वप्न देखनेके बाद ही कोई पुण्यात्मा उसके गर्भमें अवतीर्ण हुआ और नौ माह बीत जानेपर रानीने बलवान् पुत्र उत्पन्न किया। उस पुत्रके जन्म समयसे लेकर उसका पिता शत्रुओं द्वारा अजय हो गया था इसलिए भाई-बान्धवोंने उसका नाम अपराजित रक्खा ॥ ४-१० ॥ वह रूप आदि गुणरूपी सम्पत्तिके साथ साथ यौवन अवस्था तक बढ़ता गया इसलिए देवोंमें इन्द्रके समान सुन्दर दिखने लगा ॥ ११ ॥ तदनन्तर किसी एक दिन राजाने वनपालक मुखसे सुना कि मनोहर नामके उद्यानमें विमलवाहन नामक तीर्थंकर पधारे हुए हैं। सुनते ही वह भक्तिसे प्रेरित हो अपनी रानियों तथा परिवारके लोगोंके साथ वहाँ गया। वहाँ जाकर उसने बारबार प्रदक्षिणाएँ दीं, हाथ जोड़े, प्रणाम किया, गन्ध, पुष्प अक्षत आदिके द्वारा अच्छी तरह पूजा की तथा धर्मरूपी अमृतका पान किया। यह सब

---

१ दशाराधर्मालम्बनं (?) ल० । २ श्रीसीतोदक्तटे ख० । ३ मनोहरोद्याने ग०, म०, ख० ।

तुजेऽपराजिताख्याय दत्वा सप्ताङ्गसम्पदम् । तपोऽभ्यं समुपादत्त[1] पञ्चभिर्भूभुजां शतैः ॥ १५ ॥
कुमारोऽपि गृहीताणुव्रतादिः शुद्धदर्शनः । प्राविशल्लक्षितो लक्ष्म्या साक्षादिव पुरं हरिः ॥ १६ ॥
[2]तन्त्रावापगतां चिन्तां [3]निधाय निजमन्त्रिषु । सकः शास्त्रोक्तमार्गेण तदासौ धर्मकामयोः ॥ १७ ॥
कदाचिन्निजपित्रामा जिनं विमलवाहनम् । मुक्त्या वशीकृतं श्रुत्वा गन्धमादनपर्वते ॥ १८ ॥
अनिरीक्ष्य न भोक्ष्येऽहं जिनं विमलवाहनम् । इति प्रतिज्ञयाष्टोपवास्यासीदपराजितः ॥ १९ ॥
मार्गदर्शक :-आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
तदा शक्राज्ञया यक्षपतिर्विमलवाहनम् । तस्य संदर्शयामास साक्षात्कृत्वा महाशुभम्[4] ॥ २० ॥
जैनगेहे समभ्यर्च्य तं सोऽपि कृतवन्दनः । भुङ्क्ते स्म स्नेहशोकार्तचेतसां का विचारणा ॥२१॥
वसन्तसमयेऽन्येद्युर्नन्दीश्वरदिनेष्वसौ । जिनचैत्यानि सम्पूज्य तत्संस्तवनपूर्वकम् ॥ २२ ॥
तत्र स्थितः स्वयं धर्मदेशनां विदधत्सुधीः । खाद् वियच्चारणौ साधू प्रापतुस्तस्थतुः पदः ॥ २३ ॥
प्रणिपत्य तयोर्देवतास्तवावसितौ नृपः । सोपचारं समभ्येत्य श्रुत्वा धर्ममभाषत ॥ २४ ॥
भगवन्तावहं पूज्यौ क्वचित्प्राग्दृष्टवानिति । ज्येष्ठो मुनिरुवाचैवं सत्यमावां त्वयेक्षितौ ॥ २५ ॥
त्वद्दर्शनप्रदेशं च वक्ष्यामि शृणु भूपते । पुष्करार्द्धापराद्रीन्द्रापरभागे महासरित् ॥ २६ ॥
तस्याश्चास्त्युत्तरे भागे गन्धिलो विषयो महान् । तत्खगाद्रयुत्तरश्रेण्यां सूर्यप्रभपुराधिपः ॥ २७ ॥
राजा सूर्यप्रभस्तस्य धारिणी प्राणवल्लभा । तयोश्चिन्तागतिर्ज्येष्ठस्तनुजोऽनुमनोगतिः ॥ २८ ॥
ततश्चपलगत्याख्यस्त्रिभिस्तैस्तौ मुदं गतौ । चिरं धर्मार्थकामैर्वा के न तुष्यन्ति सत्सुतैः ॥ २९ ॥

करते ही अकस्मात् उसकी भोगोंकी इच्छा शान्त हो गई जिससे उसने अपराजित नामक पुत्रके लिए सप्त प्रकारकी विभूति प्रदान कर पाँच सौ राजाओंके साथ ज्येष्ठ तप धारण कर लिया ॥१३-१५॥ कुमार अपराजितने भी शुद्ध सम्यग्दृष्टि होकर अणुव्रत आदि श्रावकके व्रत ग्रहण किये और फिर जिस तरह इन्द्र अमरावतीमें प्रवेश करता है उसी तरह लक्ष्मीसे युक्त हो अपनी राजधानीमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥ उसने स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र सम्बन्धी चिन्ता तो अपने मन्त्रियोंपर छोड़ दी और स्वयं शास्त्रोक्त मार्गसे धर्म तथा काममें लीन हो गया ॥ १७ ॥

किसी एक समय उसने सुना कि हमारे पिताके साथ श्री विमलवाहन भगवान् गन्धमादन पर्वतपर मोक्षको प्राप्त हो चुके हैं। यह सुनते ही उसने प्रतिज्ञा की कि 'मैं श्री विमलवाहन भगवान्के दर्शन किये बिना भोजन नहीं करूँगा। इस प्रतिज्ञासे उसे आठ दिनका उपवास हो गया ॥१८-१९॥ तदनन्तर इन्द्रकी आज्ञासे यक्षपतिने उस राजाको महान् शुभ रूप श्री विमलवाहन भगवान्का साक्षात्कार कराकर दर्शन कराया। राजा अपराजितने जिन-मन्दिरमें उन विमलवाहन भगवान्की पूजा वन्दना करनेके बाद भोजन किया सो ठीक ही है क्योंकि जिनका चित्त स्नेह तथा शोकसे पीड़ित हो रहा है उन्हें तत्त्वका विचार कैसे हो सकता है ? ॥ २०-२१ ॥ किसी एक दिन वसन्त ऋतुकी आष्टाह्निकाके समय बुद्धिमान् राजा अपराजित जिन-प्रतिमाओंकी पूजाकर उनकी स्तुति कर वहीं पर बैठा हुआ था और धर्मोपदेश कर रहा था कि उसी समय आकाशसे दो चारणऋद्धि धारी मुनिराज आकर वहीं पर विराजमान हो गये। जिनेन्द्र भगवान्की स्तुतिके समाप्त होने पर राजाने बड़ी विनयके साथ उनके सन्मुख जाकर उनके चरणोंमें नमस्कार किया, धर्मोपदेश सुना और तदनन्तर कहा कि हे पूज्य ! हे भगवन् ! मैंने पहले कभी आपको देखा है। उन दोनों मुनियों-में जो ज्येष्ठ मुनि थे वे कहने लगे कि हाँ राजन् ! ठीक कहते हो, हम दोनोंको आपने देखा है ॥ २२-२५ ॥ परन्तु कहाँ देखा है ? वह स्थान मैं कहता हूँ सुनो। पुष्करार्ध द्वीपके पश्चिम सुमेरु की पश्चिम दिशामें जो महानदी है उसके उत्तर तट पर एक गन्धिल नामका महादेश है। उसके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें सूर्यप्रभ नगरका स्वामी राजा सूर्यप्रभ राज्य करता था। उसकी स्त्री का नाम धारिणी था। उन दोनोंके बड़ा पुत्र चिन्तागति दूसरा मनोगति और तीसरा चपलगति

---

१ समुपादत्त ल० । २ तन्त्रवोगतां (?) ल० । ३ निजाय ल० । ४ महाशुभः ख०, ग० । महाशुचः ल० ।

तस्यामेवोत्तरश्रेण्यामरिन्दमपुरेश्वरात् । अरिञ्जयाख्यादजितसेनायामभवत्सुता ॥ ३० ॥
सती प्रीतिमती मेरुगिरेः सकलखेचरान्[1] । [2]त्रिर्भान्त्या साऽजयच्चिन्तागतिं मुक्त्वा [3]स्वविद्यया ॥३१॥
जित्वा चिन्तागतिर्वेगात्तां पश्चादिति चाब्रवीत् । सम्भावय कनीयांसं मम त्वं रत्नमालया ॥३२॥
श्रुततद्वचना साह नाहं जितवतोऽपरैः । मालामिमां क्षिपामीति स तामित्यब्रवीत् पुनः ॥३३॥
गतियुद्धं त्वया पूर्वमनुजाभ्यां कृतं मम । अभिलाषात्तस्या त्वं मया तद्वचनश्रुतेः ॥३४॥
निर्विण्णा सा [4]निवृत्तार्यिकाभ्यासेऽगात्तपः परम् । तद्वीक्ष्य बहवस्तत्र निर्विद्य तपसि स्थिताः ॥३५॥
अनुजाभ्यां समं चिन्तागतिश्चालोक्य साहसम् । कन्याया जातसंवेगो गुरुं दमवराभिधम् ॥३६॥
सम्प्राप्य संयमं प्राप्य शुद्धयष्टकमधिष्ठितः । प्रान्ते सामानिकस्तुर्ये कल्पेऽजायत सानुजः ॥ ३७ ॥
तत्र भोगान्बहून् भुक्त्वा सप्ताब्धिपरमायुषा । चतस्तावनुजौ जम्बूद्वीपपूर्वविदेहगे ॥३८ ॥
विषये पुष्कलावत्यां विजयार्द्धोत्तरे तटे । राजा गगनचन्द्राख्यः पुरे गगनवल्लभे ॥ ३९ ॥
सुतो गगनसुन्दर्यां तस्यामितमतिस्ततः । आवाममिततेजाश्च जातौ विद्यात्रयान्वितौ ॥ ४० ॥
अन्येद्युः पुण्डरीकिण्यामावाभ्यां जन्मपूर्वजम् । आवयोः परिपृष्टेन जन्मत्रितयवृत्तकम्[5] ॥ ४१ ॥
सर्वं स्वयंप्रभाख्येन तीर्थनाथेन भाषितम् । ततोऽस्मदग्रजः क्वाद्येत्यावयोरनुयोजने ॥ ४२ ॥
भूमौ सिंहपुरे जातो राजते सोऽपराजित-। नाम्ना राज्यं समासाद्य स्वयमित्यर्हतोदितम् ॥ ४३ ॥
तत्समीपे समादाय संयमं त्वां विलोकितुम् । त्वयि जन्मान्तरस्नेहादिहागमनमावयोः ॥ ४४ ॥

आचार्यश्री - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस प्रकार तीन पुत्र हुए थे। धर्म, अर्थ और कामके समान इन तीनों पुत्रोंसे वे दोनों माता-पिता सदा प्रसन्न रहते थे सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम पुत्रोंसे कौन नहीं सन्तुष्ट होते हैं ? ॥ २६-२९ ॥ उसी विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें अरिन्दमपुर नगरके राजा अरिञ्जय रहते थे उनकी अजितसेना नामकी रानी थी और दोनोंके प्रीतिमती नामकी सती पुत्री हुई थी। उसने अपनी विद्यासे चिन्तागतिको छोड़कर समस्त विद्याधरोंको मेरु पर्वतकी तीन प्रदक्षिणा देनेमें जीत लिया था ॥३०-३१॥ तत्पश्चात् चिन्तागति उसे अपने वेगसे जीतकर कहने लगा कि तू रत्नोंकी मालासे मेरे छोटे भाईको स्वीकार कर। चिन्तागतिके वचन सुनकर प्रीतिमतीने कहा कि जिसने मुझे जीता है उसके सिवाय दूसरेके गलेमें मैं यह माला नहीं डालूँगी। इसके उत्तरमें चिन्तागतिने कहा कि चूँकि तूने पहले उन्हें प्राप्त करनेके इच्छासे ही मेरे छोटे भाइयोंके साथ गतियुद्ध किया था अतः तू मेरे लिए त्याज्य है। चिन्तागतिके यह वचन सुनते ही वह संसारसे विरक्त हो गई और और उसने विवृत्ता नामकी आर्यिकाके पास जाकर उत्कृष्ट तप धारण कर लिया। यह देख वहाँ बहुतसे लोगोंने विरक्त होकर दीक्षा धारण कर ली ॥ ३२-३५ ॥ कन्याका यह साहस देख जिसे वैराग्य उत्पन्न हो गया है ऐसे चिन्तागतिने भी अपने दोनों छोटे भाइयोंके साथ दमवर नामक गुरुके पास जाकर संयम धारण कर लिया और आठों शुद्धियोंको पाकर तीनों भाई चौथे स्वर्गमें सामाजिक जातिके देव हुए ॥ ३६-३७ ॥ वहाँ सात सागरकी उत्कृष्ट आयु पर्यन्त अनेक भोगोंका अनुभव कर च्युत हुए और दोनों छोटे भाइयोंके जीव जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्र सम्बन्धी पुष्कला देशमें जो विजयार्ध पर्वत है उसकी उत्तर श्रेणीमें गगनवल्लभ नगरके राजा गगनचन्द्र और उनकी रानी गगनसुन्दरीके हम दोनों अमितमति तथा अमिततेज नामके पुत्र उत्पन्न हुए हैं। हम दोनों ही तीनों प्रकारकी विद्याओंसे युक्त थे ॥ ३८-४० ॥ किसी दूसरे दिन हम दोनों पुण्डरीकिणी नगरी गये। वहाँ श्री स्वयंप्रभ तीर्थंकरसे हम दोनोंने अपने पिछले तीन जन्मोंका वृत्तान्त पूछा। तब स्वयंप्रभ भगवान्ने सब वृत्तान्त ज्योंका त्यों कहा। तदनन्तर हम दोनोंने पूछा कि हमारा बड़ा भाई इस समय कहाँ उत्पन्न हुआ है ? इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा कि वह सिंहपुर नगरमें उत्पन्न हुआ है, अपराजित उसका नाम है, और स्वयं राज्य करता हुआ शोभायमान है ॥ ४१-४३ ॥ यह सुनकर हम दोनोंने उन्हीं स्वयं-

१ सकलखेचरात् ल० । २ त्रिर्भान्त्या (?) ल० । ३ सविद्यया ग०, घ० । ४ निवृत्तार्जिका ल० । ५ पूर्वकम् ग०, घ० । पूर्वजम् ख० ।

पुण्योदयोदितान् भोगान् सर्वान् भूयोऽत्र भुक्तवान् । मासप्रमाणजीवी त्वं हितमद्य स्मराधिति ॥४५॥
श्रुत्वा तद्वचनं राजा वन्दित्वा तौ मुनीश्वरौ । युवां जन्मान्तरस्नेहान्निसङ्गत्वं गतावपि ॥ ४६ ॥
उपकारं महान्तं मे कृतवन्तौ हितैषिणौ । इत्याख्यत्स ततः प्रीतौ तौ निजस्थानमीयतुः ॥ ४७ ॥
तदैव स महीशोऽपि दत्त्वा राज्यं यथाविधि । प्रीतिङ्करकुमाराय कृत्वाष्टाह्निकपूजनम् ॥ ४८ ॥
बन्धून् विसर्ज्य प्रायोपगमसंन्यासमुत्तमम् । विधाय षोडशे कल्पे द्वाविंशत्यब्धिजीवितः ॥ ४९ ॥
[1]सातंकरे विमानेऽभूदच्युतेन्द्रो महर्द्धिकः । दिव्यभोगांश्चिरं भुक्त्वा ततः प्रच्युत्य पुण्यभाक् ॥ ५० ॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते क्षेत्रे विषये कुरुजाङ्गले । हस्तिनाख्यपुराधीशः श्रीचन्द्रस्य महीपते ॥ ५१ ॥
श्रीमत्यां सुप्रतिष्ठाख्यः सुप्रतिष्ठः सुतोऽभवत् । आपूर्णयौवनस्यास्य सुनन्दासीत् सुखप्रदा ॥ ५२ ॥
सुतं योग्यतमं मत्वा श्रीचन्द्रधरणीश्वरः । दत्तराज्योऽग्रहीद्दीक्षां सुमन्दरयतिं श्रितः ॥ ५३ ॥
सुप्रतिष्ठोऽपि तद्राज्ये निष्कण्टे सुप्रतिष्ठितः । यशोधरमुनेर्दत्ताहाराप्तपञ्चाश्चर्यपञ्चकः ॥ ५४ ॥
अन्तःपुरान्वितोऽन्येद्युः शशाङ्ककरनिर्मले । रम्ये हर्म्यतले स्थित्वा कुर्वन् दिगवलोकनम् ॥ ५५ ॥
उल्कापातनमालोक्य भङ्गुरं भावयन् जगत् । सुदृष्टेर्ज्येष्ठपुत्रस्य कृत्वा राज्याभिषेचनम् ॥ ५६ ॥
सुमन्दरजिनाभ्याशे लब्धबोधिरदीक्षत । क्रमेणैकादशाङ्गानां पारगो भावनापरः ॥ ५७ ॥
सम्यक्त्वादिषु बध्वासौ तीर्थकृत्कर्म निर्मलम् । स्वायुरन्ते समाधाय मासं संन्यासमास्थितः ॥ ५८ ॥
अनुत्तरे जयन्ताख्ये सम्प्रापदहमिन्द्रताम् । त्रयस्त्रिंशत्समुद्रोपमायुर्हस्ततनूच्छ्रितिः ॥ ५९ ॥

प्रभ भगवान्के समीप संयम धारण कर लिया और तुम्हें देखनेके लिए तुम्हारे जन्मान्तरके स्नेहसे हम दोनों यहाँ आये हैं ॥ ४४ ॥ हे भाई ! अब तब तू पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुए समस्त भोगोंका उपभोग कर चुका है। अब तेरी आयु केवल एक माहकी शेष रह गई है इसलिए शीघ्र ही आत्म-कल्याणका विचार कर ॥ ४५ ॥ राजा अपराजितने यह बात सुनकर दोनों मुनिराजोंकी वन्दना की और कहा कि आप यद्यपि निर्ग्रन्थ अवस्थाको प्राप्त हुए हैं तो भी जन्मान्तरके स्नेहसे आपने मेरा बड़ा उपकार किया है। यथार्थमें आप ही मेरे हितेच्छु हैं। तदनन्तर उधर उक्त दोनों मुनिराज प्रसन्न होते हुए अपने स्थान पर गये इधर राजा अपराजितने अपना राज्य विधिपूर्वक प्रीतिङ्कर कुमारके लिए दिया, आष्टाह्निक पूजा की, भाइयोंको विदा किया और स्वयं प्रायोपगमन नामका उत्कृष्ट संन्यास धारण कर लिया। संन्यासके प्रभावसे वह सोलहवें स्वर्गके सातङ्कर नामक विमानमें बाईस सागरकी आयुवाला बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंका धारक अच्युतेन्द्र हुआ। वह पुण्यात्मा वहाँके दिव्य भोगोंका चिरकाल तक उपभोग कर वहाँसे च्युत हुआ ॥ ४६-५० ॥ और इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी कुरुजाङ्गल देशमें हस्तिनापुरके राजा श्रीचन्द्रकी श्रीमती नामकी रानीसे सुप्रतिष्ठ नामका यशस्वी पुत्र हुआ। जब यह पूर्ण युवा हुआ तब सुनन्दा नामकी इसकी सुख देनेवाली स्त्री हुई ॥ ५१-५२ ॥ श्रीचन्द्र राजाने पुत्रको अत्यन्त योग्य समझ कर उसके लिए राज्य दे दिया और स्वयं सुमन्दर नामक मुनिराजके पास जाकर दीक्षा धारण कर ली ॥ ५३ ॥ सुप्रतिष्ठ भी निष्कण्टक राज्यमें अच्छी तरह प्रतिष्ठाको प्राप्त हुआ। एक दिन उसने यशोधर मुनिके लिए आहार दान दिया था जिससे उसे पञ्चाश्चर्यकी प्राप्ति हुई थी ॥ ५४ ॥ किसी दूसरे दिन वह राजा चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल सुन्दर राजमहलके ऊपर अन्तःपुरके साथ बैठा हुआ दिशाओंको देख रहा था कि अकस्मात् उसकी दृष्टि उल्कापात पर पड़ी। उसे देखते ही वह संसारको नश्वर समझने लगा। तदनन्तर उसने सुदृष्टि नामक ज्येष्ठ पुत्रका राज्याभिषेक किया और आत्मज्ञान प्राप्त कर सुमन्दर नामक जिनेन्द्रके समीप दीक्षा धारण कर ली। अनुक्रमसे उसने ग्यारह अङ्गोंका अभ्यास किया और दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओंका चिन्तवन कर तीर्थङ्कर नामक निर्मल नामकर्मका बन्ध किया। जब आयुका अन्त आया तब समाधि धारण कर एक महीनेका संन्यास लिया जिसके प्रभावसे जयन्त नामक अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र पदको प्राप्त किया। वहाँ उसकी तैंतीस सागरकी

---

१ पुष्पोत्तरे ल० ।

सार्द्धषोडशमासान्तनिःश्वासोऽभून्निराकुलम् । त्रयस्त्रिंशत्सहस्राब्दव्यतीतौ भोगसम्पदम् ॥ ६० ॥
भुञ्जानो निःप्रवीचारं लोकनालीगतावधिः । बलदीप्तिविकारादिगुणैस्तत्क्षेत्रमात्रकः ॥ ६१ ॥
एवं देवगतौ दिव्यसुखं सुखमहाम्बुधेः । सम्प्राप जातसन्तृप्तिः स्थितश्चिरसुखायुषा ॥ ६२ ॥
यतः परं तदुद्भूतेः क्रियते वंशवर्णनम् । द्वीपे जम्बूमति क्षेत्रे भरते वत्सदेशजे ॥ ६३ ॥
कौशाम्ब्याख्ये सुविख्यातो नगरे मघवा नृपः । तद्देवी वीतशोकाऽभूत्सुतः ख्यातो रघुस्तयोः ॥ ६४ ॥
सुमुखो नाम तत्रैव जातः श्रेष्ठी महर्द्धिकः । इतः कलिङ्गविषये पुराद्दन्तपुराद्भयात् ॥ ६५ ॥
सार्थेन सममागच्छद्वीरदत्तो वणिक्सुतः । नाम्ना व्याधभयादेत्य भार्यया वनमालया ॥ ६६ ॥
कौशाम्बीनगरं तत्र सुमुखाख्यं समाश्रयत् । वनमालां समालोक्य स श्रेष्ठी विहरन् वने ॥ ६७ ॥
[1]विकायसायकैस्तीक्ष्णैः कदाचिच्छरधीकृतः[2] । मायावी वीररुतं तं पापी वाणिज्यहेतुना ॥ ६८ ॥
प्राहिणोद् द्वादशाब्दानां दत्त्वा पुष्कलजीविकाम् । स्वीचकार सहाकीर्त्या वनमालां विलोभिताम् ॥ ६९ ॥
अतिवाह्यागतो वीरदत्तो द्वादश वत्सरान् । तद्विक्रियां समाकर्ण्य स्मरन् संसारदुःस्थितिम् ॥ ७० ॥
[3]शोकाकुलः सुनिर्विण्णः क्षीणपुण्यो निराश्रयः । वणिग् समग्रहीद्दीक्षां प्रोष्ठिलाख्यमुनिं श्रितः ॥ ७१ ॥
जीवितान्ते स संन्यस्य कल्पे सौधर्मनामनि । जातश्चित्राङ्गदो देवः प्रवीचारसुखाकरः ॥ ७२ ॥
स श्रेष्ठी वनमाला च धर्मसिंहतपोभृते । दत्त्वा प्रासुकमाहारं निन्दित्वा निजदुष्कृतम् ॥ ७३ ॥
अन्येद्युरशनेः पातात्संप्राप्य मरणं समम् । [4]भरते हरिवर्षाख्ये देशे भोगपुरेशिनः ॥ ७४ ॥
प्रभञ्जनाख्यनृपतेर्मृकण्ड्वाख्या मनोरमा । हरिवंशेऽजनि श्रेष्ठी सिंहकेतुस्तयोः सुतः ॥ ७५ ॥

आयु थी, एक हाथ ऊँचा शरीर था, वह साढ़े सोलह माहके अन्तमें एक बार श्वास ग्रहण करता था, बिना किसी आकुलताके जब तेतीस हजार वर्ष बीत जाते थे तब एक बार आहार ग्रहण करता था, उसका सुख प्रवीचार-मैथुनसे रहित था, लोक-नाड़ीके अन्त तक उसके अवधिज्ञानका विषय था, वहीं तक उसके बल, कान्ति तथा विक्रिया आदि गुण भी थे ॥ ५५-६१ ॥ इस प्रकार वह देव-गतिमें दिव्य सुखका अनुभव करता था, सुख रूपी महासागरसे सदा सन्तुष्ट रहता था और सुख-दायी लम्बी आयु तक वहीं विद्यमान रहा था ॥ ६२ ॥

अब इसके आगे वह जिस वंशमें उत्पन्न होगा उस वंशका वर्णन किया जाता है । जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें एक वत्स नामका देश है । उसकी कौशाम्बी नगरीमें अतिशय प्रसिद्ध राजा मघवा राज्य करता था । उसकी महादेवीका नाम वीतशोका था । कालक्रमसे उन दोनोंके रघु नामका पुत्र हुआ ॥ ६३-६४ ॥ उसी नगरमें एक सुमुख नामका बहुत धनी सेठ रहता था । किसी एक समय कलिङ्ग देशके दन्तपुर नामक नगरमें वीरदत्त नामका वैश्य पुत्र, व्याधोंके डरके कारण अपने साथियों तथा वनमाला नामकी स्त्रीके साथ कौशाम्बी नगरीमें आया और वहाँ सुमुख सेठके आश्रयसे रहने लगा । किसी दिन सुमुख सेठ वनमें घूम रहा था कि उसकी दृष्टि वनमाला पर पड़ी । उसे देखते ही काम-देवने उसे अपने बाणोंका मानो तरकश बना लिया—वह कामदेवके बाणोंसे घायल हो गया । तदनन्तर मायाचारी पापी सेठने वीरदत्तको तो बहुत भारी आजीविका देकर बारह वर्षके लिए व्यापारके हेतु बाहर भेज दिया और स्वयं लुभाई हुई वनमालाको अपकीर्तिके साथ स्वीकृत कर लिया—अपनी स्त्री बना लिया ॥ ६५-६९ ॥ बारह वर्ष बिता कर जब वीरदत्त वापिस आया तब वनमालाके विकारको सुन संसारकी दुःखमय स्थितिका विचार करने लगा । अन्तमें शोकसे आकुल, पुण्यहीन, आश्रयरहित, वीरदत्तने विरक्त होकर प्रोष्ठिल मुनिके पास जिन-दीक्षा धारण कर ली ॥ ७०-७१ ॥ आयुके अन्तमें संन्यास मरण कर वह प्रथम सौधर्म स्वर्गमें प्रवीचारकी खान स्वरूप चित्राङ्गद नामका देव हुआ ॥ ७२ ॥ इधर सुमुख सेठ और वनमालाने भी किसी दिन धर्मसिंह नामक मुनिराजके लिए प्रासुक आहार देकर अपने पापकी निन्दा की ॥ ७३ ॥ दूसरे ही दिन वज्रके गिरनेसे उन दोनोंकी साथ ही साथ मृत्यु हो गई । उनमेंसे सुमुखका जीव तो भरत क्षेत्रके हरिवर्ष

---

१ कामबाणैः । २ इषुधीकृतः । ३ शोकाकुलं ल० । ४ भारते ल० ।

[1]वस्वालयपुराधीशो वज्रचापमहीपतेः । तत्रैवासौ सुभामाश्च वनमालानुरूपिणी ॥ ७६ ॥
विद्युन्मालेति भूत्वा तुक् विद्युदुद्योतहासिनी । [2]आपूर्णयौवनस्यासीत्सिंहकेतोः रतिप्रदा ॥ ७७ ॥
जातु तौ दम्पती दृष्ट्वा देवे विहरणोद्यते । चित्राङ्गदे समुद्भूय हनिष्यामीति गच्छति ॥ ७८ ॥
रघुः पुरातनो भूपः सुमुखस्य सखा प्रियः । अणुव्रतफलेनाभूत्कल्पे सौधर्मनामनि ॥ ७९ ॥
वर्यः सूर्यप्रभो नाम वीक्ष्य चित्राङ्गदं तदा । शृणु मद्वचनं भद्र फलं किं तेऽनयोः मृतौ ॥ ८० ॥
पापानुबन्धि कर्मेदमयुक्तं युक्तिकारिणाम् । संसारद्रुमदुःखाभिधानं दुःखफलप्रदम् ॥ ८१ ॥
ततो मिथुनमेतत्त्वं विसृज्येत्यभ्यधान्मुहुः । श्रुत्वा तज्जातकारुण्यस्तदमुञ्चदसौ सुरः ॥ ८२ ॥
तौ सम्बोध्य समाश्वास्य तयोश्चम्पापुरे वने । सुखाप्तिं भाविनीं बुद्ध्वा सूर्यतेजो व्यसर्जयत् ॥ ८३ ॥
तत्पुराधीश्वरे चन्द्रकीर्तिनाममहीभुजि । विपुत्रे मरणं प्राप्ते राज्यसन्ततिसंस्थितेः ॥ ८४ ॥
सपुण्यं योग्यमन्वेष्टुं वारणं शुभलक्षणम् । गन्धादिभिः समभ्यर्च्यामुञ्चत्सन्मन्त्रिमण्डलम् ॥ ८५ ॥
सोऽपि दिव्यो गजो गत्वा वनं पुण्यविपाकतः । तावुद्धृत्य निजस्कन्धमारोप्य पुरमागमत् ॥ ८६ ॥
सिंहकेतोर्विधायाभिषेकं मन्त्र्यादयस्तदा । राज्यासनं समारोप्य बद्ध्वा पट्टं [3]ससम्मदाः ॥ ८७ ॥
त्वं कस्यात्रागतः कस्मादित्याहुः सोऽब्रवीदिदम् । प्रभञ्जनः पिता माता मृकण्डू मण्डिता गुणैः ॥८८॥
हरिवंशामलव्योमसोमोऽहमिह केनचित् । सुरेणानीय मुक्तः सन् सह पत्न्या वने स्थितः ॥ ८९ ॥
इति तद्वचनं श्रुत्वा मृकण्डूवास्तनयो यतः । मार्कण्डेयस्तु नाम्नैष इति ते तमुदाहरन् ॥ ९० ॥
एष देवोपनीतं तद्राज्यं सुचिरमन्वभूत् । सन्ताने तस्य गिर्यन्तो हरिर्हिमगिरिः परः ॥ ९१ ॥

नामक देशमें भोगपुर नगरके स्वामी हरिवंशीय राजा प्रभञ्जनकी मृकण्डु नामकी रानीसे सिंहकेतु नामका पुत्र हुआ और वनमालाका जीव उसी हरिवर्ष देशमें वस्वालय नगरके स्वामी राजा वज्रचाप की सुभा नामकी रानीसे बिजलीकी कान्तिको तिरस्कृत करनेवाली विद्युन्माला नामकी पुत्री हुई जो सिंहकेतुके पूर्ण यौवन होनेपर उसकी स्त्री हुई ॥ ७४–७७ ॥ किसी दिन वन-विहार करते समय चित्राङ्गद देवने उन दोनों दम्पतियोंको देखा और 'मैं इन्हें मारूँगा' ऐसे विचारसे वह उन्हें उठाकर जाने लगा ॥ ७८ ॥ पहले जन्ममें सेठ सुमुखका प्रियमित्र राजा रघु अणुव्रतोंके फलसे सौधर्म स्वर्गमें सूर्यप्रभ नामका श्रेष्ठ देव हुआ था । वह उस समय चित्राङ्गदको देखकर कहने लगा कि 'हे भद्र मेरे वचन सुन, इन दोनोंके मर जानेसे तुझे क्या फल मिलेगा ? यह काम पापका बन्ध करनेवाला है, युक्तिपूर्वक काम करनेवालोंके अयोग्य है, संसार रूप वृक्षके दुःखरूपी दुष्ट फलका देनेवाला है इसलिए तू यह जोड़ा छोड़ दे' इस प्रकार उसने बार बार कहा । उसे सुनकर चित्राङ्गदको भी दया आ गई और उसने उन दोनोंको छोड़ दिया । तदनन्तर सूर्यप्रभ देवने उन दोनों दम्पतियोंको संबोध कर आश्वासन दिया और आगे होनेवाले सुखकी प्राप्तिका विचार कर उन्हें चम्पापुरके वनमें छोड़ दिया ॥ ७९–८३ ॥ दैव योगसे उसी समय चम्पापुरका राजा चन्द्रकीर्ति विना पुत्रके मर गया था इसलिए राज्यकी परम्परा ठीक ठीक चलानेके लिए सुयोग्य मन्त्रियोंने किसी योग्य पुण्यात्मा पुरुषके ढूँढ़नेके अर्थ किसी शुभ लक्षणवाले हाथीको गन्ध आदिसे पूजा कर छोड़ा था ॥ ८४–८५ ॥ वह दिव्य हाथी भी वनमें गया और पुण्योदयसे उन दोनों—सिंहकेतु और विद्युन्मालाको अपने कंधे पर बैठा कर नगरमें वापिस आ गया ॥ ८६ ॥ प्रसन्नतासे भरे हुए मन्त्री आदिने सिंहकेतुका अभिषेक किया, राज्यासन पर बैठाया और पट्ट बाँधा ॥ ८७ ॥ तदनन्तर उन लोगोंने पूछा कि आप किसके पुत्र हैं और यहाँ कहाँसे आये हैं ? उत्तरमें सिंहकेतुने कहा कि 'मेरे पिताका नाम प्रभञ्जन है और माताका नाम गुणोंसे मण्डित मृकण्डू है । मैं हरिवंश रूपी निर्मल आकाशका चन्द्रमा हूं, कोई एक देव मुझे पत्नी सहित लाकर यहाँ वनमें छोड़ गया है, मैं अब तक वनमें ही स्थित था' ॥ ८८–८९ ॥ सिंहकेतुके वचन सुनकर लोग चूंकि यह मृकण्डूका पुत्र है इसलिए उसका मार्कण्डेय नाम रखकर उसी नामसे उसे पुकारने लगे ॥ ९० ॥ इस प्रकार यह मार्कण्डेय, दैवयोगसे

---

१ अथ शीलपुरोधीशो वज्रघोष-म०, ल० । २ अपूर्ण ख० । ३ सहर्षाः ।

तृतीयो वसुगिर्याख्यः परेऽपि बहवो गताः । तदा कुशार्थविषये तद्वंशाम्बरभास्वतः ॥ ९२ ॥
अवार्यनिजशौर्येण निर्जिताशेषविद्विषः । ख्यातशौर्यपुराधीशशूरसेनमहीपतेः ॥ ९३ ॥
सुतस्य शूरवीरस्य धारिण्याश्च समुद्भवौ । ख्यातोऽन्धकवृष्टिश्च पतिर्वृष्टिर्नरादिवाक् ॥ ९४ ॥
धर्मा[1]वान्धकवृष्टेश्च सुभद्रायाश्च तुग्वराः । समुद्रविजयोऽक्षोभ्यस्ततः स्तिमितसागरः ॥ ९५ ॥
हिमवान् विजयो विद्वानचलो धारणाह्वयः । पूरणः पूरितार्थीच्छो नवमोऽप्यभिनन्दनः ॥ ९६ ॥
वसुदेवोऽन्तिमश्चैवं दशाभूवन् शशिप्रभाः । कुन्ती माद्री च [2]सोमे वा सुते प्रादुर्बभूवतुः ॥ ९७ ॥
समुद्रविजयादीनां नवानां सुरतप्रदाः । शिवदेव्यनु तस्य धृतीश्वराथ[3] स्वयम्प्रभा ॥ ९८ ॥
सुनीताख्या च सीता च प्रियावाक् च प्रभावती । कालिङ्गी सुप्रभा चेति बभूवुर्भुवनोत्तमाः ॥ ९९ ॥
पद्मावत्या द्वितीयस्य वृष्टेश्च तनयास्त्रयः । उग्रदेवमहाद्युक्तिसेनान्ताश्च गुणान्विताः ॥ १०० ॥
गान्धारी च सुता प्रादुरभवन् शुभदायिनः । अथ कौरवमुख्यस्य हस्तिनाख्यपुरेशिनः ॥ १०१ ॥
शक्तिनाममहीशस्य [4]शतक्याश्च पराशरः । तस्य मत्स्यकुलोत्पन्नराजपुत्र्यां सुतोऽभवत् ॥ १०२ ॥
सत्यवत्यां सुधीर्व्यासः पुनर्व्यासस्सुभद्रयोः । धृतराष्ट्रो महान् पाण्डुर्विदुरश्च सुताह्वयः ॥ १०३ ॥
अथात्रैत्य विहारार्थं कदाचिद्वज्रमालिनि । नभोयायिनि विस्मृत्य गते हस्ताङ्गुलीयकम् ॥ १०४ ॥
विलोक्य पाण्डुभूपालो गहने तत्समग्रहीत् । स्मृत्वा खगं विवृत्यैत्य मुद्रिकां तामितस्ततः १०५ ॥
अन्विच्छन्तं विलोक्याह पाण्डुः किं मृग्यते त्वया । इति तद्वचनं श्रुत्वा विद्याधृन्मम मुद्रिका ॥ १०६ ॥
विनष्टेत्यवदत्तस्य पाण्डुश्चैतामदर्शयत् । पुनः किमनया कृत्यमिति तस्यानुयोजनात् ॥ १०७ ॥

प्राप्त हुए राज्यका चिरकाल तक उपभोग करता रहा। उसीके सन्तानमें हरिगिरि, हिमगिरि तथा वसुगिरि आदि अनेक राजा हुए। उन्हींमें कुशार्थ देशके शौर्यपुर नगरका स्वामी राजा शूरसेन हुआ जो कि हरिवंश रूपी आकाशका सूर्य था और अपनी शूरवीरतासे जिसने समस्त शत्रुओंको जीत लिया था। राजा शूरसेनके वीर नामका एक पुत्र था उसकी स्त्रीका नाम धारिणी था। इन दोनोंके अन्धकवृष्टि और नरवृष्टि नामके दो पुत्र हुए ॥ ९१-९४ ॥ अन्धकवृष्टिकी रानीका नाम सुभद्रा था। उन दोनोंके धर्मके समान गम्भीर समुद्रविजय १, स्तिमितसागर २, हिमवान् ३, विजय ४, विद्वान् अचल ५, धारण ६, पूरण ७, पूरितार्थीच्छ ८, अभिनन्दन ९ और वसुदेव १० ये चन्द्रमाके समान कान्तिवाले दश पुत्र हुए तथा चन्द्रिकाके समान कान्तिवाली कुन्ती और माद्री नामकी दो पुत्रियाँ हुईं ॥ ९५-९७ ॥ समुद्रविजय आदि पहलेके नौ पुत्रोंके क्रमसे संभोग सुखको प्रदान करनेवाली शिवदेवी, धृतीश्वरा, स्वयंप्रभा, सुनीता, सीता, प्रियावाक्, प्रभावती, कालिङ्गी और सुप्रभा नामकी संसारमें सबसे उत्तम स्त्रियाँ थीं ॥ ९८-९९ ॥ राजा शूरवीरके द्वितीय पुत्र नरवृष्टिकी रानीका नाम पद्मावती था और उससे उनके उग्रसेन, देवसेन तथा महासेन नामके तीन गुणी पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १०० ॥ इनके सिवाय एक गन्धारी नामकी पुत्री भी हुई। ये सब पुत्र-पुत्रियाँ अत्यन्त सुख देनेवाले थे। इधर हस्तिनापुर नगरमें कौरव वंशी राजा शक्ति राज्य करता था। उसकी शतकी नामकी रानीसे पराशर नामका पुत्र हुआ। उस पराशरके मत्स्य कुलमें उत्पन्न राजपुत्री रानी सत्यवतीसे बुद्धिमान् व्यास नामका पुत्र हुआ। व्यासकी स्त्रीका नाम सुभद्रा था इसलिए तदनन्तर उन दोनोंके धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ये तीन पुत्र हुए ॥ १०१-१०३ ॥

अथानन्तर—किसी एक समय वज्रमाली नामका विद्याधर क्रीड़ा करनेके लिए हस्तिनापुरके वनमें आया था। वह वहाँ अपने हाथकी अंगूठी भूलकर चला गया। इधर राजा पाण्डु भी उसी वनमें घूम रहे थे। इन्हें वह अंगूठी दिखी तो इन्होंने उठा ली। जब उस विद्याधरको अंगूठीका स्मरण आया तब वह लौटकर उसी वनमें आया तथा यहाँ वहाँ उसकी खोज करने लगा। उसे ऐसा करते देख पाण्डुने कहा कि आप क्या खोज रहे हैं ? पाण्डुके वचन सुनकर विद्याधरने कहा कि मेरी

१ धर्मा इव। २ चन्द्रिके इव। ३ धृतिस्वराथ ख०, ग०। धृतीश्वरा ख०। ४ शक्त्याश्च ग०, घ०, म०। शत्वक्याश्च ख०।

भद्रैषा कामरूपस्य साधनीत्यब्रवीत्खगः । तद्येवं कानिचिद् घातर्दिनान्येषास्तु मत्करे ॥ १०८ ॥
प्रभावमस्याः पश्यामीत्यर्थितस्तेन सोऽप्यदात् । पाण्डुश्च तत्कृतादृश्यनिजरूपेण सङ्गमम् ॥ १०९ ॥
कुन्त्या सहाकृतोत्पन्नस्तत्र कर्णाह्वयः सुतः । ततः परैरविदितं मञ्जूषाख्यं सकुण्डलम् ॥ ११० ॥
सरत्नकवचं लेख्यपत्रकेण सहार्भकम् । [1]कुन्तीपरिजनः कालिङ्गयाः प्रवाहे मुमोच तम् ॥ १११ ॥
चम्पापुरेश्वरो यान्तीमानाय्यादित्यनामकः । बालार्कानुमितान्तस्थं बालार्कं स [illegible] ॥ ११२ ॥
पश्यन् स्वदेव्यै[2] राधायै तोकः स्यादिति भाववित् । दत्वा सकृद्विलोक्यैनं राधाकर्णपरिस्पृशम् ॥ ११३ ॥
अस्तु कर्णाभिधानोऽयमिति सादरमब्रवीत् । पाण्डोः कुन्त्या च मद्रया च पाणिग्रहणपूर्वकम् ॥ ११४ ॥
प्राजापत्येन सम्बन्धो विवाहेनाभवत्पुनः । कुन्त्यामजनि धर्मिष्ठो धर्मपुत्रो [3]धराधिपः ॥ ११५ ॥
भीमसेनोऽनुपार्थश्च त्रयो वर्गत्रयोपमाः । माद्र्यां च नकुलो ज्येष्ठः सहदेवस्ततोऽन्वभूत् ॥ ११६ ॥
धृतराष्ट्राय गान्धारी दत्ता दुर्योधनोऽजनि । तयोर्दुःशासनः पश्चादथ दुर्धर्षणस्ततः ॥ ११७ ॥
दुर्मर्षणाद्याः सर्वेऽपि शतमेकं महौजसः । एवं सुखेन सर्वेषां कालो गच्छति लीलया ॥ ११८ ॥
अन्येद्युः सुप्रतिष्ठाख्यो मुनीन्द्रो गन्धमादने । गिरौ सन्निहितः शूरवीराख्यो वन्दितुं निजैः ॥ ११९ ॥
पुत्रपौत्रादिभिः सार्द्धं गत्वाभ्यर्च्याभिनुत्य तम् । श्रुत्वा धर्मं तदुद्दिष्टं स संवेगपरायणः ॥ १२० ॥
कृत्वाभिषेचनं दत्त्वा राज्यमन्धकवृष्टये । योग्योऽयमिति संयोज्य यौवराज्यं कनीयसे ॥ १२१ ॥
संयमं स्वयमादाय तपांस्युच्चैः समाचरन् । गतेषु द्वादशाब्देषु पर्वते गन्धमादने ॥ १२२ ॥
प्रतिमायोगमालम्ब्य सुप्रतिष्ठस्य तिष्ठतः । देवः सुदर्शनो नाम चकारोपद्रवं क्रुधा ॥ १२३ ॥

अंगूठी गिर गई है। इसके उत्तरमें पाण्डुने उसे अंगूठी दिखा दी। पश्चात् पाण्डुने उस विद्याधरसे पूछा कि इससे क्या काम होता है? उत्तरमें विद्याधरने कहा कि हे भद्र! यह अंगूठी इच्छानुसार रूप बनानेवाली है। यह सुन कर पाण्डुने प्रार्थना की कि हे भाई! यदि ऐसा है तो यह अंगूठी कुछ दिन तक मेरे हाथमें रहने दो, मैं इसका प्रभाव देखूँगा। पाण्डुकी इस प्रार्थना पर उस विद्याधरने वह अंगूठी उन्हें दे दी। पाण्डुने उस अंगूठीके द्वारा किये अपने अदृश्य रूपसे कुन्तीके साथ समागम किया जिससे उसके कर्ण नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। कुन्तीके परिजनोंने दूसरोंको विदित न होने पावे इस तरह छिपा कर उस बालकको एक संदूकचीमें रक्खा, उसे कुण्डल तथा रत्नोंका कवच पहिनाया और एक परिचायक पत्र साथ रखकर यमुना नदीके प्रवाहमें छोड़ दिया॥ १०४-१११॥ चम्पापुरके राजा आदित्यने बहती हुई सन्दूकचीको मँगाकर जब खोला तो उसके भीतर स्थित बालसूर्यके समान बालकको देखकर वह विस्मयमें पड़ गया। उसने सोचा कि यह पुत्र अपनी रानी राधाके लिए हो जायगा। यह विचार कर उसने वह पुत्र राधाके लिए दे दिया। राधाने जब उस पुत्रको देखा तब वह अपने कर्ण—कानका स्पर्श कर रहा था इसलिए उसने बड़े आदरसे उसका कर्ण नाम रख दिया। यह सब होनेके बाद राजा पाण्डुका कुन्ती और माद्रीके साथ पाणिग्रहणपूर्वक प्राजापत्य विवाहसे सम्बन्ध हो गया। कुन्तीके धर्मपुत्र-युधिष्ठिर नामका धर्मात्मा राजा उत्पन्न हुआ फिर क्रमसे भीमसेन और अर्जुन उत्पन्न हुए। उसके ये तीनों पुत्र धर्म अर्थ काम रूप त्रिवर्गके समान जान पड़ते थे। इसी प्रकार माद्रीके ज्येष्ठ पुत्र सहदेव और उसके बाद नकुल उत्पन्न हुआ था॥ ११२-११६॥ धृतराष्ट्रके लिए गान्धारी दी गई थी अतः उन दोनोंके सर्व प्रथम दुर्योधन उत्पन्न हुआ। उसके पश्चात् दुःशासन, दुर्धर्षण तथा दुर्मर्षण आदि उत्पन्न हुए। ये सब महाप्रतापी सौ भाई थे। इस तरह सबका काल लीला पूर्वक सुखसे व्यतीत हो रहा था॥ ११७-११८॥ किसी दूसरे दिन गन्धमादन नामक पर्वत पर श्री सुप्रतिष्ठ नामक मुनिराज आकर विराजमान हुए। राजा शूरवीर अपने पुत्र पौत्र आदि के साथ उनकी वन्दनाके लिए गया। वहाँ जाकर उसने उनकी पूजा की, स्तुति की और उनके द्वारा कहा हुआ धर्मका उपदेश सुना। उपदेश सुननेसे उसका चित्त संसारसे भयभीत हो गया अतः उसने अभिषेक कर अन्धकवृष्टिके लिए राज्य दे दिया और 'यह योग्य है' ऐसा समझकर छोटे पुत्र नरवृष्टिके लिए युवराज पद दे दिया। तदनन्तर वह स्वयं संयम धारण कर उत्कृष्ट तपश्चरण करने

---

१ कुन्त्याः परिजनः ल०। २ स्वसैन्यै ल०। ३ युधिष्ठिरः ग०, घ०।

उपसर्गं विजित्यास्य सोढ्वाऽशेषपरीषहान् । ध्यानेनाहत्य घातीनि प्रादुरासीत् स केवली ॥ १२४ ॥
देवैरन्धकवृष्टिश्च सह पूजार्थमागतः । अपृच्छदेवं देवायं देवस्ते केन हेतुना ॥ १२५ ॥
महोपसर्गं पूज्यस्य कृतवानिति विस्मयात् । तदुक्त्यवसितौ व्यक्तं जिनेन्द्रोऽप्येवमब्रवीत् ॥ १२६ ॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते क्षेत्रे कलिङ्गविषये पुरे । काञ्च्यां वणिक्सुतः सूरदत्तोऽन्यश्च सुदत्तवाक् ॥ १२७ ॥
लङ्काद्वीपादिषु स्वैरं समावर्ज्य निजं धनम् । पुरोऽन्यक्षिपतां गूढं प्रवेशे शुल्कभीलुकौ ॥ १२८ ॥
मूले क्षुपविशेषस्यानभिज्ञातत्तथोऽन्यदा । कश्चित्स्वप्रयोगार्थं वने तद्योग्यभरुहाम् ॥ १२९ ॥
मूलान्युत्खन्य सङ्गृह्णन् विलोक्य बहु तद्धनम् । किमनेन मुधा मूलखननेनाल्पहेतुना ॥ १३० ॥
सुप्रभूतमिदं लब्धं धनं दारिद्र्यविद्रुतिम् । विदधात्यामृतेर्भोगैरित्यादाय गतस्ततः ॥ १३१ ॥
तदागत्य वणिक्पुत्रो तत्प्रदेशे निजं धनम् । अनिरीक्ष्य मृतौ हत्वा श्रद्धानौ परस्परम् ॥ १३२ ॥
बद्ध्वायुः क्रोधलोभाभ्यामाद्यं नरकमीयतुः । तत्र दुःखं चिरं भुक्त्वा ततो विन्ध्याद्रिकन्दरे ॥ १३३ ॥
जातौ मेषौ पुनस्तत्राप्यन्योन्यवधकारिणौ । गोकुले वृषभौ जातौ गङ्गातटनिवासिनि ॥ १३४ ॥
तत्र जन्मान्तरद्वेषात् कृतयुद्धौ गतासुकौ । सम्मेदपर्वते जातौ वानरौ वा नरौ धिया ॥ १३५ ॥
शिलासलिलहेतोस्तौ कलहं खलु चक्रतुः । मृतस्तयोः सपद्येकः परः कण्ठगतासुकः ॥ १३६ ॥
सुरदेवादिगुर्वन्तचारणाभ्यां समुत्सुकः । श्रुत्वा पञ्चनमस्कारं धर्मश्रुतिपुरस्सरम् ॥ १३७ ॥

लगा । अनुक्रमसे बारह वर्ष बीत जानेपर वही सुप्रतिष्ठ मुनिराज उसी गन्धमादन पर्वत पर प्रतिमा योग धारण कर पुनः विराजमान हुए । उस समय सुदर्शन नामके देवने क्रोधवश कुछ उपसर्ग किया परन्तु वे इसके द्वारा किये हुए समस्त उपसर्गको जीतकर तथा समस्त परिषहोंको सह कर ध्यानके द्वारा घातिया कर्मोंका क्षय करते हुए केवलज्ञानी हो गये ॥ ११६–१२४ ॥ उस समय सब देवोंके साथ-साथ अन्धकवृष्टि भी उनकी पूजाके लिए गया था । वहाँ उसने आश्चर्यसे पूछा कि हे देव ! इस देवने पूजनीय आपके ऊपर यह महान् उपसर्ग किस कारण किया है ? अन्धकवृष्टिके ऐसा कह चुकने पर जिनेन्द्र भगवान् सुप्रतिष्ठ केवली इस प्रकार कहने लगे—

इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी कलिङ्ग देशके काञ्चीपुर नगरमें सूरदत्त और सुदत्त नामके दो वैश्य पुत्र रहते थे ॥ १२५–१२७ ॥ उन दोनोंने लङ्का आदि द्वीपोंमें जाकर इच्छानुसार बहुत-सा धन कमाया और लौटकर जब नगरमें प्रवेश करने लगे तब उन्हें इस बातका भय लगा कि इस धन पर टैक्स देना पड़ेगा । इस भयसे उन्होंने वह धन नगरके बाहर ही किसी झाड़ीके नीचे गाड़ दिया और कुछ पहिचानके लिए चिह्न भी कर दिये । दूसरे दिन कोई एक मनुष्य मदिरा बनानेके लिए उसके योग्य वृक्षोंकी जड़ खोदता हुआ वहाँ पहुँचा । खोदते समय उसे वह भारी धन मिल गया । धन देखकर उसने विचार किया कि जिससे थोड़ा ही लाभ होता है ऐसे इन वृक्षोंकी जड़ोंके उखाड़नेसे क्या लाभ है ? मुझे अब बहुत भारी धन मिल गया है यह मेरी सब दरिद्रताको दूर भगा देगा । मैं मरण पर्यन्त इस धनसे भोगोंका सेवन करूँगा, ऐसा विचार वह सब धन लेकर चला गया ॥ १२८–१३१ ॥ दूसरे दिन जब वैश्यपुत्र उस स्थान पर आये तो अपना धन नहीं देखकर परस्पर एक दूसरे पर धन लेनेका विश्वास करते हुए लड़ने लगे और परस्पर एक दूसरेको मारते हुए मर गये । वे क्रोध और लोभके कारण नरकायुका बन्धकर पहले नरकमें जा पहुँचे । चिरकाल तक वहाँके दुःख भोगनेके बाद वहाँसे निकले और विन्ध्याचलकी गुफामें मेढ़ा हुए । वहाँ भी परस्पर एक दूसरेका वध कर वे गङ्गा नदीके किनारे बसनेवाले गोकुलमें बैल हुए । वहाँ भी जन्मान्तरके द्वेषके कारण दोनों युद्ध कर मरे और सम्मेदपर्वत पर बुद्धिसे मनुष्योंकी समानता करनेवाले बानर हुए ॥ १३२–१३५ ॥ वहाँ पर भी पत्थरसे निकलनेवाले पानीके कारण दोनों कलह करने लगे । उनमेंसे एक तो शीघ्र ही मर गया और दूसरा कण्ठगत प्राण हो गया । उसी समय वहाँ सुरगुरु और देवगुरु नामके दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज आ पहुँचे । उन्होंने उसे पञ्च नमस्कार मन्त्र सुनाया, जिसे उसने बड़ी उत्सुकतासे सुना और धर्मश्रवणके साथ-साथ मरकर सौधर्म स्वर्गमें

सौधर्मकल्पे चित्राङ्गदाख्यो देवोऽजनिष्ट सः । ततो निर्गत्य जम्ब्वादिद्वीपे भरतमध्यगे ॥ १३८ ॥
सुरम्यविषये पोदनेशः सुस्थितभूपतेः । सुलक्षणायां पुत्रोऽभूत्सुप्रतिष्ठावरिष्ठधीः ॥ १३९ ॥
कदाचित्प्रावृडारम्भे गिरावसितनामनि । युद्धं मर्कटयोर्वीक्ष्य स्मृतप्राग्जन्मचेष्टितः ॥ १४० ॥
सुधर्माचार्यमासाद्य दीक्षित्वाऽभवदीदृशः । सूरदत्तचरः सोऽहं सुदत्तोऽप्यनुजो भवे ॥ १४१ ॥
भ्रान्त्वान्ते सिन्धुतीरस्थमृगायणतपस्विनः । विशालायाश्च तोकोऽभूद्गोतमाख्यः कुदर्शनात् ॥ १४२ ॥
तपः पञ्चाग्निमध्येऽसौ विधाय ज्योतिषां गणैः । देवः सुदर्शनो नाम्ना भूत्वा प्राग्जन्मवैरतः ॥ १४३ ॥
ममायमकरोदीदृगिति तद्वाक्यमादरात् । श्रुत्वा सुदर्शनो मुक्तवैरः सद्धर्ममग्रहीत् ॥ १४४ ॥
अथातोऽन्धकवृष्टिश्च श्रुत्वा मुकुलयन्करौ । स्वपूर्वभवसम्बन्धमपृच्छज्जिनपुङ्गवम् ॥ १४५ ॥
वीतरागोऽपि [1]सोऽप्याह तत्पृष्टं शिष्टगीर्गुणः । निर्निमित्ताहिताख्यानं नाम तेषु निसर्गजम् ॥ १४६ ॥
द्वीपेऽत्रैव विनीतायां नरेन्द्रोऽनन्तवीर्यवाक् । सुरेन्द्रदत्तस्तत्रैव वैश्यो वैश्रवणोपमः ॥ १४७ ॥
दशभिर्नित्यपूजायामष्टम्यां द्विगुणैस्ततः । चतुर्गुणैरमावस्यायां पर्वण्यष्टभिर्गुणैः ॥ १४८ ॥
दीनारैरर्हतां पूजां करोति विहितव्ययैः । सहितः पात्रदानेन सशीलः सोपवासकः ॥ १४९ ॥
धर्मशील इति ख्यातिं स समापापपापकः । गन्तुं वारिपथं वाञ्छन्नन्येद्युर्वणिजां वरः ॥ १५० ॥
द्वादशाब्दैः समावर्ज्य धनमागन्तुकः परम् । जिनपूजाव्ययायार्थं द्वादशाब्दनिबन्धनम् ॥ १५१ ॥
मित्रस्य रुद्रदत्तस्य ब्राह्मणस्य करे न्यधात् । अनेन जिनपूजादिं कुर्वंहं वा त्वमित्यसौ ॥ १५२ ॥

चित्राङ्गद नामका देव हुआ। वहाँसे निकल कर वह उसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रके मध्यमें स्थित पोदनपुर नगरके स्वामी राजा सुस्थितकी सुलक्षणा नामकी रानीसे उत्कृष्ट बुद्धिका धारक सुप्रतिष्ठ नामका पुत्र हुआ ॥ १३६–१३९ ॥ किसी एक समय वर्षा ऋतुके प्रारम्भमें उसने असित नामके पर्वत पर दो वानरोंका युद्ध देखा। जिससे उसे अपने पूर्व जन्मकी समस्त चेष्टाओंका स्मरण हो गया ॥ १४० ॥ उसी समय उसने सुधर्माचार्यके पास जाकर दीक्षा ले ली। वही सूरदत्तका जीव मैं यह सुप्रतिष्ठ हुआ हूँ। मेरा छोटा भाई सुदत्त संसारमें भ्रमण करता हुआ अन्तमें सिन्धु नदीके किनारे रहनेवाले मृगायण नामक तपस्वीकी विशाला नामकी स्त्रीसे गोतम नामका पुत्र हुआ। मिथ्यादर्शनके प्रभावसे वह पञ्चाग्नियोंके मध्यमें तपश्चरण कर सुदर्शन नामका ज्यौतिष्क देव हुआ है। पूर्व भवके वैरके कारण ही इसने मुझ पर यह उपसर्ग किया है। सुदर्शन देवने उन सुप्रतिष्ठ केवलीके वचन बड़े आदरसे सुने और सब वैर छोड़कर समीचीन धर्म स्वीकृत किया ॥ १४१–१४४ ॥ तदनन्तर राजा अन्धकवृष्टिने यह सब सुननेके बाद हाथ जोड़कर उन्हीं सुप्रतिष्ठ जिनेन्द्रसे अपने पूर्व भवका सम्बन्ध पूछा ॥ १४५ ॥ शिष्ट वचन बोलना ही जिनकी वाणीका विशेष गुण है ऐसे वीतराग सुप्रतिष्ठ भगवान् कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि बिना किसी निमित्तके हितकी बात कहना उन जैसोंका स्वाभाविक गुण है ॥ १४६ ॥

वे कहने लगे कि इसी जम्बूद्वीपकी अयोध्या नगरीमें अनन्तवीर्य नामका राजा रहता था। उसी नगरीमें कुबेरके समान सुरेन्द्रदत्त नामका सेठ रहता था। वह सेठ प्रतिदिन दश दीनारोंसे, अष्टमीको सोलह दीनारोंसे, अमावसको चालीस दीनारोंसे और चतुर्दशीको अस्सी दीनारोंसे अर्हन्त भगवान्‌की पूजा करता था। वह इस तरह खर्च करता था, पात्र दान देता था, शील पालन करता था और उपवास करता था। इन्हीं सब कारणोंसे पापरहित उस सेठने 'धर्मशील' इस तरहकी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। किसी एक दिन उस सेठने जलमार्गसे जाकर धन कमानेकी इच्छा की। उसने बारह वर्ष तक लौट आनेका विचार किया था इसलिए बारह वर्ष तक भगवान्‌की पूजा करनेके लिए जितना धन आवश्यक था उतना धन उसने अपने मित्र रुद्रदत्त ब्राह्मणके हाथमें सौंप दिया और कह दिया कि इससे तुम जिनपूजा आदि कार्य करते रहना क्योंकि आप मेरे ही समान हैं ॥१४७–१५२॥

---

१ तत्प्राह ख० ।

मार्गदर्शक : आचार्यश्री सुविधिसागरजी महाराज

तस्मिन् गते स विप्रोऽपि स्त्रीद्यूतव्यसनादिभिः । धनं कतिपयैरेव दिनैर्व्ययमनीनयत् ॥ १५३ ॥
ततश्चौर्यादिदुष्कर्मसक्तं तलवरो द्विजम् । श्येनकाख्यो भ्रमन् दृष्ट्वा रात्रौ त्वां हन्म्यहं नहि ॥ १५४ ॥
द्विजाख्याधारिणं याहि नगराद् द्रक्ष्यसे यदि । पुनः कृतान्तवक्त्रं त्वं नेष्यसे दुष्क्रियो मया ॥ १५५ ॥
[1]इत्यत्यतर्जयत्सोऽपि कालकाख्येन पापिना । समभुल्कामुखीव्याधनिवासपतिनागमत् ॥ १५६ ॥
स कदाचिदयोध्यायां गोकुलापहृतौ द्विजः । श्येनकेन हतोऽयासीन्महापापादधोगतिम् ॥ १५७ ॥
ततश्च्युत्वा महामत्स्यो हरिर्दृष्टिविषोरगः । शार्दूलो पक्षिणामीशो [2]व्यालो व्याधश्च सम्भवन् ॥ १५८ ॥
प्रविश्याधोगतीः सर्वाः कृच्छ्राभ्यो विनिर्गतः । त्रसस्थावरभावेन चिरकालं परिभ्रमन् ॥ १५९ ॥
जम्बूपलक्षिते द्वीपे भरते कुरुजाङ्गले । हास्तिनाख्यं पुरं पाति धराधीशे धनञ्जये ॥ १६० ॥
सुतो गोतमपुत्रस्य सम्बभूव द्विजात्मजः । [3]कपिष्ठलस्य निःश्रीकः सोऽनुन्धर्याश्च गोतमः ॥ १६१ ॥
तत्समुत्पत्तिमात्रेण तच्छेषमभवत्कुलम् । अलब्धान्नः कृशीभूतजठरः प्रकटास्थिकः ॥ १६२ ॥
[4]सिरावनद्धदुष्कायो यूकाञ्चितशिरोरुहः[5] । शयानश्चैव सर्वैश्च तर्जितो यत्र तत्र वा ॥ १६३ ॥
कराग्रकर्परेणोपलक्ष्यमाणोऽनपायिना । सुमित्रेणैव सर्वत्र शरीरस्थितिहेतुना ॥ १६४ ॥
वाञ्छितेन रसेनेव देहीति वचसा तदा । लोलुपो निवृत्तिं प्राप्तुं भिक्षामात्रेण दुर्विधः ॥ १६५ ॥
काकवत्पर्वसु भ्रान्तः पश्यन् बलि[6]विसर्जनम् । अनाश्वानिव शीतोष्णवात[7]बाधाः सहन् मुहुः ॥ १६६ ॥

सेठके चले जाने पर रुद्रदत्त ब्राह्मणने वह समस्त धन परस्त्रीसेवन तथा जुआ आदि व्यसनोंके द्वारा कुछ ही दिनोंमें खर्च कर डाला ॥ १५३ ॥ तदनन्तर वह चोरी आदिमें आसक्त हो गया। श्येनक नामक कोतवालने उसे चोरी करते हुए एक रातमें देख लिया। देखकर कोतवालने कहा कि चूँकि तू ब्राह्मण नामको धारण करता है अतः मैं तुझे मारता नहीं हूँ, तू इस नगरसे चला जा, यदि अब फिर कभी ऐसा दुष्कर्म करता हुआ दिखेगा तो अवश्य ही मेरे द्वारा यमराजके मुखमें भेज दिया जायगा—मारा जायगा ॥ १५४-१५५ ॥ यह कहकर कोतवालने उसे डाँटा। रुद्रदत्त भी, वहाँसे निकल कर उल्कामुखी पर रहनेवाले भीलोंके स्वामी पापी कालकसे जा मिला ॥ १५६ ॥ वह रुद्रदत्त किसी समय अयोध्या नगरीमें गायोंके समूहका अपहरण करनेके लिए आया था उसी समय श्येनक कोतवालके द्वारा मारा जाकर वह महापापके कारण अधोगतिमें गया ॥ १५७ ॥ वहाँ से निकल कर महामच्छ हुआ फिर नरक गया, वहाँसे आकर सिंह हुआ, फिर नरक गया, वहाँसे आकर दृष्टिविष नामका सर्प हुआ फिर नरक गया, वहाँसे आकर शार्दूल हुआ फिर नरक गया, वहाँसे आकर गरुड़ हुआ फिर नरक गया, वहाँसे आकर सर्प हुआ फिर नरक गया और वहाँसे आकर भील हुआ। इस प्रकार समस्त नरकोंमें जाकर वहाँसे बड़े कष्टसे निकला और त्रस स्थावर योनियोंमें चिरकाल तक भ्रमण करता रहा ॥ १५८-१५९ ॥ अन्तमें इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी कुरुजांगल देशके हस्तिनापुर नगरमें जब राजा धनञ्जय राज्य करते थे तब गोतम गोत्री कपिष्ठल नामक ब्राह्मणकी अनुन्धरी नामकी स्त्रीसे वह रुद्रदत्तका जीव गोतम नामका महादरिद्र पुत्र हुआ। उत्पन्न होते ही उसका समस्त कुल नष्ट हो गया। उसे खानेके लिए अन्न नहीं मिलता था, उसका पेट सूख गया था, हड्डियाँ निकल आई थीं, नसोंसे लिपटा हुआ उसका शरीर बहुत बुरा मालूम होता था, उसके बाल जुओंसे भरे थे, वह जहाँ कहीं सोता था वहीं लोग उसे फटकार बतलाते थे, वह अपने शरीरकी स्थितिके लिए कभी अलग नहीं होनेवाले श्रेष्ठ मित्रके समान अपने हाथके अग्रभागमें खप्पर लिये रहता था ॥ १६०-१६४ ॥ वाञ्छित रसके समान वह सदा 'देओ देओ' ऐसे शब्दोंसे केवल भिक्षाके द्वारा सन्तोष प्राप्त करनेका लोलुप रहता था परन्तु इतना अभागा था कि भिक्षासे कभी उसका पेट नहीं भरता था। जिस प्रकार पर्वके दिनोंमें कौआ बलिको ढूँढ़नेके लिए इधर-उधर फिरा करता है इसी प्रकार वह भी भिक्षाके लिए इधर-उधर भटकता रहता था। वह

---

१ इत्यतर्जयत् ल० । २ व्यालकाधश्च ल० । ३ कापिष्ठस्य ल० । ४ स्रसावनद्ध ल० । ५ तनूरुहः ख० । ६ बलिविभञ्जनम् ल० । ७ वाताः बाधाः ल० (?)।

मलधारी परिभ्रष्टशेषेन्द्रियविजृम्भणः । जिह्वाविषयमेवेच्छन् दण्डधारीव भूपतिः ॥ १६७ ॥
तमस्तमःप्रजातानां रूपमीदृग्भवेदिति । वेधसेव स्फुटीकर्तुमिहस्थानां विनिर्मितः ॥ १६८ ॥
दधन्मापमपीवर्णमर्कभीत्यः तमश्चयः । नररूपधरो वातिजुगुप्स्यः पापभाक् क्वचित् ॥ १६९ ॥
आकण्ठपूर्णाहारोऽपि नयनाभ्यामतृप्तवान् । परिवीतकटिर्जीर्णच्छिद्रिताशुभकर्पटैः ॥ १७० ॥
व्रणवैगन्ध्यसंसक्तमक्षिकौघैरितस्ततः । क्रुद्धयंश्छववदावेष्ट्यो मुखरैरनपायिभिः ॥ १७१ ॥
पौरबालकसङ्घातैरनुयातैरनुक्षणम् । उपलादिप्रहारेण ताड्यमानः प्रकोपवान् ॥ १७२ ॥
अनुधावन्पतन्नेव दुःखैः कालमजीगमत् । कदाचिल्लब्धकालादिरनुयातो महामुनिम् ॥ १७३ ॥
समुद्रसेननामानं पर्यटन्तं तनुस्थितेः । वणिग्वैश्रवणागारे तेनाकण्ठमभोज्यत ॥ १७४ ॥
पुनर्मुन्याश्रमं गत्वा कुरु त्वामिव मामपि । इत्यवादीदसौ वास्तु भव्योऽयमिति निश्चयात् ॥ १७५ ॥
दिवसैः सहवासेन कैश्चिल्लक्षितन्मनाः । अग्राहयन्मुनिस्तेन संयमं शमसाधनम् ॥ १७६ ॥
बुद्ध्यादिकर्द्धयस्तस्य जाताः संवत्सरादृतः । [1]स श्रीगोतमनाम्नामा गुरुस्थानमवाप सः ॥ १७७ ॥
मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
जीवितान्ते गुरुस्तस्य मध्यग्रैवेयकाध्वगे । विमाने सुविशालाख्ये समुत्पन्नः सुरोत्तमः ॥ १७८ ॥
स श्रीगौतमनामापि विहिताराधनाविधिः । सम्यक् संन्यस्य तत्रैव सम्प्रापदहमिन्द्रताम् ॥ १७९ ॥
तत्र दिव्यं सुखं भुक्त्वा तस्माद्विप्रचरो मुनिः । अष्टाविंशतिवार्ध्यायुरतिक्रान्तौ च्युतो भवान् ॥ १८० ॥

मुनियोंके समान शीत, उष्ण तथा वायुकी बाधाको बार-बार सहता था, वह सदा मलिन रहता था, केवल जिह्वा इन्द्रियके विषयकी ही इच्छा रखता था, अन्य सब इन्द्रियोंके विषय उसके छूट गये थे। जिस प्रकार राजा सदा दण्डधारी रहता है—अन्यथा प्रवृत्ति करनेवालोंको दण्ड देता है उसी प्रकार वह भी सदा दण्डधारी रहता था—हाथमें लाठी लिये रहता था ॥ १६५–१६७ ॥ 'सातवें नरकमें उत्पन्न हुए नारकियोंका रूप ऐसा होता है' यहाँके लोगोंको यह बतलानेके लिए ही मानो विधाताने उसकी सृष्टि की थी। वह उड़द अथवा स्याही जैसा रङ्ग धारण करता था। अथवा ऐसा जान पड़ता था कि सूर्यके भयसे मानो अन्धकारका समूह मनुष्यका रूप रखकर चल रहा हो। वह अत्यन्त घृणित था, पापी था, यदि उसे कहीं कण्ठपर्यन्त पूर्ण आहार भी मिल जाता था तो नेत्रोंसे वह अतृप्त जैसा ही मालूम होता, वह जीर्ण शीर्ण तथा छेदवाले अशुभ वस्त्र अपनी कमरसे लपेटे रहता था, उसके शरीर पर बहुतसे घाव हो गये थे, उनकी बड़ी दुर्गन्ध आती थी तथा भिनभिनाती हुई अनेक मक्खियाँ उसे सदा घेरे रहती थीं, कभी हटती नहीं थीं, उन मक्खियोंसे उसे क्रोध भी बहुत पैदा होता था। नगरके बालकोंके समूह सदा उसके पीछे लगे रहते थे और पत्थर आदिके प्रहारसे उसे पीड़ा पहुँचाते थे, वह झुँझला कर उन बालकोंका पीछा भी करता था परन्तु बीचमें ही गिर पड़ता था। इस प्रकार बड़े कष्टसे समय बिता रहा था। किसी एक समय कालादि लब्धियोंकी अनुकूल प्राप्तिसे वह आहारके लिए नगरमें भ्रमण करनेवाले समुद्रसेन नामके मुनिराजके पीछे लग गया। वैश्रवण सेठके यहाँ मुनिराजका आहार हुआ। सेठने उस गोतम ब्राह्मणको भी कण्ठ पर्यन्त पूर्ण भोजन करा दिया। भोजन करनेके बाद भी वह मुनिराजके आश्रममें जा पहुँचा और कहने लगा कि आप मुझे भी अपने जैसा बना लीजिये। मुनिराजने उसके वचन सुनकर पहले तो यह निश्चय किया यह वास्तवमें भव्य है फिर उसे कुछ दिन तक अपने पास रखकर उसके हृदयकी परख की। तदनन्तर उन्होंने उसे शान्तिका साधन भूत संयम ग्रहण करा दिया ॥ १६८–१७६ ॥ बुद्धि आदिक ऋद्धियाँ भी उसे एक वर्षके बाद ही प्राप्त हो गईं। अब वह गोतम नामके साथ ही साथ गुरुके स्थानको प्राप्त हो गया—उनके समान बन गया ॥ १७७ ॥ आयुके अन्तमें उसके गुरु मध्यमग्रैवेयक के सुविशाल नामके उपरितन विमानमें अहमिन्द्र हुए और श्री गोतम मुनिराज भी आयुके अन्तमें विधिपूर्वक आराधनाओंकी आराधनासे अच्छी तरह समाधिमरण कर उसी मध्यम ग्रैवेयकके सुविशाल विमानमें अहमिन्द्र पदको प्राप्त हुए ॥ १७८–१७९ ॥ वहाँके दिव्य सुखका उपभोग कर

---

१ श्रीगोतमेतिनाम्नामा म० । श्रीगोतमनाम्नामा (?) ।

अजन्यन्धकवृष्ट्याख्य इति तज्ज्ञापयन् सुधीः । स्वपुत्रभवसम्बन्धं सोऽन्वयुंक्त पुनर्जिनम् ॥ १८१ ॥
सर्वभाषास्वभावेन ध्वनिना निजगाद सः । जम्बूपलक्षिते द्वीपे विषये मङ्गलाह्वये ॥ १८२ ॥
नृपो मेघरथो नाम्ना पुरे भद्रिलनामनि । सुभद्रायां सुतस्तस्य रथान्तद्दढसंज्ञकः ॥ १८३ ॥
पट्टबन्धं स्वपुण्येन यौवराजस्य सोऽबिभः[1] । तत्र नन्दयशोनाम्न्यां धनदत्तवणिक्पतेः ॥ १८४ ॥
धनादिदेवपालाख्यौ देवपालौ जिनादिकौ । अर्हन्तौ दत्तदासान्तौ जिनदत्तश्च सप्तमः ॥ १८५ ॥
प्रियमित्रोऽष्टमो धर्मरुचिश्चान्त्योऽभवत्सुतः । प्रियदर्शना ज्येष्ठा च जाते दुहितरौ ततः ॥ १८६ ॥
नृपः सुदर्शनोद्याने मन्दिरस्थविरान्तिके । कदाचिद् वणिगीशश्च पुत्रादिपरिवारितौ ॥ १८७ ॥
सक्रियं धर्ममाकर्ण्य निर्विद्य स महीपतिः । दत्त्वा द्दढरथायाभिषेकपूर्वं स्वकं पदम् ॥ १८८ ॥
आददे संयमं पश्चाच्छ्रेष्ठी च नवभिः सुतैः । ततो नन्दयशा पुत्रिकाद्वयेनागमत्तपः ॥ १८९ ॥
सुदर्शनार्यिकाभ्यर्णे तूर्णनिर्णीतसंसृतिः । क्रमाद्वाराणसीबाह्यं केवलज्ञानिनोऽभवन् ॥ १९० ॥
वने प्रियङ्गुखण्डाख्ये मनोहरतमद्रुमे । गुरुर्मेघरथो ध्यात्वा धनदत्तश्च ते त्रयः ॥ १९१ ॥
धर्मामृतमयीं वृष्टिमुद्गिरन्तो निरन्तरम् । जीवितान्ते तले सिद्धशिलायाः सिद्धिमव्रजन् ॥ १९२ ॥
पुरे राजगृहे पूज्यास्त्रिजगज्जननायकैः । धनदेवादिकास्तस्मिन्नेवान्येद्युः शिलातले ॥ १९३ ॥
नवापि विधिना संन्यस्यन्तो वीक्ष्य सुतायुता । निदानमकरोन्नन्दयशा मे जन्मनीह वा ॥ १९४ ॥
परत्राप्येवमेवैभिर्बन्धुत्वं भवतादिति । स्वयं च कृतसंन्यासा तैः सहानतकल्पजे ॥ १९५ ॥

वह ब्राह्मण मुनिका जीव अट्ठाईस सागरकी आयु पूर्ण होने पर वहाँसे च्युत हुआ और तू अन्धकवृष्टि नामका राजा हुआ है। इस प्रकार अपने भवोंका अनुभव करता हुआ बुद्धिमान् अन्धकवृष्टि फिर भगवान्से अपने पुत्रोंके भवोंका सम्बन्ध पूछने लगा ॥ १८०–१८१ ॥ वे भगवान् भी सर्वभाषा रूप परिणमन करनेवाली अपनी दिव्य ध्वनिसे इस प्रकार कहने लगे—

जम्बूद्वीपके मङ्गला देशमें एक भद्रिलपुर नामका नगर है। उसमें मेघरथ नामका राजा राज्य करता था। उसकी देवीका नाम सुभद्रा था। उन दोनोंके दृढ़रथ नामका पुत्र हुआ। अपने पुण्योदयसे उसने यौवराज्यका पट्ट धारण किया था। उसी भद्रिलपुर नगरमें एक धनदत्त नामका सेठ रहता था, उसकी स्त्रीका नाम नन्दयशा था। उन दोनोंके धनपाल, देवपाल, जिनदेव, जिनपाल, अर्हद्दत्त, अर्हद्दास, सातवाँ जिनदत्त, आठवाँ प्रियमित्र और नौवाँ धर्मरुचि ये नौ पुत्र हुए थे। इनके सिवाय प्रियदर्शना और ज्येष्ठा ये दो पुत्रियाँ भी हुई थीं ॥ १८२–१८६ ॥ किसी एक समय सुदर्शन नामके वनमें मन्दिरस्थविर नामके मुनिराज पधारे। राजा मेघरथ और सेठ धनदत्त दोनों ही अपने पुत्र-पौत्रादिसे परिवृत होकर उनके पास गये। राजा मेघरथ क्रिया सहित धर्मका स्वरूप सुनकर विरक्त हो गया अतः अभिषेक पूर्वक दृढ़रथ नामक पुत्रके लिए अपना पद देकर उसने संयम धारण कर लिया। तदनन्तर धनदत्त सेठने भी अपने नौ पुत्रोंके साथ संयम ग्रहण कर लिया। नन्दयशा सेठानी भी अपनी दोनों पुत्रियोंके साथ सुदर्शना नामकी आर्यिकाके पास गई और शीघ्र ही संसारके स्वरूपका निर्णय कर उसने भी तप धारण कर लिया—क्रम क्रमसे विहार करते हुए वे सब बनारस पहुँचे और वहाँ बाहर अत्यन्त सुन्दर वृक्षोंसे युक्त प्रियंगुखण्ड नामके वनमें जा विराजमान हुए। वहाँ सबके गुरु मन्दिरस्थविर, मेघरथ राजा और धनदत्त सेठ तीनों ही मुनि ध्यान कर केवलज्ञानी हो गये। तदनन्तर निरन्तर धर्मामृतकी वर्षा करते हुए वे तीनों, तीनों लोकोंके इन्द्रोंके द्वारा पूज्य होकर आयु के अन्तमें राजगृह नगरके समीप सिद्ध शिलासे सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हुए। किसी दूसरे दिन धनदेव आदि नौ भाई, दोनों बहिनों और नन्दयशाने उसी शिलातलपर विधिपूर्वक संन्यास धारण किया। पुत्र-पुत्रियोंसे युक्त नन्दयशाने उन्हें देखकर निदान किया कि 'जिस प्रकार ये सब इस जन्ममें मेरे पुत्र-पुत्रियाँ हुई हैं उसी प्रकार परजन्ममें भी मेरे ही पुत्र-पुत्रियाँ हों और इन सबके साथ मेरा सम्बन्ध इस जन्मकी तरह पर-जन्ममें भी बना रहे। ऐसा निदान कर उसने स्वयं

---

१ अबिभः दधार।

शातङ्करे समुत्पद्य विमाने भोगमन्वभूत् । विंशत्यम्भोधिमानायुस्ततः प्रच्युत्य सा तव ॥ १९६ ॥
विराजति सुभद्राख्या धनदेवादयः सुताः । प्रकृष्टपौरुषा जाताः समुद्रविजयादयः ॥ १९७ ॥
प्रियदर्शना ज्येष्ठा च कुन्ती माद्रीति विश्रुते । अथापृच्छन्महीपालो वसुदेवभवावलीम् ॥ १९८ ॥
जिनेन्द्रोऽप्यवदत्तस्यै शुभां गम्भीरभाषया । प्रकृतिस्तादृशी तेषां यथा भव्येष्वनुग्रहः ॥ १९९ ॥
ग्रामे पलाशकूटाख्ये विषये कुरुनामनि । दुर्गतः सोमशर्माख्यो द्विजस्तस्य सुतोऽभवत् ॥ २०० ॥
नाम्ना नन्दीत्यसौ देवशर्मणः सततानुगः । मातुलस्याभिलाषेण तत्सुतासु विपुण्यकः ॥ २०१ ॥
पुत्रिकास्तस्य सप्तासन् सोऽदादन्येभ्य एव ताः । तदलाभात्स नन्दी च महादुःखवशीकृतः ॥ २०२ ॥
अथान्येद्युर्नटप्रेक्षां वीक्षितुं कौतुकाद्गतः । बलवन्नटसंघट्टमपतत्सोढुमक्षमः ॥ २०३ ॥
सर्वोऽपि तं जगोऽन्योन्यकराघ्रास्फालनान्वितम् । हसत्यापन्नलज्जः सन् भृगुपाते कृतोद्यमः ॥ २०४ ॥
अद्रिमस्तकमारुह्य [1]टङ्कच्छिन्ने स तस्थिवान् । पातोन्मुखो भयात्कुर्वन् प्रवर्तननिवर्तने ॥ २०५ ॥
शङ्खनिर्नामिकाख्याभ्यां संयताभ्यां धरातले । सुस्थिताभ्यामियं छाया पृष्टः कस्येति सादरम् ॥ २०६ ॥
गुरुर्द्रुमषेणाख्यः सोऽवोचदिदम्[2] । भवे भावी तृतीयेऽस्माच्छायेयं युवयोः पिता ॥ २०७ ॥
श्रुत्वा तौ च गुरोर्गत्वा नन्दिनं भाविनन्दनौ । कुतस्ते मृतिनिर्बन्धो बन्धो विरम निष्फलात् ॥ २०८ ॥
अनुष्ठानान्तरेणाद्य सौभाग्यादि त्वयेप्सितम् । भविष्यति तपःसिद्धेरित्यग्राहयतां तपः ॥ २०९ ॥

संन्यास धारण कर लिया और मर कर उन सबके साथ आनत स्वर्गके शातङ्कर नामक विमानमें उत्पन्न हो वहाँके भोग भोगने लगी। वहाँ उसकी बीस सागरकी आयु थी। आयुपूर्ण होनेपर वहाँसे च्युत होकर यह तुम्हारी सुभद्रा नामकी रानी हुई है, धनदेव आदि प्रसिद्ध पौरुषके धारक समुद्रविजय आदि पुत्र हुए हैं तथा प्रियदर्शना और ज्येष्ठा नामक पुत्रियोंके जीव अतिशय प्रसिद्ध कुन्ती माद्री हुए हैं। यह सब सुननेके बाद राजा अन्धकवृष्टिने अब सुप्रतिष्ठ जिनेन्द्रसे वसुदेवकी भवावली पूछी ॥ १८७–१९८ ॥ जिनराज भी वसुदेवकी शुभ भवावली अपनी गम्भीर भाषा द्वारा इस प्रकार कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि उनका स्वभाव ही ऐसा है कि जिससे भव्य जीवोंका सदा अनुग्रह होता है ॥ १९९ ॥

वे कहने लगे कि कुरुदेशके पलाशकूट नामक गाँवमें एक सोमशर्मा नामका ब्राह्मण रहता था। वह जन्मसे ही दरिद्र था। उसके नन्दी नामका एक लड़का था। नन्दीके मामाका नाम देवशर्मा था। उसके सात पुत्रियाँ थीं। नन्दी अपने मामाकी पुत्रियाँ प्राप्त करना चाहता था इसलिए सदा उसके साथ लगा रहता था परन्तु पुण्यहीन होनेके कारण देवशर्माने वे पुत्रियाँ उसके लिए न देकर किसी दूसरेके लिए दे दीं। पुत्रियोंके न मिलनेसे नन्दी बहुत दुःखी हुआ ॥ २००–२०२ ॥ तदनन्तर किसी दूसरे दिन वह कौतुकवश नटोंका खेल देखनेके लिए गया। वहाँ बड़े-बड़े बलवान् योद्धाओंकी भीड़ थी जिसे वह सहन नहीं कर सका किन्तु उसके विपरीत गिर पड़ा। उसे गिरा हुआ देख दूसरे लोग परस्पर ताली पीट कर उसकी हँसी करने लगे। इस घटनासे उसे बहुत ही लज्जा हुई और वह किसी पर्वतकी शिखरसे नीचे गिरनेका उद्यम करने लगा ॥ २०३–२०४ ॥ पर्वतकी शिखर पर चढ़कर वह टाँकीसे कटी हुई एक शिला पर खड़ा हो गया और गिरनेका विचार करने लगा परन्तु भयके कारण गिर नहीं सका, वह बार-बार गिरनेके लिए तैयार होता और बार-बार पीछे हट जाता था ॥२०५॥ उसी पर्वतके नीचे पृथिवी तल पर द्रुमषेण नामके मुनिराज विराजमान थे वे मति, श्रुत अवधि इन तीन ज्ञानोंसे सहित थे, शङ्ख और निर्नामिक नामके दो मुनि उनके पास ही बैठे हुए थे उन्होंने द्रुमषेण मुनिराजसे आदरके साथ पूछा कि यह छाया किसकी है ? उन्होंने उत्तर दिया कि जिसकी यह छाया है वह इससे तीसरे भवमें तुम दोनोंका पिता होगा ॥ २०६–२०७ ॥ गुरुकी बात सुनकर उसके दोनों होनहार पुत्र नन्दीके पास जाकर पूछने लगे कि 'हे भाई ! तुझे यह मरणका आग्रह क्यों हो रहा है ? यदि तू इस मरणसे भाग्य तथा सौभाग्य आदि चाहता है तो यह सब तुझे तपकी सिद्धिसे प्राप्त हो जावेगा' इस प्रकार समझा कर उन्होंने उसे तप ग्रहण करा दिया ॥ २०८–२०९ ॥

१ टङ्कछिन्नैः घ० । टङ्कच्छिन्ने ख० । २–दिति ख०, घ० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चिरं सोऽपि तपः कृत्वा महाशुक्रेऽमरोऽजनि । तत्र षोडशवार्ध्यायुरनुभूयाभिवाञ्छितम् ॥ २१० ॥
प्रादुरासीत्ततश्च्युत्वा वसुदेवो वसुन्धराम् । वशीकर्तुमयं यस्माद्भाविनौ बलकेशवौ ॥ २११ ॥
इति सर्वमिदं श्रुत्वा ससंवेगपरायणः । सप्रेक्षोऽन्धकवृष्ट्याख्यः स्वीचिकीर्षुः परं पदम् ॥ २१२ ॥
समुद्रविजयाख्याय दत्वाभिषवपूर्वकम् । राज्यमुज्झितसङ्गः सन् शमसङ्गस्तपोऽग्रहीत् ॥ २१३ ॥
सुप्रतिष्ठजिनाभ्यर्णे राजभिर्बहुभिः समम् । स संयमान्ते संन्यस्य विन्यासं निर्वृतेरगात् ॥ २१४ ॥
समुद्रविजये पाति क्षितिं वर्णाश्रमाः सुखम् । सुधर्मकर्मसु स्वैरं प्रावर्तन्त यथोचितम् ॥ २१५ ॥
राज्यं विभज्य दिक्पालैरिव भ्रातृभिरष्टभिः । सहान्वभूत्स भूपालः सकलं सर्वसौख्यदम् ॥ २१६ ॥
एवं सुखेन सर्वेषां काले गच्छत्ययोदयात्[1] । चतुरङ्गबलोपेतो वसुदेवो युवाग्रणीः ॥ २१७ ॥
गन्धवारणमारुह्य सञ्चरच्चामरावलिः । वाद्यमानाखिलातोद्यध्वनिनिर्भिन्नदिक्तटः ॥ २१८ ॥
बन्दिमागधसूतादिसूद्यमानाङ्कमालकः । नानाभरणभाभारभासमानस्वविग्रहः ॥ २१९ ॥
निगृहीतुमिवोग्रांशुमुद्यतो निजतेजसा । अधो विधातुं [2]वाप्येष भूषणाङ्गसुरद्रुमम् ॥ २२० ॥
अमराणां कुमारो वा कुमारः प्रत्यहं बहिः । निर्गच्छति पुरात्स्वैरं स्वलीलादर्शनोत्सुकः ॥ २२१ ॥
विसस्मरुर्विलोक्यैनं स्वव्यापारान् पुरस्त्रियः । निरादरा बभूवुश्च मातुलान्यादिवारणे[3] ॥ २२२ ॥
निर्गमेऽथ कुमारस्य विषण्णा नागरास्तदा । गत्वा विज्ञापयामासुस्तद्वृत्तान्तं महीपतेः ॥ २२३ ॥
श्रुत्वावधार्यं तद्राजा सहजस्नेहनिर्भरः । प्रकाशप्रतिषेधेन कदाचिद्विमुखो भवेत् ॥ २२४ ॥

वह नन्दी भी चिरकाल तक तपश्चरण कर महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ; वहाँ सोलह सागरकी आयु प्रमाण मनोवांछित सुखका उपभोग करता रहा। तदनन्तर वहाँसे च्युत होकर पृथिवीको वश करनेके लिए वसुदेव हुआ है। बलभद्र और नारायणकी उत्पत्ति इसीसे होगी ॥ २१०–२११ ॥ महाराज अन्धकवृष्टि यह सब सुनकर संसारसे भयभीत हो उठे। वे विद्याधर तो थे ही, अतः परम पद—मोक्षपद प्राप्त करनेकी इच्छासे उन्होंने अभिषेकपूर्वक समुद्रविजयके लिए राज्य दे दिया और स्वयं समस्त परिग्रह छोड़कर शान्तचित्त हो उन्हीं सुप्रतिष्ठित जिनेन्द्रके समीप बहुतसे राजाओंके साथ तप धारण कर लिया। संयम धारण कर अन्तमें उन्होंने संन्यास धारण किया और कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥ २१२–२१४ ॥ इधर समुद्रविजय पृथिवीका पालन करने लगे। उनके राज्यमें समस्त वर्णों और समस्त आश्रमोंके लोग, उत्तम धर्मके कार्योंमें इच्छानुसार सुखपूर्वक यथायोग्य प्रवृत्ति करते थे ॥ २१५ ॥ राजा समुद्रविजय राज्यका यथायोग्य विभाग कर दिक्पालोंके समान अपने आठों भाइयोंके साथ सर्व प्रकारका सुख देनेवाले राज्यका उपभोग करते थे ॥ २१६ ॥ इस प्रकार पुण्योदयसे उन सबका काल सुखसे बीत रहा था। इन सबमें वसुदेव सबसे अधिक युवा थे इसलिए वे अपनी लीला दिखानेकी उत्कण्ठासे प्रतिदिन स्वेच्छानुसार गन्धवारण नामक हाथीपर सवार होकर नगरके बाहर जाते थे। उस समय चतुरङ्ग सेना उनके साथ रहती थी, चमरोंके समूह उनके आस-पास ढुराये जाते थे, बजते हुए समस्त बाजोंका ऐसा जोरदार शब्द होता था जिससे कि दिशाओंके किनारे फटेसे जाते थे, बन्दी, मागध तथा सूत आदि लोग उनकी विरुदावलीका वर्णन करते जाते थे, अनेक प्रकारके आभरणोंकी कान्तिके समूहसे उनका शरीर देदीप्यमान रहता था जिससे ऐसा जान पड़ता था कि मानो अपने तेजसे सूर्यका निग्रह करनेके लिए ही उद्यत हो रहे हैं, अथवा भूषणाङ्ग जातिके कल्पवृक्षका तिरस्कार करनेके लिए ही तैयारी कर रहे हों। उस समय वे देवोंके कुमारके समान जान पड़ते थे इसलिए नगरकी स्त्रियाँ इन्हें देखकर अपना अपना कार्य भूल जाती थीं और अपनी मामी आदिके रोकनेमें निरादर हो जाती थीं—किसीके निषेध करने पर भी नहीं मानती थीं ॥ २१७–२२२ ॥ इस तरह कुमार वसुदेवके निकलनेसे नगरनिवासी लोग दुःखी होने लगे इसलिए एक दिन उन्होंने यह समाचार महाराज समुद्रविजयके पास जाकर निवेदन किया ॥ २२३ ॥ नगर-निवासियोंकी बात सुनकर भाईके स्नेहसे भरे हुए महाराज

---

१ पुण्योदयात् । २ वाप्येक-ख० । ३–वारणैः ख० ।

कुमार इति सञ्चिन्त्य तमाहूय मिथोऽब्रवीत् । [1]कुमार तव कामस्य छायाचेयमिवान्यथा ॥ २२५ ॥
वृथाटनं परित्याज्यं शीतवातादिषु त्वया । विहर्तुं परिवाञ्छा चेत्परितो राजमन्दिरम् ॥ २२६ ॥
धारागृहे वने रम्ये दुर्गे चित्रिमपर्वते । मन्त्रिसामन्तयोधाग्रमहामात्रात्मजैः समम् ॥ २२७ ॥
यथेष्टे विचरेत्येतत् श्रुत्वा सोऽपि तथाचरत् । आददत्यमृतं वाप्तवचनं शुद्धबुद्धयः ॥ २२८ ॥
एवं विहरमाणं तं वाचाटश्चेटकोऽपरम् । नाम्ना निपुणमत्याख्यो यथेष्टाचरणोत्सुकः ॥ २२९ ॥
राज्ञा त्वं प्रतिषिद्धोऽसि सोपायं निर्गमं प्रति । इत्यवादीदसौ चाह किमर्थमिति चेटकम् ॥ २३० ॥
सोऽब्रवीत्तव निर्याणकाले रूपविलोकनात् । परे शिथिलचारित्रा मन्मथेनाकुलीकृताः ॥ २३१ ॥
वीतलज्जा विमर्यादा विपरीतविचेष्टिताः[2] । पीतासवसमाः कन्याः सधवा विधवाश्च ताः ॥ २३२ ॥
काश्चित्प्रस्विन्नसर्वाङ्गाः काश्चिदर्द्धावलोचनाः । काश्चित्सन्त्यक्तसंयाताः काश्चित्त्यक्तार्द्धभोजनाः ॥ २३३ ॥
अवमत्य गुरून् काश्चित्काश्चिन्निर्भर्त्स्य रक्षकान् । भर्तॄन विगणय्यान्याः पुत्रांश्चान्याश्च पुत्रकान् ॥२३४॥
मत्वा मर्कटकान् काश्चित्समुक्षिप्य [3]समाकुलाः । कम्बलं परिधायान्या विचिन्त्योत्कृष्टवाससी ॥२३५॥
अङ्गरागं समालोक्य काश्चिदालिप्य कर्दमम् । लोचने स्वे समालोक्य ललाटेभ्यस्तकज्जलाः ॥ २३६ ॥
[4]स्वाः स्वास्तथाविधाः सर्वाः सवैरुद्विग्नमानसैः । निरीक्ष्य पौरैर्वाक्येन ज्ञापितोऽयं नरेश्वरः ॥ २३७ ॥
तवेदृशीमुपायेन व्यवस्थां पर्यकल्पयत् । इति संश्रुत्य तेनोक्तं कुमारस्तत्परीक्षितुम् ॥ २३८ ॥
राजगेहाद्विनिर्गन्तुकामो दौवारिकैस्तदा[5] । तवाग्रजस्य [6]भो देव निर्देशोऽस्माकमीदृशः ॥ २३९ ॥

समुद्रविजयने विचार किया कि यदि इसे स्पष्ट ही मना किया जाता है तो संभव है यह विमुख हो जावेगा। इसलिए उन्होंने कुमार वसुदेवको एकान्तमें बुलाकर कहा कि 'हे कुमार! तुम्हारे शरीरकी कान्ति आज बदली-सी मालूम होती है इसलिए तुम्हें ठण्डी हवा आदिमें यह व्यर्थका भ्रमण छोड़ देना चाहिए। यदि भ्रमणकी इच्छा ही है तो राजभवनके चारों ओर धारागृह, मनोहर-वन, राजमन्दिर, तथा कृत्रिम पर्वत आदि पर जहाँ इच्छा हो मन्त्रियों, सामन्तों, प्रधान योद्धाओं अथवा महामन्त्रियोंके पुत्रों आदिके साथ भ्रमण करो।' महाराज वसुदेवकी बात सुनकर कुमार वसुदेव ऐसा ही करने लगे सो ठीक ही है क्योंकि शुद्ध बुद्धिवाले पुरुष आप्तजनोंके वचनोंको अमृत जैसा ग्रहण करते हैं ॥ २२४–२२८ ॥ कुमार इस प्रकार राजमन्दिरके आसपास ही भ्रमण करने लगे। एक दिन जिसे बहुत बोलनेकी आदत थी और जो स्वेच्छानुसार आचरण करनेमें उत्सुक रहता था ऐसा निपुणमति नामका सेवक कुमार वसुदेवसे कहने लगा कि इस उपायसे महाराजने आपको बाहर निकलनेसे रोका है। कुमारने भी उस सेवकसे पूछा कि महाराजने ऐसा क्यों किया है? उत्तरमें वह कहने लगा कि जब आप बाहर निकलते हैं तब आपका सुन्दर रूप देखनेसे नगरकी स्त्रियोंका चारित्र शिथिल हो जाता है, वे कामसे आकुल हो जाती हैं, लज्जा छोड़ देती हैं, विपरीत चेष्टाएँ करने लगती हैं, कन्याएँ सधवाएँ और विधवाएँ सभी मदिरा पी हुईके समान हो जाती हैं, कितनी ही स्त्रियोंका सब शरीर पसीनासे तरबतर हो जाता है; कितनी ही स्त्रियोंके नेत्र आधे खुले रह जाते हैं, कितनी ही स्त्रियाँ पहननेके वस्त्र छोड़ देती हैं, कितनी ही भोजन छोड़ देती हैं, कितनी ही गुरुजनोंका तिरस्कार कर बैठती हैं, कितनी ही रक्षकोंको ललकार देती हैं, कितनी ही अपने पतियोंकी उपेक्षा कर देती हैं, कितनी ही पुत्रोंकी परवाह नहीं करती हैं, कितनी ही पुत्रोंको बन्दर समझ कर दूर फेंक देती हैं, कितनी ही कम्बलको ही उत्तम वस्त्र समझकर पहिन लेती हैं, कितनी कीचड़को अङ्गराग समझकर शरीर पर लपेट लेती हैं और कितनी ही ललाटको नेत्र समझ कर उसीपर कज्जल लगा लेती हैं। अपनी-अपनी समस्त स्त्रियोंकी ऐसी विपरीत चेष्टा देख समस्त नगर-निवासी बड़े दुःखी हुए और उन्होंने शब्दों द्वारा महाराजसे इस बातका निवेदन किया। महाराजने भी इस उपायसे आपकी ऐसी व्यवस्था की है। निपुणमति सेवककी बात सुनकर उसकी परीक्षा

१ ख०, ग०, घ०, म० सम्मतः पाठः। ल० पुस्तके तु 'कुमार वपुरेतत्ते पश्यामि किमिवान्यथा' इति पाठः। २ विचेष्टितम् ग०। ३ समाकुलान् ल०। ४ स्वास्तास्तथा-ल०। ५ तथा म०, ल०। ६ ख०, ग०, घ०, म०, संमतः पाठः, ल० पुस्तके तु 'तवाग्रजस्य देवस्य नादेशोऽस्माकमीदृशः' इति पाठः।

बहिस्त्वया न गन्तव्यमिति रुद्धः स्थितोऽन्यदा । समुद्रविजयादीनामनुक्त्वाऽयशसो भयात् ॥ २४० ॥
[1]वसुदेवोऽमुतो गत्वा विद्यासंसाधनच्छलात् । श्मशानभूमावेकाकी महाज्वाले हुताशने ॥ २४१॥
निपत्याकीर्तिभीर्मातुरिति पत्रं [2]विलिख्य तत् । कण्ठे निबध्य वाहस्य मुक्त्वा तत्रैव तं स्वयम्॥ २४२ ॥
वह्निं प्रदक्षिणीकृत्य दह्यमानशवान्वितम् । अगादलक्षमार्गः स रात्रावेव द्रुतं ततः ॥ २४३ ॥
[3]ततः सूर्योदये राजगेहे तद्रक्षकाग्रणीः । अनिरीक्ष्यानुजं राज्ञो राजादेशादितस्ततः ॥ २४४ ॥
पर्यटन्बहुभिः सार्द्धं तमन्वेष्टुमथैक्षत । भस्मीभूतं शवं तत्र भ्राम्यन्तं च तुरङ्गमम् ॥ २४५ ॥
[4]तत्कण्ठे पत्रमादाय नीत्वा राज्ञे समार्पयत् । तत्पत्रार्थं समाकर्ण्य समुद्रविजयादयः ॥ २४६ ॥
महीभुजः परे चातिशोकसन्तप्तचेतसः । [5]नैमित्तिकोक्ततद्योगक्षेमज्ञाः शममागताः ॥ २४७ ॥
भृत्यान्महीपतिः स्नेहात्स तदैव समन्ततः । तं गवेषयितुं दक्षान् प्राहिणोत्सहितान् बहून् ॥ २४८ ॥
विजयाख्यं पुरं गत्वा सोऽशोकमहीरुहः । मूले विश्रान्तये तस्थौ तरुच्छायामवस्थिताम् ॥ २४९ ॥
समीक्ष्यादैशिकप्रोक्तमभूदवितथं वचः । इत्युद्यानपतिर्गत्वा मगधेशमबूबुधत् ॥ २५० ॥
राजापि [6]श्यामलाख्यां [7]स्वां सुतां तस्मै समार्पयत् । दिनानि कानिचित्तत्र विश्रम्य गतवांस्ततः ॥२५१॥
देवदारुवने पुष्परम्याख्ये वनजाकरे । अरण्यवारणेनासौ क्रिडित्वारुह्य तं मुदा ॥ २५२ ॥

करनेके लिए कुमार वसुदेव ज्यों ही राजमन्दिरसे बाहर जाने लगे त्यों ही द्वारपालोंने यह कहते हुए मना कर दिया कि 'देव ! हम लोगोंको आपके बड़े भाईकी ऐसी ही आज्ञा है कि कुमारको बाहर नहीं जाने दिया जावे ।' द्वारपालोंकी उक्त बात सुनकर कुमार वसुदेव उस समय तो रुक गये परन्तु दूसरे ही दिन समुद्रविजय आदिसे कुछ कहे बिना ही अपयशके भयसे विद्या सिद्ध करनेके बहाने अकेले ही श्मशानमें गये और वहाँ जाकर माताके नाम एक पत्र लिखा कि 'वसुदेव अकीर्तिके भयसे महाज्वालाओं वाली अग्निमें गिरकर मर गया है ।' यह पत्र लिखकर घोड़ेके गलेमें बाँध दिया, उसे वहीं छोड़ दिया और स्वयं जिसमें मुर्दा जल रहा था ऐसी अग्निकी प्रदक्षिणा देकर रात्रिमें ही बड़ी शीघ्रतासे किसी अलक्षित मार्गसे चले गये ॥ २२६–२४३ ॥ तदनन्तर सूर्योदय होनेपर जब उनके प्रधान प्रधान रक्षकोंने राजमन्दिरमें कुमार वसुदेवको नहीं देखा तो उन्होंने राजा समुद्रविजयको खबर दी और उनकी आज्ञानुसार अनेक लोगोंके साथ उन्हें खोजनेके लिए वे रक्षक लोग इधर-उधर घूमने लगे । कुछ समय बाद उन्होंने श्मशानमें जला हुआ मुर्दा और उसीके आस पास घूमता हुआ कुमार वसुदेवका घोड़ा देखा ॥ २४४–२४५ ॥ घोड़ाके गलेमें जो पत्र बँधा था उसे लेकर उन्होंने राजा समुद्रविजयके लिए सौंप दिया । पत्रमें लिखा हुआ समाचार सुनकर समुद्रविजय आदि भाई तथा अन्य राजा लोग सभी शोकसे अत्यन्त दुःखी हुए परन्तु निमित्तज्ञानीने जब कुमार वसुदेवके योग्य और क्षेमका वर्णन किया तो उसे जानकर सब शान्त हो गये ॥ २४६–२४७ ॥ राजा समुद्रविजयने उसी समय स्नेह वश, बहुतसे हितैषी तथा चतुर सेवकोंको कुमार वसुदेवकी खोज करनेके लिए भेजा ॥ २४८ ॥

इधर कुमार वसुदेव विजयपुर नामक गाँवमें पहुँचे और विश्राम करनेके लिए अशोक वृक्षके नीचे बैठ गये । कुमारके बैठनेसे उस वृक्षकी छाया स्थिर हो गई थी उसे देख कर बागवानने सोचा कि उस निमित्तज्ञानीके वचन सत्य निकले । ऐसा विचार कर उसने मगधदेशके राजाको इसकी खबर दी और राजाने भी अपनी श्यामला नामकी कन्या कुमार वसुदेवके लिए समर्पित की । कुमारने कुछ दिन तक तो वहाँ विश्राम किया, तदनन्तर वहाँसे आगे चल दिया । अब वे देवदारु वनमें पुष्परम्य नामक कमलोंके सरोवरके पास पहुँचे और वहाँ किसी जंगली हाथीके साथ

---

१ वसुदेवस्ततो ग०, ल० । २ व्यलिख्यत ल० । ३ ख०, ग०, घ०, म० संमतः पाठः, ल० पुस्तके तु 'ततः सूर्योदये गेहे तद्रक्षणकराग्रणीः' इति पाठः । ४ -कण्ठपत्र- ल० । ५ नैमित्तिकोक्ततद्योगकालज्ञाः म० । कायशाः ल० । ६ तमावेषयितुं ल० । ७ तां ग०, ल० ।

श्राव्यमानः स्वयं केनचित्खगेन गजाधिपात् । अपास्य सहसानीतः खेचराद्रिं कृती पुरः ॥ २५३ ॥
पत्युः किन्नरगीतस्य द्वितीयां वा रतिं सतीम् । सुतामशनिवेगस्य दत्तां शल्मलिपूर्विकाम् ॥ २५४ ॥
जातां पवनवेगायामादिष्टां परिणीतवान् । तया सह स्मरस्यापि सुखं स्मर्तुमगोचरम् ॥ २५५ ॥
अनुभूय दिनान्यत्र विश्रान्तः कानिचित्पुनः । तथोपसर्तुकामं तं समीक्ष्याङ्गारवेगकः ॥ २५६ ॥
उद्धृत्याशनिवेगस्य दायादोयं नभस्तले । ज्ञात्वा दत्तान्तशाल्मल्या समुद्गीर्णासिहस्तया ॥ २५७ ॥
सोऽन्वीतस्तद्भयान्मुक्त्वा तं तस्मात्प्रपलायितः । विद्यया पर्णलघ्व्यासौ [1]प्रियाप्रहितया तया ॥ २५८ ॥
चम्पापुरसरःपस्थसरोमध्ये शनैः शनैः । द्वीपे निपातितोऽपृच्छद्देहिनस्तीरवर्तिनः ॥ २५९ ॥
द्वीपादमुस्मान्निर्गन्तुं किं तीर्थं वदतेति तान् । अवदँस्तेऽपि किं भद्र पतितः खात्त्वमित्यमुम् ॥ २६० ॥
सम्यग्भवति विज्ञातमिति तेन सुभाषिताः । प्रहस्यानेन मार्गेण जलान्निर्गम्यतामिति ॥ २६१ ॥
न्यदिशन्नप्रतस्तस्मात्प्रविश्य नगरं गुरुम् । [2]दृष्ट्वा गन्धर्वविद्याया मनोहरसमाह्वयम् ॥ २६२ ॥
उपविश्य तदभ्याशे वीणावादनशिक्षकान् । तत्र गन्धर्वदत्तायाः स्वयंवरविधिं प्रति ॥ २६३ ॥
दृष्ट्वा निगूढतज्ज्ञानो वसुदेवो विमूढवत् । अहं चैभिः सहाभ्यासं करोमीत्यात्तवल्लकिः ॥ २६४॥
[3]आदावेवाच्छिनत्तन्त्रीं तुम्बीजं वाभिनत्फलम् । वैयात्यं पश्यतास्यालं दृष्ट्वा तं तेऽहसन् भृशम् ॥२६५॥
भर्त्ता गन्धर्वदत्तायास्त्वमेवैवं[4] विचक्षणः । गीतवाद्यविशेषेषु सर्वानस्मान् जयेरिति ॥ २६६ ॥

क्रीड़ा कर बड़ी प्रसन्नतासे उसपर सवार हो गये ॥ २४६–२५२ ॥ उसी समय किसी विद्याधरने उनकी बड़ी प्रशंसा की और हाथीसे उतारकर उस पुण्यात्माको अकस्मात् ही विजयार्ध पर्वत पर पहुँचा दिया ॥ २५३ ॥ वहाँ किन्नरगीत नामके नगरमें राजा अशनिवेग रहता था उसकी शाल्मलिदत्ता नामकी एक पुत्री थी जो कि पवनवेगा स्त्रीसे उत्पन्न हुई थी और दूसरी रतिके समान जान पड़ती थी। अशनिवेगने वह कन्या कुमार वसुदेवके लिए समर्पित कर दी। कुमारने भी उसे विवाह कर उसके साथ स्मरणके भी अगोचर कामसुखका अनुभव किया और कुछ दिन तक वहीं विश्राम किया। तदनन्तर जब कुमारने वहाँसे जानेकी इच्छा की तब अशनिवेगका दायाद (उत्तराधिकारी) अंगारवेग उन्हें जानेके लिए उद्यत देख उठाकर आकाशमें ले गया। इधर शाल्मलिदत्ताको जब पता चला तो उससे नंगी तलवार हाथमें लेकर उसका पीछा किया। शाल्मलिदत्ताके भयसे अंगारवेग कुमारको छोड़कर भाग गया। कुमार नीचे गिरना ही चाहते थे कि उसकी प्रिया शाल्मलिदत्ताके द्वारा भेजी हुई पर्णलघ्वी नामकी विद्याने उन्हें चम्पापुरके सरोवरके मध्यमें वर्तमान द्वीप पर धीरे-धीरे उतार दिया। वहाँ आकर कुमारने किनारे पर रहनेवाले लोगोंसे पूछा कि इस द्वीपसे बाहर निकलनेका मार्ग क्या है ? आप लोग मुझे बतलाइए। तब लोगोंने कुमारसे कहा कि क्या आप आकाशसे पड़े हैं ? जिससे कि निकलनेका मार्ग नहीं जानते। कुमारने उत्तर दिया कि आप लोगोंने ठीक जाना है सचमुच ही मैं आकाशसे पड़ा हूँ। कुमारका उत्तर सुनकर सब लोग हँसने लगे और 'इस मार्गके द्वारा आप जलसे बाहिर निकल आइए' ऐसा कह कर उन्होंने मार्ग दिखा दिया। कुमार उसी मार्गसे निकल कर नगरमें प्रविष्ट हुए और मनोहर नामक गन्धर्वविद्याके गुरुके पास जा बैठे। गन्धर्वदत्ताको स्वयंवरमें जीतनेके लिए उनके पास बहुतसे शिष्य वीणा बजाना सीख रहे थे। उन्हें देख तथा अपने वीणाविषयक ज्ञानको छिपाकर कुमार मूर्खकी तरह बन गये और कहने लगे कि मैं भी इन लोगोंके साथ वीणा बजानेका अभ्यास करता हूं। ऐसा कह कर उन्होंने एक वीणा ले ली। पहले तो उसकी तन्त्री तोड़ डाली और फिर तूँबा फोड़ दिया। उनकी इस क्रियाको देख लोग अत्यधिक हँसने लगे और कहने लगे कि इसकी धृष्टताको तो देखो। कुमार वसुदेवसे भी उन्होंने कहा कि तुम ऐसे चतुर हो, जान पड़ता है कि गन्धर्वदत्ताके तुम्हीं पति होओगे और हम सबको गाने-बजानेकी कलामें हरा दोगे ॥ २५४–२६६ ॥

---

१ प्रियया हितया तया ग० । प्रियं प्रियतया तया ल० । २ गान्धर्वकुशलं प्राप ल० । ३ ख०, ग०, घ०, म०, संमतः पाठः । आदावेवाच्छिन्नतंत्रीं तुंबाजं वाभिनत्फलं ल० । ४ वियात्यं ल० । ५ त्वमेवैव ल० ।

एवं तत्र स्थिते तस्मिन् धरागगनगोचराः । प्रापुर्गन्धर्वदत्तायाः स्वयंवरसमुत्सुकाः ॥ २६७ ॥
[1]तान्स्वयंवरशालायां बहून् जितवती स्वयम् । तदानीं गीतवादाभ्यां तत्कलारूपधारिणी ॥ २६८॥
चारुदत्तादिभिः श्रोतृपदमध्यासितैः स्तुता । कलाकौशलमेतस्या विलक्षणमिति स्फुटम् ॥ २६९ ॥
स्वोपाध्यायं तदापृच्छय कन्याभ्यर्णमुपागतः । वसुदेवोऽभणद्वीणां विदोषामानयन्त्विति ॥ २७० ॥
तेऽपि तिस्रश्चतस्रश्च हस्ते वीणाः[2] [3]समर्पयन् । तासां तन्त्रीषु [4]लोमांसं शल्यञ्चालोक्य सस्मितम्॥२७१॥
तुम्बीफलेषु दण्डेषु शल्कपाषाणमप्यसौ । स्फुटीचकार तद्दृष्ट्वा स्वदिष्टा कीदृशी भवेत् ॥ २७२ ॥
वीणेति कन्यया प्रोक्तो मदिष्टायाः समागमः । ईदृग्विध इति प्राह तत्रार्थाख्यानमीदृशम् ॥ २७३ ॥
हास्तिनाख्यपुराधीशो राज्ञो मेघरथश्रुतेः । पद्मावत्याश्च सञ्जातौ विष्णुपद्मरथौ सुतौ ॥ २७४ ॥
सह विष्णुकुमारेण भूपतौ तपसि स्थिते [illegible] राज्यमकुर्वति पद्मरथे ॥ २७५॥
प्रत्यन्तवासिसंक्षोभे सञ्जाते सचिवाग्रणीः । सामादिभिरुपायैस्तं प्रशान्तिं समजीगमत् ॥ २७६ ॥
राज्ञा तुष्टवतावादि त्वयेष्टं वाच्यतामिति । राज्यं सप्तदिनं कर्तुमिच्छामीत्यब्रवीद् बली ॥ २७७ ॥
दत्तं जरत्तृणं मत्वा [5]तेन तस्मै तदूर्जितम् । कृतोपकारिणे देयं किं न तत्कृतवेदिभिः ॥ २७८ ॥
तत्राकम्पनगुर्वाद्यमागत्य मुनिमण्डलम् । अग्रहीदातपे योगं [6]सर्वं सौम्यमहीभृति ॥ २७९ ॥
निर्जिता [7]प्राग्विदुष्विण्यामकम्पनमुनीशिना । वादे सभायां तत्कोपात्तं जिघांसुरघात्मकः ॥ २८० ॥

इस प्रकार कुमार वसुदेव वहाँ कुछ समय तक स्थित रहे। तदनन्तर गन्धर्वदत्ताके स्वयंवरमें उत्सुक हुए भूमिगोचरी और विद्याधर लोग एकत्रित होने लगे ॥ २६७ ॥ गाने बजानेकी कलाका रूप धारण करनेवाली गन्धर्वदत्ताने स्वयंवर शालामें आये हुए बहुतसे लोगोंको अपने गाने-बजानेके द्वारा तत्काल जीत लिया ॥ २६८ ॥ वहाँ जो चारुदत्त आदि मुख्य मुख्य श्रोता बैठे थे वे सब उस गन्धर्वदत्ताकी प्रशंसा कर रहे थे और कह रहे थे कि उसका कला-कौशल बड़ा ही विलक्षण है—सबसे अद्भुत है ॥ २६९ ॥ तदनन्तर वसुदेव भी अपने गुरुसे पूछकर कन्याके पास गये और कहने लगे कि ऐसी वीणा लाओ जिसमें एक भी दोष नहीं हो ॥ २७० ॥ लोगोंने तीन चार वीणाएँ वसुदेवके हाथमें सौंप दीं। वसुदेवने उन्हें देखकर हँसते हुए कहा कि इन वीणाओंकी ताँतमें लोमांस नामका दोष है और तुम्बीफल तथा दण्डोंमें शल्क एवं पाषाण नामका दोष है। उन्होंने यह कहा ही नहीं किन्तु प्रकट करके दिखला भी दिया। यह देख कन्याने कहा कि तो फिर आप कैसी वीणा चाहते हैं ? इसके उत्तरमें कुमारने कहा कि मुझे जो वीणा इष्ट है उसका समागम इस प्रकार हुआ था। ऐसा कहकर उन्होंने निम्नांकित कथा सुनाई ॥ २७१–२७३ ॥

हस्तिनापुरके राजा मेघरथके पद्मावती रानीसे विष्णु और पद्मरथ नामके दो पुत्र हुए थे ॥ २७४ ॥ कुछ समय बाद राजा मेघरथ तो विष्णुकुमार पुत्रके साथ तप करने लगे और पद्मरथ राज्य करने लगा। किसी अन्य समय समीपवर्ती किसी राजाने राज्यमें क्षोभ उत्पन्न किया जिसे प्रधान मन्त्री बलिने साम आदि उपायोंसे शान्त कर दिया। राजा पद्मरथने बलिके कार्यसे सन्तुष्ट होकर कहा कि 'तुझे क्या इष्ट है ? तू क्या चाहता है ?' सो कह ! उत्तरमें बलिने कहा कि मैं सात दिन तक राज्य करना चाहता हूँ। राजाने भी बलिकी इस माँगको जीर्णतृणके समान तुच्छ समझ उसे सात दिनका राज्य देना स्वीकृत कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि जो किये हुए उपकारको जानते हैं अर्थात् कृतज्ञ हैं वे उपकार करनेवालेके लिए क्या नहीं देते हैं ? ॥ २७५–२७८ ॥ उसी समय अकम्पन गुरु आदि मुनियोंके समूहने हस्तिनापुर आकर वहाँके सौम्य पर्वत पर आतापन योग धारण कर लिया। पहले जब बलि मन्त्री उज्जयिनी नगरीमें रहता था तब उसे अकम्पन गुरुने शास्त्रार्थके समय विद्वानोंकी सभामें जीत लिया था इसलिए वह पापी क्रोधसे उनका घात करना

---

१ पठत्यत्र स्थिते ल० । २ सा ल० । ३ समार्पयत् ल० । ४ लौमश्यं ल० । ५–भणदस्मैतदूर्जितम् ल० । ६ सर्वे ल० । ७ प्राग्विदुष्विण्या ल० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यागव्याजं समारभ्य स मन्त्री परितो गिरिम् । [1]अर्थिताहारदानार्थं देवसन्तर्पणाय च ॥ २८१ ॥
पाकं प्रकल्पयामास धूमज्वालाभिसन्ततम् । ज्ञात्वा विष्णुकुमारस्तमुपसर्गं मुनीश्वरः ॥ २८२ ॥
गत्वा पद्मरथाभ्यर्णं वीतरागासने स्थितः । राज्ञाभिवन्द्य सम्पूज्य किं कृत्यमिति भाषितः[2] ॥ २८३ ॥
उपसर्गं व्यधान्मन्त्री तवात्रातपयोगिनाम् । निवार्यतामसावाशु त्वयेत्याह महीपतिम्[3] ॥ २८४ ॥
प्रतिपन्नं मया तस्मै राज्यं सप्तदिनावधि । न निवारयितुं शक्यः सत्यभेदभयादसौ ॥ २८५ ॥
ततो भवद्भिरेवार्य निवार्यो दुर्जनोऽधुना । न विदन्ति खलाः स्वैरा युक्तायुक्तविचेष्टितम् ॥ २८६ ॥
इत्यवोचदसौ चैतदवगम्य मुनीश्वरः । प्रतिषिध्यामि पापिष्ठमहमेवाशु नश्वरम् ॥ २८७ ॥
इति वामनरूपेण ब्राह्मणाकारमागतः । सम्प्राप्य बलिनोऽभ्यर्णं स्वस्तिवादपुरस्सरम् ॥ २८८ ॥
[4]महाभागाहमर्थी त्वां दातृमुख्यमुपागमम् । देयं त्वयेत्यवादीत्सोऽप्यभीष्टं प्रतिपन्नवान् ॥ २८९ ॥
अभाषत द्विजो राजन् देयं मे विक्रमैस्त्रिभिः । प्रमितं क्षेत्रमित्यल्पं किमेतदभियाचितम् ॥ २९० ॥
गृहाणेति बली पाणिजलसेकसमन्वितम् । [5]अदितास्मै मुनिश्रासविक्रियर्द्धिं निजक्रमम् ॥ २९१ ॥
[6]व्यधादेकं प्रसार्योच्चैर्मानुषोत्तरमूर्धनि । द्वितीयमपि देवाद्रिचूलिकायां स्फुरद्द्युतिः ॥ २९२ ॥
तदा विद्याधरा भूमिगोचराश्चार्य संहर । चरणौ संसृतेर्हेतुं क्रोधं मा स्म कृथा वृथा ॥ २९३ ॥
इति सङ्गीतवीणादिमुखरा मुनिसत्तमम् । सद्यः प्रसादयामासुः सोऽप्यंघ्री स्वौ समाहरत् ॥ २९४ ॥
श्रुत्वा लक्षणवत्तेषां तदा गीतं सुधाशिनः[7] । तुष्टा घोषसुघोषाख्ये महाघोषाश्च सुस्वराम् ॥ २९५ ॥

चाहता था ॥ २७९–२८० ॥ पापी बलि मन्त्रीने यज्ञका बहाना कर उस सौम्य पर्वतके चारों ओर याचकोंको दान देने तथा देवताओंको सन्तुष्ट करनेके लिए पाक अर्थात् रसोई बनवाना शुरू किया जिससे धुआँ तथा ज्वालाओंका समूह चारों ओर फैलने लगा। जब मुनिराज विष्णुकुमारको इस उपसर्गका पता चला तो वे आकर राजा पद्मरथके पास गये और वीतराग आसन पर बैठ गये। राजा पद्मरथने उनकी वन्दना की, पूजा की तथा कहा कि मुझसे क्या कार्य है ? ॥ २८१–२८३ ॥ मुनिराज विष्णुकुमारने राजा पद्मरथसे कहा कि तुम्हारे मन्त्रीने आतप योग धारण करनेवाले मुनियोंके लिए उपसर्ग कर रक्खा है उसे तुम शीघ्र ही दूर करो ॥ २८४ ॥ उत्तरमें राजाने कहा कि मैं उसके लिए सात दिनका राज्य देना स्वीकृत कर चुका हूं अतः सत्यव्रतके खण्डित होनेके भयसे मैं उसे नहीं रोक सकता। हे पूज्य ! इस दुष्टका इस समय आप ही निवारण कीजिए। स्वच्छन्द रहनेवाले दुष्ट जन योग्य और अयोग्य चेष्टाओंको—अच्छे-बुरे कार्योंको नहीं जानते हैं ॥ २८५-२८६ ॥ राजा पद्मरथने ऐसा उत्तर दिया, उसे सुनकर मुनिराजने कहा कि तो मैं ही शीघ्र नष्ट होनेवाले इस पापीको मना करता हूं ॥ २८७ ॥ इतना कहकर वे महामुनि वामन (बौने) ब्राह्मणका रूप रखकर बलिके पास पहुँचे और आशीर्वाद देते हुए बोले कि हे महाभाग ! आज तू दाताओंमें मुख्य है इसलिए मैं तेरे पास आया हूं तू मुझे भी कुछ दे। उत्तरमें बलिने इष्ट वस्तु देना स्वीकृत कर लिया। तदनन्तर ब्राह्मण वेषधारी विष्णुकुमार मुनिने कहा कि हे राजन्, मैं अपने पैरसे तीन पैर पृथिवी चाहता हूं यही तू मुझे दे दे। ब्राह्मणकी बात सुनकर बलिने कहा कि 'यह तो बहुत थोड़ा क्षेत्र है इतना ही क्यों माँगा ? ले लो', इतना कहकर उसने ब्राह्मणके हाथमें जलधारा छोड़कर तीन पैर पृथिवी दे दी। फिर क्या था ? मुनिराजने विक्रियाऋद्धिसे फैला कर एक पैर तो मानुषोत्तर पर्वतकी ऊँची शिखर पर रक्खा और देदीप्यमान कान्तिका धारक दूसरा पैर सुमेरु पर्वतकी चूलिका पर रक्खा ॥ २८८–२९२ ॥ उस समय विद्याधर और भूमिगोचरी सभी स्तुति कर मुनिराजसे कहने लगे कि हे प्रभो ! अपने चरणोंको संकोच लीजिए, वृथा ही संसारका कारणभूत क्रोध नहीं कीजिए ॥ २९३ ॥ इस प्रकार सङ्गीत और वीणा आदिसे मुखर हुए भूमिगोचरियों और विद्याधरों ने शीघ्र ही उन मुनिराजको प्रसन्न कर लिया और उन्होंने भी अपने दोनों चरण संकोच लिये ॥ २९४ ॥ उस समय उनका लक्षणसहित सङ्गीत सुनकर देव लोग बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने

---

१ प्रार्थिता ग० । २ भाषितम् ख० । ३ महीपतिः ग०, ल० । ४ महाभागाहमद्य त्वां ल० । आदितास्मै ल० । ६ व्यधादेकं म०, ल० । ७ सुधासिनः ल० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वीणां घोषावतीं चासु ददति स्म सुसङ्गताम् । विद्याधरेभ्यो द्वे द्वे च भूचरेभ्यो यथाक्रमम् ॥ २९६ ॥
वृथा त्वं याचितो विप्रवेरणापि मयाऽधुना । नावकाशस्तृतीयस्य चरणस्येति सत्वरम् ॥ २९७॥
बध्वा बलिनमुद्वृत्तं बली विष्णुमुनीश्वरः । दुःसहं तं निराकार्षीदुपसर्गं मुनीशिनाम् ॥ २९८ ॥
बद्धं बलिनमाहन्तुं समुद्युक्तं महीपतिम् । प्रतिषिध्य प्रसन्नात्मा सद्धर्मं समजिग्रहत् ॥ २९९ ॥
एवं महामुनिस्तत्र कृतधर्मप्रभावनः । पूज्यः पद्मरथेनास्मात्स्वस्थानमगमत्सुधीः ॥ ३०० ॥
तासु घोषावती नाम वीणा वंशेऽत्र सन्निधिम् । समागमन्नवञ्चिस्तत्सा ममानीयतां शुभा ॥ ३०१ ॥
एवमुक्तवते तस्मै तामेवानीय ते ददुः । तयासौ गीतवाद्याभ्यां [1]श्रोतृचेतोऽभिरञ्जनम् ॥ ३०२ ॥
समापादयदाकर्ण्य तद्वीणाकौशलं महत् । प्रीता गन्धर्वदत्तापि स्वां वा मालां समार्पयत् ॥ ३०३ ॥
तस्य कण्ठे सुकण्ठस्य कुण्ठिताखिलभूभुजः । [2]ननु प्राक्कृतपुण्यानां स्वयं सन्ति महर्धयः ॥ ३०४ ॥
ततः सर्वे प्रहृष्यास्य कल्याणाभिषवं व्यधुः । एवं विद्याधरश्रेण्यां लब्धास्सप्तशतान्यसौ ॥ ३०५ ॥
सम्प्राप्य खेचरेशेभ्यस्तत्कन्यादानमानितः । ततो निवृत्य भूभागमागत्य परमोदयः ॥ ३०६ ॥
हिरण्यवर्मणोऽरिष्टपुराधीशो महीपतेः[3] । पद्मावत्यामभूत्पुत्री रोहिणी रोहिणीव सा ॥ ३०७ ॥
स्वस्याः स्वयंवरायैत्य शिक्षकाम्र्यान् कलागुणान् । वसुदेवमुपाध्यायतया बोधयितुं स्थितम् ॥ ३०८ ॥
स्वबाहुलतयेवैनं रोहिणी रत्नमालया । आश्लिष्टकण्ठमकरोदुत्कण्ठाकुण्ठचेतसा ॥ ३०९ ॥
ततो विभिन्नमर्यादाः समुद्रविजयादयः । समुद्र इव संहारे [4]संक्षोभमुपगम्य ताम् ॥ ३१० ॥

अच्छे स्वर वाली घोषा, सुघोषा, महाघोषा और घोषवती नामकी चार वीणाएँ दीं। उन वीणाओं मेंसे देवोंने यथाक्रमसे दो वीणाएँ तो विद्याधरोंकी दी थीं और दो वीणाएँ भूमिगोचरियोंको दी थीं ॥ २९५-२९६ ॥ तदनन्तर उन मुनिराजने बलिसे कहा कि मुझ ब्राह्मणने तुझसे व्यर्थ ही याचना की क्योंकि तीसरा चरण रखनेके लिए अवकाश ही नहीं है। यह कहकर बलवान् विष्णुकुमार मुनिराजने उस दुराचारी बलिको शीघ्र ही बाँध लिया और अकम्पन आदि मुनियोंके उस दुःसह उपसर्गको दूर कर दिया ॥ २९७-२९८ ॥ बँधे हुए बलिको मारनेके लिए राजा पद्मरथ उद्यत हुए परन्तु मुनिराजने उसे मना कर दिया और प्रसन्नचित्त होकर उन्होंने बलिको समीचीन धर्म ग्रहण कराया। इस प्रकार धर्मकी प्रभावना करनेवाले बुद्धिमान् मुहामुनिकी राजा पद्मरथने पूजा की। तदनन्तर वे अपने स्थान पर चले गये ॥ २९९-३०० ॥ यह सब कथा कहनेके बाद कुमार वसुदेवने गन्धर्वदत्तासे कहा कि देवोंके द्वारा दी हुई चार वीणाओंमें से घोषवती नामकी वीणा आपके इस वंशमें समागमको प्राप्त हुई थी अतः आप वही शुभ वीणा मेरे लिए मँगाइए ॥ ३०१ ॥ इस प्रकार कहने वाले वसुदेवके लिए उन लोगोंने वही वीणा लाकर दी। वसुदेवने उसी वीणाके द्वारा गा बजाकर सब श्रोताओंका चित्त प्रसन्न कर दिया। गन्धर्वदत्ता वसुदेवकी वीणा बजानेमें बहुत भारी कुशलता देखकर प्रसन्न हुई और उसने अच्छे कण्ठवाले तथा समस्त राजाओंको कुण्ठित करनेवाले कुमार वसुदेवके गलेमें अपने आपकी तरह माला समर्पित कर दी सो ठीक ही है क्योंकि पूर्व पर्यायमें पुण्य करनेवाले लोगोंको बड़ी-बड़ी ऋद्धियाँ स्वयं आकर मिल जाती है ॥ ३०२-३०४ ॥ इसके बाद सबने हर्षित होकर वसुदेवका कल्याणाभिषेक किया। इसी तरह विद्याधरोंकी श्रेणियों अर्थात् विजयार्ध पर्वत पर जाकर विद्याधर राजाओंके द्वारा कन्यादान आदिसे सम्मानित वसुदेवने सात सौ कन्याएँ प्राप्त कीं। तदनन्तर—परम अभ्युदयको धारण करनेवाले कुमार वसुदेव विजयार्ध पर्वतसे लौटकर भूमि पर आ गये ॥ ३०५-३०६ ॥ वहाँ अरिष्टपुर नगरके राजा हिरण्यवर्माके पद्मावती रानीसे उत्पन्न हुई रोहिणी नामकी पुत्री थी जो सचमुच ही रोहिणी चन्द्रमाकी स्त्रीके समान जान पड़ती थी। उसके स्वयंवरके लिए अनेक कलाओं तथा गुणोंको धारण करनेवाले मुख्य शिक्षकोंके समान अनेक राजा लोग आये थे परन्तु वसुदेव 'हम सबके उपाध्याय हैं' लोगोंको यह बतलानेके लिए ही मानो सबसे अलग बैठे थे। उस समय रोहिणीने उत्कण्ठासे कुण्ठित चित्त होकर अपनी भुजलताके समान रत्नोंकी मालासे वसुदेवके कण्ठका आलिङ्गन किया था ॥ ३०७-३०९ ॥ यह देख, जिस

---

१ श्रोत्र ल० । २ तनु ग० । ३ महीपतिः ख०, ग०, घ० । ४ प्रक्षोभ-ल० ।

आहर्तुमुद्यतः सर्वे दृष्ट्वा तान् दुष्टचेतसः । योद्धुं हिरण्यवर्मापि सस्वबन्धुः समुद्ययौ ॥ ३११ ॥
वसुदेवकुमारोऽपि निजनामाक्षराङ्कितम् । प्रजिघाय शरं सद्यः समुद्रविजयं प्रति ॥ ३१२ ॥
नामाक्षराणि तस्यासौ वाचयित्वा सविस्मयः । वसुदेवकुमारोऽत्र पुण्यात्सम्भावितो मया ॥ ३१३॥
इति तुष्टा निवार्यं द्राक्संग्रामं समुपागमत् । सहानुजैः कनीयांसमनुजं जितमन्मथम् ॥ ३१४ ॥
समुद्रविजयाधीशं वसुदेवः कृताञ्जलिः । प्रणम्य प्रीणयामास शेषानपि निजाग्रजान् ॥ ३१५ ॥
भूखेचराः कुमारेण तदा सर्वे निजात्मजाः । परिणीताः पुरानीय समुदः समजीगमन् ॥ ३१६ ॥
कुमारेण समं गत्वा स्वपुरं विहितोत्सवम् । दशार्हाः स्वेप्सितं सौख्यमन्वभूवन्ननारतम् ॥ ३१७ ॥
एवं काले प्रयात्येषां श्लाघ्यैर्भोगैरभङ्गुरैः । महाशुक्रात्समुत्तीर्य शङ्खाख्यः प्राक्तनो मुनिः ॥ ३१८ ॥
रोहिण्याः पुण्यभाक्पद्मनामासौ समजायत । प्रतोषं बन्धुवर्गेषु वर्धयन्नवमो बलः ॥ ३१९ ॥
सप्रतापा प्रभेवाभात्सौरी धीरस्य निर्मला । [1]शरदा प्राप्य संस्कारं श्रुत्या पद्मोद्भवावहा ॥ ३२० ॥
दुर्वारो दुष्टविध्वंसी विशिष्टप्रतिपालकः । तत्प्रतापः कथं सौरमपि सारं न लङ्घते ॥ ३२१ ॥
इतः [2]प्रकृतमन्यच्च वृत्तकं तन्निगद्यते । गङ्गागन्धावतीनद्योः सङ्गमे सफलद्रुमे ॥ ३२२ ॥
तापसानामभूत्पल्ली नाम्ना जठरकौशिकः[3] । [4]वशिष्ठो नायकस्तत्र पञ्चाग्नितपमाचरन् ॥ ३२३ ॥

प्रकार प्रलयकालमें समुद्र अपनी मर्यादा छोड़कर क्षुभित हो जाता है उसी प्रकार समुद्रविजय आदि सभी राजा मर्यादा छोड़कर क्षुभित हो उठे और जबर्दस्ती रोहिणीको हरनेका उद्यम करने लगे। यह देख, हिरण्यवर्मा भी अपने भाइयोंको साथ ले उन दुष्ट हृदय वाले राजाओंसे युद्ध करनेके लिए तैयार हो गया ॥ ३१०–३११ ॥ कुमार वसुदेवने भी अपने नामके अक्षरोंसे चिह्नित एक बाण शीघ्र ही समुद्रविजयकी ओर छोड़ा ॥ ३१२ ॥ बाण पर लिखे हुए नामाक्षरोंको बाँचकर समुद्रविजय आश्चर्यसे चकित हो गये, वे कहने लगे—अहो पुण्योदयसे मुझे वसुदेव मिल गया। उन्होंने सन्तुष्ट होकर शीघ्र ही संग्राम बन्द कर दिया और अपने अन्य छोटे भाइयोंको साथ लेकर वे कामदेवको जीतनेवाले लघु भाई वसुदेवसे मिलनेके लिए गये ॥ ३१३–३१४ ॥ हाथ जोड़े हुए कुमार वसुदेवने महाराज समुद्रविजयको प्रणाम कर प्रसन्न किया। तदनन्तर अपने अन्य बड़े भाइयोंको भी प्रणामके द्वारा प्रसन्न बनाया ॥ ३१५ ॥ कुमारके द्वारा पहले विवाही हुई अपनी-अपनी पुत्रियोंको भूमिगोचरी और विद्याधर राजा बड़े हर्षसे ले आये और उन्हें कुमारके साथ मिला दिया। समुद्रविजय आदिने कुमार वसुदेवको साथ लेकर उत्सवोंसे भरे हुए अपने नगरमें प्रवेश किया और वहाँ वे सब निरन्तर इच्छानुसार सुख भोगते हुए रहने लगे ॥ ३१६–३१७ ॥ इस प्रकार इन सबका समय अविनाशी तथा प्रशंसनीय भोगोंके द्वारा सुखसे व्यतीत हो रहा था। कुछ समय बाद जिनका वर्णन पहले आ चुका है ऐसे शङ्ख नामके मुनिराजका जीव महाशुक्र स्वर्गसे चय कर वसुदेवकी रोहिणी नामक स्त्रीके पद्म नामका पुण्यशाली पुत्र उत्पन्न हुआ। वह अपने भाइयोंमें आनन्दको बढ़ाता हुआ नौवाँ बलभद्र होगा ॥ ३१८–३१९ ॥ उसकी निर्मल बुद्धि सूर्यकी प्रभाके समान प्रताप युक्त थी। जिस प्रकार शरद् ऋतुका संस्कार पाकर सूर्यकी प्रभा पद्म अर्थात् कमलोंके विकासको बढ़ाने लगती है उसी प्रकार उसकी बुद्धि शास्त्रोंका संस्कार पाकर पद्मा अर्थात् लक्ष्मीकी उत्पत्तिको बढ़ाने लगी थी ॥ ३२० ॥ उसका प्रताप दुर्वार था, दुष्टोंको नष्ट करनेवाला था और विशिष्ट-पुरुषोंका पालन करनेवाला था फिर भला वह सूर्यके सारभूत तेजका उल्लङ्घन क्यों नहीं करता ? ॥ ३२१ ॥

अब इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी कथा कही जाती है जो इस प्रकार है। जहाँ गङ्गा और गन्धावती नदियाँ मिलती हैं वहाँ बहुतसे फले फूले वृक्ष थे। उन्हीं वृक्षोंके बीचमें जठरकौशिक नामकी तपसियोंकी एक बस्ती थी। उस बस्तीका नायक वशिष्ठ तपसी था वह पञ्चाग्नि तप तपा करता था। एक दिन वहाँ गुणभद्र और वीरभद्र नामके दो चारण मुनि आये। उन्होंने उसके तपको

---

१ शारदा म०, ग०। २ प्राकृत ल०। ३ जठरकौशिकम् ल०, म०। ४ विशिष्टो ल०।

भद्रान्तगुणवीराभ्यां चारणाभ्यामिदं तपः । अज्ञानकृतमित्युक्तमाकर्ण्यापृच्छदज्ञता ॥ ३२४ ॥
कुतो ममेति सक्रोधं कुधीः स्थित्वा तयोः पुरः । आद्योऽत्र वक्तुमुद्युक्तः सन्तो हि हितभाषिणः ॥३२५॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सविधिसागर जी महाराज
जटाकलापसम्भूतालक्षायूकाभिवट्टनम् । सन्ततस्नानसंलग्नजटान्तर्मृतमीनकान् ॥ ३२६ ॥
दह्यमानेन्धनान्तःस्थस्फुरद्विविधकीटकान् । सन्दर्श्यैदं तवाज्ञानमिति तं समबोधयत् ॥ ३२७ ॥
काललब्धिं समाश्रित्य वशिष्टोऽपि विशिष्टधीः । दीक्षित्वाऽऽतपयोगस्थः सोपवासं तपो व्यधात्॥३२८॥
तपोमाहात्म्यतस्तस्य सप्तव्यन्तरदेवताः । मुनीश ब्रूहि सन्देशमिष्टमित्यग्रतः स्थिताः ॥ ३२९ ॥
दृष्ट्वा ताः स मुनिः प्राह भवतीभिः प्रयोजनम् । नास्यत्रागच्छतान्यस्मिन् यूयं जन्मनि मामिति ॥३३०॥
क्रमेणैवं तपः कुर्वन्नागमन्मधुरापुरीम् । तत्र मासोपवासी सन्नातपं योगमाचरन् ॥ ३३१ ॥
अथान्येद्युर्विलोक्यैनमुग्रसेनमहीपतिः । भक्त्या [1]मद्गेह एवायं भिक्षां गृह्णातु नान्यतः ॥ ३३२ ॥
चकार घोषणां पुर्यामिति सर्वनिषेधिनीम् । स्वपारणादिने सोऽपि भिक्षार्थं प्राविशत्पुरीम् ॥ ३३३ ॥
उदतिष्ठत्तदैवाग्नी राजगेहे निरीक्ष्य तम् । मुनीश्वरो निवर्त्यायाग्निराहारस्तपोवनम् ॥ ३३४ ॥
ततः पुनर्गते मासे बुभुक्षुः क्षीणदेहकः । प्रविश्य नगरीं वीक्ष्य क्षोभणं [2]यागहस्तिनः ॥ ३३५ ॥
सद्यो निवर्तते स्मास्मान्मासमात्राशनव्रतः । मासान्ते पुनरन्येद्युः शरीरस्थितये गतः ॥ ३३६ ॥
राजगेहं जरासन्धमहीट्प्रहितपत्रकम् । समाकर्ण्य महीपाले व्याकुलीकृतचेतसि ॥ ३३७ ॥
ततो निवर्तमानोऽसौ क्षीणाङ्गो जनजल्पितम् । न ददाति स्वयं भिक्षां निषिध्यति परानपि ॥३३८॥

अज्ञान तप बताया। यह सुनकर वह दुर्बुद्धि तापस क्रोध करता हुआ उनके सामने खड़ा होकर पूछने लगा कि मेरा अज्ञान क्या है ? उन दोनों मुनियोंमें जो प्रथम थे ऐसे गुणभद्र मुनि कहनेके लिए तत्पर हुए सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुष हितका ही उपदेश देते हैं ॥ ३२२-३२५ ॥ उन्होंने जटाओंके समूहमें उत्पन्न होनेवाली लीखों तथा जुओंके सङ्घटनको; निरन्तर स्नानके समय लगकर जटाओंके भीतर मरी हुई छोटी छोटी मछलियोंको और जलते हुए इन्धनके भीतर रहकर छटपटाने वाले अनेक कीड़ोंको दिखाकर समझाया कि देखो यह तुम्हारा अज्ञान है ॥ ३२६-३२७ ॥ काललब्धिका आश्रय मिलनेसे विशिष्ट बुद्धिका धारक वह वशिष्ठ तापस दीक्षा लेकर आतापन योगमें स्थित हो गया और उपवास सहित तप करने लगा ॥ ३२८ ॥ उसके तपके प्रभावसे सात व्यन्तर देवियाँ आयीं और आगे खडी होकर कहने लगीं: हे मुनिराज ! अपना इष्ट सन्देश कहिये, हमलोग करनेके लिए तैयार हैं ॥ ३२९ ॥ उन्हें देखकर वशिष्ठ मुनिने कहा कि मुझे आप लोगोंसे इस जन्ममें कुछ प्रयोजन नहीं है अन्य जन्ममें मेरे पास आना ॥ ३३० ॥ इस प्रकार तप करते हुए वे अनुक्रमसे मथुरापुरी आये वहाँ एक महीनेके उपवासका नियम लेकर उन्होंने आतापन योग धारण किया ॥ ३३१ ॥ तदनन्तर दूसरे दिन मथुराके राजा उग्रसेनने बड़ी भक्तिसे उन मुनिके दर्शन किये और नगरमें घोषणा करा दी कि यह मुनिराज हमारे ही घर भिक्षा ग्रहण करेंगे, अन्यत्र नहीं। इस घोषणासे उन्होंने अन्य सब लोगोंको आहार देनेका निषेध कर दिया। अपनी पारणाके दिन मुनिराजने भिक्षाके लिए नगरीमें प्रवेश किया परन्तु उसी समय राजमन्दिरमें अग्नि लग गई उसे देख मुनिराज निराहार ही लौटकर तपोवनमें चले गये ॥ ३३२-३३४ ॥ मुनिराजने एक मासके उपवास का नियम फिरसे ले लिया। तदनन्तर एक माह बीत जानेपर क्षीण शरीरके धारक मुनिराजने जब आहारकी इच्छासे पुनः नगरीमें प्रवेश किया तब वहाँ पर हाथीका क्षोभ हो रहा था उसे देख वे शीघ्र ही नगरीसे वापिस लौट गये और एक माहका फिर उपवास लेकर तप करने लगे। एक माह समाप्त होनेपर जब वे फिर आहारके लिए राजमन्दिरकी ओर गये तब महाराज जरासन्धका भेजा हुआ पत्र सुनकर राजा उग्रसेनका चित्त व्याकुल हो रहा था अतः उसने मुनिकी ओर ध्यान नहीं दिया ॥ ३३५-३३७ ॥ क्षीण शरीरके धारी वशिष्ठ मुनि जब वहाँसे लौट रहे थे तब उन्होंने लोगोंको यह कहते हुए सुना कि 'राजा न तो स्वयं भिक्षा देता है और न दूसरोंको देने देता है। इसका क्या

---

१ मद्गृह एवायं ब० । २ यागहस्तितः ल० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कोऽभिप्रायो महीशस्य न विद्मो वयमित्यदः । श्रुत्वा पापोदयात्क्रुध्वा निदानमकरोन्मुनिः ॥३३९॥
पुत्रो भूत्वाऽस्य भूपस्य मदुग्रतपसः फलात् । निगृह्यैनमिदं राज्यं गृह्णासमिति दुर्मतिः ॥३४०॥
एवं दुष्परिणामेन मुनिः प्राप्य [1]परासुताम् । जातः पद्मावतीगर्भे भूरिवैरानुबन्धतः ॥३४१॥
सापि गर्भार्भकक्रौर्यान्महीभृद्धृदयामिषम् । अभूदभिलषन्त्यार्ता तज्ज्ञात्वा मन्त्रिणस्तदा ॥३४२॥
प्रयोगविहितं भर्तुर्हृन्मासमिति दौर्हृदम् । स्वबुद्ध्या पूरयंस्तस्याः किं न कुर्वन्ति धीधनाः ॥३४३॥
निर्दौर्हृदा क्रमेणासावलब्ध सुतपातकम्[2] । दष्टोष्ठं निष्ठुरालोकं कृतभ्रूभङ्गसङ्गमम् ॥३४४॥
दृष्ट्वा तं पितरौ तस्य नात्र विस्रम्भ्य पोषणे । योग्योऽयमिति संस्मृत्य विधिं तस्य विसर्जने ॥३४५॥
मञ्जूषायां विनिक्षिप्य कंसमय्यां सपत्रकम् । तोकं कलिन्दकन्यायाः[3] प्रवाहे मुञ्चतः स्म तौ ॥३४६॥
अस्ति [4]मण्डोदरी नाम कौशाम्ब्यां [5]शौण्डकारिणी । तया प्रवाहे मञ्जूषामध्यस्थोऽसौ व्यलोक्यत ३४७
अवीवृधद्गृहीत्वैनमिव सा स्वसुतं हिता । किं न कुर्वन्ति पुण्यानि हीनान्यपि तपस्विनाम् ॥३४८॥
अहोभिः कैश्चिदासाद्य [6]लम्भनादिसहं वयः । आक्रीड्यमानान्निर्हेतु समं सकलबालकान् ॥३४९॥
चपेटमुष्टिदण्डादिप्रहारैर्बाधते सदा । तद्दुराचारनिर्विण्णाऽस्यजन्मण्डोदरी [7]च तम् ॥३५०॥
सोऽपि शौर्यपुरं गत्वा वसुदेवमहीपतेः । प्रतिपद्य पदातित्वं तत्सेवातत्परोऽभवत् ॥३५१॥
अतोऽन्यत्प्रकृतं ब्रूमो जरासन्धमहीपतिः । निर्जिताशेषभूपालः कदाचित्कार्यशेषवान् ॥३५२॥
सुरम्यविषयान्तःस्थपौदनाख्यपुराधिपम् । रिपुं सिंहरथं जित्वा बलाद्युद्धे ममान्तिकम् ॥३५३॥

अभिप्राय है सो जान नहीं पड़ता।' लोगोंका कहना सुनकर पाप कर्मसे उदयसे मुनिराजको क्रोध आ गया जिससे उनकी बुद्धि जाती रही। उसी समय उन्होंने निदान किया कि 'मैंने जो उग्र तप किया है उसके फलसे मैं पुत्र होकर इस राजाका निग्रह करूँ तथा इसका राज छीन लूँ' ॥३३८–३४०॥ इस प्रकारके खोटे परिणामोंसे मुनिराजकी मृत्यु हो गई और वे तीव्र वैरके कारण राजा उग्रसेनकी पद्मावती रानीके गर्भ में जा उत्पन्न हुए ॥३४१॥ उस रानी पद्मावतीको भी गर्भके बालककी क्रूरतावश राजाके हृदयका मांस खानेकी इच्छा हुई और उससे वह दुःखी होने लगी। यह जानकर मन्त्रियोंने अपनी बुद्धिसे कोई बनावटी चीज देकर कहा कि 'यह तुम्हारे पतिके हृदयका मांस है' इस प्रकार उसका दोहला पूरा किया सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य क्या नहीं करते हैं ? ॥ ३४२–३४३ ॥ जिसका दोहला पूरा हो गया है ऐसी रानी पद्मावतीने अनुक्रमसे वह पापी पुत्र प्राप्त किया, जिस समय वह उत्पन्न हुआ था उस समय अपने ओठ डस रहा था, उसकी दृष्टि क्रूर थी और भौंह टेढ़ी ॥ ३४४ ॥ माता-पिताने उसे देखकर विचार किया कि इसका यहाँ पोषण करना योग्य नहीं है यही समझ कर उन्होंने उसे छोड़नेकी विधिका विचार किया और कांसोंकी एक सन्दूक बनवा कर उसमें उस पुत्रको पत्र सहित रख दिया तथा यमुना नदीके प्रवाहमें छोड़ दिया ॥ ३४५–३४६ ॥ कौशाम्बी नामकी नगरीमें एक मण्डोदरी नामकी कलारन रहती थी उसने प्रवाहमें बहती हुई सन्दूकके भीतर स्थित उस बालकको देखा। देखते ही वह उसे उठा लाई और हितैषिणी बन अपने पुत्रके समान उसका पालन करने लगी। सो ठीक ही है क्योंकि तपस्वियोंके हीन पुण्य भी क्या नहीं करते ? ॥ ३४७–३४८ ॥ कितने ही दिनोंमें वह सुदृढ़ अवस्था पाकर साथ खेलनेवाले समस्त बालकोंको चाँटा, मुट्ठी तथा डण्डा आदिसे पीड़ा पहुँचाने लगा। उसके इस दुराचारसे खिन्न होकर मण्डोदरीने उसे छोड़ दिया—घरसे निकाल दिया ॥ ३४९–३५० ॥ अब वह शौर्यपुरमें जाकर राजा वसुदेवका सेवक बन गया और सदा उनकी सेवामें तत्पर रहने लगा ॥ ३५१ ॥

अब इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली एक अन्य कथा कहते हैं और वह इस प्रकार है—यद्यपि राजा जरासन्धने सब राजाओंको जीत लिया था तो भी किसी समय उसका कुछ कार्य बाकी रह गया था। उसकी पूर्तिके लिए जरासन्धने सब राजाओंके पास इस आशयके पत्र भेजे कि जो राजा

---

१ परां मृतिम् ल० । २ सुतपावकम् ग०, घ० । ३ यमुनायाः । ४ मन्दोदरी ल० । ५ शौद्रसुन्दरी । ६ लम्भनादि सहं ख०, ग०, घ०, म० । लम्भनादिसहं ल० । ७ सुतम् ल० ।

बध्वानीतवते देशस्यार्धं मत्पुत्रिकामपि । कलिन्दसेनासम्भूतां सतीं जीवद्यशोभिधाम् ॥३५४॥
दास्यामीत्यभिभूपालान्प्राहिणोत्पत्रमालिकाः । वसुदेवकुमारस्तत्परिगृह्य प्रतापवान् ॥३५५॥
वाजिनः सिंहमूत्रेण भावयित्वा रथं स तैः । वाह्यमारुह्य संग्रामे जित्वा सिंहरथं पृथुम् ॥३५६॥
कंसेन निजभृत्येन बन्धयित्वा महीपतेः । स्वयं समर्पयामास सोऽपि तुष्ट्वा सुतां निजाम् ॥३५७॥
देशार्धेन समं तस्मै प्रतिपन्नां[1]प्रदत्तवान् । वसुदेवोऽपि तां दुष्टलक्षणां वीक्ष्य नो मया ॥३५८॥
बद्धः सिंहरथः कर्म कंसेनानेन तत्कृतम् । कन्या प्रदीयतामस्मै भवत्प्रेषणकारिणे ॥३५९॥
इत्याह तद्वचः श्रुत्वा जरासन्धनरेश्वरः । कुलं कंसस्य विज्ञातुं दूतं मण्डोदरीं प्रति ॥३६०॥
प्रेषयामास तं दृष्ट्वा किं तत्राप्यपराधवान् । मत्पुत्र इति भीत्वाऽसौ समञ्जूषाऽगमत्स्वयम् ॥३६१॥
आगत्य नृपतेरग्रे माताऽस्येयमिति क्षितौ । निक्षिप्य कंसमञ्जूषां प्रणिपत्यैवमब्रवीत् ॥३६२॥
आगतः कंसमञ्जूषामधिष्ठायायमर्भकः । जले कलिन्दकन्याया मयादायाभिवर्धितः ॥३६३॥
कंसनाम्ना समाहूतस्तत एव [1]पुरोजवैः । निसर्गशौर्यदर्पिष्ठः शैशवेऽपि निरर्गलः ॥३६४॥
इति तद्वचनं श्रुत्वा मञ्जूषान्तःस्थपत्रकम् । गृहीत्वा वाचयित्वोच्चैरुग्रसेनमहीपतेः ॥३६५॥
पद्मावत्याश्च पुत्रोऽयमिति ज्ञात्वा महीपतिः । विततार सुतां तस्मै राज्यार्धञ्च प्रतुष्टवान् ॥३६६॥
कंसोऽप्युत्पत्तिमात्रेण स्वस्य नद्यां विसर्जनात् । प्रवृद्धपूर्ववैरः सन् कुपितो [2]मथुरापुरीम् ॥३६७॥
स्वयमादाय बन्धस्थौ गोपुरे पितरौ न्यधात् । विचारविकलाः पापाः कोपिताः किं न कुर्वते ॥३६८॥

सुरम्य देशके मध्यमें स्थित पोदनपुरके स्वामी हमारे शत्रु सिंहरथको युद्धमें अपने बलसे जीतकर तथा बाँधकर हमारे पास लावेगा उसे मैं आधा देश तथा कलिन्दसेना रानीसे उत्पन्न हुई जीवद्यशा नामकी अपनी पतिव्रता पुत्री दूंगा। प्रतापी राजा वसुदेवने जब यह पत्र पाया तो उन्होंने सिंहका मूत्र मँगाकर घोड़ोंके शरीर पर लगवाया, उन्हें रथमें जोता और तदनन्तर ऐसे रथपर आरूढ होकर चल पड़े। वहाँ जाकर उन्होंने संग्राममें उस भारी राजा सिंहरथको जीत लिया और अपने सेवक कंसके द्वारा उसे बँधवा कर स्वयं राजा जरासन्धको सौंप दिया। राजा जरासन्ध भी सन्तुष्ट होकर वसुदेवके लिए आधे देशके साथ अपनी पूर्व प्रतिज्ञात पुत्री देने लगा। उस समय वसुदेवने देखा कि उस पुत्रीके लक्षण अच्छे नहीं हैं अतः कह दिया कि सिंहरथको मैंने नहीं बाँधा है यह कार्य इस कंसने किया है इसलिए इसी आज्ञाकारीके लिए यह कन्या दी जावे। वसुदेवके वचन सुनकर राजा जरासन्धने कंसका कुल जाननेके लिए मण्डोदरीके पास अपना दूत भेजा ॥३५२-३६०॥ दूतको देखकर मण्डोदरी डर गई और सोचने लगी कि क्या मेरे पुत्रने वहाँ भी अपराध किया है? इसी भयसे वह सन्दूक साथ लेकर स्वयं राजा जरासन्धके पास गई। वहाँ जाकर उसने 'यह सन्दूक ही इसकी माता है' यह कहते हुए पहले वह कांसकी सन्दूक राजाके आगे जमीन पर रख दी। तदनन्तर नमस्कार कर कहने लगी कि 'यह बालक कांसकी सन्दूकमें रखा हुआ यमुनाके जलमें बहा आ रहा था मैंने लेकर इसका पालन मात्र किया है॥ ३६१-३६३॥ चूँकि यह कांसकी सन्दूक में आया था इसलिए गाँवके लोगोंने इसे कंस नामसे पुकारना शुरू कर दिया। यह स्वस्वभावसे ही अपनी शूर-वीरताका घमण्ड रखता है और बचपनसे ही स्वच्छन्द प्रकृतिका है' ॥ ३६४॥ मण्डोदरीके ऐसे वचन सुनकर राजा जरासन्धने सन्दूकके भीतर रखा हुआ पत्र लेकर बचवाया। उसमें लिखा था कि यह राजा उग्रसेन और रानी पद्मावतीका पुत्र है। यह जानकर सन्तुष्ट हुए राजा जरासन्धने कंसके लिए जीवद्यशा पुत्री तथा आधा राज्य दे दिया॥ ३६५-३६६॥ जब कंसने यह सुना कि उत्पन्न होते ही मुझे मेरे माता-पिताने नदीमें छोड़ दिया था तब वह बहुत ही कुपित हुआ, उसका पूर्व पर्यायका वैर वृद्धिंगत हो गया। उसी समय उसने मथुरापुरी जाकर माता-पिताको कैद कर लिया और दोनोंको गोपुर—नगरके प्रथम दरवाजेके ऊपर रख दिया सो ठीक ही है क्योंकि

---

१ परोद्भवैः ल०। २ मधुरापुरम् ल०।

अथ स्वपुरमानीय वसुदेवमहीपतिम् । देवसेनसुतामस्मै देवकीमनुजां निजाम् ॥३६९॥
विभूतिमद्वितीयैवं काले कंसस्य गच्छति । अन्येद्युरतिमुक्ताख्यमुनिर्भिक्षार्थमागमत् ॥३७०॥
राजगेहं समीक्ष्यैनं हासाज्जीवद्यशा मुदा । देवकी पुष्पजानन्दवस्त्रमेतावानुजा ॥३७१॥
स्वस्याश्चेष्टितमेतेन प्रकाशयति ते मुने । इत्यवोचत्तदाकर्ण्य सकोपः सोऽपि गुप्तिभित् ॥३७२॥
सुतोऽस्यास्तव भर्तारं भाव्यवश्यं हनिष्यति । इत्यवोचत्ततः क्रुध्वा सा तद्वस्त्रं द्विधा व्यधात् ॥३७३॥
पतिमेव न ते तेन पितरञ्च हनिष्यति । इत्युक्ता सा पुनः क्रुध्वा पादाभ्यां [1]तद्व्यमर्दयत् ॥३७४॥
तद्विलोक्य मुनिर्देवकीसुतः सागरावधिम् । पालयिष्यति भूनारीं नारी वेत्यवदीत्स ताम् ॥३७५॥
जीवद्यशाश्च तत्सर्वमवधार्य यथाश्रुतम् । गत्वा बुद्धिमती कंसं मिथः समबबोधयत् ॥३७६॥
हासेनापि मुनिप्रोक्तमवन्ध्यमिति भीतिमान् । वसुदेवमहीशं स [2]स्नेहादिदमयाचत ॥३७७॥
प्रसूतिसमयेऽवाप्य देवकी मद्गृहान्तरम् । प्रसूतिविधिपर्याप्तिं विदध्यात्त्वन्मतादिति ॥३७८॥
सोऽपि तेनोपरुद्धः संस्तथात्वेतदमंस्त [3] तम् । अवश्यम्भाविकार्येषु मुह्यन्त्यपि मुनीश्वराः ॥३७९॥
भिक्षार्थं देवकीगेहं स पुनश्च प्रविष्टवान् । प्रत्युत्थाय यथोक्तेन विधिना प्रतिगृह्य तम् ॥३८०॥
देवकी वसुदेवश्च दीक्षान्न स्यान्न वावयोः । किमिति [4]छलना तातं ज्ञात्वा सोऽपि तदिङ्गितम् ॥३८१॥
सप्तपुत्राः समाप्स्यन्ते भवद्भ्यां तेषु षट्सुताः । परस्थानेषु वर्धित्वा यास्यन्ति परमां गतिम् ॥३८२॥
सप्तमः सकलां पृथ्वीं स्वच्छत्रच्छायया चिरम् । पालयिष्यति निर्वाप्य चक्रवर्तीत्यभाषत ॥३८३॥
देवकी च मुदा पश्चात्त्रिष्कृत्वोऽसवती यमान् । चरमाङ्गानिमान् [5]ज्ञातवता शक्रेण चोदितः ॥३८४॥

विचार रहित पापी मनुष्य कुपित होकर क्या क्या नहीं करते हैं ? ॥ ३६७–३६८ ॥ तदनन्तर कंस राजा वसुदेवको अपने नगरमें ले आया और उन्हें उसने बड़ी विभूतिके साथ राजा देवसेनकी पुत्री तथा अपनी छोटी बहिन देवकी समर्पित कर दी। इस प्रकार कंसका समय सुखसे व्यतीत होने लगा। किसी दूसरे दिन अतिमुक्त मुनि भिक्षाके लिए राजभवनमें आये। उन्हें देख हँसीसे जीवद्यशा बड़े हर्षसे कहने लगी कि 'हे मुने ! यह देवकीका ऋतुकालका वस्त्र है, यह आपकी छोटी बहिन इस वस्त्रके द्वारा अपनी चेष्टा आपके लिए दिखला रही है'। जीवद्यशाके उक्त वचन सुनकर मुनिका क्रोध भड़क उठा। वे वचनगुप्तिको भङ्ग करते हुए बोले कि इस देवकीका जो पुत्र होगा वह तेरे पतिको अवश्य ही मारेगा। यह सुनकर जीवद्यशाको भी क्रोध आ गया और उसने उस वस्त्रके दो टुकड़े कर दिये। तब मुनिने कहा कि वह न केवल तेरे पतिको मारेगा किन्तु तेरे पिताको भी मारेगा। यह सुनकर तो उसके क्रोधका पार ही नहीं रहा। अबकी बार उसने उस वस्त्रको पैरोंसे कुचल दिया। यह देख मुनिने कहा कि देवकीका पुत्र स्त्रीकी तरह समुद्रान्त पृथिवी रूपी स्त्रीका पालन करेगा ॥ ३६९–३७५ ॥ जीवद्यशा इन सुनी हुई बातोंका विचार कर कंसके पास गई और उसे परस्परमें सब समझा आई ॥ ३७६ ॥ 'मुनि जो बात हँसीमें भी कह देते हैं वह सत्य निकलती है' यह विचार कर कंस डर गया और राजा वसुदेवके पास जाकर बड़े स्नेहसे याचना करने लगा कि आपकी आज्ञासे प्रसूतिके समय देवकी हमारे ही घर आकर प्रसूतिकी पूरी विधि करे ॥ ३७७ ॥ कंसके अनुरोधसे वसुदेवने भी 'ऐसा ही होगा' यह कहकर उसकी बात मान ली सो ठीक ही है क्योंकि अवश्यम्भावी कार्योंमें मुनिराज भी भूल कर जाते हैं ॥ ३७८–३७९ ॥ किसी दिन वही अतिमुक्त मुनि भिक्षाके लिए देवकीके घर प्रविष्ट हुए तो देवकीने खड़े होकर यथोक्त विधिसे उनका पडिगाहन किया। आहार देनेके बाद देवकी और वसुदेवने उनसे पूछा कि क्या कभी हम दोनों भी दीक्षा ले सकेंगे ? मुनिराजने उनका अभिप्राय जानकर कहा कि इस तरह छलसे क्यों पूछते हो ? आप दोनों सात पुत्र प्राप्त करेंगे, उनमेंसे छह पुत्र तो अन्य स्थानमें बढ़कर निर्वाण प्राप्त करेंगे और सातवाँ पुत्र चक्रवर्ती होकर अपने छत्रकी छायासे चिरकाल तक समस्त पृथिवीका पालन करेगा ॥ ३८०–३८३ ॥ यह सुनकर देवकी बहुत हर्षित हुई। तदनन्तर उसने तीन बारमें दो-दो युगल पुत्र

---

१ तद्व्यमेदयत् ल०। २ स्नेहादेवमयाचत ब०। ३–दमंस्त सः ल०। ४ छद्मता ल०। ५ ज्ञानवता ल०।

दिविजो नैगमार्षाख्यो [1]भद्रिलाख्यपुरेऽलका । वणिक्सुतायां निक्षिप्य पुरस्तात्सुतान् मृतान् ॥३८५॥
तदा तदैव सम्भूय गृहीत्वा [2]त्रिर्मितान्यमान् । तान् पुरस्तान्निचिक्षेप देवक्या गूढकृत्यवित् ॥३८६॥
यमान् सोऽपि गतप्राणान् क्रमात्कंसः समीक्ष्य तान् । किमेभिर्मे गतप्राणैरभून्मुनिरसत्यवाक् ॥३८७॥
इति मत्वापि साशङ्कः शिलापट्टे न्यपातयत् । पश्चात्सा सप्तमे मास एव स्वस्य निकेतने ॥३८८॥
निर्नामकमलब्धोक्तं महाशुक्राच्च्युतं सुतम् । कंसानवगमेनैव नन्दगोपगृहे सुखम् ॥ ३८९॥
बालकं वर्धयिष्याव इति [3]नीतिविशारदौ । पिता भ्राता च तद्देवकीं विज्ञाप्य ततो बलः ॥३९०॥
तमुद्दध्रे पिता चास्य दधारातपवारणम् । ज्वलन्निशातभृङ्गाग्रविलसन्मणिदीपका ॥३९१॥
निरस्ततिमिराटोपो बृषभोऽभूत्पुरःसरः । तथा विकृतिमापन्ना तत्पुण्यात्पुरदेवता ॥३९२॥
सद्यस्तदास्य बालस्य चरणस्पर्शसङ्गमात् । उद्घाटितकवाटं तद्बभूव पुरगोपुरम् ॥३९३॥
उग्रसेनस्तदालोक्य बन्धनस्थः समब्रवीत् । कवाटोद्घाटनं कोऽत्र करोतीत्यतिसम्भ्रमात् ॥३९४॥
तदाकर्ण्यैष बन्धात्त्वामचिरान्मोचयिष्यति । तूष्णीमुपविशेत्युक्तो बलेन मधुराधिपः ॥३९५॥
तथास्विति तमार्शीभिः प्रतोषादभ्यनन्दयत् । तौ च तस्माद्विनिर्गत्य यमुनां प्रापतुर्निशि ॥३९६॥
भावि[4]चक्रिप्रभावेन दत्तमार्गा द्विधाभवत् । सा सवर्णाश्रितः को वा नार्द्रात्मा बन्धुतां व्रजेत् ॥३९७॥
[5]सविस्मयौ विलङ्घ्यैनां गच्छन्तौ नन्दगोपतिम्। उद्धृत्य बालिकां यत्नेनागच्छ[6]न्तमदर्शताम् ॥३९८॥
दृष्ट्वा ताभ्यां कुतो भद्र रात्रावागमनं तव । निःसख्येति सम्पृष्टः सः प्रणत्याभ्यभाषत ॥३९९॥

प्राप्त किये । इन्द्रको मालूम हुआ कि ये सब पुत्र चरमशरीरी हैं अतः उसने देवकीके गूढ़ कार्यको जाननेवाले नैगमर्ष नामके देवको प्रेरणा की । इन्द्रके द्वारा प्रेरित हुआ नैगमर्ष देव देवकीके इन पुत्रोंको ले जाकर भद्रिलपुर नगरमें अलका नामकी वैश्य पुत्रीके आगे डाल आता था और उसके तत्काल उत्पन्न होकर मरे हुए तीन युगल पुत्रोंको देवकीके सामने डाल देता था ॥ ३८४-३८६ ॥ कंसने उन मरे हुए पुत्रोंको देखकर विचार किया कि इन निर्जीव पुत्रोंसे मेरी क्या हानि हो सकती है ? मुनि असत्यवादी भी तो हो सकते हैं । उसने ऐसा विचार किया सही परन्तु उसकी शङ्का नहीं गई इसलिए वह उन मृत पुत्रोंको शिलाके ऊपर पछाड़ता रहा । इसके बाद निर्नामक मुनिका जीव महाशुक्र स्वर्गसे च्युत होकर देवकीके गर्भमें आया । अबकी बार उसने अपने ही घर सातवें महीने में ही पुत्र उत्पन्न किया । नीतिविद्यामें निपुण वसुदेव और बलभद्र पद्मने विचार किया कि कंसको बिना जताये ही इस पुत्रका नन्दगोपके घर सुखसे पालन-पोषण करावेंगे । पिता और भाईने अपने विचार देवकीको भी बतला दिये । बलभद्रने उस बालकको उठा लिया और पिताने उस पर छत्र लगा लिया उस समय घोर अन्धकार था अतः पुत्रके पुण्यसे नगरका देवता विक्रिया वश एक बैलका रूप बनाकर उनके आगे हो गया । उस बैलके दोनों पैने सींगों पर देदीप्यमान मणियोंके दीपक रखे हुए थे उनसे समस्त अन्धकार दूर होता जाता था ॥ ३८७-३९२ ॥ गोपुरके किवाड़ बन्द थे परन्तु पुत्रके चरणोंका स्पर्श होते ही खुल गये । यह देख बन्धनमें पड़े हुए उग्रसेनने बड़े क्षोभके साथ कहा कि इस समय किवाड़ कौन खोल रहा है ? यह सुनकर बलभद्रने कहा कि आप चुप बैठिये यह बालक शीघ्र ही आपको बन्धनसे मुक्त करेगा । मथुराके राजा उग्रसेनने सन्तुष्ट होकर 'ऐसा ही हो' कहकर आशीर्वाद दिया । बलभद्र और वसुदेव वहाँसे निकल कर रात्रिमें ही यमुना नदीके किनारे पहुँचे । होनहार चक्रवर्तीके प्रभावसे यमुनाने भी दो भागोंमें विभक्त होकर उन्हें मार्ग दे दिया सो ठीक ही है क्योंकि ऐसा कौन आर्द्रात्मा (जल स्वरूप पक्षमें दयालु) होगा जो अपने समान वर्णवालेसे आश्रित होता हुआ भाईचारेको प्राप्त नहीं हो ॥ ३९३-३९७ ॥ इधर बड़े आश्चर्यसे यमुनाको पार कर बलभद्र और वसुदेव नन्दगोपालके पास जा रहे थे इधर वह भी एक बालिकाको लेकर आ रहा था । बलदेव और वसुदेवने उसे देखते ही पूछा कि हे भद्र ! रात्रिके

---

१ भद्रलाख्य ग०, म० । २ त्रीन्मृतान्यमान् ग० । त्रीन्मृतानिमान् ख० । ३ नन्दविशारदौ ल० । ४ चक्र-ख० । ५ सविस्मयो ल० । ६ नागच्छत्तम-ल० ।

मत्प्रिया पुत्रलाभार्थं भवतोः परिचारिका । गन्धादिभिः समभ्यर्च्य श्रद्धानाद् भूतदेवताः ॥४००॥
आशास्य स्त्रीत्ववद्रात्रावद्यापत्यमवाप्य सा । सशोका दीयतामेतत्ताभ्य एवेति माब्रवीत् ॥४०१॥
तदर्पयितुमायासो ममायं स्वामिनाविति । तद्वचः सम्यगाकर्ण्य सिद्धमस्मत्प्रयोजनम् ॥४०२॥
इति सन्तुष्य तत्सर्वमवबोध्य प्रवृद्धकम् । तदपत्यं समादाय दत्वा तस्मै स्वमर्भकम् ॥४०३॥
भाविचक्रधरं विद्धि बालमित्यभिधाय च । अनन्यविदितौ गूढं तौ तदाविशतां पुरम् ॥४०४॥
नन्दगोपोऽपि तं बालमादाय गृहमागतः । तुभ्यं सुतं महापुण्यं प्रसन्ना देवता ददुः ॥४०५॥
इत्युदीर्यार्पयायास स्वप्रियायै श्रियः पतिम् । कंसोऽपि देवकी स्त्रीत्ववदपत्यमसूयत ॥४०६॥
इति श्रुत्वा समागत्य तां व्यधाद् [1]भुग्ननासिकाम् । भूमिगेहे प्रयत्नेन मात्रा [2]साध्वभिवर्धिता ॥४०७॥
सा सुव्रतार्यिकाभ्यर्णे शोकात्स्वविकृताकृतेः । गृहीतदीक्षा विन्ध्याद्रौ स्थानयोगमुपाश्रिता ॥४०८॥
देवतेति समभ्यर्च्य गतेषु [2]वनवासिषु । व्याघ्रेण भक्षिता मंक्षु स्वर्गलोकमुपागमत् ॥४०९॥
अपरस्मिन्दिने व्याधैर्दृष्ट्वा हस्तांगुलित्रयम् । तस्याः क्षीराङ्गरागादिपूजितं देशवासिनः ॥४१०॥
मूढात्मानः स्वयं चैतदार्यासौ विन्ध्यवासिनी । देवतेति समभ्यर्च्य तदारभ्याप्रमाणयन् ॥४११॥
अथाकस्मात्पुरे तस्मिन्महोत्पातविजृम्भणे । वरुणाख्यं निमित्तज्ञं द्राक्कंसः परिवृष्टवान् ॥४१२॥
किमेतेषां फलं ब्रूहि यथार्थमिति सोऽब्रवीत् । तव शत्रुः समुत्पन्नो महानिति निमित्तवित् ॥४१३॥
तदाकर्ण्य महीनाथं चिन्तयन्तं चिरन्तनाः । देवतास्तमवोचंस्ताः किंकर्तव्यमिति श्रिताः ॥४१४॥

समय आनेपर ही तुम्हारा चाचा क्यों होता है? इस प्रकार पूछे जाने पर नन्दगोपने प्रणाम कर कहा कि 'आपकी सेवा करनेवाली मेरी स्त्रीने पुत्र-प्राप्तिके लिए श्रद्धाके साथ किन्हीं भूत देवताओं की गन्ध आदिसे पूजाकर उनसे आशीर्वाद चाहा था। आज रात्रिको उसने यह कन्या रूप सन्तान पाई है। कन्या देखकर वह शोक करती हुई मुझसे कहने लगी कि ले जाओ यह कन्या उन्हीं भूत देवताओंको दे आओ—मुझे नहीं चाहिए। सो हे नाथ! मैं यह कन्या उन्हीं भूत देवताओंको देनेके लिए जा रहा हूँ'। उसकी बात सुनकर बलदेव और वसुदेवने कहा कि 'हमारा मनोरथ सिद्ध हो गया' ॥ ३९८–४०२ ॥ इस प्रकार सन्तुष्ट होकर उन्होंने नन्द गोपके लिए सब समाचार सुना दिये, उसकी लड़की ले ली और अपना पुत्र उसे दे दिया। साथ ही यह भी कह दिया कि तुम इसे होनहार चक्रवर्ती समझो। यह सब काम कर वे दोनों किसी दूसरेको मालूम हुए बिना ही गुप्त रूपसे नगरमें वापिस आ गये ॥ ४०३–४०४ ॥

इधर नन्दगोप भी वह बालक लेकर घर आया और 'लो, प्रसन्न होकर उन देवताओंने तुम्हारे लिए यह महापुण्यवान् पुत्र दिया है' यह कहकर अपनी प्रियाके लिए उसने वह होनहार चक्रवर्ती सौंप दिया। यहाँ, कंसने जब सुना कि देवकीने कन्या पैदा की है तो वह सुनते ही उसके घर गया और जाते ही उसने पहले तो कन्याकी नाक चपटी कर दी और तदनन्तर उसे धायके द्वारा एक तलघटमें रखकर बड़े प्रयत्नसे बढ़ाया ॥ ४०५–४०७ ॥ बड़ी होनेपर उसने अपनी विकृत आकृतिको देखकर शोकसे सुव्रता आर्यिकाके पास दीक्षा धारण कर ली और विन्ध्याचल पर्वत पर रहने लगी ॥ ४०८ ॥ एक दिन वनमें रहनेवाले भील लोग उसे देवता समझ उसकी पूजा करके कहीं गये थे कि इतनेमें व्याघ्रने उसे शीघ्र ही खा लिया। वह मरकर स्वर्ग चली गई। दूसरे दिन जब भील लोग वापिस आये तो उन्हें वहाँ उसकी सिर्फ तीन अङ्गुलियाँ दिखीं। वहाँके रहनेवाले मूर्ख लोगोंने उन अँगुलियोंकी दूध तथा अङ्गराग आदिसे पूजा की। उसी समयसे 'यह आर्या ही विन्ध्यवासिनी देवी है' ऐसा समझ कर लोग उसकी मान्यता करने लगे ॥ ४०९–४११ ॥

अथानन्तर—अकस्मात् ही मथुरा नगरीमें बड़े भारी उत्पात बढ़ने लगे। उन्हें देख, कंसने शीघ्र ही वरुण नामके निमित्तज्ञानीसे पूछा कि सच बतलाओ इन उत्पातोंका फल क्या है? निमित्तज्ञानीने उत्तर दिया कि आपका बड़ा भारी शत्रु उत्पन्न हो चुका है ॥ ४१२–४१३ ॥ निमित्तज्ञानीकी

---

१ भग्न–ल० । २ वनदासिषु ल० ।

शत्रुं मम समुत्पन्नमन्विष्याहत पापिनम् । इत्यसौ प्रेषयामास ताः सप्तापि तथास्त्विति ॥४१५॥
[1]अगमन्पूतना तासु वासुदेवं विभङ्गतः । विज्ञायादाय तन्मातृरूपं हन्तुमुपागता ॥४१६॥
विषस्तनपयःपायनोपायेन खलाग्रणीः । तद्बालपालनोद्युक्ता काप्यन्यागत्य देवता ॥४१७॥
स्तनयोर्बलवत्पीडां तत्पानसमये व्यधात् । प्रपलायत साक्रुश्य तत्पीडां सोढुमक्षमा ॥४१८॥
शकटाकारमादाय पुनरन्यापि देवता । बालस्योपरि धावन्ती पादाभ्यां तेन सा हता ॥४१९॥
अन्येद्युर्नन्दगोपस्य बध्वा कट्यामुलूखलम् । अगच्छज्जलमानेतुमन्वगच्छाथाप्यसौ ॥४२०॥
परिपीडयितुं बालं तदा ककुभपादपौ । भूत्वा स्थितौ सुरीभेदौ स मूलादुदपाटयत् ॥४२१॥
तच्चंक्रमणवेलायां तालस्याकृतिमास्थिता[2] । एका फलानि तन्मूर्ध्नि प्रपातयितुमुद्यता ॥४२२॥
रासभीरूपमापाद्य तं दष्टुमपरागता । चरणे रासभीं विष्णुर्गृहीत्वाहन्स तं द्रुमम् ॥४२३॥
अन्येद्युर्देवताप्यापि विकृत्य तुरगाकृतिम् । तं हन्तुं प्रस्थिता तस्य सोऽदलद्वदनं रुषा ॥४२४॥
आहन्तुमसमर्थाः स्म इत्युक्त्वा सप्तदेवताः । कंसाभ्याशं समागत्य विलीना इव विद्युतः ॥४२५॥
मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
[3]न्यक्षो देवतास्त्रेषु निःसाराः पुण्यकर्मणे । आयुधानामिवेन्द्राख्ये परस्मिन्दृष्टकर्मणाम् ॥४२६॥
अरिष्टाख्यसुरोऽन्येद्युर्वीक्षितुं तत्पराक्रमम् । आयात्कृष्णं कृपाकारस्तद्ग्रीवाभञ्जनोद्यतम्[3] ॥४२७॥

बात सुनकर राजा कंस चिन्तामें पड़ गया। उसी समय उसके पूर्व भवमें सिद्ध हुए सात व्यन्तर देवता आकर कहने लगे कि हमलोगोंको क्या कार्य सौंपा जाता है ॥ ४१४ ॥ कंसने कहा कि 'कहीं हमारा शत्रु उत्पन्न हुआ है उस पापीको तुम लोग खोज कर मार डालो'। ऐसा कहकर उसने उन सातों देवताओंको भेज दिया और वे देवता भी 'तथास्तु' कहकर चल पड़े ॥४१५॥ उन देवताओं मेंसे पूतना नामकी देवताने अपने विभङ्गावधि ज्ञानसे कृष्णको जान लिया और उसकी माताका रूप रखकर मारनेके लिए उसके पास गई ॥ ४१६ ॥ वह पूतना अत्यन्त दुष्ट थी और विष भरे स्तनका दूध पिलाकर कृष्णको मारना चाहती थी। इधर पूतना कृष्णके मारनेका विचार कर रही थी उधर कोई दूसरी देवी जो बालक कृष्णकी रक्षा करनेमें सदा तत्पर रहती थी पूतनाकी दुष्टताको समझ गई। पूतना जिस समय कृष्णको दूध पिलानेके लिए तैयार हुई उसी समय उस दूसरी देवीने पूतनाके स्तनोंमें बहुत भारी पीड़ा उत्पन्न कर दी। पूतना उस पीड़ाको सहनेमें असमर्थ हो गई और चिल्ला कर भाग गई ॥ ४१७-४१८ ॥ तदनन्तर किसी दिन कोई देवी, गाड़ीका रूप रखकर बालक श्रीकृष्णके ऊपर दौड़ती हुई आई, उसे श्रीकृष्णने दोनों पैरोंसे तोड़ डाला ॥ ४१९ ॥ किसी एक दिन नन्दगोपकी स्त्री बालक श्रीकृष्णको एक बड़ी उलूखलसे बाँध कर पानी लेनेके लिए गई थी परन्तु श्रीकृष्ण उस उलूखलको अपनी कमरसे घटीसता हुआ उसके पीछे चला गया ॥ ४२० ॥ उसी समय दो देवियाँ अर्जुन वृक्षका रूप रखकर बालक श्रीकृष्णको पीड़ा पहुंचानेके लिए उनके पास आईं परन्तु उसने उन दोनों वृक्षोंको जड़से उखाड़ डाला ॥ ४२१ ॥ किसी दिन कोई एक देवी ताड़का वृक्ष बन गई। बालक श्रीकृष्ण चलते-चलते जब उसके नीचे पहुंचा तो दूसरी देवी उसके मस्तक पर फल गिरानेकी तैयारी करने लगी और कोई एक देवी गधीका रूप रखकर उसे काटनेके लिए उद्यत हुई। श्रीकृष्णने उस गधीके पैर पकड़ कर उसे ताड़ वृक्षसे दे मारा जिससे वे तीनों ही देवियाँ नष्ट हो गईं ॥ ४२२-४२३ ॥ किसी दूसरे दिन कोई देवी घोड़ेका रूप बनाकर कृष्णको मारनेके लिए चली परन्तु कृष्णने क्रोधवश उसका मुँह ही तोड़ दिया। इस प्रकार सातों देवियाँ कंसके समीप जाकर बोलीं कि 'हमलोग आपके शत्रुको मारनेमें असमर्थ हैं' इतना कहकर वे बिजली के समान विलीन हो गईं ॥४२४-४२५॥ अन्य लोगों पर अपना कार्य दिखानेवाले शस्त्र जिस प्रकार इन्द्रके वज्रायुध पर निःसार हो जाते हैं उसी प्रकार अन्यत्र अपना काम दिखानेवाली देवोंकी शक्तियाँ भी पुण्यात्मा पुरुषके विषयमें निःसार हो जाती हैं ॥ ४२६ ॥ किसी एक दिन अरिष्ट नामका असुर श्रीकृष्णका बल देखनेके लिए काले बैलका रूप रखकर आया परन्तु श्रीकृष्ण उसकी

---

१ आगमत ल० । २-मागता ल० । ३ भञ्जनोद्यतः ख०, ग०, घ० ।

तस्य माताभितर्ज्यैनं विरमाफलचेष्टितात् । पुत्रैवमादिनः क्लेशान्तरसम्पादकादिति ॥४२८॥
भूयो निवारयामास तथाप्येतन्मदोद्धुरः । सोऽन्वतिष्ठन्निवार्यन्ते नापदाने महौजसः ॥४२९॥
श्रुत्वा तत्पौरुषं ख्यातं जनजल्पैः समुत्सुकौ । गोमुखीनामधेयोपवासव्याजमुपागतौ ॥४३०॥
देवकी वसुदेवश्च विभूत्या सह सीरिणा । व्रजं गोधावनं यातौ परिवारपरिष्कृतौ ॥४३१॥
तत्र कृष्णं समालम्ब्य स्थितवन्तं महाबलम् । दर्पिणो वृषभेन्द्रस्य ग्रीवां भङ्क्त्वा तदैव तौ ॥४३२॥
विलोक्य गन्धमाल्यादिमाननानन्तरं पुनः । प्रीत्या भूषयतः स्मातः कुर्वत्या द्राक् प्रदक्षिणम् ॥४३३॥
देवक्याः स्तनयोः शातकुम्भकुम्भाभयोः पयः । निर्गलन्न्यपतन्मूर्ध्नि कृष्णस्येवाभिषेचनम् ॥४३४॥
सीरपाणिस्तदन्वीक्ष्य मन्त्रभेदभयाद् द्रुतम्[1] । उपवासपरिश्रान्ता मूर्छितेति वदन्सुधीः ॥४३५॥
कुम्भपूर्णपयोभिस्तामभ्यषिञ्चत्समन्ततः । ततो व्रजाधिपादीनामपि तद्योग्यपूजनम् ॥४३६॥
कृत्वा कृष्णं च गोपालकुमारैर्जातसम्मदौ । भोजयित्वा स्वयं चात्र भुक्त्वा पुरमविक्षताम् ॥४३७॥
स कदाचिन्महावर्षापाते गोवर्धनाह्वयम् । हरिः पर्वतमुद्धृत्य चकारावरणं गवाम् ॥४३८॥
तेन ज्योत्स्नेव तत्कीर्तिर्व्याप्नोति स्माखिलं जगत् । अरातिवदनाम्भोजराजिसङ्कोचकारिणी ॥४३९॥
तत्पुरस्थापनाहेतुभूतजैनालयान्तिके । शक्रदिग्देवतागारे हरेः पुण्यातिरेकतः ॥४४०॥
सर्पशय्या धनुः शङ्खो रत्नत्रितयमुद्बभौ । देवतारक्षितं लक्ष्मीं भाविनीमस्य सूचयत् ॥४४१॥
सभयस्तानि दृष्ट्वाख्यद्वरुणं मधुरापतिः । प्रादुर्भवनमेतेषां किं फलं कथयेति तम् ॥४४२॥
राजन्नेतानि शास्त्रोक्तविधिना साधयेत्स यः । राज्यं चक्रेण संरक्ष्यमाप्स्यतीत्यभ्यधादसौ ॥४४३॥

गर्दन ही तोड़नेके लिए तैयार हो गया तब माताने उसे ललकार कर और हे पुत्र! दूसरे प्राणियोंको क्लेश पहुँचानेवाली इन व्यर्थकी चेष्टाओंसे दूर रह' इत्यादि कहकर उसे रोका ॥ ४२७-४२८ ॥ यद्यपि माता यशोदा उसे इन कार्योंसे बार-बार रोकती थी पर तो भी मदसे उद्धत हुआ बालक कृष्ण इन कार्योंको करने लगता था सो ठीक ही है क्योंकि महाप्रतापी पुरुष साहसके कार्यमें रोके नहीं जा सकते ॥ ४२९ ॥ देवकी और वसुदेवने लोगोंके कहनेसे श्रीकृष्णके पराक्रमकी बात सुनी तो वे उसे देखनेके लिए उत्सुक हो उठे । निदान एक दिन वे गोमुखी नामक उपवासके बहाने बलभद्र तथा अन्य परिवारके लोगोंके साथ वैभव प्रदर्शन करते हुए व्रजके गोधा वनमें गये ॥ ४३०-४३१ ॥ जब ये सब वहाँ पहुँचे थे तब महाबलवान् कृष्ण किसी अभिमानी बैलकी गर्दन झुकाकर उससे लटक रहे थे । देवकी तथा बलदेवने उसी समय कृष्णको देखकर गन्ध माला आदिसे उसका सन्मान किया और स्नेहसे आभूषण पहिनाये । देवकीने उसकी प्रदक्षिणा दी । प्रदक्षिणाके समय देवकीके सुवर्ण कलशके समान दोनों स्तनोंसे दूध झरकर कृष्णके मस्तक पर इस प्रकार पड़ने लगा मानो उसका अभिषेक ही कर रही हो । बुद्धिमान् बलदेवने जब यह देखा तब उन्होंने मन्त्रभेदके भयसे शीघ्र ही 'यह उपवाससे थककर मूर्च्छित हो रही है' यह कहते हुए दूधसे भरे कलशोंसे उसका खूब अभिषेक कर दिया । तदनन्तर देवकी तथा वसुदेव आदिने व्रजके अन्य अन्य प्रधान लोगोंका भी उनके योग्य पूजा-सत्कार किया, हर्षित होकर गोपाल बालकोंके साथ श्रीकृष्णको भोजन कराया, स्वयं भी भोजन किया और तदनन्तर लौटकर मथुरापुरीमें वापिस आ गये ॥ ४३२-४३७ ॥ किसी एक दिन व्रजमें बहुत वर्षा हुई तब श्रीकृष्णने गोवर्धन नामका पर्वत उठाकर उसके नीचे गायोंकी रक्षा की थी ॥ ४३८ ॥ इस कामसे चाँदनीके समान उनकी कीर्ति समस्त संसारमें फैल गई और वह शत्रुओंके मुखरूपी कमलसमूहको सङ्कुचित करने लगी ॥ ४३९ ॥ तदनन्तर जो जैन-मन्दिर मथुरापुरीकी स्थापनाका कारण भूत था उसके समीप ही पूर्व दिशाके दिक्पालके मन्दिरमें श्रीकृष्ण के पुण्यकी अधिकतासे नागशय्या, धनुष और शङ्ख ये तीन रत्न उत्पन्न हुए। देवता उनकी रक्षा करते थे और वे श्रीकृष्णकी होनहार लक्ष्मीको सूचित करते थे ॥ ४४०-४४१ ॥ मथुराका राजा कंस उन्हें देखकर डर गया और वरुण नामक निमित्तज्ञानीसे पूछने लगा कि इनकी उत्पत्तिका फल क्या है ? सो कहो ॥ ४४२ ॥ वरुणने कहा कि हे राजन् ! जो मनुष्य शास्त्रोक्त विधिसे इन्हें सिद्ध

---

१ भयान्वितम् ल० ।

कंसस्तद्वचनं श्रुत्वा संसिसाधयिषुः स्वयम्। तान्यशक्तोऽमनाक्खिन्नो विरतः साधनोद्यमात् ॥४४४॥
अधिरुह्याहिजां शय्यां शङ्खमेककरेण यः। पूरयत्यपि यश्चापं चारोपयति हेलया ॥४४५॥
परेण तस्मै भूभर्ता स्वसुतां दास्यतीति तम्। परिज्ञातुं स साशङ्को घोषणां पुर्यकारयत् ॥४४६॥
तद्वार्ताश्रवणाद्विश्वमहीशाः सहसागमन्। तथा राजगृहात्कंसमैथुनो भानुसन्निभः[1] ॥४४७॥
सुभानुर्भानुनामानं स्वसूनुं सर्वसम्पदा। समादाय समागच्छन्निवेष्टुमभिलाषवान् ॥४४८॥
गोधावनमहानागनिवाससरसस्तटे। विना कृष्णेन वार्यस्मदानेतुं सरसः परैः ॥४४९॥
अशक्यमिति गोपालकुमारोक्त्या महीपतिः। तमाहूय बलं तत्र यथास्थानं न्यवीविशत् ॥४५०॥
क्व गम्यते त्वया राजन्निति कृष्णेन भाषितः। स्वर्भानुर्मधुरायानप्रयोजनमबूबुधत् ॥४५१॥
श्रुत्वैतत्कर्म किं कर्तुं स्यात्तदस्मद्विधैरपि। इति कृष्णपरिप्रश्ने वीक्ष्य पुण्याधिकः शिशुः ॥४५२॥
न केवलोऽयमित्येहि शक्तश्चेत्तस्य कर्मणः। इत्यादाय स्वपुत्रं वा स्वर्भानुस्तं पुरीमगात् ॥४५३॥
कंसं यथार्हमालोक्य तत्कर्मघटकान्बहून्। भग्नमानांश्च संवीक्ष्य कृत्वा भानुं समीपगम् ॥४५४॥
युगपत्त्रितयं कर्म समासिमनयद्धरिः। ततः स्वर्भानुनादिष्टो दिष्ट्या कृष्णोऽगमद् व्रजम् ॥४५५॥
तत्कृतं भानुनैवेति कैश्चित्कंसो निबोधितः। कैश्चिन्न भानुनान्येन कुमारेणेति रक्षकैः ॥४५६॥
तच्छ्रुत्वान्विष्यतां सोऽन्यस्तस्मै कन्या प्रदीयते। स कस्य किं कुलं कस्मिन्निति राजाऽब्रवीदिदम् ४५७
अवधार्यं स्वपुत्रेण सम्यक्कर्मसमर्थितम्। गोमण्डलेन भीत्वामा नन्दगोपः पलायत ॥४५८॥

कर लेगा वह चक्ररत्नसे सुरक्षित राज्य प्राप्त करेगा ॥ ४४३ ॥ कंसने वरुणके वचन सुनकर उन तीनों रत्नोंको स्वयं सिद्ध करनेका प्रयत्न किया परन्तु वह असमर्थ रहा और बहुत भारी खिन्न होकर उनके सिद्ध करनेके प्रयत्नसे विरत हो गया—पीछे हट गया ॥ ४४४ ॥ ऐसा कौन बलवान् है जो इस कार्यको सिद्ध कर सकेगा इसकी जाँच करनेके लिए भयभीत कंसने नगरमें यह घोषणा करा दी कि जो भी नागशय्या पर चढ़कर एक हाथसे शङ्ख बजावेगा और दूसरे हाथसे धनुषको अनायास ही चढ़ा देगा उसे राजा अपनी पुत्री देगा ॥ ४४५-४४६ ॥ यह घोषणा सुनते ही अनेक राजा लोग मथुरापुरी आने लगे। राजगृहसे कंसका साला स्वर्भानु जो कि सूर्यके समान तेजस्वी था अपने भानु नामके पुत्रको साथ लेकर बड़े वैभवसे आ रहा था। वह मार्गमें गोधावनके उस सरोवरके किनारे जिसमें कि बड़े-बड़े सर्पोंका निवास था ठहरना चाहता था परन्तु जब उसे गोपाल बालकोंके कहनेसे मालूम हुआ कि इस सरोवरसे कृष्णके सिवाय किन्हीं अन्य लोगोंसे द्वारा पानी लिया जाना शक्य नहीं है तब उसने कृष्णको बुलाकर अपने पास रख लिया और सेनाको यथास्थान ठहरा दिया ॥ ४४७-४५० ॥ अवसर पाकर कृष्णने राजा स्वर्भानुसे पूछा कि हे राजन्! आप कहाँ जा रहे हैं? तब उसने मथुरा जानेका सब प्रयोजन कृष्णको बतला दिया। यह सुनकर कृष्णने फिर पूछा—क्या यह कार्य हमारे जैसे लोग भी कर सकते हैं? कृष्णका प्रश्न सुनकर स्वर्भानुने सोचा कि यह केवल बालक ही नहीं है इसका पुण्य भी अधिक मालूम होता है। ऐसा विचार कर उसने कृष्णको उत्तर दिया कि यदि तू यह कार्य करनेमें समर्थ है तो हमारे साथ चल। इतना कह कर स्वर्भानुने कृष्णको अपने पुत्रके समान साथ ले लिया। मथुरा जाकर उन्होंने कंसके यथायोग्य दर्शन किये और तदनन्तर उन समस्त लोगोंको भी देखा कि नागशय्या आदिको वश करनेका प्रयत्न कर रहे थे परन्तु सफलता नहीं मिलनेसे जिनका मान भङ्ग हो गया था। श्रीकृष्णने भानुको अपने समीप ही खड़ा कर उक्त तीनों कार्य समाप्त कर दिये और उसके बाद स्वर्भानुका संकेत पाकर शीघ्र ही वह कुशलता पूर्वक व्रजमें वापिस आ गया ॥ ४५१-४५५ ॥ 'यह कार्य भानुने ही किया है' ऐसा कुछ पहरेदारोंने कंसको बतलाया और कुछने यह बतलाया कि यह कार्य भानुने नहीं किन्तु किसी दूसरे कुमारने किया है ॥ ४५६ ॥ यह सुन कर राजा कंसने कहा कि यदि ऐसा है तो उस अन्य कुमारकी खोज की जावे, वह किसका लड़का है? उसका क्या कुल है? और कहाँ रहता है? उसके लिए कन्या दी जावेगी ॥ ४५७ ॥ इधर नन्दगोपको जब अच्छी तरह निश्चय हो गया कि

---

१ सन्निभम् ल० । २ किंकुलः ग० ।

शैलस्तम्भं समुद्धर्तुं तत्र सर्वेऽन्यदा गताः । नाशक्नुवन् समेत्यैते कृष्णेनैव समुद्धृतः ॥४५९॥
प्रहृष्य साहसात्तस्माद्विस्मिता जनसंहतिः । परार्घ्यवस्त्रभूषादिदानेन तमपूजयत् ॥४६०॥
पितामुष्य प्रभावेण कुतश्चिदपि मे भयम् । नेति प्राक्तनमेवासौ स्थानं व्रजमवापयत् ॥४६१॥
नन्दगोपस्य पुत्रोऽसौ यस्तत्त्रितयकर्मकृत् । इत्यन्वेष्टुं गतैः सम्यक् ज्ञापितेनाप्यनिश्चितेः[1] ॥४६२॥
सहस्रपत्रमम्भोजमन्यदाऽहीन्द्ररक्षितम् । प्रहीयतामिति प्रोक्तो राज्ञा जिज्ञासया रिपुम् ॥४६३॥
श्रुत्वा तद्गोपतिः शोकादाकुलः किल भूभुजः । प्रजानां रक्षितारस्ते कष्टमद्य हि मारकाः ॥ ४६४ ॥
इति निर्विद्य याह्यङ्ग राजादिष्टिर्ममेदृशी । त्वयैवाम्बुरुहाण्युग्रसर्परक्ष्याणि भूभुजः ॥ ४६५ ॥
नेयानीत्यब्रवीत्कृष्णं[2] सोऽपि किं वात्र दुष्करम् । नेष्यामीति महानागसरः क्षिप्रतरं ययौ ॥ ४६६ ॥
अविशच्चापि निःशङ्कं [3]तद्ज्ञात्वा कोपदीपितः । स्वनिःश्वाससमुद्भूतज्वलज्ज्वालाकणान् किरन् ॥४६७ ॥
चूडामणिप्रभाभासिस्फुटाटोपभयङ्करः । चलज्जिह्वाद्वयः स्फूर्जद्वीक्षणात्युग्रवीक्षणः ॥ ४६८ ॥
प्रत्युत्थाय यमाकारो निर्गलीतुं तमुद्यतः । सोऽपि मद्वसनस्यैषा [4]स्फटा शुद्धशिलास्त्विति ॥ ४६९ ॥
पीताम्बरं समुद्धृत्य जलार्द्रं मधुसूदनः । [5]स्फटामास्फालयामास पक्षकेनैव पक्षिराट् ॥ ४७० ॥
वज्रपातायितात्तस्माद्वस्त्रापाताद्विभीतवान् । पूर्वपुण्योदयाच्चास्य फणीन्द्रोऽदृश्यतामगात् ॥ ४७१ ॥
हरिर्यथेष्टमब्जानि समादाय निजद्विषः । समीपं प्रापयत्पानि दृष्ट्वारिं [6]दृष्टवानिव ॥ ४७२ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यह कार्य हमारे ही पुत्रके द्वारा हुआ है तब वह डर कर अपनी गायोंके साथ कहीं भाग गया ॥ ४५८ ॥ किसी एक दिन वहाँ पत्थरका खंभा उखाड़नेके लिए बहुतसे लोग गये परन्तु सब मिल कर भी उस खंभाको नहीं उखाड़ सके और श्रीकृष्णने अकेले ही उखाड़ दिया ॥ ४५९ ॥ लोग इस कार्यसे बहुत प्रसन्न हुए और श्रीकृष्णके इस साहससे आश्चर्यमें पड़ गये । अनन्तर सब लोगोंने श्रेष्ठ वस्त्र तथा आभूषण आदि देकर उनकी पूजा की ॥ ४६० ॥ यह देख नन्दगोपने विचार किया कि मुझे इस पुत्रके प्रभावसे किसीसे भय नहीं हो सकता । ऐसा विचार कर वह अपने पहलेके ही स्थान पर व्रजमें वापिस आ गया ॥ ४६१ ॥ खोज करनेके लिए गये हुए लोगोंने यद्यपि कंसको यह अच्छी तरह बतला दिया था कि जिसने उक्त तीन कार्य किये थे वह नन्दगोपका पुत्र है तथापि उसे निश्चय नहीं हो सका इसलिए उसने शत्रुकी जाँच करनेकी इच्छासे दूसरे दिन नन्दगोपके पास यह खबर भेजी थी कि नाग राजा जिसकी रक्षा करते हैं वह सहस्रदल कमल भेजो । राजाकी आज्ञा सुनकर नन्दगोप शोकसे आकुल होकर कहने लगा कि राजा लोग प्रजाकी रक्षा करनेवाले होते हैं परन्तु खेद है कि वे अब मारनेवाले हो गये ॥ ४६२-४६४ ॥ इस तरह खिन्न होकर उसने कृष्णसे कहा कि हे प्रिय पुत्र ! मेरे लिए राजाकी ऐसी आज्ञा है अतः जा, भयंकर सर्प जिनकी रक्षा करते हैं ऐसे कमल राजाके लिए तू ही ला सकता है । पिता की बात सुनकर कृष्णने कहा कि 'इसमें कठिन क्या है ? मैं ले आऊँगा' ऐसा कह कर वह शीघ्र ही महासर्पोंसे युक्त सरोवरकी ओर चल पड़ा ॥ ४६५-६६६ ॥ और बिना किसी शङ्काके उस सरोवरमें घुस गया । यह जान कर यमराजके समान आकारवाला नागराज उठ कर उसे निगलनेके लिए तैयार हो गया । उस समय वह नागराज क्रोधसे दीपित हो रहा था, अपनी श्वासोंसे उत्पन्न हुई देदीप्यमान अग्निकी ज्वालाओंके कण बिखेर रहा था, चूड़ामणिकी प्रभासे देदीप्यमान फणाके आटोपसे भयङ्कर था, उसकी दोनों जिह्वाएँ लप-लप कर रही थीं और चमकीले नेत्रोंसे उसका देखना बड़ा भयंकर जान पड़ता था, श्रीकृष्णने भी विचार किया कि इसकी यह फणा हमारा वस्त्र धोनेके लिए शुद्ध शिला रूप हो । ऐसा विचार कर वे जलसे भीगा हुआ अपना पीताम्बर उसकी फणा पर इस प्रकार पछाड़ने लगे कि जिस प्रकार गरुड़ पक्षी अपना पंख पछाड़ता है । वज्रपातके समान भारी दुःख देनेवाली उनके वस्त्रकी पछाड़से वह नागराज भयभीत हो गया और उनके पूर्व पुण्यके उदयसे अदृश्य हो गया ॥ ४६७-४७१ ॥ तदनन्तर

१ निश्चितैः ख० । २ कृष्णः ख० । ३ तं ज्ञात्वा ख०, ग० । ४ स्फुटा ख० । ५ स्फुट-ख० । ६ दृष्टिवानिव ख० (?) ।

नन्दगोपसमीपेऽस्यान्मच्छत्रुरिति निश्चयात् । कदाचिन्नन्दगोपालं मल्लयुद्धं निरीक्षितुम् ॥ ४७३ ॥
निजमल्लैः सहागच्छेदिति सन्दिशति स्म सः । सोऽपि कृष्णादिभिर्मल्लैः सह प्राविक्षदक्षयम् ॥ ४७४ ॥
कञ्चिन्मदगजं वीतबन्धनं यमसन्निभम् । मदगन्धसमाकृष्टरुवद्भ्रमरसेवितम् ॥ ४७५ ॥
[1]विनयच्युतभूपालकुमारं वा निरङ्कुशम् । रदनाघातनिर्भिन्नसुधाभवनभित्तिकम् ॥ ४७६ ॥
आधावन्तं विलोक्यासौ प्रतीत्योत्पाद्य [2]भीषणम् । रदमेकं कुमारस्तं तेनैव समताडयत् ॥ ४७७ ॥
सोऽपि भीतो गतो दूरं ततस्तुष्टा हरिर्भृशम् । जयोऽनेन निमित्तेन [3]स्फुटं वः प्रकटीकृतः ॥ ४७८ ॥
इति गोपान् समुत्साह्य प्राविशत्कंससंसदम् । वसुदेवमहीपोऽपि[4] कंसाभिप्रायवित्तदा ॥ ४७९ ॥
स्वसैन्यं समुपायेन सन्नाह्यैकत्र तस्थिवान् । सीरपाणिः समुत्थाय कृतदोःस्फालनध्वनिः ॥ ४८० ॥
कृष्णेन सह रङ्गं वा समन्तात्स परिभ्रमन् । कंसं नाशयितुं कालस्तवेत्याख्याय निर्गतः ॥ ४८१ ॥
तदा कंसाज्ञया विष्णुविधेया गोपसूनवः । दर्पिणो भुजमास्फाल्य धृतमल्लपरिच्छदाः ॥ ४८२ ॥
श्रवणाह्लादिवादित्रचटुलध्वनिसङ्गताः । [5]क्रमोत्क्षेपविनिक्षेपाः प्रोन्नतासद्वयोद्धुराः ॥ ४८३ ॥
पर्यायनर्तितप्रेक्ष्यभ्रूभङ्गा भीषणारवाः । निवर्तनैः [6]समावर्तनैः सम्भ्रमणवल्गनैः ॥ ४८४ ॥
ध्रुवनैः समवस्थानैरन्यैश्च करणैः स्फुटैः[7] । रङ्गाभ्यर्णमलंकृत्य तस्थुर्नेत्रमनोहराः ॥ ४८५ ॥

श्रीकृष्णने इच्छानुसार कमल तोड़ कर शत्रुके पास पहुँचा दिये उन्हें देखकर शत्रुने ऐसा समझा मानों मैंने शत्रुको ही देख लिया हो॥४७२॥ इस घटनासे राजा कंसको निश्चय होगया कि हमारा शत्रु नन्द गोपके पास ही रहता है। एक दिन उसने नन्द गोपालको संदेश भेजा कि तुम अपने मल्लोंके साथ मल्लयुद्ध देखनेके लिए आओ। संदेश सुनकर नन्द गोप भी श्रीकृष्ण आदि मल्लोंके साथ मथुरामें प्रविष्ट हुए॥४७३-४७४॥ नगरमें घुसते ही श्रीकृष्णकी ओर एक मत्त हाथी दौड़ा। उस हाथीने अपना बन्धन तोड़ दिया था, वह यमराजके समान जान पड़ता था, मदकी गन्धसे खिंचे हुए अनेक भौंरे उसके गण्डस्थल पर लग कर शब्द कर रहे थे, वह विनय रहित किसी राजकुमारके समान निरङ्कुश था, और अपने दाँतोंके आघातसे उसने बड़े-बड़े पक्के मकानोंकी दीवारें गिरा दी थीं। उस भयंकर हाथीको सामने दौड़ता आता देख श्रीकृष्णने निर्भय होकर उसका एक दाँत उखाड़ लिया और दाँतसे ही उसे खूब पीटा। अन्तमें वह हाथी भयभीत होकर दूर भाग गया। तदनन्तर 'इस निमित्तसे आप लोगोंकी जीत स्पष्ट ही होगी' संतुष्ट होकर यह कहते हुए श्रीकृष्णने साथके गोपालोंको पहले तो खूब उत्साहित किया और फिर कंसकी सभामें प्रवेश किया। कंसका अभिप्राय जाननेवाले राजा वसुदेव भी उस समय किसी उपायसे अपनी सेनाको तैयार किये हुए वहीं एक स्थान पर बैठे थे। बलदेवने उठकर अपनी भुजाओंके आस्फालनसे ताल ठोक कर शब्द किया और कृष्णके साथ रङ्गभूमिके चारों ओर चक्कर लगाया। उसी समय उन्होंने श्री कृष्णसे कह दिया कि 'यह तुम्हारा कंसको मारनेका समय है' इतना कह वे रङ्गभूमिसे बाहर निकल गये॥ ४७५-४८१॥ इसके बाद कंसकी आज्ञासे कृष्णके सेवक, अहंकारी तथा मल्लोंका वेष धारण करनेवाले अनेक गोपाल बालक अपनी भुजाओंको ठोकते हुए रङ्गभूमिमें उतरे। उस समय कानोंको आनन्दित करनेवाले बाजोंकी चञ्चल ध्वनि हो रही थी और उसीके अनुसार वे सब अपने पैर रखते उठाते थे, ऊँचे उठे हुए अपने दोनों कन्धोंसे वे कुछ गर्विष्ठ हो रहे थे, कभी दाहिनी भ्रुकुटि चलाते थे तो कभी बाईं। बीच-बीचमें भयंकर गर्जना कर उठते थे, वे कभी आगे जाकर पीछे लौट जाते थे, कभी आगे चक्कर लगाते थे, कभी थिरकते हुए चलते थे, कभी उछल पड़ते थे और कभी एक ही स्थान पर निश्चल खड़े रह जाते थे। इस तरह साफ-साफ दिखनेवाले अनेक पैंतरोंसे नेत्रोंको अच्छे लगनेवाले वे मल्ल रङ्गभूमिको अलंकृत कर खड़े थे। उनके साथ ही रङ्गभूमिको घेर कर चाणूर आदि कंसके प्रमुख मल्ल भी खड़े हुए थे। कंसके वे मल्ल

---

१ नियम-ल०। २ भीषणः ल०। ३ कुटुम्बप्रकटीकृतः ल०। ४ महीशोऽपि ल०। ५ क्रमक्षेप-ग०। ६ शतावर्तनैः ल०। ७ स्फुटम् ख०।

[1]प्रादृक्षाः कंसमल्लाश्च चाणूरप्रमुखास्तथा । रङ्गाभ्याशं समाक्रम्य विक्रमैकरसाः स्थिताः ॥ ४८६ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

मध्येरङ्गमुदात्तचित्तविसरो वीरोरुमल्लाग्रणीः
प्रागेव प्रतिमल्लयुद्धविजयं प्राप्येव दीप्रद्युतिः ।
भास्वन्तञ्च दिवोऽवतीर्णमधुना योद्धुं गतं मल्लताम्
जेष्यामीति विवृद्धविक्रमरसः सम्भावयन्स स्वयम् ॥ ४८७ ॥

मालिनी

घनघृतपरिधानो बद्धकेशो विकूर्चः
सहजमसृणगात्रश्चित्तवृत्तिप्रवीणः ।
सततकृतनियोगाद्गोपमल्लैरमल्लै-
रविकलजयलम्भः सर्वसम्भावितौजाः ॥ ४८८ ॥
स्थिरचरणविवेशो वज्रसारास्थिबन्धो
भुजपरिघविधार्यो मुष्टिसंमाय्यमध्यः ।
कठिनपृथुलवक्षाः स्थूलनीलाद्रितुङ्ग-
स्त्रिगुणितनिजमूर्तिर्दर्पसर्पादुरीक्ष्यः ॥ ४८९ ॥
ज्वलितचलितनेत्रो निष्ठुराबद्धमुष्टिः
परिणतकरणौघो मंक्षु सञ्चारदक्षः ।
भृशमशनिरिवोग्रो नन्दसूनुः स्थितः सन्
भयमवहदसह्यं प्रेतनाथस्य चोच्चैः ॥ ४९० ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वसन्ततिलका

रूपीव शौर्यमखिलं मिलितं बलं वा
रंहः समस्तमपि संहतिमीयिवद्वा ।

अहंकारसे भरे हुए थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो वीर रसके अवतार ही हों ॥ ४८२-४८६ ॥ उस समय रङ्गभूमिमें खड़े हुए कृष्ण बहुत भले जान पड़ते थे, उनके चित्तका विस्तार अत्यन्त उदार था, वे बड़े-बड़े वीर पहलवानोंमें अग्रेसर थे, उनकी कान्ति ऐसी दमक रही थी मानो उन्होंने पहले ही प्रतिमल्लके युद्धमें विजय प्राप्त कर ली हो, उनका पराक्रम रूपी रस उत्तरोत्तर बढ़ रहा था और उन्हें ऐसा उत्साह था कि यदि इस समय मल्लका रूप धर कर सूर्य भी आकाशसे नीचे उतर आवे तो उसे भी जीत लूँगा ॥ ४८७ ॥ उस समय उनके वस्त्र बहुत कड़े बँधे थे, बाल बँधे थे, डाढ़ी मूँछ थी ही नहीं, शरीर स्वभावसे ही चिकना था, वे गोप मल्लोंके साथ अमल्लोंकी तरह सदा युद्धका अभ्यास करते और पूर्ण विजय प्राप्त करते थे, और उनके पराक्रमकी सब सराहना करते थे ॥ ४८८ ॥ उनके चरणोंका रखना स्थिर होता था, उनकी हड्डियोंका गठन वज्रके सारके समान सुदृढ़ था, उनकी भुजाएँ अर्गलके समान लम्बी तथा मजबूत थीं, उनकी कमर मुट्ठीमें समानेके योग्य थी, वक्षःस्थल अत्यन्त कठोर तथा चौड़ा था, वे बड़े भारी नीलगिरिके समान थे, उनका शरीर सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंकी मानो मूर्ति था और गर्वके संचारसे कोई उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकता था ॥ ४८९ ॥ उनके चमकीले नेत्र चञ्चल हो रहे थे, वे बड़ी मजबूत मुट्ठी बाँधे थे, उनकी इन्द्रियोंका समूह पूर्ण परिपक्व था, वे शीघ्र गमन करनेमें दक्ष थे, और वज्रके समान अत्यन्त उग्र थे, इस प्रकार युद्ध-भूमिमें खड़े हुए नन्द गोपके पुत्र श्रीकृष्ण यमराजके लिए भी असहनीय भारी भय उत्पन्न कर रहे थे ॥ ४९० ॥ वे श्रीकृष्ण ऐसे जान पड़ते थे मानो समस्त शूरवीरता ही रूप धरकर आ गई

---

१ प्रावृताः ।

सिंहाकृतिः स सहसा कृतसिंहनादो
रङ्गादलङ्घत नभोऽङ्गणमङ्गणं वा ॥ ४९१ ॥
आपत्य खादशनिवद्भुवमात्मपाद-
पाताभिघातचलिताचलसन्धिबन्धः ।
वल्गान्मुहुः परिसरत्प्रविजृम्भमाणः
सिन्दूररञ्जितभुजौ चलयन्नुदग्रौ ॥ ४९२ ॥
क्रुद्धः कटीद्वितयपार्श्वविलम्बिपीत-
वस्त्रो नियुद्धकुशलं प्रतिमल्लमुग्रम् ।
चाणूरमद्रिशिखरोन्नतमापतन्त-
[1]मासाद्य सिंहवदिभं सहसा बभासे ॥ ४९३ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शार्दूलविक्रीडितम्

दृष्ट्वैनं रुधिरोद्गमोग्रनयनो योद्धुं स्वयं मल्लतां
सम्प्राप्यापतदुग्रसेनतनयो जन्मान्तरद्वेषतः ।
तं व्योम्नि भ्रमयन्करेण चरणे संगृह्य बाल्पाण्डजं
भूमौ नेतुमुपान्तमन्तकविभोः कृष्णः समास्फालयत् ॥ ४९४ ॥
आपेतुर्नभसस्तदा सुमनसो देवानकैर्ध्वने
स्वारावो वसुदेवसैन्यजलधौ प्रक्षोभणादुद्गतः ।
सीरी वीरवरो विरुद्धनृपतीनाक्रम्य रङ्गे स्थितः
स्वीकृत्याप्रतिमल्लमाप्तविजयं शौर्योर्जितं स्वानुजम् ॥ ४९५ ॥
अतुलबलमलङ्घ्यारातिमत्तेभघाता-
[2]कुपितहरिसमानं माननीयापदानम् ।
सपदि समुपयाता वन्दिभिर्वन्द्यमानं
जनितसकलरागं तं हरिं वीरलक्ष्मीः ॥ ४९६ ॥

थी, अथवा समस्त बल आकर इकट्ठा हुआ था, अथवा समस्त बल एकत्रित हो गया था, सिंह जैसी आकृतिको धारण करनेवाले उन्होंने सिंहनाद किया और रङ्गभूमिसे उछल कर आकाश रूपी आंगनको लाँघ दिया मानो घरका आंगन ही लाँघ दिया हो ॥ ४९१ ॥ फिर आकाशसे वज्रकी भाँति पृथिवी पर आये, उन्होंने अपने पैर पटकनेकी चोटसे पर्वतोंके सन्धि-बन्धनको शिथिल कर दिया, वे बराबर गर्जने लगे, इधर-उधर दौड़ने लगे और सिन्दूरसे रंगी अपनी दोनों भुजाओंको चलाने लगे ॥४९२॥ उस समय वे अत्यन्त कुपित थे, उनकी कमरके दोनों ओर पीत वस्त्र बँधा हुआ था, और जिस प्रकार सिंह हाथीको मार कर सुशोभित होता है उसी प्रकार वे बाहु-युद्धमें कुशल, अतिशय दुष्ट और पहाड़की शिखरके समान ऊँचे प्रतिद्वन्दी चाणूर मल्लको सहसा मार कर सुशोभित हो रहे थे ॥४९३॥ यह देख, खूनके निकलनेके-से जिसके नेत्र अत्यन्त भयंकर हो रहे हैं ऐसा कंस स्वयं जन्मान्तरके द्वेषके कारण मल्ल बन कर युद्धके लिए रंगभूमिमें आ कूदा, श्रीकृष्णने हाथसे उसके पैर पकड़ कर छोटेसे पक्षीकी तरह पहले तो उसे आकाशमें घुमाया और फिर यमराजके पास भेजनेके लिए जमीन पर पछाड़ दिया ॥ ४९४ ॥ उसी समय आकाशसे फूल बरसने लगे, देवोंके नगाड़ोंने जोरदार शब्द किया, वसुदेवकी सेनामें क्षोभके कारण बहुत कलकल होने लगा, और वीर शिरोमणि बलदेव, पराक्रमसे सुशोभित, विजयी तथा शत्रु रहित छोटे भाई कृष्णको आगे कर विरुद्ध राजाओं पर आक्रमण करते हुए रङ्गभूमिमें जा डटे ॥ ४९५ ॥ जिनका बल अतुल्य है, जो अलङ्घनीय शत्रु रूपी

१–माहत्य ल० । २ माननीयावदानम् ।

वसन्ततिलका

दूतीव मे श्रितवती वरवीरलक्ष्मी-
रेतस्य दक्षिणभुजं विजयैकगेहम् ।
प्राप्तं पतिं चिरतरादिति तं कटाक्षै-
रैक्षिष्ट रागतरलैर्भरतार्धलक्ष्मीः ॥ ४९७ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे नेमिस्वामिचरिते कृष्णविजयो नाम सप्ततितमं पर्व ॥ ७० ॥

—+०:❀:०+—

मत्त हाथियोंके घातसे कुपित सिंहके समान हैं, जिनका पराक्रम माननीय है, बन्दीगण जिनकी स्तुति कर रहे हैं और जिन्होंने सब लोगोंको हर्ष उत्पन्न किया है ऐसे श्रीकृष्णके समीप वीरलक्ष्मी सहसा ही पहुँच गई ॥ ४९६ ॥ मेरी दूतीके समान श्रेष्ठ वीरलक्ष्मी इनकी विजयी दाहिनी भुजाको प्राप्त कर चुकी है, इसलिए आधे भरत क्षेत्रकी लक्ष्मी भी चिरकालसे प्राप्त हुए उन श्रीकृष्ण रूपी पतिको रागके द्वारा चञ्चल कटाक्षोंसे देख रही थी ॥ ४९७ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत, त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके अन्तर्गत नेमिनाथ स्वामीके चरितमें श्रीकृष्णकी विजयका वर्णन करनेवाला सत्तरवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ ७० ॥

—+++—

एकसप्ततितमं पर्व

अथ कंसवधूमुक्तलोचनाम्भःप्रपायिनः । [1]भूभूरूहात्समुत्पन्नाः समन्तादुत्सवाङ्कुराः ॥ १ ॥
वसुदेवमहीशस्य किलैष कृतिनः सुतः । व्रजे कंसभयाद् वृद्धिं शूरः प्रच्छन्नमाप्तवान् ॥ २ ॥
वृद्धिरस्य स्वपक्षस्य वृद्धये नैव केवलम् । जगतश्च तुषारांशोरिव वृद्धिश्रिता क्रमात् ॥ ३ ॥
इत्यभिष्टूयमानस्य पौरतद्देशवासिभिः । विपाशितोग्रसेनाख्यमहीशस्य महात्मनः ॥ ४ ॥
विसर्जितवतो नन्दगोपांश्चापूज्य सद्धनैः । प्रविश्य बन्धुभिः सङ्गतस्य शौर्यपुरं हरेः ॥ ५ ॥
काले सुखेन यात्येवं देवी जीवद्यशास्ततः । दुःखिता मरणात्पत्युर्जरासन्धमुपेत्य सा ॥ ६ ॥
तत्र प्रवृत्तवृत्तान्तमशेषं तमबूबुधत् । श्रुत्वाऽसौ च रुषा पुत्रानादिशद्यादवान् प्रति ॥ ७ ॥
तेऽपि सज्जा सैन्यं रङ्गे युद्धाय सङ्गताः । भङ्गमापन्नके [2]वापुर्दैवं वैमुख्यमीयुषि ॥ ८ ॥
प्राहिणोत्स पुनः कोपात्तनूजमपराजितम् । सत्त्वैवान्वर्थनामानं तद्द्विषामन्तकोपमम् ॥ ९ ॥
शतत्रयं [3]सषट्चत्वारिंशत्सोऽपि महाबलः । चिरं विधाय युद्धानां विपुण्योऽभूत्पराङ्मुखः ॥ १० ॥
पुनः पितृनिदेशेन प्रस्थानमकृतोद्यमी । यादवानुद्धरामीति तुङ्कालयवनाभिधः ॥ ११ ॥
यादवाश्च तदायानमाकर्ण्यागामिवेदिनः । जहुः शौर्यपुरं हास्तिनाह्वयं मधुरामपि ॥ १२ ॥
मार्गे स्थितां सदा यादवेशिनां कुलदेवताम् । विविधेन्धनसंवृद्धज्वालमुत्थाप्य पावकम् ॥ १३ ॥
धृतवृद्धाकृतिं वीक्ष्य तां कालयवनो युवा । किमेतदिति पप्रच्छ साप्याह शृणु भूपते ॥ १४ ॥

अथानन्तर—कंसकी स्त्रियों द्वारा छोड़े हुए अश्रुजलका पान कर पृथ्वी रूपी वृक्षसे चारों ओर उत्सव रूपी अङ्कुर प्रकट होने लगे ॥ १ ॥ 'यह शूरवीर, पुण्यात्मा वसुदेव राजाका पुत्र है, कंसके भयसे छिप कर व्रजमें वृद्धिको प्राप्त हो रहा था, अनुक्रमसे होनेवाली वृद्धि, न केवल इनके पक्षकी ही वृद्धिके लिए है अपितु चन्द्रमाके समान समस्त संसारकी वृद्धिके लिए है' इस प्रकार नगरवासी तथा देशवासी लोग जिनकी स्तुति करते थे, जिन्होंने राजा उग्रसेनको बन्धन-मुक्त कर दिया था, जो महात्मा थे, जिन्होंने उत्तम धनके द्वारा नन्द आदि गोपालोंकी पूजा कर उन्हें विदा किया था, और जो भाई-बन्धुओंके साथ मिलकर शौर्यपुर नगरमें प्रविष्ट हुए थे ऐसे श्रीकृष्णका समय सुखसे बीत रहा था कि एक दिन कंसकी रानी जीवद्यशा पतिकी मृत्युसे दुःखी होकर जरासंधके पास गई। उसने मथुरापुरीमें जो वृत्तान्त हुआ था वह सब जरासन्धको बतला दिया ॥ २-६ ॥ उस वृत्तान्तको सुनकर जरासंधने क्रोधवश पुत्रोंको यादवोंके प्रति चढ़ाई करनेकी आज्ञा दी ॥ ७ ॥ वे पुत्र अपनी सेना सजाकर गये और युद्धके आंगनमें पराजित हो गये सो ठीक ही है क्योंकि भाग्यके प्रतिकूल होनेपर कौन पराजयको प्राप्त नहीं होते ? ॥ ८ ॥ अबकी बार जरासंधने कुपित होकर अपना अपराजित नामका पुत्र भेजा क्योंकि वह उसे सार्थक नामवाला तथा शत्रुओंके लिए यमराजके समान समझता था ॥ ९ ॥ बड़ी भारी सेना लेकर अपराजित गया और चिरकाल तक उसने तीन-सौ छयालीस बार युद्ध किया परन्तु पुण्य क्षीण हो जानेसे उसे भी पराङ्मुख होना पड़ा ॥ १० ॥ तदनन्तर 'मैं पिताकी आज्ञासे यादवोंको अवश्य जीतूँगा' ऐसा संकल्प कर उसके उद्यमी कालयवन नामक पुत्रने प्रस्थान किया ॥ ११ ॥ कालयवनकी आज्ञा सुनकर अग्रशोची यादवोंने शौर्यपुर, हस्तिनापुर और मथुरा तीनों ही स्थान छोड़ दिये ॥ १२ ॥ कालयवन उनका पीछा कर रहा था, तब यादवोंकी कुल-देवता बहुत-सा ईन्धन इकट्ठा कर तथा ऊँची लौवाली अग्नि जलाकर और स्वयं एक बुढ़ियाका रूप बना कर मार्गमें बैठ गई। उसे देख कर युवा कालयवनने उससे पूछा कि यह

---

१ भूभृरुहः ख० । २ वायुर्दैवे ख०, ग० । ३ सषट्चत्वारिंशं ग० । च षट्चत्वारिंशत् ख० ।

अस्मिञ्ज्वालाकरालाग्नौ सर्वेऽपि मम सूनवः । भयेन भवतोऽभूवन् व्यसवो यादवैः सह ॥ १५ ॥
इति तद्वचनात्सोऽपि मन्नयात्किल शत्रवः । प्राविशन्मत्प्रतापाग्निशुक्षणिं वाशुशुक्षणिम् ॥ १६ ॥
इति प्रतिनिवृत्याशु मिथ्यागर्वं समुद्वहन् । जगाम पितुरभ्याशं धिगनीक्षितचेष्टितम् ॥ १७ ॥
[1]इतो जलनिधेस्तीरे बले यादवभूभुजाम् । निविष्टवति निर्मापयितुं स्थानीयमात्मनः ॥ १८ ॥
अष्टोपवासमादाय विधिमन्त्रपुरस्सरम् । कंसारिः शुद्धभावेन दर्भशय्यातलं गतः ॥ १९ ॥
अश्वाकृतिधरं देवं मामारुह्य पयोनिधेः । गच्छतस्ते भवेन्मध्ये पुरं द्वादशयोजनम् ॥ २० ॥
इत्युक्तो नैगमाख्येन सुरेण मधुसूदनः । चक्रे तथैव निश्चित्य सति पुण्ये न कः सखा ॥ २१ ॥
प्राप्तवेगोद्धतौ तस्मिन्नारूढे तुरगद्विषा । हये धावति निर्द्वन्द्वं निश्चलत्कर्णचामरे ॥ २२ ॥
द्वेधाभेदमयाद्वार्धिर्भयादिव हरेरयात् । भेदो धीशक्तियुक्तेन सङ्घातोऽपि जलात्मनाम् ॥ २३ ॥
शक्राज्ञया तदा तत्र निधीशो विधिवर्धितम् । सहस्रकूटं व्याभासि भास्वद्रत्नमयं महत् ॥ २४ ॥
कृत्वा जिनगृहं[2] पूर्वं मङ्गलानाञ्च मङ्गलम् । वप्रप्राकारपरिखागोपुराट्टालकादिभिः ॥ २५ ॥
राजमानां हरेः पुण्यात्तीर्थेशस्य च सम्भवात् । निर्ममे नगरीं रम्यां सारपुण्यसमन्विताम् ॥ २६ ॥
सरित्पतिमहावीचीभुजालिङ्गितगोपुराम् । दीप्त्या [3]द्वारवतीसञ्ज्ञां हसन्तीं वामरीं पुरीम् ॥ २७ ॥
सपिता साग्रजो विष्णुस्तां प्रविश्य यथासुखम् । लक्ष्मीकटाक्षसंवीक्ष्यस्तस्थिवान्यादवैः सह ॥ २८ ॥
अथातो भुवनाधीशो जयन्तादागमिष्यति । विमानादहमिन्द्रेऽमुं महीं मासैः षडुन्मितैः ॥ २९ ॥

क्या है ? उत्तरमें बुढ़िया कहने लगी कि हे राजन् ! सुन, तेरे भयसे तेरे सब पुत्र यादवोंके साथ-साथ इस ज्वालाओंसे भयंकर अग्निमें गिरकर मर गये हैं ॥ १३–१५ ॥ बुढ़ियाके वचन सुनकर कालयवन कहने लगा कि अहो, मेरे भयसे समस्त शत्रु मेरी प्रतापाग्निके समान इस अग्निमें प्रविष्ट हो गये हैं ॥ १६ ॥ ऐसा विचार कर वह शीघ्र ही लौट पड़ा और झूठा अहंकार धारण करता हुआ पिताके पास पहुँच गया । आचार्य कहते हैं कि इस बिना विचारी चेष्टाको धिक्कार है ॥ १७ ॥ इधर चलते-चलते यादवोंकी सेना अपना स्थान बनानेके लिए समुद्रके किनारे ठहर गई ॥ १८ ॥ वहाँ कृष्णने शुद्ध भावोंसे दर्भके आसन पर बैठकर विधि-पूर्वक मन्त्रका जाप करते हुए अष्टोपवास का नियम लिया । उसी समय नैगम नामके देवने कहा कि मैं घोड़ाका रूप रखकर आऊँगा सो मुझपर सवार होकर तुम समुद्रके भीतर बारह योजन तक चले जाना । वहाँ तुम्हारे लिए नगर बन जायगा । नैगम देवकी बात सुन कर श्रीकृष्णने निश्चयानुसार वैसा ही किया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यके रहते हुए कौन मित्र नहीं हो जाता ? ॥ १९–२१ ॥ जो प्राप्त हुए वेगसे उद्धत है, जिसपर श्रीकृष्ण बैठे हुए हैं, और जिसके कानोंके चमर निश्चल हैं ऐसा घोड़ा जब दौड़ने लगा तब मानो श्रीकृष्णके भयसे ही समुद्र दो भेदोंको प्राप्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धि और शक्तिसे युक्त मनुष्योंके द्वारा जलका (पक्षमें मूर्ख लोगोंका) समूह भेदको प्राप्त हो ही जाता है ॥ २२–२३ ॥ उसी समय वहाँ श्रीकृष्ण तथा होनहार नेमिनाथ तीर्थंकरके पुण्यसे इन्द्रकी आज्ञा पाकर कुबेरने एक सुन्दर नगरीकी रचना की । जिसमें सबसे पहले उसने विधिपूर्वक मंगलोंका मांगलिक स्थान और एक हजार शिखरोंसे सुशोभित देदीप्यमान एक बड़ा जिनमन्दिर बनाया फिर वप्र, कोट, परिखा, गोपुर तथा अट्टालिका आदिसे सुशोभित, पुण्यात्मा जीवोंसे युक्त मनोहर नगरी बनाई। समुद्र अपनी बड़ी-बड़ी तरङ्ग रूपी भुजाओंसे उस नगरीके गोपुरका आलिङ्गन करता था, वह नगरी अपनी दीप्तिसे देवपुरीकी हँसी करती थी और द्वारावती उसका नाम था ॥ २४–२७ ॥ जिन्हें लक्ष्मी कटाक्ष उठा कर देख रही है ऐसे श्रीकृष्णने पिता वसुदेव तथा बड़े भाई बलदेवके साथ उस नगरीमें प्रवेश किया और यादवोंके साथ सुखसे रहने लगे ॥ २८ ॥

अथानन्तर—जो आगे चल कर तीन लोकका स्वामी होनेवाला है ऐसा अहमिन्द्रका जीव

---

१ ततो ल० । २ जिनालयं ल० । ३ द्वारावतीं ल० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

राज्ञः काश्यपगोत्रस्य हरिवंशशिखामणेः । समुद्रविजयाख्यस्य शिवदेवी मनोरमा ॥ ३० ॥
देवतोपास्यमानाङ्घ्रिर्वसुधाराभिनन्दिता । षण्मासावसितौ मासे कार्तिके शुक्लपक्षगे ॥ ३१ ॥
षष्ठ्यामथोत्तराषाढे निशान्ते स्वप्नमालिकाम् । आलोकतानुवक्त्राब्जं प्रविष्टञ्च गजाधिपम् ॥ ३२ ॥
ततो वन्दिवचोयामभेरीध्वनिविबोधिता । कृतमङ्गलसुस्नाना धृतपुण्यप्रसाधना ॥ ३३ ॥
उपचारवदभ्येत्य नृपमर्धासने स्थिता । स्वदृष्टस्वप्नसाफल्य[1]मन्वयुंक्त [2]श्रुतागमम् ॥ ३४ ॥
सङ्कलय्य नरेन्द्रोऽपि फलं तेषामभाषत । त्वद्गर्भे विश्वलोकेशोऽवतीर्ण इति सूक्ष्मधीः ॥ ३५ ॥
श्रुत्वा तदैव तं [3]लब्धवतीवातुषदप्यसौ । ज्ञात्वा स्वचिह्नैर्देवेन्द्राः सम्भूयागत्य संमदात् ॥ ३६ ॥
स्वर्गावतारकल्याणमहोत्सवविधायिनः । [4]स्वेषां पुण्यञ्च निर्वर्त्य स्वधाम समुपागमन् ॥ ३७ ॥
स पुनः श्रावणे शुक्लपक्षे षष्ठीदिने जिनः । ज्ञानत्रितयभृत्स्वष्टयोगे तुष्ट्यामजायत ॥ ३८ ॥
अथ स्वविष्टराकम्पसमुत्पन्नावधीक्षणाः । बुद्ध्वा भगवदुत्पत्तिं सौधर्मेन्द्रपुरस्सराः ॥ ३९ ॥
सञ्जातसम्मदाः प्राप्य परिवेष्ट्य पुरं स्थिताः । ऐरावतगजस्कन्धमारोप्य भुवनप्रभुम् ॥ ४० ॥
सौधर्माधिपतिर्भक्त्या नीलाम्भोजदलद्युतिम् । ईशमीशानकल्पेशधृतातपनिवारणम् ॥ ४१ ॥
नमच्चमरवैरोचनोद्धूतचमरीरुहम् । धनेशनिर्मितत्रैधामणिसोपानमार्गगः[5] ॥ ४२ ॥
नीत्वा पर्यंदमार्गेण गिरीशेशानदिग्गते[6] । पाण्डुकाख्यशिलाग्रस्थमणिसिंहधृतासने ॥ ४३ ॥
अनादिनिधने बालमारोप्यात्यर्कतेजसम् । क्षीराम्भोधिपयः[7]पूर्णसुवर्णकलशोत्तमैः ॥ ४४ ॥

जब छह माह बाद जयन्त विमानसे चलकर इस पृथिवीपर आनेके लिए उद्यत हुआ तब काश्यप-गोत्री, हरिवंशके शिखामणि राजा समुद्रविजयकी रानी शिवदेवी रत्नोंकी धारा आदिसे पूजित हुई और देवियाँ उसके चरणोंकी सेवा करने लगीं। छह माह समाप्त होने पर रानीने कार्तिक शुक्ल षष्ठीके दिन उत्तराषाढ नक्षत्रमें रात्रिके पिछले समय सोलह स्वप्न देखे और उनके बाद ही मुख-कमलमें प्रवेश करता हुआ एक उत्तम हाथी भी देखा ॥ २९—३२ ॥

तदनन्तर—बन्दीजनोंके शब्द और प्रातःकालके समय बजनेवाली भेरियोंकी ध्वनि सुनकर जागी हुई रानी शिवदेवीने मङ्गलमय स्नान किया, पुण्य रूप वस्त्राभरण धारण किये और फिर बड़ी नम्रतासे राजाके पास जाकर वह उनके अर्धासन पर बैठ गई। पश्चात् उसने अपने देखे हुए स्वप्नोंका फल पूछा। सूक्ष्म बुद्धिवाले राजा समुद्रविजयने भी सुने हुए आगमका विचार कर उन स्वप्नोंका फल कहा कि तुम्हारे गर्भमें तीन लोकके स्वामी तीर्थंकर अवतीर्ण हुए हैं ॥ ३३-३५ ॥ उस समय रानी शिवदेवी स्वप्नोंका फल सुनकर ऐसी सन्तुष्ट हुई मानो उसने तीर्थंकरको प्राप्त ही कर लिया हो। उसी समय इन्द्रोंने भी अपने-अपने चिह्नोंसे जान लिया। वे सब बड़े हर्षसे मिलकर आये और स्वर्गावतरण कल्याण (गर्भकल्याणक) का महोत्सव करने लगे। उत्सव द्वारा पुण्योपार्जन कर वे अपने-अपने स्थान पर चले गये ॥ ३६-३७ ॥ फिर श्रावण शुक्ला षष्ठीके दिन चित्रा नक्षत्रमें ब्रह्मयोगके समय तीन ज्ञानके धारक भगवान्का जन्म हुआ ॥ ३८ ॥ तदनन्तर अपने आसन कम्पित होनेसे जिन्हें अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे सौधर्म आदि इन्द्र हर्षित होकर आये और नगरीको घेर कर खड़े गये। तदनन्तर जो नील कमलके समान कान्तिके धारक हैं, ईशानेन्द्रने जिनपर छत्र लगाया है, तथा नमस्कार करते हुए चमर और वैरोचन नामके इन्द्र जिनपर चमर ढोर रहे हैं ऐसे जिनेन्द्र बालकको सौधर्मेन्द्रने बड़ी भक्तिसे उठाया और कुबेर-निर्मित तीन प्रकारकी मणिमय सीढ़ियोंके मार्गसे चलकर उन्हें ऐरावत हाथीके स्कन्ध पर विराजमान किया। अब इन्द्र आकाश-मार्गसे चलकर सुमेरु पर पहुँचा वहाँ उसने सुमेरु पर्वतकी ईशान दिशामें पाण्डुक शिलाके अग्रभाग पर जो अनादि-निधन मणिमय सिंहासन रक्खा है उसपर सूर्यसे भी अधिक तेजस्वी जिन-बालकको विराजमान कर दिया। वहीं उसने अनुक्रमसे हाथों हाथ लाकर इन्द्रोंके द्वारा

१ नामाली-ल०, म०, ग०, घ० । शुभागमं ख० । २ संलब्धवती ख० । ४ तेषां ख० ।
५-मार्गतः ख० । ६ दिग्नते ग०, घ० । दिग्नतं०, ख० । दिग्तटे ल० । ७ पयःपूर्णैः म० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अष्टाधिकसहस्रेण प्रमितैरमितप्रभैः । हस्ताद्धस्तं क्रमेणामराधिनाथसमर्पितैः ॥ ४५ ॥
अभिषिच्य यथाकाममलङ्कृत्य यथोचितम् । नेमिं सद्धर्मचक्रस्य नेमिनाम्ना तमभ्यधात् ॥ ४६ ॥
तस्मादानीय मौलीन्द्रमाननीयमहोदयम् । मातापित्रोः पुनर्दत्त्वा विधायानन्दनाटकम् ॥ ४७ ॥
विकृत्य विविधान्बाहून् रसभावनिरन्तरम् । स्वावासमगमत्सर्वैरादिमेन्द्रः सहामरैः ॥ ४८ ॥
नमेर्भगवतस्तीर्थसन्तानसमयस्थितेः । [1]पञ्चलक्षसमाप्रान्ते तदन्तर्गतजीवितः ॥ ४९ ॥
जिनो नेमिः समुत्पन्नः सहस्राब्दायुरन्वितः । दशचापसमुत्सेधः शस्तसंस्थानसंहतिः ॥ ५० ॥
त्रिलोकनायकाभ्यर्च्यः स्वभ्यर्णीकृतनिर्वृतिः । तस्थौ सुखानि दिव्यानि तस्मिन्ननुभवंश्चिरम् ॥ ५१ ॥
गच्छत्येवं क्षणे वास्य काले बहुतरेऽन्यदा । आत्तवारिपथोद्योगा नष्टदिक्का वणिक्सुताः ॥ ५२ ॥
प्राप्य द्वारावतीं केचित्पुण्यान्मगधवासिनः । राज्यलीलां विलोक्यात्र [2]विभूतिञ्च सविस्मयाः ॥ ५३ ॥
बहूनि रत्नान्यादाय सारभूतानि तत्पुरात् । गत्वा राजगृहं प्राप्तचक्ररत्नं महीपतिम् ॥ ५४ ॥
रत्नान्युपायनीकृत्य पुरस्कृत्य वणिक्पतिम् । ददृशुः कृतसन्मानस्तानपृच्छत्प्रजेश्वरः ॥ ५५ ॥
भो भवद्भिः कुतो लब्धमिदं रत्नकदम्बकम् । उदंशुभिरिवोन्मीलितेक्षणं कौतुकादिति ॥ ५६ ॥
शृणु देव महच्चित्रमेतदस्माभिरीक्षितम् । पातालादेत्य वाऽदृष्टपूर्वमुर्वीमुपस्थितम् ॥ ५७ ॥
सङ्कुलीकृतसौधोरुभवनत्वादिवाम्बुधेः । फेनराशिस्तदाकारपरिणाममुपागतः ॥ ५८ ॥
अलङ्घ्यत्वात्परैः पुण्यं वापरं भरतेशितुः । नेमिस्वामिसमुत्पत्तिहेतुत्वान्नगरोत्तमम् ॥ ५९ ॥

सौंपे हुए एवं और सागरके जलसे भरे, सुवर्णमय एक हजार आठ देदीप्यमान कलशोंके द्वारा उनका अभिषेक किया, उन्हें इच्छानुसार यथायोग्य आभूषण पहिनाये और ये समीचीन धर्मरूपी चक्रकी नेमि हैं—चक्रधारा हैं' इसलिए उन्हें नेमि नामसे सम्बोधित किया। फिर सौधर्मेन्द्रने मुकुट-बद्ध इन्द्रोंके द्वारा माननीय महाभ्युदयके धारक भगवान्को सुमेरु पर्वतसे लाकर माता-पिताको सौंपा, विक्रिया द्वारा अनेक भुजाएँ बनाकर रस और भावसे भरा हुआ आनन्द नामका नाटक किया और यह सब करनेके बाद वह समस्त देवोंके साथ अपने स्थान पर चला गया ॥ ३६–४८ ॥ भगवान् नमिनाथकी तीर्थपरम्पराके बाद पाँच लाख वर्ष बीत जानेपर नेमि जिनेन्द्र उत्पन्न हुए थे, उनकी आयु भी इसी अन्तरालमें शामिल थी, उनकी आयु एक हजार वर्षकी थी, शरीर दश धनुष ऊँचा था, उनके संस्थान और संहनन उत्तम थे, तीनों लोकोंके इन्द्र उनकी पूजा करते थे, और मोक्ष उनके समीप था। इस प्रकार वे दिव्य सुखोंका अनुभव करते हुए चिरकाल तक द्वारावतीमें रहे ॥ ४९–५१ ॥ इस तरह सुखोपभोग करते हुए उनका बहुत भारी समय एक क्षणके समान बीत गया। किसी एक दिन मगध देशके रहनेवाले ऐसे कितने ही वैश्य पुत्र, जो कि जलमार्गसे व्यापार करते थे, पुण्योदयसे मार्ग भूल कर द्वारावती नगरीमें आ पहुँचे। वहाँकी राजलीला और विभूति देखकर आश्चर्यमें पड़ गये। वहाँ जाकर उन्होंने बहुतसे श्रेष्ठ रत्न खरीदे। तदनन्तर राजगृह नगर जाकर उन वैश्य-पुत्रोंने अपने सेठको आगे किया और उन रत्नोंको भेंट देकर चक्ररत्नके धारक राजा जरासन्धके दर्शन किये। राजा जरासन्धने उन सबका सन्मान कर उनसे पूछा कि 'अहो वैश्य-पुत्रो! आप लोगोंने यह रत्नोंका समूह कहाँसे प्राप्त किया है? यह अपनी उठती हुई किरणोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो कौतुकवश इसने नेत्र ही खोल रक्खे हों' ॥ ५२–५६ ॥ उत्तरमें वे वैश्य-पुत्र कहने लगे कि हे राजन्! सुनिये, हमलोगोंने एक बड़ा आश्चर्य देखा है और ऐसा आश्चर्य, जिसे कि पहले कभी नहीं देखा है। समुद्रके बीचमें एक द्वारावती नगरी है जो ऐसी जान पड़ती है मानो पातालसे ही निकल कर पृथिवी पर आई हो। वहाँ चूनासे पुते हुए बड़े-बड़े भवन सघनतासे विद्यमान हैं जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो समुद्रके फेनका समूह ही नगरीके आकार परिणत हो गया हो। वह शत्रुओंके द्वारा अलङ्घनीय है अतः ऐसी जान पड़ती है मानो भरत चक्रवर्तीका दूसरा पुण्य ही हो। भगवान् नेमिनाथकी उत्पत्तिका कारण होनेसे वह नगरी सब नगरियोंमें उत्तम है,

---

१ पञ्चलक्षाः समाः ल० । २ विलोक्यावविभूति ल० ।

असंहतम[1] नासेव्यमर्थिभिर्वीतगौरवम् । शरदभ्रकुलं तिष्ठत्युपर्येतन्ममेति वा ॥ ६० ॥
सौधाग्रान्दोलितालोलपताकाबहुबाहुभिः । निराचिकीर्षुः संह्रर्षाद्दूरमभ्रपथोच्छ्रितम् ॥ ६१ ॥
परार्घ्यभूरि[2] रत्नत्वात्कृष्णतेजोविराजनात् । सदा गम्भीरशब्दत्वादम्भोधिजलसन्निभम् ॥ ६२ ॥
नवयोजनविस्तारं दैर्घ्यद्वादशयोजनम् । पुरं द्वारावती नाम यादवानां पयोनिधेः ॥ ६३ ॥
मध्ये प्रवर्तते तस्मादेतद्रत्नकदम्बकम् । लब्धमस्माभिरित्येवमब्रुवंस्तेऽपि भूपतिः ॥ ६४ ॥
श्रुत्वा तद्वचनं [3]क्रोधेनान्धीभूतोग्रवीक्षणः । जरासन्धो धियाप्यन्धो दर्पी दैवातिसन्धितः ॥ ६५ ॥
चचालाकालकालान्तचलितात्मबलाम्बुधिः । कर्तुं यादवलोकस्य विलयं वाविलम्बितम् ॥ ६६ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सविधिसागर जी महाराज
नारदस्तत्तदा ज्ञात्वा निर्हेतुसमरप्रियः । हरिं सत्वरमभ्येत्य तद्विकारं न्यवेदयत् ॥ ६७ ॥
श्रुत्वा शार्ङ्गधरः शत्रुसमुत्थानमनाकुलम् । कुमारं नेमिमभ्येत्य प्रशाधि त्वमिदं पुरः ॥ ६८ ॥
विजिगीषुः किलाद्याभूत्प्रत्यस्मान्मगधाधिपः । भनज्मि तमहं जीर्णं द्रुमं वा घुणभक्षितम् ॥ ६९ ॥
तूर्णं भवत्प्रभावेनगत्वेत्यवदद्भूजितम् । प्रसन्नचेतास्तच्छ्रुत्वा सस्मितो मधुरेक्षणः ॥ ७० ॥
सावधिर्विजयं तेन विनिश्चित्य विरोधिनाम् । स्फुरदन्तरुचिर्विष्णुं नेमिरोमित्यभाषत ॥ ७१ ॥
स्मिताद्यैः स्वं जयं सोऽपि निश्चिचाय जगत्प्रभोः । जैनो वादीव पक्षाद्यैरेकलक्षणभूषणैः ॥ ७२ ॥

कोई भी उसका विघात नहीं कर सकता है, वह याचकोंसे रहित है, यह उसके महलों पर बहुत-सी पताकाएँ फहराती रहती हैं जिससे ऐसा जान पड़ता है कि 'यह गौरव रहित शरद् ऋतुके बादलोंका समूह मेरे ऊपर रहता है' इस ईर्ष्याके कारण ही वह मानो महलोंके अग्रभाग पर फहराती हुई चञ्चल पताकाओं रूपी बहुत-सी भुजाओंसे आकाशमें ऊँचाई पर स्थित शरद् ऋतुके बादलोंको वहाँसे दूर हटा रही हो। वह नगरी ठीक समुद्रके जलके समान है क्योंकि जिस प्रकार समुद्रके जलमें बहुतसे रत्न रहते हैं उसी प्रकार उस नगरीमें भी बहुतसे रत्न विद्यमान हैं, जिस प्रकार समुद्रका जल कृष्ण तेज अर्थात् काले वर्णसे सुशोभित रहता है उसी प्रकार वह नगरी भी कृष्ण तेज अर्थात् वसुदेवके पुत्र श्री कृष्णके प्रतापसे सुशोभित है, और जिस प्रकार समुद्रके जलमें सदा गम्भीर शब्द होता रहता है उसी प्रकार उस नगरीमें भी सदा गम्भीर शब्द होता रहता है। वह नौ योजन चौड़ी तथा बारह योजन लम्बी है, समुद्रके बीचमें है तथा यादवोंकी नगरी कहलाती है। हम लोगोंने ये रत्न वहीं प्राप्त किये हैं' ऐसा वैश्य-पुत्रोंने कहा ॥ ५७–६४ ॥ जब दैवसे छले गये अहङ्कारी जरासन्धने वैश्य-पुत्रोंके उक्त वचन सुने तो वह क्रोधसे अन्धा हो गया, उसकी दृष्टि भयङ्कर हो गई, यही नहीं, बुद्धिसे भी अन्धा हो गया ॥ ६५ ॥ जिसकी सेना, असमयमें प्रकट हुए प्रलयकालके लहराते समुद्रके समान चञ्चल है ऐसा वह जरासन्ध यादव लोगोंका शीघ्र ही नाश करनेके लिए तत्काल चल पड़ा ॥ ६६ ॥ बिना कारण ही युद्धसे प्रेम रखनेवाले नारदजीको जब इस बातका पता चला तो उन्होंने शीघ्र ही जाकर श्रीकृष्णसे जरासन्धके कोपका समाचार कह दिया ॥ ६७ ॥ 'शत्रु चढ़कर आ रहा है' यह समाचार सुनकर श्रीकृष्णको कुछ-भी आकुलता नहीं हुई। उन्होंने नेमिकुमारके पास जाकर कहा कि आप इस नगरकी रक्षा कीजिए। सुना है कि मगधका राजा जरासन्ध हम लोगोंको जीतना चाहता है सो मैं उसे आपके प्रभावसे घुणके द्वारा खाये हुए जीर्ण वृक्षके समान शीघ्र ही नष्ट किये देता हूँ। श्रीकृष्णके वीरता पूर्ण वचन सुनकर जिनका चित्त प्रसन्नतासे भर गया है जो कुछ-कुछ मुसकरा रहे हैं और जिनके नेत्र मधुरतासे ओत-प्रोत हैं ऐसे भगवान् नेमिनाथको अवधिज्ञान था अतः उन्होंने निश्चय कर लिया कि विरोधियोंके ऊपर हम लोगोंकी विजय निश्चित रहेगी। उन्होंने दाँतोंकी देदीप्यमान कान्तिको प्रकट करते हुए 'ओम्' शब्द कह दिया अर्थात् द्वारावतीका शासन स्वीकृत कर लिया। जिस प्रकार जैनवादी अन्यथानुपपत्ति रूप लक्षणसे सुशोभित पक्ष आदिके द्वारा ही अपनी जयका निश्चय कर लेता है उसी प्रकार श्रीकृष्णने भी नेमिनाथ भगवान्की मुसकान आदिसे ही अपनी विजयका निश्चय कर लिया था ॥ ६८–७२ ॥

१ असंहतत्तदना-ल०(?) । २ भूमि-ल० । ३ क्रोधादन्धीभूतो ल० ।

अथ शत्रून् समुज्जेतुं जयेन विजयेन च । सारणेनाक्रूराख्येन दवाह्वेनोद्धवेन च ॥ ७३ ॥
सुमुखाक्षरपद्मैश्च जराख्येन सुदृष्टिना । पाण्डवैः पञ्चभिः सत्यकेनाथ द्रुपदेन च ॥ ७४ ॥
यादवैः सविराटाख्यैरप्रमेयैर्महाबलैः । धृष्टार्जुनोऽग्रसेनाभ्यां चमरेण रणेप्सुना ॥ ७५ ॥
विदुरेण नृपैरन्यैश्चान्वितौ बलकेशवौ । सन्नद्धावुद्धतौ योद्धुं कुरुक्षेत्रमुपागतौ ॥ ७६ ॥
जरासन्धोऽपि युद्धेच्छुर्भीष्मेणाविष्कृतोष्मणा । सद्रोणेन सकर्णेन साश्वत्थामेन रुग्मिणा ॥ ७७ ॥
शल्येन वृषसेनेन कृपेण कृपवर्मणा । रुदिरेणेन्द्रसेनेन जयद्रथमहीभृता ॥ ७८ ॥
हेमप्रभेण भूभर्त्रा दुर्योधनधरेशिना । दुश्शासनेन दुर्मर्षणेन दुर्धर्षणेन च ॥ ७९ ॥
दुर्जयेन कलिङ्गेशा भगदत्तेन भूभुजा । परैश्च भूरिभूपालैराजगाम स केशवम् ॥ ८० ॥
तदा हरिबले युद्धदुन्दुभिध्वनिरुच्चरन् । शूरचेतो रसो वासः कौसुम्भो वान्वरञ्जयत् ॥ ८१ ॥
तदाकर्ण्य नृपाः केचित्पूजयन्ति स्म देवताः । अहिंसादिव्रतान्यन्ये जगृहुर्गुरुसन्निधौ ॥ ८२ ॥
परे निस्तारकेष्वर्थान्वितरन्ति स्म सात्त्विकाः । [1]आमुञ्चत तनुत्राणं गृह्णीतासिलतां शिताम् ॥ ८३ ॥
आरोपयत चापौघान् सन्नह्यन्तं गजाभ्रिमाः[2] । हयो नद्धपर्याणाः क्रियन्तामधिकारिषु ॥ ८४ ॥
समर्प्यन्तां कलत्राणि युज्यन्तां वाजिभी रथाः । भोगोपभोगवस्तूनि भुज्यन्तामनिवारितम् ॥ ८५ ॥
वन्दिमागधवृन्देन वन्द्यन्तां निजविक्रमाः । इति केचिज्जगुर्भृत्यान् नृपाः सङ्ग्रामसम्मुखाः ॥ ८६ ॥
पतिभक्त्या निसर्गात्मपौरुषेण विरोधिनाम् । मात्सर्येण यशोहेतोः शूरलोकसमीप्सया ॥ ८७ ॥
निजान्वयाभिमानेन परैश्च रणकारणैः । समजायन्त राजानः प्राणव्ययविधायिनः ॥ ८८ ॥
वसुदेवसुतोऽप्यासगर्वः सर्वविभूषणः । कुङ्कुमाङ्कितगात्रत्वादिव सिन्दूरितद्विपः ॥ ८९ ॥
जय जीवेति वन्दारुवृन्देन कृतमङ्गलः । नवो वाम्भोधरश्चारुचातकध्वनिलक्षितः ॥ ९० ॥

अथानन्तर कृष्ण और बलदेव, शत्रुओंको जीतनेके लिए जय, विजय, सारण, अक्रूर, दव, उद्धव, सुमुख, पद्म, जरा, सुदृष्टि, पाँचों पाण्डव, सत्यक, द्रुपद, समस्त यादव, विराट्, अपरिमित सेनाओंसे युक्त धृष्टार्जुन, उग्रसेन, युद्धका अभिलाषी चमर, विदुर तथा अन्य राजाओंके साथ उद्धत होकर युद्धके लिए तैयार हुए और वहाँसे चलकर कुरुक्षेत्रमें जा पहुँचे ॥ ७३–७६ ॥ उधर युद्धकी इच्छा रखनेवाला जरासन्ध भी अपनी गर्मी (अहङ्कार) प्रकट करनेवाले भीष्म, कर्ण, द्रोण, अश्वत्थामा, रुक्म, शल्य, वृषसेन, कृप, कृपवर्मा, रुदिर, इन्द्रसेन, राजा जयद्रथ, हेमप्रभ, पृथिवीका नाथ दुर्योधन, दुःशासन, दुर्मर्षण, दुर्धर्षण, दुर्जय, राजा कलिङ्ग, भगदत्त, तथा अन्य अनेक राजाओंके साथ कृष्णके सामने आ पहुंचा ॥ ७७–८० ॥ उस समय श्री कृष्णकी सेनामें युद्धकी भेरियाँ बज रही थीं सो जिस प्रकार कुसुम्भ रङ्ग वस्त्रको रङ्ग देता है उसी प्रकार उन भेरियोंके उठते हुए शब्दने भी शूरवीरोंके चित्तको रङ्ग दिया था ॥ ८१ ॥ उन भेरियोंका शब्द सुनकर कितने ही राजा लोग देवताओंकी पूजा करने लगे और कितने ही गुरुओंके पास जाकर अहिंसा आदि व्रत ग्रहण करने लगे ॥ ८२ ॥ युद्धके सम्मुख हुए कितने ही राजा अपने भृत्योंसे कह रहे थे कि तुम लोग कवच धारण करो, पैनी तलवार लो, धनुष चढ़ाओ और हाथी तैयार करो । घोड़ों पर जीन कस कर तैयार करो, स्त्रियाँ अधिकारियोंके लिए सौंपो, रथोंमें घोड़े जोत दो, निरन्तर भोग-उपभोग की वस्तुओंका सेवन किया जाय और बन्दी तथा मागध लोग अपने पराक्रमकी वन्दना करें—स्तुति करें' ॥ ८३–८६ ॥ उस समय कितने ही राजा, स्वामीकी भक्तिसे, कितने ही स्वाभाविक पराक्रमसे, कितने ही शत्रुओं पर जमी हुई ईर्ष्यासे, कितने ही यश पानेकी इच्छासे, कितने ही शूरवीरोंकी गति पानेके लोभसे, कितने ही अपने वंशके अभिमानसे और कितने ही युद्ध सम्बन्धी अन्य-अन्य कारणोंसे प्राणोंका नाश करनेके लिए तैयार हो गये थे ॥ ८७–८८ ॥ उस समय श्रीकृष्ण भी बड़ा गर्व कर रहे थे, सब आभूषण पहिने थे और शरीर पर केशर लगाये हुए थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो सिन्दूर लगाये हुए हाथी हों ॥ ८९ ॥ 'आपकी जय हो', 'आप चिरंजीव रहें'

---

१ आमुञ्चताशु ब० । २ गजाश्रिताः ब० ।

सज्जनावर्ज्यं निर्णिक्तसौवर्णोद्गालन्तिका । जलैराचम्य शुद्धाच्छक्षिप्रपूर्णजलाञ्जलिः ॥ ९१ ॥
गन्धपुष्पादिभिर्विघ्नविनायकमनायकम् । भक्त्या जिनेन्द्रमभ्यर्च्य भव्यकल्पमहीरुहम् ॥ ९२ ॥
अभिवन्द्याप्तसामन्तैः समन्तात्परिवारितः । प्रतिपक्षमपक्षेक्षुं न्यक्षेणाभिमुखं ययौ ॥ ९३ ॥
ततः कृष्णेन निर्दिष्टाः प्रशास्तृपरिचारिणः । सैन्यं यथोक्तविन्यासं रचयन्ति स्म रागिणः ॥ ९४ ॥
जरासन्धोऽपि संग्रामरङ्गमध्यमधिष्ठितः । स्वसैन्यं निष्ठुरारावैरध्यक्षैरन्वयोजयत् ॥ ९५ ॥
इति विन्यासिते सैन्ये दध्वने समरानकैः । शूरधानुष्कनिर्मुक्तशरनाराचसङ्कुलम् ॥ ९६ ॥
नभो न्यरुणदुष्णांशुप्रसरत्करसन्ततिम् । वियोगमगमन्मोहात्तदास्तमयशङ्कया ॥ ९७ ॥
कोकयुग्मं विहङ्गाश्च रुवन्तो नीडमाश्रयन् । नेक्षन्ते स्म भटा योद्धुमन्योन्यं समराङ्गणे ॥ ९८ ॥
संक्रुद्धमत्तमातङ्गदन्तसङ्घट्टजन्मना । सप्तार्चिषा विधूतेऽन्धकारे दिगवलोकनात् ॥ ९९ ॥
पुनः प्रवृत्तसंग्रामाः[1] सर्वशस्त्रविचक्षणाः । नदीं रक्तमयीं चक्रुर्विक्रमैकरसाः क्षणम् ॥ १०० ॥
करालकरवालाग्र[2]निकृत्ताचरणद्वयाः । तुरङ्गमा गतिं प्रापुर्वने नष्टतपोधनाः ॥ १०१ ॥
विच्छिन्नचरणाः पेतुर्द्विपाः प्रान्तमहामरु- । न्निर्मूलपातितानीलविपुलाचललीलया ॥ १०२ ॥
पातितानां परैः स्तूयमानसाहसकर्मणाम् । प्रसादवन्ति वक्त्राणि स्थलपद्मश्रियं दधुः ॥ १०३ ॥
भटैः परस्परास्त्राणि खण्डितानि स्वकौशलात् । तत्खण्डैस्तत्र पार्श्वस्था बहवो ध्वंसवोऽभवन् ॥ १०४ ॥

इस प्रकार वन्दीजन उनका मङ्गलपाठ पढ़ रहे थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो चातकोंकी सुन्दर ध्वनिसे युक्त नवीन मेघ ही हो ॥९०॥ उन्होंने सज्जनोंके द्वारा धारण की हुई पवित्र सुवर्णमय झारीके जलसे आचमन किया, शुद्ध जलसे शीघ्र ही पूर्ण जलाञ्जलि दी और फिर गन्ध पुष्प आदि द्रव्योंके द्वारा विघ्नोंका नाश करने वाले, स्वामी रहित (जिनका कोई स्वामी नहीं) तथा भव्य जीवोंका मनोरथ पूर्ण करनेके लिए कल्पवृक्षके समान श्री जिनेन्द्रदेवकी भक्तिपूर्वक पूजा की, उन्हें नमस्कार किया। तदनन्तर चारों ओर गुरुजनों और सामन्तोंको अथवा प्रामाणिक सामन्तोंको रखकर स्वयं ही शत्रुको नष्ट करनेके लिए उसके सामने चल पड़े ॥ ९१-९३ ॥ तदनन्तर कृष्णकी आज्ञासे अनुराग रखनेवाले प्रशंसनीय परिचारकोंने यथायोग्य रीतिसे सेनाकी रचना की ॥ ९४ ॥ जरासन्ध भी संग्राम रूपी युद्धभूमिके बीचमें आ बैठा और कठोर सेनापतियोंके द्वारा सेनाकी योजना करवाने लगा ॥ ९५ ॥ इस प्रकार जब सेनाओंकी रचना ठीक-ठीक हो चुकी तब युद्धके नगाड़े बजने लगे। शूर-वीर धनुषधारियोंके द्वारा छोड़े हुए बाणोंसे आकाश भर गया और उसने सूर्यकी फैलती हुई किरणोंकी सन्ततिको रोक दिया—ढक दिया। 'सूर्य अस्त हो गया है' इस भयकी आशङ्कासे मोहवश चकवा-चकवी परस्पर बिछुड़ गये। अन्य पक्षी भी शब्द करते हुए घोंसलोंकी ओर जाने लगे। उस समय युद्धके मैदानमें इतना अन्धकार हो गया था कि योद्धा परस्पर एक दूसरेको देख नहीं सकते थे परन्तु कुछ ही समय बाद क्रुद्ध हुए मदोन्मत्त हाथियोंके दाँतोंकी टक्कर से उत्पन्न हुई अग्निके द्वारा जब वह अन्धकार नष्ट हो जाता और सब दिशाएँ साफ-साफ दिखने लगतीं तब समस्त शस्त्र चलानेमें निपुण योद्धा फिरसे युद्ध करने लगते थे। विक्रमरससे भरे योद्धाओंने क्षण भरमें खूनकी नदियाँ बहा दीं ॥ ९६-१०० ॥ भयङ्कर तलवारकी धारसे जिनके आगेके दो पैर कट गये हैं ऐसे घोड़े उन तपस्वियोंकी गतिको प्राप्त हो रहे थे जो कि तप धारण कर उसे छोड़ देते हैं ॥ १०१ ॥ जिनके पैर कट गये हैं ऐसे हाथी इस प्रकार पड़ गये थे मानो प्रलय कालकी महावायुसे जड़से उखड़ कर नीले रङ्गके बड़े-बड़े पहाड़ ही पड़ गये हों ॥ १०२ ॥ शत्रु भी जिनके साहसपूर्ण कार्योंकी प्रशंसा कर रहे हैं ऐसे पड़े हुए योद्धाओंके प्रसन्नमुखकमल, स्थल कमल (गुलाब) की शोभा धारण कर रहे थे ॥ १०३ ॥ योद्धाओंने अपनी कुशलतासे परस्पर एक दूसरेके शस्त्र तोड़ डाले थे परन्तु उनके टुकड़ोंसे ही समीपमें खड़े हुए बहुतसे लोग मर गये थे

---

१ संग्रामे ख०, ग०, घ० । २ निकृन्त ल० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज

न मत्सरेण न क्रोधान्न ख्यातेर्न फलेच्छया । भटाः केचिद्युध्यन्त न्यायोऽमिति केवलम् ॥ १०५ ॥
सर्वशस्त्रसमुन्निन्नशरीरा वीरयोधनाः । परिच्युता गजस्कन्धाच्चूलिकालिङ्गितांघ्रयः ॥ १०६ ॥
चिरं परिचितस्थानं परित्यक्तुमिवाक्षमाः । प्रलम्बन्ते स्म कर्णाग्रमवलम्ब्यानतानताः ॥ १०७ ॥
केचिद्वामकरोपात्तचित्रदण्डस्वरक्षणाः । दक्षिणाभुजेनाघ्नन् भटाश्चटुलचारिणः ॥ १०८ ॥
तत्र वाच्यो मनुष्याणां मृत्योरुत्कृष्टसञ्चयः । कदलीघातजातस्येत्युक्तिमत्तद्रणाङ्गणम् ॥ १०९ ॥
एवं तुमुलयुद्धेन प्रवृत्ते सङ्गरे चिरम् । सेनयोरन्तकस्यापि सन्तृप्तिः समजायत ॥ ११० ॥
विलङ्घितं बलं विष्णोर्बलेन द्विषतां तथा । यथा क्षुद्र सरिद्वारि[1]महासिन्धुप्लवाम्बुना ॥ १११ ॥
तदालोक्य हरिः क्रुद्धो[2] हरिर्वा करिणां कुलम् । सामन्तबलसन्दोहसहितो हन्तुमुद्यतः ॥ ११२ ॥
भास्करस्योदयाद्वान्धकारं शत्रुबलं तदा । विलीनं तन्निरीक्ष्यैत्य जरासन्धोऽन्वितः क्रुधा ॥ ११३ ॥
द्योतिताखिलदिक्चक्रं चक्रमादाय विक्रमात् । त्रिविक्रमं समुद्दिश्य न्यक्षिपद्रूक्षवीक्षणः ॥ ११४ ॥
तत्तं प्रदक्षिणीकृत्य स्थितवद्दक्षिणे भुजे । तदेवादाय कंसारिर्मगधेशोऽच्छिनच्छिरः ॥ ११५ ॥
सद्यो जयानकानीकं [3]नदति स्मागलन् दिवः । सुरद्रुमप्रसूनानि सह गन्धाम्बुबिन्दुभिः ॥ ११६ ॥
चक्री चक्रं पुरस्कृत्य विजिगीषुर्दिशो भृशम् । प्रस्थानमकरोत्सार्धं बलेन स्वबलेन च[4] ॥ ११७ ॥
मागधादीन्सुरान् जित्वा विधेयीकृत्य विश्रुतान् । गृहीत्वा साररत्नानि तद्दत्तान्यूर्जितोदयः[5] ॥ ११८ ॥
सिन्धुसिन्धुखगाद्रयन्तरालव्याधधराधिपान् । स्वपादनखभाभारमानमय्योद्वाहयन् ॥ ११९ ॥

॥ १०४ ॥ कितने ही योद्धा न ईर्ष्यासे, न क्रोधसे, न यशसे, और न फल पानेकी इच्छासे युद्ध करते थे किन्तु 'यह न्याय है' ऐसा सोचकर युद्ध कर रहे थे ॥ १०५ ॥ जिनका शरीर सर्व प्रकारके शस्त्रोंसे छिन्न-भिन्न हो गया है ऐसे कितने ही वीर योद्धा हाथियोंके स्कन्धसे नीचे गिर गये थे परन्तु कानोंके आभरणोंमें पैर फँस जानेसे लटक गये थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो वे अपना चिर-परिचित स्थान छोड़ना नहीं चाहते हों और इसीलिए कानोंके अग्रभागका सहारा ले नीचेकी ओर मुखकर लटक गये हों ॥ १०६-१०७ ॥ बड़ी चपलतासे चलनेवाले कितने ही योद्धा अपने रक्षाकी लिए बायें हाथमें भाल लेकर शस्त्रोंवाली दाहिनी भुजासे शत्रुओंको मार रहे थे ॥ १०८ ॥ आगममें जो मनुष्योंका कदलीघात नामका अकालमरण बतलाया गया है उसकी अधिकसे अधिक संख्या यदि हुई थी तो उस युद्धमें ही हुई थी ऐसा उस युद्धके मैदानके विषयमें कहा जाता है ॥१०९॥ इस प्रकार दोनों सेनाओंमें चिरकाल तक तुमुल युद्ध होता रहा जिससे यमराज भी खूब सन्तुष्ट हो गया था ॥ ११० ॥ तदनन्तर जिस प्रकार किसी छोटी नदीके जलको महानदीके प्रवाहका जल दबा देता है उसी प्रकार श्रीकृष्णकी सेनाको शत्रुकी सेनाने दबा दिया ॥ १११ ॥ यह देख, जिस प्रकार सिंह हाथियोंके समूह पर टूट पड़ता है उसी प्रकार श्रीकृष्ण क्रुद्ध होकर तथा सामन्त राजाओंकी सेनाके समूह साथ लेकर शत्रुको मारनेके लिए उद्यत हो गये—शत्रु पर टूट पड़े ॥ ११२ ॥ जिस प्रकार सूर्यका उदय होते ही अन्धकार विलीन हो जाता है उसी प्रकार श्रीकृष्णको देखते ही शत्रुओं की सेना विलीन हो गई—उसमें भगदड़ मच गई । यह देख, क्रोधसे भरा जरासन्ध आया और उसने रूक्ष दृष्टिसे देखकर, अपने पराक्रमसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित करनेवाला चक्ररत्न ले श्रीकृष्णकी ओर चलाया ॥ ११३-११४ ॥ परन्तु वह चक्र प्रदक्षिणा देकर श्रीकृष्णकी दाहिनी भुजा पर ठहर गया । तदनन्तर वही चक्र लेकर श्रीकृष्णने मगधेश्वर—जरासन्धका शिर काट डाला ॥ ११५ ॥ उसी समय कृष्णकी सेनामें जीतके नगाड़े बजने लगे और आकाशसे सुगन्धित जलकी बूँदोंके साथ-साथ कल्पवृक्षोंके फूल बरसने लगे ॥ ११६ ॥ चक्रवर्ती श्रीकृष्णने दिग्विजयकी भारी इच्छाके चक्ररत्न आगे कर बड़े भाई बलदेव तथा अपनी सेनाके साथ प्रस्थान किया ॥ ११७ ॥ जिनका उदय बलवान् है ऐसे श्रीकृष्णने मागध आदि प्रसिद्ध देवोंको जीत कर अपना सेवक बनाया और उनके द्वारा दिये हुए श्रेष्ठ रत्न ग्रहण किये ॥ ११८ ॥ लवण समुद्र सिन्धु नदी और विजयार्ध

---

१ वाहाः ब० । याहः ल० । २ क्रुध्वा ल० । ३ ददति स्म ल० । ४ वा ल० । ५–न्यूर्जितोदयैः ल० ।

खेचराचलवाराशिगङ्गामध्यगतान् पुनः । वशीकृत्य वशी तूर्णं म्लेच्छराजान् सखेचरान् ॥ १२० ॥
भरतार्धमहीनाथो दूरोच्छ्रितपताकिकाम् । उद्बद्धतोरणां द्वारवतीं हृष्टो विवेश सः ॥ १२१ ॥
प्रविष्टवन्तं तं देवविद्याधरधराधिपाः । त्रिखण्डाधिपतिश्चक्रीत्यभ्यषिञ्चन्नयाचितम् ॥ १२२ ॥
स सहस्रसमायुष्को दशचापसमुच्छ्रितिः[1] । लसन्नीलाब्जवर्णाभो लक्ष्म्यालिङ्गितविग्रहः ॥ १२३ ॥
चक्रं शक्तिर्गदा शङ्खो धनुर्दण्डः सनन्दकः । बभूवुः सप्तरत्नानि रक्षाण्यस्याक्षपालकैः[2] ॥ १२४ ॥
रत्नमाला गदा सीरो मुसलश्च हलेशिनः । महारत्नानि चत्वारि स्फुरन्त्यिप्यभवन् विभोः[3] ॥ १२५ ॥
रुक्मिणी सत्यभामा च सती जाम्बवतीति च । सुसीमा लक्ष्मणा गान्धारी गौरी सप्तमी प्रिया ॥१२६॥
पद्मावती च देव्योऽमूरष्टौ पट्टप्रसाधनाः । सर्वाः देव्यः सहस्राणि चाणूरान्तस्य षोडश ॥ १२७ ॥
बलस्याष्ट सहस्राणि देव्योऽभीष्टसुखप्रदाः । ताभिस्तावामरं सौख्यमाप्तौ वा प्रीतिमीयतुः ॥ १२८ ॥
स्वपूर्वकृतपुण्यस्य परिपाकेन पुष्कलान् । भोगान्प्राप्नुवतस्तस्य काले गच्छति शार्ङ्गिणः ॥ १२९ ॥
अन्येद्युर्वारिदान्तेऽन्तःपुरेणामा सरोवरे । मनोहराभिधानेऽभूज्जलकेली मनोहरा ॥ १३० ॥
तत्र नेमीशितुः सत्यभामायाश्चाम्बुसेचनात् । सल्लापोऽभवदित्युच्चैश्चतुरोक्त्या मनोहरः ॥ १३१ ॥
[4]तस्प्रियावत्कुतो रन्ता मयि त्वं किं ममाप्रिया । [5]प्रियास्मि चेत्तव भ्राता यातु कां कामदायिनीम्॥१३२॥
कासौ किं तां न वेत्सि त्वं सम्यक्सा वेदयिष्यति । वदन्ति त्वामृजुं सर्वे कुटिलस्त्वं तथापि च ॥१३३॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पर्वतके बीचके म्लेच्छ राजाओंसे नमस्कार कराकर उनसे अपने पैरोंके नखोंकी कान्तिका भार उठवाया ॥ ११९ ॥ तदनन्तर विजयार्ध पर्वत, लवणसमुद्र और गङ्गानदीके मध्यमें स्थित म्लेच्छ राजाओंको विद्याधरोंके साथ ही साथ जितेन्द्रिय श्रीकृष्णने शीघ्र ही वश कर लिया ॥ १२० ॥ इस प्रकार आधे भरतके स्वामी होकर श्रीकृष्णने, जिसमें बहुत ऊँची पताकाएँ फहरा रही हैं और जगह जगह तोरण बाँधे गये हैं ऐसी द्वारावती नगरीमें बड़े हर्षसे प्रवेश किया ॥ १२१ ॥ प्रवेश करते ही देव और विद्याधर राजाओंने उन्हें तीन खण्डका स्वामी चक्रवर्ती मानकर उनका बिना कुछ कहे सुने ही अपने आप राज्याभिषेक किया ॥ १२२ ॥

श्रीकृष्णकी एक हजार वर्षकी आयु थी, दश धनुषकी ऊँचाई थी, अतिशय सुशोभित नील-कमलके समान उनका वर्ण था, और लक्ष्मीसे आलिङ्गित उनका शरीर था ॥ १२३ ॥ चक्र, शक्ति, गदा, शङ्ख, धनुष, दण्ड, और नन्दक नामका खड्ग ये उनके सात रत्न थे। इन सभी रत्नोंकी देव लोग रक्षा करते थे ॥ १२४ ॥ रत्नमाला, गदा, हल और मूसल ये देदीप्यमान चार महारत्न बलदेव प्रभुके थे ॥ १२५ ॥ रुक्मिणी, सत्यभामा, सती जाम्बवती, सुसीमा, लक्ष्मणा, गान्धारी, सप्तमी गौरी और प्रिया पद्मावती ये आठ देवियां श्रीकृष्णकी पट्टरानियाँ थीं। इनकी सब मिलाकर सोलह हजार रानियाँ थीं तथा बलदेवके सब मिलाकर अभीष्ट सुख देनेवाली आठ हजार रानियां थीं। ये दोनों भाई इन रानियोंके साथ देवोंके समान सुख भोगते हुए परम प्रीतिको प्राप्त हो रहे थे ॥१२६-१२८॥ इस प्रकार पूर्व जन्ममें किये हुए अपने पुण्य कर्मके उदयसे पुष्कल भोगोंको भोगते हुए श्रीकृष्णका समय सुखसे व्यतीत हो रहा था। किसी एक समय शरद् ऋतुमें सब अन्तःपुरके साथ मनोहर नामके सरोवरमें सब लोग मनोहर जलकेली कर रहे थे। वहीं पर जल उछालते समय भगवान् नेमिनाथ और सत्यभामाके बीच चतुराईसे भरा हुआ मनोहर वार्तालाप हुआ ॥ १२९-१३०॥ सत्यभामाने कहा कि आप मेरे साथ अपनी प्रियाके समान क्रीड़ा क्यों करते हैं ? इसके उत्तरमें नेमिराजने कहा कि क्या तुम मेरी प्रिया (इष्ट) नहीं हो ? सत्यभामाने कहा कि यदि मैं आपकी प्रिया (स्त्री) हूं तो फिर आपके भाई (कृष्ण) किसके पास जावेंगे ? नेमिनाथने उत्तर दिया कि वे कामिनीके पास जावेंगे ? सत्यभामाने कहा कि सुनूँ तो सही वह कामिनी कौन सी है ? उत्तरमें नेमिनाथने कहा कि क्या तुम नहीं जानती ? अच्छा अब जान जाओगी। सत्यभामाने कहा कि

१ सुमुच्छ्रितः ल० । २-क्षपाटकैः ख०,ग० ।-क्षवारकैः ल० (रक्षितान्यक्षपालकैः इति पाठः सुष्ठु भाति) ३ प्रभोः म० । ४ त्वं प्रियावत् ल० । ५ प्रिया चेत्तव भ्राता ल० ।

पुनः स्नानविनोदावसाने तामेवमब्रवीत् । स्नानवस्त्रं त्वया ग्राह्यं नीलोत्पलविलोचने ॥ १३४ ॥
तस्य मे किं करोम्येतत्प्रक्षालय हरिर्भवान् । यो नागशय्यामास्थाय दिव्यं शार्ङ्गशरासनम् ॥ १३५ ॥
हेलयारोपयच्चक्र प्रपूरितदिगन्तरम् । शङ्खमापूरयत्किं तत्साहसं नो भवेत्त्वया ॥ १३६ ॥
कार्यं साधु करिष्यामीत्युक्त्वा गर्वप्रचोदितः । ततः पुरं समभ्येत्य विधातुं कर्म सोऽद्भुतम् ॥ १३७ ॥
सम्प्रविश्यायुधागारं नागशय्यामधिष्ठितः । स्वां शय्यामिव नागेन्द्रमहामणिविभास्वराम् ॥ १३८ ॥
भूयो विस्फालनोन्नादज्यालतं च शरासनम् । आरोपयत्पयोजज्ञ[1] दध्मौ रुद्धदिगन्तरम् ॥ १३९ ॥
तदा संभावयामास स्वं समाविष्कृतोन्नतिम् । रागाहङ्कारयोर्लेशोऽप्यवश्यं विकृतिं नयेत् ॥ १४० ॥
सहसेत्यद्भुतं कर्म श्रुत्वाध्यास्य सभावनिम् । हरिः कुसुमचित्राख्यामाकुलाकुलमानसः ॥ १४१ ॥
उद्भूतविस्मयोऽपृच्छल्किमेतदिति किङ्करान् । ते च तत्सम्यगन्विष्य चक्रनाथं व्यजिज्ञपन् ॥ १४२ ॥
श्रुत्वा तद्वचनं चक्री सावधानं वितर्कयन् । रागि चेतः कुमारस्य चिराच्चित्रमजायत ॥ १४३ ॥
अभूत्कल्याणयोग्योऽयमारूढनवयौवनः । बाधा खलेन कामेन कस्य न स्यात्सकर्मणः ॥ १४४ ॥
इत्युग्रवंशवार्धीन्दोरुग्रसेनमहीभुजः । [2]जयावत्याश्च सर्वाङ्ग[3]शस्या राजीमतिः[4] सुता ॥ १४५ ॥
तद्गृहं तां स्वयं गत्वा कन्यां मान्यामयाचत । त्रिलोकस्वामिनो नेमेः प्रियास्त्वेषेति सादरम् ॥ १४६ ॥
त्रिखण्डजातरत्नानां त्वं पतिर्नो विशेषतः । देव त्वमेव नाथोऽसि प्रस्तुतार्थस्य के वयम् ॥ १४७ ॥

सब लोग आपको सीधा कहते हैं पर आप तो बड़े कुटिल हैं। इस प्रकार जब विनोद करते-करते स्नान समाप्त हुआ तब नेमिनाथने सत्यभामासे कहा कि हे नीलकमलके समान नेत्रों वाली! तू मेरा यह स्नानका वस्त्र ले। सत्यभामाने कहा कि मैं इसका क्या करूँ? नेमिनाथने कहा कि इसे धो डाल। तब सत्यभामा कहने लगी कि क्या आप श्रीकृष्ण हैं? वह श्रीकृष्ण, जिन्होंने कि नागशय्या पर चढ़कर शार्ङ्ग नामका दिव्य धनुष अनायास ही चढ़ा दिया था और दिगदिगन्तको पूर्ण करने-वाला शङ्ख क्या था? क्या आपमें वह साहस है, यदि नहीं है जो आप मुझसे वस्त्र धोनेकी बात कहते हैं? ॥ १३१-१३६ ॥ नेमिनाथने कहा कि 'मैं यह कार्य अच्छी तरह कर दूंगा' इतना कहकर वे गर्वसे प्रेरित हो नगरकी ओर चल पड़े और वह आश्चर्यपूर्ण कार्य करनेके लिए आयुधशालामें जा घुसे। वहाँ वे नागराजके महामणियोंसे सुशोभित नागशय्यापर अपनी ही शय्याके समान चढ़ गये, बार बार स्फालन करनेसे जिसकी डोरी रूपी लता बड़ा शब्द कर रही है ऐसा धनुष उन्होंने चढ़ा दिया और दिशाओंके अन्तरालको रोकनेवाला शङ्ख फूंक दिया ॥ १३७-१३९ ॥ उस समय उन्होंने अपने आपको महान् उन्नत समझा सो ठीक ही है क्योंकि राग और अहंकारका लेशमात्र भी प्राणीको अवश्य ही विकृत बना देता है ॥ १४० ॥ जिस समय आयुधशालामें यह सब हुआ था उस समय श्रीकृष्ण कुसुमचित्रा नामकी सभाभूमिमें विराजमान थे। वे सहसा ही यह आश्चर्यपूर्ण काम सुन कर व्यग्र हो उठे, उनका मन अत्यन्त व्याकुल हो गया ॥ १४१ ॥ बड़े आश्चर्यके साथ उन्होंने किंकरोंसे पूछा कि 'यह क्या है?' किंकरोंने भी अच्छी तरह पता लगा कर श्रीकृष्णसे सब बात ज्योंकी त्यों निवेदन कर दी। किंकरोंके वचन सुनकर चक्रवर्ती कृष्णसे बड़ी सावधानीके साथ विचार करते हुए कहा कि आश्चर्य है, बहुत समय बाद कुमार नेमिनाथका चित्त रागसे युक्त हुआ है। अब यह नवयौवनसे सम्पन्न हुए हैं अतः विवाहके योग्य हैं—इनका विवाह करना चाहिए। सो ठीक ही है ऐसा कौन सकर्मा प्राणी है जिसे दुष्ट कामके द्वारा बाधा नहीं होती हो ॥ १४२-१४४ ॥ यह कह कर उन्होंने विचार किया कि उग्रवंश रूपी समुद्रको बढ़ानेके लिए चन्द्रमाके समान, राजा उग्रसेनकी जयावती रानीसे उत्पन्न हुई राजीमति नामकी पुत्री है जो सर्वाङ्ग सुन्दर है ॥ १४५ ॥ विचारके बाद ही उन्होंने राजा उग्रसेनके घर स्वयं जाकर बड़े आदरसे 'आपकी पुत्री तीन लोकके नाथ भगवान् नेमिकुमारकी प्रिया हो' इन शब्दोंमें उस माननीय कन्याकी याचना की ॥ १४६ ॥ इसके उत्तरमें राजा उग्रसेनने कहा कि 'हे देव! तीन खण्डमें उत्पन्न हुए रत्नोंके आप ही स्वामी हैं, और खास हमारे स्वामी हैं,

---

१ शङ्खम् । २ जयवत्याश्च ल० । ३ सर्वाङ्गरम्या ख० । ४ राजमतिः ल० ।

इत्युग्रसेनवाचोग्रसंमदो यादवाधिपः । शुभेऽहनि समारभ्य विधातुं स तदुत्सवम् ॥ १४८ ॥
पञ्चरत्नमयं रम्यं समानयदनुत्तरम् । विवाहमण्डपं तस्य मध्यस्थे जगतीतले ॥ १४९ ॥
नवमुक्ताफलालोलरङ्गवल्लीविराजिनि । मङ्गलामोदि[1]पुष्पोपहारासारविलासिनि ॥ १५० ॥
विस्तृताभिनवानर्घ्यवस्त्रे [2]सौवर्णपट्टके । बध्वा सह समापार्द्रतण्डुलारोपणं वरः ॥ १५१ ॥
परेद्युः समये पाणिजलसेकस्य मायाचारिषु दुर्गतिं लोभसुतीव्रानुभवोदयात् ॥ १५२ ॥
दुराशयः सुराधीशपूज्यस्यापि महात्मनः । स्वराज्यादानमाशङ्क्य नेमेर्मायाविदां वरः ॥ १५३ ॥
निर्वेदकारणं किञ्चिन्निरीक्ष्यैष विरंस्यति । भोगेभ्य इति सञ्चिन्त्य तदुपायविधित्सया ॥ १५४ ॥
व्याधाधिपैर्धृतानीतं नानामृगकदम्बकम् । विधायैकत्र सङ्कीर्णां वृतिं तत्परितो व्यधात् ॥ १५५ ॥
अशिक्षयच्च तद्रक्षाध्यक्षान्यदि समीक्षितुम् । [3]दिशो नेमीश्वरोऽभ्येति भवद्भिः सोऽभिधीयताम् ॥१५६॥
त्वद्विवाहे व्ययीकर्तुं चक्रिणैष मृगोत्करः । समानीत इति व्यक्तं महापापोपलेपकः[4] ॥ १५७ ॥
अथ नेमिकुमारोऽपि नानाभरणभासुरः[5] । सहस्रकुन्तलो रक्तोत्पलमालाचलङ्कृतः ॥ १५८ ॥
तुरङ्गमखुरोद्धूतधूलीलिप्तदिगाननः । सवयोभिरिति प्रीतैर्महासामन्तसूनुभिः ॥ १५९ ॥
परीतः शिविकां चित्रामारुह्य नयनप्रियः । दिशो विलोकितुं गच्छंस्तत्रालोक्य यदृच्छया ॥ १६० ॥
मृगानितस्ततो घोरं रुदित्वा करुणस्वनम्[6] । भ्रमतस्तृषितान् दीनदृष्टीनतिभयाकुलान् ॥ १६१ ॥
किमर्थमिदमेकत्र निरुद्धं तृणभुक्कुलम् । इत्यन्वयुङ्क्त तद्रक्षानियुक्तानुकम्पया ॥ १६२ ॥

अतः यह कार्य आपको ही करना है—आप ही इसके नाथ हैं हम लोग कौन होते हैं ? इस प्रकार राजा उग्रसेनके वचन सुन कर श्रीकृष्ण महाराज बहुत ही हर्षित हुए। तदनन्तर उन्होंने किसी शुभ दिनमें वह विवाहका उत्सव करना प्रारम्भ किया और सबसे उत्तम तथा मनोहर पाँच प्रकारके रत्नोंका विवाहमण्डप बनवाया। उसके बीचमें एक वेदिका बनवाई गई थी जो नवीन मोतियोंकी सुन्दर रङ्गावलीसे सुशोभित थी, मङ्गलमय सुगन्धित फूलोंके उपहार तथा वृष्टिसे मनोहर थी, उस पर सुन्दर नवीन वस्त्र ताना गया था, और उसके बीचमें सुवर्णकी चौकी रखी हुई थी। उसी चौकी पर नेमिकुमारने वधू राजीमतीके साथ गीले चावलोंपर बैठनेका नेंग (दस्तूर) किया ॥१४७–१५१॥ दूसरे दिन वरके हाथमें जलधारा देनेका समय था। उस दिन मायाचारियोंमें श्रेष्ठ तथा दुर्गतिको जानेकी इच्छा करनेवाले श्रीकृष्णका अभिप्राय लोभ कषायके तीव्र उदयसे कुत्सित हो गया। उन्हें इस बातकी आशंका उत्पन्न हुई कि कहीं इन्द्रोंके द्वारा पूजनीय भगवान् नेमिनाथ हमारा राज्य न ले लें। उसी क्षण उन्हें विचार आया कि 'ये नेमिकुमार वैराग्यका कुछ कारण पाकर भोगोंसे विरक्त हो जावेंगे।' ऐसा विचार कर वे वैराग्यका कारण जुटानेका प्रयत्न करने लगे। उनकी समझमें एक उपाय आया। उन्होंने बड़े-बड़े शिकारियोंसे पकड़वाकर अनेक मृगोंका समूह बुलाया और उसे एक स्थानपर इकट्ठाकर उसके चारों ओर बाड़ी लगवा दी तथा वहाँ जो रक्षक नियुक्त किये थे उनसे कह दिया कि यदि भगवान् नेमिनाथ दिशाओंका अवलोकन करनेके लिए आवें और इन मृगोंके विषयमें पूछें तो उनसे आप लोग साफ साफ कह देना कि आपके विवाहमें मारनेके लिए चक्रवर्तीने यह मृगोंका समूह बुलाया है। महा-पापका बन्ध करनेवाले श्रीकृष्णने ऐसा उन लोगोंको आदेश दिया ॥१५२–१५७॥ तदनन्तर जो नाना प्रकारके आभूषणोंसे देदीप्यमान हैं, जिनके शिरके बाल सजे हुए हैं, जो लाल कमलोंकी मालासे अलंकृत हैं, घोड़ोंके खुरोंसे उड़ी हुई धूलिके द्वारा जिन्होंने दिशाओंके अग्रभाग लिप्त कर दिये हैं, और जो समान अवस्था वाले, अतिशय प्रसन्न बड़े-बड़े मण्डलेश्वर राजाओंके पुत्रोंसे घिरे हुए हैं ऐसे नयनाभिराम भगवान् नेमिकुमार भी चित्रा नामकी पालकीपर आरूढ़ होकर दिशाओंका अवलोकन करनेके लिए निकले। वहाँ उन्होंने घोर करुण स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर इधर-उधर दौड़ते, प्यासे, दीनदृष्टिसे युक्त तथा भयसे व्याकुल हुए मृगोंको देख दयावश वहाँके रक्षकोंसे पूछा कि यह

१–मोद–ल० । २ सौधर्म-ल० । ३–धीशो ल० । ४ महापापोपलिम्पकः ल० । ५ भारभाक् ल० । ६ करुणस्वरम् ख० ।

देवैतद्वासुदेवेन त्वद्विवाहमहोत्सवे । व्ययीकर्तुमिहानीतमित्यभाषन्त[1] तेऽपि तम् ॥ १६३ ॥
वसन्त्यरण्ये खादन्ति तृणान्यनपराधकाः । किलैतांश्च स्वभोगार्थं पीडयन्ति धिगीदृशान् ॥ १६४ ॥
किं न कुर्वन्त्यमी मूढाः प्रौढमिथ्यात्वचेतसः । प्राणिनः प्राणितुं प्राणैर्निर्घृणाः स्वैर्विनश्वरैः ॥ १६५ ॥
स्वराज्यग्रहणे शङ्कां विधाय मयि दुर्मतिः । व्यधात्कपटमीदृक्षं कष्टं दुष्टविचेष्टितम् ॥ १६६ ॥
इति निर्ध्याय निर्विण्ण निर्वेद्य निजवेश्मसु । प्रविष्टस्तत्क्षणेवद्योधिस्तत्कालोपगतामरैः ॥ १६७ ॥
बोधितः समतीतात्मभवानुस्मृतिवेपितः । तदैवागत्य देवेन्द्रैः[2] कृतनिष्क्रमणोत्सवः ॥ १६८ ॥
शिबिकां देवकुर्वाख्यामारुह्यामरवेष्टितः[3] । सहस्राम्रवणे षष्ठानशनः श्रावणे सिते ॥ १६९ ॥
पक्षे चित्राख्यनक्षत्रे षष्ठ्यां सायाह्नमाश्रितः । शतत्रयकुमाराब्दव्यतीतौ सह भूभुजाम् ॥ १७० ॥
सहस्रेण समादाय संयमं प्रत्यपद्यत । चतुर्थज्ञानधारी च बभूवासन्नकेवलः[4] ॥ १७१ ॥
सन्ध्येव भानुमस्ताद्रावनु राजीमतिश्च तम् । ययौ वाचापि दत्तानां न्यायोऽयं कुलयोषिताम् ॥१७२॥
स्वदुःखेनापि निर्विण्णः श्रूयते न जनः परः । परदुःखेन सन्तोऽमी त्यजन्त्येव महाश्रियम्[5] ॥ १७३ ॥
बलकेशवमुख्यावनीशाः सम्पूज्य संस्तवैः । ससुरेशास्तमीशानं स्वं धाम समुपाश्रयन् ॥ १७४ ॥
पारणादिवसे तस्मै वरदत्तो महीपतिः । कनकाभः प्रविष्टाय पुरीं द्वारावतीं सते ॥ १७५ ॥
श्रद्धादिगुणसम्पन्नः प्रतीच्छादिनवक्रियः । [7]अदितान्नं मुनिग्राह्यं पञ्चाश्चर्याणि चाप सः ॥ १७६ ॥
[8]कोटीर्द्वादशरत्नानां सार्धाः सुरकरच्युताः । वृष्टिं सौमनसीं वायुं मान्द्यादित्रिगुणान्वितम् ॥ १७७ ॥

पशुओंका बहुत भारी समूह यहाँ एक जगह किस लिए रोका गया है ? ॥ १५८–१६२ ॥ उत्तरमें रक्षकोंने कहा कि 'हे देव ! आपके विवाहोत्सवमें व्यय करनेके लिए महाराज श्रीकृष्णने इन्हें बुलाया है' ॥ १६३ ॥ यह सुनते ही भगवान् नेमिनाथ विचार करने लगे 'कि ये पशु जङ्गलमें रहते हैं, तृण खाते हैं और कभी किसीका कुछ अपराध नहीं करते हैं फिर भी लोग इन्हे अपने भोगके लिए पीडा पहुँचाते हैं । ऐसे लोगोंको धिक्कार है । अथवा जिनके चित्तमें गाढ़ मिथ्यात्व भरा हुआ है ऐसे मूर्ख तथा दयाहीन प्राणी अपने नश्वर प्राणोंके द्वारा जीवित रहनेके लिए क्या नहीं करते हैं ? देखो, दुर्बुद्धि कृष्णने मुझपर अपने राज्य-ग्रहणकी आशङ्काकर ऐसा कपट किया है । यथार्थमें दुष्ट मनुष्योंकी चेष्टा कष्ट देनेवाली होती है' । ऐसा विचारकर वे विरक्त हुए और लौटकर अपने घर आ गये । रत्नत्रय प्रकट होनेसे उसी समय लौकान्तिक देवोंने आकर उन्हें समझाया, अपने पूर्व भवोंका स्मरण कर वे भयसे काँप उठे । उसी समय इन्होंने आकर दीक्षाकल्याणकका उत्सव किया ॥ १६४–१६८ ॥ तदनन्तर देवकुरु नामक पालकीपर सवार होकर वे देवोंके साथ चल पड़े । सहस्राम्रवनमें जाकर तेलाका नियम लिया और श्रावण शुक्ला षष्ठीके दिन सायंकालके समय, कुमार-कालके तीन सौ वर्ष बीत जानेपर एक हजार राजाओंके साथ-साथ संयम धारण कर लिया । उसी समय उन्हें चौथा-मनःपर्यय ज्ञान हो गया और केवलज्ञान भी निकट कालमें हो जावेगा ॥ १६९–१७१ ॥ जिस प्रकार संध्या सूर्यके पीछे-पीछे अस्ताचलपर चली जाती है उसी प्रकार राजीमती भी उनके पीछे-पीछे तपश्चरणके लिए चली गई सो ठीक ही है क्योंकि शरीरकी बात तो दूर रही, वचन मात्रसे भी दी हुई कुलस्त्रियोंका यही न्याय है ॥ १७२ ॥ अन्य मनुष्य तो अपने दुखसे भी विरक्त हुए नहीं सुने जाते पर जो सज्जन पुरुष होते हैं वे दूसरेके दुःखसे ही महाविभूतिका त्याग कर देते हैं ॥ १७३ ॥ बलदेव तथा नारायण आदि मुख्य राजा और इन्द्र आदिदेव, सब अनेक स्तवनोंके द्वारा उन भगवान्की स्तुतिकर अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥ १७४ ॥ पारणाके दिन उन सज्जनोत्तम भगवान्ने द्वारावती नगरीमें प्रवेश किया । वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले तथा श्रद्धा आदि गुणोंसे सम्पन्न राजा वरदत्तने पडिगाहन आदि नवधा भक्तिकर उन्हें मुनियोंके ग्रहण करने योग्य-शुद्ध प्रासुक आहार दिया तथा पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ १७५–१७६ ॥ उसके घर देवोंके हाथसे छोड़ी हुई साढ़े

१–मित्यभाषत ल० । २ देवेन्द्राः ल० । ३–मरवेष्टिताम् ल० । ४ केवली ग० । ५ राजिमतिश्च म० । राजमतिश्च ल० । राजिमती च ख०, ग० । ६ महोश्रियम् ल० । ७ अदितान्नं ल० । ८ कोटिद्वादिश ल० ।

घनान्तरितकायामरैरभिताडितदुन्दुभि· । ध्वानं मनोहरं साधुदानघोषणपूर्वकम् ॥ १७८ ॥
एवं तपस्यतस्यस्य षट्पञ्चाशद्दिनप्रमे । छद्मस्थसमये याते गिरौ रैवतकाभिधे ॥ १७९ ॥
षष्ठोपवासयुक्तस्य महावेणोरधः[1] स्थितेः । [2]पूर्वेऽह्नयश्वयुजे मासि शुक्लपक्षादिमे दिने ॥ १८० ॥
चित्रायां केवलज्ञानमुदपद्यत सर्वगम् । पूजयन्ति स्म तं देवाः केवलावगमोत्सवे ॥ १८१ ॥
वरदत्तादयोऽभूवन्नेकादश गणेशिनः । चतुःशतानि पूर्वज्ञाः श्रुतज्ञानाब्धिपारगाः ॥ १८२ ॥
शून्यद्वितयवस्वैकैकमितास्तस्य शिक्षकाः । शून्यद्वितयपञ्चैकमिताश्चिज्ञानलोचनाः ॥ १८३ ॥
तावन्तः पञ्चमज्ञाना विक्रियर्द्धिसमन्विताः । शताधिकसहस्रं तु मनःपर्ययबोधनाः ॥ १८४ ॥
शतानि नव विज्ञेया वादिनोऽष्टशतानि च । अष्टादशसहस्राणि ते सर्वेऽपि समुच्चिताः ॥ १८५ ॥
यक्षी राजीमतिः काल्यायन्यन्याश्चाखिलार्यिकाः । चत्वारिंशत्सहस्राणि श्रावका लक्षयेक्षिताः[3] ॥१८६॥
त्रिलक्षा श्राविका देवा देव्यश्चासङ्ख्ययोदिताः । तिर्यञ्चः सङ्ख्यया प्रोक्ता गणैरेभिर्द्विषण्मितैः ॥ १८७ ॥
मार्गदर्शक : आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज
परीतो भव्यपद्मानां विकासं जनयन्मुहुः । धर्मोपदेशनार्काशुप्रसरैरघनाशिना ॥ १८८ ॥
विश्वान् देशान् विहृत्यान्ते प्राप्य द्वारावतीं कृती । स्थितो रैवतकोद्याने तन्निशम्यान्त्यकेशवः ॥ १८९ ॥
बलदेवश्च सम्प्राप्य स्वसर्वर्द्धिसमन्वितौ । वन्दित्वा श्रुतधर्माणौ [4]प्रीतवन्तौ ततो हरिः ॥ १९० ॥
प्राहुर्नास्तीति यं केचित् केचिन्नित्यं क्षणस्थितिम् । केचित्केचिदणुं चाणोः केचिच्छ्यामाकसम्मितम् ॥१९१॥
केचिदङ्गुष्ठमात्रं यं योजनानां समुच्छ्रितम् । केचिच्छतानि पञ्चैव केचिद्गगनवद्विभुम् ॥ १९२ ॥
केचिदेकं परेनाना परेऽङ्गमपरेऽन्यथा । तं जीवाख्यं प्रतिप्रायः सन्देहोऽस्तीत्यधीश्वरम् ॥ १९३ ॥

बारह करोड़ रत्नोंकी वर्षा हुई, फूल बरसे, मन्दता आदि तीन गुणोंसे युक्त वायु चलने लगी, मेघोंके भीतर छिपे देवोंके द्वारा ताडित दुन्दुभियोंका सुन्दर शब्द होने लगा और आपने बहुत अच्छा दान दिया यह घोषणा होने लगी ॥ १७७–१७८ ॥ इस प्रकार तपस्या करते हुए जब उनकी छद्मस्थ अवस्थाके छप्पन दिन व्यतीत हो गये तब एक दिन वे रैवतक (गिरनार) पर्वतपर तेलाका नियम लेकर किसी बड़े भारी बाँसके वृक्षके नीचे विराजमान हो गये । निदान, आसौज कृष्ण पडिमाके दिन चित्रा नक्षत्रमें प्रातःकालके समय उन्हें समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । देवोंने केवलज्ञान कल्याणका उत्सवकर उनकी पूजा की ॥ १७९–१८१ ॥ उनकी सभामें वरदत्तको आदि लेकर ग्यारह गणधर थे, चार सौ श्रुतज्ञानरूपी समुद्रके पारगामी पूर्वोंके जानकार थे, ग्यारह हजार आठ सौ शिक्षक थे, पन्द्रह सौ तीन ज्ञानके धारक थे, इतने ही केवल-ज्ञानी थे, ग्यारह सौ विक्रियाऋद्धिके धारक थे, नौ सौ मनःपर्ययज्ञानी थे और आठ सौ वादी थे। इस प्रकार सब मिलाकर उनकी सभामें अठारह हजार मुनिराज थे। यक्षी, राजीमती, कात्यायनी आदि सब मिला कर चालीस हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव-देवियाँ थीं और संख्यात तिर्यञ्च थे । इस तरह बारह सभाओंसे घिरे हुए भगवान् नेमिनाथ, पापोंको नष्ट करनेवाले, धर्मोपदेश रूपी सूर्यकी किरणोंके प्रसारसे भव्य जीव रूपी कमलोंको बार-बार विकसित करते हुए समस्त देशोंमें घूमे थे । अन्तमें कृतकृत्य भगवान् द्वारावती नगरीमें आकर रैवतक गिरिके उद्यानमें विराजमान हो गये । अन्तिम नारायण कृष्ण तथा बलदेवने जब यह समाचार सुना तब वे अपनी समस्त विभूतिके साथ उनके पास गये । वहाँ जाकर उन दोनोंने वन्दना की, धर्मका स्वरूप सुना और प्रसन्नताका अनुभव किया ॥ १८२–१९० ॥ तदनन्तर श्रीकृष्णने कहा कि हे भगवन् ! कोई तो कहते हैं कि जीव नामका पदार्थ है ही नहीं, कोई उसे नित्य मानते हैं, कोई क्षणस्थायी मानते हैं, कोई अणुसे भी सूक्ष्म मानते हैं ? कोई श्यामाक नामक धान्यके बराबर मानते हैं, कोई एक अङ्गुष्ठ प्रमाण मानते हैं, कोई पाँचसौ योजन मानते हैं, कोई आकाशकी तरह व्यापक मानते हैं ? कोई एक मानते हैं, कोई नाना मानते हैं, कोई

१–रधः स्थितः ल०, म० । २ पूर्वेऽह्नेऽश्वभुजे ल० । ३ लक्ष्ययोषिता घ०, ग० । ४ प्रीतिमन्तौ ल० ।

पप्रच्छ सोऽपि नैतेषु कोऽपि विद्धयस्य लक्षणम् । ध्रौव्योत्पादव्ययात्मासौ गुणी सूक्ष्मः स्वकृत्यभुक्॥१९४
ज्ञातादेहसम्मेयः स्वसंवेद्यः सुखादिभिः । अनादिकर्मसम्बन्धः सरन् गतिचतुष्टये ॥ १९५ ॥
कालादिलब्धिमासाद्य भव्यो नष्टाष्टकर्मकः । सम्यक्त्वाद्यष्टकं प्राप्य प्राग्देहपरिमाणभृत् ॥ १९६ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सविधिसागर जी महाराज
ऊर्ध्वव्रज्यास्वभावत्वाज्जगन्मूर्धनि तिष्ठति । इति जीवस्य सद्भावं जगाद जगतां गुरुः ॥ १९७ ॥
तन्निशम्यास्तिकाः सर्वे तथेति प्रतिपेदिरे । अभव्या दूरभव्याश्च मिथ्यात्वोदयदूषिताः ॥ १९८ ॥
नामुञ्चन्केचनानादिवासनां भववर्धनीम् । देवकी च तथापृच्छद्वरदत्तगणेशिनम् ॥ १९९ ॥
भगवन्मद्गृहं द्वौ द्वौ भूत्वा भिक्षार्थमागताः । बान्धवेष्विव षट्स्वेषु स्नेहः किमिति जातवान् ॥ २०० ॥
इति सोऽपि कथामित्थं वक्तुं प्रारब्धवान्गणी[1] । जम्बूपलक्षिते द्वीपे क्षेत्रेऽस्मिन्मथुरापुरे ॥ २०१ ॥
शौर्यदेशाधिपः शूरसेनो नाम महीपतिः । तत्रैव भानुदत्ताख्यश्रेष्ठिनः सप्त सूनवः ॥ २०२ ॥
मातैषां यमुनादत्ता सुभानुः सकलाग्रिमः । भानुकीर्तिस्ततो भानुषेणोऽभूद्भानुशूरवाक् ॥ २०३ ॥
पञ्चमः शूरदेवाख्यः शूरदत्तस्ततोऽप्यभूत् । सप्तमः शूरसेनाख्यः पुत्रैस्तैस्तावलंकृतौ ॥ २०४ ॥
स्वपुण्यफलसारेण जग्मतुर्गृहमेधिताम् । धर्ममन्येद्युरभ्यर्णादाचार्याभयनन्दिनः ॥ २०५ ॥
श्रुत्वा नृपो वणिङ्मुख्योऽप्यग्रहीष्टां[2] सुसंयमम् । जिनदत्तार्यिकाभ्यर्णे श्रेष्ठिभार्या च दीक्षिता ॥२०६॥
सप्तव्यसनसम्पन्ना जाताः सप्तापि तत्सुताः । पापान्मूलहरा भूत्वा राज्ञा निर्वासिताः पुरात् ॥ २०७ ॥

अज्ञानी मानते हैं और कोई उसके विपरीत ज्ञानसम्पन्न मानते हैं। इसलिए हे भगवन्, मुझे जीव तत्त्वके प्रति संदेह हो रहा है, इस प्रकार श्रीकृष्णने भगवान्से पूछा। भगवान् उत्तर देने लगे कि जीव तत्त्वके विषयमें अब तक आप लोगोंने जो विकल्प उठाये हैं उनमेंसे इस जीवका एक भी लक्षण नहीं है यह आप निश्चित समझिए। यह जीव उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यसे युक्त है, गुणवान् है, सूक्ष्म है, अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगता है, ज्ञाता है, ग्रहण किये शरीरके बराबर है, सुख-दुःख आदिसे इसका संवेदन होता है, अनादि कालसे कर्मबद्ध होकर चारों योनियोंमें भ्रमण कर रहा है। यदि यह जीव भव्य होता है तो कालादि लब्धियोंका निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका क्षय हो जानेसे सम्यक्त्व आदि आठ गुण प्राप्त कर लेता है और मुक्त होकर चरम शरीरके बराबर हो जाता है। चूँकि इस जीवका स्वभाव ऊर्ध्वगमनका है इसलिए वह तीन लोकके ऊपर विद्यमान रहता है। इस प्रकार जगद्गुरु भगवान् नेमिनाथने जीवके सद्भावका निरूपण किया ॥ १९१–१९७ ॥ उसे सुन कर जो भव्य जीव थे, उन्होंने जैसा भगवान्ने कहा था वैसा ही मान लिया परन्तु जो अभव्य अथवा दूरभव्य थे वे मिथ्यात्वके उदयसे दूषित होनेके कारण संसारको बढ़ानेवाली अपनी अनादि वासना नहीं छोड़ सके। तदनन्तर देवकीने वरदत्त गणधरसे पूछा कि हे भगवन्! मेरे घर पर दो दो करके छह मुनिराज भिक्षाके लिए आये थे उन छहोंमें मुझे कुटुम्बियों जैसा स्नेह उत्पन्न हुआ था सो उसका कारण क्या है? ॥ १९८–२०० ॥

इस प्रकार पूछने पर गणधर भी उस कथाको इस प्रकार कहने लगे कि इसी जम्बूद्वीपके भरत-क्षेत्र सम्बन्धी मथुरा नगरमें शौर्य देशका स्वामी शूरसेन नामका राजा रहता था। उसी नगरमें भानुदत्त सेठके सात पुत्र हुए थे। उनकी माताका नाम यमुनादत्ता था। उन सात पुत्रोंमें सुभानु सबसे बड़ा था, उससे छोटा भानुकीर्ति, उससे छोटा भानुशूर, पाँचवा शूरदेव, उससे छोटा शूरदत्त, सातवाँ शूरसेन था। इन सातों पुत्रोंसे माता-पिता दोनों ही सुशोभित थे और वे अपने पुण्य कर्मके फलस्वरूप गृहस्थ धर्मको प्राप्त हुए थे। किसी दूसरे दिन आचार्य अभयनन्दीसे धर्मका स्वरूप सुन कर राजा शूरसेन और सेठ भानुदत्त दोनोंने उत्कृष्ट संयम धारण कर लिया। इसी प्रकार सेठकी स्त्री यमुनादत्ताने भी जिनदत्ता नामकी आर्यिकाके पास दीक्षा धारण कर ली ॥ २०१–२०६ ॥ माता-पिताके चले जानेपर सेठके सातों पुत्र सप्त व्यसनोंमें आसक्त हो गये। उन्होंने पापमें पड़कर अपना सब मूलधन नष्ट कर दिया और ऐसी दशामें राजाने भी उन्हें अपने देशसे बाहर निकाल दिया

---

१ गुणी ब० । २ अग्रहीद्वाञ्च ब० ।

अवन्तिविषयं गत्वा विशालायाः[1] श्मशानके । शूरसेनमवस्थाप्य शेषाश्चोरयितुं पुरम् ॥ २०८ ॥
प्राविशन्प्रकृतं तस्मिन्निदमन्यदुपस्थितम् । तत्पुराधिपतिर्भूपो बभूव वृषभध्वजः ॥ २०९ ॥
भृत्यो दृढप्रहार्याख्यः स सहस्रभटः पटुः । वप्रश्रीरस्य जायाऽऽसीद्वज्रमुष्टिस्तयोः सुतः ॥ २१० ॥
विमलायाः सुता मङ्गी विमलेन्दुविशश्च सा । तत्प्रिया भूभुजा सार्द्धं वसन्ते वनमन्यदा ॥ २११ ॥
विहर्तुमुद्यताः सर्वे तत्कालसुखलिप्सया । वप्रश्रीः सह मालाभिः कालाहिं कलशेऽक्षिपत् ॥ २१२ ॥
स्नुषाभ्यसूयया कार्यं नाम नास्ति हि योषिताम् । मङ्गी चोद्यानयानार्थं मालादानसमुद्यता ॥ २१३ ॥
दष्टा वसन्तकालोग्रविषेण विषभर्तृणा । विषव्याप्तशरीरत्वादस्पन्दाभूदसौ तदा ॥ २१४ ॥
पलालवर्त्या सावेष्ट्य स्नुषां प्रेतवनेऽत्यजत् । वज्रमुष्टिर्वनक्रीडाविरामेऽभ्येत्य पृष्टवान् ॥ २१५ ॥
मङ्गी क्वेत्याकुलो माताप्यसद्भावां न्यवेदयत् । सशोकः ससमुत्खातनिशातकरवालधृत् ॥ २१६ ॥
तामन्वेष्टुं व्रजन्रात्रौ श्मशाने योगमास्थितम् । वरधर्ममुनिं दृष्ट्वा नमञ्जक्त्या कृताञ्जलिः ॥ २१७ ॥
यदि पूज्य प्रियां प्रेक्षे सहस्रदलवारिजैः । त्वां सम्पूजयिष्यामीत्याशास्य गतवांस्तदा ॥ २१८ ॥
[2]वीक्षते स्म प्रियामीषच्चेतनां विषदूषिताम् । पलालवर्तिं मुक्त्वाशु समानीयान्तिकं मुनेः ॥ २१९ ॥
तेन तत्पादसंपर्शभेषजेनाविषीकृता । सापि सद्यः समुत्थाय प्रियस्य प्रीतिमातनोत् ॥ २२० ॥
गुरुप्रीतमनस्यस्मिन्नम्भोजार्थं गते सति । शूरसेनस्तदा सर्वं तत्कर्मान्तर्हितो द्रुमैः ॥ २२१ ॥
वीक्ष्य मङ्गयाः परीक्ष्यार्थं तदभ्यर्णमुपागतः । स्वाङ्गसन्दर्शनं कृत्वा मधुरालापचेष्टितैः ॥ २२२ ॥

॥ २०७ ॥ अब वे अवन्तिदेशमें पहुँचे और उज्जयिनी नगरीके श्मशानमें छोटे भाई शूरसेनको बैठा कर बाकी छह भाई चोरी करनेके लिए नगरीमें प्रविष्ट हुए ॥ २०८ ॥ उन छहों भाइयोंके चले जानेपर उस श्मशानमें एक घटना और घटी जो कि इस प्रकार है—उस समय उज्जयिनीका राजा वृषभध्वज था, उसके एक दृढ़प्रहार नामका चतुर सहस्रभट योद्धा था, उसकी स्त्रीका नाम वप्रश्री था और उन दोनोंके वज्रमुष्टि नामका पुत्र था ॥ २०९–२१० ॥ उसी नगरमें विमलचन्द्र सेठकी विमला स्त्रीसे उत्पन्न हुई मंगी नामकी पुत्री थी, वह वज्रमुष्टिकी प्रिया हुई थी। किसी एक दिन वसन्त ऋतुमें उस समयका सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे सब लोग राजाके साथ वनमें जानेके लिए तैयार हुए। मंगी भी जानेके लिए तैयार हुई। उसने मालाके लिए कलशमें हाथ डाला परन्तु उसकी सास वप्रश्रीने बहूकी ईर्ष्यासे एक काला साँप मालाके साथ उस कलशमें पहलेसे ही रख छोड़ा था सो ठीक ही है क्योंकि ऐसा कौन सा कार्य है जिसे स्त्रियाँ नहीं कर सकें ॥ २११–२१३ ॥ वसन्त ऋतुके तीव्र विषवाले साँपने उस मंगीको हाथ डालते ही काट खाया जिससे उसके समस्त शरीरमें विष फैल गया और वह उसी समय निश्चेष्ट हो गई ॥ २१४ ॥ वप्रश्री, बहूको पयालसे लपेट कर श्मशानमें छोड़ आई। जब वज्रमुष्टि वनक्रीड़ा समाप्त होनेपर लौट कर आया तो उसने आकुल होकर अपनी माँसे पूछा कि मंगी कहाँ है ? माताने झूठमूठ कुछ उत्तर दिया परन्तु उससे वह संतुष्ट नहीं हुआ। मंगीके नहीं मिलनेसे वह बहुत दुःखी हुआ और नंगी तीक्ष्ण तलवार लेकर ढूँढ़नेके लिए रात्रिमें ही चल पड़ा ॥ २१५–२१६ ॥ उस समय श्मशानमें वरधर्म नामके मुनिराज योग धारण कर विराजमान थे। वज्रमुष्टिने भक्तिसे हाथ जोड़ कर उनके दर्शन किये और कहा कि हे पूज्य ! यदि मैं अपनी प्रियाको देख सकूंगा तो सहस्रदल वाले कमलोंसे आपकी पूजा करूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा कर वज्रमुष्टि आगे गया। आगे चलकर उसने जिसे कुछ थोड़ी सी चेतना बाकी थी, ऐसी विषसे दूषित अपनी प्रिया देखी। वह शीघ्र ही पयाल हटाकर उसेमु निराजके समीप ले आया॥२१७–२१९ ॥ और मुनिराजके चरण-कमलोंके स्पर्श रूपी ओषधिसे उसने उसे विषरहित कर लिया। मंगीने भी उठकर अपने पतिका आनन्द बढ़ाया ॥ २२० ॥ तदनन्तर गुरुदेवके ऊपर जिसका मन अत्यन्त प्रसन्न है ऐसा वज्रमुष्टि इधर सहस्रदल कमल लानेके लिए चला गया। उधर वृक्षोंसे छिपा हुआ शूरसेन यह सब काम देख रहा था ॥ २२१ ॥ वह मंगीकी परीक्षा करनेके लिए उसके पास

---

१ विशालायां ग०, ख०। २ वीक्षते ल०।

लीलावलोकनैर्हासैर्व्यधाद्विस्रम्भणं भृशम् । साप्याह भवता सार्धमागमिष्यामि मां भवान् ॥ २२३ ॥
गृहीत्वा यात्विति व्यक्तं श्रुत्वा तत्त्वत्पतेरहम् । बिभेमि तन्न वक्तव्यमिति तेनाभिलापिता ॥ २२४ ॥
मा भैषीस्त्वं वराकोऽसौ किं करिष्यति भीलुकः । ततो येन तवापायो न स्यात्तत्क्रियते मया ॥ २२५ ॥
इत्यन्योन्यकथाकाले हस्तानीतसरोरुहः । वज्रमुष्टिः समागत्य करवालं प्रियाकरे ॥ २२६ ॥
निधाय मुनिपादाब्जद्वयमभ्यर्च्य भक्तितः । आनमत्तं[1] प्रिया तस्य प्रहर्तुमसिमुद्दधे ॥ २२७ ॥
करेण शूरसेनोऽहंस्तत्करासिं तदैव सः । आच्छिद्य न्यपतद्भूमौ शूरसेनकराङ्गुलिम् ॥ २२८ ॥
वज्रमुष्टिस्तदालोक्य मा भैषीरित्यभाषत । भीताहमिति सा शाठ्यादुदितास्मै वृथोत्तरम् ॥ २२९ ॥
तदैव शूरसेनोऽपि भ्रातृभिर्लब्धवित्तकैः । चौर्येणाङ्ग भवद्भागं गृहाणेत्युदितः पृथक् ॥ २३० ॥
स भव्योऽतिविरक्तः सन्न धनेन प्रयोजनम् । संसारादतिभीतोऽहं तद्ग्रहिष्यामि संयमम् ॥ २३१ ॥
इत्यब्रवीदयं हेतुः कस्तपोग्रहणे तव । वदेत्युक्तः स तैश्छित्र[2]निजहस्ताङ्गुलिव्रणम् ॥ २३२ ॥
दर्शयित्वाऽवदत्सर्वमात्ममङ्गीविचेष्टितम् । तत्सुभानुः समाकर्ण्य स्त्रीनिन्दामकरोदिति ॥ २३३ ॥
स्थानं ता एव निन्दायाः परत्रासक्तिमागताः । वर्णमात्रेण राजन्त्यो रञ्जयन्त्योऽपरान् भृशम् ॥ २३४ ॥
आदाय कृत्रिमं रागं रागिणां नयनप्रियाः । बिभ्रतीह भृशं भापारम्याश्चित्राकृतीः स्त्रियः ॥ २३५ ॥
सुखं विषयजं प्राप्तुं प्राप्तमाधुर्यमालिकाः[3] । किंपाकफलमाला वा कान्न हन्युर्मनोरमाः २३६ ॥
मातरः केवलं नैताः प्रजानामेव योषितः । दोषाणामपि दुःशिक्षा दुर्विद्या इव दुःखदाः ॥ २३७ ॥

आया और उसने उसे अपना शरीर दिखाकर मीठी बातों, चेष्टाओं, लीलापूर्ण विलोकनों और हँसी मजाक आदिसे शीघ्र ही अपने वश कर लिया। वह शूरसेनने कहने लगी कि मैं आपके साथ चलूँगी, आप मुझे लेकर चलिए। मंगीकी बात सुनकर उसने स्पष्ट कहा कि मैं तुम्हारे पतिसे डरता हूँ इसलिए तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए। उत्तरमें मंगीने कहा कि तुम डरो मत, वह नीच डरपोक तुम्हारा क्या कर सकता है? फिर भी जिससे तुम्हारी कुछ हानि न हो वह काम मैं किये देती हूँ ॥ २२२–२२५ ॥ इस प्रकार इन दोनोंकी परस्पर बात-चीत हो रही थी कि उसी समय हाथमें कमल लिये वज्रमुष्टि आ गया। उसने अपनी तलवार तो मंगीके हाथमें दे दी और स्वयं वह भक्तिसे मुनिराजके दोनों चरण-कमलोंकी पूजा करनेके लिए नम्रीभूत हुआ। उसी समय उसकी प्रियाने उसपर प्रहार करनेके लिए तलवार उठाई परन्तु शूरसेनने उसके हाथसे उसी वक्त तलवार छीन ली। इस कर्मसे शूरसेनके हाथकी अंगुलियाँ कट-कट कर जमीन पर गिर गईं ॥ २२६–२२८ ॥ यह देखकर वज्रमुष्टिने कहा कि हे प्रिये! डरो मत। इसके उत्तरमें मंगीने झूठमूठ ही कह दिया कि हाँ, मैं डर गई थी ॥ २२९ ॥ जिस समय यह सब हो रहा था उसी समय शूरसेनके छह भाई चोरीका धन लेकर आ गये और उससे कहने लगे कि हे भाई! तू अपना हिस्सा ले ले ॥ २३० ॥ परन्तु, वह भव्य अत्यन्त विरक्त हो चुका था अतः कहने लगा कि मुझे धनसे प्रयोजन नहीं है, मैं तो संसारसे बहुत ही डर गया हूं इसलिए संयम धारण करूँगा ॥ २३१ ॥ उसकी बात सुनकर भाइयोंने कहा कि तेरे तप ग्रहण करनेका क्या कारण है? सो कह। इस प्रकार भाइयोंके कहनेपर उसने अपने हाथकी कटी हुई अंगुलियोंका घाव दिखाकर मङ्गी तथा अपने बीचकी सब चेष्टाएँ कह सुनाईं। उन्हें सुनकर सुभानु इस प्रकार स्त्रियोंकी निन्दा करने लगा ॥ २३२–२३३ ॥ कि पर पुरुषमें आसक्तिको प्राप्त हुई स्त्रियाँ ही निन्दाका स्थान हैं। ये वर्ण मात्रसे सुन्दर दिखती हैं और दूसरे पुरुषोंको अत्यन्त राग युक्त कर लेती हैं। ये बनावटी प्रेमसे ही रागी मनुष्योंके नेत्रोंको प्रिय दिखती हैं और अनेक प्रकारके आभूषणोंसे रमणीय चित्र विचित्र वेष धारण करती हैं ॥ २३४–२३५ ॥ ये विषय-सुख करनेके लिए तो बड़ी मधुर मालूम होती हैं परन्तु अन्तमें किंपाक फलके समूहके समान जान पड़ती हैं। आचार्य कहते हैं कि ये स्त्रियाँ किन्हें नहीं नष्ट कर सकती हैं अर्थात् सभीको नष्ट कर सकती हैं ॥ २३६ ॥ ये स्त्रियाँ केवल अपने

---

१ आनमन्तं ल० । २ छिन्न ल० । ३-माश्रिताः ल० ।

मृदवः शीतलाः श्लक्ष्णाः प्रायः स्पर्शसुखप्रदाः । भुजङ्गयो वाङ्गनाः प्राणहारिण्यः पापरूपिकाः ॥ २३८ ॥
हन्याद्दन्तान्तसंक्रान्तं विषं विषभृतां न वा । [1]सर्वाङ्गं सहजाहार्यं कान्तानां हन्ति सन्ततम् ॥ २३९ ॥
परेषां प्राणपर्यन्ताः पापिनामप्यपक्रियाः । हिंसानामिव कान्तानामन्तातीता दयाद्विषाम् ॥ २४० ॥
जातिमात्रेण सर्वाश्च योषितो विषमूर्तयः । न ज्ञातमेतन्नीतिज्ञैः कुर्वद्भिर्विषकन्यकाः ॥ २४१ ॥
कौटिल्यकोटयः क्रौर्यपर्यन्ताः पञ्चपातकाः । नार्योऽनार्या[2] कथं न स्युरस्युद्यत[3]विचेष्टिताः ॥ २४२ ॥
ततो निर्विद्य संसारात्सानुजः स निजार्जितम् । धनं दत्वा स्वकान्ताभ्योव रधर्मात्तपोऽगमत् ॥ २४३ ॥
जिनदत्तार्यिकाभ्याशे तद्भार्याश्च तपो ययुः । हेतुरासन्नभव्यानां को वा न स्यात्तपोग्रहे ॥ २४४ ॥
सप्तापि काननेऽन्येद्युरुज्जयिन्याः प्रतिष्ठितान् । वज्रमुष्टिः समासाद्य प्रणम्य विधिपूर्वकम् ॥ २४५ ॥
हेतुना केन दीक्षेयं भवतामित्यसौ जगौ । तेऽपि [4]निर्वर्णयामासुर्दीक्षाहेतुं यथागतम् ॥ २४६ ॥
आर्यिकाणाञ्च दीक्षायाः पृष्ट्वा मङ्गयपि कारणम् । उपाददे तमभ्यर्णे प्रव्रज्यामाप्तबोधिका ॥ २४७ ॥
वरधर्मयतेर्वज्रमुष्टिः शिष्यत्वमेयिवान् । प्रान्ते सन्न्यस्य सप्तासंस्त्रायस्त्रिंशाः स्वरादिमे ॥ २४८ ॥
द्विसागरोपमायुष्कास्ततश्च्युत्वा स्वपुण्यतः । [5]भरते धातकीखण्डे प्राच्यवाक्श्रेणिविश्रुते ॥ २४९ ॥
नित्यालोकपुरे श्रीमच्चन्द्र[6]चूलमहीपतेः । ज्यायान्देव्यां मनोहर्यां सूनुश्चित्राङ्गदोऽभवत् ॥ २५० ॥

पुत्रोंकी ही माताएँ नहीं हैं किन्तु दोषोंकी भी माताएँ हैं और जिस प्रकार बुरी शिक्षासे प्राप्त हुई बुरी विद्याएँ दुःख देती हैं उसी प्रकार दुःख देती हैं ॥ २३७ ॥ ये स्त्रियाँ यद्यपि कोमल हैं, शीतल हैं, चिकनी हैं और प्रायः स्पर्शका सुख देनेवाली हैं तो भी सर्पिणियोंके समान प्राण हरण करनेवाली तथा पाप रूप हैं ॥ २३८ ॥ साँपोंका विष तो उनके दाँतोंके अन्तमें ही रहता है फिर भी वह किसीको मारता है और किसीको नहीं मारता है किन्तु स्त्रीका विष उसके सर्व शरीरमें रहता है वह उनका सहभावी होनेके कारण दूर भी नहीं किया जा सकता और वह हमेशा मारता ही रहता है ॥ २३९ ॥ पापी मनुष्य दूसरे प्राणियोंका अपकार करते अवश्य हैं परन्तु उनके प्राण रहते पर्यन्त ही करते हैं मरनेके बाद नहीं करते पर दयाके साथ द्वेष रखनेवाली स्त्रियाँ हिंसाके समान मरणोत्तर कालमें भी अपकार करती रहती हैं ॥ २४० ॥ जिन नीतिकारोंने अलगसे विषकन्याओंकी रचना की है उन्हें यह मालूम नहीं रहा कि सभी स्त्रियाँ उत्पत्ति मात्रसे अथवा स्त्रीत्व जाति मात्रसे विषकन्याएँ होती हैं ॥ २४१ ॥ ये स्त्रियाँ कुटिलताकी अन्तिम सीमा हैं, इनकी क्रूरताका पार नहीं है ये सदा पाँच पाप रूप रहती हैं और इनकी चेष्टाएँ सदा तलवार उठाये रखनेवाले पुरुषके समान दुष्टता पूर्ण रहती हैं फिर ये अनार्य अर्थात् म्लेच्छ क्यों न कही जावें ॥ २४२ ॥ इस प्रकार सुभानुने अपने भाइयोंके साथ संसारसे विरक्त होकर अपना सब कमाया हुआ धन स्त्रियोंके लिए दे दिया और उन्हीं वरधर्म मुनिराजसे दीक्षा धारण कर ली ॥ २४३ ॥ उनकी स्त्रियोंने भी जिनदत्ता नामक आर्यिकाके समीप तप ले लिया सो ठीक ही है क्योंकि निकट भव्य जीवोंके तप ग्रहण करनेमें कौनसा हेतु नहीं हो जाता अर्थात् वे अनायास ही तप ग्रहण कर लेते हैं ॥ २४४ ॥ दूसरे दिन ये सातों ही भाई उज्जयिनी नगरीके उपवनमें पधारे तब वज्रमुष्टिने पास जाकर उन्हें विधि पूर्वक प्रणाम किया और पूछा कि आप लोगोंने यह दीक्षा किस कारणसे ली है ? उन्होंने दीक्षा लेनेका जो यथार्थ कारण था वह बतला दिया । इसी प्रकार वज्रमुष्टिकी स्त्री मंगीने भी उन आर्यिकाओंसे दीक्षाका कारण पूछा और यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर उन्हींके समीप दीक्षा धारण कर ली । वज्रमुष्टि वरधर्म मुनिराजका शिष्य बन गया । सुभानु आदि सातों मुनिराज आयुके अन्तमें संन्यासमरण कर प्रथम स्वर्गमें त्रायस्त्रिंश जातिके देव हुए ॥२४५-२४८॥ वहाँ दो सागर प्रमाण उनकी आयु थी । वहाँसे चयकर, अपने पुण्य प्रभावसे धातकीखण्ड द्वीपमें भरतक्षेत्र सम्बन्धी विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें जो नित्यालोक नामका नगर है उसके राजा चन्द्रचूलकी मनोहरी रानीसे सुभानुका जीव चित्राङ्गद नामका पुत्र हुआ

---

१ सर्वगं ख०, घ० । २ न आर्या अनार्याः म्लेच्छा इत्यर्थः । ३-रत्यद्भुत-ल० । ४ निवेदयामासु-ल० । ५ भारते ख०, ग०, घ० । ६ चित्रकूट ग०, ख० ।

इतरेऽपि तयोरेव त्रयस्ते जज्ञिरे यमाः । ध्वजवाहनशब्दान्तगरुडौ मणिचूलकः ॥ २५१ ॥
पुष्पचूलाह्वयो नन्दनचरो गगनादिकौ । तत्रैव दक्षिणश्रेण्यां नृपो मेघपुराधिपः ॥ २५२ ॥
धनञ्जयोऽस्य सर्वश्रीर्जाया तस्याः सुताऽभवत् । धनश्रीः श्रीरिवान्यैषा तत्रैवान्यो महीपतिः ॥ २५३ ॥
ख्यातो नन्दपुराधीशो हरिषेणो हरिद्विषाम् । श्रीकान्ताऽस्य प्रिया तस्यां सुतोऽभूद्धरिवाहनः ॥ २५४ ॥
धनश्रियोऽयं बन्धेन मैथुनः प्रथितो गुणैः । तत्रैव भरतेऽयोध्यायां स्वयंवरकर्मणि ॥ २५५ ॥
मालां सम्प्रापयत्प्रीत्या धनश्रीर्हरिवाहनम् । चक्रवांस्तदयोध्यायां पुष्पदन्तमहीपतिः ॥ २५६ ॥
तस्य प्रीतिङ्करी देवी तत्सूनुः पापपण्डितः । धनश्रियं सुदत्तोऽलाञ्छित्वा हरिवाहनम् ॥ २५७ ॥
तन्निर्वेगेन चित्राङ्गदाद्याः सप्तापि संयमम् । भूतानन्दाख्यतीर्थेशपादमूले समाश्रयन् ॥ २५८ ॥
ते कालान्तेऽभवन्कल्पे तुर्ये सामानिकाः सुराः । सप्ताब्ध्यायुः स्थितिप्रान्ते ततः प्रच्युत्य भारते ॥२५९॥
कुरुजाङ्गलदेशेऽस्मिन् हास्तिनाख्यपुरेऽभवत् । बन्धुमत्यां सुतः श्वेतवाहनाख्यवणिक्पतेः ॥ २६० ॥
शङ्खो नाम धनद्धर्यासौ सुभानुर्धनदः स्वयम् । तत्पुराधिपतेर्गङ्गदेवनामधरेशिनः ॥ २६१ ॥
तद्देव्या नन्दयशसः शेषास्ते यमलाह्वयः । गङ्गाख्यो गङ्गदेवश्च गङ्गमित्रश्च नन्दवाक् ॥ २६२ ॥
सुनन्दो नन्दिषेणश्च जाताः स्निग्धाः परस्परम् । गर्भेऽन्यस्मिन् महीनाथस्तस्यामासीन्निरुत्सुकः ॥२६३॥
तदौदासीन्यमुत्पन्नपुत्रहेतुकमित्यसौ । न्यदिशद्रेवतीं धात्रीं तदपत्यनिराकृतौ ॥ २६४ ॥
तं सा नन्दयशोज्येष्ठबन्धुमत्यै समर्पयत् । निर्नामकाख्यां तत्राप्य परेद्युर्नन्दने वने ॥ २६५ ॥
प्रपश्यन् सहभुञ्जानान् षण्महीशसुतान् समम् । त्वमप्यमीभिर्भुंक्ष्वेति शङ्खेन समुदाहृतम् ॥ २६६ ॥

॥ २४६-२५० ॥ बाकी छह भाइयोंके जीव भी इन्हीं चन्द्रचूल राजा और मनोहरी रानीके दो-दो करके तीन बारमें छह पुत्र हुए। गरुड़ध्वज, गरुड़वाहन, मणिचूल, पुष्पचूल, गगननन्दन और गगनचर ये उनके नाम थे। उसी धातकीखण्डद्वीपके पूर्व भरत क्षेत्रमें विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें एक मेघपुर नामका नगर है। उसमें धनञ्जय राजा राज्य करता था। उसकी रानीका नाम सर्वश्री था, उन दोनोंके धनश्री नामकी पुत्री थी जो सुन्दरतामें मानो दूसरी लक्ष्मी ही थी। उसी विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीमें एक नन्दपुर नामका नगर है उसमें शत्रुओंके लिए सिंहके समान राजा हरिषेण राज्य करता था। उसकी स्त्रीका नाम श्रीकान्ता था और उन दोनोंके हरिवाहन नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था। वह गुणोंसे प्रसिद्ध हरिवाहन नातेमें धनश्रीके भाईका साला था। उसी भरतक्षेत्र के अयोध्यानगरमें धनश्रीका स्वयंवर हुआ उसमें धनश्रीने बड़े प्रेमसे हरिवाहनके गलेमें वरमाला डाल दी। उसी अयोध्यामें पुष्पदन्त नामका चक्रवर्ती राजा था। उसकी प्रीतिंकरी स्त्री थी और उन दोनोंके पापकार्यमें पण्डित सुदत्त नामका पुत्र था। सुदत्तने हरिवाहनको मार कर धनश्रीको स्वयं ग्रहण कर लिया॥२५१–२५७॥ यह सब देखकर चित्राङ्गद आदि सातों भाई विरक्त हो गये और उन्होंने श्रीभूतानन्द तीर्थङ्करके चरणमूलमें जाकर संयम धारण कर लिया। आयुका अन्त होने पर वे सब चतुर्थ स्वर्गमें सामानिक जातिके देव हुए। वहाँ सात सागरकी उनकी आयु थी। उसके बाद वहाँसे च्युत होकर इसी भरतक्षेत्रके कुरुजांगल देशसम्बन्धी हस्तिनापुर नगरमें सेठ श्वेतवाहनके उसकी स्त्री बन्धुमतीसे सुभानुका जीव शङ्ख नामका पुत्र हुआ। वह सुभानु धन-सम्पदामें स्वयं कुबेर था। उसी नगरमें राजा गङ्गदेव रहता था। उसकी स्त्रीका नाम नन्दयशा था, सुभानुके बाकी छह भाइयोंके जीव उन्हीं दोनोंके दो-दो कर तीन बारमें छह पुत्र हुए। गङ्ग, गङ्गदेव, गङ्गमित्र, नन्द, सुनन्द, और नन्दिषेण ये उनके नाम थे। ये छहों भाई परस्परमें बड़े स्नेहसे रहते थे। नन्दयशाके जब सातवां गर्भ रहा तब राजा उससे उदास हो गया, रानीने राजाकी इस उदासीका कारण गर्भमें आया बालक ही समझा इसलिए उसने रेवती धायको आज्ञा दे दी कि तू इस पुत्रको अलग कर दे। ॥ २५८–२६४ ॥ रेवती भी उत्पन्न होते ही वह पुत्र नन्दयशाकी बड़ी बहिन बन्धुमतीके लिए सौंप आई। उसका नाम निर्नामक रक्खा गया। किसी एक दिन ये सब लोग नन्दनवनमें गये, वहाँपर राजाके छहों पुत्र एक साथ खा रहे थे, यह देखकर शंखने निर्नामकसे कहा कि तू भी इनके साथ खा।

स्थितो भोक्तुमसौ नन्दयशास्यं वीक्ष्य कोपिनी । कस्यायमिति पादेनाहंस्तावन्वीयतुः शुचम् ॥ २६७ ॥
शङ्खनिर्नामकौ राज्ञा कदाचित्सह वन्दितुम् । द्रुमसेनमुनिं याताववधिज्ञानलोचनम् ॥ २६८ ॥
अभिवन्द्य ततो धर्मश्रवणानन्तरं पुनः । निर्नामकाय किं नन्दयशाः कुप्यत्यकारणम् ॥ २६९॥
इति शङ्खेन पृष्टोऽसौ मुनिरेवमभाषत । सुराष्ट्रविषये राजा गिर्यादिनगराधिपः ॥ २७० ॥
अभूच्चित्ररथो नाम तस्यामृतरसायनः । सूपकारः पलं पक्तुं कुशलोऽस्मै प्रतुष्टवान् ॥ २७१ ॥
अदित द्वादशग्रामान् महीशो मांसलोलुपः । स कदाचित्सुधर्माख्ययत्यभ्याशे श्रुतागमः ॥ २७२ ॥
श्रद्धाय बोधिमासाद्य राज्यं मेघरथे सुते । नियोज्य संयतो जातः सुतोऽपि श्रावकोऽजनि ॥ २७३॥
ततः सूपकरग्रामानेकशेषं समाहरत् । सोऽन्येद्युर्बद्धवैरः सन् सर्वसम्भारसंस्कृतम् ॥ २७४ ॥
[1]कोशातकीफलं पक्वं मुनीन्द्रं तमभोजयत् । ऊर्जयन्तगिरौ सोऽपि तद्भिमिव गतासुकः ॥ २७५ ॥
सम्यगाराध्य सम्भूतः कल्पातीतेऽपराजिते । जघन्यत्रायुः सन्नहमिन्द्रो महर्द्धिकः ॥ २७६ ॥
सूपकारोऽपि कालान्ते तृतीयनरकं गतः । ततो निर्गत्य संसारे सुदुःखः सुचिरं भ्रमन् ॥२७७॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते क्षेत्रे विषये मङ्गलाह्वये । पलाशकूटग्रामस्य यक्षदत्तगृहेशिनः ॥ २७८ ॥
सुतो यक्षादिदत्तायां यक्षनामा बभूव सः । तयोर्यक्षिलसञ्ज्ञश्च सूनुरन्योऽन्वजायत ॥ २७९ ॥
तयोः स्वकर्मणा ज्येष्ठो नाम्ना निरनुकम्पनः । सानुकम्पोऽपरोऽज्ञायि जनैरर्थानुसारिभिः ॥ २८० ॥
कदाचित्सानुकम्पेन वार्यमाणोऽपि सोऽपरः । मार्गस्थितान्धसर्पस्य दयादूरो वृथोपरि ॥ २८१ ॥

शङ्खके कहनेसे निर्नामक उनके साथ खानेके लिए बैठा ही था कि नन्दयशा उसे देखकर क्रोध करने लगी और यह किसका लड़का है, यह कहकर उसे एक लात मार दी। इस प्रकरणसे शङ्ख और निर्नामक दोनोंको बहुत शोक हुआ। किसी एक दिन शङ्ख और निर्नामक दोनों ही राजाके साथ-साथ अवधिज्ञानी द्रुमसेन नामक मुनिराजकी वन्दनाके लिए गये। दोनोंने मुनिराजकी वन्दना की, धर्मश्रवण किया और तदनन्तर शङ्खने मुनिराजसे पूछा कि नन्दयशा निर्नामकसे अकारण ही क्रोध क्यों करती है ? इस प्रकार पूछे जानेपर मुनिराज कहने लगे कि सुराष्ट्र देशमें एक गिरिनगर नामका नगर है। उसके राजाका नाम चित्ररथ था। चित्ररथके एक अमृत-रसायन नामका रसोइया था। वह मांस पकानेमें बहुत ही कुशल था इसलिए मांसलोभी राजाने सन्तुष्ट होकर उसे बारह गाँव दे दिये थे। एक दिन राजा चित्ररथने सुधर्म नामक मुनिराजके समीप आगमका उपदेश सुना ॥ २६५-२७२ ॥ उसकी श्रद्धा करनेसे राजाको रत्नत्रयकी प्राप्ति हो गई। जिसके फलस्वरूप वह मेघरथ पुत्रके लिए राज्य देकर दीक्षित हो गया और राजपुत्र मेघरथ भी श्रावक बन गया ॥ २७३ ॥ तदनन्तर राजा मेघरथने रसोइयाके पास एकही गाँव बचने दिया, बाकी सब छीन लिये। 'इन मुनिके उपदेशसे ही राजाने मांस खाना छोड़ा है और उनके पुत्रने हमारे गांव छीने हैं' ऐसा विचार कर वह रसोइया उक्त मुनिराजसे द्वेष रखने लगा। एकदिन उस रसोइयाने सब प्रकारके मसालोंसे तैयार की हुई कड़ुवी तुमड़ीका आहार उन मुनिराजके लिए करा दिया। जिससे गिरनार पर्वत पर जाकर उनका प्राणान्त हो गया। वे समाधिमरण कर अपराजित नामक कल्पातीत विमानमें वहाँकी जघन्य आयु पाकर बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक अहमिन्द्र हुए। रसोइया आयुके अन्तमें तीसरे नरक गया और वहाँसे निकलकर अनेक दुःख भोगता हुआ चिरकाल तक संसारमें भ्रमण करता रहा ॥ २७४-२७७ ॥ तदनन्तर इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रसम्बन्धी मङ्गलदेशमें पलाशकूट नगरके यक्षदत्त गृहस्थके उसकी यक्षदत्ता नामकी स्त्रीसे यक्ष नामका पुत्र हुआ। कुछ समय बाद उन्हीं यक्षदत्त और यक्षदत्ताके एक यक्षिल नामका दूसरा पुत्र भी उत्पन्न हुआ। उन दोनों भाइयोंमें बड़ा भाई अपने कर्मोंके अनुसार निरनुकम्प-निर्दय था इसलिए लोग उसे उसकी क्रियाओंके अनुसार निरनुकम्प कहते थे और छोटा भाई सानुकम्प था—दया सहित था इसलिए लोग उसे सानुकम्प कहा करते थे ॥ २७८-२८० ॥ किसी एक दिन दोनों भाई गाड़ीमें बैठकर कहीं जा रहे थे। मार्गमें एक अन्धा साँप बैठा था। सानुकम्पके

---

१ घोषातकी ल०।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

राकटं भाण्डसम्पूर्णं बलीवर्दैरयोजयत् । सर्पस्तन्मर्दितोऽकामनिर्जरो विगतासुकः ॥ २८२ ॥
[1]पुरे श्वेतविकानाम्नि वासवस्य महीपतेः । [2]वसुन्धर्यां सुता नन्दयशाः समुदपाद्यसौ ॥ २८३ ॥
पुनर्निरनुकम्पश्च भ्रात्रा दुःखनिमित्तकम् । त्वयेदृशं न कर्तव्यमित्युक्तः शममागतः ॥ २८४ ॥
स्वायुरन्ते समुत्पन्नः सोऽयं निर्नामकाख्यया । ततः पूर्वभवोपात्तपापस्य परिपाकतः ॥ २८५ ॥
जायते नन्दयशसः कोपो निर्नामकं प्रति । इति तस्य वचः श्रुत्वा ते निर्वेगपरायणाः ॥ २८६॥
[3]नरेन्द्रषट्सुता दीक्षां शङ्खो निर्नामकोऽप्ययुः । तथा नन्दयशा रेवतीनामादित संयमम् ॥ २८७ ॥
सुव्रताख्यार्यिकाभ्याशे पुत्रस्नेहाहितेच्छया । अन्यजन्मनि चामीषामेव लाभे च वर्धने ॥ २८८॥
ते निदानं विमूढत्वादुभे चाकुरुतां समम् । ततः सर्वे तपः कृत्वा समाराध्य यथोचितम् ॥२८९॥
महाशुक्रे समुत्पन्नाः प्रान्ते सामानिकाः सुराः । षोडशाब्ध्युपमायुष्का दिव्यभोगवशीकृताः ॥ २९० ॥
ततः प्रच्युत्य शङ्खोऽभूद्बलदेवो हलायुधः । मृगावत्याख्यविषये दशार्णपुरभूपतेः ॥ २९१ ॥
देवसेनस्य चोत्पन्ना धनदेव्याश्च देवकी । त्वं सा नन्दयशाः स्त्रीत्वमुपगम्य निदानतः ॥ २९२॥
भद्रिलाख्यपुरे देशे मलयेऽजनि रेवती । सुदृष्टेः श्रेष्ठिनः श्रेष्ठा श्रेष्ठिनी सालकाख्यया ॥ २९३ ॥
प्राक्तनाः षट्कुमाराश्च यमा भूतास्तव त्रयः । तदानीमेव शक्रस्य निदेशात्कंसतो भयात् ॥ २९४ ॥
ते नैगमर्षिणा नीताः श्रेष्ठिन्या न्वलकाख्यया । वर्धिता देवदत्ताश्च देवपालोऽनुजस्ततः ॥ २९५ ॥
अनीकदत्ताश्चानीकपालः शत्रुघ्नसञ्ज्ञकः । जितशत्रुश्च जन्मन्येवात्र निर्वृतिगामिनः ॥ २९६ ॥
नवे वयसि दीक्षित्वा भिक्षार्थं पुरमागताः । त्वया दृष्टास्ततस्तेषु स्नेहो जन्मान्तरागतः ॥ २९७॥

रोकनेपर भी दयासे दूर रहनेवाले निरनुकम्पने उस अन्धे साँपपर बर्तनोंसे भरी गाड़ी बैलोंके द्वारा चला दी। उस गाड़ीके भारसे साँप कट गया और अकामनिर्जरा करता हुआ मर गया ॥ २८१-२८२ ॥ मरकर श्वेतविका नामके नगरमें वहाँके राजा वासवके उसकी रानी वसुन्धरासे नन्दयशा नामकी पुत्री हुआ ॥ २८३ ॥ छोटे भाई सानुकम्पने निरनुकम्प नामक अपने बड़े भाईको फिर भी समझाया कि आपके लिए इस प्रकार दूसरोंको दुःख देनेवाला कार्य नहीं करना चाहिए। इस प्रकार समझाये जानेपर वह शान्तिको प्राप्त हुआ ॥२८४॥ वही निरनुकम्प आयुके अन्तमें मरकर यह निर्नामक हुआ है। पूर्वभवमें उपार्जन किये हुए पापकर्मके उदयसे ही नन्दयशाका निर्नामकके प्रति क्रोध रहता है। राजा द्रुमसेनके यह वचन सुनकर राजाके छहों पुत्र, शङ्ख तथा निर्नामक सब विरक्त हुए और सभीने दीक्षा धारण कर ली। इसी प्रकार पुत्रोंके स्नेहसे उत्पन्न हुई इच्छासे रानी नन्दयशा तथा रेवती धायने भी सुव्रता नामक आर्यिकाके समीप संयम धारण कर लिया। किसी एक दिन उन दोनों आर्यिकाओंने मूर्खतावश निदान किया। नन्दयशाने तो यह निदान किया कि 'आगामी जन्ममें भी ये मेरे पुत्र हों' और रेवतीने निदान किया कि 'मैं इनका पालन करूँ'। तदनन्तर तपश्चर्या कर और अपनी योग्यताके अनुसार आराधनाओंकी आराधनाकर आयुके अन्तमें वे सब महाशुक्र स्वर्गमें सामानिक जातिके देव हुए। वहाँ सोलह सागरकी उनकी आयु थी और सब दिव्य भोगोंके वशीभूत रहते थे ॥ २८५-२९० ॥ वहाँसे च्युत होकर शङ्खका जीव हलका धारण करनेवाला बलदेव हुआ है और नन्दयशाका जीव मृगावती देशके दशार्णपुर नगरके राजा देवसेनके रानी धनदेवीसे देवकी नामकी पुत्री पैदा हुई है। निदान-बन्धके कारण ही तू स्त्रीपर्यायको प्राप्त हुई है ॥ २९१-२९२ ॥ रेवतीका जीव मलय देशके भद्रिलपुर नगरमें सुदृष्टि सेठकी अलका नामकी सेठानी हुई है। पहलेके छहों पुत्रोंके जीव दो दो करके तीन बारमें तेरे छह पुत्र हुए। उसी समय इन्द्रकी आज्ञासे कंसके भयके कारण नैगमर्षि देवने उन्हें अलका सेठानीके घर रख दिया था इसलिए अलकाने ही उन पुत्रोंका पालन किया है। देवदत्त, देवपाल, अनीकदत्त, अनीकपाल, शत्रुघ्न और जितशत्रु ये उन छहों पुत्रोंके नाम हैं, ये सभी इसी भवसे मोक्ष प्राप्त करेंगे ॥ २९३-२९६ ॥ ये सब नई अवस्थामें ही दीक्षा लेकर भिक्षाके लिए नगरमें आये थे इसलिए इन्हें देखकर तेरा पूर्वजन्मसे चला

---

१ पुर-ल० । २वसुधायां ल० । ३ नरेन्द्रः ल० ।

स्वयम्भूकेशवैश्वर्यं [1]तपःकाले निरीक्ष्य सः । निर्नामकसुतस्तेऽद्य कंसशत्रुरजायत ॥ २९८ ॥
त्वं कुतस्ते कुतः कोऽयं सम्बन्धो निर्निबन्धनः । विधेर्बलसितं चित्रमगम्यं योगिनामपि ॥ २९९ ॥
इति नैसर्गिकाशेषभव्यानुग्रहभावुकः । न्यगदद्भगवानेवं नक्तयावन्दत देवकी ॥ ३०० ॥
अथानन्तरमेवैनं सत्यभामापि [2]भक्तिकी । स्वपूर्वभवसम्बन्धमप्राक्षीदक्षरावधिम् ॥ ३०१ ॥
सोऽपि व्यापारयामास तदभीष्टनिवेदने । न हेतुः कृतकृत्यानामस्यन्योऽनुग्रहाद्विना ॥ ३०२ ॥
शीतलाख्यजिनाधीशतीर्थे धर्मे विनङ्क्ष्यति । भद्रिलाख्यपुराधीशो नाम्ना मेघरथो नृपः ॥ ३०३ ॥
प्रेयसी तस्य नन्दाख्या भूतिशर्मा द्विजाग्रणीः । तस्यासीत्कमला पत्नी मुण्डशालायनस्तयोः ॥ ३०४ ॥
तनुजो वेदवेदाङ्गपारगो भोगसक्तधीः । वृथा तपःपरिक्लेशो मूर्खैरेष प्रकल्पितः ॥ ३०५ ॥
निर्धनैः परलोकार्थं स्वयं साहसशालिभिः । भूसुवर्णादिदानेन सुखमिष्टमवाप्यते ॥ ३०६ ॥
इतीत्यादिकुदृष्टान्तकुहेतुनिपुणैर्नृपम् । कायक्लेशासहं वाक्यैरयथार्थमबूबुधत् ॥ ३०७ ॥
तथा परांश्च दुर्बुद्धीन् बोधयन् जीवितावधौ । भूत्वा सप्तस्वधोभूमिष्वतस्तिर्यक्षु च क्रमात् ॥ ३०८ ॥
गन्धमादनकुध्रोत्थ[3]महागन्धवतीनदी । समीपगत[4]झङ्कीनामपल्ल्यां स्वपापतः ॥ ३०९ ॥
जातो वनेचरः कालसञ्ज्ञः स तु कदाचन । वरधर्मयतिं प्राप्य मध्वादिविनिवृत्तितः ॥ ३१० ॥
विजयार्धेऽलकापुर्याः पत्युः पुरुबलस्य च । ज्योतिर्मालाभिधायाश्च सुतो हरिबलोऽभवत् ॥ ३११ ॥

आया स्नेह इनमें उत्पन्न हो गया है ॥ २९७ ॥ पूर्व जन्ममें जो तेरा निर्नामक नामका पुत्र था उसने तपश्चरण करते समय स्वयंभू नारायणका ऐश्वर्य देखकर निदान किया था अतः वह कंसका मारनेवाला श्री कृष्ण हुआ है ॥२९८॥ गणधर देव देवकीसे कहते हैं कि 'हे देवकी ! तू कहाँ से आई ? तेरे ये पुत्र कहाँसे आये ? और बिना कारण ही इनके साथ यह सम्बन्ध कैसे आ मिला ? इसलिए जान पड़ता है कि कर्मका उदय बड़ा विचित्र है और योगियोंके द्वारा भी अगम्य है'। इस प्रकार स्वभावसे ही समस्त भव्य जीवोंका उपकार करनेवाले गणधर भगवान्ने यह सब कथा कही। कथा सुनकर देवकीने उन्हें बड़ी भक्तिसे वन्दना की ॥ २९९–३०० ॥

तदनन्तर—भक्तिसे भरी सत्यभामाने भी, अक्षरावधिको धारण करनेवाले गणधर भगवानसे अपने पूर्व भवोंका सम्बन्ध पूछा ॥ ३०१ ॥ तब गणधर भगवान् भी उसका अभीष्ट कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि कृतकृत्य मनुष्योंका अनुग्रहको छोड़कर और दूसरा कार्य नहीं रहता है ॥ ३०२ ॥ वे कहने लगे कि शीतलनाथ भगवान्के तीर्थमें जब धर्मका विच्छेद हुआ तब भद्रिलपुर नगरमें राजा मेघरथ राज्य करता था, उसकी रानीका नाम नन्दा था। उसी समय उस नगरमें भूतिशर्मा नामका एक श्रेष्ठ ब्राह्मण था, उसकी कमला नामकी स्त्री थी और उन दोनोंके मुण्डशालायन नामका पुत्र था। मुण्डशालायन यद्यपि वेदवेदाङ्गका पारगामी था परन्तु साथ ही उसकी बुद्धि हमेशा भोगोंमें आसक्त रहती थी इसलिए वह कहा करता था कि तपका क्लेश उठाना व्यर्थ है, जिनके पास धन नहीं है ऐसे साहसी मूर्ख मनुष्योंने ही परलोकके लिए इस तपके क्लेशकी कल्पना की है। वास्तवमें पृथिवी-दान, सुवर्ण-दान आदिसे ही इष्ट सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार उसने अनेक कुदृष्टान्त और कुहेतुओंके बतलानेमें निपुण वाक्योंके द्वारा कायक्लेशके सहनेमें असमर्थ राजाको झूठमूठ उपदेश दिया। राजाको ही नहीं, अन्य दुर्बुद्धि मनुष्योंके लिए भी वह अपने जीवन भर ऐसा ही उपदेश देता रहा। अन्तमें मर कर वह सातवें नरक गया। वहाँसे निकल कर तिर्यञ्च हुआ। इस तरह नरक और तिर्यञ्च गतिमें घूमता रहा ॥ ३०३–३०८ ॥ अनुक्रमसे वह गन्धमादन पर्वतसे निकली हुई गन्धवती नदीके समीपवर्ती झङ्की नामकी पल्लीमें अपने पापकर्मके उदयसे काल नामका भील हुआ। उस भीलने किसी समय वरधर्म नामक मुनिराजके पास जाकर मधु आदि तीन मकारोंका त्याग किया था। उसके फलस्वरूप वह विजयार्ध पर्वत पर अलकानगरीके राजा पुरबल और उनकी रानी ज्योतिर्मालाके हरिबल नामका पुत्र हुआ। उसने अनन्तवीर्य नामके मुनिराजके पास

---

१ तपकाले ल० । २ भाक्तिका ल० । ३ कूटोत्थ ल० । कुध्रः पर्वतः । ४ मल्लुंकि ल० ।

अनन्तवीर्यस्यन्ते गृहीत्वा द्रव्यसंयमम् । सौधर्मकल्पे सम्भूय कालान्ते प्रच्युतस्ततः ॥ ३१२ ॥
सुकेतोर्विजयार्धाद्रौ रथनूपुरभूपतेः । सुता स्वयंप्रभायाश्च सत्यभामा त्वमित्यभूः ॥ ३१३ ॥
पित्रा ते मेऽन्यदा कस्य सुता पत्नी भविष्यति । इत्युक्तोऽ[1]नुनिमित्तादिकुशलाख्योऽर्धचक्रिणः ॥ ३१४ ॥
भविष्यति महादेवीत्याख्यन्नैमित्तिकोत्तमः । इत्युदीरितमाकर्ण्य सत्यभामाऽतुषत्राम् ॥ ३१५ ॥
रुक्मिण्याथ महादेव्या प्रणम्य स्वभवान्तरम् । परिपृष्टः [2]परार्थेहो व्याजहारेति तत्प्रभुः ॥ ३१६ ॥
द्वीपेऽस्मिन्भारते क्षेत्रे मगधान्तरवर्त्तिनि । लक्ष्मीग्रामे द्विजः सोमोऽस्याभूल्लक्ष्मीमतिः प्रिया ॥ ३१७ ॥
प्रसाधिताङ्गी सान्येद्युर्दर्पणालोकनोद्यता । समाधिगुप्तमालोक्य मुनिं भिक्षार्थमागतम् ॥ ३१८ ॥
प्रस्वेदमलदिग्धाङ्गो दुर्गन्धोऽयमिति क्रुधा । विचिकित्सापरा साधिक्षेपात्युद्गारिणी तदा ॥ ३१९ ॥
सहसोदुम्बराख्येन कुष्ठेन व्याप्तदेहिका । शुनीव तर्ज्यमाना सा जनैः परुषभाषितैः ॥ ३२० ॥
शून्यगेहेऽतिदुःखेन मृत्वा स्नेहाहिताशया । गेहेऽस्यैव द्विजस्याभूद् दुर्गन्धश्चिल्कराखुकः ॥ ३२१ ॥
तस्योपरि मुहुर्धावंस्तेन कोपवता बहिः । गृहीत्वा निष्ठुरं क्षिप्तो मृतान्धाऽहिरजायत ॥ ३२२ ॥
तत्रैवासौ पुनर्मृत्वा गर्दभोऽभूत्स्वपापतः । मुहुर्मुहुर्गृहं गच्छंस्तदैव कुपितैर्द्विजैः ॥ ३२३ ॥
हतो लकुटपाषाणैर्भग्नपादः क्रिमिव्रणैः । आकुलः पतितः कूपे दुःखितो मृत्तिमाप्तवान् ॥ ३२४ ॥
ततोऽन्धा[3]हिः समुत्पन्नो मृत्वान्धश्चाथ सूकरः । ग्रामे यो भक्षितो मृत्वा सोऽपि श्वभिरतोऽमुतः ॥ ३२५ ॥
मत्स्यस्य मन्दिरग्रामे नद्युत्तारणकारिणः । मण्डूक्याश्च सुता जाता पूतिका नाम पापिनी ॥ ३२६ ॥

द्रव्य-संयम धारण कर लिया जिसके प्रभावसे वह मरकर सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ, वहाँसे च्युत होकर उसी विजयार्ध पर्वत पर रथनूपुर नगरके राजा सुकेतुके उनकी स्वयंप्रभा रानीसे तू सत्यभामा नामकी पुत्री हुई। एक दिन तेरे पिताने निमित्त आदिके जाननेमें कुशल किसी निमित्तज्ञानीसे पूछा कि मेरी यह पुत्री किसकी पत्नी होगी ? इसके उत्तरमें उस श्रेष्ठ निमित्तज्ञानीने कहा था कि यह अर्धचक्रवर्तीकी महादेवी होगी। इस प्रकार गणधरके द्वारा कहे हुए अपने भव सुनकर सत्यभामा बहुत सन्तुष्ट हुई ॥ ३०६–३१५ ॥

अथानन्तर—महादेवी रुक्मिणीने नमस्कार कर अपने भवान्तर पूछे और जिनकी समस्त चेष्टाएँ परोपकारके लिए ही थीं ऐसे गणधर भगवान् कहने लगे ॥ ३१६ ॥ कि भरत क्षेत्र सम्बन्धी मगध देशके अन्तर्गत एक लक्ष्मीग्राम नामका ग्राम है। उसमें सोम नामका एक ब्राह्मण रहता था, उसकी स्त्रीका नाम लक्ष्मीमति था। किसी एक दिन लक्ष्मीमति ब्राह्मणी, आभूषणादि पहिन कर दर्पण देखनेके लिए उद्यत हुई ही थी कि इतनेमें समाधिगुप्त नामके मुनि भिक्षाके लिए आ पहुँचे। 'इसका शरीर पसीना तथा मैलसे लिप्त है और यह दुर्गन्ध दे रहा है' इस प्रकार क्रोध करती हुई लक्ष्मीमतिने घृणासे युक्त होकर निन्दाके वचन कहे ॥ ३१७–३१९ ॥ मुनि-निन्दाके पापसे उसका समस्त शरीर उदुम्बर नामक कुष्ठसे व्याप्त हो गया इसलिए वह जहाँ जाती थी वहीं पर लोग उसे कठोर शब्द कह कर कुत्तीके समान ललकार कर भगा देते थे ॥ ३२० ॥ वह सूने मकानमें पड़ी रहती थी, अन्तमें हृदयमें पतिका स्नेह रख बड़े दुःखसे मरी और उसी ब्राह्मणके घर दुर्गन्ध युक्त छछूँदर हुई ॥ ३२१ ॥ वह पूर्व पर्यायके स्नेहके कारण बार-बार पतिके ऊपर दौड़ती थी इसलिए उसने क्रोधित होकर उसे पकड़ा और बाहर ले जाकर बड़ी दुष्टतासे दे पटका जिससे मर कर उसी ब्राह्मणके घर साँप हुई ॥ ३२२ ॥ फिर मरकर अपने पापकर्मके उदयसे वहीं गधा हुई, वह बार-बार ब्राह्मणके घर आता था इसलिए ब्राह्मणोंने कुपित होकर उसे लाठी तथा पत्थर आदिसे ऐसा मारा कि उसका पैर टूट गया, घावोंमें कीड़े पड़ गये जिनसे व्याकुल होकर वह कुएँमें पड़ गया और दुःखी होकर मर गया ॥ ३२३–३२४ ॥ फिर अन्धा साँप हुआ, फिर मरकर अन्धा सुअर हुआ, उस सुअरको गाँवके कुत्तोंने खा लिया जिससे मरकर मन्दिर नामक गाँवमें नदी पार करानेवाले मत्स्य नामक धीवरकी मण्डूकी नामकी स्त्रीसे पूतिका नामकी पापिनी पुत्री हुई। उत्पन्न होते ही

---

१ इत्युक्तोऽसौ ल० । २ परार्थेभ्यः ग०,ख० । परार्था ईहा यस्य सः परार्थेहः । ३ ततो बहिः समुत्पन्नो ल० ।

स्वोत्पत्त्यनन्तरं लोकान्तरं यातः पिता ततः । माता च पोषिता मातामह्या सर्वाशुभाखिलैः ॥ ३२७ ॥
विचिकित्स्या नदीतीरवर्तिनी सा कदाचन । समाधिगुप्तमालोक्य नदीतीरे पुरातनम् ॥ ३२८ ॥
काललब्ध्या समासाद्य प्रतिमायोगधारिणम् । गृहीतोपशमा योगिदेहस्थमशकादिकम् ॥ ३२९ ॥
अपास्यन्ती प्रयत्नेन निशान्ते योगनिष्ठितौ । उपविष्टस्य पादाब्जमुपाश्रित्योदितं मुनेः ॥ ३३० ॥
श्रुत्वा धर्मंधियादत्त पर्वोपवसतिं सुधीः । परेद्युर्जिनपूजार्थं गच्छन्ती वीक्ष्य सार्यिकाम् ॥ ३३१ ॥
ग्रामान्तरं समं गत्वा तदानीतान्धसा सदा । प्राणसन्धारणं कृत्वा कस्मिंश्चिद्भूभृतो बिले ॥ ३३२ ॥
उपविष्टा निजाचारं पालयन्ती भयाद्यतः । सम्यग्ज्ञात्वार्यिकाख्यानात्स्ववृत्तान्तं सकौतुकात्[1] ॥३३३॥
चित्रं नीचकुलोत्पन्नाप्येवंवृत्तेति सादरम् । पूजानिर्वर्तिकां द्रष्टुं स्वां वात्सल्यादुपागताम् ॥ ३३४ ॥
अभिधाय्याम्ब पापिष्ठां मां त्वं पुण्यवती कुतः । पश्यसीति निजातीतभवान् ज्ञातान् यतीश्वरात् ॥३३५॥
तस्या व्यावर्णयत्सापि वयस्यास्याः पुरातनी । तयैतदवबुद्ध्यायान्मार्गं जैनमघक्षयात् ॥ ३३६ ॥
प्राग्जन्मार्जितपापस्य परिपाकाद्विरूपिता । रोगवत्त्वं कुगन्धत्वं निर्धनत्वादिकञ्च कैः ॥ ३३७ ॥
न प्राप्यतेऽत्र संसारे तत्त्वं भूर्माहिता शुचा । त्वयातं व्रतशीलोपवासादिपरजन्मने ॥ ३३८ ॥
पाथेयं दुर्लभं तस्मान्मा भैषीस्त्वमतः परम् । इति प्रोत्साहिता सख्या सा सन्न्यस्य समाधिना॥३३९॥
च्युतप्राणाच्युतेन्द्रस्य वल्लभाभूदतिप्रिया । पल्यानां पञ्चपञ्चाशत्तत्राच्छिन्नसौख्यभाक् ॥ ३४० ॥
च्युत्वा ततो विदर्भाख्यविषये कुण्डलाह्वये । पुरे वासवभूभर्तुः श्रीमत्याश्च सुताऽभवः ॥ ३४१ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज

उसका पिता मर गया और माता भी चल बसी इसलिए मातामही (नानी) ने उसका पोषण किया। वह सब प्रकारसे अशुभ थी और सबलोग उससे घृणा करते थे। किसी एक दिन वह नदीके किनारे बैठी थी वहींपर उसे उन समाधिगुप्त मुनिराजके दर्शन हुए जिनकी कि उसने जन्मान्तरमें निन्दा की थी। वे मुनि प्रतिमायोगसे अवस्थित थे, पूतिकाकी काललब्धि अनुकूल थी इसलिए वह शान्तभावको प्राप्तकर रात्रिभर मुनिराजके शरीरपर बैठनेवाले मच्छर आदिको दूर हटाती रही। जब प्रातःकालके समय प्रतिमायोग समाप्तकर मुनिराज विराजमान हुए तब वह उनके चरणकमलोंके समीप जा पहुँची और उनका कहा हुआ धर्मोपदेश सुनने लगी। धर्मोपदेशसे प्रभावित होकर उस बुद्धिमतीने पर्वके दिन उपवास करनेका नियम लिया। दूसरे दिन वह जिनेन्द्र भगवान्की पूजा (दर्शन) करनेके लिए जा रही थी कि उसी समय उसे एक आर्यिकाके दर्शन हो गये। वह उन्हीं आर्यिकाके साथ दूसरे गाँव तक चली गई। वहींपर उसे भोजन भी प्राप्त हो गया। इस तरह वह प्रतिदिन ग्रामान्तरसे लाये हुए भोजनसे प्राण रक्षा करती और पापके भयसे अपने आचारकी रक्षा करती हुई किसी पर्वतकी गुफामें रहने लगी। एक दिन एक श्राविका आर्यिकाके पास आई। आर्यिकाने उससे कहा कि पूतिका नीच कुलमें उत्पन्न होकर भी इस तरह सदाचारका पालन करती है यह आश्चर्यकी बात है। आर्यिकाकी बात सुनकर उस श्राविकाको बड़ा कौतुक हुआ। जब पूतिका पूजा (दर्शन) कर चुकी तब वह स्नेहवश उसके पास आकर उसकी प्रशंसा करने लगी। इसके उत्तरमें पूतिकाने कहा कि हे माता! मैं तो महापापिनी हूँ, मुझे आप पुण्यवती क्यों कहती हैं? यह कह, उसने समाधिगुप्त मुनिराजसे जो अपने पूर्वभव सुने थे वे सब कह सुनाये। वह श्राविका पूतिकाकी पूर्वभवकी सखी थी। पूतिकाके मुखसे यह जानकर उसने कहा कि 'यह जीव पापका भय होनेसे ही जैनमार्ग-जैनधर्मको प्राप्त होता है। इस संसारमें पूर्वभवसे अर्जित पापकर्मके उदयसे विरूपता, रोगीपना, दुर्गन्धता तथा निर्धनता आदि किन्हें नहीं प्राप्त होती? अर्थात् सभीको प्राप्त होती है इसलिए तू शोक मतकर, तेरे द्वारा ग्रहण किये हुए व्रत शील तथा उपवास आदि पर-जन्मके लिए दुर्लभ पाथेय (संबल) के समान हैं, तू अब भय मत कर।' इस प्रकार उस श्राविकाने उसे खूब उत्साह दिया। तदनन्तर-समाधिमरणकर वह अच्युतेन्द्रकी अतिशय प्यारी देवी हुई। पचपन पल्य तक वह अखण्ड सुखका उपभोग करती रही। वहाँसे च्युत होकर विदर्भ देशके कुण्डलपुर नगरमें राजा वासवकी रानी श्रीमतीसे तू रुक्मिणी नामकी पुत्री हुई॥ ३२५-३४१ ॥

१ सकौतुका ल०।

रुक्मिण्यथ पुरः कौसलाख्यया भूपतेः सुतः । भेषजस्याभवन्मद्र्यां शिशुपालस्त्रिलोचनः ॥ ३४२ ॥
अभूतपूर्वमेतत्तु मनुष्येष्वस्य किं फलम् । इति भूपतिना पृष्टः स्पष्टं नैमित्तिकोऽवदत् ॥ ३४३ ॥
तृतीयं नयनं यस्य दर्शनादस्य नश्यति । अयं हनिष्यते तेन संशयो नेत्र[1]दृष्टवित् ॥ ३४४ ॥
कदाचिद्भेषजो मद्री शिशुपालः परेऽपि च । गत्वा द्वारावतीं द्रष्टुं वासुदेवं समुत्सुकाः ॥ ३४५ ॥
अदृश्यतामगात्तेन जरासन्धारिवीक्षणात् । तृतीयं शिशुपालस्य विचित्रा द्रव्यशक्तयः ॥ ३४६ ॥
विज्ञातादेशया मद्र्या तद्विलोक्य हरिर्भिया । ददस्व पूज्य मे पुत्रभिक्षामित्यन्ययाचत ॥ ३४७ ॥
शतापराधपर्यन्तमन्तरेणाम्ब मद्भयम् । नास्यास्तीति हरेर्लब्धवरासौ स्वां पुरीमगात् ॥ ३४८ ॥
विशुद्धमण्डलो नित्यमुद्यन् ध्वस्तद्विषत्तमाः । पद्माह्लादकरस्तीक्ष्णकरः क्रूरः प्रतापवान् ॥ ३४९ ॥
प्रच्छाद्य परतेजांसि भूभृन्मूर्धस्थपादकः । शैशवे शिशुपालोऽसौ भासते स्मेव भास्करः ॥ ३५० ॥
हरिं हरिरिवाक्रम्य विक्रमेणाक्रमेपिणा । राजकण्ठीरवत्वेन सोऽवाञ्छद्वर्तितुं स्वयम् ॥ ३५१ ॥
दर्पिणा यशसा विश्वसर्पिणा स्वायुरर्पिणा । शतं तेनापराधानां व्यधायि मधुविद्विषः ॥ ३५२ ॥
स्वमूर्ध्वीकृत्य मूर्धन्यः कृत्यपक्षोपलक्षितः । अधोक्षजमधिक्षिप्य लक्ष्मीमाक्षेसुमुद्यतौ ॥ ३५३ ॥

तदनन्तर कोशल नामकी नगरीमें राजा भेषज राज्य करते थे । उनकी रानीका नाम मद्री था; उन दोनोंके एक तीन नेत्रवाला शिशुपाल नामका पुत्र हुआ। मनुष्योंमें तीन नेत्रका होना अभूतपूर्व था इसलिए राजाने निमित्तज्ञानीसे पूछा कि इसका क्या फल है ? तब परोक्षकी बात जाननेवाले निमित्तज्ञानीने साफ-साफ कहा कि जिसके देखनेसे इसका तीसरा नेत्र नष्ट हो जावेगा यह उसीके द्वारा मारा जावेगा इसमें संशय नहीं है ॥३४२-३४४॥ किसी एक दिन राजा भेषज, रानी मद्री, शिशुपाल तथा अन्य लोग बड़ी उत्सुकताके साथ श्रीकृष्णके दर्शन करनेके लिए द्वारावती नगरी गये थे वहाँ श्रीकृष्णके देखते ही शिशुपालका तीसरा नेत्र अदृश्य हो गया सो ठीक ही है क्योंकि द्रव्योंकी शक्तियाँ विचित्र हुआ करती हैं ॥३४५-३४६॥ यह देख मद्रीको निमित्तज्ञानीकी बात याद आ गई इसलिए उसने डरकर श्रीकृष्णसे याचना की कि 'हे पूज्य ! मेरे लिए पुत्रभिक्षा दीजिये' ॥३४७॥ श्रीकृष्णने उत्तर दिया कि हे अम्ब ! सौ अपराध पूर्ण हुए बिना इसे मुझसे भय नहीं है अर्थात् जब तक सौ अपराध नहीं हो जावेंगे तब तक मैं इसे नहीं मारूँगा' इसप्रकार श्रीकृष्णसे वरदान पाकर मद्री अपने नगरको चली गई ॥ ३४८ ॥ इधर वह शिशुपाल बाल-अवस्थामें ही सूर्यके समान देदीप्यमान होने लगा क्योंकि जिस प्रकार सूर्यका मण्डल विशुद्ध होता है उसी प्रकार उसका मण्डल-मन्त्री आदिका समूह भी विशुद्ध था—विद्वेष रहित था, जिस प्रकार सूर्य उदित होते ही अन्धकारको नष्ट कर देता है उसी प्रकार शिशुपाल भी उदित होते ही निरन्तर शत्रुरूपी अन्धकारको नष्ट कर देता था, जिस प्रकार सूर्य पद्म अर्थात् कमलोंको आनन्दित करता है उसी प्रकार शिशुपाल भी पद्मा अर्थात् लक्ष्मीको आनन्दित करता था, जिस प्रकार सूर्यकी किरण तीक्ष्ण अर्थात् उष्ण होती है उसी प्रकार उसका महसूल भी तीक्ष्ण अर्थात् भारी था, जिस प्रकार सूर्य क्रूर अर्थात् उष्ण होता है उसी प्रकार शिशुपाल भी क्रूर अर्थात् दुष्ट था, जिस प्रकार सूर्य प्रतापवान् अर्थात् तेजसे सहित होता है उसी प्रकार शिशुपाल भी प्रतापवान् अर्थात् सेना और कोशसे उत्पन्न हुए तेजसे युक्त था और जिस प्रकार सूर्य अन्य पदार्थोंके तेजको छिपाकर भूभृत अर्थात् पर्वतके मस्तकपर—शिखर पर अपने पाद अर्थात् किरण स्थापित करता है उसी प्रकार शिशुपाल भी अन्य लोगोंके तेजको आच्छादितकर राजाओंके मस्तकपर अपने पाद अर्थात् चरण रखता था । वह आक्रमणकी इच्छा रखनेवाले पराक्रमसे अपने आपको सब राजाओंमें श्रेष्ठ समझने लगा और सिंहके समान, श्रीकृष्णके ऊपर भी आक्रमण कर उन्हें अपनी इच्छानुसार चलानेकी इच्छा करने लगा ॥ ३४९-३५१ ॥ इस प्रकार अहंकारी, समस्त संसारमें फैलनेवाले यशसे उपलक्षित और अपनी आयुको समर्पण करनेवाले उस शिशुपालने श्रीकृष्णके सौ अपराध कर डाले ॥ ३५२ ॥ वह अपने आपको ऊँचा-श्रेष्ठ बनाकर सबका शिरोमणि समझता था, सदा करने योग्य कार्योंकी

---

१ अदृष्टं परोक्षं दैवं वा वेत्ति जानातीति अदृष्टवित् ।

सङ्घः शान्तोऽपि शत्रूणां हन्त्येवेवाघसञ्चयः । विजिगीषुस्तमुक्षेसुं क्षेपकृन्न मुमुक्षुवत् ॥ ३५४ ॥
एवं प्रयाति काले त्वां शिशुपालाय ते पिता । दातुं समुद्यतः प्रीत्या तच्छ्रुत्वा युद्धकाङ्क्षिणा ॥३५५॥
नारदेन हरिः सर्वं तत्कार्यमबबोधितः । षडङ्गबलसम्पन्नो गत्वा हत्वा तमूर्जितम् ॥ ३५६ ॥
आदाय त्वां महादेवीपट्टबन्धे न्ययोजयत् । श्रुत्वा तद्वचनं तस्याः परितोषः परोऽजनि ॥ ३५७ ॥
इत्थं वृत्तकमाकर्ण्य कः करोति जुगुप्सनम् । मत्वा मलीमसान्नो चेद्यदि दुर्धीर्मुनीश्वरान् ॥ ३५८ ॥
अथ जाम्बवती नत्वा मुनिं स्वभवसन्ततिम् । पृच्छति स्मादरादेवमुवाच भगवानपि ॥ ३५९ ॥
द्वीपेऽस्मिन्प्राग्विदेहेऽस्ति विषयः पुष्कलावती । वीतशोकपुरं तत्र दमको वैश्यवंशजः ॥ ३६० ॥
पत्नी देवमतिस्तस्य सुतासीद्देविला तयोः । दत्ताऽसौ वसुमित्राय विधवाऽभूदनन्तरम् ॥ ३६१ ॥
निर्विण्णा जिनदेवाख्ययतिमेत्याहितव्रता । अगाद्व्यन्तरदेवीत्वं मन्दरे नन्दने वने ॥ ३६२ ॥
ततश्चतुरशीत्युक्तसहस्राब्दायुषश्च्युतौ । विषये पुष्कलावत्यां पुरे विजयनामनि ॥ ३६३ ॥
मधुषेणाख्यवैश्यस्य बन्धुमत्याश्च बन्धुरा । सुता बन्धुयशा नाम बभूवाभ्युदयोन्मुखी ॥ ३६४ ॥
जिनदेवभुवा सख्या सहासौ जिनदत्तया । समुपोष्यादिमे कल्पे कुबेरस्याभवत्प्रिया ॥ ३६५ ॥
ततश्च्युत्वाऽभवत्पुण्डरीकिण्यां वज्रनामधृत् । वैश्यस्य सुप्रभायाश्च सुमतिः सुतसत्तमा ॥ ३६६ ॥
सा तत्र सुव्रताख्यार्यिकाहारार्पणपूर्वकम् । रत्नावलीमुपोष्याभूद् ब्रह्मलोकेऽप्सरोवरा ॥ ३६७ ॥
चिरात्ततो विनिष्क्रम्य द्वीपेऽस्मिन् खेचराचले । उदक्श्रेण्यां पुरे जाम्बवाख्ये जाम्बवभूपतेः ॥ ३६८ ॥
अभूस्त्वं जम्बुषेणायां सती जाम्बवती सुता । सूनुः पवनवेगस्य श्यामलायाश्च कामुकः ॥ ३६९ ॥

पक्षसे सहित रहता था और श्रीकृष्णको भी ललकारकर उनकी लक्ष्मी छीननेका उद्यम करता था ॥ ३५३ ॥ शान्त हुआ भी शत्रुओंका समूह पापोंके समूहके समान नष्ट कर ही देता है इसलिए विजयकी इच्छा रखनेवाले राजाको मुमुक्षके समान, शत्रुको नष्ट करनेमें विलम्ब नहीं करना चाहिये ॥ ३५४ ॥ गणधर भगवान्, महारानी रुक्मिणीसे कहते हैं कि इस प्रकार समय बीत रहा था कि इसी बीचमें तेरा पिता तुझे बड़ी प्रसन्नतासे शिशुपालको देनेके लिए उद्यत हो गया। जब युद्धकी चाह रखनेवाले नारदने यह बात सुनी तो वह श्रीकृष्णको सब समाचार बतला आया। श्रीकृष्णने छह प्रकारकी सेनाके साथ जाकर उस बलवान् शिशुपालको मारा और तुझे लेकर महादेवीके पट्टपर नियुक्त किया। गणधर भगवान्के यह वचन सुनकर रुक्मिणीको बड़ा हर्ष हुआ। आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि इस तरह रुक्मिणीकी कथा सुनकर दुर्बुद्धिके सिवाय ऐसा कौन मनुष्य होगा जो कि महामुनियोंको मलिन देखकर उनसे घृणा करेगा ॥ ३५५–३५८ ॥

अथानन्तर–रानी जाम्बवतीने भी बड़े आदरके साथ नमस्कार कर गणधर भगवान्से अपने पूर्वभव पूछे और गणधर भगवान् भी इस प्रकार कहने लगे कि इसी जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें पुष्कलावती नामका देश है। उसके वीतशोक नगरमें दमक नामका वैश्य रहता था ॥३५९–३६०॥ उसकी स्त्रीका नाम देवमति था, और उन दोनोंके एक देविला नामकी पुत्री थी। वह पुत्री वसुमित्रके लिए दी गई थी परन्तु कुछ समय बाद विधवा हो गई जिससे विरक्त होकर उसने जिनदेव नामक मुनिराजके पास जाकर व्रत ग्रहण कर लिये और आयुके अन्तमें वह मरकर मेरु पर्वतके नन्दनवनमें व्यन्तर देवी हुई ॥ ३६१–३६२ ॥ तदनन्तर वहाँकी चौरासी हजार वर्षकी आयु समाप्त होनेपर वह वहाँसे चयकर पुष्कलावती देशके विजयपुर नामक नगरमें मधुषेण वैश्यकी बन्धुमती स्त्रीसे अतिशय सुन्दरी बन्धुयशा नामकी पुत्री हुई। उसका अभ्युदय दिनोंदिन बढ़ता ही जाता था। वहींपर उसकी जिनदेवकी पुत्री जिनदत्ता नामकी एक सखी थी उसके साथ उसने उपवास किये, जिसके फलस्वरूप मरकर प्रथम स्वर्गमें कुबेरकी देवाङ्गना हुई ॥ ३६३–३६५ ॥ वहाँसे चयकर पुण्डरीकिणी नगरीमें वज्रनामक वैश्य और उसकी सुभद्रा स्त्रीके सुमति नामकी उत्तम पुत्री हुई। उसने वहाँ सुव्रता नामकी आर्यिकाके लिए आहार दान देकर रत्नावली नामका उपवास किया, जिससे ब्रह्म स्वर्गमें श्रेष्ठ अप्सरा हुई। बहुत दिन बाद वहाँसे चयकर इसी जम्बूद्वीपके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीपर जाम्बव नामके नगरमें राजा जाम्बव और रानी जम्बुषेणाके तू जाम्बवती

भवत्याः स नमिर्नाम्ना मैथुनोऽशिथिलेच्छया । ज्योतिर्वनेऽन्यदा स्थित्वा देया जाम्बवती न चेत् ॥३७०॥
आच्छिद्याहं ग्रहीष्यामीत्यवोचज्जाम्बवः क्रुधा । खादितुं प्रेषयामास विद्यां माक्षिकलक्षिताम् ॥ ३७१ ॥
तदा नमिकुमारस्य किन्नराख्यपुराधिपः । मातुलो यक्षमाली तामच्छैत्सीत्खेचरेश्वरः ॥ ३७२ ॥
सर्वविद्याच्छिदां श्रुत्वा तज्जाम्बवतनूद्भवे । बलेनाक्रम्य सम्प्राप्ते कुमारे जम्बुनामनि ॥ ३७३ ॥
पलायत निजस्थानान्नमिर्भीत्वा समातुलः । अनालोचितकार्याणां किं मुक्त्वान्यत्पराभवम् ॥ ३७४ ॥
नारदस्तद्विदित्वाशु सम्प्राप्य कमलोदरम् । वर्णयामास जाम्बवतीरूपमतिसुन्दरम् ॥ ३७५ ॥
हठात्कृष्णस्तदाकर्ण्य हरिष्यामीति तां सतीम् । सबलबलसम्पत्त्या गत्वा [1]खगनगान्तिके ॥ ३७६ ॥
निविष्टो मनसालोच्य ज्ञात्वा तत्कर्मदुष्करम् । उपोष्याचिन्तयद्रात्रौ केनेदं सेत्स्यतीत्यसौ ॥ ३७७ ॥
प्रसाधितत्रिखण्डोऽपि तत्राभूत्खण्डितायतिः[2] । तद्विपक्षखगेन्द्रस्य पुण्यं किमपि तादृशम् ॥ ३७८ ॥
यक्षिलाख्योऽनुजस्तस्य प्राक्तनस्तपसावसन् । महाशुक्रे तदैत्यैते विद्ये द्वे साधयेति ते ॥ ३७९ ॥
दत्त्वा तत्साधनोपायमभिधाय गतो दिवम् । स क्षीरसागरं कृत्वा तत्राहिशयने स्थितः ॥ ३८० ॥
साधयामास मासांस्ते चतुरो विधिपूर्वकम् । सिंहाहिवैरिवाहिन्यौ विद्ये हलिहरी गतौ ॥ ३८१ ॥
आरुह्य जाम्बवं युद्धे विजित्यादाय तत्सुताम् । महादेवीपदे प्रीत्या त्वामकार्षीक्षितीडिति ॥ ३८२ ॥
श्रुतं वक्तृविशेषेण यद्यप्यस्पष्टतर्कणम् । तद्दृष्टमिव विस्पष्टं सर्वं तस्यास्तदाऽभवत् ॥ ३८३ ॥

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नामकी पुत्री हुई। उसी विजयार्ध पर्वतपर पवनवेग तथा श्यामलाका पुत्र नमि रहता था वह रिश्तेमें भाईका साला था और तुझे चाहता था। एक दिन वह ज्योतिर्वनमें बैठा था वहाँ तेरे प्रति तीव्र इच्छा होनेके कारण उसने कहा कि यदि जाम्बवती मुझे नहीं दी जावेगी तो मैं उसे छीनकर ले लूँगा। यह सुनकर तेरे पिता जाम्बवको बड़ा क्रोध आ गया। उसने उसे खानेके लिए माक्षिक-लक्षिता नामकी विद्या भेजी। उस समय वहाँ किन्नरपुरका राजा नमिकुमारका मामा यक्षमाली विद्याधर विद्यमान था उसने यह विद्या छेद डाली ॥ ३६६–३७२ ॥ अपनी सब विद्याओंके छेदी जानेकी बात सुनकर राजा जाम्बवने अपना जम्बु नाम पुत्र भेजा। सेनाके साथ आक्रमण करता हुआ जम्बुकुमार जब वहाँ पहुँचा तो वह नमि डरकर अपने मामाके साथ अपने स्थानसे भाग खड़ा हुआ सो ठीक ही है क्योंकि जो कार्य विना विचारके किये जाते हैं उनका फल पराभवके सिवाय और क्या हो सकता है ? ॥ ३७३–३७४ ॥ नारद, यह सब जानकर शीघ्र ही कृष्णके पास गया और जाम्बवतीके अतिशय सुन्दर रूपका वर्णन करने लगा। यह सुनकर श्रीकृष्णने कहा कि मैं उस सतीको हठात् (जबरदस्ती) हरण करूँगा। यह कहकर वे अपनी सेना रूपी सम्पत्तिके साथ चल पड़े और विजयार्ध पर्वतके समीपवर्ती वनमें ठहर गये। बलदेव उनके साथ थे ही। यह कार्य अत्यन्त कठिन है ऐसा जानकर उन्होंने उपवासका नियम लिया और रात्रिके समय मनमें विचार किया कि यह कार्य किसके द्वारा सिद्ध होगा। देखो, जिसने तीन खण्ड वशकर लिये ऐसे श्रीकृष्णका भी भविष्य वहाँ खण्डित दिखने लगा परन्तु उस विद्याधर राजाके विरोधी श्रीकृष्णका पुण्य भी कुछ वैसा ही प्रबल था ॥ ३७५–३७८ ॥ कि जिससे पूर्व जन्मका यक्षिल नामका छोटा भाई, जो तपकर महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ था, आया और कहने लगा कि 'मैं ये दो विद्याएँ देता हूँ इन्हें तुम सिद्ध करो' इस प्रकार कह कर तथा विद्याएँ सिद्ध करनेकी विधि बतला कर वह स्वर्ग चला गया। इधर श्रीकृष्ण क्षीरसागर बनाकर उसमें नागशय्यापर आरूढ़ हुए और विधि पूर्वक चार माह तक विद्याएँ सिद्ध करते रहे। अन्तमें बलदेवको सिंहवाहिनी और श्रीकृष्णको गरुड़वाहिनी विद्या सिद्ध हो गई। तदनन्तर उन विद्याओं पर आरूढ़ होकर श्रीकृष्णने युद्धमें जाम्बवको जीता और उसकी पुत्री तुझ जाम्बवती को ले आये। घर आकर उन्होंने तुझे बड़ी प्रीतिके साथ महादेवीके पद पर नियुक्त किया ॥ ३७९–३८२ ॥ यद्यपि पूर्व जन्मका वृत्तान्त अस्पष्ट था तो भी वक्ता विशेषके मुखसे सुननेके कारण वह सबका सब जाम्बवतीको प्रत्यक्षके समान स्पष्ट हो गया ॥ ३८३ ॥

---

१ खगवनान्तिके ल० । २ खंडतायतिः ल० ।

अथानन्तरमेवैनं मुनीन्द्रं गणनायकम् । सुसीमा भवसम्बन्धमात्मनः पृच्छति स्म सा ॥ ३८४ ॥
स्ववाक्किरणजालेन बोधयंस्तन्मनोम्बुजम् । इत्युवाच विनेयानां निर्निमित्तैकबान्धवः ॥ ३८५ ॥
धातकीखण्डपूर्वार्ध-प्राग्विदेहेऽतिविश्रुतः । भोगाङ्गमङ्गिनामेको विषयो मङ्गलावती ॥ ३८६ ॥
रत्नसञ्चयनामात्र पुरं तत्प्रतिपालकः । विश्वदेवः प्रियास्यासीद्देवी [1]श्रीमत्यनुन्दरी ॥ ३८७ ॥
तमयोध्यापतौ युद्धे हतवत्यतिशोकतः । सा मन्त्रिभिर्निषिद्धापि प्रविश्य हुतभोजिनम् ॥ ३८८ ॥
विजयार्धे सुरी भूत्वा व्यन्तरेष्वयुतायुषा । जीवित्वा तत्र तस्यान्ते भवे भ्रान्त्वा यथोचितम् ॥ ३८९ ॥
द्वीपेऽस्मिन्भारते शालिग्रामे यक्षस्य गेहिनी । देवसेनानयोर्यक्षदेवी जाता सुता सुधीः ॥ ३९० ॥
कदाचिद्ध[2]र्मसेनाख्यमुनिं संश्रित्य सद्व्रता । मासोपवासिने तस्मै दत्वा कायस्य सुस्थितिम् ॥ ३९१ ॥
सा कदाचिद्वने रन्तुं गत्वा वर्षभयाद् गुहाम् । प्रविष्टाऽजगरागीर्णा हरिवर्षे तनुं श्रिता ॥ ३९२ ॥
निर्विश्य तत्रतान् भोगान् नागी जाता ततश्च्युता । च्युता ततो विदेहेऽस्मिन् पुष्कलावत्युदीरिते ॥३९३॥
विषये पुण्डरीकिण्यामशोकाख्यमहीपतेः । सोमश्रियश्च श्रीकान्ता सुता भूत्वा कदाचन ॥३९४॥
जिनदत्तार्यिकोपान्ते दीक्षामादाय सुव्रता । तपस्यन्ती चिरं घोरमुपोष्य कनकावलीम् ॥३९५॥
माहेन्द्रे दिविजीभूत्वा भुक्त्वा भोगान्दिवौकसाम् । आयुरन्ते ततश्च्युत्वा सुज्येष्ठायां सुताऽभवः॥३९६॥
सुराष्ट्रवर्धनाख्यस्य नृपस्य त्वं सुलक्षणा । हरेर्देवी प्रमोदेन वर्धसे वल्लभा सती ॥३९७॥
स्वभवान्तरसम्बन्धमाकर्ण्यैवाप संमदम् । को न गच्छति सन्तोषमुत्तरोत्तरवृद्धितः ॥३९८॥
लक्ष्मणापि मुनिं नत्वा शुश्रूषुः स्वभवानभूत् । अभाषतैवमेतस्याश्चिकीर्षुः सोऽप्यनुग्रहम् ॥३९९॥

अथानन्तर—इन्हीं गणनायक मुनिराजको नमस्कार कर सुसीमा नामकी पट्टरानी अपने पूर्व भवोंका सम्बन्ध पूछने लगी ॥ ३८४ ॥ तब शिष्यजनोंके अकारण बन्धु गणधर भगवान् अपने वचन रूपी किरणोंके समूहसे उसके मनरूपी कमलको प्रफुल्लित करते हुए इस प्रकार कहने लगे ॥ ३८५ ॥ धातकीखण्ड द्वीपके पूर्वार्ध भागके पूर्व विदेहमें एक अतिशय प्रसिद्ध मङ्गलावती नामका देश है जो प्राणियोंके भोगोपभोगका एक ही साधन है । उसमें रत्नसंचय नामका एक नगर है । उसमें राजा विश्वदेव राज्य करता था और उसके शोभासम्पन्न अनुन्दरी नामकी रानी थी ॥ ३८६-३८७॥ किसी एक दिन अयोध्याके राजाने राजा विश्वदेवको मार डाला इसलिए अत्यन्त शोकके कारण मंत्रियोंके निषेध करनेपर भी वह रानी अग्निमें प्रवेश कर जल मरी । मर कर वह विजयार्ध पर्वत पर दश हजार वर्षकी आयु वाली व्यन्तर देवी हुई । वहाँकी आयु पूर्ण होनेपर वह अपने कर्मोंके अनुसार संसारमें भ्रमण करती रही । तदनन्तर किसी समय इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी शालिग्राममें यक्षकी स्त्री देवसेनाके यक्षदेवी नामकी बुद्धिमती पुत्री हुई ॥ ३८८-३९० ॥ किसी एक दिन उसने धर्मसेन मुनिके पास जाकर व्रत ग्रहण किये और एक महीनेका उपवास करनेवाले मुनिराजको उसने आहार दिया ॥ ३९१ ॥ यक्षदेवी किसी दिन क्रीड़ा करनेके लिए वनमें गई थी । वहाँ अचानक बड़ी वर्षा हुई। उसके भयसे वह एक गुफामें चली गई । वहाँ एक अजगरने उसे निगल लिया जिससे हरिवर्ष नामक भोग-भूमिमें उत्पन्न हुई । वहाँके भोग भोगकर नागकुमारी हुई । फिर वहाँसे चय कर विदेह क्षेत्रके पुष्कलावती देश-सम्बन्धी पुण्डरीकिणी नगरीमें राजा अशोक और सोमश्री रानीके श्रीकान्ता नामकी पुत्री हुई । किसी एक दिन उसने जिनदत्ता आर्यिकाके पास दीक्षा लेकर अच्छे-अच्छे व्रतोंका पालन किया, चिरकाल तक तपस्या की और कनकावली नामका घोर उपवास किया ॥ ३९१-३९५ ॥ इन सबके प्रभावसे वह माहेन्द्र स्वर्गमें देवी हुई, वहाँ देवोंके भोग भोगकर आयुके अन्तमें वहाँसे च्युत हुई और सुराष्ट्रवर्धन राजाकी रानी सुज्येष्ठाके अच्छे लक्षणोंवाली तू पुत्री हुई है और श्रीकृष्णकी पट्टरानी होकर आनन्दसे बढ़ रही है ॥ ३९६-३९७ ॥ इस प्रकार अपने भवान्तरोंका सम्बन्ध सुनकर सुसीमा रानी हर्षको प्राप्त हुई सो ठीक ही है क्योंकि अपनी उत्तरोत्तर वृद्धिको सुन कर कौन संतोषको प्राप्त नहीं होता ? ॥ ३९८ ॥

अथानन्तर—महारानी लक्ष्मणा भी मुनिराजको नमस्कार कर अपने भव सुननेकी इच्छा

१ श्रीमत्य-ल० । २-द्धर्मसेनाख्य ल० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इह पूर्वविदेहऽस्ति विषयः पुष्कलावती । तत्रारिष्टपुराधीशो बासवस्य महीपतेः ॥४००॥
वसुमत्यामभूत्सूनुः सुषेणाख्यो गुणाकरः । केनचिज्जातनिर्वेगो बासवो निकटेऽग्रहीत् ॥४०१॥
दीक्षां सागरसेनस्य तत्प्रिया सुतमोहिता । गेहवासं परित्यक्तुमसमर्था कुचेष्टया ॥४०२॥
मृत्वा पुलिन्दी सञ्जाता सान्येद्युर्नन्दिवर्धनम् । मुनिं चारणमाश्रित्य गृहीतोपासकव्रता ॥४०३॥
मृत्वा जाताष्टमे कल्पे नर्तकीन्द्रस्य हृत्प्रिया । अवतीर्य ततो द्वीपे भरतेऽस्मिन् खगाचले ॥४०४॥
खगेशो दक्षिणश्रेण्यां जाता चन्द्रपुरेशिनः । महेन्द्रस्य सुतानुन्दर्याश्च नेत्रमनोहरा ॥४०५॥
मालान्तकनका सिद्धविद्या ख्याते स्वयंवरे । मालया स्वीचकारासौ कुमारं हरिवाहनम् ॥४०६॥
अन्येद्युः सिद्धकूटस्थगुरुं यमधराह्वयम् । समुपेत्य समाकर्ण्य स्वभवान्तरसन्ततिम् ॥४०७॥
मुक्तावलीमुपोष्यासीत्तृतीयेन्द्रमनःप्रिया । नवपल्योपमायुष्का कालान्तेऽसौ ततश्च्युता ॥४०८॥
सुप्रकारपुराधीशः शम्बराख्यमहीपतेः । [1]श्रीमत्याश्च सुताऽऽसीस्त्वं श्रीपद्मध्रुवसेनयोः ॥४०९॥
कनीयसी गुणैर्ज्येष्ठा लक्ष्मणा सर्वलक्षणा । तां त्वां पवनवेगाख्यखेचरः कमलोदरम् ॥४१०॥
समुपेत्य रथाङ्गेश वायुमार्गस्य निर्मला । लसन्ती चन्द्रलेखेव तव योग्या खगेशिनः ॥४११॥
[2]तनया लक्ष्मणा कामोद्दीपनेति जगाद सः । तद्वचःश्रवणानन्तरं त्वमेवानयेति तम् ॥४१२॥
प्रेषयामास कंसारिः सोऽपि गत्वा विलम्बितम् । त्वत्पित्रोरनुमित्या त्वामर्पयामास चक्रिणे ॥४१३॥
तेनापि पट्टबन्धेन त्वमेवमसि मानिता । इति श्रुत्वात्मजन्मान्तरावलिं साऽगमन्मुदम् ॥४१४॥
गान्धारीगौरीपद्मावतीनां जन्मान्तरावलिम् । गणीन्द्रो वासुदेवेन पृष्टोऽसावित्यभाषत ॥४१५॥

करने लगी और इसका अनुग्रह करनेकी इच्छा रखनेवाले मुनिराज भी इस प्रकार कहने लगे। इसी जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें एक पुष्कलावती नामका देश है। उसके अरिष्टपुर नगरमें राजा वासव राज्य करता था। उसकी वसुमती नामकी रानी थी और उन दोनोंके समस्त गुणोंकी खान स्वरूप सुषेण नामका पुत्र था। किसी कारणसे राजा वासवने विरक्त होकर सागरसेन मुनिराजके समीप दीक्षा ले ली परन्तु रानी वसुमती पुत्रके प्रेमसे मोहित होनेके कारण गृहवास छोड़नेके लिए समर्थ नहीं हो सकी इसलिए कुचेष्टासे मरकर भीलनी हुई। एक दिन उसने नन्दिवर्धन नामक चारण मुनिके पास जाकर श्रावकके व्रत ग्रहण किये ॥३९९-४०३॥ मर कर वह आठवें स्वर्गमें इन्द्रकी प्यारी नृत्यकारिणी हुई। वहाँसे चयकर जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीपर चन्द्रपुर नगरके राजा महेन्द्रकी रानी अनुन्दरीके नेत्रोंको प्रिय लगनेवाली कनकमाला नामकी पुत्री हुई और सिद्ध-विद्य नामके स्वयंवरमें माला डालकर उसने हरिवाहनको अपना पति बनाया ॥ ४०४-४०६ ॥ किसी एक दिन उसने सिद्धकूटपर विराजमान यमधर नामक गुरुके पास जाकर अपने पहले भवोंकी परम्परा सुनी। तदनन्तर मुक्तावली नामका उपवासकर तीसरे स्वर्गकी प्रिय इन्द्राणी हुई। वहाँ नौ कल्पकी उसकी आयु थी, आयुके अन्तमें वहाँसे चयकर सुप्रकारनगरके स्वामी राजा शम्बरकी श्रीमती रानीसे पुत्री हुई है। तू भी पद्म और ध्रुवसेनकी छोटी बहिन है, गुणोंमें ज्येष्ठ है, सर्व लक्षणोंसे युक्त है और लक्ष्मणा तेरा नाम है। किसी एक दिन पवनवेग नामका विद्याधर श्रीकृष्णके समीप जाकर कहने लगा कि हे चक्रपते! विद्याधरोंके राजा शम्बरके एक लक्ष्मणा नामकी पुत्री है जो आकाशमें निर्मल चन्द्रमाकी कलाकी तरह सुशोभित है, कामको उद्दीपित करनेवाली है और आपके योग्य है। पवनवेगके वचन सुनकर श्रीकृष्णने 'तो तूही उसे ले आ' यह कहकर उसे ही भेजा और वह भी शीघ्र ही जाकर तेरे माता-पिताकी स्वीकृतिसे तुझे ले आया तथा श्रीकृष्णको समर्पित कर दी ॥ ४०७-४१३ ॥ कृष्णने भी महादेवीका पट्ट बाँधकर तुझे इस प्रकार सन्मानित किया है। इस तरह अपने भवान्तर सुनकर लक्ष्मणा बहुत ही प्रसन्न हुई ॥ ४१४ ॥

तदनन्तर—श्रीकृष्णने गान्धारी, गौरी और पद्मावतीके भवान्तर पूछे। तब गणधरदेव इस

---

१ ह्रीमत्याश्च ल० । २ तनूजा ल० ।

इह जम्बूमति द्वीपे विषयोऽस्ति सुकौशलः । तत्रायोध्यापुराधीशो रुद्रनाम्नो मनोरमा ॥४१६॥
विनयश्रीरिति ख्याता सिद्धार्थाख्यवनेऽन्यदा । बुद्धार्थमुनये दत्तदाना स्वायुःपरिक्षये ॥४१७॥
उदक्कुरुषु निर्विष्टभोगा तस्मात्परिच्युता । इन्दोश्चन्द्रवती देवी भूत्वाऽतोऽप्यायुषोवधौ ॥४१८॥
द्वीपेऽत्र खगभूभर्तुरपाक्श्रेण्यां खगेशिनः । विद्युद्वेगस्य सद्दीप्तेः पुरे गगनवल्लभे ॥४१९॥
सुरूपाख्यसुता विद्युद्वेगायामजनिष्ट सा । नित्यालोकपुराधीशे विद्याविक्रमशालिने ॥४२०॥
महेन्द्रविक्रमायैषा दत्तान्येद्युर्मरुद्गिरिम् । तौ गतौ चैत्यगेहेषु जिनपूजार्थमुत्सुकौ ॥४२१॥
विनीतचारणास्येन्दुस्रुतं धर्ममिवामृतम् । पीत्वा श्रवणयुग्मेन परां तृप्तिमवापतुः ॥४२२॥
तयोर्नरपतिर्दीक्षामादाच्चारणान्तिके । सुभद्रापादमासाद्य सापि संयममाददे ॥४२३॥
सौधर्मकल्पे देवी त्वमुपगम्योपसञ्चित- । स्वायुःपल्योपमप्रान्ते क्रमान्निष्क्रम्य तद्गतेः ॥४२४॥
गान्धारविषये पुष्कलावतीनगरेशितुः । नृपस्येन्द्रगिरेर्मेरुमत्याश्च तनयाऽभवत् ॥४२५॥
गान्धारीत्याख्यया ख्याता प्रदातुर्मैथुनाय ताम् । पितुः पापमतिः श्रुत्वा प्रारम्भं नारदस्तदा ॥४२६॥
सद्यस्तामेत्य तत्कर्म न्यगदज्जगदप्रियः । तदुक्तानन्तरं प्रेमवशः सन्नद्धसैन्यकः ॥४२७॥
युद्धे भङ्गं विधायेन्द्रगिरेश्चान्यमहीभुजाम् । आदाय तां महादेवीपट्टश्चैवं त्वया कृतः ॥४२८॥
अथ गौरीभवं चैवं वदामि श्रृणु माधव । अस्ति द्वीपेऽत्र विख्यातं पुन्नागाख्यपुरं पुरु ॥४२९॥
पालकस्तस्य हेमाभो देवी तस्य यशस्वती । साऽन्येद्युश्चारणं दृष्ट्वा यशोधरमुनीश्वरम् ॥४३०॥
स्मृतपूर्वभवा राज्ञा पृष्टैवं प्रत्यभाषत । स्वभवं दशनोद्दीप्त्या स्नापयन्ती (क्षपयन्ती) मनोरमम् ॥४३१॥

प्रकार कहने लगे ॥४१५॥ इसी जम्बूद्वीपमें एक सुकोशल नामका देश है। उसकी अयोध्या नगरीमें रुद्र नामका राजा राज्य करता था और उसकी विनयश्री नामकी मनोहर रानी थी। किसी एक दिन उस रानीने सिद्धार्थ नामक वनमें बुद्धार्थ नामक मुनिराजके लिए आहार दान दिया जिससे अपनी आयु पूरी होनेपर उत्तरकुरु नामक उत्तम भोगभूमिमें उत्पन्न हुई। वहाँके भोग भोगकर च्युत हुई तो चन्द्रमाकी चन्द्रवती नामकी देवी हुई। आयु समाप्त होनेपर वहांसे च्युत होकर इसी जम्बूद्वीपके विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीपर गगनवल्लभ नगरमें विद्याधरोंके कान्तिमान् राजा विद्युद्वेगकी रानी विद्युद्वेगाके सुरूपा नामकी पुत्री हुई। वह विद्या और पराक्रमसे सुशोभित, नित्यालोक पुरके स्वामी राजा महेन्द्रविक्रमके लिए दी गई। किसी एक दिन वे दोनों दम्पति चैत्यालयोंमें जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा करनेके लिए उत्सुक होकर सुमेरु पर्वतपर गये ॥ ४१६-४२१ ॥ वहांपर विराजमान किन्ही चारणऋद्धिधारी मुनिके मुखरूपी चन्द्रमासे झरे हुए अमृतके समान धर्मका दोनों कानोंसे पानकर वे दोनों ही परमतृप्तिको प्राप्त हुए ॥ ४२२ ॥ उन दोनोंमेंसे राजा महेन्द्रविक्रमने तो उन्हीं चारण मुनिराजके समीप दीक्षा ले ली और रानी सुरूपाने सुभद्रा नामक आर्यिकाके चरणमूलमें जाकर संयम धारण कर लिया ॥ ४२३ ॥ आयु पूरीकर सौधर्म स्वर्गमें देवी हुई, जब वहांकी एक पल्य प्रमाण आयु पूरी हुई तो वहांसे चयकर गान्धार देशकी पुष्करावती नगरीके राजा इन्द्रगिरि-की मेरुमती रानीसे गान्धारी नामकी पुत्री हुई है। राजा इन्द्रगिरि इसे अपनी बूआके लड़केको देना चाहता था, जब यह बात जगत्‌को अप्रिय पापबुद्धि नारदने सुनी तब शीघ्र ही उसने तुम्हें इसकी खबर दी। सुनते ही तू भी प्रेमके वश हो गया और सेना सजाकर युद्धके लिए चल पड़ा। युद्धमें राजा इन्द्रगिरि और उसके सहायक अन्य राजाओंको पराजितकर इस गान्धारीको ले आया और फिर इसे महादेवीका पट्टबन्ध प्रदान कर दिया—पट्टरानी बना लिया ॥ ४२४-४२८ ॥

अथानन्तर—गणधर भगवान् कहने लगे कि अब मैं गौरीके भव कहता हूं सो हे कृष्ण तू सुन! इसी जम्बू द्वीप में एक पुन्नागपुर नामका अतिशय प्रसिद्ध बड़ा भारी नगर है। उसकी रक्षा करनेवाला राजा हेमाभ था और उसकी रानी यशस्वती थी। किसी एक दिन यशोधर नामके चारण ऋद्धिधारी मुनिराजको देखकर उसे अपने पूर्व भवोंका स्मरण हो आया। राजाके पूछनेपर वह अपने दांतोंकी कान्तिसे उन्हें नहलाती हुई इस प्रकार अपने पूर्वभव कहने लगी ॥ ४२९-४३१ ॥

धातकीखण्डप्राङ्मन्दरापरस्थविदेहगम् । नाम्नाशोकपुरं तत्र वास्तव्यो वणिजां वरः ॥४३२॥
आनन्दस्तस्य भार्यायां जातानन्दयशःश्रुतिः । दत्वा जात्वमिताधुक्तिसागराय तनुस्थितिम् ॥४३३॥
आश्चर्यपञ्चकं प्राप्य तत्पुण्याज्जीवितावधौ । उदक्कुरुषु सम्भूय भुक्त्वा तत्र सुखं ततः ॥४३४॥
भूत्वा भवनवासीन्द्रभार्येहास्मीति सम्मदात् । ततः कदाचित्सिद्धार्थवनं सागरसञ्ज्ञकम् ॥४३५॥
गुरुमाश्रित्य सम्भावितोपवासा भवावधौ । देवी जाताऽऽदिमे कल्पे तत्र निर्वर्तितस्थितिः ॥४३६॥
द्वीपेऽस्मिन्नेव कौशाम्ब्यां सुमतिश्रेष्ठिनोऽभवत् । सुभद्रायां सुता धार्मिकीति संशब्दिता जनैः ॥४३७॥
पुनर्जिनमतिक्षान्तिदत्तां जिनगुणादिकाम् । सम्पत्तिं साधु निर्माप्य महाशुक्रेऽभवत्सुरी ॥४३८॥
चिरात्ततो विनिर्गत्य वीतशोकपुरेशिनः । महीशो मेरुचन्द्रस्य चन्द्रवत्यामजायत ॥४३९॥
गौरीति रूपलावण्यकान्त्यादीनामसौ खनिः । विजयाख्यपुराधीशो विभुर्विजयनन्दनः ॥४४०॥
वत्सलस्तुभ्यमानीय तामदत्त त्वयापि सा । पट्टे[1] नियोजितेत्याख्यत्ततो हरिरगान्मुदम् ॥४४१॥
ततः पद्मावतीजन्मसम्बन्धं गणनायकः । गुणानामाकरोऽवादीदित्थं जनमनोहरम् ॥४४२॥
अस्मिन्नेवोज्जयिन्याख्यनगर्यानायको नृपः । विजयस्तस्य विक्रान्तिरिव देव्यपराजिता ॥४४३॥
विनयश्रीः सुता तस्या हस्तशीर्षपुरेशिनः । हरिषेणस्य देव्यासीद्दत्वा दानमसौ मुदा ॥४४४॥
समाधिगुप्तयोर्गीशे भूत्वा हैमवते चिरम् । भुक्त्वा भोगान्भवप्रान्ते जाता चन्द्रस्य रोहिणी ॥४४५॥
[2]पल्योपमायुष्कालान्ते विषये मगधाभिधे । वसतः शाल्मलिग्रामे पद्मदेवी सुताऽजनि ॥४४६॥
सती विजयदेवस्य देविलायां कदाचन । वरधर्मयतेः सन्निधाने सा व्रतमग्रहीत् ॥४४७॥

धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व मेरुसे पश्चिमकी ओर जो विदेह क्षेत्र हैं उसमें एक अशोकपुर नामका नगर है। उसमें आनन्द नामका एक उत्तम वैश्य रहता था उसकी स्त्रीके एक आनन्दयशा नामकी पुत्री उत्पन्न हुई। किसी समय आनन्दयशाने अमितसागर मुनिराजके लिए आहार दान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये। इस दानजन्य पुण्यके प्रभावसे वह आयु पूर्ण होनेपर उत्तरकुरुमें उत्पन्न हुई, वहांके सुख भोगनेके बाद भवनवासियोंके इन्द्रकी इन्द्राणी हुई और वहाँसे च्युत होकर यहाँ उत्पन्न हुई हूँ। इस प्रकार रानी यशस्वतीने अपने पति राजा हेमाभके लिए बड़े हर्षसे अपने पूर्वभव सुनाये। तदनन्तर, रानी यशस्वती किसी समय सिद्धार्थ नामक वनमें गई, वहाँ सागरसेन नामक मुनिराजके पास उसने उपवास ग्रहण किये। आयुके अन्तमें मरकर प्रथम स्वर्गमें देवी हुई। तदनन्तर वहांकी स्थिति पूरी होनेपर इसी जम्बूद्वीपकी कौशाम्बी नगरीमें सुमति नामक सेठकी सुभद्रा नामकी स्त्रीसे धार्मिकी नामकी पुत्री हुई ॥ ४३२–४३७ ॥ यहाँपर उसने जिनमति आर्यिकाके दिये हुए जिनगुणसम्पत्ति नामके व्रतका अच्छी तरह पालन किया जिसके प्रभावसे मरकर महाशुक्र स्वर्गमें देवी हुई। बहुत समय बाद वहांसे चयकर वीतशोकनगरके स्वामी राजा मेरुचन्द्रकी चन्द्रवती रानीके रूप, लावण्य और कान्ति आदिकी खान यह गौरी नामकी पुत्री हुई है। स्नेहसे भरे, विजयपुर नगरके स्वामी राजा विजयनन्दनने यह लाकर तुझे दी है और तू ने भी इसे पट्टरानी बनाया है। इस प्रकार गणधर भगवान्ने गौरीके भवान्तर कहे जिन्हें सुनकर श्रीकृष्ण हर्षको प्राप्त हुए ॥ ४३८–४४१ ॥

तदनन्तर–गुणोंकी खान, गणधर देव, लोगोंका मन हरण करने वाले पद्मावती के पूर्व भवों का सम्बन्ध इस प्रकार कहने लगे ॥ ४४२ ॥ इसी भरतक्षेत्रकी उज्जयिनी नगरीमें राजा विजय राज्य करता था उसकी विक्रान्तिके समान अपराजिता नामकी रानी थी। उन दोनोंके विनयश्री नामकी पुत्री थी। वह हस्तशीर्षपुरके राजा हरिषेणको दी गई थी। विनयश्रीने एक बार समाधिगुप्त मुनिराजके लिए बड़े हर्षसे आहार-दान दिया था जिसके पुण्यसे वह हैमवत क्षेत्रमें उत्पन्न हुई। चिरकाल तक वहाँके भोग भोगकर आयुके अन्तमें वह चन्द्रमाकी रोहिणी नामकी देवी हुई। जब एक पल्य प्रमाण वहांकी आयु समाप्त हुई तब मगध देशके शाल्मलि

---

१ पट्टेन योजिते ल० । २ पल्योपमायुषः सान्ते ल० ।

अविज्ञातफलाभक्षणं कृच्छ्रेऽपि दृढव्रता । वनेचरैः कदाचित्स ग्रामोऽवस्कन्दघातिभिः ॥४४८॥
विलोपितस्तदापद्मदेवीं सिंहरथाद्भयात् । नीत्वा महाटवीं सर्वे जनाः क्षुत्परिपीडिताः ॥४४९॥
विषवल्लीफलान्याशु भक्षयित्वा मृति ययुः । व्रतभङ्गभयात्तानि सा विहायाहृतेर्विना ॥ ४५० ॥
मृत्वा हैमवते भूत्वा जीवितान्ते ततश्च्युता । द्वीपे स्वयंप्रभे जाता देवी सद्यः स्वयंप्रभा ॥ ४५१ ॥
स्वयंप्रभाख्यदेवस्य ततो निर्गत्य सा पुनः । द्वीपेऽस्मिन्भारते क्षेत्रे जयन्तपुरभूपतेः ॥ ४५२ ॥
श्रीधरस्य सुता भूत्वा श्रीमत्यां सुन्दराकृतिः । विमलश्रीरभूत्पत्नी भद्रिलाख्यपुरेशिनः ॥ ४५३ ॥
नृपस्य मेघनादस्य समीप्सितसुखप्रदा । राजा धर्ममुनेस्त्यक्त्वा राज्यं प्रव्रज्य शुद्धधीः ॥ ४५४ ॥
जातो [illegible] ॥ ४५५ ॥
साऽपि पद्मावतीक्षान्ति सम्प्राप्यादाय संयमम् । आचाम्लवर्धनामानं समुपोष्यायुषावधौ ॥ ४५६ ॥
तत्रैव कल्पे देवीत्वं प्रतिपद्य निजायुषः । प्रान्तेऽरिष्टपुरार्धीशः श्रीमत्यां तनयाऽजनि ॥ ४५७ ॥
हिरण्यवर्मणः पद्मावतीत्येषा स्वयंवरे । सम्भाव्य सम्भृतस्नेहा भवन्तं रत्नमालया ॥ ४५८ ॥
[1]शीलावहा महादेवीपदं प्रापदिति स्फुटम् । तास्तिस्रोऽपि स्वजन्मानि श्रुत्वा मुदमयुर्हरेः ॥ ४५९ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्युच्चैर्गणनायको गुणनिधिः प्रस्पष्टमृष्टाक्षरैः
साक्षात्कृत्य भवावलीविलसितं व्यावर्णयन्निर्णयम् ।
[2]साध्वाकर्ण्य चिरं सुखासुखमयीः[3] स्वेष्टाष्टदेवीकथाः[4]
सन्तुष्टिं स मुरारिरार[5] सुतरां प्रान्ते प्रबुद्धिप्रदाः ॥ ४६० ॥

गाँवमें रहनेवाले विजयदेवकी देविला स्त्रीसे पद्मदेवी नामकी पतिव्रता पुत्री हुई। उसने किसी समय वरधर्म नामक मुनिराजके पास 'मैं कष्टके समय भी अनजाना फल नहीं खाऊँगी' ऐसा दृढ़-व्रत लिया। किसी एक समय आक्रमणकर घात करनेवाले भीलोंने उस गांवको लूट लिया। उस समय सब लोग, भीलोंके राजा सिंहरथके डरसे पद्मदेवीको महाअटवीमें ले गये। वहाँ भूखसे पीड़ित होकर सब लोगोंने विषफल खा लिये जिससे वे शीघ्रही मर गये परन्तु व्रतभङ्गके डरसे पद्मदेवीने उन फलोंको छुआ भी नहीं इसलिए वह आहारके विना ही मरकर हैमवत क्षेत्र नामक भोगभूमिमें उत्पन्न हुई। आयु पूर्ण होनेपर वहांसे चयकर स्वयंप्रभद्वीपमें स्वयंप्रभ नामक देवकी स्वयंप्रभा नामकी देवी हुई। वहांसे चयकर इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी जयन्तपुर नगरमें वहांके राजा श्रीधर और रानी श्रीमतीके सुन्दर शरीरवाली विमलश्री नामकी पुत्री हुई। वह भद्रिलपुरके स्वामी राजा मेघरथकी इच्छित सुख देनेवाली रानी हुई थी। किसी समय शुद्ध बुद्धिके धारक राजा मेघनादने राज्य छोड़कर धर्म नामक मुनिराजके समीप व्रत धारण कर लिया जिससे वह सहस्रार नामक स्वर्गमें अठारह सागरकी आयुवाला देदीप्यमान कान्तिका धारक इन्द्र हो गया। इधर रानी विमलश्रीने भी पद्मावती नामक आर्यिकाके पास जाकर संयम धारण कर लिया और आचाम्लवर्ध नामका उपवास किया जिसके फलस्वरूप वह आयुके अन्तमें उसी सहस्रार स्वर्गमें देवी हुई और आयुके अन्तमें वहाँसे च्युत होकर अरिष्टपुर नगरके स्वामी राजा हिरण्यवर्माकी रानी श्रीमतीके यह पद्मावती नामकी पुत्री है। इसने स्नेहसे युक्त हो स्वयंवरमें रत्नमाला डालकर आपका सन्मान किया और तदनन्तर इस शीलवतीने महादेवीका पद प्राप्त किया। इस प्रकार गण-धर भगवान्के मुखारविन्दसे अपने-अपने भव सुनकर श्रीकृष्णकी गौरी, गान्धारी और पद्मावती नामकी तीनों रानियाँ हर्षको प्राप्त हुईं ॥ ४४३-४५९ ॥ इस प्रकार गुणोंके भाण्डार गणधर देवने स्पष्ट और मिष्ट अक्षरोंके द्वारा पूर्व भवावलीसे सुशोभित निर्णयका साक्षात् वर्णन कर दिखाया और श्रीकृष्ण भी अपनी प्यारी आठों रानियोंकी सुख-दुःखभरी कथाएँ अच्छी तरह सुनकर अन्तमें

---

१ लीलावहाः ख०, ग०, घ० । २ सा त्वाकर्ण्य ल० । ३-मयीं ल० । ४ कथाम् ल० । ५ आर प्राप ।

वसन्ततिलका

देव्योऽपि दिव्यवचनं मुनिपुङ्गवस्य
भक्त्यावहं बहुभवार्त्तनिजांहसां तत् ।
कृत्वा हृदि प्रमुदिताः पृथुशर्मसारे
धर्मेऽर्हतो हिततमे स्वमतिं प्रतेनुः ॥ ४६१ ॥

मालिनी

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नहि हितमिह किञ्चिद्धर्ममेकं विहाय
व्यवसितमसुमद्भ्यो धिग्विमुग्धात्मवृत्तम् ।
इति विहितवितर्काः सर्वसभ्याश्च धर्मं
समुपययुरपापाः स्वामिना नेमिनोक्तम् ॥ ४६२ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे नेमिचरिते भवान्तर-
व्यावर्णनं नामैकसप्ततितमं पर्व ॥ ७१ ॥

प्रवृत्ति प्रदान करनेवाले संतोषको प्राप्त हुए ॥ ४६० ॥ वे देवियाँ भी अनेक जन्ममें कमाये हुए अपने पापोंका नाश करनेवाले श्री गणधर भगवान्‌के दिव्य वचन हृदयमें धारण कर बहुत प्रसन्न हुईं और सबने कल्याणकारी तथा बहुत भारी सुख प्रदान करनेवाले अर्हन्त भगवान्‌के धर्ममें अपनी बुद्धि लगाई ॥ ४६१ ॥ 'इस संसारमें एक धर्मको छोड़कर दूसरा कार्य प्राणियोंका कल्याण करनेवाला नहीं है, धर्म रहित मूर्ख जीवोंका जो चरित्र है उसे धिक्कार है' इस प्रकार विचार करते हुए सब सभासदोंने पाप रहित होकर, श्री नेमिनाथ भगवान्‌का कहा हुआ धर्म स्वीकार किया ॥ ४६२ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके नेमि-चरित्र प्रकरणमें भवान्तरोंका वर्णन करनेवाला इकहत्तरवां पर्व समाप्त हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमं पर्व

अथ [1]स्वज्ञातपूर्वञ्च जगत्त्रयसभाभवौ । प्रकाशयितुकामेन बलदेवेन धीमता ॥ १ ॥
प्रद्युम्नशम्भवोत्पत्तिसम्बन्धः पृच्छयते स्म सः । नरदत्तगणेन्द्रोऽनु [2]रुन्द्रबुद्ध्येत्थमब्रवीत् ॥ २ ॥
द्वीपेऽस्मिन्मगधे [3] देशे शालिग्रामनिवासिनः । द्विजस्य सोमदेवस्य भार्याऽभूदग्निलाख्यया ॥ ३ ॥
अग्निभूतिरभूत्सूनुर्वायुभूतिस्तयोरनु । तावन्येद्युः पुरे नन्दिवर्धनाख्ये मनोहरे ॥ ४ ॥
[4]नन्दने नन्दिघोषाख्ये वने मुनिमपश्यताम् । नन्दिवर्धनभामानं [5]मुनिसङ्घविभूषणम् ॥ ५ ॥
दुष्टावुपागतौ दृष्ट्वा तौ मुनीन्द्रोऽब्रवीन्मुनीन् । विसंवदितुमायातावेतौ मिथ्यात्वदूषितौ ॥ ६ ॥
भवद्भिः कैश्चिदप्यास्यां न [6]कार्या सह सङ्कथा । एतन्निबन्धनो [7] भूयानुपसर्गो भविष्यति ॥ ७ ॥
इति तद्वचनं श्रुत्वा गुरुशासनकारिणः । मौनव्रतेन सर्वेऽपि स्थिताः संयमिनस्तदा ॥ ८ ॥
दृष्ट्वा तावेत्य सर्वेषां मूकीभूय व्यवस्थितिम् । कृतापहासौ स्वं ग्रामं गच्छन्तावशितुं गतम् ॥ ९ ॥
ग्रामान्तरात्समायातं मुनिमालोक्य सत्यकम् । तत्समीपमहङ्कारप्रेरितावुपगम्य तम् ॥ १० ॥
नास्त्याप्तो नागमो नैव पदार्थो [8]नग्न केवलम् । किं क्लिश्नासि वृथोन्मार्गे मूढो दृष्टविनाशिनि ॥११॥
इत्यध्यक्षिपतां सोऽपि जिनवक्त्रविनिर्गतम् । विवक्षितेतरानेकस्वरूपान्तसमाश्रयम् ॥ १२ ॥
द्रव्यतत्त्वं यथादृष्टं कथयन्तं [9]सहेतुकम् । स्याद्वादमवलम्ब्योच्चैस्तत्प्रणेतृप्रमाणताम् ॥ १३ ॥
प्रसाध्यादृष्टभागेऽपि तदुक्तागम [9]सुस्थितिम् । निरूप्य वादकण्डूतिमपनीय दुरात्मनोः ॥ १४ ॥

---

१ तद्ज्ञान–ल० । २ गणीन्द्रो ख० । ३ मागधे ख० । ४ नन्दान ल० । ५ मुनिं सङ्घ ल० । ६ निबन्धतो ल० । ७ नाश ल० । ८ सुहेतुकम् ल० । ९ संस्थितिम् ल० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज

अथानन्तर—तीनों जगत्की सभाभूमि अर्थात् समवसरणमें अपने पूर्वभव जानकर बुद्धिमान बलदेवने सबको प्रकट करनेके लिए प्रद्युम्नकी उत्पत्तिका सम्बन्ध पूछा सो वरदत्त गणधर अनुग्रहकी बुद्धिसे इस प्रकार कहने लगे ॥ १–२ ॥ इसी जम्बूद्वीपके मगधदेश सम्बन्धी शालिग्राममें रहनेवाले सोमदेव ब्राह्मणकी एक अग्निला नामकी स्त्री थी ॥ ३ ॥ उन दोनोंके अग्निभूति और वायुभूति नामके दो पुत्र थे, किसी एक दिन वे दोनों पुत्र नन्दिवर्धन नामके दूसरे सुन्दर गाँवमें गये। वहाँ उन्होंने नन्दिघोष नामके वनमें, मुनि संघके आभूषणस्वरूप नन्दिवर्धन नामक मुनिराजके दर्शन किये ॥ ४–५ ॥ उन दोनों दुष्टोंको आया हुआ देख, मुनिराजने संघके अन्य मुनियोंसे कहा कि 'ये दोनों मिथ्यात्वसे दूषित हैं और विसंवाद करनेके लिए आये हैं अतः आप लोगोंमेंसे कोई भी इनके साथ बातचीत न करें। अन्यथा इस निमित्तसे भारी उपसर्ग होगा' ॥ ६–७ ॥ शासन करनेवाले गुरुके इस प्रकारके वचन सुनकर सब मुनि उस समय मौन लेकर बैठ गये ॥ ८ ॥ वे दोनों ब्राह्मण सब मुनियोंको मौनी देखकर उनकी हँसी करते हुए अपने गाँवको जा रहे थे कि उन मुनियोंमेंसे एक सत्यक नामके मुनि आहार करनेके लिए दूसरे गाँवमें गये थे और लौटकर उस समय आ रहे थे। अहंकारसे प्रेरित हुए दोनों ब्राह्मण उन सत्यक मुनिको देख उनके पास जा पहुँचे और कहने लगे कि 'अरे नंगे ! न तो कोई आप्त है, न आगम है, और न कोई पदार्थ ही है फिर क्यों मूर्ख बनकर प्रत्यक्षको नष्ट करनेवाले इस उन्मार्गमें व्यर्थ ही क्लेश उठा रहा है'। इस प्रकार उन दोनोंने उक्त मुनिका बहुत ही तिरस्कार किया। मुनिने भी, जिनेन्द्र भगवान्के मुखकमलसे निकले विवक्षित तथा अविवक्षित रूपसे अनेक धर्मोंका निरूपण करनेवाले, एवं प्रत्यक्ष सिद्ध द्रव्य तत्त्वका हेतु सहित कथन करनेवाले अतिशय उत्कृष्ट स्याद्वादका अवलम्बन लेकर उसका उपदेश देनेवाले आप्तकी प्रामाणिकता सिद्ध कर दिखाई तथा परोक्ष तत्त्वके विषयमें भी उन्हीं आप्तके द्वारा कथित आगमकी समीचीन स्थितिका निरूपण कर उन दुष्ट ब्राह्मणोंकी वाद करनेकी खुजली दूर की एवं विद्वज्जनोंके

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तयोर्जयध्वजं प्रापद्विद्वज्जनसमर्पितम् । तौ मानभङ्गसम्भूतक्रोधौ निशि शिताशुधौ ॥ १५ ॥
परेद्युः पापकर्माणौ विजने शुद्धचेतसम् । प्रतिमायोगमापन्नं सत्यकं मुनिपुङ्गवम् ॥ १६ ॥
शस्त्रैराहन्तुमुद्युक्तावन्यायोऽयमिति क्रुधा । द्विजौ [1] सुवर्णयक्षेण स्तम्भितौ कीलिताविव ॥ १७ ॥
तदा शरणमायातास्तन्मातृपितृबान्धवाः । मुनीनामाकुलीभूय यक्षस्तानवदत्सुधीः ॥ १८ ॥
हिंसाधर्मं परित्यज्य यदि जैनेश्वरं मतम् । भवन्तः स्वीकरिष्यन्ति भवेन्मोक्षोऽनयोरिति ॥ १९ ॥
तेऽपि भीतास्तथा बाढं करिष्याम इति द्रुतम् । मुनिं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य विधिपूर्वकम् ॥ २० ॥
[2]मिथ्यैव प्रत्यपद्यन्त धर्मं श्रावकपालितम् । ततस्तत्स्तम्भनापाये सति तैस्तावुदीरितौ ॥ २१ ॥
विरन्तव्यमितो धर्मादस्माद्धेतोरुपासितात् । इति नात्मासन्मार्गाच्चेलतुः काललब्धितः ॥ २२ ॥
तेन संक्रुध्य ते ताभ्यां मृत्वा पापविपाकतः । अभ्राम्यन् कुगतीर्दीर्घं तौ च ब्राह्मणपुत्रकौ ॥ २३ ॥
सव्रतौ जीवितस्यान्ते कल्पे सौधर्मनामनि । पञ्चपल्योपमायुष्कौ जातौ पारिषदाग्रिमौ ॥ २४ ॥
तत्रानुभूय सद्भोगान् द्वीपेऽस्मिन् कौशले पुरे । साकेतेऽरिञ्जयो राजा सशौर्योऽभूदरिञ्जयः[3] ॥ २५ ॥
तयार्हद्दासवाक्श्रेष्ठी वप्रश्रीस्तन्मनःप्रिया । अग्निभूतिस्तयोः पूर्णभद्रोऽन्यो माणिभद्रकः ॥ २६ ॥
सुतौ समुदभूतां तावन्येद्युः स महीपतिः । सिद्धार्थवनमध्यस्थमहेन्द्रगुरुसन्निधिम् ॥ २७ ॥
बहुभिः सह सम्प्राप्य श्रुत्वा धर्मं विशुद्धधीः । अरिन्दमे समारोप्य राज्यभारं भरक्षमे ॥ २८ ॥
अर्हद्दासादिभिः सार्द्धं संयमं प्रत्यपद्यत । तत्रैव पूर्णभद्रेण प्राक्तनं मद्गुरुद्वयम् ॥ २९ ॥

द्वारा समर्पण की हुई उनकी विजय-पताका छीन ली। मान भंग होनेसे जिन्हें क्रोध उत्पन्न हुआ है ऐसे दोनों ही पापी ब्राह्मण तीक्ष्ण शस्त्र लेकर दूसरे दिन रात्रिके समय निकले। उस समय शुद्ध चित्तके धारक वही सत्यक मुनि, एकान्त स्थानमें प्रतिमा योग धारण कर विराजमान थे सो वे पापी ब्राह्मण उन्हें शस्त्रसे मारनेके लिए उद्यत हो गये। यह देखकर और यह अन्याय हो रहा है ऐसा विचारकर सुवर्णयक्षने क्रोधमें आकर उन दोनों ब्राह्मणोंको कीलित हुएके समान स्तम्भित कर दिया—ज्योंका त्यों रोक दिया॥६–१७॥ यह देखकर उनके माता, पिता, भाई आदि सब व्याकुल होकर मुनियोंकी शरणमें आये। तब बुद्धिमान् यक्षने कहा कि 'यदि तुम लोग हिंसाधर्मको छोड़कर जैनधर्म स्वीकृत करोगे तो इन दोनोंका छुटकारा हो सकता है' ॥ १८–१९ ॥ यक्षकी बात सुनकर सब डर गये और कहने लगे कि हम लोग शीघ्र ही ऐसा करेंगे अर्थात् जैनधर्म धारण करेंगे। इतना कहकर उन लोगोंने मुनिराजकी प्रदक्षिणा दी, उन्हें विधिपूर्वक प्रणाम किया और झूठमूठ ही श्रावक धर्म स्वीकृत कर लिया। तदनन्तर दोनों पुत्र जब कीलित होनेसे छूट आये तब उनके माता-पिता आदिने उनसे कहा कि अब यह धर्म छोड़ देना चाहिये क्योंकि कारण वश ही इसे धारण कर लिया था। उन पुत्रोंकी काललब्धि अनुकूल थी अतः वे अपने द्वारा ग्रहण किये हुए सन्मार्गसे विचलित नहीं हुए ॥ २०–२२ ॥ पुत्रोंकी यह प्रवृत्ति देख, उनके माता-पिता आदि उनसे क्रोध करने लगे और मरकर पापके उदयसे दीर्घकाल तक अनेक कुगतियोंमें भ्रमण करते रहे। उधर उन दोनों ब्राह्मण-पुत्रोंने व्रतसहित जीवन पूरा किया इसलिए मरकर सौधर्म स्वर्गमें पाँच पल्यकी आयुवाले पारिषद जातिके श्रेष्ठ देव हुए ॥ २३–२४ ॥ वहाँ पर उन्होंने अनेक उत्तम सुख भोगे। तदनन्तर इसी जम्बूद्वीपके कोशल देश सम्बन्धी अयोध्या नगरीमें शत्रुओंको जीतनेवाला अरिंजय नामका पराक्रमी राजा राज्य करता था। उसी नगरीमें एक अर्हद्दास नामका सेठ रहता था उसकी स्त्रीका नाम वप्रश्री था। वे अग्निभूति और वायुभूतिके जीव पाँचवें स्वर्गसे चयकर उन्हीं अर्हद्दास और वप्रश्रीके क्रमशः पूर्णभद्र और मणिभद्र नामके पुत्र हुए। किसी एक दिन राजा अरिंजय, सिद्धार्थ नामक वनमें विराजमान महेन्द्र नामक गुरुके समीप गया। वहाँ उसने अनेक लोगोंके साथ धर्मका उपदेश सुना जिससे उसकी बुद्धि अत्यन्त पवित्र हो गई और उसने भार धारण करनेमें समर्थ अरिन्दम नामक पुत्रके ऊपर राज्य भार रखकर अर्हद्दास आदिके साथ संयम धारण कर लिया। उसी समय पूर्णभद्र नामक श्रेष्ठि-पुत्रने

---

१ सुधर्मं इत्यपि क्वचित्। २ मिथ्या प्रत्यपद्यन्त ल० (छन्दोभङ्गः)। ३ अरिं जयन् म०, ल०।

क्वाथ वर्तत इत्येतत्परिपृष्टो मुनिर्जगौ । जिनधर्मविरुद्धत्वात्कृतपापोऽभवन्मृतः ॥ ३० ॥
रत्नप्रभाबिले सर्पावर्तनाम्नि ततोऽजनि । मातङ्गः काकजङ्घाख्यः सोमदेवो भवत्पिता ॥ ३१ ॥
माताग्निला च तस्यैव जायते स्म शुनी गृहे । इहेत्याकर्ण्य तत्प्रोक्तं तेन तौ परिबोधितौ ॥ ३२ ॥
सम्प्राप्योपशमं भावं सन्न्यस्य विधिना मृतः । काकजङ्घोऽभवन्नन्दीश्वरद्वीपे निधीश्वरः ॥ ३३ ॥
तत्पुराधीश्वरारिन्दमभूभृत्पतेः सुता । श्रीमत्यां सुप्रबुद्धाख्या बभूव प्रियवल्लभा ॥ ३४ ॥
सम्पूर्णयौवना यान्ती सा स्वयंवरमण्डपम् । यक्षेण बोधिता दीक्षामित्वाप्य प्रियदर्शनाम् ॥ ३५ ॥
जीवितान्तेऽभवद्देवी मणिचूलेति रूपिणी । सौधर्माधिपतेः पूर्णभद्रस्तदनुजोऽपि च ॥ ३६ ॥
सप्तस्थानगतौ ख्यातश्रावकौ तौ दृढव्रतौ । प्रान्ते सामानिकौ देवौ जातौ सौधर्मनामनि ॥ ३७ ॥
द्विसागरोपमातीतौ द्वीपेऽत्र कुरुजाङ्गले । हास्तिनाख्यपुराधीशस्यार्हद्दासमहीपतेः ॥ ३८ ॥
काश्यपायाश्च पुत्रौ तौ मधुक्रीडवनामकौ । समभूतां तयो राजा राजत्वयुवराजते ॥ ३९ ॥
विधाय विमलां प्रापद्विमलप्रभशिष्यताम् । कण्ठान्तामलकाख्यस्य पुरस्येशः कदाचन ॥ ४० ॥
स्थान्तकनकस्य स्वं समायातस्य सेवितम् । कान्तां कनकमालाख्यां समीक्ष्य मदनातुरः ॥ ४१ ॥
स्वीचकारमधुः शोकाद्रथान्तकनकाह्वयः । पार्श्वे [1]द्विजटिसञ्ज्ञस्य तापसव्रतमाददे ॥ ४२ ॥
मधुक्रीडवयोरेवं काले गच्छत्यथान्यदा । सम्यगाकर्ण्य सद्धर्मं मधुर्विमलवाहनात् ॥ ४३ ॥
गर्हणं स्वदुराचारे कृत्वा क्रीडवसंयुतः । संयमं समवाप्यान्ते संश्रित्याराधनाविधिम् ॥ ४४ ॥

मुनिराजसे पूछा कि हमारे पूर्वभवके माता-पिता इस समय कहाँ पर हैं ? उत्तरमें मुनिराज कहने लगे कि तेरे पिता सोमदेवने जिनधर्मसे विरुद्ध होकर बहुत पाप किये थे अतः वह मरकर रत्नप्रभा पृथिवीके सर्पावर्त नामके बिलमें नारकी हुआ था और वहाँसे निकलकर अब इसी नगरमें काकजंघ नामका चाण्डाल हुआ है । इसी तरह तेरी माता अग्निलाका जीव मरकर उसी चाण्डालके घर कुत्ती हुआ है । मुनिराजके वचन सुनकर पूर्णभद्रने उन दोनों जीवोंको संबोधा जिससे उपशम भावको प्राप्त होकर दोनोंने विधिपूर्वक संन्यास धारण किया और उसके फलस्वरूप काकजङ्घ तो नन्दीश्वर-द्वीपमें कुबेर नामका व्यन्तर देव हुआ । और कुत्ती उसी नगरके स्वामी अरिन्दम नामक राजाकी श्रीमती नामकी रानीसे सुप्रबुद्धा नामकी प्यारी पुत्री हुई ॥ २५–३४ ॥ जब वह पूर्ण यौवनवती होकर स्वयंवर-मण्डपकी ओर जा रही थी तब उसके पूर्वजन्मके पति कुबेर नामक यक्षने उसे समझाया जिससे उसने प्रियदर्शना नामकी आर्यिकाके पास जाकर दीक्षा धारण कर ली और आयुके अन्तमें वह सौधर्म इन्द्रकी मणिचूला नामकी रूपवती देवी हुई । इधर पूर्णभद्र और उसके छोटे भाई मणिभद्रने बड़ी दृढ़तासे श्रावकके व्रत पालन किये, सात क्षेत्रोंमें धन खर्च किया और आयुके अन्तमें दोनों ही सौधर्म नामक स्वर्गमें सामानिक जातिके देव हुए ॥ ३५–३७ ॥ वहाँ उनकी दो सागरकी आयु थी, उसके पूर्ण होने पर वे इसी जम्बूद्वीपके कुरुजांगल देश सम्बन्धी हस्तिनापुर नगरके राजा अर्हद्दासकी काश्यपा नामकी रानीसे मधु और क्रीडव नामके पुत्र हुए । किसी एकदिन राजा अर्हद्दासने मधुको राज्य और क्रीडवको युवराज पद देकर विमलप्रभ मुनिकी निर्दोष शिष्यता प्राप्त कर ली अर्थात् उनके पास दीक्षा धारण कर ली । किसी समय अमलकण्ठ नगरका राजा कनकरथ (हेमरथ) राजा मधुकी सेवा करनेके लिए उसके नगर आया था वहाँ उसकी कनकमाला नामकी स्त्रीको देखकर राजा मधु कामसे पीड़ित हो गया । निदान उसने कनकमालाको स्वीकृत कर लिया—अपनी स्त्री बना लिया । इस घटनासे राजा कनकरथको बहुत निर्वेद हुआ जिससे उसने द्विजटि नामक तापसके पास व्रत ले लिये । इधर मधु और क्रीडवका काल सुखसे व्यतीत हो रहा था । किसी एक दिन मधुने विमल-वाहन नामक मुनिराजसे अच्छी तरह धर्मका स्वरूप सुना, अपने दुराचारकी निन्दा की और क्रीडवके साथ-साथ संयम धारण कर लिया । आयुके अन्तमें विधिपूर्वक आराधना कर मधु और क्रीडव दोनों ही महाशुक्र स्वर्गमें इन्द्र हुए । आयुके अन्तमें वहाँसे च्युत होकर बड़ा भाई मधुका

---

१ द्विजादि–म० । जटिल इत्यपि क्वचित् ।

अन्वभूत्स महाशुक्रस्याधिपत्यं सहानुजः । स्वायुरन्ते ततश्च्युत्वा स्वावशेषशुभोदयात् ॥ ४५ ॥
सुस्वप्नपूर्वकं ज्येष्ठो रुक्मिण्यामभवत्सुतः । दुराचारार्जितं पापं सच्चरित्रेण नश्यति ॥ ४६ ॥
द्वितीयेऽहनि तद्बालसञ्चितोग्राघसन्निभः । देवो ज्योतिर्गणे जातो धूमकेतुसमाह्वयः ॥ ४७ ॥
गच्छन्यदृच्छया व्योम्नि विहर्तुं वातरंहसा । विमाने स्वे धृते वान्यैः प्रद्युम्नस्योपरिस्थिते ॥ ४८ ॥
चरमाङ्गस्य केनेदं कृतमित्युपयुक्तवान् । विभङ्गादात्मनः शत्रुं ज्ञात्वा प्राक्तनजन्मनि ॥ ४९ ॥
रथान्तकनकस्यास्यं दर्पाद्दारान्समाहरत् । तत्त्वं स्तम्भनयेनेति दैवशक्त्येव ज्वलन् ॥ ५० ॥
विधाय स महानिद्रामन्तःपुरनिवासिनाम् । तमुद्धृत्याध्वमार्गेण दूरं नीत्वा यथाचिरम् ॥ ५१ ॥
अनुभूय महादुःखं कुर्यात्प्राणविमोचनम् । करिष्यामि तथेत्यस्य पुण्येनैवं प्रचोदितः ॥ ५२ ॥
अवरुह्य नभोभागाद्वने खदिरनामनि । शिलायास्तक्षकाख्यायाः क्षिप्त्वाधस्तादमुं गतः ॥ ५३ ॥
तदैव विजयार्धाद्रिदक्षिणश्रेणिभूषणे । विषयेऽमृतवत्याख्ये मेघकूटपुराधिपः ॥ ५४ ॥
[1]कालसंवरविद्याधरेशः काञ्चनमालया । सह जैनीश्वरीरर्चाः प्रियया प्रार्चितुं प्रयान् ॥ ५५ ॥
महाशिलाखिलाङ्गातिचलनं वीक्ष्य विस्मयात् । समन्ताद्वीक्षमाणोऽसौ दृष्ट्वा बालं ज्वलत्प्रभम् ॥ ५६ ॥
प्राक्तनोऽयं न केनापि कोपात्प्राग्जन्मवैरिणा । निक्षिप्तः पापिनाऽमुष्मिन् पश्य बालार्कभास्वरः[2] ॥ ५७ ॥
तस्मात्तवास्तु पुत्रोऽयं गृहाणामुं मनोरमे । इत्याहोवाच साप्यस्मै यौवराज्यं ददासि चेत् ॥ ५८ ॥
ग्रहीष्यामीति तेनापि प्रतिपद्य तथास्त्विति । तत्कर्णगतसौवर्णपत्रेणारचि पट्टकः ॥ ५९ ॥
तौ तं बालं समादाय पुरमाविष्कृतोत्सवम् । प्रविश्य देवदत्ताख्यां व्यधातां विधिपूर्वकम् ॥ ६० ॥

जीव अपने अवशिष्ट पुण्य कर्मके उदयसे शुभ स्वप्न पूर्वक रुक्मिणीके पुत्र उत्पन्न हुआ है सो ठीक ही है क्योंकि दुराचारके द्वारा कमाया हुआ पाप सम्यक् चारित्रके द्वारा नष्ट हो ही जाता है ॥३५–४६॥

इधर राजा कनकरथका जीव तपश्चरणकर धूमकेतु नामका ज्योतिषी देव हुआ था। वह बालक प्रद्युम्नके पूर्वभवमें संचित किये हुए तीव्र पापके समान जान पड़ता था। किसी दूसरे दिन वह इच्छानुसार विहार करनेके लिए आकाशमें वायुके समान वेगसे जा रहा था कि जब उसका विमान चरमशरीरी प्रद्युम्नके ऊपर पहुँचा तब वह ऐसा रुक गया मानो किन्हीं दूसरोंने उसे पकड़कर रोक लिया हो। यह कार्य किसने किया है ? यह जाननेके लिए जब उसने उपयोग लगाया तब विभङ्गावधि ज्ञानसे उसे मालूम हुआ कि यह हमारा पूर्वजन्मका शत्रु है। जब मैं राजा कनकरथ था तब इसने दर्पवश मेरी स्त्रीका अपहरण किया था। अब इसे उसका फल अवश्य ही चखाता हूँ। ऐसा विचारकर वह वैर रूपी अग्निसे प्रज्वलित हो उठा ॥ ४७–५० ॥ वह अन्तःपुरमें रहनेवाले लोगोंको महानिद्रासे अचेतकर बालक प्रद्युम्नको उठा लाया और आकाशमार्गसे बहुत दूर ले जाकर सोचने लगा कि मैं इसकी ऐसी दशा करूँगा कि जिससे चिरकाल तक महादुःख भोगकर प्राण छोड़ दे—मर जावे। ऐसा विचारकर वह बालकके पुण्यसे प्रेरित हुआ आकाशसे नीचे उतरा और खदिर नामकी अटवीमें तक्षक शिलाके नीचे बालकको रखकर चला गया ॥ ५१–५३ ॥

उसी समय विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीके आभूषण स्वरूप मृतवती नामक देशके कालकूट नगरका स्वामी कालसंवर नामका विद्याधर राजा अपनी काञ्चनमाला नामकी स्त्रीके साथ जिनेन्द्र भगवान्की प्रतिमाओंकी पूजा करनेके लिए जा रहा था ॥ ५४–५५ ॥ वह उस बड़ी भारी शिलाके समस्त अङ्गोंको जोरसे हिलता देख आश्चर्यमें पड़ गया। सब ओर देखनेपर उसे देदीप्यमान कान्तिका धारक बालक दिखाई दिया। देखते ही उसने निश्चय कर लिया कि 'यह सामान्य बालक नहीं है, कोई पूर्वजन्मका वैरी पापी जीव क्रोधवश इसे यहाँ रख गया है। हे प्रिये ! देख, यह कैसा बालसूर्यके समान देदीप्यमान हो रहा है। इसलिए हे सुन्दरी ! यह तेरा ही पुत्र हो, तू इसे ले ले'। इस प्रकार बालकको उठाकर विद्याधरने अपनी स्त्रीसे कहा। विद्याधरीने उत्तर दिया कि 'यदि आप इसे युवराजपद देते हैं तो ले लूँगी'। राजाने उसकी बात स्वीकार कर ली और रानीके कानमें पड़े हुए सुवर्णके पत्रसे ही उसका पट्टबंध कर दिया ॥ ५६–५९ ॥ इस प्रकार

१ कालसंभव ल० । २ भास्करः ल० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तद्बाललालनालीलाविलासैर्हृष्टचेतसोः । तयोर्गच्छति निर्व्याजं काले सुसुखभोगिनोः ॥ ६१ ॥
इतः सुतवियोगेन रुक्मिणी शोकवह्निना । दह्यमाना स्थलाम्भोजवल्लीव वनवह्निना ॥ ६२ ॥
सम्पत्तिर्वा चरित्रस्य दयाभावविवर्जिता । कार्याकार्यविचारेषु मन्दमन्देव शेमुषी ॥ ६३ ॥
मेघमालेव कालेन निर्गलज्जलसंचया । नाबभासे [1]गते प्राणे क्व भवेत्सुप्रभा तनोः ॥ ६४ ॥
तथैव वासुदेवोऽपि तद्वियोगादगाच्छुचम् । पृथक्तरुलतायोगे न वज्रपरिताडनम् ॥ ६५॥
जलाशयस्तृषार्तस्य केकिनो जलदागमः । यथा तथास्य सन्तृप्त्यै सन्निधिं नारदोऽगमत् ॥ ६६ ॥
तं वीक्ष्य बालवृत्तान्तं हरिरुक्त्वाभ्यधादिदम् । त्वया केनाप्युपायेन क्वापि सोऽन्विष्यतामिति ॥ ६७ ॥
नारदस्तत्समाकर्ण्य शृणु पूर्वविदेहजे । नगरे पुण्डरीकिण्यां मया तीर्थकृतो गिरा ॥ ६८ ॥
स्वयंप्रभस्य ज्ञातानि वार्ता बालस्य पृच्छता । भवान्तराणि तद्वृद्धिस्थानं लाभो महानपि ॥ ६९ ॥
सहयोगो युवाभ्याञ्च तस्य षोडशवत्सरैः । इत्यसौ वासुदेवञ्च रुक्मिणीञ्च यथाश्रुतम् ॥ ७० ॥
प्राबोधयत्तयोस्तस्मात्सुरसेनानृलोकयोः । प्रादुर्भावाज्जिनस्येव[2] प्रमोदः परमोऽभवत् ॥ ७१ ॥
क्रमेण कृतपुण्योऽसौ तत्र सम्पूर्णयौवनः । कदाचिदाज्ञया राज्ञः प्रद्युम्नः सबलो बली ॥ ७२ ॥
गत्वा द्विषोऽग्निराजस्य विक्रमादुपरि स्वयम् । निष्प्रतापं विधायैनं युद्धे जित्वार्पयत्पितुः ॥ ७३ ॥

राजा कालसंवर और रानी काञ्चनमालाने उस बालकको लेकर अनेक उत्सवोंसे भरे हुए अपने नगरमें प्रवेश किया और बालकका विधिपूर्वक देवदत्त नाम रक्खा ॥ ६० ॥ उस बालकके लालन-पालन तथा लीलाके विलासोंसे जिनका चित्त प्रसन्न हो रहा है और जो सदा उत्तमोत्तम सुखोंका अनुभव करते रहे हैं ऐसे राजा-रानीका समय विना किसी छलसे व्यतीत होने लगा ॥ ६१ ॥

इधर जिस प्रकार दावानलसे गुलाबकी वेल जलने लगती है उसी प्रकार पुत्र-विरहके कारण रुक्मिणी शोकाग्निसे जलने लगी ॥ ६२ ॥ जिस प्रकार चारित्रहीन मनुष्यकी दयाभावसे रहित सम्पत्ति शोभा नहीं देती, अथवा जिस प्रकार कार्य और अकार्यके विचारमें शिथिल बुद्धि सुशोभित नहीं होती और जिस प्रकार काल पाकर जिसका पानी बरस चुका है ऐसी मेघमाला सुशोभित नहीं होती उसी प्रकार वह रुक्मिणी भी सुशोभित नहीं हो रही थी सो ठीक ही है क्योंकि प्राण निकल जानेपर शरीरकी शोभा कहाँ रहती है ? ॥ ६३-६४ ॥ रुक्मिणीकी भांति श्रीकृष्ण भी पुत्रके वियोगसे शोकको प्राप्त हुए सो ठीक ही है क्योंकि जब वृक्ष और लताका संयोग रहता है तब उन्हें नष्ट करनेके लिए अलग-अलग वज्रपातकी आवश्यकता नहीं रहती ॥ ६५ ॥ जिस प्रकार प्याससे पीड़ित मनुष्यके लिए जलाशयका मिलना सुखदायक होता है और मयूरके लिए मेघका आना सुखदायी होता है उसी प्रकार श्रीकृष्णको सुख देनेके लिए नारद उनके पास आया ॥ ६६ ॥ उसे देखते ही श्रीकृष्णने बालकका सब वृत्तान्त सुनाकर कहा कि जिस किसी भी उपायसे जहाँ कहीं भी संभव हो आप उस बालकी खोज कीजिये ॥ ६७ ॥ यह सुनकर नारद कहने लगा कि सुनो 'पूर्व-विदेह क्षेत्रकी पुण्डरीकिणी नगरीमें स्वयंप्रभ तीर्थंकरसे मैंने बालककी बात पूछी थी। अपने प्रश्नके उत्तरमें मैंने उनकी वाणीसे बालकके पूर्व भव जान लिये हैं, वह वृद्धिका स्थान है अर्थात् सब प्रकारसे बढ़ेगा, उसे बड़ा लाभ होगा और सोलह वर्ष बाद उसका आप दोनोंके साथ समागम हो जावेगा'। इस प्रकार नारदने जैसा सुना था वैसा श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणीको समझा दिया ॥ ६८-७० ॥ जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्का जन्म होते ही देवोंकी सेना तथा मनुष्य लोकमें परम हर्ष उत्पन्न होता है उसी प्रकार नारदके वचन सुनते ही रुक्मिणी तथा श्रीकृष्णको परम हर्ष उत्पन्न हुआ ॥ ७१ ॥

उधर पुण्यात्मा देवदत्त (प्रद्युम्न) क्रम-क्रमसे नवयौवनको प्राप्त हुआ। किसी एक समय अतिशय बलवान् प्रद्युम्न पिताकी आज्ञासे सेना साथ लेकर अपने पराक्रमसे स्वयं ही अग्निराज शत्रुके ऊपर जा चढ़ा और उसे युद्धमें प्रताप रहित बना जीतकर ले आया तथा पिताको सौंप

---

१ गतप्राणे ल० । २-द्विनस्येव ल० ।

तदा दृष्टापदानस्य प्रद्युम्नस्य खगाधिपः । परार्घ्यवस्तुदानेन महतीं माननां व्यधात् ॥ ७४ ॥
अवतीर्णमिव स्वर्गाद्यौवनैकविभूषणम् । भुवं कदाचिद्रूपमाहार्यैश्चातिभास्वरम् ॥ ७५ ॥
अवलोक्य स्मराक्रान्तबुद्ध्या काञ्चनमालया । जन्मान्तरागतस्नेहकृतानेक[1]विकारया ॥ ७६ ॥
प्रकाशयन्त्या स्वान्तस्थं भावं पापपरीतया । कुमार तुभ्यं मद्देयां गृहाण विधिपूर्वकम् ॥ ७७ ॥
[2]प्रज्ञप्तिविद्यामित्युक्तस्तया मायामयेहया । सोऽपि मातस्तथैवाहं करिष्यामीति [3]सम्मदात् ॥ ७८ ॥
आदाय धीमांस्तां विद्यां सिद्धकूटमुपागमत् । कृत्वा तत्र नमस्कारं चारणौ मुनिपुङ्गवौ ॥ ७९ ॥
श्रित्वा श्रुत्वा ततो धर्मं ज्ञात्वा विद्याप्रसाधने । हेतुं तदुपदेशेन सञ्जयन्तं समाश्रयत् ॥ ८० ॥
आकर्ण्य तत्पुराणञ्च तदर्चापादसंश्रयात् । विद्यां सम्प्राप्य सञ्जातसम्मदः पुरमागमत् ॥ ८१ ॥
दृष्ट्वा द्विगुणिताकारशोभं तं कामकातरा । प्रार्थयन्ती बहूपायैरनिच्छन्तं महामतिम् ॥ ८२ ॥
पुरुषव्रतसम्पन्नमतिद्वेषादबुबुधत् । कुमारः सहवासस्य योग्यो नायं कुचेष्टितः ॥ ८३ ॥
जानाम्यनभिजातत्वमस्येति खचराधिपम् । विचारविकलः सोऽपि तदुक्तं तत्प्रतीतवान् ॥ ८४ ॥
विद्युद्दंष्ट्रादिकान्पञ्चशतानि तनुजान्मिथः । आहूय देवदत्तोऽयं [4]दौष्टयोपांशुवधोचितः ॥ ८५ ॥
ततः केनाप्युपायेन भवद्भिः क्रियतां व्यसुः । इत्याह खचराधीशो[5] लब्धाज्ञास्तेऽपि कोपिनः ॥ ८६ ॥
स्वयं प्रागपि तं[6] हन्तुं कृतमन्त्राः परस्परम् । तथेति प्रतिपद्यातो निर्ययुस्तद्विकीर्षवः ॥ ८७ ॥

दिया ॥ ७२–७३ ॥ उस समय राजा कालसंवरने, जिसका पराक्रम देख लिया है ऐसे प्रद्युम्नका श्रेष्ठ वस्तुएँ देकर बहुत भारी सन्मान किया ॥ ७४ ॥ यौवन ही जिसका आभूषण है, जो स्वर्गसे पृथिवीपर अवतीर्ण हुएके समान जान पड़ता है, और जो आभूषणोंसे अत्यन्त देदीप्यमान है ऐसे प्रद्युम्नको देखकर किसी समय राजा कालसंवरकी रानी काञ्चनमालाकी बुद्धि कामसे आक्रान्त हो गई, वह पूर्वजन्मसे आये हुए स्नेहके कारण अनेक विकार करने लगी, तथा पापसे युक्त हो अपने मनका भाव प्रकट करती हुई कुमारसे कहने लगी कि 'हे कुमार' मैं तेरे लिए प्रज्ञप्ति नामकी विद्या देना चाहती हूँ उसे तू विधि पूर्वक ग्रहण कर' । इस प्रकार माया पूर्व चेष्टासे युक्त रानीने कहा । बुद्धिमान् प्रद्युम्नने भी 'हे माता ! मैं वैसा ही करूँगा' यह कहकर बड़े हर्षसे उससे वह विद्या ले ली और उसे सिद्ध करनेके लिए सिद्धकूट चैत्यालयकी ओर गमन किया । वहाँ जाकर उसने चारण-ऋद्धि धारी मुनियोंको नमस्कार किया, उनसे धर्मोपदेश सुना और तदनन्तर उनके कहे अनुसार विद्या सिद्ध करनेके लिए सञ्जयन्त मुनिकी प्रतिमाका आश्रय लिया ॥ ७५–८० ॥ उसने संजयन्त मुनिका पुराण सुना, उनकी प्रतिमाके चरणोंके आश्रयसे विद्या सिद्ध की और तदनन्तर हर्षित होता हुआ वह अपने नगरको लौट आया ॥ ८१ ॥ विद्या सिद्ध होनेसे उसके शरीरकी शोभा दूनी हो गई थी अतः उसे देखकर रानी काञ्चनमाला कामसे कातर हो उठी । उसने अनेक उपायोंके द्वारा कुमारसे प्रार्थना की परन्तु महाबुद्धिमान् कुमारने उसकी इच्छा नहीं की । जब उसे इस बातका पता चला कि यह कुमार पुरुषव्रत सम्पन्न है और हमारे सहवासके योग्य नहीं है तब उसने अपने पति कालसंवरसे कहा कि यह कुमार कुचेष्टा युक्त है अतः जान पड़ता है कि यह कुलीन नहीं है—उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ नहीं है । विचार रहित कालसंवरने स्त्रीकी बातका विश्वास कर लिया । उसने उसी समय विद्युद्दंष्ट्र आदि अपने पाँच सौ पुत्रोंको बुलाकर एकान्तमें आज्ञा दी कि 'यह देवदत्त अपनी दुष्टताके कारण एकान्तमें बध करनेके योग्य है अतः आप लोग इसे किसी उपायसे प्राणरहित कर डालिये' । इस प्रकार विद्याधरोंके राजा कालसंवरसे आज्ञा पाकर वे पाँच सौ कुमार अत्यन्त कुपित हो उठे । वे पहले ही उसे मारनेके लिए परस्पर सलाह कर चुके थे फिर राजाकी आज्ञा प्राप्त हो गई । 'ऐसा ही करूँगा' यह कहकर उन्होंने पिताकी आज्ञा शिरोधार्य की और सबके

---

१ देहविकारया ल० । २ प्रज्ञप्त ग० । प्रज्ञप्ति ल० । म० पुस्तके तु एष श्लोकः परिभ्रष्टः । ३ संमुदा ख०, घ० । ४ दोष्युपांशु ल० । ५ खचराधीशलब्धा ल० । खचराधीशाल्लब्धा ख०, ग०, घ०, म० । ६ ते हन्तुं ग० ।

हिंसा प्रधानशास्त्राद्वा राज्याद्वा नयवर्जितात् । तपसो [1]वापमार्गस्थाद्दुष्कलत्राद् ध्रुवं क्षतिः ॥ ८८ ॥
चालयन्ति स्थिरामृर्ज्वीं नयन्ति विपरीतताम् । छादयन्ति मतिं दीप्तां स्त्रियो वा दोषविक्रियाः ॥ ८९ ॥
तदैव तोषो रोषश्च पापिनीनां प्रियान्प्रति । न हेतुस्तत्र कोऽप्यन्यो लाभालाभद्वयाद्विना ॥ ९० ॥
अकार्यमवशिष्टं यत्तन्नास्तीह कुयोषिताम् । मुक्त्वा पुत्राभिलाषित्वमेतदप्येतया कृतम् ॥ ९१ ॥
योषित्सु व्रतशीलादिसत्क्रियाश्चाप्नुवन्ति चेत् । न शुद्धिं ताः स्वपर्यन्तं कथं नायान्त्वसत्क्रियाः ॥ ९२ ॥
अम्भो वाम्भोजपत्रेषु चित्तं तासां न केषुचित् । स्थास्नु तिष्ठदपि स्पृष्ट्वाप्यस्पृष्टवदतः पृथक् ॥ ९३ ॥
सर्वदोषमयो भावो दुर्लक्ष्यः सर्वयोषिताम् । दुःसाध्यश्च महामोहावहोऽसौ सन्निपातवत् ॥ ॥ ९४ ॥
कः कं किं वक्ति केनेति विचार्यं कार्यकारिणा । ऐहिकामुष्मिकार्थेषु ततोऽयं नैति वञ्चनाम् ॥ ९५ ॥
प्रमाणवचनः किं वा नेति वक्ता[2] परीक्ष्यताम् । विदुषा तस्य वृत्तेन परिज्ञानेन च स्फुटम् ॥९६॥
एतस्मिन्सम्भवेदेतन्न वेति नयवेदिना । तदाचारैः परीक्ष्यः प्राग्यमुद्दिश्य वचस्स च ॥ ९७॥
किं प्रत्येयमिदं नेति शब्देनार्थेन च ध्रुवम् । उक्तं व्यक्तं परीक्ष्यं तत्समीक्षापूर्वकारिभिः ॥ ९८ ॥
भिया स्नेहेन लोभेन मात्सर्येण [3]क्रुधा ह्रिया । किमबोधेन बोधेन परेषां प्रेरणेन वा[4] ॥ ९९ ॥
वक्तीत्येतन्निमित्तानि परीक्ष्याणि सुमेधसा । एवं प्रवर्तमानोऽयं विद्वान्विद्वत्सु चेष्यते ॥ १०० ॥

सब उसे पूरा करनेकी इच्छा करते हुए नगरसे बाहर निकल पड़े। यही आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार हिंसा प्रधान शास्त्रसे, नीति रहित राज्यसे और मिथ्या मार्गमें स्थित तपसे निश्चित हानि होती है उसी प्रकार दुष्ट स्त्रीसे निश्चित ही हानि होती है ॥ ८२—८८ ॥ दोषोंके विकारोंसे युक्त स्त्रियाँ मनुष्यकी स्थिर बुद्धिको चञ्चल बना देती हैं, सीधीको कुटिल बना देती हैं और देदीप्यमान बुद्धिको ढक लेती हैं ॥ ८९ ॥ ये पापिनी स्त्रियाँ अपने पतियोंके प्रति उसी समय सन्तुष्ट हो जाती हैं और उसी समय क्रोध करने लगती हैं और इनके ऐसा करनेमें लाभ वा हानि इन दोके सिवाय अन्य कुछ भी कारण नहीं है ॥ ९० ॥ संसारमें ऐसा कोई कार्य बाकी नहीं जिसे खोटी स्त्रियाँ नहीं कर सकती हों। हाँ, पुत्रके साथ व्यभिचारकी इच्छा करना यह एक कार्य बाकी था परन्तु काञ्चनमालाने वह भी कर लिया ॥ ९१ ॥ जिन किन्हीं स्त्रियोंमें व्रत शील आदि सत्क्रियाएँ रहती हैं वे भी शुद्धिको प्राप्त नहीं होतीं फिर जिनमें सत्क्रियाएँ नहीं हैं वे अपनी अशुद्धताके परम प्रकर्षको क्यों न प्राप्त हों ? ॥ ९२ ॥ जिस प्रकार कमलके पत्तोंपर पानी स्थिर नहीं रहता उसी प्रकार इन स्त्रियोंका चित्त भी किन्हीं पुरुषोंपर स्थिर नहीं ठहरता। वह स्पर्श करके भी स्पर्श नहीं करनेवालेके समान उनसे पृथक् रहता है ॥ ९३ ॥ सब स्त्रियोंके सब दोषोंसे भरे भाव दुर्लक्ष्य रहते हैं—कष्टसे जाने जा सकते हैं। ये सन्निपातके समान दुःसाध्य तथा बहुत भारी मोह उत्पन्न करनेवाले होते हैं ॥ ९४ ॥ कौन किसके प्रति किस कारणसे क्या कहता है !' इस बातका विचार कार्य करनेवाले मनुष्यको अवश्य करना चाहिए। क्योंकि जो इस प्रकारका विचार करता है वह इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी कर्मोंमें कभी प्रतारणा को प्राप्त नहीं होता—ठगाया नहीं जाता ॥ ९५ ॥ 'यह वक्ता प्रामाणिक वचन बोलता है या नहीं' इस बातकी परीक्षा विद्वान् पुरुषको उसके आचरण अथवा ज्ञानसे स्पष्ट ही करना चाहिए ॥ ९६ ॥ नयोंके जाननेवाले मनुष्यको पहले यह देखना चाहिये कि इसमें यह बात संभव है भी या नहीं ? इसी प्रकार जिसे लक्ष्यकर वचन कहे जावें पहिले उसके आचरणसे उसकी परीक्षा कर लेनी चाहिए। विचार कर कार्य करनेवाले मनुष्यको शब्द अथवा अर्थके द्वारा कहे हुए पदार्थका 'यह विश्वास करनेके योग्य है अथवा नहीं' इस प्रकार स्पष्ट ही परीक्षा कर लेनी चाहिए ॥९७-९८॥ 'यह जो कह रहा है सो भयसे कह रहा है, या स्नेहसे कह रहा है, या लोभसे कह रहा है, या मात्सर्यसे कह रहा है, या क्रोधसे कह रहा है, या लज्जासे कह रहा है, या अज्ञानसे कह रहा है, या जानकर कह रहा है, और या दूसरोंकी प्रेरणासे कह रहा है, इस प्रकार बुद्धिमान् मनुष्यको निमित्तोंकी परीक्षा

---

१ वाम-ल० । २ वक्तुः ग०, घ०, म० । ३ क्षुधा ल० । ४ च ल० ।

सा स्त्रीत्वान्नावबुध्येत दुष्टा कष्टमयञ्च तत् । [1]शिष्टाशिष्टानुसंशिष्टौ शिष्टः संमोमुहीति यत् ॥१०१॥
तदैव तं समुत्साह्य विहर्तुं ते वनं गताः । अग्निकुण्डं प्रदर्श्यास्य पतन्त्यस्मिन्नभीरवः ॥ १०२॥
इत्याहुः सोऽपि तच्छ्रुत्वा न्यपतत्तत्र निर्भयः । विचारयति धीमाँश्च न कार्यं दैवचोदितः ॥ १०३ ॥
देव्यैषोऽत्र निवासिन्या प्रतिगृह्याभिपूजितः । कनकाम्बरभूषादिदानेनास्माद्विनिर्ययौ ॥ १०४ ॥
तस्माद्विस्मयमापन्ना गत्वा तेऽन्यत्र तं पुनः । प्रोत्साह्य मेषभूभृत्रोर्मध्यं प्रावेशयन्खलाः ॥ १०५ ॥
पर्वतौ मेषरूपेण पतन्तौ भुजशालिनम् । तन्निरुध्य स्थितं दृष्ट्वा तुष्टा तद्गृहदेवता ॥ १०६ ॥
तस्मै दिव्ये ददौ रत्नकुण्डले मकराङ्किते । ततो निर्गतवान्भूयस्तन्निर्देशाद्विशन् बिलम् ॥ १०७ ॥
वराहाद्रेरसावुग्रमापतन्तं वराहकम् । करेणैकेन दंष्ट्रायां धृत्वान्येनास्य मस्तकम् ॥ १०८ ॥
प्रहृत्य हेलया तस्थौ तस्यासाधारणेहितम् । समीक्ष्य देवतात्रस्था रुक्मिणीप्रियसूनवे ॥ १०९ ॥
शङ्खं विजयघोषाख्यं महाजालमपि द्वयम् । ददाति स्म सपुण्यानां क्व वा लाभो न जायते ॥ ११० ॥
तथा कालगुहावासिमहाकालाख्यराक्षसात् । वृषभाख्यं रथं रत्नकवचं चाप निर्जितात् ॥ १११ ॥
विद्याधरेण केनापि खचरः कोऽपि कीलितः । तरुद्वये स कामस्य[2] दृष्टिगोचरमापतत् ॥ ११२॥
असह्यवेदनार्तस्य खेटकस्य च वीक्षणात् । इङ्गितज्ञो हरेः पुत्रोऽङ्गुलिकां[3] बन्धमोचनीम् ॥ ११३ ॥
खेटकस्थां समादाय समभ्यर्च्य विलोचने । कृतोपकारः[4] सम्प्रापत्तस्माद्विद्यात्रयं महत् ॥ ११४ ॥

करनी चाहिए। जो मनुष्य इस प्रकार प्रवृत्ति करता है वह विद्वानोंमें भी विद्वान् माना जाता है ॥ ९९–१०० ॥ 'अच्छी और बुरी आज्ञा देनेमें जो शिष्ट (उत्तम) पुरुष भी भूलकर जाते हैं वह बड़े कष्टकी बात है' यह बात दुष्टा स्त्री अपने स्त्रीस्वभावके कारण नहीं समझ पाती है ॥ १०१ ॥

अथानन्तर—वे विद्युद्दंष्ट्र आदि पाँच सौ राजकुमार प्रद्युम्नको उत्साहित कर उसी समय विहार करनेके लिए वनकी ओर चल दिये। वहाँ जाकर उन्होंने प्रद्युम्नके लिए अग्निकुण्ड दिखाकर कहा कि जो इसमें कूदते हैं वे निर्भय कहलाते हैं। उनकी बात सुनकर प्रद्युम्न निर्भय हो उस अग्निकुण्डमें कूद पड़ा। सो ठीक ही है क्योंकि भाग्यसे प्रेरित हुआ बुद्धिमान् मनुष्य किसी कार्यका विचार नहीं करता ॥ १०२–१०३ ॥ उस कुण्डमें कूदते ही वहाँकी रहनेवाली देवीने उसकी अगवानी की तथा सुवर्णमय वस्त्र और आभूषणादि देकर उसकी पूजा की। इस तरह देवीके द्वारा पूजित होकर प्रद्युम्न उस कुंडसे बाहर निकल आया ॥ १०४ ॥ इस घटनासे उन सबको आश्चर्य हुआ तदनन्तर वे दुष्ट उसे उत्साहितकर फिरके चले और मेषके आकारके दो पर्वतोंके बीचमें उसे घुसा दिया ॥ १०५ ॥ वहाँ दो पर्वत मेषका आकार रख दोनों ओरसे उस पर गिरने लगे तब भुजाओंसे सुशोभित प्रद्युम्न उन दोनों पर्वतोंको रोककर खड़ा हो गया। यह देख वहाँ रहनेवाली देवीने संतुष्ट होकर उसे मकरके चिह्नसे चिह्नित रत्नमयी दो दिव्य कुण्डल दिये। वहांसे निकलकर प्रद्युम्न, भाइयोंके आदेशानुसार वराह पर्वतकी गुफामें घुसा। वहाँ एक वराह नामका भयंकर देव आया तो प्रद्युम्नने एक हाथसे उसकी दाढ़ पकड़ ली और दूसरे हाथसे उसका मस्तक ठोकना शुरू किया इस तरह वह दोनों जबड़ोंके बीचमें लीलापूर्वक खड़ा हो गया। रुक्मिणीके पुत्र प्रद्युम्नकी चेष्टा देखकर वहां रहनेवाली देवीने उसे विजयघोष नामका शङ्ख और महाजालमें दो वस्तुएँ दी। सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यात्मा जीवोंको कहाँ लाभ नहीं होता है ? ॥ १०६–११० ॥

इसी तरह उसने काल नामक गुहामें जाकर महाकाल नामक राक्षसको जीता और उससे वृषभ नामका रथ तथा रत्नमय कवच प्राप्त किया ॥ १११ ॥ आगे चलकर किसी विद्याधरने किसी विद्याधरको दो वृक्षोंके बीचमें कीलित कर दिया था वह प्रद्युम्नको दिखाई दिया, वह कीलित हुआ विद्याधर असह्य वेदनासे दुःखी हो रहा था। यद्यपि उसके पास बन्धनसे छुड़ानेवाली गुटिका थी परन्तु कीलित होनेके कारण वह उसका उपयोग नहीं कर सकता था। उसे देखते ही प्रद्युम्न उसके

---

१ 'इष्टशिष्टानुसंशिष्टाशिष्टः' ल० । इष्टं शिष्टानुसंशिष्टौ शिष्टः' म० । इष्टशिष्टानुसंशिष्टाविष्टः ल० । ग० पुस्तके त्रुटितोऽयं श्लोकः । २ प्रद्युम्नस्य । ३ गुटिकां म०,ख० । गुलिकां ग०,घ० । ४ कृतोपकारसंप्राप्त–ल० ।

सुरेन्द्रजालं जालान्तनरेन्द्रं प्रस्तरञ्च सः । पुनः सहस्रवक्त्राहिभवने शङ्खपूरणात् ॥ ११५ ॥
बिलान्निर्गत्य नागश्च नागी च मकरध्वजम् । चित्रवर्णं धनुर्नन्दकाख्यासिं कामरूपिणीम् ॥ ११६ ॥
मुद्रिकाञ्च प्रसन्नौ तौ समं तस्मै वितेरतुः । कम्पनेन कपित्थांघ्रिपस्यासं पादुकद्वयम् ॥ ११७ ॥
तेनानर्घ्यं नभोयायि[1] देवतायास्तदाश्रितेः[2] । सुवर्णककुभे पञ्चफणाहिपतिनार्पितान् ॥ ११८ ॥
तपंणस्तापनो मोहनाभिधानो [3]विलापनः । मारणश्चेति पञ्चैतान् शरान् सम्प्राप्य पुण्यभाक् ॥ ११९ ॥
मौलिमौषधिमालाञ्च छत्रं चामरयुग्मकम् । दत्तं क्षीरवने मर्कटेनास्मै परितोषिणा ॥ १२० ॥
स [4]कदम्बमुखीवाप्यां नागपाशमवाप्तवान् । अस्य वृद्धेरसोढारः सर्वे तं खगसूनवः ॥ १२१ ॥
यः पातालमुखीवाप्यां पतेत्स सकलेश्वरः । भवेदित्यवदन्कामोऽप्यवगम्य तदिङ्गितम् ॥ १२२ ॥
प्रज्ञप्तिं निजरूपेण तस्यां वाप्यामपीपतत् । स्वयं पार्श्वे तिरोधाय स्वरूपं नयविस्थितः ॥ १२३ ॥
महाशिलाभिस्तैः सर्वैर्विधेयं [5]वधमात्मनः । विदित्वा कोपसन्तप्तो विद्युद्दंष्ट्रादिविद्विषः ॥ १२४ ॥
गाढं पाशेन बध्वाधो मुखान् प्रक्षिप्य तत्र सः । कृत्वा शिलापिधानञ्च प्रहित्य नगरं प्रति ॥ १२५ ॥
ज्योतिष्प्रभं कनीयांसं तेष्वाक्रम्य शिलां स्थितः । पापिनो हि स्वपापेन प्राप्नुवन्ति पराभवम् ॥ १२६ ॥
अथात्र नारदं कामचारिणं [6]नभसस्तलात् । आगच्छन्तं निजस्थानं हरिसूनुरलोकत ॥ १२७ ॥
यथाविधि प्रतीक्ष्यैनमभ्युत्थानपुरस्सरम् । कृतसम्भाषणस्तेन प्रणीतात्मप्रपञ्चकः ॥ १२८ ॥

पास गया और उसके संकेतको समझ गया । उसने विद्याधरके पासकी गुटिका लेकर उसकी आँखों पर फेरा और उसे बन्धनसे मुक्त कर दिया । इस तरह उपकार करनेवाले प्रद्युम्नने उस विद्याधरसे सुरेन्द्र जाल, नरेन्द्र जाल, और प्रस्तर नामकी तीन विद्याएँ प्राप्त कीं । तदनन्तर—वह प्रद्युम्न, सहस्रवक्त्र नामक नागकुमारके भवनमें गया वहाँ उसने शङ्ख बजाया जिससे नाग और नागी दोनों ही बिलसे बाहर आये और प्रसन्न होकर उन्होंने उसके लिए मकरचिह्नसे चिह्नित ध्वजा, चित्रवर्ण नामका धनुष, नन्दक नामका खड्ग और कामरूपिणी नामकी अंगूठी दी । वहाँ से चलकर उसने एक कैथका वृक्ष हिलाया जिसके उसपर रहनेवाली देवीसे आकाशमें चलनेवाली दो अमूल्य पादुकाएँ प्राप्त कीं ॥ ११२–११७ ॥ वहाँसे चलकर सुवर्णार्जुन नामक वृक्षके नीचे पहुँचा और वहाँ पञ्च फणवाले नागराजके द्वारा दिये हुए तपन, तापन, मोदन, विलापन और मारण नामके पांच बाण उस पुण्यात्माको प्राप्त हुए ॥ ११८–११९ ॥ तदनन्तर वह क्षीरवनमें गया वहाँ सन्तुष्ट हुए मर्कट देवने उसे मुकुट, औषधिमाला, छत्र और दो चमर प्रदान किये ॥१२०॥ इसके बाद वह कदम्बमुखी नामकी बावड़ीमें गया और वहाँके देवसे एक नागपाश प्राप्त किया । तदनन्तर इसकी वृद्धिको नहीं सहनेवाले सब विद्याधरपुत्र इसे पातालमुखी बावड़ीमें ले जाकर कहने लगे कि जो कोई इसमें कूदता है वह सबका राजा होता है । नीतिका जाननेवाला प्रद्युम्न उन सबका अभिप्राय समझ गया इसलिए उसने प्रज्ञप्ति विद्याको अपना रूप बनाकर बावड़ीमें कुदा दिया और स्वयं अपने आपको छिपाकर वहीं खड़ा हो गया ॥ १२१–१२३ ॥ जब उसे यह मालूम हुआ कि ये सब बड़ी-बड़ी शिलाओं के द्वारा मुझे मारना चाहते थे तब वह क्रोधसे संतप्त हो उठा, उसने उसी समय विद्युद्दंष्ट्र आदि शत्रुओंको नागपाशसे मजबूतीके साथ बांधकर तथा नीचेकी ओर मुख कर उसी बावड़ीमें लटका दिया और ऊपरसे एक शिला ढक दी । उन सब भाइयोंमें ज्योतिप्रभ सबसे छोटा था सो प्रद्युम्नने उसे समाचार देनेके लिए नगरकी ओर भेज दिया और स्वयं वह उसी शिलापर बैठ गया सो ठीक ही है क्योंकि पापी मनुष्य अपने पापसे पराभवको प्राप्त करते ही हैं ॥ १२४–१२६ ॥

अथानन्तर—प्रद्युम्नने देखा कि इच्छानुसार चलनेवाले नारदजी आकाश-स्थलसे अपनी ओर आ रहे हैं ॥ १२७ ॥ वह उन्हें आता देख उठकर खड़ा हो गया उसने विधिपूर्वक उनकी पूजा की, उनके साथ बातचीत की तथा नारदने उसका सब वृत्तान्त कहा । उसे सुनकर प्रद्युम्न बहुत

१-गामि ल० । २ तदाश्रितः ल० । तपःश्रियः इत्यपि क्वचित् । ३ विलोपनः ख०, ग०, घ० । ४ कदम्बकमुखी ल० । ५ वधवात्मनः ल० । ६ नमसः स्थलात् इत्यपि क्वचित् ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सम्यक्श्रद्धाय तत्सर्वं प्रहृष्टोऽखिलागमम् । [1]दृष्ट्वाऽऽस्त विस्मितस्तावद्बलं तं खेचरेशितुः ॥ १२९ ॥
सहसावेष्टतेवार्कं प्रावृडम्भोदजालकम् । कालशम्बरमुख्यं तत्स युद्ध्वा भङ्गमापयत् ॥ १३० ॥
तं सूनुकृतवृत्तान्तं बोधयित्वा खगाधिपम् । अपनीय शिलां नागपाशं चैतान्व्यपाशयत् ॥ १३१ ॥
नारदागमहेतुञ्च ज्ञापयित्वा सविस्तरम् । आपृच्छयानुमतस्तेन रथं वृषभनामकम् ॥ १३२ ॥
नारदेन समारुह्य [2]प्रायात् द्वारावतीं प्रति । स्वपूर्वभवसम्बन्धं शृण्वंस्तेन निरूपितम् ॥ १३३ ॥
हास्तिनाख्यपुरं प्राप्य दुर्योधनमहीभृतः । जलधेश्च सुतां कन्यां मान्यामुदधिसञ्ज्ञया ॥ १३४ ॥
दातुं भानुकुमाराय महाभिषवणोत्सवम् । विधीयमानं वीक्ष्यासौ रथे प्रस्तरविद्यया ॥ १३५ ॥
नारदं शिलयाच्छाद्य तस्मादुत्तीर्य भूतलम् । बहुप्रकारं हासानां तत्र कृत्वा ततो गतः ॥ १३६ ॥
मथुराया बहिर्भागे पाण्डवान् स्वप्रियां सुताम् । प्रदित्सून् गच्छतो भानुकुमाराय निरीक्ष्य[3] सः ॥१३७॥
समारोपितकोदण्डहस्तो व्याधाकृतिं दधत् । तेषां कदर्थनं कृत्वा नाना द्वारवतीमितः ॥ १३८ ॥
विधाय विद्यया [4]प्राग्वन्नारदं स्यन्दनस्थितम् । एकाकी स्वयमागत्य विद्याशाखामृगाकृतिः ॥ १३९ ॥
बभञ्ज सत्यभामाया नन्दनं वा वनं वनम् । तत्पानवापीनिःशेषजलपूर्णकमण्डलुः ॥ १४० ॥
ततो गत्वान्तरं किञ्चित्स्यन्दनोरुखरासभान् । विपर्यासं समायोज्य मायारूपधरः स्मरः ॥ १४१ ॥
पुरगोपुरनिर्याणप्रवेशनगतान् जनान् । सप्रहासान् समापाद्य प्रविश्य नगरं पुनः ॥ १४२ ॥
[5]शालाख्यवैद्यवेषेण स्वं प्रताप्य स्वविद्यया । विच्छिन्नकर्णसन्धानवेदित्वादि प्रघोषयन् ॥ १४३ ॥

संतुष्ट हुआ और उसपर विश्वास कर वहीं बैठ गया। शत्रुकी सेनाका आगमन देखकर वह आश्चर्यमें पड़ गया। थोड़े ही देर बाद, जिस प्रकार वर्षा ऋतुमें बादलोंका समूह सूर्यको घेर लेता है उसी प्रकार अकस्मात् विद्याधर राजाकी सेनाने प्रद्युम्नको घेर लिया परन्तु प्रद्युम्ननेयुद्ध कर उन कालसंवर आदि समस्त विद्याधरोंको पराजित कर दिया। तदनन्तर—उसने राजा कालसंवरके लिए उनके पुत्रोंका समस्त वृत्तान्त सुनाया, शिला हटाकर नागपाश दूर किया और सबको बन्धन रहित किया। इसी तरह नारदके आनेका कारण भी विस्तारके साथ कहा। तत्पश्चात् वह राजा कालसंवरकी अनुमति लेकर वृषभ नामक रथपर सवार हो नारदके प्रति रवाना हुआ। बीचमें नारदजीके द्वारा कहे हुए अपने पूर्वभवोंका सम्बन्ध सुनता हुआ वह हस्तिनापुर जा पहुंचा। वहांके राजा दुर्योधनकी जलधि नामकी रानीसे उत्पन्न हुई एक उदधिकुमारी नामकी उत्तम कन्या थी। भानुकुमारको देनेके लिए उसका महाभिषेक रूप उत्सव हो रहा था। उसे देख प्रद्युम्नने प्रस्तर विद्यासे उत्पन्न एक शिलाके द्वारा नारदजीको तो रथपर ही ढक दिया और आप स्वयं रथसे उतर कर पृथिवी तलपर आ गया और उन लोगोंकी बहुत प्रकारकी हँसी कर वहाँसे आगे बढ़ा ॥ १२८–१३६ ॥ चलते-चलते वह मथुरा नगरके बाहर पहुँचा, वहाँपर पाण्डव लोग अपनी प्यारी पुत्री भानुकुमारको देनेके लिए जा रहे थे उन्हें देख, उसने धनुष हाथमें लेकर एक भीलका रूप धारण कर लिया और उन सबका नाना प्रकारका तिरस्कार किया। तदनन्तर वहाँसे चलकर द्वारिका पहुँचा ॥ १३७–१३८ ॥ वहाँ उसने नारदजीको तो पहलेके ही समान विद्याके द्वारा रथपर अवस्थित रक्खा और स्वयं अकेला ही नीचे आया। वहाँ आकर उसने विद्याके द्वारा एक वानरका रूप बनाया और नन्दन वनके समान सत्यभामाका जो वन था उसे तोड़ डाला, वहाँकी बावड़ीका समस्त पानी अपने कमण्डलुमें भर लिया। फिर कुछ दूर जाकर उसने अपने रथमें उल्टे मैंढे तथा गधे जोते और स्वयं मायामयी रूप धारण कर लिया ॥ १३९–१४१ ॥ इस क्रियासे उसने नगरके गोपुरमें आने जानेवाले लोगोंको खूब हँसाया। तदनन्तर नगरके भीतर प्रवेश किया ॥ १४२ ॥ और अपनी विद्याके बलसे शाल नामक वैद्यका रूप बनाकर घोषणा करना शुरू कर दी कि मैं कटे हुए कानोंका जोड़ना आदि कर्म जानता

---

१ 'आसु उपवेशने' इत्यस्य लङिरूपम् । २ प्रयान् इत्यपि क्वचित् । ३ कुमारायाभिवीक्ष्य सः ल०, कुमारायातिवीक्ष्य ग० । ४ नारदस्यन्दनस्थितिम् इत्यपि क्वचित् । ५ स्यन्दनोऽरुचि रासभान् ल० । ६ आलोक्य वैद्यवेषेण संप्रत्येयं ल० ।

प्राप्य भानुकुमाराय दातुमानीतकन्यकाः । तत्राविर्भावितानेकधाहास्योऽनु द्विजाकृतिः ॥ १४४ ॥
सत्यभामागृहं गत्वा भोजनावसरे द्विजान् । विप्रकृत्य स्वधाष्ट्र्येन भुक्त्वा स्वीकृतदक्षिणः ॥ १४५ ॥
ततः क्षुल्लकवेषेण समुपेत्य स्वमातरम् । बुभुक्षितोऽहं सद्दृष्टे ! सम्यग्भोजय मामिति ॥ १४६ ॥
सम्प्रार्थ्य विविधाहारान् भुक्त्वा तृप्तिमनाप्तवान् । कुरु मे देवि सन्तृप्तिमिति व्याकुलतां नयन् ॥१४७॥
तद्वितीर्णमहामोदकोपयोगात्स[1] तृप्तवान् । ईषच्छान्तमनास्तत्र सुखं समुपविष्टवान् ॥ १४८ ॥
अकाले चम्पकाशोकपुष्पाण्यभिसमीक्ष्य सा । कलालिकोकिलालापवाचालितवनान्तरे ॥ १४९ ॥
तदा विस्मयमापन्ना मुदा पप्रच्छ किं भवान् । भद्रासौ मत्सुतो नारदोक्तकाले समागतः ॥ १५० ॥
इति तस्याः परिप्रश्ने स्वं रूपं सम्प्रकाशयन् । कृत्वा शिरसि तत्पादनखदीधितिमञ्जरीः ॥ १५१ ॥
अभिधाय स्ववृत्तान्तमशेषं परिबोधयन् । जननीं सह [2]सम्भुज्य तया तदभिवाञ्छितैः ॥ १५२ ॥
बालक्रीडाविशेषैस्तां परां प्रीतिमवापयन् । प्राग्जन्मोपार्जितापूर्वपुण्योदय इव स्थितः ॥ १५३ ॥
तदा नापितकः कोऽपि रुक्मिणीं समुपागतः । हरिप्रश्नात्सुतोत्पत्तिं विज्ञाय विनयन्धरात् ॥ १५४ ॥
मुनीन्द्रादावयोर्यस्याः प्राग्जः स्वोपयमेऽलकान् । स्नात्वन्यस्याः स हर्त्वेति युवाभ्यां विहिता स्थितिः ॥१५५॥
तस्माद्देव्यलकाली ते दीयतां तन्निबन्धनम् । स्मृत्वा भानुकुमारस्य स्नानार्थं सत्यभामया ॥ १५६ ॥
प्रहितोऽहं विवाहेऽद्य [3]द्रुतमित्यब्रवीदिदम् । किमेतदिति सम्पृष्टा [4]कामेन तव जन्मना ॥ १५७ ॥
सभं भानुश्च सञ्जातस्तदायाभ्यां सुतां हरेः । नीतौ दर्शयितुं सुप्ते तस्मिंस्त्वं पादसन्निधौ ॥ १५८ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री अनिल सागर जी महाराज

हूँ ॥ १४२-१४३ ॥ इसके बाद भानुकुमारको देनेके लिए कुछ लोग अपनी कन्याएँ लाये थे उनके पास जाकर उसने उनकी अनेक प्रकारसे हँसी की। पश्चात् एक ब्राह्मणका रूप बनाकर सत्यभामाके महलमें पहुंचा वहाँ भोजनके समय जो ब्राह्मण आये थे उन सबको उसने अपनी धृष्टतासे बाहर कर दिया और स्वयं भोजन कर दक्षिणा ले ली ॥ १४४-१४५ ॥ तदनन्तर क्षुल्लकका वेष रखकर अपनी माता रुक्मिणीके यहाँ पहुंचा और कहने लगा कि हे सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाली ! मैं भूखा हूँ, मुझे अच्छी तरह भोजन करा। इस तरह प्रार्थना कर अनेक तरहके भोजन खाये परन्तु तृप्तिको प्राप्त नहीं हुआ तब फिर व्याकुलताको प्रकट करता हुआ कहने लगा कि हे देवि ! मुझे संतुष्ट कर, पेट भर भोजन दे ! तदनन्तर उसके द्वारा दिये हुए महामोदक खाकर संतुष्ट हो गया। भोजनके पश्चात् वह कुछ शान्तचित्त होकर वहीं पर सुखसे बैठ गया ॥ १४६-१४८ ॥ उसी समय रुक्मिणीने देखा कि असमयमें ही चम्पक तथा अशोकके फूल फूल गये हैं और सारका सारा वन भ्रमरों तथा कोकिलाओंके मनोहर कूजनसे शब्दायमान हो रहा है। यह देख वह आश्चर्यसे चकित बड़े हर्षसे पूछने लगी कि हे भद्र ! क्या आप मेरे पुत्र हैं और नारदके द्वारा कहे हुए समय पर आये हैं। माताका ऐसा प्रश्न सुनते ही प्रद्युम्नने अपना असली रूप प्रकट कर दिया और उसके चरण-नखोंकी किरण रूप मंजरीको शिरपर रखकर उसे अपना सब वृत्तान्त कह सुनाया। माताके साथ भोजन किया, उसकी इच्छानुसार बाल-कालकी क्रीड़ाओंसे उसे परम प्रसन्नता प्राप्त कराई और पूर्व जन्ममें उपार्जित अपूर्व पुण्य कर्मके उदयके समान वहीं ठहर गया ॥ १४९-१५३ ॥

उसी समय एक नाई रुक्मिणीके पास आया और कहने लगा कि श्रीकृष्णके प्रश्न करनेपर श्रीविनयन्धर नामके मुनिराजसे सत्यभामा और तुम दोनोंने अपने पुत्रकी उत्पत्ति जानकर परस्पर शर्तकी थी कि हम दोनोंमें जिसके पहले पुत्र होगा वह पुत्र, अपने विवाहके समय दूसरीके शिरके बाल हरणकर स्नान करेगा। इसलिए हे देवी ! आप उस शर्तका स्मरणकर भानुकुमारके स्नानके लिए अपने केश मुझे दीजिये। आज विवाहके दिन सत्यभामाने मुझे शीघ्र ही भेजा है'। नाईकी बात सुनकर प्रद्युम्नने मातासे पूछा कि 'यह क्या बात है ?' वह कहने लगी कि 'तुम्हारा और भानुकुमारका जन्म एक साथ हुआ था। हम दोनोंने श्रीकृष्णको दिखानेके लिए तुम दोनोंको भेजा था परन्तु उस समय वे सो रहे थे इसलिए तू उनके चरणोंके समीप रख दिया गया था और वह

---

१ सुतृप्तवान् ल० । २ संतुष्टतया ल० । ३ ब्रूत ल० (!)। ४ प्रद्युम्नेन ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

स्थापितः स शिरोभागे प्रबुध्य त्वां पुरा हरिः । विलोक्य ज्येष्ठतां तेऽदादिति माताऽभ्यधात्ततः ॥१५९॥
स नापितं विकाराणामकरोदाकरं पुनः । आगतांश्च व्यधाद् भृत्यान् गोपुरेऽधःस्थिताननान् ॥ १६० ॥
वासुदेवस्य रूपेणातर्जयच्च विदूषकम् । दीर्घीकृतस्वपादेन जराख्यञ्च महत्तरम् ॥ १६१ ॥
मेषरूपेण सम्पातात्पातयन् स्वपितामहम् । हलिनञ्च हरिर्भूत्वा निगीर्यं त्वमदृश्यताम् ॥ १६२ ॥
गत्वात्र सुखमास्वाम्बेत्यभिधाय स्वविद्यया । रुक्मिणीरूपमापाद्य निर्विशेषं मनोहरम् ॥ १६३ ॥
विमाने स्थापयित्वाशु गच्छन्स सबलं हरिम् । प्राप्तवन्तं [1]समाहर्तुमाकालिकयमोपमम् ॥ १६४ ॥
जित्वा नरेन्द्रजालाख्यविद्याविहितमायया । तस्थौ निष्प्रतिपक्षः सन्वीक्षणाभीलविग्रहः ॥ १६५ ॥
नारदः स तदागत्य तनूजस्याद्य वीक्षणम् । युवयोरीदृशं लब्धविद्यस्येत्यभ्यधाद्धसन् ॥ १६६ ॥
सोपि प्रकटितात्मीयरूपः [2]पञ्चशरो बलम् । हरिञ्च स्वशिरोन्यस्ततत्क्रमाब्जोऽभ्यमानयत् ॥ १६७ ॥
ततश्चक्रधरोऽनङ्गं प्रेमालिङ्गितविग्रहः । आरोप्य स्वगजस्कन्धं प्रहृष्टः प्राविशत्पुरम् ॥ १६८ ॥
सत्यभामासुतोद्दिष्टकन्यकाभिः सह स्मरः । कल्याणाभिषवं दिष्ट्या सम्प्राप्तस्सर्वसम्मतः ॥ १६९ ॥
एवं प्रयाति कालेऽस्य स्वर्गादागत्य कश्चन । तनूजः कामसोदर्यो हरेः प्राच्यो भविष्यति ॥ १७० ॥
इत्यादेशं समाकर्ण्य सत्यभामात्मनः पतिम् । यथा स्यात्तत्समुत्पत्तिः स्वस्यास्तादृगयाचत ॥ १७१ ॥
तच्छ्रुत्वा रुक्मिणी चाह कामं जाम्बवती यथा । लप्स्यते तेऽनुजं प्राच्यं तथा कुर्विति सादरम् ॥ १७२ ॥
सोप्यदान्मुद्रिकां कामरूपिणीं तामवाप्य सा । सत्यभामाकृतिं गत्वा पतिसंयोगतः सुखम् ॥ १७३ ॥

उनके शिरके समीप रखा गया था। जब वे जागे तो उनकी दृष्टि सबसे पहले तुझपर पड़ी इसलिए उन्होंने तुझे ही जेठापन प्रदान किया था—तू ही बड़ा है यह कहा था'। माताके वचन सुनकर प्रद्युम्नने उस नाईको विकृतिकी खान बना दी—उसकी बुरी चेष्टा कर दी और उसके साथ जो सेवक आये थे उन सबको नीचे शिरकर गोपुरमें उल्टा लटका दिया तथा श्रीकृष्णका रूप बनाकर उनके विदूषकको खूब डाटा। तदनन्तर मार्गमें सो रहा और जगानेपर अपने पैर लम्बेकर जर नामक प्रतीहारीको खूब ही धौंस दी ॥१५४–१६१॥ फिर मेषका रूप बनाकर बाबा वासुदेवको टक्कर द्वारा गिरा दिया और सिंह बनकर बलभद्रको निगलकर अदृश्य कर दिया। तदनन्तर–माताके पास आकर बोला कि 'हे माता ! तू यहीं पर सुखसे रह' यह कहकर उसने अपनी विद्यासे ठीक रुक्मिणी के ही समान मनोहर रूप बनाया और उसे विमानमें बैठाकर शीघ्रतासे बलभद्र तथा कृष्णके पास ले जाकर बोला कि मैं रुक्मिणीको हरकर ले जा रहा हूं, यदि सामर्थ्य हो तो छुड़ा लो ! यह सुनकर असमयमें आये हुए यमराजकी उपमा धारण करनेवाले श्रीकृष्ण भी उसे छुड़ानेके लिए सामने जा पहुँचे परन्तु भीलका रूप धारण करनेवाले प्रद्युम्नने नरेन्द्रजाल नामक विद्याकी मायासे उन्हें जीत लिया और इस तरह वह शत्रु रहित होकर खड़ा रहा ॥ १६२–१६५ ॥ उसी समय नारदने आकर हँसते हुए, बलभद्र तथा श्रीकृष्णसे कहा कि जिसे अनेक विद्याएँ प्राप्त हैं ऐसे पुत्रका आज आप दोनोंको दर्शन हो रहा है ॥ १६६ ॥ उसी समय प्रद्युम्नने भी अपना असली रूप प्रकट कर दिया तथा बलभद्र और श्रीकृष्णको उनके चरण-कमलोंमें अपना शिर झुकाकर नमस्कार किया ॥ १६७ ॥ तदनन्तर चक्रवर्ती श्रीकृष्ण महाराजने बड़े प्रेमसे प्रद्युम्नका आलिंगन किया, उसे अपने हाथीके स्कन्धपर बैठाया और फिर बड़े प्रेमसे नगरमें प्रवेश किया ॥ १६८ ॥ वहाँ जाकर प्रद्युम्नने अपने पुण्योदयसे, सत्यभामाके पुत्र भानुकुमारके लिए जो कन्याएँ आई थी उनके साथ सबकी सम्मतिसे विवाह किया ॥ १६९ ॥ इस प्रकार काल सुखसे बीतने लगा। किसी एक दिन सबने सुना कि प्रद्युम्नका पूर्वजन्मका भाई स्वर्गसे आकर श्रीकृष्णका पुत्र होगा। यह सुनकर सत्यभामाने अपने पतिसे याचना की कि जिस प्रकार वह पुत्र मेरे ही उत्पन्न हो ऐसा प्रयत्न कीजिये ॥ १७०–१७१ ॥ जब रुक्मिणीने यह सुना तो उसने बड़े आदरके साथ प्रद्युम्नसे कहा कि तुम्हारे पूर्वभवके छोटे भाई-को जाम्बवती प्राप्त कर सके ऐसा प्रयत्न करो ॥ १७२ ॥ प्रद्युम्नने भी जाम्बवतीके लिए इच्छानुसार

---

१ समाहन्तुं इत्यपि क्वचित् । २ पञ्चशरावलं ल० (!)

क्रीडवं जाम्बवत्यापं [1]शम्भवाख्यं दिवश्च्युतम् । सुभानुं सत्यभामा च जातमत्सरयोस्तयोः ॥ १७४ ॥
गान्धर्वादिविवादेषु सुभानुं शम्भवोऽजयत् । सर्वत्र [2]पूर्वपुण्यानां विजयो नैव दुर्लभः ॥ १७५ ॥
रुक्मिणी सत्यभामा च गतमात्सर्यबन्धने । परस्परगतां प्रीतिमन्वभूतामतः परम् ॥ १७६ ॥
इत्यशेषं गणेशोक्तमाकर्ण्य सकलं सदः । ननाम मुकुलीभूतकराब्जं तत्क्रमाब्जयोः ॥ १७७ ॥
अथान्यदा जिनं नेमिं सीरपाणिः कृताञ्जलिः । अवनम्यान्वयुंक्तैवं हरिस्नेहाक्तमानसः ॥ १७८ ।
भगवन् वासुदेवस्य राज्यं प्राज्यमहोदयम् । प्रवर्ततेऽप्रतीपं मे ब्रूहीदञ्च कियच्चिरम् ॥ १७९ ॥
भद्र द्वादशवर्षान्ते नद्येन्मद्यनिमित्तकम् । द्वीपायनेन निर्मूलमियं द्वारावती पुरी ॥ १८० ॥
विष्णोर्जरत्कुमारेण गत्यन्तरगतिर्भवेत् । स एष प्रथमां पृथ्वीं प्रविश्याब्ध्युपमायुषः ॥ १८१ ॥
प्रान्ते तस्माद्विनिर्गत्य तीर्थेशोऽत्र भविष्यति । त्वमप्येतद्वियोगेन षण्मासकृतशोचनः ॥ १८२ ॥
सिद्धार्थसुरसम्बोधनापास्ताखिलदुःखकः । दीक्षामादाय माहेन्द्रकल्पे देवो जनिष्यसे ॥ १८३ ॥
उत्कृष्टायुःस्थितिस्तत्र भुक्तभोगोऽत्र तीर्थकृत् । भूत्वा निर्दग्धकर्मारिर्देहमुक्तो भविष्यसि ॥ १८४ ॥
इति तीर्थेशिना प्रोक्तं श्रुत्वा द्वीपायनाह्वयः । सद्यः संयममादाय प्रायाज्जनपदान्तरम् ॥ १८५ ॥
तथा जरत्कुमारश्च कौशाम्ब्यारण्यमाश्रयत् । प्राग्बद्धनरकायुष्यो हरिरन्वाप्तदर्शनः ॥ १८६ ॥
[3]भाव्यमानान्त्यनामासौ नाहं शक्नोमि दीक्षितुम् । शक्तान्न प्रतिबध्नामीत्यास्त्रीबालमघोषयत् ॥ १८७ ॥
प्रद्युम्नादिसुता देव्यो रुक्मिण्याद्याश्च चक्रिणम् । बन्धूंश्चापृच्छ्य तैर्मुक्ताः प्रत्यपद्यन्त संयमम् ॥ १८८ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

रूप बनाने वाली अंगूठी दे दी उसे पाकर जाम्बवतीने सत्यभामाका रूप बनाया और पतिके साथ संयोगकर स्वर्गसे च्युत हुए क्रीडवके जीवको प्राप्त किया, उत्पन्न होने पर उसका शम्भव नाम रक्खा गया। उसी समय सत्यभामाने भी सुभानु नामका पुत्र प्राप्त किया। इधर शम्भव और सुभानुमें जब परस्पर ईर्ष्या बढ़ी तो गान्धर्व आदि विवादोंमें शम्भवने सुभानुको जीत लिया सो ठीक ही है क्योंकि जिन्होंने पूर्वभवमें पुण्य उपार्जन किया है उन्हें सब जगह विजय प्राप्त होना कठिन नहीं है ॥ १७२-१७५ ॥ इसके बाद रुक्मिणी और सत्यभामा ईर्ष्या छोड़कर परस्परकी प्रीतिका अनुभव करने लगीं ॥ १७६ ॥ इस प्रकार गणधर भगवान्के द्वारा कहा हुआ सब चरित सुनकर समस्त सभाने हाथ जोड़कर उनके चरण-कमलोंमें नमस्कार किया ॥ १७७ ॥

अथानन्तर किसी दूसरे दिन, श्रीकृष्णके स्नेहने जिनका चित्त वशकर लिया है ऐसे बलदेवने हाथ जोड़कर भगवान् नेमिनाथको नमस्कार किया और पूछा कि हे भगवन् श्रीकृष्णका यह वैभवशाली निष्कण्टक राज्य कितने समय तक चलता रहेगा ? कृपाकर आप यह बात मेरे लिए कहिये ॥ १७८-१७९ ॥ उत्तरमें भगवान् नेमिनाथने कहा कि भद्र ! बारह वर्षके बाद मदिराका निमित्त पाकर यह द्वारावती पुरी द्वीपायनके द्वारा निर्मूल नष्ट हो जायगी। जरत्कुमारके द्वारा श्रीकृष्णका मरण होगा। यह एक सागरकी आयु लेकर प्रथमभूमिमें उत्पन्न होगा और अन्तमें वहाँसे निकलकर इसी भरत क्षेत्रमें तीर्थंकर होगा। तू भी इसके वियोगसे छह माह तक शोक करता रहेगा और अन्तमें सिद्धार्थदेवके सम्बोधनसे समस्त दुःख छोड़कर दीक्षा लेगा तथा माहेन्द्र स्वर्गमें देव होगा ॥ १८०-१८३ ॥ वहांपर सात सागरकी उत्कृष्ट आयु पर्यन्त भोगोंका उपभोगकर इसी भरत क्षेत्रमें तीर्थंकर होगा तथा कर्मरूपी शत्रुओंको जलाकर शरीरसे मुक्त होगा ॥ १८४ ॥ श्री तीर्थंकर भगवान्का यह उपदेश सुनकर द्वीपायन तो उसी समय संयम धारणकर दूसरे देशको चला गया तथा जरत्कुमार कौशाम्बीके वनमें जा पहुँचा। जिसने पहले ही नरकायुका बन्ध कर लिया था ऐसे श्रीकृष्णने सम्यग्दर्शन प्राप्तकर तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धमें कारणभूत सोलह कारण भावनाओंका चिन्तवन किया तथा स्त्री बालक आदि सबके लिए घोषणा कर दी कि मैं तो दीक्षा लेनेमें समर्थ नहीं हूं परन्तु जो समर्थ हों उन्हें मैं रोकता नहीं हूं ॥ १८५-१८७ ॥ यह सुनकर प्रद्युम्न आदि पुत्रों तथा रुक्मिणी आदि देवियोंने चक्रवर्ती श्रीकृष्ण एवं अन्य बन्धुजनोंसे पूछकर उनकी

---

१ लान्तवाख्यदिवश्च्युतम् ल० । २ पुण्यपण्यानां इत्यपि क्वचित् । ३ भाव्यनामान्त्यनामासौ ग० ।

द्वीपायननिदानावसाने जाम्बवतीसुतः । अनिरुद्धश्च कामस्य सुतः सम्प्राप्य संयमम् ॥ १८९ ॥
प्रद्युम्नमुनिना सार्धमूर्जयन्ताचलाग्रतः । कूटत्रयं समारुह्य प्रतिमायोगधारिणः ॥ १९० ॥
शुक्लध्यानं समापूर्य त्रयस्ते घातिघातिनः । कैवल्यनवकं प्राप्य प्रापन्मुक्तिमथान्यदा ॥ १९१ ॥
पुण्यघोषणकृद्यक्षधृतचक्रपुरस्सरः । पादन्यासे पुरः पश्चात्सरोजैः सप्तभिः पृथक् ॥ १९२ ॥
कृतशोभो जगन्नाथश्छत्रादिप्रातिहार्यकः । मरुन्मार्गगताशेषसुरखेचरसेवितः ॥ १९३ ॥
पृथ्वीपथप्रवृत्तान्यविनेयजनतानुगः । पवनामरनिर्धूतधूलीकण्टकभूतलः ॥ १९४ ॥
मेघामरकुमारोपसिक्तगन्धाम्बुसक्षितिः । इत्याद्याश्चर्यसम्पन्नः सर्वप्राणिमनोहरः ॥ १९५ ॥
धर्मामृतमयीं वृष्टिमभिषिञ्चन् जिनेश्वरः । विश्वान्देशान्विहृत्यायात्स देशं पल्लवाह्वयम् ॥ १९६ ॥
अत्र पाण्डुतनूजानां प्रपञ्चोऽल्पः प्रभाष्यते । ग्रन्थविस्तरभीरूणामायुर्मेधानुरोधतः ॥ १९७ ॥
काम्पिल्यायां धराधीशो नगरे द्रुपदाह्वयः । देवी दृढरथा तस्य द्रौपदी तनया तयोः ॥ १९८ ॥
स्त्रीगुणैः सकलैः शस्या बभूव भुवनप्रिया । तां पूर्णयौवनां वीक्ष्य पित्रा कस्मै समर्प्यताम् ॥ १९९ ॥
इयं कन्येति सम्पृष्टा मन्त्रिणो मन्त्रचर्चया । प्राभाषन्त प्रचण्डेभ्यः पाण्डवेभ्यः प्रदीयताम् ॥ २०० ॥
एतान् सहजशत्रुत्वाद् दुर्योधनमहीपतिः । पाण्डुपुत्रानुपायेन लाक्षालयमवीविशत् ॥ २०१ ॥
हन्तुं तत्रेऽपि विज्ञाय स्वपुण्यपरिचोदिताः । प्रद्रुताः पयसि क्ष्माजस्याधस्तात्किल्विषं स्वयम् ॥ २०२ ॥
अपहृत्य [1]सुरक्षापातेन देशान्तरं गताः । स्वसम्बन्धादिदुःखस्य [2]वेदनायाश्च पाण्डवाः ॥ २०३ ॥

आज्ञानुसार संयम धारण कर लिया ॥ १८८ ॥ द्वीपायन द्वारिका-दाहका निदान अर्थात् कारण था जब वहांसे अन्यत्र चला गया तब जाम्बवतीके पुत्र शम्भव तथा प्रद्युम्नके पुत्र अनिरुद्धने भी संयम धारण कर लिया और प्रद्युम्नमुनिके साथ गिरनार पर्वतकी ऊँची तीन शिखरोंपर आरूढ होकर सब प्रतिमा योगके धारक हो गये ॥ १८९-१९० ॥ उन तीनोंने शुक्लध्यानको पूराकर घातिया कर्मोंका नाश किया और नव केवललब्धियाँ पाकर मोक्ष प्राप्त किया ॥ १९१ ॥ अथानन्तर-किसी दूसरे दिन भगवान् नेमिनाथने वहाँसे विहार किया। उस समय पुण्यकी घोषणा करनेवाले यक्षके द्वारा धारण किया हुआ धर्मचक्र उनके आगे चल रहा था, पैर रखनेकी जगह तथा आगे और पीछे अलग-अलग सात सात कमलोंके द्वारा उनकी शोभा बढ़ रही थी, छत्र आदि आठ प्रातिहार्य अलग सुशोभित हो रहे थे, आकाशमार्गमें चलनेवाले समस्त देव तथा विद्याधर उनकी सेवा कर रहे थे, देव और विद्याधरोंके सिवाय अन्य शिष्य जन पृथिवीपर ही उनके पीछे-पीछे जा रहे थे, पवन-कुमार देवोंने पृथिवीकी सब धूली तथा कण्टक दूर कर दिये थे और मेघकुमार देवोंने सुगन्धित जल बरसाकर भूमिको उत्तम बना दिया था, इत्यादि अनेक आश्चर्योंसे सम्पन्न एवं समस्त प्राणियोंका मन हरण करनेवाले भगवान् नेमिनाथ धर्मामृतकी वर्षा करते हुए समस्त देशोंमें विहार करनेके बाद पल्लव देशमें पहुँचे ॥ १९२-१९६ ॥

आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि यहाँ पर ग्रन्थके विस्तारसे डरनेवाले शिष्योंकी आयु और बुद्धिके अनुरोधसे पाण्डवोंका भी कुछ वर्णन किया जाता है ॥ १९७ ॥ कम्पिला नामकी नगरीमें राजा द्रुपद राज्य करता था उसकी देवीका नाम दृढरथा था और उन दोनोंके द्रौपदी नामकी पुत्री थी। वह द्रौपदी स्त्रियोंमें होनेवाले समस्त गुणोंसे प्रशंसनीय थी तथा सबको प्यारी थी। उसे पूर्ण यौवनवती देखकर पिताने मन्त्रचर्चाके द्वारा मन्त्रियोंसे पूछा कि यह कन्या किसे देनी चाहिये। मन्त्रियोंने कहा कि यह कन्या अतिशय बलवान् पाण्डवोंके लिए देनी चाहिये ॥ १९८-२०० ॥ पाण्डवोंकी प्रशंसा करते हुए मन्त्रियोंने कहा कि राजा दुर्योधन इनका जन्मजात शत्रु है उसने इन लोगोंको मारनेके लिए किसी उपायसे लाक्षाभवन (लाखके बने घर) में प्रविष्ट कराया था ॥२०१॥ परन्तु अपने पुण्यके उदयसे प्रेरित हुए ये लोग दुर्योधनकी यह चालाकी जान गये इसलिए जलमें खड़े हुए किसी वृक्षके नीचे रहनेवाले पिशाचको स्वयं हटाकर भाग गये और अपने कुटुम्बी जनोंसे

---

१ सुरक्षोपान्तेन ल० । २ छेदं नायंश्च ल० ।

पोदनाख्यपुरे चन्द्रदत्तनाममहीपतेः । देविलायाश्च [1]पुत्रन्ते कलागुणविशारदम् ॥ २०४ ॥
विधाय [2]निहतस्थूणगन्धा राज्यं व्यतारिषुः । अथेन्द्रवर्मणे प्रीत्येत्येषा वार्ता श्रुता चरात् ॥ २०५ ॥
इहाप्यवश्यमेष्यन्ति विधेयस्तत्स्वयंवरः । न केनचिद्विरोधोऽयमिति तद्वचनश्रुतेः ॥ २०६ ॥
वसन्तेऽचीकरद्राजा स स्वयंवरमण्डपम् । तत्र सर्वमहीपालाः सम्प्रापन् पाण्डवेषु च ॥ २०७ ॥
भीमस्य भोजनाद्गन्धगजस्य करतर्जनात् । पार्थस्य मत्स्यनिर्भेदाद्धापरोहणसाहसात् ॥ २०८ ॥
नारदागमनाच्चापि लक्ष्यमाणेषु निश्चितम् । समागतेषु सत्स्वर्हन्महापूजापुरस्सरम् ॥ २०९ ॥
प्रविश्य भूषिता रत्नैः सा स्वयंवरमण्डपम् । भूमिपान् [3]कुलरूपादिगुणैः सिद्धार्थनामनि ॥ २१० ॥
पुरोधसि क्रमात्सर्वान् कथयत्यतिलङ्घ्य तान् । कन्या सम्भावयामास मालयोज्ज्वलयाऽर्जुनम् ॥ २११ ॥
द्रुपदाद्युप्रवंशोत्थमहीशाः कुरुवंशजाः । अन्येऽपि चानुरूपोऽयमिति तुष्टिं समागमन् ॥ २१२ ॥
एवं सम्प्राप्तकल्याणाः प्रविश्य पुरमात्मनः । गमयन्ति स्म सौख्येन कालं दीर्घमिव क्षणम् ॥ २१३ ॥
ततः पार्थात्सुभद्रायामभिमन्युरभूत्सुतः । द्रौपद्यां पञ्च पाञ्चालनामानोऽन्वभवन्क्रमात् ॥ २१४ ॥
द्यूतं युधिष्ठिरस्यात्र दुर्योधनमहीभुजा । भुजङ्गशैलपुर्यां[4] यत्कीचकानां विनाशनम् ॥ २१५ ॥
विराटभूपतेर्भूरिगोमण्डलनिवर्तनम् । अनुयानेन भूपस्य विराटस्य सुशर्मणः ॥ २१६ ॥
अल्पगोमण्डलस्यार्जुनोत्तराभ्यां निवर्तनम् । पुराणवेदिभिर्वाच्यं विस्तरेण यथाश्रुतम् ॥ २१७ ॥
अथ युद्धे कुरुक्षेत्रे प्रवृत्ते कौरवैः समम् । [5]पाण्डवानां विनिर्जित्य दुर्योधनधराधिपम् ॥ २१८ ॥

प्राप्त दुःखका अनुभव करनेके लिए देशान्तरको चले गये हैं। इधर गुप्तचरके मुखसे इनके विषयकी यह बात सुनी गई है कि पोदनपुरके राजा चन्द्रदत्त और उनकी रानी देविलाके इन्द्रवर्मा नामक पुत्रको पाण्डवोंने समस्त कलाओं और गुणोंमें निपुण बनाया है तथा उसकी प्रतिद्वन्द्वी स्थूणगन्धको नष्टकर उसके लिए राज्य प्रदान किया है। सो वे पाण्डव यहाँ भी अवश्य ही आवेंगे। अतः अपने लिए द्रौपदीका स्वयंवर करना चाहिए क्योंकि ऐसा करनेसे किसीके साथ विरोध नहीं होगा। मन्त्रियोंके उक्त वचन सुनकर राजाने वसन्त ऋतुमें स्वयंवर-मण्डप बनवाया जिसमें सब राजा लोग आये। पाण्डव भी आये, उनमें भीम तो भोजन बनाने तथा मदोन्मत्त हाथीको हाथसे ताड़ित करनेसे प्रकट हुआ, अर्जुन मत्स्यभेद तथा धनुष चढ़ानेके साहससे प्रसिद्ध हुआ एवं अन्य लोग नारदके आगमनसे प्रकट हुए। जब सब लोग निश्चित रूपसे स्वयंवर-मण्डपमें आकर विराजमान हो गये तब अर्हन्त भगवान्की महा पूजाकर रत्नोंसे सजी हुई द्रौपदी स्वयंवर-मंडपमें प्रविष्ट हुई। सिद्धार्थ नामक पुरोहित कुल-रूप आदि गुणोंका वर्णन करता हुआ समस्त राजाओंका अनुक्रमसे परिचय दे रहा था। क्रम-क्रमसे द्रौपदी समस्त राजाओंको उल्लंघन करती हुई आगे बढ़ती गई। अन्तमें उसने अपनी निर्मल मालाके द्वारा अर्जुनको सन्मानित किया ॥ २०२-२११ ॥ यह देखकर द्रुपद आदि उग्रवंशमें उत्पन्न हुए राजा कुरुवंशी तथा अन्य अनेक राजा 'यह सम्बन्ध अनुकूल सम्बन्ध है' यह कहते हुए संतोषको प्राप्त हुए ॥ २१२ ॥ इस प्रकार अनेक कल्याणोंको प्राप्तकर वे पाण्डव अपने नगरमें गये और सुख पूर्वक बड़े लम्बे समयको क्षणभरके समान व्यतीत करने लगे ॥ २१३ ॥

तदनन्तर अर्जुनके सुभद्रासे अभिमन्यु नामका पुत्र हुआ और द्रौपदीके अनुक्रमसे पाञ्चाल नामके पाँच पुत्र हुए ॥ २१४ ॥ यहाँ युधिष्ठिरका राजा दुर्योधनके साथ जुआ खेला जाना, भुजंगशैल नामक नगरीमें कीचकोंका मारा जाना, पाण्डवका विराट नगरीके राजा विराटका सेवक बनकर रहना, अर्जुनके द्वारा राजा विराटकी बहुत भारी गायोंके समूहका लौटाया जाना, तथा अर्जुनके अनुज सहदेव और नकुलके द्वारा उसी सुख-सम्पन्न राजा विराटकी कुछ गायोंका वापिस लौटाना, आदि जो घटनाएँ हैं उनका आगमके अनुसार पुराणके जाननेवाले लोगोंको विस्तारसे कथन करना चाहिए ॥ २१५-२१७ ॥ अथानन्तर-कुरुक्षेत्रमें पाण्डवोंका कौरवोंके साथ युद्ध हुआ उसमें युधिष्ठिर

---

१ पुत्राय ल० । २ निहतस्थूणगण्डं ल० । ३ जल-ल० । ४ पर्याय म० । ५ पाण्डवास्तं ख०, ग० ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

युधिष्ठिरः समस्तस्य विषयस्याभवद्विभुः । विभज्य स्वानुजैर्लक्ष्मीं भुञ्जानोऽरञ्जयज्जनम् ॥ २१९ ॥
एवं स्वकृतपुण्यस्य ते सर्वे परिपाकजम् । सुखं निखिलमव्यग्रमन्वभूवन्ननारतम् ॥ २२० ॥
तदा द्वारावतीदाहः कौशाम्बीगहनान्तरे । मृतिर्जरत्कुमारेण विष्णोर्ज्येष्ठस्य संयमः ॥ २२१ ॥
भविष्यतीति यत्प्रोक्तं द्वारावत्यां जिनेशिना । निर्वृत्तं तत्र तत्सर्वं न मिथ्यावादिनो जिनाः ॥ २२२ ॥
तादृशं तादृशामासीद्धिग्धिग्दुष्कर्मणां गतिम् । निर्मूलयन्ति कर्माणि तत एव हि धीधनाः ॥ २२३ ॥
यत्सर्वं पाण्डवाः श्रुत्वा तदायन्मधुराधिपाः । स्वामिबन्धुवियोगेन निर्विद्य त्यक्तराज्यकाः ॥ २२४ ॥
महाप्रस्थानकर्माणः प्राप्य नेमिजिनेश्वरम् । तत्कालोचितसत्कर्म सर्वं निर्माप्य भक्तिकाः ॥ २२५ ॥
स्वपूर्वभवसम्बन्धमपृच्छन्संसृतेर्भयात् । अवोचद्भगवानित्थमप्रतर्क्यमहोदयः ॥ २२६ ॥
जम्बूसम्भाविते द्वीपे भरतेऽङ्गे पुरी परा । चम्पाख्या कौरवस्तत्र महीशो मेघवाहनः ॥ २२७ ॥
सोमदेवो द्विजोऽत्रैव ब्राह्मणी तस्य सोमिला । तयोः सुताश्चयः सोमदत्तसोमिलनामकः ॥ २२८ ॥
सोमभूतिश्च वेदाङ्गपारगाः परमद्विजाः । अमीषां मातुलस्याग्निभूतेस्तिस्रोऽभवन्सुताः ॥ २२९ ॥
अग्निलायां धनश्रीमित्रश्रीनागश्रियः प्रियाः । तेभ्यो यथाक्रमं दत्तास्ताः पितृभ्यां सुलक्षणाः ॥ २३० ॥
सोमदेवः सुनिर्विद्य सुधीः केनापि हेतुना । प्राव्राजीदन्यदा धर्मरुचिनामतपोधनम् ॥ २३१ ॥
प्रविशन्तं गृहं भिक्षाकाले वीक्ष्यानुकम्पया । सोमदत्तः प्रतीक्ष्यैनमाह पत्नीं कनीयसः ॥ २३२ ॥
नागश्रीर्वितरास्मै त्वं भिक्षामिति कृतादरम् । मामेव सर्वदा सर्वमेष प्रेषयतीति सा ॥ २३३ ॥
कुपिता विषसम्मिश्रं ददावन्नं तपोभृते । स सन्न्यस्य समाराध्य प्रापदन्त्यमनुत्तरम् ॥ २३४ ॥

दुर्योधन राजाको जीतकर समस्त देशका स्वामी हो गया और छोटे भाइयोंके साथ विभागकर राज्यलक्ष्मीका उपभोग करता हुआ सबको प्रसन्न करने लगा ॥ २१८–२१९ ॥ इस प्रकार वे सब पांडव अपने द्वारा किये हुए पुण्य कर्मके उदयसे उत्पन्न सम्पूर्ण सुखका बिना किसी आकुलताके निरन्तर उपभोग करने लगे ॥ २२० ॥

तदनन्तर—'द्वारावती जलेगी, कौशाम्बी-वनमें जरत्कुमारके द्वारा श्रीकृष्णकी मृत्यु होगी और उनके बड़े भाई बलदेव संयम धारण करेंगे' इस प्रकार द्वारावतीमें नेमिनाथ भगवानने जो कुछ कहा था वह सब वैसा ही हुआ सो ठीक ही है क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् अन्यथावादी नहीं होते हैं ॥२२१–२२२ ॥ आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि वैसे लोकोत्तर पुरुषोंकी वैसी दशा हुई इसलिए अशुभ कर्मोंकी गतिको बार-बार धिक्कार हो और निश्चयसे इसीलिए बुद्धिमान् पुरुष इन कर्मोंको निर्मूल करते हैं—उखाड़ कर नष्ट कर देते हैं ॥ २२३ ॥ मथुराके स्वामी पाण्डव, यह सब समाचार सुनकर वहाँ आये । वे सब, स्वामी-श्रीकृष्ण तथा अन्य बन्धुजनोंके वियोगसे बहुत विरक्त हुए और राज्य छोड़कर मोक्षके लिए महाप्रस्थान करने लगे । उन भक्त लोगोंने नेमिनाथ भगवान्के पास जाकर उस समयके योग्य नमस्कार आदि सत्कर्म किये तथा संसारसे भयभीत होकर अपने पूर्वभव पूछे । उत्तरमें अचिन्त्य वैभवके धारक भगवान् भी इस प्रकार कहने लगे ॥ २२४–२२६ ॥ उन्होंने कहा कि इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी अङ्गदेशमें एक चम्पापुरी नामकी नगरी है उसमें कुरुवंशी राजा मेघवाहन राज्य करता था । उसी नगरीमें एक सोमदेव नामका ब्राह्मण रहता था उसकी ब्राह्मणीका नाम सोमिला था । उन दोनोंके सोमदत्त, सोमिल और सोमभूति ये वेदांगोंके पारगामी परम ब्राह्मण तीन पुत्र हुए थे । इन तीनों भाइयोंके मामा अग्निभूति थे उसकी अग्निला नामकी स्त्रीसे धनश्री, मित्रश्री और नागश्री नामकी तीन प्रिय पुत्रियाँ उत्पन्न हुई थीं । अग्निभूति और अग्निलाने शुभ लक्षणोंवाली ये तीनों कन्याएँ अपने तीनों भानेजोंके लिए यथा क्रमसे दे दीं ॥ २२७–२३० ॥ तदनन्तर–बुद्धिमान् सोमदेवने किसी कारणसे विरक्त होकर जिन-दीक्षा ले ली । किसी एक दिन भिक्षाके समय धर्मरुचि नामके तपस्वी मुनिराजको अपने घरमें प्रवेश करते देखकर दयालुता वश सोमदत्तने उनका पडिगाहन किया और छोटे भाईकी पत्नीसे कहा कि हे नागश्री ! तू इनके लिए बड़े आदरके साथ भिक्षा दे दे । नागश्रीने मनमें सोचा कि 'यह सदा सभी कार्यके लिए मुझे ही भेजा करता है' यह सोचकर वह बहुत ही क्रुद्ध हुई और उसी क्रुद्धावस्थामें उसने उन तपस्वी

नागश्रीविहिताकृत्यं ज्ञात्वा ते भ्रातरस्त्रयः । समीपे वरुणार्यस्य दीक्षां मौक्षीं समाययुः ॥ २३५ ॥
गुणवत्यार्यिकाभ्याशे ब्राह्मण्यावितरे तदा । ईयतुः संयमं वृत्तमीदृक्सदसतामिदम् ॥ २३६ ॥
पञ्चाप्याराध्य तेऽभूवन्नारणाच्युतकल्पयोः । सामानिकामरा द्वाविंशतिसागरजीविनः ॥ २३७ ॥
अन्वभूवंश्चिरं भोगांस्तत्र सप्रविचारकान् । नागश्रीरपि पापेन पञ्चमीं पृथिवीमगात् ॥ २३८ ॥
दुःखं तत्रानुभूयाथ स्वयंप्रभोऽसौ ततश्च्युता [illegible] दृष्टिविषो मृतः ॥ २३९ ।
द्वितीयनरकं गत्वा त्रिसमुद्रोपमायुषा । भुक्त्वा दुःखं विनिर्गत्य त्रसस्थावरयोनिषु ॥ २४० ॥
द्विसागरोपमं कालं परिभ्रम्य भवार्णवे । चम्पापुरे समुत्पन्ना मातङ्गी मन्दपाततः ॥ २४१ ॥
समाधिगुप्तनामानं मुनिमासाद्य सान्यदा । वन्दित्वा धर्ममाकर्ण्य मधुमांसनिवृत्तितः ॥ २४२ ॥
तस्मिन्नेव पुरे मृत्वा [1]सुतेभ्यस्याभवत्सती । सुबन्धोर्धनदेव्याश्च सुदुर्गन्धशरीरिका ॥ २४३ ॥
सुकुमारीति सञ्ज्ञास्या विहितार्थानुयायिनी । पुरेऽस्मिन्नेव वैश्यस्य धनदेवस्य पुत्रताम् ॥ २४४ ॥
प्राप्तावशोकदत्तायां देवदत्तौ जिनादिकौ । सम्प्रधार्य स्वबन्धूनामादानं स्वस्य वेदिता ॥ २४५ ॥
सुकुमार्याः सुदौर्गन्ध्याज्जिनदेवो जुगुप्सयन् । सुव्रताख्यमुनेरन्तेवासित्वं समवाप सः ॥ २४६ ॥
कनीयान् जिनदत्तोऽथ प्रेरितो बन्धुभिर्मुहुः । आप्तबन्धुसुता नावमानयोग्येति तद्भयात् ॥ २४७ ॥
गृहीत्वा तामसौ क्रुद्धफणिनीमिव नागमत् । स्वप्नेऽप्यस्या विरक्तत्वान्निन्दन्ती स्वां विपुण्यताम् ॥२४८ ॥
गृहीतानशनान्येद्युरार्यिकाभिः [2]सहागताम् । स्वगेहं सुव्रतां क्षान्तिमभिवन्द्य [3]वदार्यिके ॥ २४९ ॥

मुनिराजके लिए विष मिला हुआ आहार दे दिया जिससे संन्यास धारण कर तथा चारों आराधनाओं की आराधना कर उक्त मुनिराज सर्वार्थसिद्धि नामक अनुत्तर विमानमें जा पहुंचे ॥ २३१–२३४ ॥ जब सोमदत्त आदि तीनों भाइयोंको नागश्रीके द्वारा किये हुए इस अकृत्यका पता चला तो उन्होंने वरुणार्यके समीप जाकर मोक्ष प्रदान करनेवाली दीक्षा धारण कर ली ॥ २३५ ॥ यह देख, नागश्रीको छोड़कर शेष दो ब्राह्मणियोंने भी गुणवती आर्यिकाके समीप संयम धारण कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन और दुर्जनोंका चरित्र ऐसा ही होता है ॥ २३६ ॥ इस प्रकार ये पाँचों ही जीव, आयुके अन्तमें आराधनाओंकी आराधना कर आरण और अच्युत स्वर्गमें बाईस सागरकी आयु-वाले सामानिक देव हुए ॥ २३७ ॥ वहाँ उन्होंने चिरकाल तक प्रवीचार सहित भोगोंका उपभोग किया । इधर नागश्री भी पापके कारण पाँचवें नरकमें पहुँची, वहाँके दुःख भोगकर आयुके अन्तमें निकली और वहाँसे च्युत होकर स्वयंप्रभ द्वीपमें दृष्टिविष नामका सर्प हुई । फिर मरकर दूसरे नरक गई वहाँ तीन सागरकी आयु पर्यन्त दुःख भोगकर वहाँसे निकली और दो सागर तक त्रस तथा स्थावर योनियोंमें भ्रमण करती रही । इस प्रकार संसार-सागरमें भ्रमण करते-करते जब उसके पापका उदय कुछ मन्द हुआ तब चम्पापुर नगरमें चाण्डाली हुई ॥ २३८–२४१ ॥ किसी एक दिन उसने समाधिगुप्त नामक मुनिराजके पास जाकर उन्हें नमस्कार किया, उनसे धर्म-श्रवण किया, और मधु-मांसका त्याग किया । इनके प्रभावसे वह मरकर उसी नगरमें सुबन्धु सेठकी धनदेवी स्त्रीसे अत्यन्त दुर्गन्धित शरीरवाली पुत्री हुई । माता-पिताने उसका 'सुकुमारी' यह सार्थक नाम रक्खा । इसी नगरमें एक धनदत्त नामका सेठ रहता था उसकी अशोकदत्ता स्त्रीसे जिनदेव और जिनदत्त नामके दो पुत्र हुए थे । जिनदेवके कुटुम्बी लोग उसका विवाह सुकुमारीके साथ करना चाहते थे परन्तु जब उसे इस बातका पता चला तो वह सुकुमारीकी दुर्गन्धतासे घृणा करता हुआ सुव्रत नामक मुनिराजका शिष्य हो गया अर्थात् उनके पास उसने दीक्षा धारण कर ली ॥ २४२–२४६ ॥ तदनन्तर छोटे भाई जिनदत्तको उसके बन्धुजनोंने बार-बार प्रेरणा की कि बड़े लोगोंकी कन्याका अपमान करना ठीक नहीं है । इस भयसे उसने उसे विवाह तो लिया परन्तु क्रुद्ध सर्पिणीके समान वह कभी स्वप्नमें भी उसके पास नहीं गया । इस प्रकार पतिके विरक्त होनेसे सुकुमारी अपनी पुण्यहीनताकी सदा निन्दा करती रहती थी ॥ २४७–२४८ ॥ किसी दूसरे दिन उसने उपवास किया, उसी दिन उसके

---

१ सुता, भ्यस्य, अभवत्, इति पदच्छेदः । २ समागताम् म० । ३ तदार्यिके घ०, म० ।

इमे द्वे दीक्षिते केन हेतुनेत्यन्वयुङ्क्त ताम् । अथ साप्यब्रवीदेवं क्षान्तिः कल्याणनामिके ॥ २५० ॥
शृण्वेते जन्मनि प्राचि सौधर्माधिपतेः प्रिये । विमला सुप्रभा चेति देव्यौ सौधर्मसंयुते ॥ २५१ ॥
गत्वा नन्दीश्वरद्वीपे जिनगेहार्चनाविधेः । तत्र संविग्नचित्तत्वात्सम्प्राप्यास्मान्मनुष्यताम् ॥ २५२ ॥
आवां तपः करिष्याव इत्यन्योन्यं व्यवस्थितिम् । अकुर्वतां ततश्च्युत्वा साकेतनगरेशिनः ॥ २५३ ॥
श्रीषेणाख्यमहीशस्य श्रीकान्तायाश्च ते सुते । हरिश्रीपूर्वसेनाख्ये सम्भूय प्राप्तयौवने ॥ २५४ ॥
स्वयंवरविवाहोरुमण्डपाभ्यन्तरे स्थिते । निजपूर्वभवं स्मृत्वा संस्याच्च प्राक्तनी कृताम् ॥ २५५ ॥
विसर्ज्य बन्धुवर्गेण समं नृपकुमारकान् । इते दीक्षामिति क्षान्तिवचनाकर्णनेन सा ॥ २५६ ॥
सुकुमारी च निर्विण्णा सम्मता निजबान्धवैः । तत्समीपेऽगमद्दीक्षामन्येद्युर्वनमागताम् ॥ २५७ ॥
वेश्यां वसन्तसेनाख्यामावृत्य बहुभिर्विटैः । सम्प्रार्थ्यमानामालोक्य ममाप्येवं भवेदिति ॥ २५८ ॥
निदानमकरोज्जीवितान्ते प्राक्तनजन्मनः । सोमभूतेरभूद्देवी प्रान्तकल्पनिवासिनः ॥ २५९ ॥
उत्कृष्टजीवितं तत्र गमयित्वा त्रयोऽपि ते । सोदर्याः प्रच्युता यूयं जाता रत्नत्रयोपमाः ॥ २६० ॥
धर्मजो भीमसेनश्च पार्थश्चाख्यातपौरुषः । धनमित्रश्रियौ चास्मिन्नभूतां स्तुतविक्रमौ ॥ २६१ ॥
नकुलः सहदेवश्च चन्द्रादित्यसमप्रभौ । सुकुमारी च काम्पिल्यपुरे द्रुपदभूपतेः ॥ २६२ ॥
सुता दृढरथायाश्च द्रौपद्याख्याजनिष्ट सा । इति नेमीश्वरोक्तमाकर्ण्य बहुभिः समम् ॥ २६३ ॥
पाण्डवाः संयमं प्रापन् सतामेषा हि बन्धुता । कुन्ती सुभद्रा द्रौपद्यश्च दीक्षां ताः पर्यां ययुः ॥२६४ ॥
निकटे राजिमत्याख्यगणिन्या गुणभूषणाः । तास्तिस्रः षोडशे कल्पे भूत्वा तस्मात्परिच्युताः ॥ २६५ ॥

घर अन्य अनेक आर्यिकाओंके साथ सुव्रता और क्षान्ति नामकी आर्यिकाएँ आईं उसने उन्हें वन्दना कर प्रधान आर्यिकासे पूछा कि इन दोनों आर्यिकाओंने किस कारण दीक्षा ली है ? यह बात आप मुझसे कहिए। सुकुमारीका प्रश्न सुनकर क्षान्ति नामकी आर्यिका कहने लगी कि हे शुभ नामवाली ! सुन, ये दोनों ही पूर्वजन्ममें सौधर्म स्वर्गके इन्द्रोंकी विमला और सुप्रभा नामकी प्रिय देवियां थीं। किसी एक दिन ये दोनों ही सौधर्म इन्द्रके साथ जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करनेके लिए नन्दीश्वर द्वीपमें गई थीं। वहां इनका चित्त विरक्त हुआ इसलिए इन दोनोंने परस्पर ऐसा विचार स्थिर किया कि हम दोनों इस पर्यायके बाद मनुष्य पर्याय पाकर तप करेंगी। आयुके अन्तमें वहांसे च्युत होकर ये दोनों, साकेत नगरके स्वामी श्रीषेण राजाकी श्रीकान्ता रानीसे हरिषेणा और श्रीषेणा नामकी पुत्रियां हुई हैं। यौवन अवस्था प्राप्तकर ये दोनों विवाहके लिए स्वयम्वर-मंडपके भीतर खड़ी थीं कि इतनेमें ही इन्हें अपने पूर्वभव तथा पूर्वभवमें की हुई प्रतिज्ञाका स्मरण हो आया। उसी समय इन्होंने समस्त बन्धुवर्ग तथा राजकुमारोंका त्यागकर दीक्षा धारण कर ली। इस प्रकार क्षान्ति आर्यिकाके वचन सुनकर सुकुमारी बहुत विरक्त हुई और अपने कुटुम्बीजनोंकी संमति लेकर उसने उन्हीं आर्यिकाके पास दीक्षा धारण कर ली। किसी दूसरे दिन वनमें वसन्तसेना नामकी वेश्या आई थी, उसे बहुतसे व्यभिचारी मनुष्य घेरकर उससे प्रार्थना कर रहे थे। यह देखकर सुकुमारीने निदान किया कि मुझे भी ऐसा ही सौभाग्य प्राप्त हो। आयुके अन्तमें मरकर वह, पूर्वजन्ममें जो सोमभूति नामका ब्राह्मण था और तपश्चरणके प्रभावसे अच्युत स्वर्गमें देव हुआ था उसकी देवी हुई ॥ २४९–२५९ ॥ वहांकी उत्कृष्ट आयु बिताकर उन तीनों भाइयोंके जीव वहांसे च्युत होकर रत्नत्रयके समान तुम प्रसिद्ध पुरुषार्थके धारक युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन हुए हो। तथा धनश्री और मित्रश्रीके जीव प्रशंसनीय पराक्रमके धारक नकुल एवं सहदेव हुए हैं। इनकी कान्ति चन्द्रमा और सूर्यके समान है। सुकुमारीका जीव काम्पिल्य नगरमें वहांके राजा द्रुपद और रानी दृढरथाके द्रौपदी नामकी पुत्री हुई है। इस प्रकार नेमिनाथ भगवान्के द्वारा कहे हुए अपने भवान्तर सुनकर पाण्डवोंने अनेक लोगोंके साथ संयम धारण कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंका बन्धुपना यही है। गुणरूपी आभूषणको धारण करनेवाली कुन्ती सुभद्रा तथा द्रौपदीने भी राजिमति गणिनीके पास उत्कृष्ट दीक्षा धारण कर ली। अन्तमें तीनोंके जीव सोलहवें स्वर्गमें उत्पन्न हुए और वहांसे च्युत होकर निःसन्देह समस्त कर्ममलसे रहित हो मोक्ष

विधकर्ममलैर्मुक्ता मुक्तिमेष्यन्त्यसंशयम् । पञ्चापि पाण्डवा नेमिस्वामिनामहितर्द्धयः ॥ २६६ ॥
विहृत्य भाक्तिकाः काश्चित्समाः सम्प्राप्य भूधरम् । शत्रुञ्जयं समादाय योगमातपमास्थिताः ॥ २६७ ॥
तत्र कौरवनाथस्य भागिनेयो निरीक्ष्य तान् । क्रूरः कुर्यवरः स्मृत्वा स्वमातुलवधं क्रुधा ॥ २६८ ॥
आयसान्यग्नितप्तानि मुकुटादीनि पापभाक् । तेषां विभूषणानीति शरीरेषु निधाय सः ॥ २६९ ॥
उपसर्गं व्यधात्तेषु कौन्तेयाः श्रेणिमाश्रिताः । शुक्लध्यानाग्निनिदग्धकर्मेंधाः सिद्धिमाप्नुवन् ॥ २७० ॥
नकुलः सहदेवश्च पञ्चमाङ्कुत्तरं ययौ । भट्टारकोऽपि सम्प्राप्तवर्षयन्तं धराधरम् ॥ २७१ ॥
नवरन्ध्रर्तुवर्षेषु चतुर्दिवससंयुतैः । युतेषु नवभिर्मासैर्विहारविधिविच्युतौ ॥ २७२ ॥
पञ्चात्पञ्चशतैः सार्धं संयतैस्त्रिंशता त्रिभिः । मासं योगं निरुध्यासौ हताघातिचतुष्ककः ॥ २७३ ॥
आषाढमासि ज्योत्स्नायाः पक्षे चित्रासमागमे । शीतांशोः सप्तमीपूर्वरात्रौ निर्वाणमाप्तवान् ॥ २७४ ॥
तदा सुराधिपाः प्राप्य कल्याणं पञ्चमं परम् । विधाय विधिवद्भक्त्या स्वं स्वमोकः[1] पुनर्ययुः ॥२७५॥

स्रग्धरा

शक्राद्या व्योम्नि दूरादमरपरिवृढा वाहनेभ्योऽवतीर्णा-
स्तूर्णं मूर्धावनम्राः स्तुतिमुखरमुखाः कुड्मलीभूतहस्ताः ।
ध्वस्तान्तर्ध्वान्तधाम्नः प्रणिहितमनसो यस्य पादौ प्रणेमुः
क्षेमं श्रीमान् स नेमिर्झटिति घटयतु प्रान्तबोधप्रसिद्धये ॥ २७६ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

प्राक्चिन्तागतिराबभावनु ततः कल्पे चतुर्थेऽमरो
जज्ञेऽस्मादपराजितः क्षितिपतिर्जातोऽच्युतेन्द्रस्ततः ।
तस्मात्सोऽजनि सुप्रतिष्ठनृपतिर्देवो जयन्तेऽन्वभू-
दासीदत्र महोदयो हरिकुलव्योमामलेन्दुर्जिनः ॥ २७७ ॥

प्राप्त करेंगे । जिन्हें अनेक उत्तमोत्तम ऋद्धियाँ प्राप्त हुई हैं और जो अतिशय भक्तिसे युक्त हैं ऐसे पाँचों पाण्डव कितने ही वर्षों तक नेमिनाथ भगवान्‌के साथ विहार करते रहे और अन्तमें शत्रुञ्जय पर्वतपर जाकर आतापन योग लेकर विराजमान हो गये । दैवयोगसे वहां दुर्योधनका भानजा 'कुर्यवर' आ निकला वह अतिशय दुष्ट था, पाण्डवोंको देखते ही उसे अपने मामाके वधका स्मरण हो आया जिससे क्रुद्ध होकर उस पापीने उनके शरीरोंपर अग्निसे तपाये हुए लोहेके मुकुट आदि आभूषण रखकर उपसर्ग किया । उन पाँचों भाइयोंमें कुन्तीके पुत्र युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तो क्षपकश्रेणी चढ़कर शुक्ल ध्यान रूपी अग्निके द्वारा कर्मरूपी ईन्धनको जलाते हुए मुक्त अवस्थाको प्राप्त हुए और नकुल तथा सहदेव सर्वार्थसिद्धि विमानमें उत्पन्न हुए । इधर भट्टारक नेमिनाथ स्वामी भी गिरनार पर्वतपर जा विराजमान हुए ॥ २६०–२७१ ॥ उन्होंने छह सौ निन्यानबे वर्ष नौ महीना और चार दिन विहार किया । फिर विहार छोड़कर पांच सौ तैंतीस मुनियोंके साथ एक महीने तक योग निरोधकर आषाढ शुक्ल सप्तमीके दिन चित्रा नक्षत्रमें रात्रिके प्रारम्भमें ही चार अघातिया कर्मोंका नाशकर मोक्ष प्राप्त किया ॥ २७२–२७४ ॥ उसी समय इन्द्रादि देवोंने आकर बड़ी भक्तिसे विधिपूर्वक उनके पंचम कल्याणका उत्सव किया और तदनन्तर वे सब अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ २७५ ॥

जो दूरसे ही आकाशमें अपनी-अपनी सवारियोंसे नीचे उतर पड़े हैं, जिन्होंने शीघ्र ही अपने मस्तक झुका लिये हैं, जिनके मुख स्तुतियोंके पढ़नेसे शब्दायमान हो रहे हैं, जिन्होंने दोनों हाथ जोड़ लिये हैं और जिनका चित्त अत्यन्त स्थिर है ऐसे इन्द्र आदि श्रेष्ठदेव जिनके चरणोंमें नमस्कार करते हैं तथा जिन्होंने अपने तेजसे हृदयका समस्त अन्धकार नष्ट कर दिया है ऐसे श्रीमान् नेमिनाथ भगवान् केवलज्ञानकी प्राप्तिके लिए हम सबका शीघ्र ही कल्याण करें ॥ २७६ ॥ श्रीनेमि-

१ स्थानम् ।